संत साहित्य सदन. प्र० ३
मराठी साहित्य माला. प्र० २

ज्ञानेश्वरी

बाबुराव कुमठेकर

भूमिका

ह. भ. प. धुंडामहाराज देगलूरकर.



प्रकाशक

संत साहित्य सदन

मसूरी. (उ. प्र.)

१९५२

प्रकाशक :
राजाराम शास्त्री (काशी विद्यापीठ)
संचालक प्रकाशन विभाग
संत साहित्य सदन मसूरी. (उ. प्र०)

●

प्रथमावृत्ति
३०००

●

मुद्रक :
ज्ञानेश्वरीके पृष्ठ १–६२४
वृंदावन प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा. लि.
१२-१३ लालबाग फोर्ट रोड,
बेंगलूर ४

मूल्य ५० रु.

●

अन्य सब
पांडुरंग दाजीबा मोरे
निर्णयसागर प्रेस,
२६–२८ डॉक्टर एम् बी.
वेलकर स्ट्रीट, मुंबई २

●

प्रकाशककी ओरसे—

हिंदीमें ज्ञानेश्वरीके कई अनुवाद हैं। फिर भी हम इस अनुवादको प्रकाशित कर रहे हैं। अन्य अनुवादोंसे इसकी जो विशेषता है वह विज्ञ पाठक स्वयं अनुभव करेंगे।

संत साहित्य सदन एक उद्देश्य लेकर काम कर रहा है। भिन्न भिन्न भाषाओंके संतोंका साहित्य मूलके रूपमें हिंदीमें प्रकाशित करना सदनका एक उद्देश्य है। इसी उद्देश्यसे सदनने ऋग्वेदके २४ सूक्तोंके आचमनके बाद यह दूसरा कदम उठाया है। आशा है हिंदी पाठक इसका स्वागत करेंगे।

इस महान ग्रंथके भूमिका लेखक श्री धुंडामहाराज हिंदी भाषा भाषियोंसे अपरिचित हैं। महाराज महाराष्ट्रके एक संतपरिवारके है। करीब २५० वर्षोंसे देगलूरकर परिवार ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरीके उपासक है। इस अवधिमें इस परिवारके दो महान संत हो गये हैं। महाराष्ट्रके संतचरित्र लेखक श्री महीपति बाबा भी इसी परिवारके हैं। स्वयं भूमिका-लेखक ज्ञानेश्वरीके उपासक हैं। महाराष्ट्रभरमें कीर्तन प्रवचन द्वारा ज्ञानेश्वरीका प्रचार करना अपना स्वधर्म मानते हैं। महाराज, संस्कृत, मराठी, हिंदी तथा तेलगूके विद्वान हैं, आधुनिक वैज्ञानिक विचारोंसे भी पर्याप्त परिचित हैं। आपने तेलगू भाषामें ज्ञानेश्वरीका गद्यानुवाद किया है। अत्यंत व्यस्त कार्यक्रमके होते हुए भी आपने विस्तृत भूमिका लिख दी इसके लिये हम महाराजके कृतज्ञ हैं।

वैसे ही इस पुस्तकको अधिकसे अधिक सुंदर बनानेके लिये प्रसाद मासिकके श्री. म. य. जोशीने जो अपने ब्लोक दिये तथा निर्णयसागर प्रेसके व्यवस्थापक श्री. मोरेने सहयोग दिया उसके लिए उनके भी आभारी हैं।

हमारी आगामी पुस्तकें, कन्नडमेंसे दास साहित्यका प्रथम पाद, मराठी ज्ञानेश्वर और उनका साहित्य, ज्ञानेश्वर महाराजका अनुभवामृत, संस्कृतसे उपनिषद संग्रह भाग पहला, और गुजराथीसे नरसी भगत उनका साहित्य और कार्य ये होंगी।

प्रकाशक.

प्रस्तावना

—ह. भ. प. धुंडामहाराज देगलूलकर—

ज्ञानेश्वरी यह ग्रंथ मराठी भाषामें...देशी भाषामें... " सत्यं शिवं सुंदरं " का मूर्तिमंत आविष्कार है । वाङ्मयमें जो जो दिव्य भव्य ऐसा रहता है उन सबका इस महाग्रंथमें पूर्ण साक्षात्कार हुवा है । यह ग्रंथ वाङ्मयीनक्षेत्रका एक महान् आश्चर्य है । यदि कोई श्रद्धा, बुद्धिसंपन्न मनुष्य इस ग्रंथको सरसरी निगाहसे देखेगा तो भी उसको 'आश्चर्यवत्पश्यति " का अनुभव होगा । जो लोक एलोरा अजंताकी पुरानी कलाकृतियोंको देखकर जैसे कोई कलाकार दिङ्मूढ-सा हो जाता है, जैसे पुनः पुनः उन कलाकृतियोंकी ओर उसकी आंखें खींचती हैं उसके सूक्ष्माति-सूक्ष्म कलागुणसे वह प्रभावित होजाता है, उन कलाकृतियोंमें कलाकारकी ओरसे आविष्कृत नवरसोंरका दर्शन करता है. उनमेंसे किस कलाकृतिको महत्त्व देना कौनसी कलाकृति श्रेष्ठ है इसका निर्णय करना असंभवसा हो जाता है किंतु उन कलाकृतियोंको देखते देखते दर्शक मानो सविकल्प--समाधिमें डूब-सा जाता, यही हालत ज्ञानेश्वरीके सूज्ञ वाचककी होती है, कुछ विद्वानोंका यह मत है ' शास्त्र और काव्य एक स्थान पर नहीं रहते ! " कोलेरीजने " " जो शास्त्र नहीं वह काव्य " ऐसे काव्यकी व्याख्या की है । —Poetry is the anti thesis of Seinee— अर्थात काव्य और शास्त्रके रूप परस्पर विरोधी है । किंतु सरसरी निगाहसे ज्ञानेश्वरीका अवलोकन करने पर भी उपरोक्त सिद्धांत तथ्यहीन होनेका अनुभव आएगा। ज्ञानेश्वर महाराजने जैसे ज्ञानेश्वरीमें काव्यकी अपनी कसौटी कही है—

ज्ञानेश्वरीका साहित्यिक रूप :—

वाचाका सौंदर्य कवित्व । तथा कवित्वमें रसिकत्व ।
रसिकत्वमें है पर तत्व । स्पर्श जैसे ॥ १८–३४७ ॥

उस कसौटी पर ज्ञानेश्वरी उतरी है । रोग-निवारक शक्ति औषधका महत्वपूर्ण आवश्यक गुण है । फिर वह औषध कटु भी हो तो भी उसमें कोई आपत्ति नहीं है अथवा कटुता. या तीतापन औषधीका दोष नहीं माना जा सकता । किंतु यदि कोई औषध संपूर्णरूपसे रोग-निवारक होकर भी मधुर और सुस्वादु है तो वह सबको अत्यंत प्रिय होगा। गीता तथा ज्ञानेश्वरी के विषयमें ज्ञानेश्वर, महाराज यही कहते हैं —

रोगको है यदि जीतना । उसपर ओषध देना ।
किंतु वह सुस्वादु होना । अति मधुर ॥ ३–१९ ॥

गीता तत्वज्ञानका ग्रंथ है । वह अध्यात्मशास्त्र है, योगशास्त्र है. वह ब्रह्मविद्या है उसमें सभी प्रकारके अध्यात्म विचार भरे हैं, वे मोह निवारक हैं अर्थात वह अन्य सभी शास्त्र तथा विद्याओंसे श्रेष्ठ प्रकारका शास्त्र या विद्या है । उपनिषद, गीता ब्रह्मसूत्र, उसके भाष्य, आदि ग्रंथोमें इसका सांगोपांग विचार किया है किंतु साहित्य क्षेत्रमें उसका कोई स्थान नहीं है । केवल तत्व- विचारक ही इन ग्रंथोके अध्ययनमें प्रवृत्त हो सकता है । सर्वसामान्य मनुष्य इन ग्रंथोंकी ओर अकर्षित नहीं हो सकता । सामान्य वाचककी इसमें कोई रुचि नही हो सकती किंतु ज्ञानेश्वरी ग्रंथका ऐसा नहीं है । इस विषयमें

ज्ञानेश्वर महाराज स्वयं अत्यंत आत्मविश्वासके साथ कहते हैं "इस ग्रंथमें अंतरंगके अधिकारी सब-कुश पाएंगे ही किंतु सर्वसामान्य भी वाक्‌चातुर्य पाकर सुखी होंगे। वस्तुतः गीताग्रंथ शांत रस प्रधान गंथ है। ज्ञानेश्वर महाराजने यह जगह जगह कहा है जैसें वे चौथे अध्यायमें कहते हैं —

इसकी उत्तमता पर। आठो रस हैं न्योच्छावर।
वह है सज्जनोंका घर। आसरेका॥ ४-२१३॥
प्रकट करेगा शांतिरस निर्मल। है वह महासागरसे भी खोल।
मेरी देशभाषाका अनमोल बोल। अर्थपूर्ण॥ ४-२१४॥

ऐसेही ज्ञानेश्वर महाराजने अनेक स्थान यर कहा है। ज्ञानेश्वर महाराज अपने इस ग्रंथके विषयमें कहते हैं-

यहां साहित्य तथा शांति। वैसे रेखा शब्द पद्धति।
जैसे लावण्यगुण कुलवति। तथा पतिव्रता॥ ४-२१५॥

जैसे किसी स्त्रीमें पातिव्रत्य एक महान गुण होता है। वह श्रेष्टतम महान गुण तो हैं ही, साथही साथ जो लावण्यमें सर्वांगपूर्ण हैं गुणोंकी खान भी है तथा कुलवती भी है ऐसा यह मेरा ग्रंथ है। इसमे मोह-निवार, शक्ति तो हैं हीं साथही साथ साहित्य गुण भी हैं। यहां जो शांत रस है वह साहित्यगुणके साथ हैं। वैसे काव्यशास्त्र शृंगारको रसराज कहता है। शृंगाररस तो सबकी चित्तवृत्तिको लुभाता है, उसमें गुदगुदी पैदा करके उस पर अपना प्रभाव डालनेवाला सार्वजनिक रस है किंतु ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं मैं अपनी देशभाषाके सौंदर्य को इतना ऊंचा उठाऊंगा कि जिससे वह सौंदर्य शृंगाररसको जीतकर उसके सिरपर पैर रखता हुवा आगे बढेगा और मेरी ये ओवियां देशभाषाका अलंकार बनेंगी, भूषण बनेंगी। इतनी इसमें साहित्यिक परिपूर्णता प्रकट होगी। ज्ञानेश्वर महाराज तेरहवे अध्यायमेः-

केवल यह शांतिकथा। चलेगी शब्दोंका सत्पथ।
पग रख शृंगार माथा। पर अविरत॥ १३-११५५॥
देशीके बोल सुंदर। समझायेंगे अलंकार।
लजायेंगे जो मधुर। अमृतको यहां॥ १३-११५६॥

यह कहते हुए अपनी भाषाके कलात्मक सौंदर्यका असामान्य प्रभाव दिखाते हैं। वे ज्ञानेश्वरीके दसवे अध्यायमें कहते हैंः—

यहां देशीका नागरपन। जीतेगा शांत रसको जान॥
ओवियां ये होंगी महा-भूषण। साहित्यका॥ १०-४२॥

ऐसी काव्य रचनामेंसे साहित्यिक कलासौंदर्यका अथवा साहित्यिक कला प्रकर्ष artistie perf ection निर्माण होता है। अत्यंत लावण्यपूर्ण काव्य रचना करके जिसमें केवल शांत रसकी प्रधानता है उस तत्वज्ञानको काव्यका रूप देकर शांतरस शृंगार-रससे केवल स्पर्धा ही नहीं कर सकता अपितु शृंगारको जीत सकता है, शृंगार पर अपना सिक्का जमा सकता है इतना सामर्थ्य मेरे शांत रसमें है ऐसी लोकविलक्षण प्रतिज्ञा ज्ञानेश्वर महाराजने की है। इस प्रकारके काव्यकी शब्दरचना कैसी होगी या होनी चाहिये इसका विवेचन करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैः—

वैसा सत्य और कोमल । हित मित किंतु सरल ।
मानो बोल होते कल्लोल । अमृतके ॥ १३-२६९ ॥
पक्व-फलका है परिमल । या शीतल अमृतकल्लोल ।
वैसे कोमल तथा सरल । बोलें शब्द ॥ ८-५७ ॥

सूज्ञ पाठक-वर्गको ज्ञानेश्वरीका अध्यायन करते समय बार बार इसका अनुभव आएगा ही । ज्ञानेश्वरीके पंद्रहवे अध्यायके प्रारंभमें ज्ञानेश्वर महाराज कहते है :—

असंख्य पूर्ण सुधाकर । करें जिसपे निछावर ।
होता है वक्तृत्व मधुर । जिस दैवसे ॥ १५-११ ॥
सूर्य उदित पूर्व-दिशा । देती है जगतको प्रकाश ।
करती दीवाली ज्ञानदशा । वैसे श्रोताओंकी ॥ १५-१२ ॥

जैसे ज्ञानेश्वर महाराजने अपने बारहवे अध्यायके प्रारंभमें कहा है। इस ग्रंथमें नवरसके सागर भरे हैं, भावार्थके बडे बडे गिरिवर खडे हुए हैं, साहित्यकी सुवर्ण खाने खुली हैं, विवेक वल्लीके उद्यान लगे मिलेंगे, संवादफलोंसे भरे प्रमेयोंके उपवन मिलेंगे किंतु यहां पारखंडकी खाइयां नहीं होंगी, वाग्वादके टेडे मेडे कांटीले रास्ते नहीं होगे, कुतर्कके दुष्ट श्वान भी नहीं मिलेंगे । ऐसा यह सुरतरुओंका उपवन है । अपनी शब्द शक्तिके विषयमें ज्ञानेश्वर महाराज छठे अध्यायके प्रारंभमें कहते है कि इन शब्दोंकी व्याप्ति असाधारण है । भावज्ञ पुरुषोंको इसमें चिंतामणिके गुण मिलेंगे, मैने शब्द पक्वान्नकी जो ये थाली परोस रखी है इसके शब्द कैवल्यरससे सने है । यह शब्द भोजन निष्काम साधक बंधुओंके लिये मैंने परोस रखा है । यह ज्ञानेश्वरी ग्रंथ इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बना है। इसमें तत्वज्ञानकेसाथ ही साथ रस, रूपक, उपमादि अलंकार, आदिसे शब्दोंके पूर्णभाव प्रकट हुए हैं और यह वेदांत-ग्रंथ उत्कृष्ट, सर्वांगपूर्ण साहित्य-ग्रंथ बना हुवा है। यह महान ग्रंथ मानो सरस्वतीका-सारस्वतका-लावण्य रत्न भांडार ही बन पडा है ।

ज्ञानेश्वरीका स्थायी भाव :—

इस ग्रंथमें साहित्यके सभी गुण उत्कटतासे प्रकट हुए हैं किंतु यही इस ग्रंथका स्थायीभाव नहीं है। एक सर्वोत्कृष्ट साहित्य ग्रंथ लिखना ज्ञानेश्वर महाराजका जीवन-उद्देश्य नहीं है। ज्ञानेश्वर महाराजका अवतार-कार्य उत्कृष्ट साहित्य निर्माण नहीं जगदुद्धार है। जब ज्ञानेश्वर महाराजका जन्म हुवा उस समय भारतके उत्तरमें मुसलमानी सत्ता स्थिर हो गयी थी और दक्षिण पर उसके आक्रमण भी होने लगे थे । उस समय महाराष्ट्रमें यधपि स्वराज्य था उसपर परचक्रके बादल मंडारा रहे थे। राज्योंमें परस्पर द्वेष और संघर्ष चल रहे थे । समाज भोग-वादी बना था। इसका वर्णन भी ज्ञानेश्वरीमें देखनेको मिलता है। इसका वर्णन करते समय ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं :-

जिन प्राणियोंका आधार । देह तथा कामना पर ।
जिससे विस्मृति अपार । आत्मबोधकी ॥ ४-२० ॥

देहको ही सर्वस्व माननेवाला, "जीवन भोगके लिये है" ऐसा समझनेवाला भोगप्रधान समाज, समाजके सभी क्षेत्रोंमें मतमतांतरोंका गलबला, एकका संबंध दुसरेको नहीं, परस्पर सहयोगका नाम नहीं, पंडित, शास्त्री, सब विद्वत्ताके अपने अभिमानमें चूर, समाजमें परंपरागत ज्ञानका प्रसार करना, समाजको विचार प्रणव बनाना, समाज-शक्तिका संघटन करना,

इसका भान किसीको नहीं; धर्म, तत्वज्ञान आदि सब विद्वन्मान्य संस्कृत भाषाके पिटारेमें बंद, सब कुछ गुह्य, गुप्त, बहुजन समाजको उसकी हवा भी नहीं लगती, वह सब समाज-विमुख, अपने अभिमानमें चूर, मुट्ठी भर लोगोंके हाथमें, ! धर्म, अध्यात्म, तत्वज्ञान आदिके नामसे कोईकुछ भी कहे, कुछ भी करें, और जन-सामान्यके अज्ञानका लाभ लेकर अपना पेट भरलें, ऐसी अराजकताके समय ज्ञानेश्वर महाराजका अवतार हुवा था; वैसे ही जिनपर समाजको धार्मिक तथा आध्यात्मिक संस्कारोंसे संपन्न करनेका दायित्व था वे धर्मपीठ अपना आसन और पीठ संभाल लेनेमें ही दत्त-चित्त रहते थे। ज्ञानेश्वरके जन्मके समय महाराष्ट्रकी परिस्थिति ऐसी थी। सारे भारतवर्षकी परिस्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं थी । इस परिस्थितिका वर्णन करते समय ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

मोहके बहुत बढनेसे। काल बहुत बीत जानेसे।
लोप हुवा है योग इससे। इस लोकमें ॥४-२६॥

ज्ञानेश्वर समकालीन संत श्रीनामदेव कहते हैं-

भ्रष्ट हुए जन रजा यवन। दोष बढे थे सर्वत्र महान।
तब अवतार हुए महान। करने कलि दोष निवारण॥

ज्ञानेश्वर महाराजने तब समाजका सूक्ष्म अवलोकन किया तथा अनुभव किया कि समाज सत्यज्ञानसे विमुख हुवा है। सबसे प्रथम समाजको ज्ञानाभिमुख करना चाहिये, उसके लिये जनसामान्यकी भाषाका ही स्वीकार करना होगा। समाजकी भाषामें, समाज उसको समझ सके, उसको सहज पचा सके, इस ढंगसे समाजको ज्ञानसंपन्न, संस्कारसंपन्न करना होगा; तब किंकर्तव्यमूढ समाज सत्यज्ञानका लाभ लेकर अपने जीवन का उत्कर्ष कर सकेगा ! इसके लिये ज्ञानेश्वर महाराजने भारतमें प्राचीन कालमें ऐसीही परिस्थितिमें कही गयी गीतको चुना। द्वापर-युगके अंतमें, अर्थात आजसे करीब साडेतीन हजार वर्ष पहले, युद्ध भूमिपर, कर्तव्याकर्तव्यके मोहमें डूबकर, किंकर्तव्यमूढ अर्जुनको, भगवान श्रीकृष्णने गीतोपदेश दिया था और अर्जुनका मोह निवारण हुवा था; इसी गीतासे समाजका मोहनिवारण होगा यह मानकर ज्ञानेश्वर महाराजने सर्वकालोपयुक्त गीताके ज्ञानखड्गको देश भाषाकी सान पर चढाकर समाजके हातमें दिया, इसी बातको ज्ञनेश्वर महाराजने जरा दूसरे ढंगसे ग्यारहवे अध्यायमें कहा है। संस्कृतका प्रवाह अत्यंत गहरा है। उसमें निर्मल नीर बहता है। लोक उस पानी तक नहीं जा सकते। इसलिये मैंने निवृत्तिनाथकी आज्ञासे देशी भाषाका घाट बांधा है। इसमें जो चाहे वह स्नान करें, यहां प्रयाग माधवका विश्वरूप देखें, तथा संसारको तिलोदक दें ! ज्ञानेश्वर महाराज अठारहवे अध्यायके अंतमें गीताको मैने मराठी भाषा अर्थात देशभाषाका विषय क्यों बनाया इसका समर्थन करते हुए ज्ञानेश्वरीके अंतमें कहते हैं-

लाया मैं इसी कारण। गीतार्थ देशीमें जान ।
किया है इसको जन। दृष्टिका विषय ॥ १८-१७३५ ॥
किंतु देशी बोलमें रंगकर। जान लेंगे गीतापद मधुर।
न होगा मूल न जानकर। एक पक्षीय ॥ १८-१७३६ ॥
और कहें यदि मूल गाकर। बनेगा वह मूलका अलंकार।
वैसे आएगा देशीमें भी सुंदर। गीतार्थ पूर्ण ॥ १८-१७३७ ॥

चार्वांगी पर न चढे भूषण। फिर भी वह शोभती जान।
सुंदर तनुका बना भूषण। वह अतियोग्य ॥ १८-१७३८ ॥
या मोतियोंकी ऐसी जाति। सुवर्णमें भी लाती कांती।
या अपने रूपमें अति। सजते आप ॥ १८–१७३९ ॥
या मोतिया वसंतागनमनका। खुला हो या गूंथा हो उसका।
एकसा परिमल होता जिसका। उसी प्रकार ॥ १८–१७४० ॥
मूल सहित जो है सजता। उसके विना भी जो है शोभा लाता।
रचा मैने ऐसा लाभद गाथा। ओवी छंदमें ॥ १८–१७४१ ॥
इसमें अबाल सुबोध। ओवीके छंदमें प्रबंध।
ब्रह्म-रसमें है सुस्वाद। गूंथे हैं अक्षर ॥ १८-१७४२ ॥

इसमें संदेह नहीं कि महाराष्ट्रमें भी आज ज्ञानेश्वरीकी मराठी भाषा सुबोध नहीं है। किंतु जैसे इसी देश भाषामें लिखे गये अपने इस ग्रंथके परिणामकें विषयमें वे तेरहवे अध्यायके अंतमे कहते है.

इससे पिशाचका भी मन। बनेगा सात्विकताकी खान।
श्रवणमात्रसे है सुमन। पायेगा समाधि ॥ १३-११५८ ॥
वाग्विलास विस्तार कर। गीतार्थसे विश्वको भर।
बांधेंगे विशाल मंदिर। इस जगतका ॥ १३-११५९ ॥
मिटेगी न्यूनता विवेककी। सार्थकता हो कान मनकी।
खुलेगी खान ब्रह्म-विद्याकी। चाहे जिसको ॥ १३-११६० ॥
परतत्व देखें नयन। पाये सुख वसंतोद्यान।
आकंठ ब्रह्मरसपान। करे विश्व ॥ १३-११६१ ॥

यह अबाल सुबोध प्रबंध है। अर्थात ज्ञानेश्वर महाराजके कालमें वह भाषा अबाल सुबोध थी।

श्रीमद्भगवद्गीतापर ज्ञानेश्वर महाराजको अत्यंत श्रद्धा है। वे भगवद्गीताको " भारतकमल पराग " मानते हैं। गीता व्यासबुद्धीद्वारा शब्द ब्रह्माब्धिका मंथन करके निकाला हुवा नवनीत है। वह भी ज्ञानाग्निसे तपा कर विवेक परिपक्व सुगंधित घी बना है। इससे विरक्त उसकी अपेक्षा करते हैं, संत उसका अनुभव करते हैं, विद्वान उसमें रमते हैं; तथा उसके सोऽहंभावमें सभी लीन होते हैं। ऐसी इस गीताको श्रीकृष्णने स्वयं कहा है। यह कोई शब्दशास्त्र नहीं है किंतु संसारपर विजय पानेके लिये मानव मात्रको मिला हुवा एक महान शस्त्र है! इसमें विश्वको स्वानंद भोग प्राप्त कर देनेकी शक्ति है। गीता द्वापरके अंतमें युद्ध भूमि पर श्रीकृष्णने मोहग्रस्थ अर्जुनको कही थी; उससे भला सबको क्या लाभ ? तथा राजनैतिक दृष्टिसे अर्जुन एक महान व्यक्ति था। उसके सामने जो समस्या थी, वह सबके सामने कहां है ? ऐसा एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। किंतु यहां पर अर्जुन मोहग्रस्त हुवा था। मोहका अर्थ अविवेक। अविवेक मानवकी एक भूमिका है। यहां छोटे बडेका सवाल नहीं है। गीता अविवेक ग्रस्त मनुष्यके लिये उपदेश है। अर्जुन ऐसे अविवेक ग्रस्त समाज पुरुषका

प्रतीक था। श्रीकृष्णने अर्जुनको समाज पुरुषका प्रतीक मानकर ही यह उपदेश दिया है इसी भावको ध्यानमें लेकर श्रीमदाद्यशंकराचार्यने अपने भाष्यमें कहा है—**इत्यतः संसार-बीजभूतौ शोकमोहौ। तयोः च सर्वकर्मसंन्यास पूर्ववत् आत्मज्ञाननिष्ठा मात्रात् न अन्यतो निवृत्तिः इति, तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थं अर्जुनं निमित्तीकृत्य आह भगवान् वासुदेवः॥ गीताभाष्य २–११ ॥** ज्ञानेश्वर महाराजने भी अठारहवे अध्यायके अंतमे गाय बछडेको निमित्त बनाकर जैसे घरभरको दूध देती है; मेघ चातकको निमित्त बनाकर स्वयं बरसकर जैसे सारे संसारको शांति देते हैं, अपने अनन्य कमलको निमित्त बनाकर सूर्य जैसे संसारको प्रकाश देता है, वैसे श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर मोहग्रस्त विश्वको गीतो-पदेश दिया है ऐसे कहा है। उसी प्रकार ज्ञानेश्वरमहाराजने भी विश्वकल्याणके हेतुसे अपने ग्रंथकी रचना की है। उनका जन्मक्षेत्र महाराष्ट्र होनेसे स्वाभाविक ही कार्यक्षेत्र भी महाराष्ट्र बना। वैसे ही उनके सामने बैठनेवाले लोग मराठी भाषिक थे इसलिये उनको मराठी भाषाको माध्यम बनाना पडा; किंतु उनकी दृष्टि "**गीतार्थसे विश्वको भरना**" थी। जैसे ऊपर कहा है कि श्रीकृष्णने जैसे मोहग्रस्त अर्जुनको निमित्त बनाकर संसारको गीताका उपदेश दिया वैसे ज्ञानेश्वर महाराजने महाराष्ट्रको निमित्त बनाकर मानवमात्रके लिये यह वाग्विस्तार किया है इसमें संदेह नहीं। यह बात उन्होने कई जगह कही है जैसे वे तेरहवे अध्यायके अंतमें कहते हैं।

वाग्विलास विस्तार कर। गीतार्थसे विश्वको भर।
बांधेंगे विशाल मंदिर। इस जगतका॥ १३–११५९ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता और ज्ञानेश्वरीके विषयमें इतना लिखनेके बाद जरा हम देखे कि अन्य भाष्योंसे इसका क्या विशेष है। गीता ग्रंथ पर संस्कृतमें अनेक आचार्योंने भाष्य रचा है। उस पर अनेक टीका प्रतिटीकाके आलोचनात्मक प्रबंध लिखे गये हैं; किंतु इन सबमें गीताके किसी एक विशिष्ट सिद्धांतके प्रतिपादनके लिये स्वपक्ष मंडन और प्रतिपक्ष खंडन पर ही सारी शक्ति लगाई है। कुछ भाष्योंको पढते समय तो ऐसे लगता है कि केवल यह टीकाकारके पांडित्य प्रदर्शनका प्रयास हो रहा है! इस प्रकारके भाष्योमें जन-समान्यको वह तत्वज्ञान आत्मसात करना है यह •बात अक्षरशः भुलाई गयी है। वैसे ही यह सब विद्वन्मान्य संस्कृत भाषामें होनेसे जनसामान्य इससे वंचित रहे। बहुजन समाजको इससे कुछ भी नहीं मिला। ज्ञानेश्वरीमें यह दृष्टि नहीं है। ज्ञानेश्वर महाराजने न संस्कृत भाषाको चुना न वे शास्त्रीय पद्धतिसे स्वमत मंडन तथा परमत खंडनके पचडेमें पडे। उन्होंने जन-सामान्यकी भाषाका स्वीकार किया तथा विषय प्रतिपादनमें उपमा दृष्टांत आदिसे बहुजन समाजके लिये आकर्षण निर्माण किया। शास्त्र कथनमें काव्य-पद्धतिको अपनाया। उसमें माधुर्य, ओज, प्रसाद, अर्थव्याप्ति, औदार्य, कांति, आदि सभी काव्यगुणोंका आविष्कार करके अत्यंत उत्कटताके साथ इन गुणोंका उत्कर्ष करके एक महान वेदांत काव्यकी निर्मिती की। परिणामस्वरूप बहुजनसमाज इस ओर आकर्षित हुवा। ज्ञानेश्वरीके कुछ अध्यायोंके मंगलाचरणके गुरुवंदनमें कुछ संस्कृतमय 'मराठी' ओवियां आई हैं। उदारणके लिये दसवे अध्याय, चौदहवे अध्याय, अठरहवे अध्यायके मंगलाचरणको देख सकते हैं। यहां जो शब्दालंकार सौंदर्य है तथा शब्दमाधुर्य है, इससे ज्ञानेश्वर महाराजके संस्कृतभाषापांडित्यका परिचय मिलता है। ज्ञानेश्वरीके सोलहवे अध्यायके मंगलाचरणमें ज्ञानेश्वरमहाराजने अपने श्रीगुरुपर किया हुवा चित्सूर्यका रुपक,

किसी भी काव्यमें अलंकारका एक अद्वितीय प्रकार है। अक्षरशः यह अभूतपूर्व है, अलौकिक है। किसी भी संस्कृत महाकाव्यके शिरोभागमें शोभास्पद है। यह देखकर बडे बडे विद्वान साहित्यिक काव्यानंदनमें डूब जाते हैं। इससे ग्रंथका सौंदर्य और वैभव बढा है। द्विगुणित हुवा है। अपने लाडले नन्ने बालकको अनेक चिडियोंके किस्से या बोलियां सुनाकर दूध-भात खिलानेवाली मांकी भांती ज्ञानेश्वर महाराज ज्ञानेश्वरीमें अपने श्रोताओंको अनेक काव्य गुणोंसे सानकर तत्वज्ञानका अमृतान्न खिलाते हैं। ज्ञानेश्वरीमें दो हजारसे अधिक रूपक या दृष्टांत हैं, इन सबका उद्देश तत्वज्ञानको सर्व-सुलभ बनाना है! जनमनरंजन नहीं किंतु जनमन संस्कार संपन्न बनाना इस काव्य लेखनका उद्देश्य है। इसीलिये सारा महाराष्ट्र प्रेम और कृतज्ञतासे ज्ञानेश्वरको—और ज्ञानेश्वरीको भी-माउली कहता है। ज्ञानेश्वरकालीन एक महान संत श्रीनामदेव कहते हैं-

ज्ञानेश्वर मेरी योगियोंकी माउली।

" ज्ञानेश्वरमाऊली " यह महाराष्ट्रके भागवतानुगमका महामंत्र है। इतनाही नहीं समग्र महाराष्ट्रका महामंत्र है। बिना इस महामंत्रके महाराष्ट्रके सबसे बडे भागवत समुदायका-जिसको वारकरी संप्रदाय कहते हैं- भजन पूर्ण नहीं होता। भजनके अंतमें "ज्ञानेश्वर माउली ज्ञानराज माउली " यह घोष होता है।

ज्ञानेश्वरीका महत्व :—

गीताके विषयमें लिखते समय ज्ञानेश्वर महाराजने लिखा है कि गीता कांडत्रय रूपिणी श्रुतिही है। तथा यह सर्वमान्य भी है। अन्य भाष्यकारोंने भी यह कहा है, किंतु इसका रुप व स्थान स्पष्ट करते समय अन्य सभी भाष्यकारोंने बडी खींचतानी की है। किंतु अध्येता ज्ञानेश्वरी ग्रंथमें यह नहीं देखेंगे। ज्ञानेश्वरी ग्रंथमें इन तीनोंका उत्कृष्ट समन्वय देखनेको मिलेगा। इसके उदाहरण रूप हम निम्न ओवी देते हैं।

अथवा कर्मयोग ओघ। मिलके भक्त-चित्त गंगौघ।
पाया स्वानंदोदधि सवेग। मद्रूपका ॥ १८—१२२२ ॥

कर्मयोगका प्रवाह भक्तिकी गंगासे मिला और वह गंगा मद्रूपके स्वानंदसागरमें मिली। ज्ञानेश्वरीमें कर्म है किंतु कर्मका त्रास नहीं, भक्ति हैं किंतु वह बावलेपनके अज्ञानकी नहीं, उन्होंने तत्वज्ञान के साथ प्रेमका माधुर्य जोड दिया है तो भक्तिको ज्ञानकी दृष्टि दी है; उनके दृष्टांतोंमे कौटुंबिक वात्सल्य है, पशु पक्षी तथा चराचर विश्वके विषयमें अलौकिक आत्मीयता है। इसी आत्मीयतामेंसे ज्ञानेश्वर माउलीका घोष फूट पडा है। इसमेंसे ज्ञानेश्वरका विश्वप्रेम प्रकट हुवा है। इसी विश्व-प्रेमके कारण उनके काव्यमें असीम माधुर्य आया है। भावोंमें कोमलता, कल्पनाओंमें उदारता, अर्थमें गंभीरता, शब्दोंकी मधुरता इत्यादि काव्यकी उत्कटताकी आधारशिला ज्ञानेश्वरका यही विश्वप्रेम है। ज्ञानेश्वर महाराजने गीताके शब्दोंसे भी गीतामेंसे श्रीकृष्णका मनोगत जाननेका प्रयास किया है। यह वे कहते भी हैं —

परमात्माका मनोरथ। हमें दिखाता है तू मूर्त।
यह कहने पर चित्त। उमड आयेगा ॥ १३—५६० ॥

इस विषयमें निवृत्तिनाथादि श्रोताओंने ज्ञानेश्वर महाराजको प्रशस्ति पत्र दिया है। महाराष्ट्रके आधुनिक संत, अंतरराष्ट्रीय ख्यातिके विद्वान, अलाहाबाद विश्वविद्यालयके भूतपूर्व-कुलपति श्री रा. द. रानडे इस विषयमें कहते हैं "उपमा, भाषासौंदर्य तत्वज्ञान

साक्षात्कार, भक्ति, अद्वैत दर्शन, इसका संबंध जोडकर, अलौकिक निरीक्षण शक्ति, अप्रतिहत कवित्वशैली, अमापवाङ्माधुर्य, इन सर्वगुण संपन्नतासे "ज्ञानेश्वरी" यह ग्रंथ 'न भूतो न भविष्यति हुवा है' ऐसे कहनेमें कोई आपत्ति नहीं हैं।"

यद्यपि साहित्यिक दृष्टिसे ज्ञानेश्वरी एक समृद्ध ग्रंथ है फिर भी यही उस ग्रंथका वास्तविक महत्त्व नहीं है। ज्ञानेश्वरीकी वास्तविक भूमिका तत्वज्ञानकी है। ज्ञानेश्वर महाराज अत्यंत श्रेष्ठतमसंतपुरुष थे। उनके समकालीन तथा उनके बादवाले सभी संतोंने इसको एक मतसे स्वीकार किया है। संतोका श्रेष्ठत्व उनके तत्वज्ञानमूलक स्वयंपूर्ण अनुभति पर निर्भय होता हैं। ज्ञानेश्वरीमें संतोके रूपका विवेचन करते समय

आत्मज्ञानमें शुद्ध सिद्ध। रहते संत जन प्रसिद्ध।

ऐसा किया है। इस अनुभूतिका अर्थ परतत्व स्पर्श है! गीता यह अध्यात्मशास्त्र हैं। श्रीमत्शंकराचार्य भी यह स्वीकार करते हैं। इसके विषयमें ज्ञानेश्वर माहाराज कहते हैं।

मोक्षदानमे जो स्वतंत्र। ज्ञानप्रधान यह शास्त्र।
इसीसे हैं यह सुसूत्र। लिया हाथमे॥ १८-१३४६॥

भारतीय तत्वज्ञानमें, उपनिषदोमें, मोक्षको सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ माना है। ज्ञानेश्वरीमें भी चौदहवे अध्यायकी चारसौ एक ओवीमें "इस ब्रह्मपदको सापुज्य" कहते हैं ऐसा कहा गया है। गीता ही एकमात्र मोह निवारक तत्वज्ञान है। यही आत्मज्ञान है। गीता यह तत्वज्ञान पर ग्रंथ है इसीलिये उसको प्रस्थानत्रयीमें स्थान दिया गया है। काल प्रवाहमें इस तत्वज्ञानका लोप हो रहा था। अनेक अवैदिक मतमतांतर निर्माण होकर अपना प्रचार कार्य कर रहे थे। समाज सारासार विचार करके सत्य ग्रहणमें असमर्थ था। ऐसे समय जब सत्यज्ञान तथा भक्तिका लोप हो रहा था यह देखकर ज्ञानेश्वर महाराज व्यथित हुए। ज्ञानेश्वर महाराजकी आरतीमें श्रीरामाजनार्दन गाते है —

जगतमें ज्ञान हुवा लोप। हित न जाने अपना आप।
अवतरित हैं पांडुरंग। कहाता है वह ज्ञानदेव।
प्रकट गुह्य वह बोलता। विश्वको ब्रह्ममय करता।

ज्ञानेश्वरमहाराजके रुपमें कारूण्य मूर्त हो आया था। तत्वज्ञानशून्य समाज अधिकाधिक बहिर्मुख होकर अनीति बढती है। यह देखकर ज्ञानेश्वर महाराज तडपते थे। उनकी यह अकुलाहट उन्हीके शब्दोंमें कहना हो तो

या कीचमें फंसी गाय देखकर। नहीं देखा जाता सूखी या दुधार।
उसकी जीवन व्यथा देखकर। चित्त होता व्याकुल॥ १६-१४२॥
डूबतेको देखकर सकरुण। न पूछता तू अंत्यज या ब्राह्मण।
जानता उसके बचाने हैं प्राण। इतना मात्र॥ १६-१४३॥
बैंसे अज्ञान प्रमादमें। अथवा दुर्दैव या दोषमें।
सभी प्रकारके निंद्यत्वमें। जकडे गये जो॥ १६-४४५॥
उन्हे अपने अंगके। भले गुण देकरके।
भुलाते हैं चुभनेके। सभी शल्य॥ १६-१४६॥

ये ओवियां पर्याप्त हैं। इन ओवियोंको देखनेसे ज्ञानेश्वर महाराजके कार्यके प्रेरणास्रोत दर्शन भलीभांति हो सकता है। इसी व्याकुलताके कारण ज्ञानेश्वर महाराजने महाराष्ट्रके समाजको जागृत करके उसके हातमें नये तत्वज्ञानकी मशाल दी। अथवा ज्ञानखड्ग हातमें दिया। महाराष्ट्रके बहुजन समाजपर उसका अच्छा परिणाम हुवा। इस महाराष्ट्रमें ब्रह्म विद्याका सुकाल बना। क्यों कि कठिणसे कठिण समस्याएं सरल बनी थीं। गीता सुसेव्य बनी थी। अबाल सुबोध बनी थी। ज्ञानेश्वरीके तत्व-ज्ञानके कारण जीव, जगत, तथा पर-ब्रह्मका सर्वंकश विचार हुवा था। उसमेंसे सबकी अभेद-सिद्धिका दर्शन हुवा था। ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरीके तेरहवे अध्यायमें "उस ज्ञानका प्रवेश होते ही वह अविद्याका नाश करके जीव आत्माका ऐक्य करता है। इंद्रियोंके द्वारको रोकते हुए, प्रवृत्तिके पैर तोडकर मन और बुद्धिका दारिद्र्य रोकता है। द्वैतका अकाल दूर करता है, सर्वत्र साम्यानुभवका सुकाल होता है। मदको मारकर सभी प्रकारके अविवेक को दूर करता हुवा आप पर भेदको नष्ट करता है। यह संसारका उन्मूलन करके संकल्प-महामलको धोता हुवा अनावर ज्ञेयका दर्शन कराता है। इससे जीवकी आंखे खुलती हैं तथा जीव आनंदधाममें खेलने लगता है।" ऐसा यह ज्ञान पवित्र-संपत्ति है। इससे सदा सर्वत्र निर्मल होता है। ऐसी उज्ज्वल स्थितिको ज्ञानावस्था कहते हैं। ज्ञानेश्वर महाराजने कई जगह इस ज्ञानका सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है। इस विवेचनको देखनेसे ज्ञानेश्वर महाराजकी वास्त-विक भूमिकाका सर्वांगपूर्ण दर्शन होता है। उन्होने कभी "दुःखं दुःखं क्षणिकं क्षणिकं" की घोषणा नहीं की। किंतु परमात्माने यह विश्व आनंदमय किया है। हम इसको आनंदमंदिर बनारखे ऐसा आवाहन किया। जीवको आनंद सम्राज्यके सिंहासन पर बिठानेकी बात कही। "विश्व है सर्वत्र सच्चिदानंद" कहा। उन्होने सारा विश्व मेरे सर्वात्मक-देवका विस्तार है। कहते हुए अपने तत्वज्ञान की नींव डाली है। उस ब्रह्मको मेरा विश्वात्मक देव कहा। इस भांति उन्होंने विश्व-और विश्वात्मककी समरसता दिखाई है। इसको उन्होने अनेक रूपकोंसे जनमानस पर बिंबित किया जैसे ज्ञानेश्वरीके चौदहवे अध्यायमें—

तब कौन हूं मैं कैसी भक्ति। अव्यभिचारकी अभिव्यक्ति॥
होना उसकी पूर्ण निश्चिति। अत्यावश्यक॥ १४–३७२॥

अब सुन तू अर्जुन। यहां है मेरा क्या स्थान।
रत्नमें तेज जो रत्न। वैसा हूँ मैं॥ १४-३७३॥

या द्रवणवत है नीर। अवकाश है अंबर।
या मिठास ही है शक्कर। नहीं भिन्न॥ १४–३७४॥

या अग्निही है ज्वाल। दल ही है कमल।
वृक्ष जो वही डाल। फलादिक॥ १४-३७५॥

हिम होता जो संघटित। कहलाता वह हिमवंत।
या जामन लगा दूध पार्थ। कहलाता दही॥ १४-३७६

यहां विश्व है जो अर्जुन। स्वयं है हूं वह संपूर्ण।
चंद्र बिंबका तरासना। नहीं होता जैसे॥ १४-३७७॥

अजी ! जमा हुवा घृत । जमकर भी रहता घृत ।
या कंकर रूपमें भी पार्थ । होता सोना ही ॥ १४-३७८
इसलिये विश्वत्वका निवारण । कर फिर करना मेरा ग्रहण ।
ऐसा नहीं जान तू यह संपूर्ण । विश्व ही मैं हूं ॥ १४-३९० ॥

इस तादात्म्यके साथ परमात्मासे समरस होना ही भक्ति है ऐसे उन्होंने भक्तिका सार-सर्वस्व कह दिया। परमात्माको संपूर्ण रूपसे विश्वके साथ जानना ही अव्यभिचारी भक्ति है। इसमें भेद करना व्यभिचार ऐसे अव्यभिचारी भक्तिका अर्थ करते समय ज्ञानेश्वर महाराजने स्पष्ट रूपसे कहा है। अर्थात् संपूर्ण तादात्म्यके साथ विश्व-सह विश्वात्मामें लीन होना ही अव्यभिचारी भक्ति है। यदि यहां विश्व तथा विश्वात्मामें भेदका दर्शन होता है तो उसको व्यभिचार समझना ! इसके लिये अभेद चित्त होकर अपने साथ आत्माको जानना चाहिये । सोनेसे सोना जडा जानेकी भांति, तेजसे तेज-किरण प्रस्फुटित होने की भांति, भूतलसे परमाणु और हिमाचलसे हिमकण प्रस्फुटित होनेकी भांति, यह विश्व और विश्वात्मा अभिन्न है। सागर और उसकी लहरकी भांति विश्व और विश्वात्मा अभिन्न है। ऐसी एकात्मकता सर्वत्र और सतत अनुभव करना अनन्य भक्ति है। इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते समय ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

ज्ञानी इसको स्व संवित्ति । शैव कहते हैं इसे शक्ति ।
तथा हम परम भक्ति । कहते अपनी ॥ १८–११३३ ॥

वैसे ही और एक स्थान पर कहते हैं मेरे सहज प्रकाशको भक्ति कहते हैं यह अनन्य भक्ति कैसे अद्वैत भक्ति बनती है यह अनेक दृष्टांत देकर ज्ञानेश्वर महाराजने समझाया है। एक स्थान पर वे कहते हैं जैसे तरुणी अपने तारुण्यका भोग करती है वैसे भक्त परमात्माका भोग करता हैं। पानी जैसे अपने सर्वांगसे बिंबका चुंबन करके प्रतिबिंबका अपनेमें भोग करता है जैसे अलंकार स्वर्णका भोग करते है जैसे चंदन सुगंधका भोग करता है जैसे चंद्र चांदनीका भोग करता है, वैसे भक्त स्वयं परमात्मा बनकर अपनेमें अपने परमात्माका भोग करता है। यह भक्ति कोई क्रिया नहीं है किंतु एक अनुभव हैं। ज्ञानेश्वर महाराजने इस अनुभवका वर्णन करते हुए दस प्रकरणोंका **अनुभवामृत** नामका स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा है। इस ग्रंथमें इस अनन्य भक्तिका विस्तारके साथ विवेचन किया हैं जो कोई ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रंथोंका अध्ययन करेगा उसको जीवन विश्व तथा विश्वात्माकी ओर देखनेकी एक विशिष्ट दृष्टि मिलती है। क्यों कि ज्ञानेश्वर महाराज स्वतः एक श्रेष्ठ अनुभावी संत थे। उनकी भेददृष्टि मिट गयी थी। वे सर्वत्र अभेदका अद्वयानुभव करते थे। सर्वत्र विश्वात्मक देवका दर्शन करते थे, उनको सत चित् आनंद अथवा सत्यं शिवं सुंदरम् इन भिन्न भिन्न शब्दोंसे संबोधन की जानेवाली शक्ति केवल आनंदमय बन गयी थी। इस आनंदमें सबको सम्मिलित करना यह आनंद सबको वितरण करना या यह आनंद सबको मिले ऐसा करना उनका जीवन--कार्यसा बन गया था। इसीलिये उनके साहित्यमें तर्क, कल्पना, भावना, आदिके भिन्न भिन्न सभी कार्य सर्वत्र केवल सौंदर्य निर्मितीका कारण बने हैं। शास्त्र और काव्यकी सीमारेखा पोंछ गयी है मणशक्ति चिंतनशक्ति, बुद्धि शक्ति आदि सभी शक्ति एक जीव एक रूप बनकर शुद्ध वस्तुरूपके साक्षात्कार करनेके लिये संवेदन रूप बनकर वही संवेदन जीवनमें ओतप्रोत बन गया था। यही संवेदनशील हृदय शब्दका आकार बनकर प्रकट होता जाता था। तथा

समय समय पर उनके मुखसे "साराही संसार सुखका करूंगा मोदसे भरूंगा तीनों लोक ॥" ऐसे प्रतिज्ञा वचन उमड पडते थे । उनके हृदयकी मृदु मधुरता इतनी व्यापक थी कि इतने बडे ग्रंथमें कहीं भी दुरुक्ति नहीं, कहीं भी किसी भी सांप्रदायिक बातका आग्रह नहीं, किसी भी मतका खंडन नहीं; शुष्क विद्वात्ताका अभिनिवेश अथवा प्रदर्शन नहीं। ज्ञनेश्वररीकी प्रसाददानकी ओवियोंमें उनकी सद्भावनाकी व्यापकताका मंगलमय दर्शन होता है। वे अपने विश्वात्माकगुरुदेवसे प्रसादद्दान मांगते हुए कहते है " हे मेरे विश्वात्मक देव ! इस वाग्यज्ञसे संतुष्ट होकर आप मुझे यह प्रसाददान दें कि जिससे खलोंकी कुटिलताका अंत हो, उनमें सत्कर्म रतिकी आस्था हो, दुरितका अंधःकार मिटकर सर्वत्र स्वधर्म-सूर्यका उदय हो, सभी प्राणियोंको इच्छित्त-वर मिले; ईश्वर-निष्ठोंके समुदाय मंगलकी वर्षा करते हुए सर्वत्र संचार करें, सर्वत्र सभी सज्जनही हों! वे सब चलते कल्पतरु, बोलते अमृत निर्झर तथा चेतन चिंतामणिकी खानसे बने! ये सज्जन अलांछित चंद्रमासे, ताप रहित सूर्यसे, सबके आप्त बने और सब आदिपुरुषमें अखंडरूपसे दत्त चित्त होकर शाश्वत सुख अनुभव करें!" इन्ही शब्दोंमें ज्ञानेश्वरी ग्रंथ समाप्त होता है। अर्थात ज्ञानेश्वरीका उगम इन्ही भावनाओंसे हुवा है। इन्ही भावना ओंके तानेबानेसे वह बुना गया है, और अंतमें इन्ही भावनाओंमें डूब गया है। इन भावनाओंके स्पर्शके बिना इस ग्रंथका मूल्यांकन करना असंभवसा है।

अनुवाद और अनुवादक —

तत्वज्ञानी संत और उनके तत्वज्ञानको देश-काल तथा भाषाकी मर्यादायें कभी नहीं होती यद्यपि कुछ नैसर्गिक कारणोंसे कुछ समय यह प्रवाह अवरुद्धा सा रहता है। कोई भी तत्वज्ञान हो वह आखर किसी न किसी भाषामें कहना या लिखना पडता है। कालभेद, स्थलभेद, तथा भाषाभेदेके कारण वह भाषा सबको अवगत होना शक्य नहीं होता। परिणामस्वरूप सामान्य जनता उस ज्ञानसे वंचित रहती है। इसीलिये एक भाषामें कहे गये ऐसे अनुभवी तत्वज्ञानका दूसरी भषामें अनुवाद करना आवश्यक होता है। उपनिषद गीता आदि ग्रंथोंका ऐसे अनुवाद सभी भाषाओंमें हुए है। वैसेही ज्ञानेश्वरी एक अवतारी पुरुषद्वारा भगवतद्गीता पर लिखागया एक भाष्य है जिससे वह ज्ञान सबको उपलब्ध हो, सबको प्रिय हो, सब उसको सहज पचा सके और सारा विश्व उससे कृतकृत्य हो। यद्यपि यह सब मराठी भाषामें कहा गया है फिर भी उसका तत्वज्ञान कभी किसी भाषाके आवरणमें बंध नहीं जाता। वह सूर्यसा सर्वकष होता है। किंतु उसका सही अनुवाद होना अत्यंत आश्यक होता है। हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है। श्रीज्ञानेश्वरीका राष्ट्रभाषामें अनुवाद करनेका अत्यंत उपयुक्त, आश्यक, तथा अत्यंत कठिण काम, हमारे मित्र, दे. भ. श्री बाबुराव कुमठेकरने किया है। उनके कार्यका मूल्यांकन करना आसान नहीं है। क्यों कि यह कार्य वैसेही महत्वका है। प० पू० वै.वा. ह. भ. प. आचार्य श्री शं. वा. दांडेकरजी कुमठेकरजीके कार्यके विषयमें अपने एक पत्रमें लिखते हैं।

"भारतको स्वातंत्र्य मिला और नेताओंने भाषिक राज्य रचनाका प्रयोग करनेका निश्चय किया किंतु इसका एक अकल्पित परिणाम यह दीखने लगा कि उससे द्वैत ही बढा। यहांतक कि नेतलोग भी यह सोचने लगे देशकी एकातमकता टूट जायेगी!

" इस आपत्तिका सदाके लिये दूर करनेके जो अनेक उपाय हैं उनमें एक महत्वका उपाय राष्ट्रभाषामें भिन्न भिन्न भाषाओंके उत्कृष्ट वाङ्मयका आविष्कार करना है; और विश्वमें संत साहित्य ही एक ऐसा साहित्य है जो विश्वैक्यकी भाषा बोलता है तथा यही एक

विचार प्रकट करता है। संत एक परिवार हैं। संत, फिर कहीं भी जन्म ले अथवा कभी जन्म लें वह एकही भाषा बोलता है और एक ही तत्त्व कहता है।

"ऐसे संत साहित्यका हिंदी आविष्कार होकर संतोंका संदेश भारतके घर घर पहुंचकर भारतकी एकता दृढ होनेमें मदद हो इस भावनासे श्री कुमठेकरने संत साहित्य सदनक काम उठाया है।"

किसी भी भाषाके काव्यका अन्य भाषामें भाषांतर करनेके लिये, वह भी समवृत्तमें, दोनों भाषाओंपर उत्तम प्रभुत्व होना आवश्यक होता है, यहां, केवल भाषाप्रभुत्वका पाथेय भी अधुरा ही होता है। यह तत्वज्ञानका ग्रंथ होनेसे उस शास्त्रके गूढ प्रमेयोंका आकलन होनेके लिये उसका भी पूर्ण अभ्यास करना आवश्यक है। उसके प्रति अनन्य निष्ठा, उतनी ही आत्मीयता, और कार्य सातत्यशक्तिकी आवश्यकता होती है। क्यों कि ऐसे काम सामान्य प्रयत्नोंसे सेतमेंतमें होनेवाले काम नहीं हैं। बडे बडे विद्वानोंकी भी बुद्धि कुंठित करनेवाली नौ हजार ओवियां; उनमें स्वयंप्रभ, मौलिक, निगूढ तत्वज्ञानके इस महान ग्रंथका भाषांतर करना आसान नहीं है। प्रत्येक शब्दोंमेंसे ग्रंथका शब्दसौंदर्य, ध्वनिमाधुर्य, अर्थ गांभिर्य, तथा ग्रंथकर्ताके भावको व्यक्त करना अत्यंत कठिण कार्य है। ज्ञानेश्वरीका कथन करते समय जैसे समय स्वयं ज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं —

उन अक्षरोंका जो है भाव। पहुंचाऊंगा आपके ठाव।
कहता सुनिये ज्ञानदेव। निवृत्तिका दास॥ १४–४१५॥

यह सब होनेके लिये मूल ग्रंथकारके हृदयमें प्रवेश करना पडता है, उनका अंतरंग खोजना पडता है, उनकी भावनाओंसे समरस होना पडता है, उनमें तद्रूप तन्मय होना पडता है, तभी मूल ग्रंथकारका हृदय अपने शब्दोंसे अभिव्यक किया जा सकता है! इसके साथ साथ आवश्यकता है भाषाप्रभुत्वकी! श्रीकुमठेकरका अनुवाद देखनेसे ऐसा लगता है ऊपरकी बातोंमें वे पर्याप्त यशस्वी हुये हैं। खास करके, मराठी या हिंदी दोनोंही श्रीकुमठेकरकी मातृभाषायें नहीं है। इन दोनो भाषाओंका व्याकरणशुद्ध अभ्यास करके उन्हे यह काम करना पडा है। इसके पहले भी ज्ञानेश्वरीके दो तीन अनुवाद हो चुके हैं। किंतु वे केवल भाषांतर या रूपांतरसे हैं। यह अनुवाद समवृत्तमें है। ओवीवृत्त हिंदीमें नहीं है यह मराठीका सर्वजनसुलभ अपना वृत्त है। उसमें गण मात्रदिका विशेष बंधन नहीं है। उसके साडेतीन या साडेचार चरण होते हैं। यद्यपि हिंदी भाषामें ओवी छंद नहीं है अनुवादकने हिंदीमें ओवी छंदकी रचना करके ज्ञानेश्वरी जैसे अद्वितीय ग्रंथ, समवृत्तमें हिंदीमें अनुवाद करनेकी अपनी जिद्द अत्यंत सामर्थ्यके साथ पूरी की है। साथ साथ ज्ञानेश्वरमहाराजकी भाषा सूत्रमय है। "अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवाद्विश्वतोमुखं!" यह सूत्रका लक्षण है। सूत्रमें अक्षर थोडे और अर्थ विस्तृत होता है। ऐसे अर्थपूर्ण अक्षरोंका गिंतीके उतनेही अक्षरोंमें, वही भाव और अर्थ प्रकट करना और उसी शब्द-सौंदर्य और नाद-माधुर्यके साथ, यह आसान काम नहीं है। अनुवादक इसमें भी पर्याप्त यशस्वी हुए हैं। उनके इस यशके विषयमें महाराष्ट्रके अत्यंत विद्वान तथा प्रसिद्ध समालोचक प्रो. न. र. फाटक अपने एक पत्रमें लिखते है "हिंदीमें ओवी छंद नहीं है। फिरभी हिंदीमें उस भाषाकी दृष्टिसे अनुकूल हो ऐसा, मराठी ओवी छंदको नया रूप देकर स्व-रचित नये वृत्तमें, ज्ञानेश्वरी जैसे प्रासादिक वेदांत काव्य ग्रंथका, मूलके समान, उतनाही सशक्त और सरल अनुवाद करके, मानो महाराष्ट्र सारस्वतका हृदय ही अन्य भाषिके भाव-जीवनसे जोडकर श्री कुमठेकरने

महान कार्य किया है।........श्री कुमठेकरका किया हुवा ज्ञानश्वरीका हिंदी अनुवाद देख कर ऐसा लगता है "ज्ञानेश्वरी मूलमें ही हिंदीमें लिखी गयी हो!" प्रो०न०र० फाटकके इस कथनमें यत्किंचित अत्युक्ति नहीं है। इतनाही नहीं श्री कुमठेकरने अकरादि विषयानुक्रमणिका, विषयसुचि तथा अनेक परिशिष्टादि द्वारा अध्येताओंके लिये यह ग्रंथ अत्यंत सुलभ बना दिया है। ज्ञानेश्वरी अभ्यास करने जैसा ग्रंथ है। अभ्यास करनेवालोंके लिये श्री कुमठेकरने यह ग्रंथ अत्यंत सुलभ बना दिया है। विशेष कर, विशिष्ट शब्दोंके विशेष विवेचन द्वारा तथा विशिष्ट प्रकारके शब्द कोश द्वारा भी पुस्तकको सर्वांग पूंण तथा सर्वांग सुंदर बनानेमें अनुवादकने अत्यंत परिश्रम किये हैं। वस्तुतः श्री कुमठेकरका पूर्वायुष्य सारा राजनैतिक क्षेत्रमें बीता है। यदि वे चाहते तो स्वातंत्र्योत्तर कालमें किसीके पिछ लग्गू बन कर किसी बडे अधिकारके स्थान पर विराजमान हो सकते थे। किंतु उनको इस मोहने स्पर्श भी नहीं किया। जब अन्य सब राजनैतिक क्षेत्रकी ओर धंस रहे थे, तब उन्होने वह क्षेत्र छोडकर अपना जीवन संतकार्यमें दे दिया और अत्यंत निष्ठासे वे इस कार्यमें दत्तचित्त हैं। इसी एक बातसे उनके अंतरंगका दर्शन हो सकता है; उसकी पूर्ण कल्पना आ सकती है। महाराष्ट्रीय संतोके दिव्य अध्यात्मिक वाङ्मयका उतना ही समर्थ अनुवाद द्वारा हिंदी साहित्य संपदाको समृद्ध करके उन्होने जैसे हिंदी भाषिकोकों चिरऋणी बना रखा है वैसे ही उनका कार्य महाराष्ट्रको भी भूषण भूत है। इसमें महाराष्ट्रका महान गौरव है। हमें पूर्ण विश्वास है कि हिंदीका भावुक वाचक-वर्ग तथा महाराष्ट्रीय इसको मान्य करेंगे। श्रीकुमठेकरके इस ऋणसे मुक्त होनेका प्रयास करेंगे। श्री कुमठेकरके इस कार्यके विषयमें, दो वर्ष प्रथम वैकुंठवासी बने हुए पौर्वात्य पाश्चात्य विद्या-विभूषित, महाराष्ट्रके वारकरी संप्रदायके ज्येष्ठ श्रेष्ठ अध्वर्यु, प. पू. आचार्य श्री शं. वा. दांडेकरजीने प्रशस्ति पत्र देकर गौरव किया था। इस परसे श्री कुमठेकरके कार्यका मपत्व समझमें आएगा। आचार्य श्री दांडेकरने इस अनुवादको देखा था। उन्होने भी इस अनुवादकी प्रशंसा की थी। वे ज्ञानेश्वरीके एक विद्वान भाष्यकार थे। यह अनुवाद कब प्रसिद्ध होगा इसकी उनको तडप थी। वास्तविक इस अनुवादकी प्रस्तावना उन्हीको लिखनी थी किंतु काल प्रवाहमें उन्हे यह शक्य नहीं हुवा। फिर भी यह अनुवादकका सुदैव ही समझना चाहिए कि आचार्य श्री दांडेकरकी प्रशस्ति उनको मिली। वैसेही महाराष्ट्रमें अन्य अनेक विद्वान अधिकारी पुरुष होने पर भी इस ग्रंथकी प्रस्तावना लिखनेका दायित्वपूर्ण काम मुझ जैसे सामान्य व्यक्तिको क्यों सौंपा गया यह भी मैं समझ नहीं पाया किंतु श्री. बाबुराव कुमठेकर के प्रेमाग्रहके कारण यथाशक्ति इन सर्वांगपूर्ण ग्रंथ पर प्रस्तावनारूप चार शब्द लिखे हैं। अंतमें ज्ञानेश्वर महाराजके

पुनः पुनः आगे इससे। इस ग्रंथ पुण्य संपत्तिसे।
सर्वभूत सर्व सुखसे। होना है संपूर्ण ॥ १८-१८०८ ॥

इन शब्दोंमे यह प्रस्तावना समाप्त करता हूँ।



कृतज्ञताके कुछ शब्द

कभी स्वप्नमें भी नहीं सोचा था ऐसा काम जब किसीसे सफलता पूर्वक संपन्न हो जाता है तब उसका हृदय कृतार्थतासे कैसे भर आता है इसका अनुभव अब हो रहा है। जब हृदयमें बिना ओर छोरका आनंद लहरें मार रहा होता है तब मौन रहना ही अच्छा होता है! बिना ओरछोरके उस आनंद - सागरको भला शब्दोंके चम्मचसे कहां तक भरें और कैसे भरें ? वस्तुतः उसकी आवश्यकता भी नहीं होनी चाहिये। किंतु जीवनमें कुछ बातें ऐसी होती हैं कि जिन्हें समयपर नहीं कहना शायद कृतघ्नता कहा जाय। इसीलिये यहां ये शब्द लिखे जा रहे हैं।

कभी ज्ञानेश्वरीकी कुछ ओवियोंका सहज ही अनुवाद हो गया। वह, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, गुरु-जनोंको अच्छा लगा। पू० आचार्य शं. वा. दांडेकर, श्री.न्यायरत्न धुंडिराज शास्त्री विनोद, प्रा० न० र० फाटक जैसे विद्वान् गुरुजनोंने इसी ढंगसे छंदोबद्ध ज्ञानेश्वरी लिखनेकी प्रेरणा दी। पू० शं० वा० दांडेकरजीने कहा "तुमने और कुछ भी काम नहीं किया किंतु इसी ढंगसे ज्ञानेश्वरी हिंदीमें लिख दी तो हम समझेंगे तुम्हारा यह जन्म सार्थक हुआ!" और मैंने भी इसीको गुरुजनोंकी आज्ञा मानकर अपना अधिकार अथवा अपनी योग्यताका विचार किये बिना ही ज्ञानेश्वरीके अनुवादका काम हातमें लिया। ॐ नमोजी आद्य! लिखते हुए आदि पुरुषको प्रणाम कर कार्यका श्रीगणेशा किया। किंतु आगे ....!

काम धीरे धीरे आगे रेंगता गया। जैसे जैसे काम आगे रेंगता गया शरीर सूखता गया। ऐसे भी लगा "यह काम इस शरीरसे पूरा नहीं होगा!" किंतु काम अधूरा छोडना भी असंभव था। बिना किसी कारणके दुर्बलता बढती गयी। दिन भर थकानका अनुभव होने लगा। पडा रहता तो न दिन और न रात घंटों सो जाता। नींदमें सारा दिन बीत जाता। जब जगा रहता, कुछ काममें लगता तो अपने आप खो जाता! अर्थात् बीच बीचके कालखंडका स्मरण ही नहीं रहता। अब क्या हुआ ? मैं कहां था ? क्या करता था ? आदिका भान हीं नहीं रहता। मेरे एक डॉक्टर मित्र चिकित्सा करते। दवा देते। कभी कभी सुयी भी लगाते। मैं अपनी बात उनसे ठीक कह नहीं सकता था, ऐसे महीने बीते। सालभर होने आया।

इसी बीचमें एक दिन श्री. शंभु आपटे नामके एक सज्जनका परिचय हो गया। दूसरे जिस सज्जनद्वारा यह परिचय हुवा था उसने कहा था "वे योगी हैं। आध्यात्मिक साधनामें रत रहते हैं।" आदि आदि।

इस परिचयके तुरंत बाद अनुवादित ज्ञानेश्वरीके कुछ पृष्ठ देखकर उन्होंने कहा "आप ज्ञानेश्वरीका अनुवाद कर रहे हैं। किंतु यह काम आपसे पूरा नहीं हुवा तो आपको दुःखी नहीं होना चाहिए। मैं देख रहा हूं कि यह काम आपसे पूरा नहीं होगा। इसके पहले यह शरीर छूट जायेगा!"

यह सुनकर मैंने हँसते हुए कहा "मेरे एक बुजुर्ग मित्र मेरे लिये सदैव कहते हैं कि तीन चार सालमें एक बार यह ऊपर जाकर यमराजका दरवाजा खटखटाता है और वह दरवाजा खोलनेके पहले ही अंदरसे चिल्लाकर कहता है "नो व्हेकन्सी!" "

"दरवाजा खोलनेके पहले ही वह क्यों चिल्लाकर कहता है? दरवाजा खोलकर सज्जनतासे क्यों नहीं कहता!" मेरा परिचय करा देनेवाले मित्रने पूछा।

"दरवाजा खोलते ही कुमठेकरजी अंदर घुस जायेंगे तब बाहर निकालना मुश्किल होगा न !" शंभु आपटेने कहा और भारी बना हुवा वातावरण कुछ हलका बना।

किंतु मेरा और शंभु आपटेजीका संबंध बढता गया। मुझ पर उनकी बातोंका भी कुछ असर होता गया। मेरे कामकी गति धीमी होती गयी। शरीरके कष्ट बढते गये। और एक दिन ऐसे ही बातबातमें मैंने शंभु आपटेजीसे कहा " मुझे लगता है मुझे अब आपके पास आना छोड देना चाहिए। क्यों कि आपकी बातोंका मुझ पर प्रभाव पडता जाता है। ज्ञानेश्वरी लिखने बैठते समय मन साशंक होता है। मैं इसे प्रकाशित हुवा देखना चाहता हूं और माना मुझसे यह काम पूरा नहीं होगा; किंतु ज्ञानेश्वरीका समवृत्तमें अनुवाद करते करते शरीर छोडना भी कम भाग्य नहीं है!!"

यह कहते समय मेरी आँखें भर आयीं। शंभु आपटेजी भी द्रवित हुए। उन्होंने कहा "ऐसी बात नहीं है। मैं भी चाहता हूं कि यह काम पूरा हो। किंतु कैसे हो? मैं यही सोचता हूँ। मैं इस काममें सहायक बनना चाहता हूँ। रोडा अटकाना नहीं चाहता !"

हम दोनोंका संबंध बना रहा। बढता गया। एक दिन उन्होंने यकायक कहा " कुमठेकरजी कृपा करके तुम डाक्टरसे दवा लेना छोड दो। ऐसे ही चलने दो।"

उस दिन मुझे माथेमें बडी वेदनाएँ हो रहीथीं। इसीलिये मैं शंभु आपटेजीके घर गया था। उन्होंने मेरा सिर गोदमें लेकर मसाज किया। ऐसे करते समय भी वे बडे प्यारसे समजाते रहे कि तुम्हे औषधी लेना छोड देना चाहिए।

मैंने डाक्टरी ट्रिटमेंट छोड दी। शंभु आपटेजी ही मेरे डाक्टर बने। मेरा उनके घरमें आना जाना बढता गया। हम दोनों न जाने क्या क्या बोलते बैठते थे। एक दिन अकस्मात मैंने ज्ञानेश्वरीका किया हुवा अनुवाद सुनाया। अनुवाद अच्छा था। सुननेवाला और सुनानेवाला मानो एक हो गये थे। समयका भान भी नही रहा। और ...... और मैं अत्यंत थक गया। शंभुजीकी पत्नीने काफी बना कर दी। मैं आराम कुर्सी पर पडा था।

शंभुजी यकायक उठे। हाथ पैर धो आये। अगरबत्ती जलायी। एक पाट रखा। उस पर मुझे बिठाया। पांच दस मिनिट मेरे सामने आंखे मूंदकर बैठे रहे। फिर उठे। अंदर जा कर एक श्रीफल और पांच रुपये ले आये। श्रीफल तथा पांच रुपये मेरे हाथमें देकर बोले, " यह नोट संभालकर रखो। खर्च मत करो, बैंकमें मत रखो, अपने पास ही रखो!" और मुझे तिलक लगाया। थोडी देर मेरा माथा और गर्दन जहां दर्द होता था - सहालते बैठे रहे। फिर अपने भाईको भेज कर टैक्सी मंगवाई और मुझे डेरे पर भेज दिया।

इसके कुछ दिन बाद वे बोले "अब आप लिखिये। अब लगता है भगवान आपसे यह काम करा ही लेंगे। इतने दिन मुझे लगता था कि यह काम होना तो चाहिए किंतु कैसे पूरा होगा?" इसके बाद उन्होंने अपनी पत्नीसे मेरे लिये काफी बनानेके लिये कहा और फिर बोले "कुमठेकर! आखिर मैंने अपनी पत्नीसे पूछा यदि मैने यह शरीर छोड दिया तो तुम कैसे निभालोगी?" पहले वह झल्लाई बोली "यह कैसा प्रश्न करते हो तुम! यह सवाल ही क्यों उठा?" फिर मेरे आग्रह करने पर बोली " तुम जानते हो मुझे सीना आता है। अपना एक मशीन ले लूंगी। उस पर काम करूंगी। जो मिलेगा उसीसे अपना और बच्चोंका खर्चा चलालूंगी। न किसीसे कुछ मांगूगी। न किसीका दिया हुवा कुछ लूंगी !!"

"यह सुनकर मनका समाधान हुवा। दीक्षा लेते समय मैंने अपने गुरुको वचन दिया था कभी पर स्त्री और पर धनकी आशा नहीं करुंगा!"

इतनेमें उनकी पत्नी काफी ले आयी। उनसे काफी लेते लेते मैंने कहा " किंतु यह प्रश्न ही क्यों पैदा हुवा?" उनकी पत्नीने कहा– " यही इनकी आदत है!"

हमने काफी पी। आश्चर्य जनक रूपसे मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा। तेजीसे काम आगे बढा। नौ हजार ओवियोंका समवृत्तमें अनुवाद हुवा। उसकी पांडुलिपि तयार हुई। छपाई आदिके खर्चकी व्यवस्था हुई। यह सारी बातें मैंने शंभु आपटेजीसे कहीं। तब उन्होंने पूछा "ज्ञानेश्वरीका पसायदान–प्रसाददान–लिख कर पूरा हुवा?"

मैंने पढकर सुनाया।

"जो चाहता था वह हो गया!"

"पुस्तक मुद्रणके लिये दे रहा हूँ। कल ही बेंगलूर जा रहा हूँ?"

"हिंदी छपाइके लिये बेंगलूर क्यों?"

"वहां मेरे मित्रका प्रेस है। हम दोनोंका पच्चीस सालका संबंध है। छपाई जलदी हो जायेगी!" मुझे किसी प्रकारकी कठिणाई नहीं होगी।

"अच्छा!"

मैं बेंगलूर गया। पुस्तक छपने लगी। आखिर वहां किसी तरह साल भरमें पंद्रह अध्याय छप तो गये।

मैं उसकी डमी कापी बनाकर बंबई लौटा। बंबई आते ही सीधा शंभु आपटेजीके घर कया। किंतु......

वे जहाँ अक्सर बैठते थे, उसी स्थानके पास दीवारको लगी सीनेकी मशीन बैठी थी। उसके ऊपर शंभुजीकी तसवीर टंगी थी और सिंधूरकी बिंदी जो सदैव श्रीमती आपटेजीके भालपर लगी रहती थी वह उस तसबीरके भालपर लगी थी। घरमें जहां उत्साह रहता था वहां उदासी थी। मै वहां क्षणभर बैठा रहा। उनकी धर्मपत्नी मौन और उदास मेरे सामने बैठी रही। कोई कुछ नहीं बोल पाया। वहां मेरा दम घुट रहता था। शंभुजीने मेरे हाथमें श्रीफल देते समय कहा था "तुमपर भगवानकी असीम कृपा है। कृपा करके कोई दवा मत लो। तुम अच्छे हो जाओगे।" पांच रुपयोंका नोट देते समय उन्होंने कहा था "अब इस कामके लिये कहीं न कहींसे आर्थिक सहायता मिलती जायेगी!"

उन्होंने कई बार कहा था, "मैंने कई बार सोचा, तुम इतना अच्छा काम कर रहे हो। यह काम कैसे पूरा होगा? इसमें मैं क्या कर सकता हूँ?"

क्षणभरमें कई बातें स्मृतिपटल पर उठ कर डूब गयीं। उदास, निःशब्द वातावरणमें दम घुट रहा था। किसी तरह मैंने कहा "अच्छा! अब मैं जाता हूँ!" और चला आया!

आते समय मनमें अनेक बातें आयीं। किंतु मनमें उठनेवाली सभी बातें लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती। जीवनमें होनेवाली सभी घटनाओंका अर्थ करना संभव नहीं होता। इस घटना पर कोई भाष्य किये बिना शंभुजीके लिये केवल कृतज्ञताकी अश्रु–अंजली देना ही मेरा कर्तव्य रह गया है। वैसे ही पू. आचार्य शं. वा. दांडेकर इस काममें बार बार प्रोत्साहन देने परभी "कार्य संपन्न हुवा" यह देखनेके लिये नहीं रहे। वही बात श्रीन्यायरत्न धुंडीराज विनोदकी है। किंतु प्रा. न. र. फाटकजीने इन सबकी कमी पूरी की। अनुवाद करते समय कोई बात समझमें नहीं आयी फाटकजीके पास गया। प्रकाशनके लिये कभी आर्थिक तंगी आयी। फाटकजीके पास गया। दूसरा कोई संकट सामने आया तो फाटकजीके पास गया। और, उन्हेंने भी कभी निराश नहीं किया। दौडते हुए पास आनेवाले बालकको जिस भावसे मां पास लेकर उनकी बातें सुनती है, जैसे उसकी सहायता करती है वैसे उन्होने मेरी कठिनाइयोंको हल कर दिया। वह भी निष्काम भावनासे। वैसे ही श्री. स. का. पाटील, सेठ अरविंद मफतलाल, से. धरमीसी मोरारजी खटाऊ, श्री. वामनराव वर्दे इन्होंने जब कभी आर्थिक कठिनायी आयी, उनको मालूम हुवा, किसी न किसी तरह उसको हल कर दिया।

वैस्तुतः यह अकेलेला काम नहीं, सबका काम, सबने मिलकर संपन्न किया। सबने कृतार्थताका अनुभव किया। ऐसी स्थितिमें कौन किसका आभार माने? मुझे भी इन सबको धन्यवाद देनेका अथवा सबका आभार माननेका क्या अधिकार है? फिर भी, जब कोई कार्य संपन्न होता है तब उसके कारणीभूत सभी मित्रोंका स्मरण होना स्वाभाविक है। यह केवल कृतज्ञताका स्मरण है! अपने अपने कर्तव्य किये हुए साथी या सहायकोंको धन्यवाद देनकी उद्दंडता नहीं। हम सब सदैव परस्पर सहयोगसे ऐसे ही सत्कर्म रत रहें, हमारी यह परस्पर मित्रता बढती जाय; हममें प्रेम और विश्वास बढता जाय, परस्पर दायित्व भावना बढती जाय, इसलिये किया गया यह सन्मित्रोंका कृतज्ञता-स्मरण है।

एक प्रकारसे यह भी इस सन्मित्र मंडलमें अपनी विशिष्टताका दर्शन कराना है! इस लिये मैं हृदयसे सबका क्षमा प्रार्थी हूँ।

वैसे ही परिशिष्ट लिखनेमें श्री. चित्राव शास्त्रीके चरित्रकोश, श्री. महादेवशास्त्रीजीके सांस्कृतिक कोश आदिका जो उपयोग हुवा इसके लिये भी उन सबका कृतज्ञ हूँ। तथा ज्ञानेश्वरीका अर्थ करनेमें श्री साखरे महाराज, आचार्य श्री. दांडेकर श्री. भिडे आदि सज्जनोंकी ज्ञानेश्वरीका जो उपयोग किया गया उनको भी कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम करता हूँ!

बाबूराव कुमठेकर



ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरी

१ कविका संक्षिप्त परिचय—

वैसे तो ज्ञानेश्वर महाराजका सारा जीवन [१] चमत्कारोंसे भरा है किंतु सब चमत्कारोंका चमत्कार उनके लिखे हुए दो वेदांत ग्रंथ ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृत हैं। ये ग्रंथ उन्होंने अपनी आयूके पंद्रहवे वर्षमें लिखे हैं और जो बात शब्दोंसे नहीं व्यक्त हो सकती वह शब्द चित्रोंसे मूर्तिमान करके दिखाई है।

ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृतको पढते पढते अमूर्त विचारोंका स्पष्ट शब्दचित्र देखकर सहसा हृदय कह उठता है " वाल्मिकीकी प्रतिभा, व्यासकी प्रज्ञा, कृष्णकी आत्मानुभूति, शंकरका वैराग्य और बुद्धकी करुणाका समीकरण ज्ञानेश्वर महाराज हैं। सूर्यसे भी प्रखर ज्ञानके साथ चांदनीसे भी शीतल करुणाका स्पर्श होता है यहां। इसी लिये आधुनिक युगमें भी सारा महाराष्ट्र उन्हे माउली कहता है। महाराष्ट्रमें माउली शब्दका अर्थ ज्ञानेश्वर है और कोशमें माउली शब्दका अर्थ मां। महाराष्ट्रकी इस माउलीने अपने साहित्यके रूपमें मराठी भाषाभाषी जनताको कल्पवृक्षकी छायामें बिठाकर कामधेनुके दूधमें पकाया हुवा अमृतान्न खिलाया है अक्षय-पात्रमें! इसीलिये ज्ञानेश्वर महाराजके बाद जो कोई महापुरुष महाराष्ट्रमें पैदा हुवा उसने ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरीका ऋण स्वीकार किया है। ज्ञानेश्वरीके बाद मराठी भाषामें लिखे गये प्रत्येक धर्म-ग्रंथ पर अथवा पारमार्थिक ग्रंथ पर ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृतका प्रभाव देखनेको मिलता है। ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृत कोई रामकथा अथवा कृष्णकथा नहीं किंतु वेदांत-ग्रंथ है। वेदांत काव्य है। मराठी भाषामें ऐसे कई वेदांत ग्रंथ हैं, उनमेंसे कुछ ज्ञानेश्वरीके पहल भी लिखे गये थे और कुछ ज्ञानेश्वरीके बाद भी लिखे गये हैं, पर मराठी भाषाभाषी जन-मानसपर ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृतका जो प्रभाव है वह और किसीका नहीं दीखता। आधुनिक विज्ञान-विद्या विभूषित होकर भी नौ हजार छंदोंका ग्रंथ कंठस्थ कर उसका नित्य-पाठ करनेवाले महाराष्ट्रीय हजारो हैं। वैसे तो लाखों लोग ज्ञानेश्वरीका नित्य-पाठ करते हैं।

अपनी आयूके पंद्रहवे सालमें ऐसे ग्रंथ लिखानेवाले ज्ञानेश्वर महाराजका जन्म शा. शक ११९७ युवा नाम संवत्सर श्रावणवद्य अष्टमी रातको बारह बजे हुवा था। इसलिये सारे महाराष्ट्रकी यह मान्यतासी हो गयी है कि भगवान कृष्णने ही अपनी गीता समझानेके लिये ज्ञानेश्वरके रूपमें जन्म लिया था।

ज्ञानेश्वर महाराज जिस समय करीब दस सालके थे उसी समय समाजके विद्वान लोगोंकी अज्ञानुसार उनके माता पिताने देहान्त प्रायश्चित्त लिया था। उस समयका वर्णन करते समय ज्ञानेश्वर महाराजकी छोटी बहन मुक्ताई कहती है

टिप्पणि

(१) इसी लेखककी ज्ञानेश्वर और उनका साहित्य इस पुस्तकमें ज्ञानेश्वर महाराजके विषयमें संपूर्ण जानकारी दी है।

तात मात जब छोड गये हमें। छोटे थे हम पांडुरंग।
निवृत्ति ज्ञानेश्वर भिक्षाजमें जाते। संभाले सोपान मेरे पास ॥

इस समय ज्ञानेश्वर महाराजके अग्रज और श्रीगुरु निवृत्तिनाथ बारह वर्षके थे। ज्ञानेश्वर महाराज दस वर्षके, सोपानदेव आठ वर्षके और छ वर्षकी मुक्ताई। आजभी सारा महाराष्ट्र जिनके स्मरणमात्रसे रोमांचित होता है, अनेक प्रकारके कष्ट सहन करके जिनके समाधि-स्थानके दर्शन करने जाता है, जिनके समाधि दिन पर और समाधि स्थानपर लाखों लोगोंका मेला लगता है उनके जन्मसे उनके माता-पिताको समाजमें अनंत यातनाएं और अपमान सहना पडा था। इतना ही नहीं इनके माता-पिता तथा इन अबोध बालकोंका मुंह देखना असगुन माना जाता था, पाप माना जाता था ! ! क्यों किः—

ज्ञानेश्वर महाराजके पिता विठ्ठलपंत स्वभावसे ही विरक्त थे। अपना विद्याध्ययन होते ही वे तीर्थ-यात्राके लिये निकल पडे थे। पुरानी पोथियोंमें उनकी यात्राओंका वर्णन देखनेको मिलता है। उन्होंने करीब करीब भारतके सभी पुण्पक्षेत्रोंका दर्शन किया था। सभी पुण्य-तीर्थोंका स्नान किया था। जब विठ्ठलपंत भीमाशंकर आये, भीमा नदीका उगम-स्थान देखा, तब पंढरपुरके स्मरणसे पंढरपुरके लिये चल पडे। भीमाशंकरसे पंढरपुर जाते समय रास्तेमें एक छोटासा गांव पडता है आलंदी। आलंदी इंद्रायणी नदीके किनारे पर बसा हुवा एक छोटासा गांव है। किंतु अत्यंत प्राचीन। इस गांवको पहले अलकापुर कहा जाता था। यहां एक शिवालय है। इसको सिध्देश्वर कहते हैं। यह अत्यंत प्राचीन शिवपीठमें एक है। विठ्ठलपंत आलंदी आये। इंद्रायणीमें स्नान किया। मंदिरके सामने एक पीपलके वृक्षकी छायामें बैठकर अपना नित्य-कर्म करने लगे।

मंदिरके सामनेवाले अश्वत्थकी छायामें बैठकर, स्वच्छ मंत्रोच्चारसे धर्म-कार्यमें मग्न तेजस्वी युवकको देखकर सिध्देश्वर मंदिरके पुजारी, उसी गांव और पंचक्रोशीके ग्रामाधिकारी, सिध्देश्वर पंत प्रसन्न हुए। उन्होंने आग्रहसे विठ्ठलपंतको भोजन पर बुलाया। खाते खाते रहने करनेकी जानकारी ले ली। प्रवासका उद्देश जान लिया और मन ही मन मेरी कन्या रुक्मिणीके लिये योग्य वर होनेका निश्चय कर लिया।

२ स्वप्न और विवाह —

उसी दिन विठ्ठलपंत तथा सिद्धेश्वरपंतको एक-सा स्वप्न हुआ और स्वप्नमें पंढरपुरके विठ्ठलने रुक्मिणी और विठ्ठलपंतके विवाहका आदेश दिया। प्रातःकाल उठते ही सरल स्वभावके दोनों ब्राह्मणोंने अपने अपने स्वप्नकी बात एक दूसरेसे कही और विठ्ठलपंतने कहा "मैं रामेश्वरकी यात्राका संकल्प करके रामेश्वर जा रहा हूँ, दूसरी बात, बिना मातापिताकी आज्ञाके विवाह नहीं कर सकता !" तब सिद्धेश्वरपंतने कहा आप आजकी रात यहीं रहिए। आजकी रातको जो आज्ञा होगी वैसे कीजिये। विठ्ठलपंत यह बात मानकर उस दिन वहां रहे और उस रातको पुनः स्वप्नमें आदेश मिला "तू भक्ति, ज्ञान, वैराग्यका घर बना हुआ है। ये इसके उदरमें जन्म लेना चाहते हैं। इसलिये तुझे मेरी आज्ञा है तू यह विवाह कर" दूसरे दिन विठ्ठलपंतने अपना स्वप्न सिद्धेश्वरपंतसे कहा ! ज्योतिषीको बुलाकर पत्रिका दिखायी गयी। छत्तीस गुण मिलते थे। बस उसी ज्येष्ठ महीनेमें रुक्मिणीसे विठ्ठलपंतका विवाह हुआ और थोडेही दिनोमें पंढरपुर जानेवाले वैष्णवोंके झुंड देखते ही विठ्ठलपंत पंढरपुर जानेके लिये उतावले हो गये। उन्होने सिद्धेश्वरपंतसे आज्ञा मांगी और सिद्धेश्वर पंतभी अपनी पत्नी और पुत्रीके साथ विठ्ठलपंतको लेकर पंढरपुरके लिये रवाना हुये। पंढरपुरमें विठ्ठल दर्शन करके विठ्ठलपंत अपने संकल्पनुसार अकेले ही रामेश्वर गये।

रामेश्वर यात्रा करके वहांसे पुनः आलंदी आये और अपेगांव जाकर माता-पिताके दर्शनकी अपनी इच्छा उन्होने सिद्धेश्वरपंतसे कही। सिद्धेश्वर पंतने भी प्रसन्नतासे दामादकी इच्छा मान ली। स्वयं पत्नी और पुत्रीको साथ लेकर दामादके साथ उनके घर जानेके लिये तैयार हो गये।

वहां अपेगांवमे विठ्ठलपंतके पिता गोविंदपंत और माताजी अपने पुत्रके आगमनकी प्रतीक्षामें घुल रहे थे। वे पुत्रको, वह भी पत्नीके साथ आया हुवा देखकर बडे प्रसन्न हो गये। सिद्धेश्वरपंतने वस्त्राभरणसे गोविंदपंत और उनकी पत्नी नीरादेवीका सन्मान किया। विवाहकी सारी कथा सुनाई और दामाद और अपनी पुत्रीको उनके घर छोडकर अपने घर लौट आये।

विठ्ठलपंतने सुखसे माता पिता और पत्नीके साथ कुछ दिन बिताये। वार्धक्यके कारण मातापिता वैकुंठवासी हो गये। घर प्रपंचका सारा भार विठ्ठलपंत पर आया। वह भी अपने गांवके ग्रामाधिकरी थे। किंतु वे इन सबसे उदासीन रहते थे। उनके जीवनक्रमके विषयमे पुरानी पोथीयोमें तत्कालीन संत नामदेवने लिख रखा है —

नित्य हरिकथा नाम-संकीर्तन संत दर्शन सर्वकाल॥
आषाढ कार्तिकमें पंढरीकी यात्रा विठ्ठल अकेला सुखरूप॥

ऐसी स्थितिमें पुनः पुनः विठ्ठलपंतके मनमें संन्यास लेनेकी बात आने लगी। वह अपनी पत्नीसे वही वही बात कहने लगा। रुक्मिणीने यह बात अपने पितासे कही। सिद्धेश्वरपंतने पुत्रीसे "बिना संतानके संन्यास न लेनेकी बात कहलवाई" कुछ दिन ऐसे ही बीते। विठ्ठलपंत पुनः अपनी पुरानी बात दुहराने लगे। वे बार बार कहते "मुझे संन्यास लेनेकी इच्छा हुई है। तू अपनी आज्ञा दे!" बार बार यही यही बात सुनकर रूक्मिणीने कभी असावधानीसे कह दिया "जाइये" बस यही अपनी पत्नीकी आज्ञा मान कर विठ्ठलपंत चल दिये। वे सीधा काशी गये। यहां पत्नी विठ्ठलपंतकी राह देखते देखते थक गयी। उसने सारी बात सिद्धेश्वरपंतसे कही। पिता आकर लडकीको अपने घर ले गये। वहां जाते ही रुक्मिणीदेवीने अश्वत्थ प्रदक्षिणादि अपने व्रतनियम प्रारंभ कर दिये।

३ संन्यास और संसार—

काशी जाकर विठ्ठलपंतने किसी श्रीपादस्वामीसे संन्यास लेलिया और चैतन्याश्रमके नामसे वहीं गुरुके साथ रहने लगे। ऐसे ही कुछ काल बीता। चैतन्याश्रम शास्त्राध्ययन और ब्रह्म-चिंतनमें लीन रहने लगा। इस बीचमें श्रीपाद स्वामीने रामेश्वर – यात्राकी सोची। आश्रमका सारा दायित्व चैतन्याश्रम पर सौंप करके श्रीपादस्वामी रामेश्वर–यात्राके लिये रवाना हो गये।

रामेश्वर यात्रामें प्रवास करते करते श्रीपादस्वामी आलंदी आये। आलंदीमें उसी प्राचीनतम सिद्धेश्वर मंदिरमें उतरे। वहांका वही अश्वत्थ। रुक्मिणीदेवी नियमसे उस अश्वत्थकी परिक्रमा करती थी। परिक्रमा करके अश्वत्थको प्रणाम करते समय सहज ही उन्होंने श्रीपादस्वामीको भी प्रणाम किया और, "पुत्रवती भव" स्वामीजीने आशीर्वाद दिया। स्वामीजीका आशीर्वाद सुन कर उस दुःखमें भी रुक्मिणीदेवीको हंसी आयी। स्वामीजीने कारण पूछा और देवीजीने सारी बात स्वामीजीसे कह डाली। देवीजीकी बातें सुनकर स्वामीजीको लगा हो या न हो, संभवतः चैतन्याश्रम ही इस दुखियाका पति है। सिद्धेश्वर पंतसे भी स्वामीजीकी बातें हुई। स्वामीजीने कहा "आप अपनी पुत्रीको लेकर मेरे साथ काशी चलें। मैं विठ्ठलपंतसे आपकी भेंट करा देता हूँ। इतना ही नहीं पत्नीका स्वीकार करनेको कहूंगा!" श्रीपादस्वामी, सिद्धेश्वरपंत और रुक्मिणीदेवीको साथ लेकर काशी गये। पिता-पुत्रीकी अलग रहनेकी व्यवस्था करके स्वामीजी आप आश्रम गये। आश्रममें जाते ही स्वामीजीने चैतन्या-

श्रमको बुलाकर पूछा " तुम्हारे घरमें कौन कौन हैं ?" प्रश्न सुनकर चैतन्याश्रम सहमसे गये। उन्होंने सोचा, गुरु श्रीपाद स्वामीका रामेश्वरकेलिये जाकर बीच यात्रासे लौटने और आते ही चैतन्याश्रमको बुलाकर ऐसा प्रश्न पूछनमें हो न हो कुछ रहस्य अवश्य है ! चैतन्याश्रमने भी सारी सच्ची घटना गुरु श्रीपादस्वामीसे निवेदन करके "पत्नीकी आज्ञा लेकर आया था।" कहते हुए श्री चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीपाद स्वामीने शिष्यको उठाया, और अपने पिताके साथ काशी आयी हुई रुक्मिणीदेवीकी भेंट कराके कहा " इसका स्वीकार करो। निषिद्ध कर्म मानकर मनमें इसका भय न करो। परमेश्वर तुम्हारे साथ है। अपने गांवमें जाओ और सुखरूप स्वधर्म मानकर गृहस्था श्रमका पालन करो !"

अपने गुरु पर संशयातीत श्रद्धा ही चैतन्याश्रमका पाथेय था। गुरु-आज्ञा ही उनके लिये शास्त्र था। दूसरा मार्ग वह नहीं जानते थे। इसलिये गुरु आज्ञाको उन्होने शिर आंखों पर चढालिया। गेरूवे वस्त्र उतारे। गृहस्थाश्रमका चोगा पहना। पत्नीके साथ अपने गांवमें आये। संन्यास छोडकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करना लोक-रूढी तथा धार्मिक परंपराके विरुद्ध था। लोक-निंदा स्वाभाविक थी। यह एक महा-पाप था। धर्म-भीरु ब्राह्मण-समाजने उनको बहिष्कृत किया। विठ्ठलपंतने गांवके बाहर एक झोपडी बांधी। एकांतमें ब्रह्म-चिंतनमें जीवन बिताने लगे। ऐसे बारह वर्ष बीते। यह काल उनके लिये अत्यंत क्लेश-कारक था। यह बारह वर्षकी तपस्या आगे आनेवाले महापुरुषोंके निर्माणकी तपस्या थी। स्वर्गको भी तुच्छ माननेवाले योग-भ्रष्ट आत्मा सहज संत-मंतमें अवतरित नहीं होते। बारह वर्षकी ऐसी तपस्या पूरी होनेके बाद शा. श. ११९५ में श्रीमुखसंवत्सर माघवद्य प्रतिपदा सोमवारके दिवस सूर्योदयके समय श्रीनिवृत्तिनाथका जन्म हुवा। इसके दो वर्ष बाद शा. श. ११९७ युवासंवत्सर श्रावण वद्य अष्टमी-कृष्णाष्टमी गुरुवारकी मध्यरात्रीके समय श्रीज्ञानदेवका जन्म हुवा। शा. श. ११९९ ईश्वरसंवत्सर कार्तिक शुद्ध पूर्णिमा रविवार प्रहर रातमें श्रीसोपानदेवका जन्म हुवा और शा. श. १२०१ प्रमाथी संवत्सर आश्विन शुद्ध १ शुक्रवार मध्यान्हमें श्रीमुक्ताईका जन्म हुवा।

उपरोक्त जन्मतिथियां स्पष्ट होने पर भी निर्विवाद नहीं है। सामान्य नियमानुसार इस बातमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वानोंने श्रीनिवृत्तिनाथ शा. श. ११९०. श्रीज्ञानदेव शा. श. ११९३ श्रीसोपानदेव शा. श. ११९६. श्रीमुक्ताई शा. श. ११९९ ऐसा जन्मकाल दिया है। दोनों ओरके विद्वानोंने अपने मत-प्रतिपादनमें पर्याप्त आधार दिये हैं और अंतमें यह भी कह दिया है कि इन दो कालके विषयमें एकवाक्यता करनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। शायद इन दो मेंसे कोई एक सच होगा या दोनों गलत होंगे !

अस्तु, प्रत्येक भाषाके साहित्यमें, प्रत्येक महत्वके प्रश्न पर, विद्वानोंके ऐसे निर्णय होते ही हैं, नहीं तो भला वह द्विदवत्ता किस बातकी ? विद्वान भले ही किसी निर्णय पर पहुंचे। विठ्ठलपंतके ये चार संतान हुए थे इस बातमें तो किसीको कोई संदेह नहीं ! इन चारोंको ही महाष्ट्रने आदर्श-पुरुष मानकर अक्षरशः सिर पर लिया। उनके महानिर्वाणके सात सौ वर्ष बाद भी आज उनकी समाधियोंपर मेले लगते हैं, और लाखों लोग वहां जाते हैं। किंतु उन्ही बालकोंका बचपन अत्यंत करुणाजनक स्थितिमें बीता। इनके जन्मके बाद माता-पिताको अनन्वित हाल सहने पडे। किसीभी महान व्यक्तिको अपनी परंपराको तोडकर नयी परंपरा निर्माण करते समय जो दुःख कष्ट उठाने पडते हैं, जो अपमान सहने पडते हैं, वे सब विठ्ठलपंतको सहने पडे ही। साथ ही साथ, इन अबोध बालकोंके भावी जीवनके विषयमें सोचकर उन्हे जो वेदनाएँ हुई होंगी, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती; क्यों कि जैसे संन्यास छोडकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने वालेका मुखावलोकन अथवा दर्शन पाप है असगुन है, वही बात संन्यासीके लडकोंकी थी ! उनके नसीबमें भी माता पिताके

संचितकर्मके रूपमें वे सब दुःख, क्लेश, अपमान, बहिष्कार आदि स्वभाविक था । ऐसे वातावरणमें वे बालक बड रहे थे । संभव है कि उन बालकोंको बहार जितना डांट फटकार पडा, उससे अधिक घरमें प्रेमवात्सल्य तथा सहानुभूति मिली हो ! घरमें भारतीय वाङ्मयका गहरे प्रभाव भी पडे हों । रामायण और महाभारतके कहानियोंसे उनके मन बुद्धि खिली हो ! साथ साथ तीर्थयात्राके प्रेमी विठ्ठलपंतके साथ कुछ यात्राएँ भी हुई हो । किंतु विठ्ठलपंतके मनमें सदैव इन बालकोंका विचार रहा होगा ! इनका जनेऊ कैसे हो ? समाजामें इनका क्या स्थान है ? समाजसे होनेवाले बहिष्कार तिरस्कारसे इन बालकोंको बचानेके लिये तथा समाजमें उनको उचित स्थान दिलनेके लिये माता-पिताका तडपना स्वाभाविक है । इस लिये उन्होंने अत्यंत बचपनसे अपने ही बालकोंका विद्याध्ययन भी किया होगा ।

४ तपश्चर्या और ब्रह्मदीक्षा-

ऐसी स्थितिमें विठ्ठलपंत अपनी पत्नी और पुत्रोंको साथ लेकर त्र्यंबकेश्वर गये । त्र्यंबकेश्वर महराष्ट्रका एक पुण्य-क्षेत्र है । परमपावनी गोदावरीका उगमस्थान, वहां ब्रह्मगिरि- पर्वत है । पवित्र पर्वत ब्रह्मगिरि, देह- दंडनसे पापक्षालनकनके विचारसे विठ्ठलपंत रातके समय उस ब्रह्मगिरीकी परिक्रमा करने लगे । ऐसे ही समय एक दिन अकस्मात शेर आनेसे परिवार अस्त व्यस्त हो भागने लगा। शेरसे बचनेके लिये भागने वाले निवृत्ति, गुहामें समाधिस्थ गहिनीनाथकी गोदमें जा पडे। गहिनी नाथ और निवृत्ति, अनेक पीढियोंका संबध । विठ्ठलपंतके दादा त्र्यंबकपंतको स्वयं गोरखनाथने उपदेश दिया था । गहिनीनाथ गोरखनाथके पट्ट शिष्य । निवृत्तिनाथके दादा गोविंदपंत और दादी नीरादेवीको गहनीनाथने उपदेश दिया था । जिसका परदादा गुरुबंधु और दादा शिष्य, और पिता ? गहिनीनाथके अनुग्रहसेही उनके माता पिताकी वृद्धावस्थामें हुई संतान था ! शायद गहिनीनाथने अनुभव किया होगा कि नाथपरंपराका पुण्य - फलही मेरे सम्मुख आ खडा है । गहिनीनाथने उस बालकको पास लेकर सिरपर हाथ रखा । दीक्षाके रूपमें नाथसंप्रदायका सारसर्वस्व उसको दे डाला !!

बाघके भयसे गुहामें गये हुए निवृत्तिनाथ, संपूर्ण निर्भय होकर गुहासे बाहर आये । गुहामें वे कितने दिन रहे इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है । निवृत्तिनाथ घर आये और उन्होंने अपने सभी भाइयोंको "अपने जैसे ही किया है तत्काल !" वाली कहावत सच कर बताई ! किंतु विठ्ठलपंतकी दृष्टिसे निवृत्तिनाथ उपनयनके लिये योग्य था । गांवके ब्राह्मण, विठ्ठलपंत और इन बालकोंका मुखा-वलोकन भी पाप समझते थे । ऐसी हालतमें बालकोंका जनेउ कैसे हो ? आखिर अपने बालकोंके अभ्युदय निःश्रेयसके लिये विठ्ठलपंत ब्राह्मणोंकी शरण गये । बिना इसके दूसरा चारा ही नहीं था। ब्रह्म सभा बैठी । शास्त्रोंकी पोथियां खुलीं । किंतु धर्म-ग्रंथोंमें ऐसा कोई आधार नहीं मिला अथवा ऐसा कोइ प्रार्याश्चित्त नहीं मिला जिससे "संन्याससे गृहस्थाश्रममें आये हुए व्यक्तिका अथवा संन्यासीके लडकोंका शुद्धिकरण हो !" इसके पहले यदि ऐसी कोई घटना हुई होती तो शास्त्रोंमें ऐसा उल्लेख होता । शास्त्रकारोंने सामाजिक अभ्युदयको ध्यानमें रखकर वर्णाश्रम व्यवस्था बनाई । मनुष्यकी संपूर्ण शक्ति-यांका समाजके हितमें पूर्ण उपयोग हो इसलिये वानप्रस्थ और संन्यासकी व्यवस्था की । यदि किसीमें तीव्र वैराग्य उदय हुआ है तो, वह कुछ पहले चतुर्थाश्रम ले सकता है किंतु तीव्र वैराग्यसे चतुर्थाश्र-ममें गया हुवा मनुष्य भला संन्याससे गृहस्थ क्यों बनेगा ? इसके पहले कभी ऐसी समस्या पैदा ही नहीं हुई होगी ! अंतमें शास्त्रमें जिस महापापका कोई प्रायश्चित ही नहीं उसके लिये देहांत प्रायश्चित ही है !

पाप हुवा निश्चित । नहीं होनी चाहिये थी और अब तक नहीं हुई थी, ऐसी बात हुई है । विठ्ठलपंतको पश्चाताप हुवा है । वह प्रायश्चित्त चाहता है । शास्त्र कोई प्रार्याश्चित्त नहीं कहते ।

तब देहांत प्रायश्चित्त ही है ! ब्राह्मणोंने विठ्ठलपंतसे कहा "शास्त्रमें आप तथा आपके परिवारको शुद्ध करलेनेका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसके लिये देहांत प्रायश्चित्त एक मात्र प्रायश्चित्त है। अब आप विचार करके जो योग्य है सो कीजिये !"

विठ्ठलपंत जन्मतः विरक्त। संन्यास लिया था तब संसारकी ममता टूट चुकी थी। संन्यास छोडा तब संन्यस्तका अहंकार भी समाप्त हुवा। केवल कर्तव्य-रूप जीवन बिता रहे थे। यदि उनके देहत्यागसे संतानका भला होता है, उनको अभ्युदय और निःश्रेयसका अधिकार मिलता है, तब वे कहां पीछे हठनेवाले थे ? उन्होंने ब्रह्मसभाको वंदन कर कहा " त्रिवेणीमें शरीर त्याग करके मैं यह प्रायश्चित लूंगा" ! और "पीछे मुडकर देखनेके पहले" चल पडे। उनकी धर्म-पत्नी उनकी छायाकी भांति उनके पीछे थी ही। विठ्ठलपंत शरीर त्यागके लिये आलंदीसे प्रयागराज तक चलते गये ! भारतके महापुरुषोंने भारतकी भावात्मिक एकताकी नींव ऐसे डाली है ! !

शास्त्रज्ञोंने विठ्ठलपंतको देहांत प्रायश्चित्त कहा। पिताके विषयमें शास्त्रोंका यह कठोर निर्णय सुनकर भी ज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं –

शास्त्र कहता यदि कुछ तजना। राज्य-सुख-भोग तृण मानना।
विष लेने कहता तो ना कहना। शब्द विरुद्ध ॥ १६-४६० ॥

यहां महापुरुषोंके हृदयकी गहराई दीखती है। उनकी महानताका दर्शन होता है। ज्ञानेश्वरी एक मौलिक चिंतन है किंतु मौलिकताके नशामें कहीं भी निष्ठा हीनता नहीं दीखती। परंपरापर आघात नहीं। वैचारिक कटुता नहीं। सदैव सर्वत्र उदार, विचार सभी प्रकारकी निष्ठाका पालन। यह ज्ञानेश्वरीकी विशेषता है।

५ जीवन समर्पण हुवा किंतु समस्या वैसी ही रही –

माता पिताने त्रिवेणीमें देहार्पण किया किंतु संन्यासीके पुत्रोंकी सामाजिक अथवा धार्मिक समस्या वैसे ही बनी रही। ब्रह्मसभाके सम्मुख विठ्ठलपंतका जो प्रश्न था "इन लडकोंका क्या होगा ?" यह प्रश्न ही रहा। केवल प्रश्न कर्ता बदला ! पहले विठ्ठलपंतने ब्राह्मणसभासे यह प्रश्न पूछा था अब निवृत्तिनाथने पूछा ब्राह्मणोंने कहा "आप पैठण जाइये। पैठणसे शुद्धी-पत्र लाइये। तब हम आपका स्वीकार करेंगे। हमारे पास आपके प्रश्नका उत्तर नहीं है।"

इस पर निवृत्तिनाथ विरक्त हुए। "देहाश्रित वर्णाश्रम विहित कर्मबंधनके फंदेमें फसनेकी हमें कोई आवश्यकता नहीं" निवृत्तिनाथने कहा। सोपान देवको भी "ब्राह्मणोंद्वारा पावन होनेकी आवश्यकता" प्रतीत नहीं हुई। किंतु ज्ञानदेव, इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था "स्वरूप लीन स्थितिमें इसकी आवश्यकता नहीं यह स्वीकार। किंतु विधिबाह्य आचरण दूषण है यह वेदका मत। कुल धर्म पावन है, यह शास्त्रवचन। संतोंको इसका पालन करना ही चहिये। यदि वही समाजके पथप्रदर्शक, शास्त्रविरुद्ध चले तो लोगोंके सम्मुख कौनसा आदर्श होगा ? इसलिये इसका विचार आवश्यक है।"

सबने ज्ञानदेवकी बात स्वीकार की। ये दस बारह वर्षके बालक पैठणके विद्वान ब्राह्मणोंसे न्याय मांगने निकले। बारह वर्षके निवृत्तिनाथ, दस वर्षके ज्ञानदेव, आठ वर्षके सोपान और छ वर्षकी मुक्ताई !! आलंदीसे पैठण।

पैठणके विद्वान ब्राह्मण-सभाके सम्मुख निवृत्तिनाथने आलंदीके विद्वानोंका पत्र रखा। अपनी सारी बात कही। "संन्यासीका संतान" इस शब्दसे ही "माता पिता तथा उनके संतान दोनों कुल-भ्रष्ट है। उनको किसी प्रकारका कोई प्रायश्चित्त नहीं है !!" ब्राह्मण सभाने यह निर्णय दिया।

"किंतु हमारी गति क्या ?"

निवृत्तिनाथका प्रश्न स्पष्ट था। इसका कोई उत्तर नहीं दे सकते। किंतु उत्तर न देना भी अल्पताका द्योतक है ? विद्वान इस अल्पताको कैसे स्वीकार करेंगे ? यदि किसी प्रश्नपर निरुत्तर रहे तो विद्वत्ता किस बातकी ? निरुपाय होकर विद्वानोंने कहा "शास्त्र सम्मत ऐसा एक ही उपाय है, परमात्माकी अनन्य भक्ति करना ! प्राणिमात्रसे नम्र होकर व्याकुल भावसे भजन करना। ब्राह्मण और चांडालमें भेद न करते हुए सबको प्रणाम करना !"

सुनकर सबको संतोष हुवा। सबने प्रसन्न मनसे कहा ' हमको यह स्वीकार है !! "

६ प्रवृत्ति चक्रप्रवर्तन-

किंतु बात यहीं नहीं रुकी। ब्राह्मणसभाके बाद, वहीं कुछ लोगोंने, निवृत्ति ज्ञानदेवादिके नाम पर कुछ निंदा नालस्ती की। ज्ञानदेवकी सहज कही हुई बातको लेकर निवृत्ति ज्ञानदेवको चुनौति दी गयी और वहां ज्ञानदेवकी योग-सिद्धियोंके अनेक चमत्कार दिखाये। इससे पैठणके विद्वान लोग आश्चर्य चकित हो गये। इन छोटे छोटे बालकोंके नेत्र दीपक योगसामर्थ्यसे ब्राह्मणसभा हतबुद्ध हो गयी। हम यहां किस लिए एकत्र हुए थे यह भी सब भूल गये। ब्राह्मण सभाके सम्मुख जो प्रश्न था वैसे ही रहा और अनजानमें सभा विसर्जन भी हो गयी।

इस घटनाके बाद, निवृत्ति ज्ञानदेवादि कुछ काल पैठणमें रहे। पैठणमें वे कुछ काल अध्यात्म-ग्रंथोंका अवलोकन करते, दुपहरको प्रवचन होता और रातको भजन, कीर्तन।

इसके बाद, उस कालका महान विद्वान, पंडित बोपदेवने शुद्धिपत्र लिखा। "ये स्वर्गीय देव-त्रयका अवतार रूप हैं। इनको कौन और क्या शुद्धिपत्र दें ?" इससे निवृत्ति-ज्ञानदेवकी कीर्तिसुगंध चारों ओर फैल गयी।

इन बालकोंने पैठण छोडा। चारों ओरसे इन्हें बुलावा आने लगा। पहले संन्यासीकी संतान कह कर अवमान होता था अब इसी बात पर सम्मान होने लगा। लोक-मानस सदैव झूलेकी भांति रहा है। वे चारों भाई बहन पैठनसे चले। जैसे पैठनमें ब्राह्मण-सभाने जो कुल-धर्म कहा था "सबको समान मान कर परमेश्वरकी अनन्य भक्ति" यही एक व्यवसाय था। बिना इसके दूसरा कोई कार्य नहीं था। परमात्म भक्तिका कार्य करते करते इनका संचार प्रारंभ हुवा। ऐसा प्रवास करते करते वे प्रवरानदीके किनारे पर बसे नेवासा गांवमें आये। वहां ज्ञानदेवके गीताप्रवचनोंको लिख लेनेवाला सच्चिदानंद बाबा मिला। वहां शिवालयमें ज्ञानदेव प्रवचन करते और सच्चिदानंद बाबा उनको लिख लेते ! ऐसे शा. श. १२१२ में ज्ञानेश्वरी ग्रंथ तैयार हुवा। ज्ञानदेवकी वाणी सच्चिदानंद बावाने लिपि-बद्ध की; ग्रंथ तैयार हुवा। संभवतः सच्चिदानंद बाबाने कृतार्थताका अनुभव करके समय देखकर—जब श्रीगुरु निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेवादि साथ बैठे थे तब-लिपि बद्ध वह ग्रंथ श्रीगुरुके सम्मुख रख कर प्रणाम करते हुए कहा "यह भावार्थ-दीपिका तैयार हो गयी है।" इस पर श्रीगुरु निवृत्तिनाथने इस ग्रंथकी ओर आंख उठाकर देखनेके पहले ही कहा "मुकुंदराजका परमार्थसार विशुद्ध ग्रंथ है। उसमें अपने अनुभवके अलावा और कोई आधार नहीं है ! !" सच्चिदानंद बाबाने ग्रंथ उठालिया। ज्ञानदेवने इस बातको "केवल अपने अनुभवके आधार पर ग्रंथ लिखनेकी आज्ञा" समझा और "अनुभवामृत" लिखा।

अनुभवामृत ज्ञानेश्वर महाराजका अपना मौलिक ग्रंथ है। उसको किसीका आधार नहीं है। किंतु जन्म भर पढने पर भी उस छोटेसे ग्रंथका अभ्यास नहीं हो पाता। जितनी बार पढते हैं उतनी बार एक न एक नया अर्थ झलकता है। यह ग्रंथ चिंतनशील साधकको नित्य नया आनंद

और नया मार्गदर्शन देता है। इस ग्रंथ पर महाराष्ट्रके ४३ विद्वान, साधु संतोने, भाष्य लिखा है, फिर भी इसका अभ्यास करना रहा ही है !! कुछ विद्वान लोगोंका कहना है "नाथसंप्रदायका सारा तत्वज्ञान और अंतिम अनुभव इस ग्रंथमें देखनेको मिलता है।" कुछ विद्वान कहते हैं "इसमें आधुनिक विज्ञानके बीज देखनेको मिलते हैं।"

इसके बाद जैसे कमलकी सुगंधसे भ्रमर खींचे जाते हैं वैसे महाराष्ट्रके संतजन ज्ञानदेवकी ओर खींचे जाने लगे। नामदेव परिवार, गोरा कुंबार, नरहरी सोनार, विसोबा खेचर, सांवता माली, सेना नाई, बंका महार, जनाबाई, भागू महारीण, ब्राह्मणसे चांडालतक सारे स्त्रीपुरुष संत-जन निवृत्ति-ज्ञानदेवके चारों ओर सूर्य-किरणकी भांति एकत्र हुए ! और ज्ञानदेवकी कीर्ति सुगंध तापी तीरपर योग-साधनामें लीन चांगदेव तक पहुंच गयी ! वे अपनी योग-शक्तिके बल बूते पर प्रचंड शक्तियोंके स्वामी बने हुए थे। उन्होने ज्ञानदेवके दिखाये हुए योग-चमत्कार सुने ! जो भैंसेके मुखसे वेद कहलाये ! ऐसे ये नये योगी कौन ? उन्होने ज्ञानदेवको पत्र लिखा। ज्ञानदेवने पत्रका उत्तर लिखा। ६५ छंद, ओवियां। उसको 'चांगदेव' पासष्टी कहते हैं। यह पढ कर चांगदेव चमत्कृत हो गये। इसकी भावानुभूति उनकी शक्तिके परेकी बात थी। उनकी जिज्ञासा बढी। वे अपनी योगशक्तिका संपूर्ण परिचय देते हुए ज्ञानदेवसे मिलने आये। ज्ञानदेवने वैसे ही उनका स्वागत किया। चांगदेव दिखाना चाहते थे बुद्धिके बल बूते पर मैंने समग्र जीवसृष्टि पर स्वामित्व पाया है और श्रीगुरु निवृत्तिनाथकी प्रेरणासे ज्ञानदेवने दिखाया भावुकके लिये निर्जीव ऐसा कुछ भी नहीं। मनुष्य अपनी भावशक्तिसे निर्जीवको भी सजीव बना सकता है। जीवसृष्टि पर स्वामित्व पाये हुए चांगदेव, निर्जीव सजीव यह भेद मिटाये हुए ज्ञानदेवकी शरण आये ! ज्ञानदेवने मुक्ताईके द्वारा चांगदेवको आत्मानुभव कराया।

७ तीर्थयात्रा और महा—यात्रा-

नामदेव पंढरपुरका पगला। उसका सारा विश्व पंढरपुरमें। विठ्ठल उसका सर्वस्व। जो कोई मिला पंढरपुर ले चलो। वे निवृत्ति ज्ञानदेवको भी पंढरपुर लाये। पंढरपुरका अर्थ भजन कीर्तन ! वहां दिन रात भजन कीर्तन चलता रहता है। और ज्ञानदेव "हरिनाममें नित्यतृप्त !" पंढरपुरमें कुछ काल रहनेके बाद तीर्थयात्राकी बात सूझी। उनको तो समाजको मार्ग-दर्शन करना था अथवा अपने आनंदसे विश्व भरना था ! ज्ञानदेवने नामदेवको साथ बुलाया। नामदेव कहता है "मेरा प्राण पंढरपुरकी देहरीसे अटका है !" विश्वके अणुअणुमें आत्मदर्शन करने वाले ज्ञानदेव और विठ्ठलके अलावा सब कुछ सूना कहनेवाले नामदेव ! नामदेवको विठ्ठल वियोग असह्य ! अंतमें इसी विठ्ठलकी आज्ञासे नामदेव ज्ञानदेवके साथ यात्रामें गये। यह यात्रा छ साल तक चली। ज्ञानदेव नामदेवादिकी यह यात्रा बहता हुवा अमृत प्रवाह है। पंढरपुर, नाशिक, सह्याद्रीका सातपुडा पार करके, गुजराथका सोमनाथ, द्वारका, प्रभास, उज्जैन, प्रयाग, काशी, अयोध्या, गया, मथुरा, वृंदावन करके छ सालके बाद पुनः पंढरपुर आये।

यहां ज्ञानदेवका जीवन कार्य समाप्त हुवा। पानेका सब कुछ कबके पा चुके थे, अब करनेका सब कुछ कर चुके। तब भला शरीर धारणाकी क्या आवश्यकता ? उन्होने श्रीगुरु निवृत्तिनाथ तथा पंढरीनाथसे चिर-समाधिकी आज्ञा मांगी। ज्ञानदेवने इंद्रायणीके किनारे आलंदीमें, माता जिस अश्वत्थकी परिक्रमा करती थी उस स्वर्ण अश्वत्थकी छायामें, पिताके श्रीगुरुने जहां बैठकर माताको "पुत्रवती भव" का आशीर्वाद दिया था वहां, उस अजानवल्लीके पास गुहामें समाधि-स्थान निश्चित किया। श्रीगुरु निवृत्तिनाथकी आज्ञा लेकर कार्तिक वद्य त्रयोदशीका दिवस समाधि दिवस निश्चित किया गया। कार्तिक शुद्ध देवोत्थान एकादशीको पंढरपुर आयेहुए सारे संतजन एकादशीके उत्सव समाप्त करके

ताल तंबोरा मृदंगके साथ, धर्म-पताका खंदोंपर लिये हुए, पंढरपुसे आलंदी आये। आलंदीका इंद्रायणी नदी किनारा ' राम कृष्ण हरि" से गूंजने लगा। " श्रीहरि विठ्ठल जइ हरि विठ्ठल" के जय घोष आकाशसे भिडने लगे। सारे संत सज्जन इंद्रायणीके किनारे अश्रुभरी आंखोंसे "उस काल" की प्रतीक्षा करने लगे। क्षण क्षण युगसा लगता था। अंतमें समय आया। ज्ञानदेव उठे। शांत, धीर, गंभीर, नयना-भिराम, स्फुरद्रूपी युवक, धीरे धीरे कदम बढाकर अपने अग्रज, श्रीगुरु, जिनकी कृपासे शब्दोंसे कही नहीं जा सकनेवाली बात शब्दचित्रोंसे सुननेवालोंकी आंखोंके सन्मुख प्रत्यक्ष ला रखी, ऐसी गुरु-माउली श्रीनिवृत्तिनाथके चरणमें झुककर चरणपर मस्तक रखा चरण वंदना की। अंतिम चरण-वंदना! अखंड चरण वंदना! सागरकी भांति, सदैव अपनी सहज साम्यवस्थामें स्थिर गंभीर मर्यादामें रहनेवाले श्रीगुरु निवृत्तिनाथने भी, इस समय चंद्र देखकर उछलनेवाले सागरकी भांति, गुरु शिष्यकी सारी सीमाओंको तोडकर, ज्ञानदेवको, अपने छोटे भाईको, अपने एकमात्र शिष्यको, उठाकर गले लगाया। बाल संवारे, मोक्ष सिंहासनकी महायात्रामें निकले हुए इस यात्रीके अंग अंग स्पर्श करके गुरु-स्पर्श कवचसे अजय किया! अमर किया! सोपान और मुक्ताईने अपने अग्रज और श्रीगुरुके चरणस्पर्श किये। "तुम्हे भी यह सुख मिलेगा एक दिन।" ज्ञानदेवने उन्हे आशीर्वाद दिया। आश्वासन दिया। श्रीगुरु निवृत्तिनाथ अपने एक मात्र प्रिय शिष्य, अपने ब्रह्मानुभवका सर्वस्व-धरोहर, ज्ञानदेवको समाधिके सुखासन तक ले गये। वह सुखासन प्रातःकालसे नामदेवके पुत्रोंने लीप पोत कर शुद्ध किया था। महाराष्ट्रके संतोंने उस पर कोमल तृणांकुर बिछाकर सजाया था। प्रत्येक संतने अपना अपना तुलसी पत्र रखा था। महाराष्ट्रके सभी संतोंके सद्भाव, श्रद्धा, आशीर्वादसे, शाश्वत सुखके लिये सजाया गया वह "संजीविनी समाधि" का अखंड दीर्घ समाधीका सुखासन, उस पर श्रीगुरु निवृत्ति नाथने अपने शिष्यको बिठाया। ज्ञानदेव उस समधिके सुखासन पर बैठे। श्रीगुरुनिवृत्तिनाथकी चरण-वंदना कर ज्ञानदेवने एक सौ एक छंदोंका संत वंदन किया। सारा संत समाज सांस रोक कर अपने आराध्यदेवका अंतिम वंदन स्वीकार कर रहा था आंखें अश्रु सुमनांजली अर्पण कर रही थीं। वंदन समाप्त हुवा। ज्ञानदेवकी धीर गंभीर वाणी गूंज उठी।

अजी! ध्यानसे चित दीजिए! सबसुखका पात्र बनिए!
प्रतिज्ञोत्तर यह सुनिये! प्रकट बात॥

ज्ञानेश्वरीका नौवा अध्याय। राज-विद्या, राजगुह्य- ईश्वर-समर्पणयोग, जीवन साधनका सार सर्वस्व। ज्ञानदेव वह गाने लगे। सारे संत समाजको दिया गया उस योगेश्वरका यह अंतिम संदेश। संत जन अपने कोटि कोटि रोमकूपोंके कान बनकर वह सुनने लगे। आंखें अश्रु सुमनोंकी माला गुंथने लगीं, प्राण अकुलाकर तडपने लगे। मन, बुद्धि, भाव, चित्त, अंतःकरण, सारा यातनामय सा अनुभव होने लगा।

अजी देना अवधान। चढना आनंद सिंहासन।
डाली दैवने माला श्रवण- । इंद्रियको आज॥

नौवा अध्याय पूर्ण हुवा। श्रीगुरुनिवृत्ति नाथने, जिनकी कृपासे ज्ञानदेवका शरीर भी इतना दिव्य हो गया था कि "जिसे मृत्यु भी छूनेका साहस नहीं कर सकती थी" सामाधिद्वार पर पत्थर रख कर उसे सर्वदाके लिये बंद कर दिया। और अब तक रुकी हुई संतवाणी कल्पांतके पानीकी भांति आकाशको चीर कर ब्रह्ममें लीन हो गयी।

पुंडलीक वरद पांडुरंग हरि विठ्ठल!!!



इस महोत्सवके एक ही महिनेमें मार्गशीर्ष वद्य त्रयोदशीको आलंदीके पास सासवडमें श्री सोपानदेवने भी वही शाश्वत सुख पाया। सोपानदेवकी इस मोक्ष-तिथिके पांच महिने बाद वैशाख वद्य द्वादशीको तापी नदीके किनारे पर बिजली कडकी और मुक्ताई खो गयी। स शरीर समाधि।

और ठीक एक महीने बाद, वह आदर्श श्रीगुरु निवृत्ति नाथ, अपने शिष्यको तथा उनके शिष्योंको भी, अंतिम स्थान तक मार्गदर्शन करके, वहां पहुंचने तक उनको अपना संरक्षण देकर, आगे आगे लडखडाते चलनेवाले अबोध बालक पर अपनी प्रेम दृष्टिकी छाया करके पीछे चलनेवाली ममता मयी मांके भांति, वे जहांसे आये वहां पहुंचाकर, उन्होंने "ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरियां" यह देख कर कृतार्थ मावसे, त्र्यंबकेश्वरमें ब्रह्म-लीन हो गये।

तव नामदेवका हृदय अकुलाकर गा उठा

अस्त हुवा भानु पढा है अंधार।
गये निवृत्तिनाथ योगेश्वर॥

और विठ्ठलका वह एकाकी सुभट, नामदेव, सारे भारत वर्षमें विठल-नाम गूंज उठे इस महान संकल्पसे, पंढरपुरसे पंजाब तक, भजन गाते गाते चले और अंतिम क्षणमें पंढरपुरमें आकर सपरिवार विठ्ठल चरणमें लीन हो गये।

८ ज्ञानेश्वर चरित्रके कुछ विवाद्य प्रश्न-

ज्ञानेश्वरके विषयमें इतना लिखनेके बाद उनके जीवनके विषयमें अब तक जो वाद-विवाद चले हैं उसका कुछ उल्लेख करना भी आवश्यक है, नहीं तो वह अधुराही रहेगा। ज्ञानेश्वरके जन्म-स्थानके विषयमें भी महाराष्ट्रके विद्वानोमें एक वाद है। ज्ञानेश्वरका जन्म कहां हुवा था? आपेगांव या आलंदी? कुछ विद्वान लिखते हैं कि "आपेगांवमें ज्ञानेश्वरादि चार बंधुओंका जन्म हुवा" तो कुछ विद्वानोंका मत है कि "इन बंधुओंका जन्म आलंदीमें" हुवा। निवृतीनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव तथा मुक्ताईके साहित्यमें इस विषयमें कुछ भी उल्लेख नहीं है। तथा समकालीत संत नामदेव, जिन्होंने निवृत्ति ज्ञानदेवके विषयमें ही नहीं उनके माता पिताके विषयमें भी बहुत कुछ कहा है; किंतु उसमें कहीं भी इसके विषयमें॰ कुछ भी उल्लेख नहीं है; किंतु विद्वान लोग उस समयकी परिस्थितिका विचार करके "अपने मतसें" निर्णय करते हैं कि "उनका जन्म आपेगांमें हुवा अथवा आलंदीमें हुवा!" साथ साथ वे समकालीन संत वचनोंका ऐसा आधार लेते हैं कि जनसामान्यको उन्हीका कहना सच लगे! किंतु आलंदीमें आज भी ज्ञानदेवके नानाके घरकी जगह और उनका जन्म-स्थान दिखाया जाता है। और एक जगह ऐसी दिखाई जाती है कि जहां श्रीविठ्ठलपंतकी झोपडी थी और वे वहां अपने पुत्रपुत्रीके साथ रहते थे। उस स्थानको सिद्धबेट कहा जाता है।

वैसे ही, उनके जन्मस्थानकी तरह जन्म दिनका भी एक वाद है। उनका जन्म दिन (१) **निवृत्तिनाथ** शा. श. ११९५ श्रीमुखसंवत्सर, माघवद्य १ सोमवार प्रातः काल (२) **ज्ञानदेव** शा. श. ११९७ युवा संवत्सर श्रावण वद्य ८ गुरुवार मध्यरात्र, (३) **सोपानदेव** शा. श. ११९९ ईश्वर संवत्सर कार्तिक शुद्ध १५ रविवार प्रहर रात्र, (४) **मुक्ताई** शा. श. १२०१ प्रमाथि संवत्सर आश्विनशुद्ध १ शुक्रवार मध्यान्ह है अथवा (१) **निवृत्तिनाथ** शा. श. ११९० (२) **ज्ञानदेव** शा. श. ११९३ श्रावण व ८ मध्यरात्र. (३) **सोपानदेव** शा. श. ११९६ और (४) **मुक्ताई** शा. श. ११९९ है! इस विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद है।

इसके साथही साथ निवृति ज्ञानदेवादिके पिता श्रीविठ्ठलपंतके दीक्षा-गुरुके विषयमें भी एक वाद है। निवृत्ति ज्ञानदेवके समकालीन संत नामदेव श्रीविठ्ठलपंतके दीक्षा-गुरुके विषयमें कहते हैं "श्रीपाद गुरु!" यह नाम तीन चार स्थान पर आया है। नाथ संप्रदायके दूसरे एक संत– ज्ञानेशोत्तरकालीन निलोबा कहते हैं "नृसिंहाश्रम" ने विठ्ठलपंतको दीक्षा देकर "चैतन्याश्रम" बनाया। संत नामदेव भी विठ्ठलपंतका संन्यासाश्रमका नाम "चैतन्याश्रम" कहते हैं। किंतु भारतीय अर्वाचीन कोशमें श्री र. भा. गोडबोले कहते हैं कबीरदासके गुरु श्री रामानंद श्रीविठ्ठलपंतके दीक्षागुरु थे! इस पर अनेक विद्वानोंके कथनका विचार करने पर ऐसा लगता है कि ज्ञानदेवका जन्म कबीरदासके जन्मसे सामान्यतया १२५ वर्ष प्रथम हुवा था। श्री विठ्ठलपंतकी संन्यासदीक्षा इससे ३० वर्ष प्रथम हुई थी। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो कबीरकी दीक्षाके समय श्री रामानंद करीब १८० वर्षके रहे होंगे जो संभव नहीं दीखता। साथ साथ ज्ञानदेव और रामानंदके तत्त्वज्ञानका भी कहीं कोई संबंध नहीं है। महाराष्ट्रके विद्वानोंने अनेक दृष्टिसे विचार विनिमय करके इस बातको अस्वीकार कर दिया है! ऐसे करते समय महाराष्ट्रके विद्वानोंने, सर्वश्री हरिऔध, मिश्रबंधु, श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, पुरुषोत्तमदास श्रीवास्तव आदि हिन्दी विद्वानोंके पर्याप्त उद्धरण दिये है और रामानंद और ज्ञानेश्वरके कालके अंतरके साथ ज्ञानदेवको विठ्ठलपंतसे रामानंद संप्रदायके सिद्धांतोंका जरा भी बोध न होनेकी बात भी कही है।

इसके अलवा और एक वाद है, और वह है ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर एक ही व्यक्ति है या दो भिन्न व्यक्ति! इस पर विद्वानोंने खूब लिखा है। इसमें योगी ज्ञानेश्वर और भक्त ज्ञानेश्वर ऐसा भेद भी किया है। इस पर परस्पर विरोधी ऐसा इतना अधिक लेखन हुवा है कि उसका उल्लेख करना भी कठिन है। उसमें दिये गये कई उदाहरण केवल विद्वानोंको ही शोभा देते हैं। साथ साथ ज्ञानेश्वरीमें कहीं भी विठ्ठलका नाम निर्देश न होनेका भी एक कारण है, क्यों कि ज्ञानदेवके अभंगोंमें सर्वत्र विठ्ठल है। किंतु नाथ संप्रदाय स्वयं योग और भक्तिका सुंदर समन्वय है और भक्त ज्ञानदेवके अभंगोमें योगके अनेक रहस्य कहे गये हैं जिसके बीज ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृतमें हैं। पू. विनोबाजीने "ज्ञानदेवाचे अभंग" इस पुस्तकमें लिखा है "ज्ञानदेवके इन अभंगोंके अध्ययनके बिना उनके योगका पूर्ण बोध होना संभव नहीं!" वस्तुतः योग और भक्ति परस्पर भिन्न है यह कल्पना ही अज्ञानजन्य है। योगी ज्ञानेश्वरकी ज्ञानेश्वरीमेंसे कई स्थान पर भक्तिका पवित्र झरना फूट पडता है तो भक्त ज्ञानेश्वरके अभंगोंमेंसे योगके अनेक रहस्य खुलते हैं ज्ञानेश्वरीमें जिस गवाक्षका पर्दा नहीं उठा है। किंतु विद्वान लोगोंकी तर्क शक्तीकी मोहिनी इतनी प्रबल है कि वह व्यास पीठपर एक ज्ञानेश्वरकी घोषणा करनेवालोंको भी खानगी बातोंमें "अभंग, ज्ञानेश्वरी लिखनेवाले ज्ञानदेवके नहीं हो सकते" कहनेके लिये ललचाती है।

अस्तु, इसके साथ ही साथ ज्ञानेश्वरी नेवासामें लिखी गयी या आपेगांवमें? ऐसा भी एक वाद है किंतु ज्ञानेश्वरी की अंतिम ओवियोंमें जो ज्ञानेश्वरीका स्थल काल कहती है उस ओवीका एक एक शब्द लेकर, उसके साथ ही साथ नेवासा क्षेत्र महात्म्यके महालया महात्म्यके श्लोकोंको दिखाकर विद्वानोंने ज्ञानेश्वरीका जन्मस्थान नेवासा होनेका सिद्ध किया है। साथ ही साथ सैंकडो वर्षोंसे वहांके एक शिवालयमें एक खंबा था जिसके पास बैठकर ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी कहते थे। आगे मुसलमानोंने उस जगह पर अपना स्वामित्व स्थापन किया और वहाँ नमाज पढने लगे। परिणाम स्वरूप शांतता भंग होनेकी नैबत आयी। १९१७ में उस समयके जिलाधीशने वह जगह सरकार जमा की। न्यायालयमें मुकदमा चला। अपील हुआ और अंतमें

बंबईके बडे न्यायालयमें १९३८ को वह स्थान ज्ञानेश्वर भक्तोंके हाथमें आया। न्यायालयके इस विषयक निर्णयमें न्यायमूर्तीने स्पष्ट रूपसे मान्य किया है "ज्ञानेश्वरने पैठणसे आलंदी आते समय नेवासाके शिवमंदिरमें ज्ञानेश्वरी कही और वह नेवासा गांवका कुलकर्णी सच्चिदानंद बाबाने लिखी ऐसा इतिहास कहता है!" और ज्ञानेश्वरीमें इसका उल्लेख है।

९ ज्ञानेश्वरी–

संत ज्ञानेश्वर और उनके विषयमें कई वादोंका विचार करनेके बाद ज्ञानेश्वरीके विषयमें भी कुछ लिखना आवश्यक है और ज्ञानेश्वर विषयक वादोंका संबंध अनुवादकके कार्यसे कुछ भी नहीं आ सकता किंतु ज्ञानेश्वरी विषयक वादका अनुवादकके कार्यसे संबंध आता है। ज्ञानेश्वरी महाराष्ट्रका प्रसिद्धतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके विषयमें सामान्यतया मराठी भाषा भाषी प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें एक अभिमान और आदर भाव है, और महाराष्ट्रमें "सच्ची ज्ञानेश्वरी कौनसी ?" इस विषयमें आजकल विद्वानोंमें अत्यंत मतभेद है। महाराष्ट्रमें स्थान स्थानपर अब तक ज्ञानेश्वरीकी ३२ हस्त लिखित प्राचीन पांडुलिपियां प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे प्राचीन पांडुलिपि संभवतः शा. श. १५५१ की लिखी हुइ है और अंतिम प्रति शा. श. १७८२ की है। इनमेंसे चार प्रतियां ज्ञानेश्वर महाराजके भक्त मंडलके मठोंमेंसे प्राप्त हैं। तथा १२ देशके भिन्न भिन्न अनुसंधात संस्थानोंसे मिली हैं। अन्य व्यक्तिगत संग्रहकी है। इन ३२ ग्रन्थोंमें कमसे कम ओवियां ८९३२ हैं और अधिकसे अधिक ९५३५ हैं। स्थान स्थानपर अनेक पाठभेद हैं। गीताके श्लोकोंके साथ ओवियोंका अर्थ मेल न खासके इतना ओवियोंके स्थानंतर भी हुए हैं। इन सब पांडुलिपियोंको देख कर इनका संशोधन कर एक ग्रन्थ तैयार करना है।

किंतु इसमें वादका विषय दूसरा ही है और वह कुछ हदतक भावात्मक है। इसके लिये ज्ञानेश्वरीकी अध्ययन परंपराका इतिहास देखना अवश्यक-सा है।

ज्ञानेश्वर महाराजने शा. श. १२१२ में–इ. स. १२९०–अपने ज्ञानेश्वरीप्रवचन समाप्त किये और कुछ वर्षोंमें महाराष्ट्र पर उत्तरसे मुस्लीम आक्रमण हुवा। इस आक्रमणकी तीव्रता ई. स. के १६ वे सदीमें कुछ कम हुई और ज्ञानेश्वरी ग्रंथकी ओर सामूहिक दृष्टिसे महाराष्ट्रका ध्यान गया। उस समय तक स्थान स्थान पर व्यक्तिगत रूपमें ज्ञानेश्वरीका पाठ आदि होता हीं होगा। संत नामदेवके अनेक अभंगोंपर ज्ञानेश्वरीका प्रत्यक्ष प्रभाव दीखता है। कहीं कहीं तो ज्ञानेश्वरीके शब्दोंमें नामदेवने अपने अभंग गाये हैं। ई. स. १३५० तक नामदेवने इस तरह ज्ञानेश्वरीका प्रचार किया है और उन्होंने उत्तरमें भारतभर सर्वत्र भ्रमण किया है। उसके बादके साहित्यपर ज्ञानेश्वरीका ऐसा कोई प्रभाव नहीं दीखता। नामदेव ज्ञानेश्वरके करीब दो सौ वर्षके बाद, महाराष्ट्रमें और एक महान संत-पुरुषका जन्म हुवा और वे हैं संत एकनाथ महाराज। संत एकनाथ विद्वान थे। संस्कृतका भी अच्छा खास अध्ययन था। श्रीजनार्दन स्वामीके शिष्य। श्रीजनार्दन स्वामी विद्वान और अधिकार संपन्न श्रीगुरु। महाराष्ट्रमें यह श्रद्धा है कि स्वयं दत्तात्रयसे उन्हे अकर्तात्मक बोधका रहस्य प्राप्त हुवा था और इन्ही श्री जनार्दनस्वामीके श्रीमुखसे एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरी सुनी है। एकनाथ महाराज छ वर्षतक श्रीजनार्दन स्वामीके श्रीचरणोंमें रहकर आत्मबोध प्राप्त करनेके बाद वहांसे घर आये। ज्ञानेश्वर महाराजकी भांति एकनाथ महाराजका जीवन भी महाराष्ट्रको परम पावन है। एकनाथ महाराजके भागवतपर ज्ञानेश्वरीका अत्यधिक प्रभाव है।

एकनाथ महाराजके साहित्यिक कार्यको ही देखा जाय तो उन्हे मराठी भाषाका व्यास कहा जा सकता है। उनकी करीब १ लाख ओवियां हैं! उसके अलावा अभंग और भारूड

ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिके करीब तीन सौ सालके बाद एक दिन एकनाथ महाराजको स्वप्न हुवा। स्वप्नमें ज्ञानेश्वर महाराजने कहा " अजान वृक्षकी जड मेरे गलेमें जा रही है। मुझे बडा कष्ट हो रहा है ! तू आकर वह जड निकाल। " एकनाथ महाराज, साथ कुछ लोगोंको लेकर आलंदी गये। उस समय समाधिस्थान पर जंगल बढ गया था । इस स्वप्नके बाद एकनाथ महाराजने वह जंगल काटकर उसको साफ कराया। ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिका वह पत्थर खोला जो श्री गुरु निवृत्तिनाथने लगाया था। वे समाधिमें गये। अजान वृक्षकी जो जड ज्ञानेश्वर महाराजकी गलेमें लग रही थी वह निकाली। उसी समय ज्ञानेश्वर महाराजने एकनाथ महाराजको ज्ञानेश्वरीकी प्रति तैयार करनेका आदेश दिया और एकनाथ महाराजने उस समय उपलब्ध अनेक प्रतियोंकी सहायतासे ज्ञानेश्वरीकी शुद्ध प्रति तैयार की। "

महाराष्ट्रके भावुक ज्ञानेश्वर भक्तोंमें यह घटना आदरसे कही सुनी जाती है। साथ ही साथ ज्ञानेश्वरीका वही पाठ अबतक प्रचलित रहा है जो यह माना जाता है कि ज्ञानेश्वर महाराजके आदेशसे एकनाथ महाराजने संशोधन करके प्रचलित किया था।

इस घटनाके कई सौ वर्षके बाद महाराष्ट्रके प्रसिद्ध इतिहास संशोधक श्री. राजवाडेको बीडमें ज्ञानेश्वरीकी एक प्रति मिली। उन्होंने अपनी ऐतिहासिक दृष्टिसे विवेचन विश्लेषण करके " एकनाथ पूर्वकालीन भाषा होने से " तथा " अन्य कई वैज्ञानिक कारणोंसे " यही ज्ञानेश्वरीकी असली प्रति होनेका निर्णय करके उसको प्रकाशित किया। इस पुस्तककी प्रस्तावनामें इतिहासाचार्य श्री. राजवाडेने " वह शा. श. १२१२-१२४० के मध्य लिखी गयी थी" ऐसा लिखा है। इसके बाद कई विद्वानोंने इसीको " असली ज्ञानेश्वरी " मानना और कहना प्रारंभ किया और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिसे ज्ञानेश्वरीका विचार होना प्रारंभ हुवा। परिणाम स्वरुप ज्ञानेश्वरीके विषयमें कई वाद निर्माण हुए। इसमें ज्ञानेश्वरकालीन भाषा तथा एकनाथ कालीन भाषाका भी एक प्रश्न था। इससे, प्राप्त पांडुलिपियोंका दो खंडोंमें विभाजन हुवा। एकनाथ पूर्वकालीन ज्ञानेश्वरीकी प्रतियां और एकनाथोत्तर ज्ञानेश्वरीकी प्रतियां।

इन सब बातोंमें यहां यह बात ध्यानमें रखना अत्यंत आवश्यक है कि "दुर्दैवसे श्रीसच्चिदानंद बाबाकी लिखी हुई अथवा तत्समकालीन ज्ञानेश्वरीकी प्रति अब तक नहीं मिली, वैसे ही प्रत्यक्ष एकनाथ महाराजने अपने हाथसे लिखी हुई ज्ञानेश्वरीकी शुद्ध प्रति भी उपलब्ध नहीं है " वह नष्ट होते समय, उससे पहले, उसकी जो नकल बनाकर रखी गयीथी वही आज उपलब्ध है । ऐसे समय संभव है कि नकल करते समय बुद्धिदोष, दृष्टिदोष तथा हस्तदोषसे कुछ गलतियां रह गयी हों अथवा पाठभेद हुवा हो।

आगे चलकर ज्ञानेश्वर भक्तोंने परंपरासे पैठणके श्रीएकनाथ महाराजके मठमें जाकर उनके घरमें बैठकर कुछ प्रतियां बना लीं; इससे आज उपलब्ध प्रतियोंमें कुछ प्रतियां श्रीएकनाथ महाराजकी प्रतिसे मिलती जुलती हैं तो कुछ इतिहासाचार्य राजवाडेजीकी प्रतिसे मिलती जुलती हैं। ई.स.१९०८-९ में राजवाडे प्रतिका प्रकाशन हुवा अर्थात् उसके बाद ही यह वाद चल पडा। अनेक विद्वानोंने " वही प्रति सच्ची ज्ञानेश्वरी मान कर " उसमें जो छंद नहीं है वे सब " प्रक्षिप्त हैं " ऐसे कहना प्रारंभ किया भले ही वे छंद मूल विषय और तत्वज्ञानका सुंदर विवेचन करते हों ! और परंपरागत—सांप्रदायिक !—विचारवंतोंने राजवाडे प्रतिमें जो विसंगतियां या असंगतियां हैं उनका स्पष्टीकरण कर दिखाया ! और वाद बढता गया। आग्रहपूर्वक, तर्कशुद्ध या तर्क-कर्कश शब्दोंका पिरामिड रचा गया और सत्य उसके नीचे दब गया। एक प्रकारसे " राजवाडे प्रति विद्वन्मान्य ज्ञानेश्वरी " हो गयी। विद्वानोंने सच्ची ज्ञानेश्वरीके प्रकाशन के लिये सरकारके पास दौड लगायी।

मं. सरकारने उसके लिये एक "ज्ञानेश्वरी संशोधन मंडल" बनाया। उस मंडलमें सभी महाराष्ट्रके वयोवृद्ध प्रकांड पंडित ही हैं। उन्होंने इतिहासाचार्य राजवाडे प्रतिसे मिलती जुलती पांच प्रतियोंका विचार करके, प्रयत्नपूर्वक और निष्ठापूर्वक उन सबका संशोधन करके सरकार मान्य एवं विद्वन्मान्य ज्ञानेश्वरीका प्रकाशन किया।

१० अनुवादकका अंतर्द्वंद्व—

ज्ञानेश्वरी विषयक यह वाद और इतिहास देखनेके बाद प्रस्तुत अनुवादकके सम्मुख एक प्रश्न था अनुवादके लिये कौनसी ज्ञानेश्वरी चुने? अनुवादकने खूब सोचा, कुछ बुजुर्ग गुरुजनोंसे भी बात की और "विद्वन्मान्य ज्ञानेश्वरी" और "लोकमान्य ज्ञानेश्वरी" दोनोंका अध्ययन किया। अंतमें "केवल विद्वानोंके विरोधसे बचनेके लिये" अनुवादके लिये विद्वन्मान्य ज्ञानेश्वरी चुनी! उसके ४-५ अध्यायोंका अनुवाद हुवा और इसी बीच ऐसे ही एक विद्वानसे मिलनेका मौका आया। ज्ञानेश्वरीके अनुवादके विषयमें चर्चा चली तो मैंने कहा—सरकारी ज्ञानेश्वरी ली है।" मेरा वह उत्तर सुनकर वे कुछ झल्लाये। मूल राजवाडेकी प्रति क्यों नहीं ली? वही असली ज्ञानेश्वरी है। यदि शिवाजी महाराजने अपने हस्ताक्षरमें "शि" दीर्घ लिखा हो तो किसी विद्वानको वह ह्रस्व करनेका क्या अधिकार है!! अर्थात् शिवाजी महाराजका हस्ताक्षर जितना प्रामाणिक उतना ही राजवाडे ज्ञानेश्वरी प्रति प्रामाणिक! यह उक्त विद्वान सज्जनका तर्क था। साथ साथ उस प्रकांड विद्वन्महाशयका यह भी एक तर्क था कि सरकार द्वारा संघटित उस मंडलमें महाराष्ट्रके सभी विद्वान नहीं थे। उस कमेटीके बाहर कोई गेलेलियो भी हो सकता है? वस्तुतः गेलेलियो कभी किसी कमेटीका मेंबर तो नहीं बना अर्थात् जिस किसीको किसी कमेटी पर जानेका भाग्य ही नहीं मिला हो तो उसे अपने आपको गेलेलियो मान लेनेका अधिकार मिलही गया और अनुवादक भी कभी किसी कमेटीका सदस्य नहीं बना और आगे भी ऐसी कोई संभावना नहीं है। तब वह अपने आपको क्यों गेलेलियो न मान लें?

अस्तु; इन सब बातोंमें मुझे उक्त सज्जनसे और एक जानकारी मिली। फ्रान्ससे एक विद्वान सज्जन डॉ. द लेरे सात वर्षसे पूनामें रह कर मराठी भाषा सीख करके ज्ञानेश्वरीका फ्रेंच भाषामें अनुवाद कर रहे हैं। इसी उद्देश्यसे वे फ्रांन्ससे पूना आये हैं। यह सब कहनेके बाद मुझे उक्त सज्जनने बडे त्वेषके साथ कहा "डॉ. द लेरे ने भी श्री. दांडेकरकी प्रति ली है! जो आता है वह दांडेकरकी प्रति लेता है या सरकारी प्रति लेता है! जब राजवाडेकी सच्ची ज्ञानेश्वरी मिली है तब किसीको दूसरी ज्ञानेश्वरी लेनेका क्या अधिकार है?"

यह सब सुनकर मैं घर आया। पच्चीस रुपये देकर 'श्री.दांडेकर प्रति' खरीद ली। श्री.शं.वा. दांडेकरजी स्वयं सरकार द्वारा नियुक्त ज्ञानेश्वर संशोधन मंडलके अध्यक्ष हैं किंतु उन्होने अपनी ओरसे श्री.एकनाथ महाराज द्वारा संपादित प्रति आवश्यक संपादन तथा गद्यानुवाद करके प्रकाशित की है। उसकी प्रस्तावनामें लिखा है "ज्ञानेश्वरी संशोधनकार पैठणके श्री. एकनाथ महाराजकी समाधिके तीस वर्ष बाद ही उनके घरमें बैठकर उतारी गयी प्रति मिली थी। उसके आधारपर उसकी नकल करके तैयार की गयी प्रति श्री बंकट स्वामीने - श्री. दांडेकरजीके गुरु बंधु—प्रकाशित की थी उसीको यहां जैसेके वैसे – अक्षर छापनेकी पुरानी पध्दति छोडकर प्रकाशित किया गया है!"

इस ज्ञानेश्वरीकी कीमत २५ रुपये अब ३० रुपये और सरकारी ज्ञानेश्वरी कोई आवृती पांच या कोइ आवृति आठ रूपयोमें मिलती है फिर भी श्री दांडेकरकी ज्ञानेश्वरी १९५६ से१९६९ तक

करीब तीस हजार बिक गयी हैं। वैसे ही अन्य कुछ ज्ञानेश्वरी प्रतियां जो इसी एकनाथ महाराजकी संशोधित आवृत्तियां हैं हजारोकी संख्यामे बिक रही हैं यद्यपि सरकारी ज्ञानेश्वरीसे उसकी कीमत दूनी तो है ही श्रीएकनाथ महाराज स्वयं विद्वान होनेके साथ महान संत भी थे। इसके अतिरिक्त श्रीएकनाथ महाराजने अपने श्रीगुरु जनार्दनस्वामीसे भी ज्ञानेश्वरी सुनी थी। तथा श्रीएकनाथ महाराजके बाद संत तुकाराम और समर्थ रामदासने भी वही ज्ञानेश्वरी पढी और उससे स्फूर्ति ली। आधुनिक युगमें भी श्री साखरे बुवा, श्री. विष्णुबुवा जोग, श्री. बंकट स्वामी, तथा सरकारी ज्ञानेश्वरी संशोधन मंडलके अध्यक्ष श्री दांडेकर जैसे विद्वान भी श्री. एकनाथ द्वारा संशोधित आवृति पढते रहे, महाराष्ट्रके ज्ञानेश्वरभक्त, जो लाखों हैं श्रद्धा भक्तिसे उसीका नित्यपाठ करते हैं। एकनाथ कालसे आज तक, साडेचार सौ वर्षसे अधिक काल तक महाराष्ट्रके लाखों सहृदय भक्तजनोंने उसीका पाठ किया, उसीको कंठ किया, उससे स्फूर्ति ली, उससे प्रेरणा ली, उसीको अपने जीवनका आधार बनाया, उसी ज्ञानेश्वरीको माउली मानकर उपासना की, उससे तुष्ट और पुष्ट हुए, उसको मैं महाराष्ट्रका प्रातिनिधिक ग्रंथ मानुं या चार (गेलेलियो) विद्वनोंके मान्य ग्रंथको ? जिनके पीछे कोई परंपरा नहीं, साधना नहीं, उपासना नहीं, यदि कुछ है तो आग्रह, तीखा, कर्कश, असंगत और विसंगत तर्क, अभिनिवेश, और एक प्रकारसे अनुभूतिशून्य शाब्दिक कसरत! श्री. राजवाडे प्रति ही सच्ची ज्ञानेश्वरी है कहनेवाले विद्वानकी और एक बातने मुझे और अधिक अंतर्मुख किया; "जो कोई आता है सांप्रदायिक ज्ञानेश्वरी देखता है, इस नयी सच्ची ज्ञानेश्वरीका विचार ही नहीं करता!" इसी समय उन विद्वान महाशयने कहा था "फ्रांससे डॉ. द. लेरे आये हैं! उन्होने सांप्रदायिक ज्ञानेश्वरी ली!" मैं सोचने लगा डॉ. द. लेरे साहबने "सांप्रदायिक" ज्ञानेश्वरी क्यों ली होगी ? इसीके उत्तरमें मुझे ऊपरके विचार सूझे।

और! "सांप्रदायिक" है क्या ? आजकल, कुछ शब्द अर्थ-शून्य-से हो गये हैं। "सांप्रदायिक" यह शब्द एक गाली-सी बन गया है। ज्ञानेश्वरी जैसे महान ग्रंथके विषयमें भी सांप्रदायिक ग्रंथ और अ-सांप्रायिक ग्रंथ। उसके अर्थके विषयमें भी सांप्रदायिक-अर्थ और अ-सांप्रदायिक अर्थ! धर्म, राजनीति, तत्वज्ञान, भाषा, साहित्य आदि विषयमें भी "मैं प्राचीन कुछ नहीं मानता" कहनेवाला तथाकथित, प्रगति-प्रिय बुद्धिजीविदियोंका एक "अ-सांप्रदायिक संप्रदाय" बन गया है जो सदैव पूर्वपरंपरासे कटकर अपने आपको अधांतरमें लटकनेवाले जड कटे वृक्षकी भांति लटकता हुवा किसी अज्ञात दिशामें प्रगति कर रहा है। यदि किसी प्रतिभा-संपन्न बुद्धिमान व्यक्तिके लिये किसी बातका नया अर्थ करना हो, समाजको नयी दृष्टि देनी हो, समाजको नया विचार और आचार देना हो, तो उसको अपनी पूर्व-परंपराका पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। किसी भी तत्वज्ञान विषयक ग्रंथकी, उसके किसी विषयकी, "नयी व्याख्या" करनेसे प्रथम उसके पूर्वाचार्योंने उस विषयक शब्दोंसे क्या क्या संकेत लिये हैं इसकी पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है। साथ साथ लेखकने कहां कहां किस अर्थमें किस शब्दका प्रयोग किया है यह भी जानना आवश्यक है। बिना इसके, केवल कोश और व्याकरण देख कर किया गया नया! अर्थ अनर्थ कर सकता है। अर्थात जब तक किसीको किसी शब्द तथा उसके विचारकी पूर्व परंपरका यह पूर्ण ज्ञान नहीं है उसका किया हुवा नया अर्थ अथवा दी हुयी नयी दृष्टि "अज्ञान वितरण समारोह ही" है, इसलिये निष्ठा पूर्वक अपनी पूर्व परंपराका पालन करना जन सामान्यका युग–धर्म है। असामान्य गेलेलियोंकी बात दूसरी है! उनको कभी कहीं देखनेकी आवश्कता नहीं है। जो कुछ उनके प्रथम हो चुका है वह सब सांप्रदायिक है। असांप्रदायिकका सब कुछ अपनेसे ही प्रारंभ होता है जैसे अंधेके लिये विश्वमें वह अकेलाही है!!

अनुवादक इस श्रेणीका प्रतिभा संपन्न व्यक्ति हैही नहीं अथवा उसे अपने आपको अधांतरमें लटकनेवाले जड कटे वृक्षकी भांति बना लेनेका धैर्य है। वह प्रगति करना चाहता है

किंतु सही दिशा जानकर और दिशा जाननेके बाद भी, उस दिशामें कौन कौन गयें यह देख कर, उनसे राह पूछ कर ही किसी रास्ते पर आगे बडना चहता है। इसलिये अनुवादकने "केवल विद्वानोंके विरोधसे बचनेके "भय" से अथवा अज्ञात भावसे अपना नाम असंप्रदायिक आधुनिक विद्वानोंमें लिखानेके "लोभसे" अनुवादके लिये जो "सरकार मान्य और विद्वन्मान्य" ज्ञानेश्वरी चुननेकी गलति की थी उसको सुधारा! १५०–२०० पृष्ठोंके भाषांतरको गंगार्पण करके श्रीएकनाथ महाराज द्वारा संशोधित सांप्रदायिक ज्ञानेश्वरी लेकर पुनः "ॐ नमोजी आद्य"से श्रीगणेश किया। साथ ही साथ अनुवाद करते समय जहां कहीं अर्थके लिये संदर्भ देखना पडा जहां श्रीसाखरे महाराज तथा श्री शं. वा. दांडेकरजी द्वारा संपादित श्रीवंकट स्वामीकी ज्ञानेश्वरीको ही प्रमाण माना है! वैसे तो अनुवाद करते समय अनुवादकके सामने श्री साखरे महाराज, श्री शं. वा. दांडेकर तथा श्री भिडेकी सार्थ ज्ञानेश्वरी रही है। किंतु अर्थ निर्णय करते समय अनुवादकने न तो स्व-बुद्धिको प्राधान्य दिया न श्रीभिडेके अर्थको किंतु श्री साखरे महाराज अथवा श्री दांडेकरजीके किये गये तथाकथित सांप्रदायिक अर्थकोही प्राधान्य दिया है!

अस्तु; इतना स्पष्ट लिखनेके बाद ज्ञानेश्वरीके वादके विषयमें कुछ लिखना नहीं रहता तथा ज्ञानेश्वरी ग्रंथके विषयमें भी। क्यों कि वह पाठकके हाथमें दिया जा रहा है। ज्ञानेश्वरी मराठीका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथमें क्या क्या विषय हैं यह इस ग्रंथकी, अलग अलग प्रकारसे की गयी दो विषय-सूचियोंको देखनेसे पता चलेगा। मूलमें विषय सूचि नहीं है। हिंदी अनुवाद छपते छपते यह नयी कल्पना सूझी और विषय सूची बनाई गयी। यह जो प्रयास हुवा है वह परंपरागत नहीं, हिंदी अनुवादमेंही पहली बार हुवा है। साथ साथ जो कुछ हुवा वह भी शीघ्रता या उतावलेपनमें हुवा है। परिणामस्वरूप कुछ अटपटा भी लग सकता है। किंतु गहरे अध्येताओंके लिये जो अलग विषय विवेचन है वह अधिक चुस्त है। वह आचार्य श्री शं. वा. दांडेकरजीका बनाया हुवा है। उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। सामान्य वाचकके लिये पहली विषय सूची सहायक होगी तो गहरे अध्ययनके लिये दूसरा विषय विवेचन मार्ग-दर्शक होगा।

११ अनुवादकके विषयमें कुछ-

ज्ञानेश्वरी रामकथा या कृष्णकथा नहीं किंतु वेदांत-काव्य है। विषयकी गहनताके साथ मूलकी भाषा अत्यंत प्राचीन है। आज इस भाषाका रूप प्रचलित नहीं है। महाराष्ट्रका सामान्य सुशिक्षित नागरिक भी मूल ज्ञानेश्वरीको भली भांति नहीं समझ पाता। विद्वानोंके लिये भी वह भारी पडता है। ऐसी स्थितिमें एक कन्नड भाषाभाषी द्वारा प्राचीन मराठी वेदांत ग्रंथका हिंदी भाषामें किया गया अनुवाद, वह भी समवृत्तमें, एक प्रकारसे "अव्यापरेषु व्यापार" है। उछलते कूदते, भूतके बंगलेमें घुसनेके बाद, बिच्छू कटे बंदरकी शराबके नशेमें की हुई मर्कट चेष्टा-सी! किंतु केवल प्रेममें ऐसी मूर्खता करनेका साहस होता है। हिंदी भारतकी राष्ट्र-भाषा है। राष्ट्रके साथ जो प्रेम है, आदर या भक्ति है, वही राष्ट्र भाषासे होना स्वाभाविक है। हिंदीको राष्ट्र भाषा मान कर इ. स. १९३५ में हिंदी सीखने के लिये काशी गया। वहांसे लौट कर हिंदी प्रचारका कुछ काम किया। गांधीजीकी वानरसेनाका सैनिक बनकर जो कुछ हम लोगोंने उछल कूद की, इससे, या अन्य कारणोंसे, विदेशी शासनके स्थान पर स्वदेशी शासन आया। स्थिति बदली। स्वदेशी शासनमें जन-समान्यकी हिंदी भाषा वैधानिकरूपसे राज-भाषा बनकर भी केवल वैधानिक भाषा ही रही। हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक और विशाल होता गया। उस विशालतामें भारत है या नहीं अथवा कहां है यह ढूंढनेपर भी पता नहीं चलता। ऐसी स्थितिमें भारतकी आनेवाली पीढी, लोक-भाषा हिंदीके

गवाक्षमेंसे वेदसे वर्तमानतक, आसेतु हिमाचलका, मंगलमय पावन दर्शन कर सके इस उद्देश्यसे यह सब काम चल रहा है। प्रस्तुत अनुवादकको इसमें जरा भी संदेह नहीं कि उसमें यह योग्यता नहीं है। इस महान कार्य करनेके लिये वह योग्य नहीं। उसकी इस अयोग्यताका उसको पूर्ण ज्ञान और भान है। किंतु जो योग्य हैं उनको, उनकी योग्यताके अनुसार अन्य बडी बडी बातें करनी हैं। बडे बडे काम हैं। साथ साथ यह काम भी करनाही है। इसीलिये, कुछ मूर्खता होगी, अव्यापारेषु व्यापार होगा, छोटी मोटी ही नहीं हिमालयकी-सी भी त्रुटियां रह जायेंगी, यह सब मानकर ही यह काम हाथमें लिया है! अर्थात इस महाग्रंथमें जो त्रुटियां होंगी, भूलें होंगी, अशुद्धियां होंगी उसके लिये विद्वान लोग उदारतासे अनुवादकको क्षमा करनेकी कृपा करेंगे ऐसा विश्वास है!

इस क्षमा याचनाके बाद, ज्ञानेश्वरीके वृत्तके विषयमें एक दो बातें कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। इस वेदांत-काव्यका छंद स्वाभाविक ही मराठीका अपना छंद है। ओवी और अभंग ये दो वृत्त मराठी संत-साहित्यका हृदय और मस्तिष्कसे हैं। ओवी छंदमें, जहां परमामृत, ज्ञानेश्वरी, अनुभवामृत, स्वानंद-लहरी, दास-बोध जैसे वेदांत काव्य ग्रंथ है वहां कृष्ण चरित्रके अनेक प्रसंग, भागवत, रामायण, श्रीकृष्ण चरित्र, भारत जैसे चरित्र ग्रंथ भी हैं और कवियोमें सवश्री मुकुंदराज, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, श्रीकृष्णदयार्णव, रामदास और मुक्तेश्वर जैसे महान कवि हैं। ये सब काव्य प्रासादिक और विद्वन्मान्य हैं अभंग और ओवी इन दोनो छंदोंके विषयमें मराठीके अन्यान्य विद्वानोंने जो कुछ लिखा है उसका सार इतना ही है कि वैदिक अनुष्टुप छंदसे प्रेरणा लेकर इस छंदकी रचना की गयी है। ये दोनों अक्षर छंद हैं। अभंग और ओवी दोनोंका रूप एक है। कुछ विद्वानोंने लिखा है "ओवियोंकी मालिकाको अभंग कहते हैं।" ऐसे विधान उन दोनोंकी एक-रूपता बताते हैं इतना ही। किंतु वास्तविकता ऐसी नहीं है। "अभंग" शब्दके विषयमें संत नामदेवने कहां है "सम चरणमें अभंग। नहीं तान छंद-भंग।" "सम चरणमें" ये शब्द सूचक माने जाते हैं। जो वृंदावनके त्रिभंगी कन्हय्या-की भांति डेढ पैरसे खडा न जोहोकर "समचरण" विठ्ठल- खडा है वह "अभंग-विठ्ठल" है। अभंगके साथ विठ्ठल शब्द जुडकर अभंग विठ्ठल बना। ऐसे विठ्ठल भक्ति परंपराका यह छंद "अभंग" है। साथ ही साथ "दो सोलह छंदोंके सम चरण पर खडा अभंग"। ऐसा इसका पहला भाग कहता है। किंतु किसी अभंग गायकने अक्षरोंको गिननेका प्रयास कभी नहीं किया है। अनेक संतोंके अभंगोका अध्ययन करके कुछ निरुद्योगी (!) विद्वानोंने मोटे तौर पर इसके कुछ प्रकार दिखायें हैं और उनको अलग अलग नाम भी दिये हैं। ज्ञानेश्वरको महाराष्ट्र जैसा माउली कहता है वैसे ज्ञानोबा भी कहता है और ज्ञानोबासे विनोबा तक आध्यात्मिक महाराष्ट्राने अपनी इस अभंग-वाणीको अक्षुण्ण रखा है। इस प्रकार यह छंद पारमार्थिक महाराष्ट्रके हृदयकमलका "अभंग" सुगंध है और ओवी इससे भी प्राचीन छंद है। ई. स. ११२९ में भी इसका दर्शन होता है। उस कालके एका ग्रंथमें इस छंदके विषयमे लिखा है कि -

पीसते कूटते ओवियां गाती हैं जो महाराष्ट्रमें।

और स्वनामधन्य लोकमान्य तिलकजीके विषयमें कहा जाता है कि वे सदैव कहा करते थे "चक्की पर बैठते ही ओवियां अपने आप सूझती हैं!" ओवीके विषयमें कभी किसीने, कभी किसीने कुछ लक्षण लिखे हैं किंतु वे कभी सर्वमान्य नहीं हुए हैं। जैसे सोलहवे शतमानके एक साहित्यिकने लिखा है "ओवीके पहले चरण छ से आठ अक्षरके हों और चौथा चरण चारसे छ अक्षरका।" किंतु ज्ञाने-श्वरीमें ही पहले तीन चरण छ से चौदह अक्षर तकके हैं। पहले तीन चरणमें अंतिम प्रास होता

है और चौथे चरणमें प्रास नहीं होता। इस ओवी छंदके मूलके विषयमें ऊपर कहा गया है कि वैदिक अनुष्टुप् छंदसे प्रेरणा लेकर इसका विकास किया गया है। किंतु कुछ विद्वानोंका कहना है कि यह कन्नड त्रिपदीका मराठी करण है पर कन्नड त्रिपदी छंद संभवतः वैदिक गायत्री छंदका कन्नडीकरण हो! कुछ भी हो, ये दोनो छंद कहींसे आये हों, पर ये मराठी संत साहित्यके प्रकाशस्तंभ हैं! महाराष्ट्रके ज्ञान और भक्तिके अमृतस्रोत हैं। महाराष्ट्र सारस्वतमें ओवियोंकी संख्या लाखोंसे गिननी होगी। साथ साथ प्रत्येक कविका एक न एक वैशिष्ट्य है। ओवी सुनते ही मराठी साहित्यका जानकार झट कह सकता है यह ओवी किसकी है इतना वह वैशिष्ट्य सु-स्पष्ट है।

ओवियां जैसे ग्रंथस्थ हैं वैसे कुछ कंठस्थ भी हैं। विशेषतया गांवोंमें स्त्रियां या लडकियां, पीसते समय, कूटते समय, लडकियां झूले पर बैठ कर झूलते समय, मातायें बच्चोंको पालनेमें झूलाते समय, या गोदमें सुलाते समय ओवियां गाती हैं जो आज भी सुना जा सकता है। ये ओवियां तितलियोंकी भांति बहुरंगी और क्षणिक उडती हुई रहती हैं। इनके विषय अनंत हैं। महाराष्ट्रका दैवत पांडुरंग और उस पांडुरंगके पगले संत तो इन ओवियोंका विशेष विषय है। साथ साथ अन्य देवी देवता भी इनका विषय बनता है। माता-पुत्रका प्रेम, भाई बहनका प्रेम, आदिका सुगंध लेकर ओवी तितली खूब उडती है। पति-पत्नीके बीच भी यह घुस कर उन्हे हंसा रुलाकर दो तन एक मन कर देती है। अर्थात ओवी छंद महाराष्ट्रीय जन जीवनकी माधुरी भी है जैसे महाराष्ट्रीय आध्यत्मिक अमृत सागरके अथांग तरंग हैं। इस दृष्टिसे ओवी छंदसे परिचित होना सही अर्थमें महाराष्ट्रके हृदयसे परिचित होना है और ज्ञानदेवकी ओवियां तो विशेष कर। क्यों कि मराठी साहित्यके मर्मज्ञोंका कहना है मोरोपंतकी आर्या, ज्ञानेश्वरकी ओवियां और तुकारामके अंभग मराठी साहित्यकी निधि है। इसलिये ज्ञानेश्वरीके इस अनुवादका एक वैशिष्ट्य है जो इससे पहले हिंदीमें अनुवादित ज्ञानेश्वरीमें नहीं था। जो विशेषतायें हैं वे सब मूलकी देन हैं और त्रुटियां अनुवादककी अपनी, आशा है विद्वान् और साहित्यके मर्मज्ञ उदारता पूर्वक इसकी क्षमा करनेकी कृपा करेंगे!

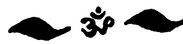
बाबुराव कुमठेकर.



अकारादि क्रमसे ज्ञानेश्वरीकी विषय-सूची



क्रमांक	विषय	पृष्ठ
३८	तो कर्म करने क्यों कहता है	७६
३९	त्याग	६३८
३४०	त्याग और संन्यासका अर्थभिन्नत्व	७१७
४१	त्याग भी तीन प्रकारका	७२३
४२	त्याग वृत्तिका रहस्य	७२१
४३	दंभ	४८४
४४	दंभ	६४४
४५	दम	६३२
४६	दया	६३८
४७	दर्प	६४५
४८	दान	६३२
४९	दिनरात मेरा चिंतन करनेवाला भक्त मुझे जानता है	४०८
३५०	दीन अर्जुनकी अनन्य शरणता	३७
५१	दूसरे अध्यायकी प्रस्तावना	३१
५२	दृश्य और द्रष्टाका अद्वयभाव	३५४
५३	देहधारीको कर्म अनिवार्य	७३०
५४	देहाभिमान	४८९
५५	देहाहंकार आत्मबोधमें लय होनेके बाद	७४७
५६	दैवी गुणोंकी महानता	६४३
५७	दोनों सेनामें केवल पांडव ही बचेंगे	३७९
५८	दो भक्तोंकी भेंट आनंद महोत्सव है	३०९
५९	द्वंद्वचिंता छोडकर स्वचिंतन करना	८००
३६०	द्वैत गुरु शिष्योंके संवादमें अद्वैतके परेका अनुभव	६११
६१	द्वैतस्थितिमें आकर गुरुशिष्य संवाद	८४०
६२	धर्म-रक्षणके लिये मेरा अवतार	११०
६३	ध्यान देने पर आनंद सिंहासन पर चढते हैं	२९६
६४	धृतराष्ट्रकी जडताका दर्शन	८५४
६५	धृतिका विवेचन	४४२
६६	धैर्य	६४२
६७	नमस्कार भक्तिसे मद्रूप होते हैं	२६७
६८	नष्ट होना शरीरका स्वभाव ही है	४७
६९	नाशवंत वस्तुओंकी इच्छासे आराधना करनेवाले ही अधिक	२१४
३७०	नित्य नैमित्तिक कर्मोंका विवेचन	७१९
७१	निरहंकार निष्काम कर्म कर	८३
७२	निराकार योगमार्ग	४०७
७३	निराग्रह वृत्तिसे जीवनयापन	४१६
७४	निर्मल स्नेह पक्व फलकी भांति अलिप्त होता है	७९५
७५	निर्विशेष तेरा वंदन कैसे करूं?	७११
७६	निष्काम एकनिष्ठ भक्ति	४८०
७७	निष्काम कर्मयोगीकी महानता	१४०
७८	निष्काम भक्तसे मैं अत्यंत प्रेम करता हूँ	४८०
७९	निष्काम भावसे दिये गये शब्द भोजनका आनंद	१५४
३८०	नैष्कर्म्यका अर्थ आलस्य नहीं	१३४
८१	नैष्कर्म्य भावका दर्शन	१३९
८२	पंद्रहवे अध्यायकी भूमिका	५७४
८३	परंइच्छा निवर्तते	६७
८४	परमात्माका मनोगत	३७३
८५	परमात्माकी असामान्य उदारता	३४१
८६	परिवर्तन देहोंका होता है	४७
८७	पार्थका प्रश्न, कर्म त्याग या कर्म योग ?	१३२
८८	पावित्र्य	४६५
८९	पित्ररूपमें गुरु वंदन	२४८



ज्ञानेश्वरीके विशेष अध्ययनके लिये विषय - विश्लेषण



ज्ञानेश्वरीकी एक विषयसूचि पहले दी है। वह सामान्य विषयसूचि है। विशेष अध्येताओंके लिये दूसरी एक विषय सूचि यहां दी जाती है। इससे ज्ञानेश्वरीमें कौन कौन विषय किस अध्ययके किन ओवियोंमें आये हैं इसका पता चलेगा। इसमें १४० के करीब मुख्य विषय चुनकर फिर उनके उपविभाग किये गये हैं। विषयके जो अंक हैं वे काले-बोल्ड-टायीपमें अध्यायके और सादे-पायका-टायीपमें ओवियोंके हैं। जैसे 'अक्रोध' १६ : अध्याय १२५-१२९ ओवी संख्या।



ज्ञानेश्वरी

१

अर्जुनविषादयोग

ॐ नमो श्री आद्य । वेदप्रतिपाद्य ।
जय जय स्वयंवेद्य । आत्मरूप ॥१॥

देव तू ही श्री गणेश । सकल-मति प्रकाश ।
कहे निवृत्तिका दास । सुनियेजी ॥२॥

शब्द-ब्रह्म यह अशेष । वही है जो मूर्ति सुवेष ।
वहां वर्ण भी है निर्दोष । सजाया जो ॥३॥

स्मृति ही है अवयव । रेखायें अंगके भाव ।
लावण्य रूप वैभव । अर्थ शोभा ॥४॥

अष्टादश जो पुराण । वही हैं मणि-भूषण ।
पद पद्धति कोंदण । प्रमेय-रत्नका ॥५॥

पदबंध है वसन । रंगाया अति महीन ।
साहित्य शोभायमान । किनारी है ॥६॥

मानो है काव्य-नाटक । सोचनेसे स-कौतुक ।
पदकी क्षुद्रघंटिका । अर्थ-ध्वनि ॥७॥

अनेक तत्वोंका निरूपण । उसका नैपुण्य विलक्षण ।
उचित वचन सुलक्षण । दीखे रत्न-सम ॥८॥

व्यासादिकोंका शुद्धज्ञान। शोभता मेखला समान।
उसकी दिशा है महान। झलकती सदा ॥९॥

कहलाते जो षड्दर्शन। जैसे भुजदंड महान।
तभी है असंगत-पूर्ण। आयुध करमें ॥१०॥

तर्क ही है फरशु। नीति-भेद अंकुश।
वेदांत महारस। शोभता मोदक ॥११॥

एक हाथमें हैं दन्त। स्वभावसे ही खंडित।
जो बौद्धमत संकेत। वार्तिकोंका ॥१२॥

सहज सत्कारवाद। है पद्मकर वरद।
धर्मप्रतिष्ठामें सिद्ध। अभयहस्त ॥१३॥

विवेकवंत सुविमल। वही सुंड-दंड सरल।
है परमानंद केवल। महासुखका ॥१४॥

अजी संवाद है दशन। जो है समता शुभ्रवर्ण।
देव उन्मेषसूक्ष्मेक्षण। विघ्नराज ॥१५॥

पूर्व उत्तर मीमांसा मान। उसके हैं दो श्रवणस्थान।
मुनिमन बोधामृत पान। करते भ्रमरसे ॥१६॥

प्रमेयप्रवालसुप्रभ। द्वैत अद्वैत हैं निकुंभ।
तुल्यबल हैं जो सुलभ। मस्तक पर ॥१७॥

इस पर हैं दस उपनिषद्। जिसके उदार ज्ञान-मकरंद।
मुकुट पर जो सुमन-सुगंध। सुहाते हैं ऐसे ॥१८॥

अकार चरण युगल। उकार उदर विशाल।
मकार है महामंडल। मस्तकाकार ॥१९॥

जहां ये तीनो हुए एक। शब्दब्रह्म प्रकटा नेक।
गुरु-कृपासे जाना देख। यह आदिबीज ॥२०॥

सरस्वती वंदन—

अजी अभिनव वाग्विलासिनी। जो चातुर्य-अर्थ-कलाकामिनी।
वह है शारदा विश्व-मोहिनी। नमस्कार मेरा ॥२१॥

गुरु-वंदन —

मेरे हृदयमें श्री सद्‌गुरु। जिसने तारा संसार-पूर।
इससे है विशेष आदर। विवेकपे ॥२२॥

जैसे अंजन पड़ा आखोंमें। फूटे नव-अंकुर दृष्टिमें।
लगा टोह दस दिशाओंमें। महानिधिका ॥२३॥

अथवा चिंतामणि आया करमें। सदा विजयवृत्ति बसी मनमें।
वैसे हूं पूर्ण-काम निवृत्तिमें। कहता ज्ञानदेव ॥२४॥

इसीसे श्रीगुरुको भजा जानके। उससे ही सतत-कृतार्थ होके।
सींचनेसे जैसे मूलको वृक्षके। खिलते शाखा-पल्लव ॥२५॥

त्रिभुवनके तीर्थ जिसमें। डूबते हैं सदा सागरमें।
या अमृतके रसास्वादमें। आते रस सकल ॥२६॥

वैसे आगे आगे जो रहता है। नमन किया जिसे श्रीगुरु है।
अभिलषित मनकी रुचि है। पूर्ण करता जो ॥२७॥

महाभारतका वर्णन—

सुनो अब कथा जो गहन। सब कौतुकका जन्मस्थान।
अथवा अभिनव उद्यान। विवेक तरुका ॥२८॥

सभी सुखोंका जो है आदि। सब तत्वोंका महादधि।
नवरसोंका जो सुधाब्धि। है परिपूर्ण ॥२९॥

परमधाम प्रकट। विद्याओंका मूलपीठ।
सभी शास्त्रोंमें जो श्रेष्ठ। अशेषका ॥३०॥

सभी धर्मोंका नैहर। सज्जनोंका है जिव्हार।
लावण्य-रत्न भांडार। शारदाका ॥३१॥

या प्रकटी है त्रिभुवनमें। भारती स्वयं कथा-रूपमें।
स्फुरण होके व्यास-चित्तमें। जो है महामति ॥३२॥

या है यह काव्यराज। ग्रंथ-गुरुत्वका ताज।
रसमें रसत्व आज। आया उमड़ ॥३३॥

सुनो एक और महता। शब्दोंमें आयी शास्त्रीयता।
बढ़ी महाबोध मृदुता। इस ग्रंथसे ॥३४॥

दक्ष हुआ यहां चातुर्य । आया है प्रमेयमें माधुर्य ।
सुखका हुआ है ऐश्वर्य । परिपुष्ट ॥३५॥

माधुर्यमें मधुरता । शृंगारमें सुरेखता ।
प्रथाओंकी सुरूपता । दीखती यहां ॥३६॥

कलामें आयी है कुशलता । वैसे ही पुण्यमें तेजस्विता ।
नष्ट हुये दोष स्वभावता । जनमेजयके ॥३७॥

क्षणभर देखनेसे लगता । रंगमें बढ़ आयी सु-रंगता ।
गुणमें अंकुरायी सुजनता । सामर्थ्य रूप ॥३८॥

भानु-तेजसे धवल । त्रिलोक दीखे उज्वल ।
व्यास-मतिके चंगुल । शोभता विश्वपे ॥३९॥

सु-क्षेत्रमें पड़ा हुआ बीज । अपने आप फैला सहज ।
भारतमें उमड़ा है तेज । पुरुषार्थका ॥४०॥

नगरमें बसा नागरिक । रहता है जैसा सविवेक ।
वैसे व्यासोक्तिसे हुआ नेक । सभी विश्व ॥४१॥

अथवा तारुण्यारंभमें जैसे । खिलती लावण्य कलिका वैसे ।
आता अंगनाके अंगागमेंसे । नित नव बहार ॥४२॥

या वसन्तागमनसे उद्यानमें । आता है बहार प्रति पल्लवमें ।
सौंदर्यकी खान खुलती वनमें । वैसे ही जान ॥४३॥

अथवा घनीभूत सुवर्ण । देखनेमें है जो साधारण ।
दीखे भूषण असाधारण । उसी भांति ॥४४॥

व्यासोक्तिके अलंकारार्थ । इच्छित सौंदर्य प्राप्त्यर्थ ।
इतिहास है आश्रयार्थ । आया भारतके ॥४५॥

या अपनी प्रतिष्ठाके लिये । अल्पत्वको है स्वीकार किये ।
पुराण आख्यान रूप लिये । आये भारतमें ॥४६॥

तभी जो महा-भारतमें नहीं । नहीं है त्रिभुवनमें कहीं ।
कहते हैं सब ही तभी यही । व्यासोच्छिष्ट जगत्त्रय ॥४७॥

जगतमें कथा सरस ऐसी । परमार्थकी है जन्म-भूमि-सी ।
मुनि वाणिसे अमृतमय-सी । सुनी जनमेजयने ॥४८॥

अद्वितीय औ' उत्तम । पवित्र्यैक निरुपम ।
परम मंगलधाम । सुनिये अब ॥ ४९ ॥

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता महिमा—

भारत कमल पराग । गीताख्यानका है प्रसंग ।
कहते हैं स्वयं श्रीरंग । अर्जुनसे ॥ ५० ॥

अथवा शब्द ब्रह्माब्धि । मथ लिया व्यास बुध्दि ।
निचोड़ है निरवधि । नवनीत यह ॥ ५१ ॥

फिर ज्ञानाग्नि -संपर्कसे । तपाया तीव्र विवेकसे ।
हुवा पूर्ण परिपाकसे । सुगंधित घृत ॥ ५२ ॥

विरक्त उसकी अपेक्षा करते । संत उसका अनुभव करते ।
तथा पारंगत रमते रहते । सोऽहं भावमें ॥ ५३ ॥

सुनना उसे भक्तिमें । वंद्य है जो त्रैलोक्यमें ।
कहा है भीष्म-पर्वमें । श्रीहरिने ॥ ५४ ॥

उसको श्रीमद्‌भगवद्‌गीता कहते । ब्रह्मेश उसकी प्रशंसा करते ।
सनकादिक हैं सेवन करते । अति आदरसे ॥ ५५ ॥

जैसे शरद्‌चंद्रकलामें । होते सुधाकण साथमें ।
उठाते कोमल चोंचमें । चकोर-शावक ॥ ५६ ॥

उस पर भी सुन श्रोता । प्रतीत करो यह कथा ।
चितमें अति चेतनता । लाकरके तुम ॥ ५७ ॥

शब्दोंके बिन है बोलना । इंद्रियोंके बिन भोगना ।
बोलके बिन उलझना । प्रमेयोंसे ॥ ५८ ॥

भ्रमर जैसा पराग ले जाते । किंतु कमल दल न जानते ।
इस भांति अनुभव करते । ग्रंथको यहां ॥ ५९ ॥

अथवा अपना स्थान नहीं छोडते । आलिंगन करते चन्द्रोदय होते ।
ऐसा प्रेम भोग भोगना है जानते । कुमुदिनि समान ॥ ६० ॥

ऐसी ही गंभीरतासे । स्थिर अन्त:करणसे ।
जाने जो संपन्नतासे । युक्त मन हो ॥ ६१ ॥

जो हैं अर्जुनके साथ। बैठ सकते हैं सन्त।
कृपया सुने ये बात। दत्त-चित्त हो ॥ ६२ ॥

श्रोताओंको नमन—

आपका हृदय है अति कोमल। तभी निकले हैं ये प्रीतिके बोल।
वैसे मेरी विनय अति सरल। चरण युगलमें ॥ ६३ ॥

जैसे स्वभाव माता-पिताका। तुतलाती बोली सुननेका।
सानंद अपने आपत्यका। वैसे ही यहां ॥ ६४ ॥

वैसे किया मेरा स्वीकार। सज्जनोंने अपनाकर।
कम अधिक क्षमाकर। उपेक्षासे ॥ ६५ ॥

कविकी नम्रता—

किंतु दूसरे ही अपराधका। क्षमा प्रार्थी हूं मैं यहां आपका।
गीतार्थ कथनके प्रयासका। सुनियेजी ॥ ६६ ॥

न सोचकर अपनी क्षमता। चित जो यह साहस करता।
जैसे भानु--तेजमें चमकता। खद्योत वैसे ॥ ६७ ॥

अथवा जैसे टिटहर। सुखाना चाहता सागर।
वैसे अल्पज्ञ यह भार। उठाता है ॥ ६८ ॥

यदि है आकाश लपेटना। उससे अधिक बडा होना।
ऐसा है यह मेरा करना। विचारान्तमें ॥ ६९ ॥

ऐसी है गीतार्थकी महता। शंभु स्वयं कथन करता।
प्रश्न करती भवानी माता। चमत्कृत होके ॥ ७० ॥

शिव कहते हैं उमासे। अथाह तव रूप जैसे।
भगवद्गीता तत्व वैसे। नित्य नूतन ॥ ७१ ॥

यह है वेदार्थ सागर। उस निद्रस्थका है घोर।
कहता यह सर्वेश्वर। प्रत्यक्ष रुपसे ॥ ७२ ॥

ऐसा है जो अगाध। भ्रमते जहां वेद।
वहां मैं मतिमंद। कहूंगा क्या ॥ ७३ ॥

यह अपार कैसे लपेटैगा। महातेजको कैसे उजालेगा।
आकाश कैसे मुट्ठीमें कसेगा। यह क्षुद्र जीव॥ ७४॥

गुरु कृपाकी महिमा—

किंतु यहां है एक आधार। उसीका है मुझे महा-धीर।
अनुकूल है श्रीगुरुवर। कहता ज्ञानदेव॥ ७५॥

नहीं तो मैं अति-मूर्ख। वैसे ही है अविवेक।
सन्त-कृपाका दीपक। करता सोज्वल॥ ७६॥

हो जाता है कनक लोहेका। सामर्थ्य है यह पारसका।
मृतको जीवित करनेका। अमृतमें जैसे॥ ७७॥

प्रकटती जब सरस्वती। गूंगेको भी है वक्ता करती।
केवल वस्तु - सामर्थ्य-शक्ति। अचरज नहीं॥ ७८॥

मैं गुरुकी कठपुतली हूं—

कामधेनु है प्रसन्न जिसे। अप्राप्य नहीं है कछु उसे।
नहीं तो प्रवृत्त होता कैसे। इस कार्यमें मैं॥ ७९॥

अपूर्णको पूर्ण कर लेना। अधिकको न्यून मान लेना।
ऐसे ही मुझे संभाल लेना। विनय है यह॥ ८०॥

अजी! आप अब सुनियेगा। आप कहें सो तुतलाऊंगा।
नचावे वैसा ही मैं नाचूंगा। सूत्रधार जो॥ ८१॥

वैसे मैं अनुगृहित। साधुओंसे निरूपित।
आपसे हूं अलंकृत। अपनत्वमें॥ ८२॥

गुरु प्रसादकी सूचना—

श्रीगुरु कहते अब। न कह तू यह सब।
कर ग्रंथका प्रारंभ। तुरंत ही॥ ८३॥

आज्ञासे निवृत्तिका दास। कहता हो परमोल्हास।
देके मनको अवकाश। सुनो अब॥ ८४॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

मोहग्रस्त धृतराष्ट्रकी जिज्ञासा—

मोहित है जो पुत्र-स्नेहसे। धृतराष्ट्र पूछे संजयसे।
वृत्तांत कहो अति त्वरासे। कुरुक्षेत्रका ॥ ८५ ॥

कहते जिसे धर्म-क्षेत्र। वहां मेरे औ' पांडुपुत्र।
हुये युध्दार्थ जो एकत्र। करते हैं क्या ? ॥ ८६ ॥

तभी उन्होने परस्पर। किया क्या इस अवसर।
कहो जी अब सविस्तर। मुझसे तुम ॥ ८७ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

दुर्योधन उवाच

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा

पवित्र कुरु-क्षेत्रपे हमारे और पांडुके।
लड़ायीके लिये आये हुवा क्या कह संजय ॥ १

संजयने कहा

निहारी पांडवी-सेना सजी कौरवने जब।
तब जा गुरुके पास उनसे बात ये कहीं ॥ २ ॥

दुर्योधनने कहा

गुरुजी आपका शिष्य प्रवीण द्रुपदात्मज।
रचा जो इसने व्यूह देखें पांडव सैन्यका ॥ ३ ॥

युद्धवर्णन—

"सुनो" तब वह संजय बोला। पांडवी सेनाने किया हमला।
जैसे महा - प्रलयमें है फैला। कृतांत मुख ॥ ८८ ॥

सेना मानो महापूर जैसे। चढ आती है जो उग्रतासे।
उबलता कालकूट जैसे। रोके कौन ? ॥ ८९ ॥

अथवा जैसे वड़वानल भड़का। उसको साथ मिला प्रलय-वातका।
उठा जो शोषण करके सागरका। आकाश तक ॥ ९० ॥

ऐसा वह दल दुर्धर। व्यूह रचनामें चतुर।
जिससे अति भयंकर। दीखता है ॥ ९१ ॥

जिसे देखकर दुर्योधन। उपेक्षा करके अनमन।
जैसे न गिनता पंचानन। गज-समूहको ॥ ९२ ॥

गया वह गुरुके पास। बात कही है स-उल्हास।
उछला सेनाका उल्हास। देखो पांडवोंकी ॥ ९३ ॥

गिरि-दुर्ग चलते हैं जैसे। विविध व्यूह बनते वैसे।
रचा अति कुशलतासे। द्रूपद-पुत्रने ॥९४ ॥

किया जो आपने ही शिक्षित। विद्यासे किया है ज्ञानवंत।
रचा सैन्य-सिंह सुशोभित। उसने देखें ॥ ९५ ॥

अत्र शूरा महेश्वासा भीमार्जुन समायुधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

और भी हैं असाधारण। शस्त्रास्त्रमें हैं जो प्रवीण।
क्षात्र-धर्ममें हैं निपुण। अन्यवीर ॥ ९६ ॥

जो हैं बल प्रौढ़ि पौरुषमें। भीम अर्जुनकी समतामें।
कहूंगा मैं इस प्रसंगमें। नाम उनके ॥ ९७ ॥

यहां युयुधानु सुभट। आया वह वीर विराट।
वैसे ही महारथी श्रेष्ठ। द्रुपदराज ॥ ९८ ॥

यहां शूर धनुर्धारी जैसे हैं भीम अर्जुन।
महारथी जो द्रुपद विराट नृप सात्यकी ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवा ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

चेकितान धृष्टकेतु । काशीश्वर है विक्रांत ।
उत्तमौजा नृपानाथ । तथा शैब्य है ॥ ९९ ॥

अजी यहां कुंतिभोज है । युधामन्यु भी आगया है ।
पुरुजित् आदि राजा हैं । सबको देखलें ॥ १०० ॥

यह सुभद्रा हृदय नंदन । पौरुषमें मानो नव अर्जुन ।
हैं अभिमन्यु कहे दुर्योधन । गुरु द्रोणसे ॥ १ ॥

वैसे ही द्रौपदी कुमार । सभी महारथी वीर ।
मैं नहीं जानु हैं अपार । यहां वीर लोग ॥ २ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थे तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपस्य समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

शूर है जो धृष्टकेतु काश्य औ' चेकितान भी ।
पुरुजित् कुंतिभोजीय तथा शैब्य नरोत्तम ॥ ५ ॥

वीर हैं उत्तमौजा भी युधामन्यु पराक्रमी ।
सौभद्र और ये पुत्र द्रौपदीके महारथी ॥ ६ ॥

अपने पक्षके जो हैं सेनाके मुख्य नायक ।
कहता हूं सुने आप आचार्य चित्त देकर ॥ ७ ॥

स्वयं आप तथा भीष्म यशस्वी कृप कर्ण हैं ।
सौमदत्ति अश्वत्थामा जयद्रथ विकर्ण भी ॥ ८ ॥

अब अपने दलके नायक । हैं जो दृढ वीर तथा सैनिक ।
सुनिये सभी ध्यान पूर्वक । कहता हूं मैं ॥ ३ ॥

आप तथा अन्य जो हैं । मुख्य रुपसे दीखते हैं ।
यह केवल संक्षेप है । कहता हूं सुनिये ॥ ४ ॥

यह है भीष्म गंगा नंदन । प्रतापमें हैं भानु समान ।
हैं जो रिपु–गज–पंचानन । कर्ण महावीर ॥ ५ ॥

इसमें एकेकका मनो--व्यापार । करता है विश्वोत्पत्ति औ' संहार ।
यह कृप आचार्य है महावीर । अपर्याप्त हैं क्या ? ॥ ६ ॥

यह विकर्ण भी वीर है । यह अश्वत्थामा खड़ा है ।
हियमें जिसका डर है । कृतांतके भी ॥ ७ ॥

सौमदत्ति है समितिंजय । करने आये मेरी विजय ।
धाता न जाने जिनका शौर्य । ऐसे हैं अनेक ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युध्दविशारदाः ॥ ९ ॥

जो शस्त्र–विद्या पारंगत । तथा मंत्रावतार मूर्त ।
अस्त्रमात्रके जो अभ्यस्त । पूर्ण रुपसे ॥ ९ ॥

अप्रतिम जो मल्ल-जगतमें । पूर्ण प्रताप जिनके तनमें ।
परंतु सर्व-प्राणं जो मुझमें । लगाया है ॥ ११० ॥

जैसे है पतिव्रताका हृदय । पति बिन न स्पर्शे अन्य काया ।
वैसे सर्वस्व है मुझको दिया । इन सुभटोंने ॥ ११ ॥

हमारे कार्य सिध्यर्थ । इन्होने दिया जीवित ।
ऐसे हैं ये स्वामि-भक्त । निस्सीम ॥ १२ ॥

हैं ये युध्द कलामें निपुण । यश प्राप्तिमें दक्ष महान ।
क्षात्र नीतिका है जनन । हुआ इनसे ॥ १३ ॥

अनेक दूसरे वीर मेरे हित सभी तज ।

सजे हैं सब शस्त्रोंसे रणमें दक्ष जो सदा ॥ ९ ॥

ऐसे सर्वांग पूर्ण वीर । अपने दलमें अपार ।
गणनाका नहीं है पार । कहें कितने ॥ ११४ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

सब क्षत्रियमें श्रेष्ठ । विश्व विख्यात सुभट ।
भीष्मने सजाया पीठ । सेनापतिका ॥ ११५ ॥

इन्होंने अपने सामर्थ्यसे । रचाया सेनाके दुर्ग जैसे ।
इनके सम्मुख विश्व जैसे । है कःपदार्थ ॥ ११६ ॥

पहले ही है महासागर । सबको ही है वह दुस्तर ।
फिर वड्वानल प्रखर । विराजा वहां ॥ ११७ ॥

या प्रलय-वन्हि-महावात । दोनोंका हुआ समान साथ ।
ऐसे सैन्यका है गंगा-सुत । सेनापति बना ॥ ११८ ॥

इससे अब कौन लडेगा । पांडव दल ओछा पड़ेगा ।
कहिये उसका क्या चलेगा । इनके सम्मुख ॥ ११९ ॥

भीमसेन बडा बोथा । बना है जो सेनानाथ ।
ऐसा कह कर बात । छोडी उसने ॥ १२० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

पुनरपि बोले दुर्योधन । सुनो बात तुम सभी जन ।
सैन्य सहित हो सावधान । रहे अपना ॥ १२१ ॥

जिसकी जो अक्षोहिणी सेनामें । जिसके साथ भिडेगी रणमें ।
सन्नध्द करो नियत स्थलमें । महारथीके सम्मुख ॥ १२२ ॥

अपार अपनी सेना जो है रक्षित भीष्मसे ।

थोडीसी उनकी सेना जिसका भीम रक्षक ॥ १० ॥

मिला जो जिनको स्थान डटके उस स्थानपे ।

करेंगे भीष्मकी रक्षा सब ही सब ओरसे ॥ ११ ॥

सेना अपनी संभालना । भीष्मके आधीन रहना ।
द्रोणसे कहा जी ! देखना । आप यह सकल ॥ २३ ॥

एककी रक्षा करना । मैं ही हूं ऐसा मानना ।
यही सच्चा है अपना । दल भार सारा ॥ २४ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

राजाकी इस बातसे । भीष्मने भी संतोषसे ।
किया जो महावेगसे । सिंहनाद ॥ २५ ॥

गूंजा जो वह अद्‌भुत । दोनो सेनामें आद्यंत ।
प्रतिध्वनि है ध्वनित । चहूं दिशामें ॥ २६ ॥

उस प्रतिध्वनिके साथ । वीरवृत्तिसे हो ज्वलंत ।
भीष्मदेवने भी घोषित । किया दिव्य शंख ॥ २७ ॥

दोनो ही नाद मिले घोर । मानो हुए त्रिलोक बधिर ।
जैसा पड़ा हो टूट कर । आकाश सर्व ॥ २८ ॥

कंपित हुआ अंबर । उछल उठा सागर ।
प्रक्षुभित चराचर । भयसे महा ॥ २९ ॥

महा घोषसे उठे गजर । जिससे भरे गिरिकंदर ।
हुई सेना सब रणातुर । स्फुरित हो महा ॥ १३० ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

बढाने उनका हर्ष करके सिंह-गर्जन ।
प्रतापी वृद्ध दादाने बजाया शंख जोरसे ॥ १२ ॥
तब है शंख भैर्यादि रणवाद्य विचित्र जो ।
बजे जब सभी साथ हुवा शब्द भयंकर ॥ १३ ॥

रणवाद्य बजे जो एकत्र। भय फैलाते हुये सर्वत्र।
आया हो जैसे प्रलय सत्र। इसी क्षणमें ॥ ३१ ॥

बज उठे बड़े ढ़ोल। शंख झांज जो शिथिल।
भयंकर कोलाहल। सुभटोंका ॥ ३२ ॥

ताल ठोकते आवेशसे। गोहारते त्वेश द्वेषसे।
हाथी घोडे हैं उन्मादसे। अनावर ॥ ३३ ॥

कायरोंकी वहां क्या बात। काच दिल गये उडत।
कांप उठा स्वयं कृतांत। खडा न रहा ॥ ३४ ॥

कितनोंके बैठे हृदय। कितनोंका प्राण ही जाय।
वीरोंकी कांपती है काया। उस नादसे ॥ ३५ ॥

ऐसा भयंकर रण गर्जन। सुन अकुलाया चतुरानन।
प्रलय आ गया क्या इसी क्षण। बोले देव ॥ ३६ ॥

यह बात हुयी स्वर्गमें। आक्रोश देखके रणमें।
यहां है पांडव दलमें। हुआ क्या? ॥ ३७ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंस्दने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

रथ था जो विजय-गर्भका। या भांडार था महातेजका।
और था चार श्वेत अश्वोंका। गरुड समान ॥ ३८ ॥

आया जैसा मेरु पंखोंका। वैसा आया रथ जो बांका।
छितराते दिव्य शोभाका। प्रकाश सर्वत्र ॥ ३९ ॥

अश्व चालक स्वयं भगवान। वैकुंठका जो स्वामी महान।
उस रथका है गुणवर्णन। करना ही क्या ॥ १४० ॥

ध्वज स्तंभ पर वानर। जो है मूर्तिमान शंकर।
सारथी स्वयं शार्गंधर। अर्जुनका ॥ ४१ ॥

यहां धवल घोडोंके महान रथमें बसे।

कृष्ण अर्जुनने फूंके अपने दिव्य शंख भी ॥ १४ ॥

देखो नवल उस प्रभुका। अद्‌भुत प्रेम है जो भक्तोंका।
सारथ्य करता है पार्थका। विश्वपति ॥ ४२ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

पीछे किया है भक्तको। आगे किया अपनेको।
फूंका है पांचजन्यको। लीलासे तब ॥ ४३ ॥

उसका घोष है भयंकर। गूंजत रहा जो चहूं ओर।
जैसे निगलता दिनकर। उगते ही नक्षत्र ॥ ४४ ॥

इसमें डूब गया गर्जन। कौरव दल-रव महान।
जिससे विश्व-कंपायमान। था क्षण पूर्व ॥ ४५ ॥

इसके क्षणकाल बाद। हुआ जो गहरा निनाद।
देवदत्ताका गूंजा नाद। अर्जुनके ॥४६ ॥

दोनो शब्द प्रचंड। गूंजे जब अखंड।
मानो टूटा ब्रह्मांड। शतधा होके ॥ ४७ ॥

उबल उठा तब वृकोदर। जैसे खौला हुआ महासागर।
किया शंखनाद जो भयंकर। पौंड्र नामके ॥ ४८ ॥

अनंतविजयं राजा कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोष मणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

गरजा महाप्रलय जलधर। गूंज उठा शब्द अतीव गंभीर।
तब अनंत विजय युधिष्ठिर। बजाने लगे ॥ ४९ ॥

पांचजन्य हृषीकेश पार्थने देवदत्तको।
बजाया भीमने पौंड्र शंखको बलसे महा ॥ १५ ॥

फूंका अनंतविजय शंख भी धर्मराजने।
वैसे ही माद्रि पुत्रोंने सुघोष मणिपुष्पक ॥ १६ ॥

तथा नकुलने सुघोष। सहदेव मणिपुष्पक।
जिससे हुआ है आतंक। चहूं ओर॥ १५० ॥

काश्यश्च परमेश्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मु पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

वहां भूपति थे अनेक। द्रुपद द्रौपदेयादिक।
और काशीपति देख। महाबाहू जो ॥ ५१ ॥
तथा अर्जुनका सुत। सात्यकि अपराजित।
धृष्टध्युम्न नृपनाथ। औ' शिखंडी भी॥ ५२ ॥
विराट आदि नृपवर। हैं जो सेनाके मुख्य वीर।
अनेक शंख निरंतर। बजाये उन्होंने॥ ५३ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

जिसका हुआ महा गर्जन। विकल शेष-कूर्म महान।
धरणी भारसे हो बेभान। लगे खिसकने॥ ५४ ॥
हुआ जो ब्रह्मांड डांवाडोला। मेरु मंदार हुये चंचल।
उछल उठा सागर जल। कैलासपर॥ ५५ ॥
उलटता क्या पृथ्वीतल। आकाश होगा डांवाडोल।
टूटते हैं तारे सकल। ऐसा लगा ॥ ५६ ॥

काशीराज धनुर्धारी शिखंडी भी महारथी।
विराट और सेनानी अपराजित सात्यकी ॥ १७ ॥
द्रुपद द्रौपदी पुत्र अजानु अभिमन्युने।
फूंके हैं सबने शंख अपने भिन्न भिन्न जो ॥ १८ ॥
उस गर्जनसे टूटा कौरवोंका हृदय ही।
भरके भूमि आकाश गरजा जो भयंकर ॥ १९ ॥

यह सब सृष्टि गयी रे गयी। देवोंको निराधार स्थिति आयी।
ऐसी बडी हीगड़बडी हुयी। सत्यलोकमें ॥ ५७ ॥

दिनमें ही रुका भास्कर। जेसै प्रलयका प्रकार।
जिससे हुआ हाहाकार। त्रिभुवनमें ॥ ५८ ॥

तब हुआ आदि पुरुष विस्मित। कहता होता क्या अब विश्व-अंत।
किया है लोप वह रव अद्भुत। स-संभ्रम ॥ ५९ ॥

इससे हुआ है विश्वका रक्षण। नहीं तो आया था प्रलयका क्षण।
शांत हुआ शंख ध्वनि विलक्षण। कृष्णार्जुनका ॥ १६० ॥

यदि हुआ वह गर्जन शांत। फिर भी रहा गूंजत सतत।
जिससे रण भूमिमें है हत। हुआ कौरवदल ॥ ६१ ॥

जैसे गज समूहके अंदर। सिंह करता लीलासे संहार।
वैसे टूटे हैं हृदय गव्हर। कौरव दलके ॥ ६२ ॥

जब वे यह गूंजन सुनते। उनके हृदय सब कांपते।
वे सब परस्पर हैं कहते। सावधरे सावध ॥ ६३ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥

सेनाके पराक्रमी वीर। महारथी औ' महाशूर।
उन्होंने दिया पुनः धीर। अपनी सेनाको ॥ ६४ ॥

क्षोभसे हुई हैं लड़नेमें सिद्ध। अत्युत्साहसे उछली हो सन्नध्द।
सेनाका क्षोभ देख हुआ है विद्ध। लोकत्रय सब ॥ ६५ ॥

बाणोंका वर्षा धनुर्धर। करते हैं जो निरंतर।
बरसते हैं जलधर। प्रलय कालके ॥ ६६ ॥

फिर सीधा खडा सारा कुरु सैन्य व्यवस्थित।
चलते हैं अभी शस्त्र इतनेमें कपिध्वज ॥ २० ॥

उल्हसित अर्जुनका सेनावलोकन—

देखकर वह अर्जुन। होकर उल्हसित मन।
लगाये उत्सुक नयन। सेनापर ॥ ६७॥

संग्राममें सब सावधान। खडे सर्वत्र कौरव जन।
लीलया लिये तीर कमान। पार्थने तब ॥ ६८॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापयमेऽच्युत ॥ २१ ॥

पार्थने की कृष्णसे प्रार्थना। प्रभु मेरे रथको हांकना।
बीचमें वह खड़ा करना। दोनों दलके ॥ ६९॥

यावदेतान् निरिक्षेऽहं योध्दुकामानवस्थितान्
कैर्मयासह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्रसमागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुध्देर्युध्दे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

तब मैं क्षण एक। सब वीर सैनिक।
देखूंगा ये अशेष। जो हैं झुंजार ॥ ७०॥

यहां सभी जो ये आये हैं। मुझे लडना किससे है।
मुझको यह देखना है। इसीलिये ॥ ७१॥

हाथमें धनुष्य लेके बोला कृष्णसे वाक्य ये।

अर्जुनने कहा

दोनों सेना मध्य देव मेरा रथ खडा कर ॥ २१ ॥

देखूंगा मुझसे कौन करता युद्ध कामना।
रण-संग्राममें आज किससे जूझना मुझे ॥ २२ ॥

जुझावू वीर जो सारे देख लेता यहां सभी।
यहां उस कुबुद्धिके करना चाहते प्रिय ॥ २३ ॥

यहां हैं सारे कौरव। आतुर जो दुःखभाव।
मारते हैं हाथ पांव। पुरुषार्थ हीन ॥ ७२ ॥

करते हैं ये युध्द कामना। न जाने स्थिरतासे लड़ना।
सुनोजी संजयका कहना। अब राजासे ॥ ७३ ॥

संजय उवाच
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

पार्थका कर शब्द श्रवण। रथको खडा किया तत्क्षण।
दोनों दलके बीच समान। श्रीकृष्णने तब ॥ ७४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति ॥ २५ ॥

यहां भीष्म-द्रोणादिक। आत्मीय जन सम्मुख।
अन्य नृपति अनेक। खडे हैं जो ॥ ७५ ॥

यहां स्थिर कर रथ। देखता रहा है पार्थ।
सेना समूह समस्त। उमंगसे ॥ ७६ ॥

कहता है देव! देख देख। हैं ये कुलगुरु अशेष।
विस्मय हुआ क्षण एक। सुन श्रीकृष्ण ॥ ७७ ॥

कृष्ण बोले मनमें अपने। इसके मनका कौन जाने।
मनमें सोचा क्या है इसने। अचरज है ॥ ७८ ॥

उसने किया भावी अनुमान। हृदयस्थको है सबका ज्ञान।
किंतु रहा उस समय मौन। कुछ न बोल ॥ ७९ ॥

संजयने कहा

यह अर्जुनका वाक्य सुन श्रीकृष्ण शीघ्र ही।
मध्यमें उन सैन्योंके लाया उत्तम जो रथ ॥ २४ ॥

फिर निहारके ठीक भीष्म द्रोणादि जो नृप।
कहता है जुटे पार्थ देखो कौरव तू सब ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

तब वहां पार्थ सकल। पित्र पितामह केवल।
गुरुबंधु सखा मातुल। देखने लगा ॥ ८० ॥

इष्ट मित्र आप्त। पुत्रादि समस्त।
आये हैं युध्दार्थ। सेनामें सब ॥ ८१ ॥

सुऱ्हृद्जन श्वशुर। अन्य भी हैं सखा वीर।
पुत्र पौत्रादि कुमार। धनुर्धर जो ॥ ८२ ॥

जिन्होने उपकार किये थे। संकटमें जो काम आये थे।
श्रेष्ठ कनिष्ठ सभी जन थे। वहां सारे ॥ ८३ ॥

कुल सर्वस्व दोनो दलमें। आया था जो लडने रणमें।
देखा सब उस समयमें। पार्थने वहां ॥ ८४ ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्

मनमें वहां गडबड हुयी। सहज भावसे करुणा आयी।
अपमानसे वीरवृत्ति गयी। उसको छोड़ ॥ ८५ ॥

होती है जो उत्तम कुलकी। मूर्ति मानो गुण लावण्यकी।
वह नहीं रहती अन्याकी। तेजस्वितासे ॥ ८६ ॥

अर्जुनकी करुणा—

नवीनाके चावसे है जैसे। कामासक्त हठता पत्नीसे।
चसका लगता है भ्रमसे। वैसेही ॥ ८७ ॥

तब अर्जुनने देखा खडे हैं सिद्ध हो कर।
दादा चाचा तथा मामा सगे संबंधि औ' सखा ॥ २६ ॥
गुरुबंधु पुत्र पौत्र खडे स्वजन हैं सभी।
सबको देख कौंतेय रणमें जो स्वबांधव ॥ २७ ॥

अथवा तपोबलसे ऋध्दि। पाकर भृंश होती है बुध्दि।
फिर उसे विरक्ति औ' सिध्दि। भूल जाती॥ ८८॥

ऐसा हुआ वहां अर्जुनका। गया पुरुषत्व जो उसका।
दिया दान अन्तःकरणका। करुणाको॥ ८९॥

बर्रानेसे जैसे मंत्रज्ञमें। भूत संचार होता तनमें।
वैसे अर्जुन महामोहमें। डूब गया॥ १९०॥

जिससे गया उसका धैर्य। द्रवने लगा उसका हिय।
द्रवता जैसा चांदनीमें काय। सोमकांतका॥ ९१॥

वैसा ही है वह पार्थ। अतिस्नेहसे मोहित।
कहता सखेद बात। अच्युतसे॥ ९२॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥

सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

कहता वह सुनो कृष्ण। यहां गोत्र वर्ण संपूर्ण।
करने आया है जो रण। देखता मैं॥ ९३॥

अत्यंत करुणाग्रस्त शोकसे बोलने लगा।

अर्जुनने कहा

कृष्ण स्वजन हैं सारे रणमें देख उत्सुक॥ २८॥

होते शिथिल हैं गात्र वैसे ही मुख सूखता।
शरीर कांपता सारा रोम रोम हुये खडे॥ २९॥

छोड़ता हाथ गांडीव जलती है सभी त्वचा।
असह्य है खड़ा होना मन ही भ्रमता सब॥ ३०॥

रणमें ये अति उद्यत । लड़ने आये हैं समस्त ।
किन्तु हमें यह उचित । होगा क्या ॥ १४ ॥

इस लढ़ाईके विचारसे । कसमसाता तन मनसे ।
अस्थिर हूं मन औ' बुद्धिसे । इस क्षणमें ॥ १५ ॥

देखो कांपता है तन । शुष्क हुवा है वदन ।
शिथिल सारे करण । हुये मेरे ॥ १६ ॥

मन मेरा अति व्यग्र । खडे हैं सारे रोमाग्र ।
गला गांडीव समग्र । हाथ हैं लूले ॥ १७ ॥

न पकडते वह खिसका । न जानते छूटा है हाथका ।
हृदय हुवा महा-मोहका । घर ही मानो ॥ १८ ॥

वज्रसे वह कठिण । दुर्धर अति दारुण ।
उससे असाधारण । यह स्नेह ॥ १९ ॥

जीता जिसने रणमें शिवको । मिटाया है निवात कवचको ।
स्नेहने लपेटा उसी पार्थको । क्षणभरमें यहां ॥ २०० ॥

भेदता रहता भ्रमर जैसे । अति कठिण काष्ठ भी लीलासे ।
फंसता कमल-कलिमें जैसे । अति कोमल ॥ १ ॥

वहां प्राण भी निकल जायेगा । किन्तु न कमल चीरा जायेगा ।
कोमलपन ही कठिण होगा । स्नेहका ऐसा ॥ २ ॥

यह है आदि पुरुषकी माया । ब्रह्मा भी इसे समझ न पाया ।
तभी झुलाया अर्जुनको राया । कहता है संजय ॥ ३ ॥

सुनो फिर वह अर्जुन । देख कर सारे स्वजन ।
भूल गया है अभिमान । युद्धका जो ॥ ४ ॥

न जाने कैसी करुणा । स्पर्शी है अन्तःकरणा ।
तव कहे वह कृष्ण । चलो यहांसे ॥ ५ ॥
मन मेरा अति व्याकुल । कांपता है तन सकल ।
वाचा होती है अनर्गल । इससे मेरी ॥ ६ ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

युद्ध पारांग्मुखता

वध्य हैं यदि कौरवादिक। क्यों न बंधु युधिष्ठिरादिक।
सभी हैं एकसे सगोत्रिक। एकत्र यहां ॥ ७ ॥

लगता तभी मिटा दो रण। नहीं करता है मेरा मन।
यह है सब मूल कारण। महापापका ॥ ८ ॥

देव ! कैसे ही देखने पर। लड़ना है बुराईका घर।
न लडें यदि हम आखिर। भला है सबका ॥ ९ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

न चाहूंगा विजय वृत्ति। न चाहूंगा राज्य औ' कीर्ति।
उससे क्या मिलेगी शांति। कह तू यह ॥ २१० ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युध्ये प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

मार कर इन सबको। भोगना है जिन भोगोंको।
जलने दे उन सबको। कहता अर्जुन ॥ ११ ॥

आने दो कैसी ही स्थिति। सहेंगे विषम विपत्ति।
बुझें न क्यों जीवन-ज्योति। उस पर भी ॥ १२ ॥

कृष्ण मैं देखता सारे सभी अशुभ लक्षण ।
कोयी न दीखता श्रेय यहां स्वजन घातसे ॥ ३१ ॥

न चाहूं जय औ' राज्य वैसे ही सुख भोग भी ।
राज्यमें या भोगमें क्या है जीनेमें भी धरा यहां ॥ ३२ ॥

जिनके हित है सारा राज्य भोग सुखादि जो ।
वेही युद्धार्थ हैं सिद्ध धन प्राणादि त्याग के ॥ ३३ ॥

अपनोंका घात करना। फिर राज्य-सुख भोगना।
मेरा यह सोच सकना। स्वप्नमें भी असंभव ॥ १३ ॥

गुरु जनोंका अहित करना। तो किसके लिये है जनमना।
तथा किसके लिये कहू जीना। शत्रुबुध्दिसे ॥ १४ ॥

पुत्रको चाहता है कुल। उसका क्या यही है फल।
गोत्र-जन वध केवल। करना है क्या ॥ १५ ॥

वज्र सम है यह कठोर। कैसा करे इसका उच्चार।
हमें करना मंगल कर। यथा संभव ॥ १६ ॥

हमको है जो जो करना। इन्ही सबको है भोगना।
प्राण निछावर करना। इनके हित ॥ १७ ॥

बनकर विश्वके भूपाल। जीत करके विश्व सकल।
रखना है अपना ही कुल। संतुष्ट सदा ॥ १८ ॥

वही है यहां समरत। कैसा कर्म विपरीत।
हुए वे सब उद्यत। युध्द करने ॥ १९ ॥

त्यज कर ये परिवार। वैसे ही गृह औ' भांडार।
शस्त्राग्रपे रख तैयार। हुए हैं प्राण ॥ २० ॥

ऐसोंको मैं कैसे मारुं। किन पर शस्त्र धरुं।
अपने हियका करूं। घात कैसा ॥ २१ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः संबंधिनतस्तथा ॥ ३४ ॥

तू न जानता क्या ये हैं कौन। सम्मुख खडे हैं भीष्म द्रोण।
इनके उपकार महान। हैं हमपर ॥ २२ ॥

वैसे साले श्वशुर मातुल। तथा अन्य बंधु हैं सकल।
पुत्र पौत्र हैं अति केवल। आप्त जन सारे ॥ २३ ॥

दादा बाबा पुत्र पौत्र अपने दीखते यहां।
गुरु औ' ससुरा साला सगे स्वजन हैं सभी ॥ *३४ ॥

सुनो हैं ये अतीव निकटके । आप्त जन सब परिवारके ।
इन्हे कटु बोलें तभी पापके । भागी हैं हम ॥ २४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

चाहे सो इन्हे करने दो । हमको अभी मारने दो ।
किंतु मनमें न लाने दो । इनका अहित ॥ २५ ॥

मिले यदि विश्व साम्राज्य । तब भी हमें यह वर्ज्य ।
कार्य अनुचित जो त्याज्य । नहीं करुंगा ॥ २६ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

यदि आज हम ऐसा करेंगे । कौन हमारा आदर करेंगे ।
तेरा दर्शन भी कैसा करेंगे । कह श्रीकृष्ण ॥ २७ ॥

वध करनेसे गोत्र जनोंका । घर बनके महा-पापका ।
खोऊंगा मैं तुझको हाथका । जो है अपना ॥ २८ ॥

कुल नाशके पापसे । पूर्णता डूब जानेसे ।
देखूंगा मैं तुझे कैसे । इस भांति ॥ २९ ॥

जैसे उद्यानमें अनल । लगा देख अति प्रबल ।
क्षण भी न रहे कोयल । स्थिर वैसे ॥ २३० ॥

स-कर्दम सरोवर । देख करके चकोर ।
करे उसका अव्हेर । वैसा ही तू ॥ ३१ ॥

अजी ओ मेरे देवराय ! । मिटनेसे पुण्य-संचय ।
छोड़कर होग अदृश्य । हमसे तब ॥ ३२ ॥

इन्हे न मारना चाहूँ यदि ये मारते मुझे ।
विश्व-साम्राज्य छोडूंगा पृथ्वीकी बात क्या भला ॥ ३५ ॥

घातसे कौरवोंका है क्या होगा अपना हित ।
भले ये आततायी हैं इनका घात पाप है ॥ ३६ ॥

तस्मान् नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान् स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनःश्याम माधव ॥ ३७ ॥

इसीसे म यह नहीं करूंगा । रणमें शस्त्र नहीं उठाऊंगा ।
क्यों कि मुझे यह युध्द प्रसंग । दीखता निंद्य ॥ ३३ ॥

तुझसे ही जब वियोग होगा । भला तब हमारा क्या रहेगा ।
उस दुखसे हृदय फटेगा । तेरे बिन श्रीकृष्ण ॥ ३४ ॥

तब कौरव वध होगा । हमें राज्य–भोग मिलेगा ।
यह सारा अशक्य होगा । कहता है पार्थ ॥ ३५ ॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापदस्मान् निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अभिमान मदसे भूलकर । यदि आये ये रणभूमिपर ।
कैसा होगा यहां मंगलकर । यह देखना होगा ॥ ३६ ॥

ऐसा कैसा यह करना । अपनोंको आप मारना ।
जानबूझकर है लेना । विष कालकूट ॥ ३७ ॥

अजी कभी राह चलते । यदि कहींसे सिंह आते ।
उसको टालकर जाते । इसीमें भला है ॥ ३८ ॥

तथैव घात बंधूका हमें योग्य नहीं कभी ।
घातसे स्वजनोंके क्या जीयेंगे सुखसे हम ॥ ३७ ॥

लोभसे नष्ट है बुद्धि जिससे ये न जानतें ।
कुलके क्षयका पाप तथा क्या मित्र-द्रोहका ॥ ३८ ॥

पापसे बचना ऐसे न सोचें क्या भला हम ।
कुलक्षय महा-दोष दीखता स्पष्ट ही यहां ॥ ३९ ॥

प्राप्त प्रकाशको छोड़ना । अंधकूपमें फिर जाना ।
उससे है क्या लाभ होना । कहो देव ।। ३९ ।।

आगको सम्मुख देख कर । गये न उसको लाघकर ।
क्षणमें वह लपटेकर । जला देगा ।। २४० ।।

वैसे दोष असाधारण । घेरते हैं हमको पूर्ण ।
जानकर भी आचरण । करना कैसे ।। ४१ ।।

पूछ कर इतना बोले पार्थ । सुनो देव इसका मतितार्थ ।
कहूंगा इस पापका अनर्थ । अब तुझसे ही ।। ४२ ।।

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

जेसे लकडीका घर्षण । उपजाता अग्नि महान ।
उससे जल जाता इंधन । प्रज्वल होके ।। ४३ ।।

कुलमें वैसे परस्पर । वध किया तो स-मत्सर ।
उससे महादोष घोर । कुलघातका होगा ।। ४४ ।।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषुदुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।। ४१ ।।

इससे है ऐसा पाप । करें कुल-धर्म लोप ।
बढ़ता अधर्म व्याप । कुलमें ही ।। ४५ ।।

इससे सारासार विचार । किसके कैसे क्या है आचार ।
मिट जाते हैं मूल आधार । विधि-निषेधके ।। ४६ ।।

कुलके क्षयसे नाश कुल-धर्म सनातन ।
अधर्म फैलता सारा कुलके धर्म-नाशसे ।। ४० ।।

अधर्म फैल जानेसे भ्रष्ट होती कुल-स्त्रियां ।
स्त्रियोंके भ्रष्ट होनेसे होता है वर्ण-संकर ।। ४१ ।।

बुझाकर हाथका दीप । तममें चलनेसे आप ।
टकराये अपने आप । स्वाभाविक ॥ ४७ ॥

वैसा कुलक्षय जब होता । कुलमें आद्य-धर्म मिटता ।
कहो तब वहां क्या होता । पापके बिन ॥ ४८ ॥

छूटते हैं तब यम औ' नियम । टूटता मन-इंद्रियोंका संयम ।
घडता है व्यभिचारका कुकर्म । कुलस्त्रियोंसे ॥ ४९ ॥

उत्तममें अधमका संस्कार होता । इस भांति वर्ण अवर्गमें घुलता ।
तब है मूल सहित उखड जाता । संस्कृति धर्म ॥ ५० ॥

जैसे चौराहेके बलि पर । उडते हैं काग चहूं ओर ।
वैसे हैं दोष घुसते घोर । सत्कुलोंमें ॥ ५१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्त पिंडोदक क्रिया ः ॥ ४२ ॥

फिर उस पूर्ण कुलको । तथा उस कुलघातिको ।
नरक मिला दोनोंको । इसको जान ॥ ५२ ॥

वंश विस्तार ही समस्त । होता जाता है जो पतित ।
गिरते पूर्वज स्वर्गस्थ । इससे सभी ॥ ५३ ॥

लोप होते जहां नित्य--कर्म । फिर कैसे नैमित्तिक धर्म ।
कहां रहे तब श्राध्द कर्म । किसके लिये ॥ ५४ ॥

नखाग्रमें डसनेसे साप । शिखाग्रतक विषका व्याप ।
वैसे आब्रह्म डूबता आप । समूचा कुल ॥ ५५ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

इससे नर्कमें जाता कुलघ्नों सह है कुल ।
पितरोंका अधःपात होता है श्राद्ध लोपसे ॥ ४२ ॥

दोषसे है कुलघ्नोंके होता है वर्ण-संकर ।
डूबते जातिके धर्म कुल धर्म सनातन ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुमः ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

सुन प्रभुजी वचन एक । यहां घडता महापातक ।
जिस संग दोषसे लौकिक । पाता है भ्रांति ॥ ५६ ॥

जैसे है अपने घरको । लगी आग सब गांवको ।
निगलती है सर्वस्वको । जला करके ॥ ५७ ॥

वैसे ही उस कुल संगतिसे । दूसरे जनके बरतनेसे ।
उनके ऐसे हीन संसर्गसे । फैलते हैं दोष ॥ ५८ ॥

ऐसे नाना दोषोंका सकल । भांडार होता है ऐसा कुल ।
कहता पार्थ उसे केवल । नरक भोग घोर ॥ ५९ ॥

उस स्थानमें हुआ पतन । न होता कल्पांतमें उत्थान ।
कुलक्षयका पाप महान । अर्जुन कहता ॥ ६० ॥

अजी सुनके यह कानसे । घिन नहीं की तूने चितसे ।
कठोर किया हिय वज्र-से । कृष्ण तूने ॥ ६१ ॥

अपेक्षा है क्यों राज्य औ' सुख । जिसके लिये वह क्षणिक ।
जानकर भी यह ये दोष । नहीं त्यजना क्या ? ॥ ६२ ॥

आये यहां अपने कुलके श्रेष्ठ । हमने देखा शत्रु दृष्टिसे भृष्ट ।
नहीं क्या यह महादोष अनिष्ट । किया हमने ॥ ६३ ॥

जिनके कुलके धर्म डूबते उनको नित ।
होता नरकमें वास सुनते हैं यही हम ॥ ४४ ॥

कैसा यह महापाप करने जा रहे हम ।
मारना स्वजनोंको भी राज्यके सुख लोभसे ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्र शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

इस पर भी क्या है जीना । उससे भला चुप होना ।
शस्त्र छोडकर सहना । इनके तीर ॥ ६५ ॥

इससे जो कुछ होगा । मरनेमें भला होगा ।
यह पाप नहीं होगा । कभी मुझसे ॥ ६६ ॥

ऐसा देखकर सकल । अर्जुनने अपना कुल ।
कहा तब राज्य केवल । है नरकवास ॥ ६७ ॥

संजय उवाच
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

उस समयमें ऐसे । अर्जुन बोला कृष्णसे ।
संजय कहे राजासे । सुनियेजी ॥ ६८ ॥

अति उद्वेगसे ऐसे फिर । खिन्न मन गद्‌गद होकर ।
कूद कर आया पृथ्वी पर । रथसे वह ॥ ६९ ॥

राज कुवर ऐसा पदच्युत । होकर के सर्वथा उपरत ।
या जैसे रवि हो राहुग्रस्त । हुआ हतप्रभ ॥ २७० ॥

अथवा महासिद्धिके भ्रममें । तापस उलझा मोहजालमें ।
तथा फंस कामना भंवरमें । हुआ है दीन ॥ ७१ ॥

इससे तजके शस्त्र रहना शांत होकर ।
मारेंगे फिर शस्त्रोंसे रणमें मुझे कौरव ॥ ४६ ॥

संजयने कहा

रणमें कहके ऐसा शोकाकुल धनंजय ।
डाल कर सभी शस्त्र रथमें बैठ ही गया ॥ ४७ ॥

तैसा वह धनुर्धर। दुःखावेगसे जर्जर।
रथको था जो सुंदर। दिया छोड ॥ ७२ ॥

तथा छोड तीर कमान। करते अश्रुपात नयन।
राजन् सुनो यह कथन। बोला संजय ॥ ७३ ॥

दूसरे अध्यायकी प्रस्तावना —

इस पर वैकुंठ नाथ। देखके खेद-मूर्ती पार्थ।
किस भांतिका परमार्थ। कहेगा भला ॥ ७४ ॥

सविस्तर करेगा वर्णन। सकौतुक कहेगा कथन।
कहेगा ज्ञानदेव वचन। निवृत्तिदास ॥ ७५ ॥

गीता श्लोक ४७

ज्ञानेश्वरी ओवी २४७.



२

सांख्य योग

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अर्जुनकी मनोदशा

संजयने कहा राजासे । पार्थने साश्रु नयनसे ।
अति शोकाकुल होनेसे । किया रुदन ॥ १ ॥

स्वकुल देखकर समस्त । स्नेह उपजा अत्यद्भुत ।
उससे द्रवित हुवा चित्त । इस प्रकार ॥ २ ॥

जलमें घुलता जैसे नून । अथवा हिलता वातसे घन ।
ऐसे वह दृढ अन्तःकरण । हुवा द्रवित ॥ ३ ॥

मोहाधीन होनेसे वह ऐसा । दिखाया जैसा मुरझाया-सा ।
कीचमें फंसा हुआ-सा जैसा । राजहंस ॥ ४ ॥

इस भांति वह पांडुकुमार । महामोहमें हो अति जर्जर ।
खड़ा देख उसे श्रीशार्गधर । बोले ऐसा ॥ ५ ॥

संजयने कहा

ऐसा जो करुणाग्रस्त अधीर अश्रु-पूरित ।
करता था जभी शोक उससे कृष्णने कहा ॥ १ ॥

भगवान उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

कृष्णका उपदेश—

कहे हरि सोचलो तुम अर्जुन । शोक करने योग्य क्या यह स्थान ।
तूं कौन है क्यों आया है यह जान । औ' करता क्या है ? ॥ ६ ॥

तुझे हुआ क्या है ? । क्या न्यून आया है ? ।
औ' करना क्या है ? । खेद क्यों ? ॥ ७ ॥

कभी न सोचना तू असंगत । न छोड़ना कभी धैर्य उदात्त ।
भागे तुझसे अ-यशकी बात । कोसों दूर ॥ ८ ॥

तू है शौर्य-वृत्तिका स्थान । क्षत्रियोंमें अति महान ।
तेरी कीर्ति-कथाका गान । त्रिभुवनमें ॥ ९ ॥

तूने जीता रणमें शिवको । मिटाया निवात कवचोंको ।
तथा हराया है गंधर्वोंको । पराक्रमसे ॥ १० ॥

देखनेसे यह तेरे सम्मुख । दीखते हैं बौने ये तीनों लोक ।
ऐसा है पौरुषका लौकिक । अर्जुन तेरे ॥ ११ ॥

ऐसा तू इस स्थान पर । वीर-वृत्तिको छोड़कर ।
दीन-सा अधोमुख होकर । रोता रहा है ॥ १२ ॥

कैसे विषम वेलामें सूझा पाप यह तुझे ।
न सोहता बडोंको जो देता दुष्कीर्ति दुर्गति ॥ २ ॥

न हो निर्वीर्य तू पार्थ तुझे न शोभता यह ।
अपनी दुबली वृत्ति छोडके उठ तू अब ॥ ३ ॥

सोचकर देख तू अर्जुन । किस करुणासे उदासीन ।
कहो अंधेरेमें कैसे भानु । ढका आज ॥ १३ ॥

डरता क्या मेघसे पवन । है क्या अमृतको भी मरण ।
निगलता आगको इंधन । सोचले तू ॥ १४ ॥

या नमकसे क्या पानी पिघलेगा । अन्य स्पर्शसे कालकूट मरेगा ।
अथवा महाशेषको निगलेगा । मंडूक अल्प ॥ १५ ॥

सिंहसे भिडे क्या जंबूक । ऐसा हुवा क्या अलौकिक ।
दिखाया है सच कौतुक । तूने आज ॥ १६ ॥

इसलिये सुन अर्जुन । न होने दो चितको दीन ।
धैर्य दो मनको तत्क्षण । सावध होके ॥ १७ ॥

छोड़ दो यह अज्ञान । उठालो तीर कमान ।
रणमें किसका कौन । कारुण्य कैसे ॥ १८ ॥

तू है बड़ा जानकार । रणमें दया विचार ।
करना ऐसा अपार । उचित है क्या ॥ १९ ॥

इससे कीर्तिका नाश । परलोक अपभ्रंश ।
कहता जगन्निवास । अर्जुनसे ॥ २० ॥

इसीलिये शोक न कर । मनमें तू धीरज धर ।
तज दे तू पांडुकुमार । इस शोकको ॥ २१ ॥

तुझे नहीं यह उचित । इसमें अकीर्ति बहुत ।
अब भी तू अपना हित । सोचले ठीक ॥ २२ ॥

संग्राम समयमें ऐसे । करुणासे हित हो कैसे ।
आप्त हुये क्या ये अभीसे । कहो मुझे ॥ २३ ॥

पहलेसे क्या जानता नहीं । संग्राम है कुल-जनसे ही ।
करता है यह अ-कारण ही । शोक तू पार्थ ॥ २४ ॥

यह संघर्ष नहीं आजका । यह चला है जन्म कालका ।
आज ही क्यों ऐसा करुणाका । पुलक उठा ॥ २५ ॥

अब ही क्या है हुआ ऐसा । आया यह तरस कैसा ।
अर्जुन यह विचित्र-सा । किया अनुचित ॥ २६ ॥

इस मोहसे ऐसा होगा । नाम जो था वह मिटेगा ।
परलोक साथ जायेगा । लौकिकके ॥ २७ ॥

शिथिलता ऐसी हृदयकी । कारण होगी जो अहितकी ।
जानो संग्राममें पतनकी । क्षत्रियोंके ॥ २८ ॥

ऐसा वह कृपावंत । सिखाता है जो सतत ।
सुन यह पांडुसुत । बोले ऐसा ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ वरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनका प्रत्युत्तर—

देव सुनोजी इतना । कारण नहीं बोलना ।
अपनेमें ही सोचना । यह युद्ध है क्या ॥ ३० ॥

युद्ध नहीं यह अपराध । करना है कुलका उच्छेद ।
करना पडा यह प्रमाद । हमको यहां ॥ ३१ ॥

माता पिताका वंदन । देना उन्हे समाधान ।
छोड़ करना हनन । उचित है क्या ॥ ३२ ॥

सन्त-वृंदका करे वंदन । हो सके तो करना पूजन ।
छोड़ सुनाना निंदा वचन । उचित है क्या ? ॥ ३३ ॥

हमारे कुल-गुरु ये ऐसे । वंदनीय हमें नियमसे ।
हमें पूज्य भीष्म द्रोण वैसे । सदा सर्वत्र ॥ ३४ ॥

जिनका वैर न करता है मन । स्वप्नमें भी यह असंभव जान ।
उनका करना प्रत्यक्ष हनन । कैसे देव ॥ ३५ ॥

रणमें मैं लडूं कैसे विरुद्ध भीष्म-द्रोणके
कैसे मारुं इन्हे बाण हमें ये पूजनीय हैं ॥४॥

अजी जलने दो ऐसा जीवन। सबका हुआ क्या अंत:करण।
वधमें क्या क्षात्रत्व- अभिमान। गुरुजनोंके ।। ३६ ।।

पार्थका गुरु है यह द्रोण। दिया धनुर्विद्याका शिक्षण।
है क्या उसकी यह दक्षिणा। वध करना ।। ३७ ।।

जिसकी कृपासे मिला वर। उसीसे मनमें अभिचार।
ऐसां बनुं क्या मैं भस्मासुर। कहता अर्जुन ।। ३८ ।।

गुरुनहत्वा हि महानुभावान
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान ।। ५ ।।

देव गंभीर होता सागर। वह भी है ऊपर ऊपर।
न क्षोभता हृदय सागर। द्रोणका कभी ।। ३९ ।।

अपार यह गगन। उसका भी होगा भान।
अगाध अति गहन। है द्रोण हृदय ।। ४० ।।

अमृत भी बिगडेगा। वज्र भी टूट जायेगा।
किंतु दोष न आयेगा। इनके मनमें ।। ४१ ।।

ममता होती है माताकी। ख्याति है इस बातकी।
किंतु मूर्ति है ममताकी। द्रोणाचार्य ।। ४२ ।।

ये हैं कारुण्यके आगर। सकल गुणोंके सागर।
विद्या सिंधु हैं ये अपार। कहता पार्थ ।। ४३ ।।

ऐसे हैं ये महान महत। हमसे हैं अति कृपावत।
अब कहो क्या करना घात। असंभव यह ।। ४४ ।।

न मारके पूज्य आचार्य श्रेष्ठ
जीना भला है भिक्षान्नसे ही।
हितेच्छुओंके वधसे ये भोग
किस भांति भोगें जो रक्त सिक्त ।। ५ ।।

ऐसोंको रणमें मारना । फिर राज्य सुख भोगना ।
इसका विचार करना । है असंभव ॥ ४५ ॥

दूभर है राज्य भोग भोगना । इंद्रपद भी ग्रहण करना ।
इससे अधिक भला हैं जीना । भिक्षान्नसे ही ॥ ४६ ॥

न तो देश- त्याग कर जाना । गिरी-कंदरामें जा बसना ।
करमें शस्त्र नहीं धरना । इनके सम्मुख ॥ ४७ ॥

पैने शस्त्रोंसे मर्म-स्थान । करना इनका भेदन ।
फिर इनके खूनमें सान । पाना भोगैश्वर्य ॥ ४८ ॥

रक्त-सिक्त वे ऐसे । भोग भोगना कैसे ।
न जंचे मुझे ऐसे । वचन तेरे ॥ ४९ ॥

दीन अर्जुनकी अनन्य शरणता—

उस समयमें अर्जुन । कहता है कृष्ण तू सुन ।
किंतु वह न देता कान । सुन करके भी ॥ ५० ॥

यह जानकर चौंका अर्जुन । फिरसे बोला अपना वचन ।
देता नहीं तू देव अवधान । मेरी बात पर ॥ ५१ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

जो विचार मेरे मनमें । बोला मैं वह इस स्थानमें ।
अब है भला जो करनेमें । जाने वह तू ही ॥ ५२ ॥

होगी हमारी जय या उन्हीकी
किसमें भलायी यही न जानुं ।
हत्यासे जिनके जीना न चाहूं
वही खडे हैं युद्धार्थ डटके ॥ ६ ॥

किंतु जिनसे वैर करना । मृत्यु सम है यह कल्पना ।
लेकर खडे युद्ध-भावना । वे इस रणमें ॥ ५३ ॥

अब क्या ऐसोंका वध करना । अथवा इन्हे छोड़कर जाना ।
इन दोनोमें हमें क्या करना । यह हम न जानते ॥ ५४ ॥

कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कौन बात करना यहां उचित । वह विचारही नहीं स्फुरित ।
इस मोहसे ग्रस्त है मम चित्त । अकुलाहटसे ॥ ५५ ॥

आंखों पर जब धुंद पडता । दृष्टिका तेज तब भ्रंश होता ।
पासका भी कछु नहीं दीखता । वस्तुमात्र ॥ ५६ ॥

मेरा ऐसा ही हुआ है । भ्रांतिने मन लीला है ।
निज-हित किसमें है । वही न दीखता ॥ ५७ ॥

देव ! विचार कर देखना । जिसमें हित है वह कहना ।
तू है प्रिय सखा ही अपना । तथा सर्वस्व ॥ ५८ ॥

जैसे तू गुरु बंधु पिता । तू हमारा इष्ट देवता ।
तू ही है रक्षण करता । सदा सर्वत्र ॥ ५९ ॥

कभी शिष्यका अनादर । न होता है गुरुके घर ।
जैसे सरिताको सागर । त्यजे कैसे ॥ ६० ॥

अथवा आपत्यको माता । छोड़ती कर निष्ठुरता ।
किसके बल वह जीता । कह तू कृष्ण ॥ ६१ ॥

दीनातासे नष्ट हुयी स्व-वृत्ति
धिरा मोहसे है स्वधर्म-ज्ञान ।

कैसे मेरा श्रेय होगा कहोजी
पगमें झुका हूं ले शिष्यभाव ॥ ७ ॥

सर्वोपरि तू है देव वैसे । हमारा जीवनाधार जैसे ।
असहमत मेरी बातसे । अब जो कही थी ॥ ६२ ॥

तो करना क्या उचित । यहां है धर्म-सम्मत ।
कहो मुझे तू त्वरित । पुरुषोत्तम ॥ ६३ ॥

न हि प्रपश्यमि ममापनुद्यात्
यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृध्दं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

हरि-कृपाका वर्णन—

देखकर यह कुल सकल। हृदय हुआ है शोक विव्हल ।
सुनकरके वह तेरे बोल । होगा शांत ॥ ६४ ॥

मिलेगा यह पृथ्वीतल । या महेंद्र पद सकल ।
मन है जो मोह विव्हल । शांत न होगा ॥ ६५ ॥

भूना हुआ बीज जैसे । अच्छे खेतमें बोनेसे ।
औ' खाद पानी देनेसे । नहीं अंकुरता ॥ ६६ ॥

यदि आयुष्य मरा हो किसीका । उपयोग न होता औषधका ।
वहां उपाय परमामृतका । एकमात्र ॥ ६७ ॥

वैसे राज्य-भोग समृध्दि । न दें संजीवन जीवबुध्दि ।
अनुगृह ही है कृपानिधि । तव कारुण्यका ॥ ६८ ॥

ऐसा बोला है अर्जुन । जो था मोह-मुक्त क्षण ।
मोह-उर्मिसे तत्क्षण । हुआ व्याप्त ॥ ६९ ॥

यहां मिलेगा बिना शत्रु राज्य
वैसे ही इंद्रासन स्वर्गमें भी ।
तोभी न होगा यह शोक शांत
मेरे सभी इंद्रिय सोखता जो ॥ ८ ॥

मुझे लगता यह नहीं मो-लहर । यह है असंगत कोई अन्य प्रकार ।
इसपर पड़ा काल-सर्पका असर । महामोहके ॥ ७० ॥

मर्म-स्थान जो हृदय कमल । उसपे कारुण्यका सम काल ।
दंश किया है महा-मोह व्याल । चढ़ता विष लहर ॥ ७१ ॥

इसके प्रभावको जानकर । जिसकी कृपादृष्टि ही उतार ।
दौडा है श्रीहरी करुणाकर । सपेरा बनके ॥ ७२ ॥

व्याकुल वह पांडुकुमार । समीप उसके जादूगर ।
रक्षा करेगा वह सत्वर । कृपा-लीलासे ॥ ७३ ॥

इसीलिये वह पार्थ । जो है मोहफणिग्रस्त ।
जानकर यह बात । कही मैंने ॥ ७४ ॥

वहां खड़ाथा धनुर्धर । मोहसे व्याकुल होकर ।
जैसे बादलोंमें भास्कर । निस्तेज होता ॥ ७५ ॥

वैसा खड़ा वह पांडुकुमार । दु:खावेगसे होकर जर्जर ।
जैसे ग्रीष्मकालमें गिरिवर । होता दावानल ग्रस्त ॥ ७६ ॥

इसलिये सहज सुनील । कृपामृतसे जो है सजल ।
अनुकूल हुआ श्रीगोपाल । महामेघ हो ॥ ७७ ॥

द्युति है वहां सुदर्शनकी । झलक वही विद्युल्लताकी ।
सजी हुई गंभीर वाणीकी । गर्जना-सी ॥ ७८ ॥

अब होगी वह वर्षा उदार । शांत होगा अर्जुन गिरिवर ।
फूटेगा ज्ञानका नव अंकुर । उसी स्थानपे ॥ ७९ ॥

सुनो यह कथा गहन । जिससे शांत होता मन ।
ज्ञानदेवका है बचन । जो निवृत्तिदास ॥ ८० ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

ऐसा अर्जुन जो वीर बोलके कृष्णसे यह
अंतमें मैं न जूझूंगा कहके शांत हो गया ॥ ९ ॥

अहंता छेदन—

संजय ऐसा बोला। राजा! अर्जुन बोला।
पुनः हो शोकाकुल। यह बात ॥ ८१ ॥

धनंजय बोला श्रीकृष्णसे। अब न कहो कुछ मुझसे।
न लडूंगा सर्वथा इनसे। निश्चित यह ॥ ८२ ॥

ऐसा कहकर अर्जुन। बैठा रहा हो मौन।
देख कर यह श्रीकृष्ण। हुआ चकित ॥ ८३ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

फिर कहता मन ही मन। क्या करता है यह अर्जुन।
न जानता यह अनजान। क्या करना अब ॥ ८४ ॥

अब होगा कैसे इसको ज्ञान। कैसे आयेगा धीरजका भान।
करता है श्रीकृष्ण अनुमान। मांत्रिकसा ॥ ८५ ॥

अथवा देख असाध्य-व्याधी। अमृत सम दिव्य औषधि।
योजता है वैद्य निरवधि। निदान करके ॥ ८६ ॥

करता श्रीहरि विवेचन। दोनों सेनाओंके मध्यस्थान।
जिससे होगा मुक्त अर्जुन। महामोहसे ॥ ८७ ॥

उस निश्चित हेतुसे। हरिने कहा क्रोधसे।
माताके क्रोधमें जैसे। रहता स्नेह ॥ ८८ ॥

औषधके तीतापनके अंदर। होता है जैसे अमृतका असर।
वह गुण रुपसे ही निरंतर। दीखता वैसे ॥ ८९ ॥

वैसे ऊपरसे कठोर। अंदर जो अति मधुर।
ऐसे वाक्य शार्ङ्गधर। बोला पार्थसे ॥ ९० ॥

पार्थसे यों हृषीकेश हंसके कहने लगे।
खडा जो शोकमें डूबा वहीं उभय सैन्यमें ॥ १० ॥

भगवान उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥ ११ ॥

फिर अर्जुनसे कहता है । हमने अचरज देखा है ।
आज तुमने यहां किया है । मेरे समक्ष ॥ ९१ ॥

बनता बड़ा जानकार । न छोड़ता मूर्ख विचार ।
औ' कहता नीति विचार । सिखाना चाहुं ॥ ९२ ॥

जन्मांधका पागलपन । करता है जैसा थैमान ।
वैसा तेरा शयानापन । दौडता चहूं ओर ॥ ९३ ॥

अपनी बात न जानता । तो भी कौरवोंकी सोचता ।
देखकर विस्मय होता । मुझे अतिशय ॥ ९४ ॥

मुझे कह तू जरा अर्जुन । तुझपे है स्थित त्रिभुवन ।
अनादि यह विश्व-निर्माण । असत्य क्या ? ॥ ९५ ॥

सर्व समर्थ है यहां एक । उससे निर्माण होते लोक ।
कहना जगतका तू देख । व्यर्थ है क्या ? ॥ ९६ ॥

औ' ऐसा हुआ है क्या सांप्रत । जन्म मृत्यु तुझसे निर्मित ।
नाश होंगे ये तेरे ही हाथ । तेरे करनेसे ॥ ९७ ॥

भ्रमसे तू अहंकृति मानता । यदि इनका घात न करता ।
तो यह सैन्य क्या अमर होता । चिरजीवि-सा ॥ ९८ ॥

अथवा तू है एक घातक । तथा अन्य सभी हैं मृतक ।
चितमें ऐसा ही भ्रम एक । नहीं आने दे ॥ ९९ ॥

अनादि सिद्ध है यह पूर्ण । होना जाना स्वभाव कारण ।
सोचनेका तुझे क्या कारण । है इसमें ॥ १०० ॥

श्री भगवानने कहा

करता तू वृथा शोक कहता ज्ञान भी फिर ।

ज्ञानी न करता शोक गतागत विचारका ॥ ११ ॥

अज्ञानवश कुछ न जानता। जो सोचना वह नहीं सोचता।
फिर भी बडी नीति है कहता। हमको ही ॥ १ ॥

होते हैं जो विवेकी। न सोचते दोनोंकी।
आना जाना भ्रांतिकी। मानकर ॥ २ ॥

न त्येवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

आत्म लक्ष्य—

कहता हूं बात एक। यहां हम तुम देख।
तथा भूपति अनेक। सारे जन ॥ ३ ॥

नित्य ऐसे ही रहेंगे। या निश्चित क्षय होंगे।
यह भ्रांति छोड देंगे। दोनों व्यर्थ ॥ ४ ॥

यह जन्म तथा नाश। दीखता है भ्रमवश।
तत्वतः है अविनाश। वह वस्तु ॥ ५ ॥

जैसे पवन जल हिलाता। उससे हिलोर जो उठता।
उसको कहें क्या जनमता। कह तू पार्थ ॥ ६ ॥

वायुका वही स्फुरण गया। हिलोर भी वहां बैठगया।
तब कहें क्या है मर गया। सोचकर देख ॥ ७ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

सुनो शरीर है एक। वयसे भेद अनेक।
यह प्रत्यक्ष ही देख। प्रमाण तू ॥ ८ ॥

मैं तू तथैव ये राजे पहले थे सभी यहां।

वैसे ही हम जो सारे होंगे भविष्यमें यहीं ॥ १२ ॥

देहीको देहमें आता बाल्य तारुण्य औ' जरा।

वैसा ही है नया देह न डिगे धीर जो कभी ॥ १३ ॥

होता है प्रथम कौमार्य । बदलाता उसे तारूण्य ।
उससे नहीं होता लय । शरीरका ॥ ९ ॥

इस चैतन्यके भी ऐसे । बदलते शरीर वैसे ।
जो यह जानता है उसे । न मोह न दुःख ॥ १० ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

न जाननेका है यह कारण । जो है इंद्रियोंका आधीनपन ।
यह खींचता है अंतःकरण । इससे है भ्रम ॥ ११ ॥

इंद्रियां विषय सेवन करतीं । जिससे हर्ष शोक हैं उपजातीं ।
तथा अंतरंगको रस है देतीं । संसर्गसे अपने ॥ १२ ॥

विषयोंमें नहीं रहती । सदैव एकसी ही स्थिति ।
कभी दुःखकी है दीखती । कभी सुखकी ॥ १३ ॥

देखो है यह शब्दकी व्याप्ति । कहते हैं निंदा तथा स्तुति ।
उपजाते हर्ष शोक अति । श्रवणद्वारसे ॥ १४ ॥

मृदु और कठिण । स्पर्शके हैं दो गुण ।
त्वचा दे संग कारण । हर्ष शोक ॥ १५ ॥

सुरुप और कुरुप । रुपके हैं ये स्वरूप ।
नेत्रोंसे देते अमाप । सुख औ' दुःख ॥ १६ ॥

सुगंध औ' दुर्गंध । ये हैं गंधके भेद ।
दें विषाद औ' मोद । घ्राणके संग ॥ १७ ॥

ऐसा ही द्विविध रस । उपजाता प्रीति त्रास ।
तभी यह अपभ्रंश । विषय संगका ॥ १८ ॥

होनेसे इंद्रियोंके आधीन । भोगना शीत तथा उष्ण ।
जो हैं सुख दुखके कारण । अपनेको ॥ १९ ॥

शीतोष्ण विषय-स्पर्श फेंकते सुख दुःखमें ।
यही तू झेल ले सारा आते जाते अनित्य ये ॥ १४ ॥

विषयोंके बिना है नहीं । रम्य कछु मिलता नहीं ।
स्वभाव जैसा हुवा यही । इंद्रियोंका ॥ १२० ॥

ये विषय भी हैं कैसे । रोहिणीके जल जैसे ।
स्वप्नके गजराज से । आभास रूप ॥ २१ ॥

अनित्य इन्हे जानकर । इनका कर अनादर ।
कभी इनका नहीं कर । संग तू पार्थ ॥ २२ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

विषय ये जिन्हे नहीं जकड़ते । उन्हे सुख दुःख दोनों नहीं होते ।
तथा गर्भवास संग नहीं होते । उनको कभी ॥ २३ ॥

वे हैं नित्य रुप पार्थ । जानो है तुम सर्वथा ।
जो कभी इंद्रियार्थ । हुये नहीं ॥ २४ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

सन्तोंको ही आत्मदर्शनकी शक्यता—

पार्थ अब कुछ एक । कहूंगा सुन तू नेक ।
जिससे तूं परलोक । जानेगा सब ॥ २५ ॥

इस उपाधिमें गुप्त । चैतन्य है सर्वगत ।
वह तत्वज्ञ जो संत । स्वीकारते हैं ॥ २६ ॥

सलीलमें पय जैसे । एक हो रहे हैं वैसे ।
किंतु राज-हंस उसे । जाने भिन्न ॥ २७ ॥

इनकी न चले बात सम जो सुख दुःखमें ।
ऐसा ही धीर होता है मोक्ष लाभार्थ योग्य जो ॥ १५ ॥

असत्यको न अस्तित्व सत्यका नाश भी नहीं ।
जानते यह तत्वज्ञ दोनोंको इस भांतिसे ॥ १६ ॥

अथवा है अग्नि मुखसे मल । जलाके करते स्वर्ण निर्मल ।
निकाल लेते उसीको केवल । बुद्धिमान ॥ २८ ॥

अथवा ज्ञान मथनीसे । दधि मथन करनेसे ।
दीखता नवनीत जैसे । अन्तमें जो ॥ २९ ॥

रहता भूसा नाज मिलकर । उसे देखनेसे फटककर ।
नाज रहता है स्व स्थानपर । भूसा उड़ जाता ॥ १३० ॥

सोचनेसे है छूट जाता । प्रपंच यह स्वभावता ।
रहता है तत्व तत्वता । ज्ञानियोंको ॥ ३१ ॥

जिससे अनित्यमें नहीं । आस्तिक्य बुध्दि होती कहीं ।
यह निष्कर्ष दोनोमें ही । देखा है सदा ॥ ३२ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥१७॥

अंतर्यामीका घात नहीं होता—

सरासर विचार कर । जान तू भ्रांति है असार ।
स्वभावसे ही जो है सार । नित्य जान ॥ ३३ ॥

लोकत्रयका है आकार । जिसका है यह विस्तार ।
वहां वर्ण नाम आकार । नहीं चिन्ह ॥ ३४ ॥

वह है सर्वदा सर्वगत । जन्म मरणके है अतीत ।
करनेसे भी उसका घात । कभी होता नहीं ॥ ॥ ३५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

जिससे है भरा सारा जान तू वह अक्षय ।
नहीं हो सकता नाश उस अव्यय तत्वका ॥ १७ ॥

विनाशी देह हैं सारे सदा ही उसमें कहा ।
नित्य निःस्सीम है आत्मा इससे जूझ तू यहां ॥ १८ ॥

नष्ट होना शरीरका स्वभाव है–

तथा सारा शरीर जात । स्वभावसे है नाशवंत ।
इसलिये हो युद्धरत । ऊठ अर्जुन ॥ ३६ ॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९ ॥

परिवर्तन देहोंका है, बाहरी है –

धर तू देहका अभिमान । शरीरको ही सर्वस्व मान ।
मारता मैं मरते आप्त जन । कह रहा है ॥ ३७ ॥

अर्जुन! तू यह नहीं जानता । यदि विचार करे तो तत्वता ।
तू नहीं हैं किसीका वधिता । न ये हैं वध्य ॥ ३८ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

जैसे स्वप्नका है दृश्य । स्वप्नमें ही है सत्य ।
जगकर देखें तो अदृश्य । वैसे ही ॥ ३९ ॥

कहे जो मारता आत्मा और जो मरता कहे ।
दोनों न जानते तत्व मार या मरता न जो ॥ १९ ॥

न जन्म पाता न कदापि मृत्यु
होता न पीछे न आगे न होगा ।
अजन्म जो नित्य सदा पुराण
देही न मरता नाशे भी देह ॥ २० ॥

जानता जो निर्विकार अनाशी नित्य अव्यय ।
कैसे वह मरता या मारता किसको कब ॥ २१ ॥

जान तू ऐसी है यह माया । भ्रममें तू है व्यर्थ ही गया ।
शस्त्रसे वध किया तो छाया । न टूटता अंग ॥ १४० ॥

अथवा पूर्ण कुंभ उलटा । दीखता बिंबाकार है टूटा ।
किंतु भानु-बिंब है अटूट । वैसे ही ॥ ४१ ॥

अथवा जैसे मठमें आकाश । मठकृतिसे बना मठाकाश ।
भंगनेसे मठके समावेश । महदाकाशमें ॥ ४२ ॥

लोप होनेसे वैसे शरीरका । नाश न होता कभी स्वरुपका ।
तभी आरोप न कर नाशका । भ्रांतिसे तू ॥ ४३ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे जीर्ण वस्त्रको त्यजते । फिर नवीनको हैं ओढते ।
वैसे देहान्तर स्वीकारते । चैतन्यके ॥ ४४ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अच्छाद्योऽयमदाह्योऽयम् अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

उतारके जर्जर जीर्ण वस्त्र
मनुष्य लेता दुसरे नवीन ।
तथैव तजके शरीर जीर्ण
आत्मा भी लेता दुसरे नवीन ॥ २२ ॥

इसे न चुभते शस्त्र इसे अग्नि न बालता ।
न गलाता इसे पानी इसे वायू न सोखता ॥ २३ ॥

छिदता जलता ना जो गलता सूखता नहीं ।
स्थिर निश्चल है नित्य सर्व-व्यापी सनातन ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

है यह अनादि नित्य सिद्ध । निरुपाधि तथा विशुद्ध ।
इससे शस्त्रादिकोंसे विद्ध । न होता यह ॥ ४५ ॥

प्रलयोदकसे यह न भीगता । अग्निदाह यहां न संभवता ।
महाशोषका प्रभाव न होता । मारुतके ॥ ४६ ॥

अर्जुन यह है नित्य । अचल तथा शाश्वत ।
सर्वत्र यह सदोदित । परिपूर्ण होता है ॥ ४७ ॥

अजी ! दृष्टिसे तर्ककी । भेंट न होती इसकी ।
ध्यानको इसकी भेंटकी । उत्कंठा है ॥ ४८ ॥

मनसे न होता प्राप्त । साधनासे आप्राप्त ।
निःस्सीम यह पार्थ । पुरुषोत्तम ॥ ४९ ॥

है गुणत्रय रहित । व्यक्तिकेलिये अतीत ।
अनादि औ' अविकृत । स्वरुप इसका ॥ ५० ॥

अर्जुन इसको ऐसे जानना । सकलात्मक रूप ही देखना ।
इससे सहज ही शोक पूर्ण । मिटेगा तेरा ॥ ५१ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

यदि तू ऐसा नहीं जानता । अन्तवन्त ही इसे मानता ।
तब भी कहो कैसी है चिन्ता । पांडुकुमार ॥ ५२ ॥

जो है आदि स्थिति अंत । है निरंतर औ' नित ।
प्रवाह है अनुस्यूत । गंगा जलका-सा ॥ ५३ ॥

अचिंत्य वह अव्यक्त निर्विकारी कहे सब ।
ऐसी है जानके आत्मा तेरा शोक अकारण ॥ २५ ॥
अथवा देखता तू है जन्म-मृत्यु प्रति-क्षण ।
तो भी तुझे न है कोयी शोकका योग्य कारण ॥ २६ ॥

आदि भी वह अखंड रहता । अन्तमें हैं सागरसे मिलता ।
मध्यमें वह बहता रतता । दीखता वैसे ॥ ५४ ॥

वैसे ही यहां ये तीन । चलते एक समान ।
असंभव है अर्जुन । रोकना इसको ॥ ५५ ॥

इसलिये इस बातका । कारण नहीं शोकका ।
स्वभाव ही है इसका । मूल रूपसे ॥ ५६ ॥

न तो भी सुन अर्जुन । जीव जन्म मरणाधीन ।
देख कर यह कारण । शोक है व्यर्थ ॥ ५७ ॥

इससे यहां कुछ नहीं । शोकका कारण भी कहीं ।
टलता यहां कभी नहीं । जन्म औ' मरण ॥ ५८ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अजी ! जन्मता जो सो नाशता । नाशता सो है पुनः दीखता ।
जैसे घटिका-यंत्र चलता । वैसे ही पार्थ ॥ ५९ ॥

या उदयास्त जैसे स्वभावसे । अखंडित होते जाते हैं वैसे ।
जन्म-मरण भी विश्वमें वैसे । हैं अनिवार्य ॥ १६० ॥

महाप्रलयके अवसर । होता त्रिभुवनका संहार ।
इसीलिये नहीं परिहार । आदि अन्तका ॥ ६१ ॥

जानकर तू यह मनमें । पडता क्यों व्यर्थ ही दुःखमें ।
जानकर बनता जनमें । पागलका-सा ॥ ६२ ॥

सब ढंगसे पार्थ । शोक है सब व्यर्थ ।
दुःखदायह सर्वथा । नहीं विषय ॥ ६३ ॥

तय है जन्मसे मृत्यु मृत्युसे जन्म निश्चित ।
अटल उसका जो है व्यर्थका शोक है यह ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हैं यहां ये भूत समस्त । जन्मके पहले अमूर्त ।
फिर किया व्यक्तित्व प्राप्त । जन्म लेके ॥ ६४ ॥

मिटाकर अपना आकार । नाशसे बनते निराकार ।
जाते हैं मूल-रूपमें और । यथा स्थिति ॥ ६५ ॥

मध्यमें जो प्रतिभासे । निद्रितका स्वप्न जैसे ।
वैसे आकार मायासे । है सत्स्वरूपका ॥ ६६ ॥

न तो वायुने छेड़ा नीर । बना जैसे तरंगाकार ।
परापेक्षासे अलंकार । दीखता सोनेमें ॥ ६७ ॥

वैसे सकल हैं यह मूर्त । जान ले तू मायाका है रीत ।
जैसे आकाशमें है बिंबित । बादल सारे ॥ ६८ ॥

नहीं यहां जो मूलता । उसके लिये है रोता ।
देख तू नित तत्वता । चैतन्यएक ॥ ६९ ॥

उसकेलिये होकर पार्थ । विषय तज करके संत ।
रहते हैं सदैव विरक्त । एकांतमें ॥ १७० ॥

दृष्टि रखकर जिस पर । ब्रह्मचर्यादि व्रतको कर ।
तपाचरते मुनीश्वर । अनन्य हो ॥ ७१ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अव्यक्त मूल भूतोंका मध्य है व्यक्त भासता ।
पुनः है अंत अव्यक्त इसमें शोक है कहां ॥ २८ ॥
आश्चर्य कोयी अवलोकता है
आश्चर्य कोयी कहता यही है ।
आश्चर्य है वर्णित अन्य बातें
सुने भी ना जान पाता इसे हैं ॥ २९ ॥

अन्तरमें एक निश्चल । देख करके जो केवल ।
भूल गये हैं जो सकल । संसार मात्र ॥ ७२ ॥

गुणगान करता । उपरत हो चित्त ।
सदैव तल्लीनता । रहते हैं वे ॥ ७३ ॥

शांत होते सुनकर । देहभान भूलकर ।
पाते तद्रूप होकर । अनुभाव ॥ ७४ ॥

जैसे नदी-नद बहकर । सागरमें नहीं मिलकर ।
परांग्मुख आते लौटकर । ऐसा नहीं होता ॥ ७५ ॥

वैसे है योगियोंकी मति । पाकरके आत्मानुभूति ।
पुनः देह-तादात्म्य वृत्ति । पाती । नहीं ॥ ७६ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वंशोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

देहमें जो सर्वत्र बसता । उसका घात कभी न होता ।
देख वह विश्वात्मक सत्ता । चैतन्य एक ॥ ७७ ॥

स्वभाव ही है इसका । होता जाता है सबका ।
इसमें क्या है शोकका । यहां कारण ॥ ७८ ॥

न तो भी हे अर्जुन । न जाने क्यों बुद्धिमान ।
शोक करना है हीन । सब प्रकारसे ॥ ७९ ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

क्षात्र धर्म महता—

अबतक तू क्या सोचता । यह कैसी चिन्ता करता ।
स्वधर्म को ही है भूलता । जो है तारक ॥ १८० ॥

अमर नित्य जो आत्मा सबके देहमें बसा ।
इससे भूत-मात्रोंमें नकर शोक तू कभी ॥ ३० ॥
स्वधर्म देखके यों भी न योग्य डिगना तुझे ।
क्षत्रियोंको नहीं कोयी श्रेष्ट है धर्म-युद्धसे ॥ ३१ ॥

कौरवोंका हुआ अनुचित। अथवा तेरा ही हुआ घात।
या मानो हो गया है युगांत। तो भी यहां ॥ ८१ ॥

स्वधर्म यह रहता एक। सदा जो आचरणीय नेक।
तुझे वह है कृपा पूर्वक। तारेगा ही ॥ ८२ ॥

अर्जुन तेरा जो चित्त। हुआ यदि द्रवीभूत।
किंतु यह अनुचित। संग्राममें ॥ ८३ ॥

हुवा यदि गायका दूध। पथ्यमें हुआ इससे बाध।
करेगा विषसा प्रमाद। नव ज्वरमें ॥ ८४ ॥

वैसे असमयमें अनुचित। इससे होगा हितका घात।
इसलिये हो सावध चित। कार्यकर ऊठ ॥ ८५ ॥

व्याकुल है तू अकारण। कर स्वधर्मका आचरण।
उससे होगा सब रक्षण। तीनों कालमें ॥ ८६ ॥

जैसे सरल पथपे चलना। उपाय है अपायसे बचना।
या है दीप प्रकाशमें चलना। न लगे ठोकर ॥ ८७ ॥

वैसे सुन तू अर्जुन। करस्वधर्माचरण।
सकल कामना पूर्ण। होती हैं ॥ ८८ ॥

देखो इससे अन्य नहीं। क्षत्रियकेलिये जो सही।
रणके बिन कछु कहीं। उचित धर्म ॥ ८९ ॥

हो करके निष्कपट। लडना अति विकट।
देखना क्या रही बाट। प्रत्यक्षमें यहां ॥ १९० ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

स्वधर्माचरणकी अपूर्व स्वर्णसंधि—

यह है युद्ध आजका। फल है तेरे दैवका।
धरोहर है धर्मका। हुआ प्रकट ॥ ९१ ॥

हुवा प्राप्त अनायास स्वर्गका द्वार है खुला।
भाग्य शाली क्षत्रियोंको मिलता धर्म-युद्ध है ॥ ३२ ॥

इसे युद्ध कहे कैसा। यह है स्वर्गरूप सा।
या तव प्रताप ऐसा। उत्तर आया ॥ ९२ ॥

या तेरे गुणों पर हो लुब्ध। उत्कट भावसे करबद्ध।
स्वयंवरार्थ होकर सिद्ध। आयी है कीर्ति ॥ ९३ ॥

क्षत्रियों को अतीव पुण्यसे। लडने मिलते युद्ध ऐसे।
मिलती है चिंतामणि जैसे। राह चलतेको ॥ ९४ ॥

अथवा देते हुये जंभायी। अमृतबूंद् टपक आयी।
ऐसी है यह लडाई आयी। स्वाभाविक हो ॥ ९५ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

करके इसकी अवहेलना। व्यर्थका शोक करते बैठना।
अपना घात आपही करना। यह है ऐसा ॥ ९६ ॥

पूर्वजोंका जो यश संचित। अपनेसे खोना है निश्चित।
शस्त्र त्यजना हो शोकग्रस्त। रणमें यहां ॥ ९७ ॥

इससे नष्ट होगी तव कीर्ति। विश्व गायेगा तेरी अपकीर्ति।
मिलेगी महापापकी थाथी। निश्चित तुझे ॥ ९८ ॥

वनिता जो भर्तार रहित। होती सर्वत्र अनादरित।
वैसे है जीवनका सतत। बिन स्वधर्मके ॥ ९९ ॥

अथवा रण-भूमिका प्रेत। होता गिद्धसे क्षत विक्षत।
नर वैसा स्वधर्म रहित। होता महादोषसे ॥ २०० ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

ऐसा जो धर्म संग्राम टालेगा यदि तू यहां।
पायेगा पाप दुष्कीर्ति तजके धर्म युद्ध को ॥ ३३ ॥
सदैव लोग गायेंगे तेरी दुष्कीर्ति विश्वमें।
अकीर्ति मृत्युसे हीन मानी पुरुषके लिये ॥ ३४ ॥

यदि तू स्वधर्म छोडेगा। महापापका भागी होगा।
कल्पांतमें भी न मिटेगा । कलंक अकीर्तिका ॥ १ ॥

भलोंको तब तक ही जीना । जब तक कुयश न पाना।
इससे कैसे अब बचना कह तू अर्जुन ॥ २ ॥

निर्मत्सर तू सहृदयतासे । जायेगा लौट रण-भूमिसे।
किंतु सभी न मानेंगे इसे । युद्ध भूमिमें ॥ ३ ॥

घेरेंगे यहां चहूं ओर । चलेंगे तीर पर तीर।
कैसे होगा यहांसे पार । कृपालुतासे ॥ ४ ॥

इस प्राण संकटसे मुक्त । हुआ तो अपकीर्तिमें लिप्त।
ऐसा जीवन भी है निश्चित । मृत्युसे हीन ॥ ५ ॥

भयाद्रणादुपरतं मस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

न सोचता तू और एक बात । आया रणमें उत्साह सहित।
लौटेगा यदि हो रण विरत । युद्ध भूमिसे ॥ ६ ॥

सोच देख तब अर्जुन । सोचेंगे क्या शत्रु दुर्जन।
मानेंगे क्यां सत्य वचन । यह कहो मुझे ॥ ७ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६ ॥

कहेंगे वे गयारे गया । पार्थ हमसे डर गया।
यह वाक्य जो गूंज गया । तब क्या होगा ॥ ८ ॥

अनेक कष्ट करके जन । करते हैं स्वयश रक्षण।
समय पे कर प्राणार्पण । आनंदसे ॥ ९ ॥

तुझे वह अनायाससे मिला अनजान भावसे।
वह भी अद्वितीय जैसे । आकाश है ॥ २१० ॥

डरके रणसे भागा मानेंगे ये महारथी ।
मान्य तू इनमें आज पायेगा क्षुद्रता फिर ॥ ३५ ॥
बोलेंगे शत्रु जो तेरे अवाच्य कुत्सित सब ।
कोसेंगे शौर्य जो तेरा यह है अति दुःखद ॥ ३६ ॥

कीर्ति है तेरी निःसीम । वैसी ही जो निरुपम ।
तेरे गुण भी उत्तम । तीनों लोकमें ॥ ११ ॥

नृपति जो हैं त्रिभुनके । गाते हैं गीत भाट बनके ।
डरते गीत सुनकरके । कृतांत भी वे ॥ १२ ॥

ऐसी तेरी महिमा महान । गंगाकी गरिमाके समान ।
देख करके सुभट मन्न । चकित होता ॥ १३ ॥

पौरुष तेरा ऐसा अद्भुत । सुनकरके ये हैं समस्त ।
जीवनसे हुये वे विरक्त । अपने ही ॥ १४ ॥

सिंह गर्जनासे जैसे । कांपते हैं हाथी वैसे ।
कौरव तेरे भयसे । होते त्रस्त ॥ १४ ॥

जैसे हैं पर्वत वज्रसे । अथवा सर्प गरुड़से ।
वैसे अर्जुन हैं तुझसे । सहमतें सब ॥ १६ ॥

जायेगी वह महानता । चिपकेगी अति दीनता ।
यदि तू यहांसे लौटता । युद्धके बिना ॥ १७ ॥

किंतु तुझे ये भागने नहीं देंगे । पकड अति अपमान करेंगे ।
अमर्याद कटु वचन कहेंगे । तेरे ही सम्मुख ॥ १८ ॥

तब होगा विदीर्ण हृदय । अब न लड़ना क्यों कौंतेय ।
राज्य करेगा पाकर जय । पृथ्वीतलका ॥ १९ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अथवा यहीं रण भूमिमें । पावोगे मृत्यु भी लड़नेमें ।
अनायास ही स्वर्ग लोकमें । पहुचेगा तू ॥ २२० ॥

इसी लिये तू यहां पर । छोड़कर सारे विचार ।
करमें ले कमान तीर । लडो शीघ्र ॥ २१ ॥

मरनेसे स्वर्ग भोग जीतनेसे धरातल ।
तथैव पार्थ तू ऊठ युद्धार्थ कर निश्चय ॥ ३७ ॥

स्वधर्मका है आचरण । करता दोष निवारण ।
चित्तभ्रम किस कारण । जो है पाप ॥ २२ ॥

डूबेगा क्या कोई नांवसे । अड़े क्या कोई पथसे ।
सही न चलने आनेसे । होगा ये सब ॥ २३ ॥

अमृत-पान भी मारेगा । विष-सह यदि पीयेगा ।
स्वधर्म भी दोष लायेगा । सहेतुक जो ॥ २४ ॥

इसीलिये तुझको पार्थ । निरहेतुक हो सर्वथा ।
लडनेमें क्षात्र-धर्मार्थ । नहीं पाप ॥ २५ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सम-बुध्दिसे लड —

संतोष न मानना सुखमें । विषाद न मानना दुखमें ।
तथा लाभालाभ भी मनमें । नहीं धरना ॥ २६ ॥

यहां जो विषय भी होगा । या सर्वथा तन जायेगा ।
न सोचना आगे क्या होगा । पहलेसे ही ॥ २७ ॥

उचित जो अपना । स्वधर्म सो करना ।
प्राप्तव्यको भोगना । शांत भावसे ॥ २८ ॥

ऐसे होनेसे तू सम चित्त । होगा सहज ही पाप-मुक्त ।
इसलिये हो तू युद्ध रत । निश्चिंत भावसे ॥ २९ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

बुध्दियोगका वज्र कवच —

सांख्य स्थिति यह संक्षिप्त । किया तुझको निरूपित ।
तभी होकरके निभ्रांत । लडना अब ॥ २३० ॥

हानि लाभ सुख दुःख सम हो हार जीतमें ।
फिर युद्धार्थ हो सिद्ध न होगा पाप लिप्त तू ॥ ३८ ॥
सांख्य बुध्दि यही जान सुन तू योग बुध्दि भी ।
तोडेगा उससे सारे जगमें कर्म बंधन ॥ ३९ ॥

जो है बुध्दि युक्त । सुनो वह पार्थ ।
कर्म-बंध मुक्त । रहता सदा ॥ ३१ ॥

वज्र कवच पहननेसे । शस्त्रोंकी वर्षामें भी है जैसे ।
शरीर रहता है उससे । अचुंबित ॥ ३२ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

ईश्वरार्पित बुध्दिसे अनासक्त कर्म—

मिटता नहीं जिससे लौकिक । सहज मिलता पारलौकिक ।
चल आया पूर्वानुक्रम देख । शुद्ध रूपसे ॥ ३३ ॥

कर्माधारसे बरतना । कर्म फलको न देखना ।
मंत्रज्ञको मुक्त रहना । भूत बाधासे ॥ ३४ ॥

उस पर जो सुबुध्दि । अपनेको निरवधि ।
मिलने पर उपाधि । नहीं लगती ॥ ३५ ॥

न जा वहां पुण्य-पाप । जो है अति सूक्ष्म निष्कंप ।
औ' गुणत्रयादिका लेप । चढता नहीं ॥ ३६ ॥

अर्जुन ऐसा यदि पुण्यवश । हुआ हृदयमें बुध्दि प्रकाश ।
होगा उससे ही अशेष नाश । संसारका भय ॥ ३७ ॥

व्यवसायात्मिका बुध्दिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

जैसे छोटीसी दीप-ज्योति । तेजसे प्रकाशती अति ।
वैसे न मानता सुमति । अल्पसी कभी ॥ ३८ ॥

सुन तू पार्थ अनेक प्रकार । चाहते हैं बुध्दि विचार शूर ।
किंतु है दुर्लभ सचराचर । सद्वासना ॥ ३९ ॥

चूकता जो न आरंभ न बने विपरीत भी ।
अल्प भी यह धर्मांश तारता भयसे महा ॥ ४० ॥
बुध्दि एकाग्र होती है इसमें दृढ होकर ।
अनंत बहु शाखाकी बुद्धि निश्चय हीनकी ॥ ४१ ॥

जैसे वस्तु अनेक मिलते । वैसे पारस नहीं मिलते ।
अमृत-बिंदु हैं मिलते । दैव योगसे ॥ २४० ॥

वैसी दुर्लभ है सद्बुध्दि । जिसे परमात्म ही अवधि ।
जैसे भागीरथीको उदधि । निरंतर ॥ ४१ ॥

नहीं जिसे ईश्वरके बिन । कोई अन्य है अवलंबन ।
वही एक सद्बुध्दि है जान । इस जगतमें ॥ ४२ ॥

अन्य जो है सब दुर्मति । पाती है अनेक विकृति ।
वहां निरंतर सुमति । रमते हैं ॥ ४३ ॥

वेदवादविदोंके वाग्जालमें नहीं आओ–

इसीलिये सुन उन्हे पार्थ । स्वर्ग संसार नर्ककी वार्ता ।
न कभी आत्म-सुख सर्वथा । मिलता देखने भी ॥ ४४ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

वेदके आधारसे हैं बोलते । केवल कर्म-प्रतिष्ठा करते ।
किंतु आसक्ति हैं नित धरते । कर्म फलोंमें ॥ ४५ ॥

संसारमें जनम लेकर । यज्ञ यागादि कर्मको कर ।
भोगो स्वर्ग सुख मनोहर । कहते ऐसे ॥ ४६ ॥

यहां बिन इसके नहीं । अन्य सुख सर्वथा कहीं ।
अजी ! ऐसे बोलते यही । दुर्बुद्ध लोग ॥ ४७ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

देखो कामनासे अभिभूत । होकरके कर्म-आचरित ।
केवल वे भोगमें दे चित्त । अपना सारा ॥ ४८ ॥

अनाडी व्यर्थकी बात कहते हैं फुलाकर ।
वेदके करते वाद कहते अन्य ना कछु ॥ ४२ ॥
जन्म लेके करो कर्म पावोगे भोग वैभव ।
लो कर्म फल स्वादिष्ट कहते स्वर्ग कामुक । ४३ ॥

क्रिया विशेषको बहुत । नहीं लोपते विधिवत ।
निपुण हो धर्ममें रत । करते हैं नित्य ॥ ४९ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

किंतु करते एक बुरी बात । स्वर्ग कामनामें हो लिप्त चित्त ।
भूलते हैं यज्ञ पुरुषको नित । भोक्ता है जो ॥ २५० ॥

बनाकर जैसे कर्पूरका ढेर । उसमें आग लगाकरके फिर ।
अथवा मिष्टान्न भला पकाकर । मिला दिया विष ॥ ५१ ॥

पाकर अमृतकुंभ दैवसे । ठुकराते हैं उसको पैरसे ।
नासते हैं धर्म-कृत्यको वैसे । करके फलाकांक्षा ॥ ५२ ॥

पुण्य करते हैं सायास । धरके संसारकी आस ।
विवेक बिनु करें नास । करें क्या ॥ ५३ ॥

जैसे घरका सुग्रास भोजन । बेचते लेकरके कुछ धन ।
वैसे खाते हैं धर्म मति-हीन । भोगार्थि जो ॥ ५४ ॥

इसीलिये सुन तू पार्थ । दुर्बुध्दिमें होकर लिप्त ।
ये वेदवाद रत सतत । आचरते हैं ॥ ५५ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

तीन गुणोंसे है आवृत । जानो ये वेद निरभ्रांत ।
उपनिषदादि समस्त । हैं सात्विक ॥ ५६ ॥

है यहां रज रज-तमात्मक । जहां है निरूपण कर्मादिक ।
जो हैं केवल ही स्वर्ग सूचक । धनुर्धर ॥ ५७ ॥

लुभायी जिससे बुध्दि भोग वैभवमें फंसी ।
न होती बुध्दि अस्थायी समाधिमें कभी स्थिर ॥ ४४ ॥

तीन गुण वदे वेद उनसे हो अलिप्त तू ।
तथा निश्चिंत निर्द्वंद्व सत्वस्थ योग क्षेममें ॥ ४५ ॥

इसीलिये तू जान अर्जुन । ये हैं सुख दुखके कारण ।
न जाने देना अंत:करण । इसमें कमी ॥ ५८ ॥

गुणत्रयोंका कर अनादर । मैं मेरा ऐसा कभी न कर ।
केवल आत्म-सुखका अंतर । कर आश्रय ॥ ५९ ॥

यावानर्थ उद्पाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

तू निष्काम कर्म कर—

वेद यदि अनेक बोलते । विविध भेदोंको है सुझाते ।
अपना हित आप देखते । उसमेंसे ही ॥ २६० ॥

जैसे सूर्यका उदय होते । सारे पथ दिखायी पड़ते ।
किंतु सभी पथ क्या चलते । कहो मुझे ॥ ६१ ॥

या जलमय सकल । हुआ सभी महीतल ।
लेते हम जो केवल । आवश्यक ॥ ६२ ॥

वैसे ही ज्ञानी जन । कर वेदार्थ चिंतन ।
शाश्वत जो तत्व-ज्ञान । स्वीकारते हैं ॥ ६३ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

इसीलिये सुन तू अर्जुन । करके ऐसे अवलोकन ।
तुझे यह उचित है जान । जो स्वकर्म ॥ ६४ ॥

विचार किया हमने पूर्ण । यह हमारा निश्चय जान ।
अनुचित त्यजना अर्जुन । विहित कर्म ॥ ६५ ॥

सभी ओर भरा पानी कुएमें क्या धरा रहा ।
ब्रह्मज्ञ-तत्वज्ञानीको वेदोंमें सार जो रहा ॥ ४६ ॥

कर्मका अधिकारी तू न कर फल-कामना ।
न कर्म-फलमें हेतु न हो राग अकर्ममें ॥ ४७ ॥

किंतु कर्म फलकी आशा न करना । तथा कुकर्मका संग भी न धरना ।
सत्कर्मका आचरण सदा करना । बिन हेतुके ॥ ६६ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

ईश्वरार्पित कर्म सदैव पूर्ण ही–

तू योगयुक्त होकर । फलाशाको छोड़कर ।
अर्जुन ! मन देकर । कर कर्म ॥ ६७ ॥

किंतु हुआ कर्म सफल । दैव था यदि अनुकूल ।
न होना संतुष्ट बहुल । मनमें भी ॥ ६८ ॥

या हुआ कोई कारण । कार्य रहा जो अपूर्ण ।
जिससे तू अंतःकरण । न कर क्षुब्ध ॥ ६९ ॥

काम हुआ हाथका पूर्ण । यदि रहा वह अपूर्ण ।
इससे विचार सगुण । ऐसे मानना ॥ २७० ॥

कर्मका जो है मूल कारण । उसको ही किया समर्पण ।
वहीं हुआ वह परिपूर्ण । सहज भावसे ॥ ७१ ॥

सफल असफलमें सतत । रहता है जिसका सम चित्त ।
योग स्थिति है वह प्रशंसित । ज्ञानियोंसे ॥ ७२ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुध्दियोगाद्धनंजय ।
बुध्दौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

बुध्दियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

फल लाभे न लाभे तू असंग सम-भावसे ।
योग-युक्त कर कर्म योग-सार समत्व है ॥ ४८ ॥

समत्व-बुद्धि है श्रेष्ठ उससे कर्म हीन है ।
बुद्धिका आसरा ले तू चाहते फल दीन है ॥४९॥

यहां समत्व बुद्धिसे टलता पाप पुण्य है ।
समत्व-युक्त हो सारा योग है कर्म-कौशल ॥ ५० ॥

ईश्वरार्पित साम्य-बुध्दि योगका सार है—

अर्जुन ! समत्व जो चित्तका । सार जान वही तू योगका ।
जिससे मन तथा बुद्धिका । होता ऐक्य ॥ ७३ ॥

बुद्धियोगका विवेचन। करनेसे लगता हीन ।
कर्म मार्ग है जो अर्जुन । वह सकाम ॥ ७४ ॥

किंतु कर्म करना है सतत। उससे योग मिलता निश्चित ।
शेष कर्ममें जो सहज चित्त। योग स्थिति है ॥ ७५ ॥

बुद्धियोग है सधर। उसमें ही हो तू स्थिर।
मनसे ही त्याग कर। फल हेतुका ॥ ७६ ॥

लेकर आसरा बुद्धियोगका । पार हो जाते हैं भव सागरका।
तोड़कर बंधन उभयका। पाप-पुण्य ॥ ७७ ॥

कर्मजं बुध्दियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

वे यदि कर्म करते रहते। मनसे कर्म फल नहीं छूते।
तभी जन्म-मृत्युसे मुक्त होते। सुनो पार्थ ॥ ७८ ॥

होते हैं जो योग च्युत। पद पाते हैं अच्युत ।
हैं जो आनंद भरित। धनुर्धर ॥ ७९ ॥

तू भी ऐसा ही होगा। यदि मोह छोडेगा।
मनमें जो धरेगा। विराग को ॥ २८० ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

तब निष्कलंक गगन। उदित होगा तत्वज्ञान।
उससे निरिच्छ होगा मन। सहज रूपसे ॥ ८१ ॥

समत्व-बुद्धिसे ज्ञानी तजके कर्मके फल ।
छुडाके जन्मकी गांठ पाते हैं पद अच्युत ॥ ५१ ॥
बुद्धि जो तर जायेगी मोहका जब कीचड़ ।
हुवा होगा शब्द ज्ञान पचायेगा तभी सब ॥ ५२ ॥

और है कुछ जानना। बीतेको अब स्मरना।
ऐसा सब तू अर्जुन। भूलेगा तब ॥ ८२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

बुद्धि जो इंद्रियोंके संगमें। फैलती है दशदिशाओंमें।
होगी वही फिर आत्मरूपमें। स्थिर नित्य ॥ ८३ ॥

समाधि सुखमें केवल। बुद्धि होगी अति निश्चल।
वहां पायेगा तू सकल। योगस्थिति ॥ ८४ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थितप्रज्ञताकी जिज्ञासा—

कहता है पार्थ हे कृष्ण। इसी बातको जानुं पूर्ण।
कहो अब हो सकरुण। कृपानिधि ॥ ८५ ॥

कहा अच्युतने फिर। पूछ ले तू धनुर्धर।
मनके कोई विचार। मुक्त भावसे ॥ ८६ ॥

बोला अर्जुन कृष्णसे। कहो बातें ये मुझसे।
जानना उसको कैसे। स्थितप्रज्ञ है ॥ ८७ ॥

जो है स्थिरमति कहलाता। समाधि सुख नित भोगता।
कैसा कहो वह जाना जाता। शार्ङ्गधर ॥ ८८ ॥

किस स्थितिमें वह रहता। कैसे वह बर्ताव करता।
किस रूपमें वह रहता। लक्ष्मीपति ॥ ८९ ॥

सुनके उलझी बुद्धि तेरी पाकर निश्चिय।
समाधिमें स्थिर होगी पायेगा तब योग तू ॥ ५३ ॥

अर्जुनने कहा

समाधिमें स्थिराथा जो रहता किस भांतिसे।
बोले रहे फिरे कैसे स्थित-प्रज्ञ कहो मुझे ॥५४॥

तब परब्रह्मका अवतरण। है जो षड्गुणाधिकरण।
सुन इसे वहां नारायण। बोले ऐसा ॥ २९० ॥

भगवान उवाच

प्रजाहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

स्थितप्रज्ञके लक्षण—

सुन तू अब अर्जुन। मनकी प्रौढ़ कामना।
होती अति उलझन। आत्म सुखमें ॥ ९१ ॥

सदैव जो हैं नित्य तृप्त। अन्तःकरणमें भरित।
किंतु विषयमें पतित। जिसके संगसे ॥ ९२ ॥

काम वह जब मूलतः मिटता। मन उसका आत्मतोषी हो जाता।
तभी वह स्थितप्रज्ञ कहलाता। धनंजय ॥ ९३ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

होते हैं जब दुख प्राप्त। तब न होता उद्विग्नचित्त।
सुखमें भी वह हर्षित। होता नहीं ॥ ९४ ॥
होता अर्जुन उसका चित्त। सदा काम क्रोधसे रहित।
तथा होता है भयसे मुक्त। परिपूर्ण वह ॥ ९५ ॥
ऐसा वह निरवधि। उसे जान स्थिर बुद्धि।
सब त्यागके उपाधि। द्वंद्वातीत ॥ ९६ ॥

श्री भगवानने कहा

मनकी कामना सारी छोडके अपनी वह।
आत्मामें रहता तुष्ट कहाता स्थित-प्रज्ञ सो ॥ ५५ ॥
उद्विग्न दुखःमें ना हो सुखकी लालसा नहीं।
गया राग भय क्रोध है स्थित-प्रज्ञ संयमी ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र सदैव एकसा । संपूर्ण चंद्र देता जैसा ।
सबको समान प्रकाश । न देख अधमोत्तम ॥ ९७ ॥

ऐसी अनवच्छिन्न समता । भूतमात्रमें हो सदयता ।
तथा अपरिवर्तित चित्त । सदा सर्वत्र ॥ ९८ ॥

भला पाकर नहीं रीझता । वैसे बुराईमें न खीजता ।
दोनोमें एक-सा है रहता । अप्रभावित ॥ ९९ ॥

ऐसा जो हर्ष शोक रहित । सदा आत्म-बोधसे भरित ।
जान तू है वह प्रज्ञा युक्त । धनुर्धर ॥ ३०० ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अथवा कूर्मके समान । मोदमें फैलाता है तन ।
या इच्छावश आकुंचन । करता है जो ॥ १ ॥

इंद्रिया जिसके आधीन । उनका करती कथन ।
वही है स्थितप्रज्ञ जान । तू धनंजय ॥ २ ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परंदृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

सर्वत्र जो अनासक्त पाता जब भला बुरा ।
न करे हर्ष या द्वेष है स्थित-प्रज्ञ जान तू ॥ ५७ ॥

लेता समेट संपूर्ण ईंद्रियोंको विषयसे ।
जैसे कूर्म सभी अंग तभी प्रज्ञा हुयी स्थिर ॥ ५८ ॥

निराहार बलसे जो तजे विषय देहके ।
रस न छोड़ता चित्त जलता आत्म ज्ञानसे ॥ ५९ ॥

परंदृष्ट्वा निवर्तते—

अर्जुन ! तुझसे एक । कहूंगा ऐसा कौतुक ।
विषयोंके हैं साधक । करते नियम ॥ ३ ॥

संयम करते श्रोत्रादिक । किंतु छोड़ते रसना एक ।
घेरते धर रूप अनेक । तब विषय ॥ ४ ॥

ऊपर तोड़कर अंकुर । जड़में सदा जल देकर ।
फैलेगा वृक्ष जैसा अपार । नाश ऐसा ॥ ५ ॥

पीकर जल वह अधिक । फैलाता जैसा अंग अनेक ।
रसनासे विषय अनेक । फलते मनमें ॥ ६ ॥

टूटते अन्य इंद्रियोंके । विषय नहीं रसनाके ।
हैं जो आधार जीवनके । इसीलिये ॥ ७ ॥

अर्जुन इसका नियमन । होता है तब सहज जान ।
परब्रह्मानुभव महान । होता जब ॥ ८ ॥

शरीरभाव भी मिटता । करण विषय भूलता ।
ब्रह्मभाव प्रतीत होता । अपनेमें ही ॥ ९ ॥

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥६०॥

इंद्रियोंकी प्रबलता—

वैसे तो सुन तू अर्जुन । न होती इंद्रियां स्वाधीन ।
साधक करते जतन । निरंतर ॥ ३१० ॥

अभ्यासका कर घर । यम नियमका द्वार ।
मनको पकड कर । रखते मुट्ठिमें ॥ ११ ॥

करते हैं इंद्रियां व्याकुल । साधकोंको भी जो हैं कुशल ।
मांत्रिकको जैसे है चुडैल । भ्रष्ट करती ॥ १२ ॥

ज्ञानियोंके मनको भी यत्नमें रहते हुये ।
हटाती वेगसे मत्त इंद्रियां बलवान जो ॥ ६० ॥

विषय भी होते हैं ऐसे । जो ऋध्दि-सिध्दिके रूपसे ।
जकडते हैं आ स्पर्शसे । इंद्रियोंको ॥ १३ ॥

उनके संगमें जाता है मन । अभ्यासमें होकर बल हीन ।
बल है ऐसा इंद्रियोंका जान । तू धनंजय ॥ १४ ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतमत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

रहो हृदयमें सदा अनुरक्त मेरा—

इसीलिये तू सुन पार्थ । छोडके विषयोंमें आस्था ।
इनका दमन सर्वथा । । कर निरंतर ॥ १५ ॥

इसीको तू जान अर्जुन । योग निष्ठाका है कारण ।
विषयोंसे अंतःकरण । न होता लिप्त ॥ १६ ॥

अजी ! जो आत्म बोध युक्त । होकर रहता सतत ।
हृदयमें हो अनुरक्त । रहता मेरा ॥ १७ ॥

विषयीको आत्मसुख नहीं—

किया बाह्य विषयोंका त्याग । अंदरसे रहा अनुराग ।
तब साद्यंत संसार भोग । करता वह ॥ १८ ॥

जैसा विषका लेश । लेनेसे होता विशेष ।
करता वह विनाश । जीवनका ॥ १९ ॥

वैसे विषयोंका अंश । मनमें रहके नाश ।
करता जान अशेष । विवेकको ॥ ३२० ॥

ध्यायतो विषयान् पूंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

उनको युक्तिसे रोक रहना मत्परायण ।
जिसने इंद्रियां जीती है स्थित-प्रज्ञ जान तू ॥ ६१ ॥

करे जो विषय ध्यान उनकी लगती लत ।
लतसे फूटता काम कामसे क्रोध उद्भव ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३॥

करता यदि मन विषय मनन । नि संगका भी होता उससे रंजन।
रंजनसे प्रकट होती मूर्तिमान । अभिलाषा तब ॥ २१ ॥

होता है जहां काम उत्पन्न । क्रोधका वहां जमा आसन।
क्रोध संगमें मोहको मान । अपने आप ॥ २२ ॥

मोहसे घिरते ही व्यक्ति । नाश होती उसकी स्मृति।
जैसे बवंडरमें ज्योति । बुझ जाती है ॥ २३ ॥

अथवा सायंकालमें निशा । ग्रासती जैसा सूर्य प्रकाश।
वैसी ही स्मृति भ्रंशमें दशा । होती मनुष्यकी ॥ २४ ॥

अज्ञानांध तब केवल । उससे घिरे हैं सकल।
होती वहां बुध्दि व्याकुल । हृदयमें पार्थ ॥ २५ ॥

जन्मांध जैसे घबड़ाहटमें । अकुलाता है भाग दौड़में ।
होता वैसा बुद्धिका संसारमें । धनुर्धर ॥ २६ ॥

जब ऐसा बुध्दि-भ्रंश होता । सर्वत्र उसका कुंठा होता।
ज्ञानका वहां नाश होता । मूल रूपसे ॥ २७ ॥

चैतन्यके नाशसे जैसे । होती देहकी दशा वैसे।
पुरुषकी बुध्दि-नाशसे । होती है जान ॥ २८ ॥

इसीलिये सुन अर्जुन । जैसे चिनगारी इंधन।
पड़ बढ़ती त्रिभुवन । जलाती जाती ॥ २९ ॥

वैसे विषयोंका ध्यान । जब करता है मन ।
उससे होता पतन । जान निश्चय ॥ ३३० ॥

फूटता क्रोधसे मोह मोहसे स्मृति लोप है ।
स्मृति लोप बुध्दि-नाश उसीमें आत्म-नाश है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

आत्मत्व प्राप्त पुरुष भी इंद्रियोंके लाड करके क्लेश ही पायेगा—

तभी विषयोंको मनसे । त्यागना है जड़ मूलसे ।
रागद्वेष सहजतासे । नष्ट होंगे सब ॥ ३१ ॥

सुन अर्जुन बात और एक । होकर नष्ट रागद्वेषादिक ।
इंद्रियोंका रमना है बाधक । न होता विषयोंमें ॥ ३२ ॥

सूर्य जैसा आकाशगत । छूता किरणोंसे जगत ।
किंतु संग-दोषसे लिप्त । होता नहीं ॥ ३३ ॥

इंद्रियोंमें वैसे उदासीन । आत्मरसमें होके तल्लीन ।
औ' कामक्रोधादिसे विहीन । होकर रहता ॥ ३४ ॥

विषयोंमें भी है जो सतत । आत्म तत्वमें रहता रत ।
उसको होंगे विषय पार्थ । बाधक कैसे ॥ ३५ ॥

पानीमें यदि पानी डूबता । तथा आगसे अग्नि जलता ।
तभी विषयोंमें है डूबता । जो है पूर्ण ॥ ३६ ॥

अपनेमें आप केवल । होकर रहा जो निर्मल ।
उसकी प्रज्ञा है निश्चल । तथा निर्भ्रांत ॥ ३७ ॥

प्रसादे सर्व दुःखानाम् हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्यासु बुध्दिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

पाता प्रसन्नता अखंडित । जिसका चित्त है सदोदित ।
वहां प्रवेश नहीं समस्त । भवदुःखोंका ॥ ३८ ॥

मिटा तो राग औ' द्वेष होती हैं इंद्रियां वश ।
प्रभुत्वसे इंद्रियोंके प्रसाद मिलता फिर ॥ ६४ ॥

प्रसादसे सभी दु:ख होते हैं नाश सत्वर ।
प्रसादसे बुध्दिकी तो स्थिरता शीघ्र निश्चित ॥ ६५ ॥

जैसे अमृतका निर्झर । बहाता जिसका उदर ।
भूख प्यासका क्या असर । उसपे होगा ॥ ३९ ॥

हृदय जब प्रसन्न होता है । तब दु:ख वहां कैसे रहता है ।
सहज रूपसे मति रहती है । परमात्मामें ॥ ३४० ॥

जैसे निर्वातका दीप । न जाने सर्वथा कंप ।
स्थिर बुध्दिका स्वरूप । योगयुक्त वैसे ॥ ४१ ॥

नास्ति बुध्दिरयुक्तस्य न चा युक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

मुक्तताका यह मंथन । न करता जिसका मन ।
जकडा जाता वह जान । विषयादिकोंमें ॥ ४२ ॥

उसमें स्थिर बुध्दि पार्थ । कुछ भी नहीं है सर्वथा ।
तथा स्थिरताकी जो आस्ता । नहीं होगी ॥ ४३ ॥

निश्चलताकी भावना । चितमें न होती उत्पन्न ।
शांति होगी कैसी अर्जुन । उसको कभी ॥ ४४ ॥

नहीं जहां शांतिकी लगन । वहां न होता सुखका स्थान ।
पापियोंका जो ऐसा जीवन । वहां न देखता मोक्ष ॥ ४५ ॥

बीजको आगमें भूनकर । बोनेसे नहीं आता अंकुर ।
वैसा सुख नहीं पाता नर । है जो आशांत ॥ ४६ ॥

तभी अयुक्तपन मनका । वही सर्वस्व है दु:खका ।
कारण उसका इंद्रियोंका । भला दमन ॥ ४७ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

अयुक्तको नहीं बुध्दि उससे भावना नहीं ।
न भाव-हीनको शांति नहीं सुख अशांतको ॥ ६६ ॥

इंद्रियां दौड़ती स्वैर पीछे ही चलता मन ।
मानो प्रज्ञा बंधी नौका नदीमें वायुसे चली ॥ ६७ ॥

जो जो इंद्रिय है करते । वही जो पुरुष करते ।
वे तरके भी न तरते । विषय सिंधु ॥ ४८ ॥

जैसे नांव लगी जो तीर । वही आंधीमें फंसकर ।
आती जैसी बीच भंवर । अपने आप ॥ ४९ ॥

वैसे आत्मत्व प्राप्त पुरुषके । दुलार करनेसे इंद्रियोंके ।
पायेगा वह क्लेश संसारके । अपने आप ॥ ३५० ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये स्थितप्रज्ञ दक्ष रहता है—

अपने आप यदि अर्जुन । किया है इंद्रियोंको आधीन ।
पाना कछु रहा नहीं जान । इससे अधिक ॥ ५१ ॥

कछुवा जैसे अपने फैलाता । अवयव जब वह चाहता ।
नहीं तो इच्छासे सिकोड़ लेता । अपनेमें आप ॥ ५२ ॥

इंद्रियां जिसकी अपनी होतीं । वह कहें जैसी ह बरततीं ।
जानो वह हुवा है स्थिर मति । धनुर्धर तू ॥ ५३ ॥

अब और एक गहन । कहूंगा सुनो पहचान ।
जिसने पाया है अर्जुन । पूर्णत्वको ॥ ५४ ॥

यानिशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

होते हैं जहां सब निद्रित । होता है वह वहां जाग्रत ।
जहां होते हैं सब जाग्रत । वह सोता है ॥ ५५ ॥

जिसने इंद्रियां सारीं सार्वथा है समेटलीं ।
स-निग्रह विषयोंसे तभी प्रज्ञा हुयी स्थिर ॥ ६८ ॥

रात जो सब भूतोंकी संयमी जागता वहां ।
जहां जगे सभी भूत मुनिकी रात है वह ॥ ६९ ॥

होता है वही निरुपाधि । उसे जान तू स्थिर-बुध्दि ।
वही होता है निरवधि । मुनीश्वर ॥ ५६ ॥

आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशंति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

सभी सुख-समुद्र उसमें लीन—

अर्जुन और एक प्रकार । उसको जाननेका विचार ।
शांत रहता जैसा सागर । अखंडित ॥ ५७ ॥

सरिता ओघ यदि समस्त । करते हैं जल समर्पित ।
तो भी रहता जैसे सीमित । अपनी सीमामें ॥ ५८ ॥

अथवा ग्रीष्मकालमें सरिता । सुखालेती हैं प्रवाह सर्वथा ।
किंतु उसमें न्यून नहीं आता । समुद्र वैसाही ॥ ५९ ॥

वैसे ही पानेसे ऋध्दि सिध्दि । नहीं क्षोभती उसकी बुध्दि ।
न मिलनेसे उसकी बुध्दि । न होती उदास ॥ ३६० ॥

अथवा सूरजके समीप । प्रकाश लगाते क्या दीप ।
होता क्या, न लगानेसे दीप । अंधार वहां ॥ ६१ ॥

ऋध्दि सिध्दिका उसपर । न होता कुछ भी असर ।
हियमें होती निरंतर । शांति उसके ॥ ६२ ॥

मानता जो अपना वैभव महान । उसके सम्मुख तुच्छ इंद्र भुवन ।
वह करें क्या पर्ण-कुटिमें रंजन । भिल्लोंकी ॥ ६३ ॥

न भंग पाता भर भी सदैव
समुद्र है नीर सभी पचाता ।
वैसे पचाते सब काम भोग
वे शांति पाते नहीं भोग-लुब्ध ॥७०॥

अमृतको जो फीका मानता । वह क्या कांजी पीता बैठता ।
वैसा ही स्वानुभावी त्यागता । ऋध्दि सिध्दि ॥ ६४ ॥

पार्थ है यह नवल देख । तुच्छ है जहां स्वर्गोका सुख ।
वहां ऋध्दि सिध्दिकी क्या साख । रहती है ॥ ६५ ॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारःस शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

ममता और अहंता त्यागमें शांति—

ऐसा आत्म बोधमें तुष्ट । परमानंदमें है पुष्ट ।
वही है स्थित-प्रज्ञ श्रेष्ठ । जान तू ॥ ६६ ॥

अहंकारको जो मिटाकर । सब कामनाको त्याग कर ।
विचरता विश्वमें बनकर । विश्वमें ही ॥ ६७ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

यही ब्राह्मी स्थिति—

है यह ब्राह्मी स्थिति निःसीम । अनुभवनेसे जो निष्काम ।
अनायास पाये पर-ब्रह्म । धनंजय ॥ ६८ ॥

चिद्रूपमें जब मिलता । देह-अंतकी व्याकुलता ।
नहीं वह अनुभवता । चितमें अपने ॥ ६९ ॥

वही है यह स्थिति । स्वमुखसे श्रीपति ।
कहते पार्थके प्रति । बोले संजय ॥ ३७० ॥

तजके कामना सारी फिर होकर निःस्पृह ।
अहंता ममता छूटी हुवा जो शांति रुप ही ॥ ७१ ॥

अर्जुन स्थिति है ब्राह्मी पाके न टलती वह ।
टिकती अंतमें भी जो ब्रह्म निर्वाण दायिनी ॥ ७२ ॥

सुनकर यह कृष्ण वचन । अर्जुन कहता मन ही मन ।
इस विचारसे है सिद्ध जान । अपना कार्य ॥ ७१ ॥

तीसरे अध्यायकी भूमिका—

कर्म- मार्ग इससे संपूर्ण । होता सहज निराकरण ।
तब रहा युद्धका कारण । कहां औ' कैसे ॥ ७२ ॥
इस विचारसे अर्जुन । होकर संतुष्ट महान ।
पूछेगा भला-सा प्रश्न । संदेहसे ॥ ७३ ॥
वह प्रसंग अति सुंदर । सकल धर्मका है आगर ।
या विवेकामृतका सागर । सीमातीत ॥ ७४ ॥
है जो स्वयं सर्वज्ञ नाथ । कहेगा अब श्रीअनंत ।
वही है ज्ञानदेव बात । निवृत्तिदास ॥ ७५ ॥

गीता श्लोक ७२

ज्ञानेश्वरी ओवी ३७५.



३

कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मताबुध्दिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

तो रर्म करने क्यों कहता है ?—

सुनो तब बोला अर्जुन । देव तूने कहा वचन ।
किया है उसका मनन । कमलापति ॥ १ ॥

वहां कर्म तथा कर्ता । देखनेसे नहीं रहता ।
ऐसा मत तेरा अनंत । यदि निश्चित है ॥ २ ॥

मुझे तब कैसा श्रीधर । कहता है तू युद्ध कर ।
यहां कर्ममें महा घोर । ढकलता कैसे ॥ ३ ॥

अजी तू ही कर्म अशेष । निषेध करता निःशेष ।
किंतु मुझसे यह हिंसक । कराता कैसे ॥ ४ ॥

सोचो यह हृषीकेश । मानता तू कर्म-लेश ।
हमसे तू ऐसी हिंसा । कराता है ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा

कर्मसे बुद्धिको श्रेष्ठ मानता तू जनार्दन ।
तब क्यों कर्ममें घोर डालता मुझ केशव ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

सरल शब्दोंमें उपदेश दो—

तू ही जब देव ! ऐसा कहता । अज्ञानी मैं कह क्या करता ।
मिट ही गयी अब मनो-वार्ता । विवेककी ॥ ६ ॥

ऐसा यदि तेरा उपदेश । रहा क्या दूसरा स्मृति-भ्रंश ।
हुआ अब संपूर्ण विनाश । आत्मबोधका ॥ ७ ॥

वैद्य पहला पथ्य कहता । फिरसे चुपके विष देता ।
फिर क्या है रोगीका बनता । कहो मुझे ॥ ८ ॥

भटकना जैसे अंधेको । मद्य पिलाना मर्कटको ।
वैसा उपदेश हमको । देता सुन्दर ॥ ९ ॥

पहले ही मैं हूं अजान । फिर मोहग्रस्त महान ।
विवेक मैंने यह मान । तुझसे पूछा ॥ १० ॥

देव ! है तेरी निराली बात । उपदेशसे चित्त भ्रमित ।
ऐसे करना है क्या उचित । अपनोंसे ॥ ११ ॥

हम हैं तन-मन जीवसे । करें अनुकरण सदासे ।
तथा तेरा करना जो ऐसे । मिटा सर्वस ॥ १२ ॥

ऐसा यदि तेरा उमदेश । उसमें कैसी हितकी आस ।
औ' मिटे ज्ञानार्जनकी आस । कहता अर्जुन ॥ १३ ॥

गई कुछ जाननेकी बात । मन भी हुआ अव्यस्थित ।
पहले था जो स्थिर चित्त । मेरा देव ॥ १४ ॥

वैसे है श्रीकृष्ण तेरा । चरित्र अति गहरा ।
तू देखता चित्त मेरा । इस बहाने ॥ १५ ॥

अथवा तू हमें फंसाता । या गूढ तत्व है कहता ।
वह समझमें न आता । सोचनेसे ॥ १६ ॥

मिश्र-वचनसे बुद्धि करता मोह-युक्त तू ।
जिससे श्रेय पावूं मैं कह तू एक निश्चित ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बाल मेरी सुनना । गूढार्थ मुझसे न बोलना ।
सरल विवेक जो कहना । देश-भाषामें ॥ १७ ॥

मेरी मति है जड़ अत्यंत । तो भी समझुं ऐसी ही बात ।
हरि तुझे बोलना सतत । निश्चयात्मक ॥ १८ ॥

रोगको है यदि जीतना । उस पर औषध देना ।
किंतु वह सुस्वादु होना । अति मधुर ॥ १९ ॥

देव तेरे जैसे सद्गुरु । इच्छाकी तृप्ति क्यों न करूं ।
यहां संकोच किसका धरूं । तू ही माय मेरी ॥ २० ॥

अजी ! कामधेनु दुहनेमें । आयी अपने ही सदनमें ।
तब भी कामना करनेमें । कृपणता क्यों ? ॥ २१ ॥

चिंतामणि करमें आया । वांछित जो मन भाया ।
भोगनेमें संकोच किया । ऐसा क्यों ॥ २२ ॥

अमृत-सागरके पास । आके न मिटाता है प्यास ।
आना तब उसके पास । व्यर्थ ही है ॥ २४ ॥

जन्मोंकी उपासनासे । श्रीहरि दैव योगसे ।
तू हुआ है अपनेसे । आधीन आज ॥ २५ ॥

तभी न मांगें क्यों सर्वस । सुकाल है यह परेश ।
आयी जन्मांतरकी आस । पूर्ण होनेको ॥ २६ ॥

सकल जीवन सफल । मिला पुण्य यशका फल ।
सिद्ध मनोरथ सकल । हुए मेरे ॥ २७ ॥

सकल मंगल धाम । अजी देवदेवोत्तम ।
हुआ आज पूर्ण काम । तू स्वाधीन है ॥ २८ ॥

माताके पास बालक जैसे । लगता है स्तनमें स्वेच्छासे ।
न देखे काल अकाल वैसे । भक्त वत्सल ॥ २९ ॥

वैसे देव तुझसे । पूछते हैं स्वेच्छासे ।
न जाने समय ऐसे । कृपानिधि ॥ ३० ॥

देव ! सर्वत्र जो हित । आचरणमें उचित ।
कह एक जो निश्चित । कहता पार्थ ॥ ३१ ॥

भगवान उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। ३ ।।

अधिकार भेदसे उपदेश भिन्नता—

इस बातसे अच्युत । कहता है हो विस्मित।
अर्जुनका है ध्वनित । अभिप्रायसे ।। ३२ ।।

अजी! बुध्दि-योगकी बात । कहनेमें ही सांख्यमत।
प्रकट किया स्वभावतः । अल्पमें ही ।। ३३ ।।

उद्देश्य न वह जान कर । क्षुभित हुआ तेरा अंतर।
कहूंगा मैं दोनों सत्वर । योग मार्ग ।। ३४ ।।

सरल शब्दोंमें उपदेश दो—

सुन तू वीर श्रेष्ठ । जनमें दोनों निष्ठा।
मुझसे ही प्रकट । अनादि सिद्ध ।। ३५ ।।

एक ज्ञान-योग कहलाता । अनुष्ठान जो सांख्य करता।
मूल तत्वसे है तन्मयता । पाता है वह ।। ३६ ।।

दूसरा कर्मयोग जान । जो साधक जन निपुण।
प्राप्त करते वे निर्वाण । परमगति ।। ३७ ।।

मार्ग है दोनों भिन्न । अन्तमें हैं समान।
पक्वापक्व भोजन । तृप्ति एक ।। ३८ ।।

या पूर्व-पश्चिमकी सरिता । दीखनेमें है अति भिन्नता।
सागर संगमसे एकता । होती दोनोंमें ।। ३९ ।।

वैसे हैं ये दोनों मत । एक हेतुसे प्रेरित।
किंतु जैसे उपासित । योग्यतासे ।। ४० ।।

श्रीभगवानने कहा

जगमें द्विहरी निष्ठा कही है पहले तुझे।
ज्ञानसे सांख्य जो पाते योगी हैं कर्मसे यही ।। ३ ।।

पंछी जैसे उड़कर । पाता है फल सत्वर ।
पायेगा क्या ऐसा नर । पक्षिकी भांति ॥ ४१ ॥

चढेगा वह डाल डाल । देख करके काल वेल ।
धीरेसे पायेगा ही फल । निश्चित ॥ ४२ ॥

वैसे विहंगम गतिसे । आचरण कर ज्ञानसे ।
सांख्य अति तीव्र गतिसे । पाता मोक्ष ॥ ४३ ॥

वैसे योगी कर्माधार । बिधिसे कर्म आचर ।
पूर्णत्व स-अवसर । पाता ही है ॥ ४४ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिध्दिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न कर कर्मारंभ उचित । बनना चाहे तो सिद्धवत ।
कर्म हीनको जान निश्चित । असंभव ॥ ४५ ॥

प्राप्त कर्म छोडना । फिर नैष्कर्म्य होना ।
व्यर्थ बोल अर्जुन । मूर्खताके ॥ ४६ ॥

वहां किनारे लगना । यहां नावको त्यजना ।
ऐसी बातोंका घडना । कैसे होगा ॥ ४७ ॥

इच्छा करना भोजनकी । किंतु पाक न करनेकी ।
सिद्ध पाक भी त्यजनेकी । होगी कैसी ॥ ४८ ॥

जब तक नहीं हुई निरिच्छिता । तब तक कर्मकी अनिवार्यता ।
आत्म तृप्तिसे मिटता स्वभावता । कर्म बंधन ॥ ४९ ॥

इसलिये तू सुन पार्थ । जिसे है नैकर्म्यमें आस्था ।
उसे उचित कर्म सर्वथा । नहीं त्याज्य ॥ ५० ॥

अपने करनेसे होता । तथा छोड़नेसे मिटता ।
इच्छा पर है क्या चलता । कभी कर्म ॥ ५१ ॥

टालके कर्म आंरभ नैष्कर्म्य मिलता नहीं ।
संन्यासकी क्रियासे ही न पाते पूर्ण सिद्धिको ॥ ४ ॥

ऐसा बोलना जान व्यर्थका । हल करना उलझनका ।
त्यजनेसे न होता कर्मका । त्याग निश्चित ॥ ५२ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कर्मातीत अवस्थामें कर्मत्याग असंभव—

जब है प्रकृतिका अधिष्ठान । तब छोड़ना करना अज्ञान ।
चेष्टायें चलती हैं गुणाधीन । अपने आप ॥ ५३ ॥

विहित कर्म है जितना । ठान लिया यदि त्यागना ।
मिटेंगे क्या स्वभाव नाना । इंद्रियोंके ॥ ५४ ॥

सुनना छोडेंगे क्या कान । देखना छोडेंगे नयन ।
सूंघना भूलेगा क्या घ्राण । गंध जो ॥ ५५ ॥

अथवा प्राणापानकी गति । निर्विकल्प बनेगी क्या मति ।
तथा क्षुधा-तृषादिकी आर्ति । मिटेगी क्या ॥ ५६ ॥

मिटेगा क्या स्वप्नादि बोध । भूलेंगे क्या चलना पाद ।
तथा जन्म-मृत्युका नाद । मिटेगा क्या ॥ ५७ ॥

यह सब नहीं रुकता । इसीलिये कर्म रहता ।
कर्मका त्याग नहीं होता । देह धारिका ॥ ५८ ॥

कर्म होता है पराधीन । प्रकृति गुणसे निष्पन्न ।
चित्तका यह अभिमान । है व्यर्थका ॥ ५९ ॥

बैठा जब रथ पर । अति निश्चल होकर ।
किंतु चले पथ पर । परतंत्र हो ॥ ६० ॥

अथवा उड़ा हवासे । सूखा पत्ता ऊंचा जैसे ।
भ्रमता निच्चेष्टातासे । आकाशमें ॥ ६१ ॥

बिना कर्म कभी कोयी न रहे क्षण-मात्र भी ।
प्रकृति गुणसे सारे बद्ध हो करते नित ॥ ५ ॥

वैसे प्रकृति आधार । कर्मेंद्रियोंके विकार ।
चले कर्म निरंतर । नैष्कर्म्यका ।। ६२ ।।

जब तक नाता है प्रकृतिका । तब तक त्याग न होता कर्मका ।
ऐसा करूंगा कहनेवालों का । रहता है उठ ।। ६३ ।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ६ ।।

कर्म त्यागमें नैष्कर्म्यका दंभ—

उचित कर्म जो छोड़ते । नैष्कर्म्य साधना चाहते ।
प्रकृति निरोध करते । कर्मेंद्रियोंकी ।। ६४ ।।

उनका कर्म त्याग नहीं होता । कर्तव्य भाव मनमें रहता ।
वैसा केवल बनाव बनता । दरिद्र जो ।। ६५ ।।

ऐसे वे रहते पार्थ । विषयासक्त सर्वथा ।
जानना यह तत्वता । मिभ्रांत ।। ६६ ।।

अब मेरी बात सुन । अवसर है अर्जुन ।
कहता नैष्कर्म्य चिन्ह । तुझसे मैं ।। ६७ ।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्असक्तः स विशिष्यते ।। ७ ।।

आत्मरत कर्मोंसे कर्म-मुक्त नैष्कर्मी है—

होता जो अन्तरमें दृढ । परंमात्म रूपमें गूढ ।
बाहर लौकिकमें रूढ । सबका सा ।। ६८ ।।

इंद्रियोंको आज्ञा नहीं देता । विषयोंका भय न धरता ।
प्राप्त कर्म वह न छोड़ता । उचित जो ।। ६९ ।।

रोक कर्मेंद्रियोंको तो चित्तमें स्मरता रहा ।
विषयोंको मह-मूढ मिथ्याचारी कहा उसे ।। ६ ।।

मनसे इंद्रियोंको तो लगके कर्ममें नित ।
निःसंग रहता योगी माना वह विशेष है ।। ७ ।।

इंद्रियोंको वह कर्ममें । नहीं रोकता बंधनमें ।
किंतु उनकी ऊर्मियोंमें । उलझता नहीं ॥ ७० ॥

न होता कामनामें लिप्त । नहीं मोह मलमें सिक्त ।
सदा रहता है अलिप्त । पद्मपत्रसा ॥ ७१ ॥

सबके संगमें वह रहता । सबके समान वह दीखता ।
जैसे जलमें है आभास होता । भानुबिंबका ॥ ७२ ॥

जन सामान्यसा रहता । साधारण ही दीखता ।
वैसे निर्णय नहीं होता । कल्पनासे भी ॥ ७३ ॥

ऐसे चिन्होंसे चिन्हित । रहता है वह मुक्त ।
आशा पाशसे रहित । उसे जान ॥ ७४ ॥

वही है योगी कहलाता । विश्व-विशेष हो रहता ।
तभी मैं तुझसे कहता । बन वैसा ॥ ७५ ॥

मनका तू नियमन कर । निश्चल कर निज अन्तर ।
कर्मेंद्रियोंका व्यापार कर । सुखसे तब ॥ ७६ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

निरंहकार निष्काम कर्म कर –

होना चाहे यदि कर्मातीत । यह यहां असंभव बात ।
सोचो निषिद्धकर्ममें रत । रहे क्यों ॥ ७७ ॥

इसी लिये जो है उचित । तथा समय पर प्राप्त ।
वह कर्म, हेतु रहित । करते जाना ॥ ७८ ॥

पार्थ अन्य ही एक । न जाने तू कौतुक ।
ऐसा कर्म मोचक । सहज होता ॥ ७९ ॥

रहता जो कर्मानुगत । स्वधर्ममें सतत रत ।
जिससे है मोक्ष निश्चत । जान तू ॥ ८० ॥

नेमे हुये करो कर्म योग्य हैं करना इसे ।
तेरी शरीर यात्रा भी बिना कर्म चले नहीं ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

स्वधर्म अनादि और अनिवार्य –

स्वधर्म जो है अर्जुन । वही नित्य यज्ञ जान ।
करनेसे आचरण । नहीं पाप ॥ ८१ ॥

त्यजनेसे निज-धर्म । चिपकते हैं कुकर्म ।
यह बंधनका मर्म । सांसारिक ॥ ८२ ॥

तभी स्वधर्माचरण । नित्य यज्ञके समान ।
जिससे होता बंधन । कभी नहीं ॥ ८३ ॥

लोक है यह कर्ममें बद्ध । परतंत्र देहमें आबद्ध ।
क्यों कि हैं नित्य यज्ञ विरुद्ध । चलनेसे ॥ ८४ ॥

इस विषयमें अब पार्थ । कहता हूं तुझे एक कथा ।
विश्व आदिकी यह है संस्था । रची ब्रह्माने ॥ ८५ ॥

सहयज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

वह नित्य-याग सहित । सृजे भूत मात्र समस्त ।
किंतु ये यज्ञसे अज्ञात । सूक्ष्म होनेसे ॥ ८६ ॥

प्रार्थना जब की प्रजाने ब्रह्मकी । औ' याचना की उनसे आश्रयकी ।
कमल संभवने तब बात की । भूतमात्रसे ॥ ८७ ॥

वर्ण विशेषको हमने उचित । व्यवस्था की है स्वधर्मकी निश्चित ।
उस पर चलनेसे है खचित । इच्छा तृप्ति ॥ ८८ ॥

यज्ञार्थ कर्मको छोड लोकमें कर्म-बंधन ।
यज्ञार्थ ही कर कर्म अर्जुन मुक्त संग तू ॥ ९ ॥

प्रजाके साथ ही यज्ञ ब्रह्माने सृजके कहा ।
यज्ञोंसे ही बनो श्रेष्ठ तुम्हारी कामधेनु ये ॥ १० ॥

न करना अनुष्ठान । न यात्रादि तीर्थस्थान
औ' अन्य देह दंढन । करना नहीं ॥ ८९ ॥

न करे योगादि साधन । तथा सकाम आराधन ।
मंत्र तंत्र आदि विधान । अनावश्यक ॥ ९० ॥

देवताओंका पूजन । सर्वथा ही वर्ज मान ।
करो स्वधर्माचरण । अनायास ॥ ९१ ॥

सदा अहेतुक भावसे । ततिव्रता जैसे पतिसे ।
अनुसरना तुम वैसे । स्वधर्मको ॥ ९२ ॥

वैसा स्वधर्म रूप मख । यही नित्य सेव्य है एक ।
ऐसा सत्य-लोक नायक । कहने लगे ॥ ९३ ॥

नित जो स्वधर्म भजेगा । उसकी कामधेनु होगा ।
न प्रजाको वह त्यजेगा । यह निश्चित ॥ ९४ ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इससे होगा समस्त । संतुष्ट होंगे दैवत ।
फिर तुम्हे वे ईप्सित । देंगे वर ॥ ९५ ॥

स्वधर्म पूजनसे नित । देव गण मिल समस्त ।
योग क्षेम सब निश्चित । देखेंगे तुम्हारा ॥ ९६ ॥

देवोंको तुम भजोगे । देव तुम्हें तोष देंगे ।
ऐसा परस्पर होगा । प्रेम वहां ॥ ९७ ॥

जहां जो करना चाहेगा । वह सहज सिद्ध होगा ।
वांछित जो वर मिलेगा । मानसका ॥ ९८ ॥

वाचा सिद्धि मिलेगी । आज्ञा धारक होंगी ।
तुमसे आज्ञा लेंगी । महा सिद्धियां ॥ ९९ ॥

देवोंको यज्ञसे तोषो तोषेंगे देव भी तुम्हें ।
अन्योन्य करके तुष्ठ पावो परम श्रेयको ॥ ११ ॥

जैसे ऋतुपतिका द्वार । वनश्रीसे ही निरंतर ।
लदा रहता फल भार । सौंदर्यमय ॥ १०० ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

वैसे सब सुखके साथ । दैव ही जैसे मूर्तिमंत ।
खोज कर तुम्हारा पथ । आयेगा जान ॥ १ ॥

होंगे समस्त भोग भरित । वैसे ही सदा इच्छा रहित ।
होंगे यदि स्वधर्म निरत । रहोगे भाई ॥ २ ॥

किंतु सकल संपदा तजकर । तथा इंद्रिय मदमें डूब कर ।
विषय स्वादमें जो लुब्ध होकर । रहता है सदा ॥ ३ ॥

तजकर वह यज्ञ भाव । देते हैं जो यज्ञ-तुष्ट देव ।
रख ईश्वरमें भक्ति भाव । भजेगा नहीं ॥ ४ ॥

न अग्नि मुखमें हवन । न करेगा देवतार्चन ।
न प्राप्त समय भोजन । ब्राह्मणोंको ॥ ५ ॥

नहीं करेगा गुरु-भक्ति । तथा न आदर अतिथि ।
न रखेगा संतुष्ट जाति । अपनी भी ॥ ६ ॥

स्वधर्म-क्रिया रहित । संपन्नतामें प्रमत्त ।
ऐसा मात्र भोगासक्त । होगा वह ॥ ७ ॥

इसमें है आपदा बहुत । संपदा होगी उसकी हत ।
न भोग सकेगा वह प्राप्त । भोग भी कभी ॥ ८ ॥

शरीर है जिसका गतायुष । उसमें न होता चैतन्यवास ।
दैव हत घरमें कभी वास । न होता लक्ष्मीका ॥ ९ ॥

लोप होता है जब स्वधर्मका । टूटता तब आश्रय सुखका ।
मिटता बुझनेसे दीपकका । प्रकाश जैसे ॥ १० ॥

यज्ञ-तुष्ट तुम्हें देव देंगे इच्छित भोग जो ।
उनका न उन्हे देके खाता जो वह चोर है ॥ १२ ॥

मिटती है जब निज-वृत्ति । न रहती स्वातंत्र्यकी वस्ती।
सुनो प्रजाजन यह उक्ति । कहता है ब्रह्म ॥ ११ ॥

जो कोई स्वधर्म छोड़ेगा । उसको काल दंड देगा।
चोर मानके हर लेगा । उसका सर्वस ॥ १२ ॥

जन्म देता सभी पापको । घेर लेते हैं जो उसको ।
रात्रि स-समय स्मशानको । जैसे भूत ॥ १३ ॥

दुःख क्लेश वहां त्रिभुवनके । पाप अनेकानेक प्रकारके ।
घर करते हैं दैन्य विश्वके । उसी स्थानमें ॥ १४ ॥

वह उन्मत्त ऐसे । कितने ही रोनेसे ।
कल्पांतमें भी उसे । नहीं मुक्ति ॥ १५ ॥

इसीलिये निज धर्म न छोड़ना । इंद्रियोंको नहीं भड़कने देना ।
चनुराननने कहे ये वचन । प्रजा जनसे ॥ १६ ॥

छोड़ते ही जैसे जलचर । उसी क्षणम जाता है मर।
वैसा ही स्वधर्म छोड़कर । होता नाश ॥ १७ ॥

इसीलिये तुमको समस्त । अपनेलिये है जो उचित ।
स्वकर्ममें रहना उचित । कहा ब्रह्मने ॥ १८ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

तन त्यक्तेन-शेष प्रसाद सेवन —

जो विहितक्रिया विधि । करे निर्हेतुक बुध्दि ।
जिससे प्राप्त समृद्धि । करता विनियोग ॥ १९ ॥

गुरु गोत्र अग्नि जो पूजता । स-समय द्विजको भजता ।
निमित्तादिकमें जो यजता । पितरुद्देरासे ॥ १२० ॥

यज्ञ क्रियामें जो उचित । आहुति देकर बचत ।
हुत शेष ही स्वभावतः । रहता है ॥ २१ ॥

खाके संत यज्ञ-शेष जलाते दोष हैं सब ।
पापी वे पाप खाते हैं पकाते अपने लिये ॥ १३ ॥

अपने घरमें उसका सुखसे । आप्त सहित भोजन करनेसे ।
वह सुख भोग ही सब दोषोंसे । करेगा मुक्त ॥ २२ ॥

वह यज्ञ-शिष्ट भोग । सभी हरते हैं अघ ।
जैसे नष्ट होते रोग । अमृत सिद्धिसे ॥ २३ ॥

अथवा तत्व-निष्ठ जैसा । भ्रम रहित होता वैसा ।
यज्ञ शिष्ट भोग ही वैसा । होता दोष रहित ॥ २४ ॥

स्वधर्मसे जो किया उपार्जन । स्वधर्ममें व्यय कर सुजन ।
शेषका भोग करके अर्जुन । रहता तुष्ट ॥ २५ ॥

बिन उसके सुन तू पार्थ । आचरना नहीं अन्यथा ।
ऐसी है यह आदिकी कथा । कहता कृष्ण ॥ २६ ॥

जो हैं देहको ही आप मानते । विषय ही को है भोग्य जानते ।
बिन इसके नहीं समझते । दूसरा कुछ ॥ २७ ॥

जीवन है यज्ञोपकरण । न जानकर मोह कारण ।
भ्रमग्रस्त उदर भरण । करते अहंभावसे ॥ २८ ॥

जिव्हा चापल्यसे जो लोक । कराते रुचिकर पाक ।
सेवन करते पातक । पापी जन ॥ २९ ॥

जो है संपत्ति-मात्र संपूर्ण । यज्ञ द्रव्य होनेके कारण ।
करता स्वधर्म-यज्ञार्पण । आदि पुरुषमें ॥ १३० ॥

यज्ञ-शेष अन्न है ब्रह्म—

यह छोड़ कर मूर्ख । अपने लिये ही देख ।
बनवाते हैं सुपाक । नानाविध ॥ ३१ ॥

जिससे यज्ञ सिद्ध होता है । परेशको संतोष होता है ।
यह सामान्य नहीं होता है । अन्न तू जान ॥ ३२ ॥

इसे न मानना तू साधारण । जीवन हेतु होनेके कारण ।
ब्रह्मरूप अन्न है यह जान । विश्वमें सर्वत्र ॥ ३३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्नसे ही हैं भूत । बढ़ते हैं समस्त ।
फिर मेघ अन्नार्थ । बरसते हैं ॥ ३४ ॥

यज्ञसे पर्जन्यका जन्म । यज्ञको प्रसवता है कर्म ।
तथा कर्मका आदि है ब्रह्म । वेद रूप ॥ ३५ ॥

फिर वेदोंका परापर । प्रसवता है अक्षर ।
इसीलिये सचराचर । ब्रह्म-बद्ध ॥ ३६ ॥

किंतु कर्मकी है जो मूर्ति । यज्ञमें अधिष्ठित श्रुति ।
सुन तू हे सुभद्रापति । अखंडित ॥ ३७ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

पूर्व कर्म-फल भोगके लिये मनुष्य जन्म—

ऐसी है आदि परंपरा । संक्षेपमें धनुर्धरा ।
कही है तुझसे अध्वरा- । केलिये ॥ ३८ ॥

तभी मूलमें यह उचित । स्वधर्म रूप यज्ञ सुकृत ।
आचरण न करते मत्त । इस लोकमें ॥ ३९ ॥

अन्नसे जन्मते जीव वर्षासे अन्न संभव ।
यज्ञसे बरसे वर्षा कर्मसे यज्ञ उद्भव ॥ १४ ॥

ब्रह्मसे कर्म उत्पन्न ब्रह्म अक्षरसे बना ।
सर्वव्यापक जो ब्रह्म यज्ञमें रहता नित ॥ १५ ॥

ऐसा प्रेरक जो चक्र निभाता जगमें नहीं ।
इंद्रियासक्त है पापी खोता है व्यर्थ जीवन ॥ १६ ॥

रचते वे ढेर पातकोंके । भार रूप जानो वे भूमिके ।
कुकर्म करते इंद्रियोंके । तोषार्थ जो ॥ १४० ॥

उनका जन्म कर्म सकल । अर्जुन है अति निष्फल ।
जैसे होता है अभ्र पटल । अकालका ॥ ४१ ॥

अथवा कंठ स्तन हैं अजके । वैसे जीवन है मान उनके ।
जिससे अनुष्ठान स्वधर्मके । घडते नहीं ॥ ४२ ॥

इसीलिये सुन अर्जुन । स्वधर्मको नहीं त्यजना ।
सर्व भावसे है भजना । यही एक ॥ ४३ ॥

शरीर हुवा यदि प्राप्त । वह पूर्व कर्मानुगत ।
फिर कर्तव्य जो उचित । छोड़ना क्यों ॥ ४४ ॥

सुन तू यह धनुर्धर । प्राप्त कर यह शरीर ।
आलस्य करते गंवार । कर्ममें जो ॥ ४५ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्यैव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

आत्मलीन ही कर्म मुक्त–

वे रह कर देह धर्ममें । लिप्त नहीं होते हैं कर्ममें ।
रमते हैं जो आत्म रुपमें । अखंडित ॥ ४६ ॥

आत्मबोधमें जो मुदित । अपनेमें हुवा कृतार्थ ।
इसीलिये सहज मुक्त । कर्म संगसे ॥ ४७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

आत्मामें ही रमता जो तृप्त हो आत्म भोगमें ।
आत्मामें ही सदा तुष्ट वह कर्तव्य मुक्त है ॥ १७ ॥

करे या न करे कर्म उसको ना प्रयोजन ।
न रहा उसका लोभ किसी भी प्राणिमें कहीं ॥ १८ ॥

आत्महित और लोकहितार्थ कर्म—

तृप्ति हुई है जिसकी । साधना मिटी उसकी ।
बात आत्म-संतोषकी । कर्ममें नहीं ॥ ४८ ॥

जब तक है अर्जुन । आत्म-बोध न लेता मन ।
तब तक है साधना । रहती ही ॥ ४९ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसीलिये तू नियत । सभी कामना रहित ।
होकर कर उचित । स्वधर्माचरण ॥ १५० ॥

स्वकर्ममें निष्कामता । अनुकरण किया पार्थ ।
उन्होने पाया है तत्वता । कैवल्यधाम ॥ ५१ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

देख तू जानकादिक । कर्मजात है अशेष ।
न छोड़के मोक्ष सुख । पाये यहां ॥ ५२ ॥

इस कारणसे पार्थ । करना कर्ममें आस्था ।
और भी एक है अर्थ । उपकारक ॥ ५३ ॥

अपने आचरण करनेसे । होगा अनुकरण जिससे ।
कर्म लोपकी विपदासे । बचेगा विश्व ॥ ५४ ॥

जिसने पाया जो पानेका । बीज भी मिटा कामनाका ।
फिर भी कर्तव्य उनका । रहा औरोंकेलिये ॥ ५५ ॥

तथैव नित्य निःसंग कर कर्तव्य कर्म तू ।
निःसंग करके कर्म कैवल्य पद लाभता ॥ १९ ॥

प्राप्त की है कर्मसे ही संसिद्धि जनकादिने ।
कर तू कर्म जो योग्य लोक-संग्रहकेलिये ॥ २० ॥

अंधोंको दिखानेमें जैसे । स-दृष्टि राह चला वैसे ।
आचरणसे धर्म वैसे । सिखाना मूढको ॥ ५६ ॥

ज्ञानी यदि ऐसा न करेंगे । अज्ञानी यह कैसे जानेंगे ।
कैसे धर्माचरण करेंगे । उचित रुपसे ॥ ५७ ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

बढ़े लोग जो जो करते । उसीको धर्म है कहते ।
उसको अन्य आचरते । सामान्य सभी ॥ ५८ ॥

ऐसा होना ही है स्वाभाविक । तभी कर्माचरण आवश्यक ।
विशेष रुपसे है अधिक । संत जनोंको ॥ ५९ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

मैं स्वयं कर्म रत हूं—

अब दूसरोंकी बात । कहूं क्यों तुझसे पार्थ ।
स्वयं कर्ममें सतत । रहता यहां ॥ १६० ॥

मुझमें है कोई अपूर्णता । अथवा किसी इच्छासे पार्थ ।
मैं स्वधर्माचरण करता । ऐसा कहो तो ॥ ६१ ॥

देखें तो पूर्णत्वकी दृष्टिसे । दूसरा नहीं विश्वमें ऐसे ।
मुझमें बसा बल है ऐसे । जानता तू ॥ ६२ ॥

मृत गुरु-पुत्रको दिया जीवन । तूने देखा है यह कार्य महान ।
औ' मैं कर रहा कर्म स-लगन । प्रसन्न चित्तसे ॥ ६३ ॥

जो जो आचरते श्रेष्ठ उसीको दूसरे जन ।
वह जो करता मान्य उसीको अन्य लोग भी ॥ २१ ॥

नहीं कर्तव्य कोयी भी मुझको तीन लोकमें ।
फिर भी मैं सदा पार्थ रहता कर्म-तत्पर ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

पर स्वधर्म रत हूं कैसा । सकाम रत रहता वैसा ।
पार्थ उसका उद्देश्य ऐसा । एक ही है ॥ ६४ ॥

प्राणि मात्र यहां सकल । हमारे आधीन केवल ।
जिससे रहे वे सरल । स्वधर्ममें रत ॥ ६५ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

हम हैं पूर्ण काम होकर । आत्मस्थितिमें ही रह कर ।
करेगी कैसी प्रजा संसार । पार सकल ॥ ६६ ॥

हमारा ही आचरण देखना । उसीका अनुकरण करना ।
है यह प्रजा-जनका अपना । नियम जैसा ॥ ६७ ॥

इसीलिये जो हैं समर्थ । तथा सर्वज्ञतासे युक्त ।
कर्म त्याग नहीं उचित । उसको कभी ॥ ६८ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अर्जुन फलकी आशासे । आचरता कामुक जैसे ।
कर्म रत रहता वैसे । निरिच्छ ही ॥ ६९ ॥

बड़ोंको सुन पार्थ । सकल लोक-संस्था ।
रक्षणीय है सर्वथा । इसीलिये ॥ १७० ॥

न रहूं मैं कर्म-लीन तजके यदि आलस ।
चलेंगे लोगभी ऐसे सर्वथा इस मार्गसे ॥ २३ ॥

छोंडूंगा यदि मैं कर्म होगा विनाश लोकका ।
बनूंगा संकर द्वारा प्रजाका नाश-कारण ॥ २४ ॥

फंसके करता अज्ञ ज्ञानीको मुक्त भावसे ।
करना कर्म वैसे ही लोक-संग्रह हेतुसे ॥ २५ ॥

शास्त्रोचित ही बरतना । विश्वको सुपथ बताना ।
अलौकिक नहीं बनना । लोगोंमें कभी ॥ ७१ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

आयाससे जो स्तन्य पीता । वह पक्वान्न कैसे खाता ।
शिशुको नहीं दिया जाता । कभी मिष्टान्न ॥ ७२ ॥

वैसे कर्ममें अयोग्यता । उससे कभी नैष्कर्म्यता ।
विनोदमें भी न कहता । अर्जुन कभी मैं ॥ ७३ ॥

लोक संग्रहार्थ कुशलता पूर्वक कर्म—

उन्हे सत्कर्ममें लगाता । उनकी प्रशंसा करता ।
आचरण कर दिखाता । नैष्कर्म्यका ॥ ७४ ॥

सदा जो लोक संग्रहार्थ । रहता है कर्ममें रत ।
वह कर्म बंध रहित । रहता है ॥ ७५ ॥

बहुरूपियोंके राजारानीको जैसे । न चिपकता स्त्री पुरुष-भाव वैसे ।
लोक-संग्रहार्थ कर्म-रत होनेसे । नहीं है कर्म बंधन ॥ ७६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७॥

अजी दूसरेका है भार । यदि अपने सिर पर ।
लिया तो उसका असर । न होगा क्या ॥ ७७ ॥

वैसे हैं शुभाशुभ कर्म । उपजाता प्रकृति-धर्म ।
उसको मूर्ख-मति-भ्रम । कहता "मैंने किया" ॥ ७८ ॥

अहंकार पर आरूढ । ऐसा जो संकुचित मूढ ।
उसको परमार्थ गूढ । कहना नहीं ॥ ७९ ॥

अबोध कर्म-निष्ठोंका बुध्दि भेद करो नहीं ।
जगावो कर्ममें चाव करके साम्य भावसे ॥ २६ ॥

होते हैं कर्म जो सारे प्रकृतिके स्वभावसे ।
अहंकारी बना मूढ मानता करता स्वयं ॥ २७ ॥

यह है जो प्रस्तुत । कहा तुझसे हित ।
पार्थ दे कर चित्त । सुन सब ॥ १८० ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुंणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अजी है तत्वज्ञानियोंका चित्त । होता प्रकृतिसे अप्रभावित ।
इस प्रकृतिमेंसे कर्म जात । होते उत्पन्न ॥ ८१ ॥

देहभिमान वे तजकर । गुण कर्मको ही पारकर ।
रहते साक्षी रूप होकर । शरीरमें ही ॥ ८२ ॥

अजी शरीरधारी होकर भी । कर्म-बंधसे मुक्त होते तभी ।
जैसे लिप्त न होता सूर्य कभी । विश्वके कर्मसे ॥ ८३ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥२९॥

गुण संग्राममें जो घिरकर । तथा प्रकृतिके वश होकर ।
रत होता कार्यमें निरंतर । वही कर्म बद्ध ॥ ८४ ॥

इंद्रियां सदा गुणाधार । करती अपना व्यापार ।
पर कर्म अपने पर । लेते वे बद्ध ॥ ८५ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्ताध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

गुण ये और ये कर्म इससे भिन्न मान मैं ।
रहे असंग तत्वज्ञ गुणमें गुण आचर ॥ २८ ॥

डूबे जो गुण कर्मोंमें प्रकृति गुणसे ठगे ।
ऐसे अल्पज्ञ मूढोंको ज्ञानी भ्रांत करे नहीं ॥ २९ ॥

मुझे अध्यात्म बुद्धिसे कर सर्व समर्पण ।
फलाशा ममता सारी छोडके जूझ तू यहां ॥ ३० ॥

उठो, स्वधर्माचरणार्थ कर्म करो—

उचित कर्म सभी कर । उन्हे मुझे अर्पण कर ।
चित्त वृत्तिको लीन कर । आत्मामें ही ॥ ८६ ॥

कर्म कर्तृत्वका भान । औ' उसका अभिमान ।
न कर कभी अर्जुन । मनमें भी ॥ ८७ ॥

शरीरासक्तिको छोड़ना । कामना सबको त्यजना ।
समयपे फिर भोगना । प्राप्त भोग ॥ ८८ ॥

कोदंड लेकर अब करमें । चढ़ कर बैठा अब रथमें ।
आलिंगन कर वीर वृत्तिमें । शांत भावसे ॥ ८९ ॥

विश्वमें कीर्तिको फैलाओ । स्वधर्मका मान बढ़ावो ।
पापके भारसे छुडावो । पृथ्वीको अब ॥ १९० ॥

अर्जुन ! संदेहको छोड दो । संग्राममें ही अब चित्त दो ।
अन्य कछु बोलना त्यज दो । अबसे फिर ॥ ९१ ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

आत्म रत कर्मसे विकास, प्रकृति तंत्र कर्मसे विनाश—

यह है मेरा मत यथार्थ । अत्यादरसे आचरणार्थ ।
निष्ठा पूर्वक अनुष्ठानार्थ । कहा अर्जुन ॥ ९२ ॥

सकल कर्ममें हो रत । ऐसा होना कर्म रहित ।
इसीलिये यह निश्चित । है करणीय ॥ ९३ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

मेरा शासन जो नित्य मानते हैं निर्मत्सर ।
श्रद्धासे अज्ञ निष्पाप तोडते कर्म-बंधन ॥ ३१ ॥

किंतु मत्सर-बुद्धिसे मेरा शासन तोड़ते ।
वे ज्ञान-शून्य जो मूढ पाते हैं नाश निश्चित ॥ ३२ ॥

या प्रकृतिमें रत हो कर । इंद्रियोंको दुलारकर ।
मेरे मतको ठुकरा कर । बरतते हैं ॥ ९४ ॥

तथा इसको तुच्छ मानते । इसकी जो अवज्ञा करते ।
इसे बेकार बात मानते । वाचालतासे ॥ ९५ ॥

हैं ये मोह मदिरासे भ्रमित । विषय विषमें रत सतत ।
अज्ञान कीचमें पतित नित । निःसंशय ॥ ९६ ॥

शवके हाथमें दिया रत्न । जैसे व्यर्थ जाता है अर्जुन ।
जन्मांधको उदयास्त दिन । अनुपयुक्त ॥ ९७ ॥

या है चंद्रका उदय जैसा । कागको अनुपयुक्त वैसा ।
मूर्खको है विवेक भी वैसा । अरुचिकर ॥ ९८ ॥

वैसे ही जान तू पार्थ । विमुख जो परमार्थ ।
उनसे बात सर्वथा । न की जाती ॥ ९९ ॥

तभी वे कुछ न मानते । निंदा भी करने लगते ।
पतंग कैसे क्या सहते । कभी प्रकाश ? ॥ २०० ॥

दीपसे पतंगका आलिंगन । उनका वहां निश्चित मरण ।
ऐसा होता है विषयाचरण । आत्मघातसा ॥ १ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

शरीर नाशवान है—

तभी इंद्रियोंका दुलार । न करें कभी जानकर ।
मन रंजनके खातिर । त्याज्य मान ॥ २ ॥

अजी सापसे क्या खेल होगा । या बाघका साथ क्या निभेगा ।
या हालाहल कभी पचेगा । खाया तो ॥ ३ ॥

जैसी खेलमें आग लगती । न संभलते बढ़ती जाती ।
वैसी स्थिति इंद्रियोंकी होती । दुलारनेसे ॥ ४ ॥

ज्ञानीकी कर्म-चेष्टा भी चलती निज भावसे ।
स्वभाव वश हैं प्राणी बलात्कार निरर्थक ॥ ३३ ॥

वैसे तो सुन अर्जुन । शरीर है पराधीन ।
नाना भोग क्यों निर्माण । करें सब ॥ ५ ॥

आयास करके बहुत । सकल ही समृद्ध जात ।
इस देहको अनवरत । पाले क्यों ? ॥ ६ ॥

सर्वस्व तज कर । संपत्तिको पाकर ।
स्वधर्म छोड़कर । पालना देह ॥ ७ ॥

फिर है यह पंच मेलका । अनुसरेगा पंच तत्वका ।
तब अपने किये श्रमका । मूल्य क्या है ? ॥ ८ ॥

केवल शरीर पोषण । धोखा मान असाधारण ।
इस पर अतःकरण । न देना कभी ॥ ९ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इसलिये स्वधर्माचरण ही करना—

वैसे इंद्रियोंके हितार्थ । विषय दिये नियमित ।
होगा संतोषित चित्त । यह है सच ॥ २१० ॥

किंतु जैसे सभ्य चोरका साथ । केवल समाजमें है विश्वस्थ ।
निश्चित ही है करता जो घात । एकांत आते ही ॥ ११ ॥

अजी विषकी है मधुरता । उपजाती चितमें ममता ।
परिणाममें भयंकरता । प्राणहारी ॥ १२ ॥

जैसे कंटियामें लगाया आमिष । भुलाता है मीनको दिखाके आस ।
वैसे भुलाते हैं विषय सुखाश । इंद्रियोंको ॥ १३ ॥
आमिषमें कांटिया होती । प्राणको वह हर लेती ।
आमिषमें वह छिपी होती । न जानता मीन ॥ १४ ॥

वैसे यहां अभिलाषामें होगा । यदि विषयकी आशा करेगा ।
अभिलाषासे है बलि जायेगा । क्रोधानलका ॥ १५ ॥

इंद्रियोंके स्व-अर्थोमें रहते राग द्वेष हैं ।
उन्हे वश नहीं होना देहीके पथ-शत्रु वे ॥ ३४ ॥

शिकारी जैसे घेरकर। देखता है सु-अवसर।
मारनेमें रहे तत्पर। मृगको सदा ॥ १६ ॥

यहां ऐसा ही होता है। संग उचित नहीं है।
पार्थ काम औ' क्रोध है। अति घातुक ॥ १७ ॥

उसका आश्रय नहीं करना। मनमें स्मरण भी न धरना।
लगन नष्ट नहीं होने देना। स्वधर्मकी ॥ १८ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेष्ठ है—

अजी! स्वधर्म जो है अर्जुन। यदि आचरणमें कठिन।
किंतु उसीका है अनुष्ठान। शुभदायक ॥ १९ ॥

यदि पराया आचार। देखनेमें है सुंदर।
किंतु करना स्वीकार। अपना ही ॥ २२० ॥

शूद्रके घरके मिष्टान्न। खाये कैसे वह ब्राह्मण।
हुआ भी है अति उद्विग्न। भूखसे ॥ २१ ॥

करना कैसे अनुचित। अनुचित इच्छाको प्राप्त।
इच्छा हुई तो अनुचित। वह साधना क्या? ॥ २२ ॥

दूसरोंका घर सुंदर। देखके अपना कुटीर।
करें गिरानेका व्यापार। उचित क्या? ॥ २३ ॥

अजी! है अपनी सती। यदि कुरूप भी होती।
संसारमें वही गति। वैसे ही यह ॥ २४ ॥

चाहे जैसे असुविधा-जनक। आचरणमें कष्ट-दायक।
फिर भी स्वधर्म ही है तारक। इह परमें ॥ २५ ॥

अल्प भी अपना धर्म सु-सेव्य पर-धर्मसे।
स्वधर्ममें भला मृत्यु पर-धर्म भयंकर ॥ ३५ ॥

अजी! शर्करा तथा दूध। रुचिकर अति प्रसिद्ध।
है क्रिमिरोगमें निषिद्ध। कैसे सेव्य ॥ २६ ॥

जानकर भी किया सेवन। होगा ही वह दुःख कारण।
कुपथ्यसे होता है जीवन। अति कष्टकर ॥ २७ ॥

तभी औरोंको जो उचित। अपनेको है अनुचित।
जो अंतिम हितके हित। अनाचरणीय ॥ २८ ॥

करनेमें स्वधर्मानुष्ठान। नष्ट होता है यदि जीवन।
तो भी भला है वह अर्जुन। दोनों अर्थसे ॥ २९ ॥

ज्ञान पूर्वक स्वधर्माचरण नहीं करते उनका क्या—

ऐसा समस्त सुरशिरोमणि। बोले जहां श्रीशार्ंगपाणी।
अर्जुन कहे वहां विनवणी। सुनो देव ॥ २३० ॥

यह है तेरा कहना। मैंने वह सारा सुना।
किंतु अब कुछ पूछना। मेरे मनकी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

तभी देव यह है कैसा। ज्ञानियोंका स्मृति-भ्रंश-सा।
पथ-भ्रष्ट होके सहसा। चलते हैं ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञ ही हैं वे होते। औ' उपाय भी जानते।
अधर्ममें व्यभिचरते। वह किस गुणसे ॥ ३३ ॥

अजी! बीज तथा है भूसा। अंध न जाने चुनना कैसा।
क्षण भर चतुर भी वैसा। बहकता क्यों? ॥ ३४ ॥

जो संसारका संग भी हैं छोड़ते। वे संग संसर्गसे तृप्त न होते।
वनवास छोड़कर भी हैं आते। जन-पदमें ॥ ३५ ॥

अर्जुनने कहा

मनुष्य करता पाप किसकी प्रेरणा लिये।
जुता हुवा व्यर्थका-सा स्वेच्छाके प्रतिकूल भी ॥ ३६ ॥

स्वयं पापसे हैं हटते । सर्वस्वसे अलिप्त होते ।
फिर उसीमें आ पचते । बलात्कारसे ॥ ३६ ॥

जिससे अरुचि है मनसे । वे ही आ चिपकते चितसे ।
टालना चाहें सतत जिसे । वही लिपटते हैं ॥ ३७ ॥

दीखता यहां बलात्कार । यहां चलता किसका जोर ।
जानना चाहूं चक्रधर । कहता पार्थ ॥ ३८ ॥

हृदय कमलका आराम । योगियोंका जो निष्काम ।
कहता है श्री पुरुषोत्तम । कहता हूं सुन ॥ ३९ ॥

भगवान उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

इसका मूल रजोगुण—

अजी ! सुन ये कामक्रोध जो हैं । इनमें दयाका नाम नहीं है ।
ये कृतांत यमके ही सम हैं । मान ले तू ॥ ३४० ॥

ये हैं ज्ञान निधिके भुजंग । विषय काननके हैं बाघ ।
भजन मार्गके हैं ये मांग । अति घातुक ॥ ४१ ॥

ये हैं देह दुर्गके आधार । इंद्रिय ग्रामके सरदार ।
अविवेक करते गदर । विश्वमें सब ॥ ४२ ॥

रजो गुण है मनका । मूल है असुरताका ।
पोषण किया इनका । अविद्याने ॥ ४३ ॥

यदि हैं ये रजसे संपन्न । किंतु हैं तमसे भी अभिन्न ।
तभी उसने दिया आसन । प्रमाद मोहका ॥ ४४ ॥

मृत्यु नगरके भीतर । मान है इनका अपार ।
करते जीवनका वैर । इसीलिये ॥ ४५ ॥

श्री भगवानने कहा

यह तो काम औ' क्रोध जो रजो-गुणसे बने ।
बडे खाऊ तथा पापी वैरी हैं जान तू इन्हे ॥ ३७ ॥

इनकी भूखकी अभिलाष । जो कहती विश्व है एक ग्रास ।
इसकी प्रबंधक है आस । जो असीम ॥ ४६ ॥

लीलामें जब यह मुट्ठी कसती । चौदहों भुवनोंको ओछा मानती ।
इसकी भगिनी भ्रांति कहलाती । अति लाडली ॥ ४७ ॥

कौर बनाकर इक लोकत्रयका । खेल खेलती सहज निगलनेका ।
दासी-पनमें इठलाती है भ्रांतिका । तृष्णा वहां ॥ ४८ ॥

होता है वहां मोहका सम्मान । जिससे अहंका है लेन-देन ।
सर्वत्र करता तांडव महान । चातुर्यसे जो ॥ ४९ ॥

सत्यका जिसने सार निकाल कर । उसमें अकृत्यका भूसा भरकर ।
दंभ रूढ किया वह विश्वभर । इसने ही ॥२५० ॥

साध्वी शांतिको सुन नग्न किया । हत्यारी मायाका श्रृंगार किया ।
साधु समाजको भ्रष्ट कराया । उनसे यहां ॥ ५१ ॥

नीव मिटा दी विवेककी । खाल उतारी वैराग्यकी ।
गर्दन तोड़ दी निग्रहकी । जीते जी ॥ ५२ ॥

उजाड़ा संतोष वनको । गिराया धैर्यके दुर्गको ।
उखाड़ा आनंद गाछको । जग भरमें ॥ ५३ ॥

उखाड़ा बोध पौधको । पोंछा सुखकी लिपिको ।
हियमें जलायी आगको । तापत्रयकी ॥ ५४ ॥

देहके साथ ये पैदा हुए । जीवके साथ ये जुड़ गए ।
न मिलते बैठे छिपे हुए । ब्रह्मको भी ॥ ५५ ॥

रहते हैं चैतन्यके पडोसमें । बैठते हैं ज्ञानके ही पंगतमें ।
उठते हैं कुहराम मचानेमें । तब रुकते नहीं ॥ ५६ ॥

शस्त्रके बिन ये मारते । डोरके बिन हैं बांधते ।
ज्ञानियोंको तो मिटा देते । प्रतिज्ञापूर्वक ॥ ५७ ॥

जल बिन ये डुबोते हैं । आगके बिन जलाते हैं ।
मौन रह लपेटते हैं । प्राणिमात्रको ॥ ५८ ॥

बिन कीचडके-ये गाड़ते । बिन पाशके भी हैं कसते ।
किसीके हाथमें न आते । काबू कभी ॥ ५९ ॥

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

चंदन वृक्षमें जैसे । लिपट रहता साप वैसे ।
या खोल रहता जैसे । गर्भ पर ॥ २६० ॥

या प्रभाके बिन भानु । हुताशन धूमके बिनु ।
या दर्पण मल हीन । कहीं न रहता ॥ ६१ ॥

ज्ञानके पास ये दुष्ट आ बसते हैं—

इनके बिन ज्ञान नहीं । न देखा है हमने कहीं ।
भूसेके बिन बीज नहीं । उपजता जैसे ॥ ६२ ॥

आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

वैसे ज्ञान है विशुद्ध । किंतु इनसे प्ररुद्ध ।
तभी है हुआ अगाध । पानेमें वह ॥ ६३ ॥

पहले इनको है जीतना । फिर ज्ञानको प्राप्त करना ।
इनका पराभव करना । कष्ट साध्य ॥ ६४ ॥

जब इनको जीतनेमें । बल लावे तब तनमें ।
ईंधन डालनेसे आगमें । जैसे बढती ॥ ६५ ॥

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

ढका है धूमसे अग्नि जैसे दर्पण धूलसे ।
जेरीसे घिरता गर्भ वैसे है ज्ञान कामसे ॥ ३८ ॥
काम-रूप महा अग्नि न होता तृप्त जो कभी ।
ज्ञानीका तो नित्य-शत्रु उसने ज्ञानको ढका ॥ ३९ ॥
इंद्रियां मन औ'बुद्धि इनका आसरा लिये ।
छिपाके ज्ञान जीवोंका करता मोह-ग्रस्त जो ॥ ४० ॥

जो जो साधन है करते । वे सब इन्हीको बढाते ।
इसीलिये येही जीतते । हठयोगियोंको ॥ ६६ ॥

इंद्रिय दमन, इनको जीतनेका उपाय है—

किंतु इन्हे जीतनेमें एक । उपाय है बडा ही नेक ।
करना हो तो करके देख । कहता हूं तुझे ॥ ६७ ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इंद्रिय इनका पहला आसन । वहांसे ही होते हैं कर्म उत्पन्न ।
करना है इंद्रियोका निर्दलन । सर्वथैव ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

दौड रुकेगी मनकी । औ' मुक्ति होगी बुध्दिकी ।
नींव हिलेगी इनकी । ये जो पापी ॥ ६९ ॥

मिटे जब ये अंतरंगसे । तभी गये ये जड मूलसे ।
न रहता मग जल जैसे । सूर्य किरण विन ॥ २७० ॥

एवं बुध्दे परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

तभी जीवको ब्रह्म-स्वराज्य मिलेगा—

ऐसे रागद्वेष जब मिटता । ब्रह्मात्मका तब स्वराज्य आता ।
फिर वह आनंद है भोगता । अपने आप ॥ ७१ ॥

इनका पहला स्थान जीतके इंद्रियां सब ।
टाल तू इस पापीको ज्ञान विज्ञान नाशक ॥ ४१ ॥

इंद्रियोंको कहा श्रेष्ठ उससे श्रेष्ठ है मन ।
मनसे बुद्धि है श्रेष्ठ श्रेष्ठ है उससे प्रभु ॥ ४२ ॥

जान ऐसा प्रभु श्रेष्ठ निजको जीत आप ही ।
काम रूपी महा-शत्रु इसका नाश तू कर ॥ ४३ ॥

गुरु शिष्योंके संवादमें । पद-पिंडके एकत्वमें ।
स्थिर रह नित्य-रूपमें । न इठो कभी ॥ ७२ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका—

सिद्ध है जो सकल सिद्धोंका । रमण है श्रीरमादेवीका ।
स्वामी सकल देवादिकोंका । कहने लगा ॥ ७३ ॥

अब पुन वह अनंत । कहेगा आदीकी जो बात ।
जब उनसे पांडुसुत । प्रश्न करेगा ॥ ७४ ॥

उसके बोल होंगे सरस । उसमें अनुभवेंगे रस ।
श्रोताओंमें उमडेगा उन्मेष । श्रवण सुखका ॥ ७५ ॥

ज्ञानदेव कहे निवृत्तिका । जागृत करके विवेकका ।
आप सुनिये हरि-पार्थका । संवाद सब ॥ ७६ ॥

गीता श्लोक ४३

ज्ञानेश्वरी ओवी २७६



४

ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग

श्रोताओंको ज्ञानेश्वर महाराजका उद्बोधन—

सुकाल हुआ श्रवणेंद्रियोंका । दर्शन हुआ गीता-निधानका ।
अजी ! साकार ही हुआ स्वप्नका । उनको यहां ॥ १ ॥

मूलमें है विवेककी गोष्ठि । कहनेवाला श्रीकृष्ण श्रेष्ठी ।
भक्तराज जो स्वयं किरीटी । सुनते हैं ॥ २ ॥

पंचमालाप है सुगंध । तथा परिमल सुस्वाद ।
वहां है भलासा विनोद । कथानकका ॥ ३ ॥

श्री हरिकी कृपा हुई । अमृतकी गंगा बही ।
तपस्या सफल हुई । श्रोताओंकी ॥ ४ ॥

इंद्रियोंको अब संपूर्ण । बनकर स्वयं श्रवण ।
अनुभवना गीताख्यान । संवाद सुखका ॥ ५ ॥

अब यह अप्रासंगिक । विस्तार छोडके अधिक ।
कहो कृष्णर्जुन दो एक । बोले क्या हैं ॥ ६ ॥

तब संजय बोले राजासे । सुदैव जुड़ा है अर्जुनसे ।
तभी अति प्रीति है उनसे । नारायणकी ॥ ७ ॥

जो न कहा पिता वसुदेवसे । औ' न जो कहा माता देवकीसे ।
या न कहा गुह्य बलभद्रसे । कहा वह पार्थसे ॥ ८ ॥

देवी लक्ष्मी इतनी नजदीक । वह भी न जानती यह सुख ।
कृष्ण प्रेमका फल जो अधिक । मिला अर्जुनको ॥ ९ ॥

थी सनकादिकोंकी जो आस । सुननेकी यह उपदेश ।
किंतु उनको भी ऐसा यश । मिला नहीं ॥ १० ॥

जगदीश्वरका है प्रेम । दीखता यहां निरुपम ।
पार्थने ऐसा सर्वोत्तम । किया पुण्य ॥ ११ ॥

अजी ! जिसकी अति प्रीति । अमूर्तको बनाती व्यक्ति ।
उसकी है एकात्म स्थिति । जंचती बहु ॥ १२ ॥

योगियोंको जो नहीं मिलता । वेदार्थमें भी जो नहीं आता ।
ध्यानस्थका नहीं पहुंचता । ध्यान चक्षुभी ॥ १३ ॥

ऐसा यह निज स्वरूप । अनादि तथा औ' निष्कंप ।
किंतु कैसा हुआ सकृप । इस भांतिसे ॥ १४ ॥

यह त्रिलोक पटका थान । जो है आकारके परे जान ।
प्रेमसे करमें है अर्जुन । कर लिया है ॥ १५ ॥

भगवान उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

इस योगकी प्राचीनंता—

कहता है देव पांडुसुत । हमसे यह है विवस्वत ।
सुनी है योगकी गुह्य बात । बहुत पहले ॥ १६ ॥

बोले फिर वह भास्कर । योग स्थिति यह सुंदर ।
पूर्ण रूपसे सुअवसर । मनुसे तब ॥ १७ ॥

मनुने इसका अनुष्ठान । कर दिया ज्ञानोपदेश दान ।
इक्ष्वाकुको, ऐसी है महान । आदि परंपरा ॥ १८ ॥

पहले सूर्यसे मैंने कहा था योग अव्यय ।

मनुसे वह बोला था वह इक्ष्वाकुसे फिर ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

कितने ही इस योगसे और । हुए हैं राजऋषि जानकार ।
किंतु इस युगमें पृथ्वी पर । कोई न जानता ॥ १९ ॥

जिन प्राणियोंका आधार । देह तथा कामना पर ।
जिससे विस्मृति अपार । आत्म बोधकी ॥ २० ॥

अजी ! बदल गयी आस्था बुध्दि । विषय सुखकी परमावधि ।
इससे जीव हुवा है उपाधि । उन्हे भाता यही ॥ २१ ॥

गांवमें सुनो नग्न लोगोंके । काम क्या महीन कपडोंके ।
तथा जन्मांधोंमें सूरजके । कहो मुझे ॥ २२ ॥

या बहिरोंकी सभामें । गावें गीत सु-रागोंमें ।
सियारको चांदनीमें । होगी क्या चाह ? ॥ २३ ॥

अथवा पहले चंद्रोदयके । चक्षु होते हैं व्यर्थ जिनके ।
चंद्रोदयसे उन कागोंके । लाभ क्या हुआ ॥ २४ ॥

जैसे वैराग्यकी सीमा न जानते । विवेककी भाषा नहीं है सुनते ।
वैसे मूर्ख कहो कैसे जानते । मुझ ईश्वरको ॥ २५ ॥

मोहके बहुत बढनेसे । काल बहुत बीत जानेसे ।
लोप हुआ है योग इससे । इस लोकमें ॥ २६ ॥

स एवायं मयातेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही योग तुझसे अर्जुन । कहा है मैंने इसी क्षण ।
उसको तू तत्वता जान । न करके भ्रांति ॥ २७ ॥

ऐसी परंपरासे जो मिला राजर्षि-वृंदको ।
आगे समय जानेसे विश्वमें लोप होगया ॥२॥

वही आज तुझे मैंने कहा योग पुरातन ।
कहा है गुह्य जो सार भक्त है तू सखा मम ॥ ३ ॥

मेरे जीवनका यह गुपित । तुझसे छिपाना नहीं उचित ।
तू है मेरा आत्मीय बहुत । इसीलिये ॥ २८ ॥

प्रेमका तू पुतला । भक्तिका है जिव्हाला ।
मित्रताकी चित्कला । धनुर्धर ॥ २९ ॥

मेरा निकट तू अर्जुन । कैसे करूं तेरी वंचना ।
रण सज्ज हुए समान । हम दोनों ॥ ३० ॥

अन्य सब अब रहने देना । कोलाहलका विचार न करना ।
अज्ञान सब तेरा दूर करना । इसी समय ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

आजके तूने विवस्वतसे कैसे कहा ?—

अर्जुन कहता है तब श्रीधर । माता प्रेम करती संतान पर ।
इसमें विस्मय क्या है चक्रधर । कृपानिधि ॥ ३२ ॥

संसार श्रांतोंकी ह छाया । अनाथ जीवोंकी तू माय ।
हमने जो जन्म है पाया । तव कृपासे ही ॥ ३३ ॥

जन्म देकर पंगुको माता । कष्ट उठाती है स-ममता ।
ऐसी देव कैसे कहें वार्ता । तेरी तुझसे ही ॥ ३४ ॥

अब पूछूंगा देव एक बात । उस पर देना भला स्व-चित्त ।
प्रश्न पर क्रोध तू न किंचित । करो देव ॥ ३५ ॥

पिछली जो वह बात । तूने कही थी अनंत ।
न मानता मेरा चित्त । क्षण भी देव ॥ ३६ ॥

अजी ! वह विवस्वत नामका । अ-परिचित है बाप-दादाका ।
कैसा किया है तूने उनका । उपदेश देव ॥ ३७ ॥

अर्जुनने कहा

अभीका जन्म है तेरा पूर्वका उस सूर्यका ।
पहले ही कहा तूने कैसे मैं वह मान लूं ॥ ४ ॥

वह है देव किस कालका । तू श्रीहरि है इस कालका ।
तभी दीखता तेरी बातका । असंगत पन ॥ ३८ ॥

किंतु तेरा चरित्र वैसे । हम उसको जाने कैसे ।
तभी वह असत्य ऐसे । नहीं कहता ॥ ३९ ॥

यह बात संपूर्ण ऐसे । कहना मैं समझूं वैसे ।
तूने उस सूर्यको कैसे । किया उपदेश ॥ ४० ॥

भगवान उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

तेरे मेरे अनेक जन्म मैं जानता हूं—

कृष्ण कहे तब पांडुसुत । जब था वह विवस्वत ।
तब मैं नहीं था ऐसा चित्त– । भ्रम है तेरा ॥ ४१ ॥

अजी ! तू नहीं जानता सब । जन्म हमारे तुम्हारे अब ।
बीते हैं कितने कैसे कब । यह तू भूला है ॥ ४२ ॥

मैं जिस जिस असवरमें । अवतरा हूं जिस रूपमें ।
वह सब अपने मनमें । स्मरता पार्थ ॥ ४३ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतनामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

धर्म रक्षणके लिये मेरा अवतार—

इसीलिये मुझे संपूर्ण । बीतेका होता है स्मरण ।
रहित मैं जन्म मरण । जन्मता प्रकृति योगसे ॥ ४४ ॥

श्रीभगवानने कहा

बीते मेरे कयी जन्म तेरे भी बहु अर्जुन ।
जानता मैं सभी बातें तू उन्हे जानता नहीं ॥ ५ ॥

होते हुये अजन्मा मैं निर्विकार जगत्प्रभु ।
जन्मता हूं स्वमायासे प्रकृति ओढके निज ॥ ६ ॥

अव्ययत्व मेरा नहीं मिटता । किंतु जन्म मरण है दीखता ।
यह सब प्रकृतिसे भासता । मुझमें नहीं ॥ ४५ ॥

मिटती नहीं मेरी स्वतंत्रता । दीखती मुझमें कर्माधीनता ।
यह है भ्रम-बुध्दिसे घडता । अन्यथा नहीं ॥ ४६ ॥

एक ही दीखता दूसरा । जो दर्पणका ले आधार ।
किंतु वहां वस्तु विचार । एक मात्र ॥ ४७ ॥

निराकार हूं मैं धनुर्धर । लेकर प्रकृतिका आधार ।
नटता हूं लेकर आकार । कार्यके लिये ॥ ४८ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

धर्ममात्र जो संपूर्ण । युगयुगमें रक्षण ।
करना मेरा लक्षण । आदिकालसे ॥ ४९ ॥

भूलता हूं तब अजत्व । छोडता हूं निराकारत्व ।
गिरता जब धर्म तत्व । अधर्मसे ॥ ५० ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामी युगे युगे ॥८॥

हितार्थ अपने भक्तोंके । आता हूं अवतार लेके ।
मिटाता तब अज्ञानके । अंधकारको ॥ ५१ ॥

अधर्मकी सीमा तोडता । पापकी सनद फाडता ।
सुखका ध्वज उभारता । सज्जनोंसे ॥ ५२ ॥

दैत्य कुलका संहार करता । साधु जनोंका सम्मान करता ।
धर्म नीतिका मेल बिठाता । धनुर्धर ॥ ५३ ॥

जब है गिरता धर्म जगमें तब अर्जुन ।
अधर्म उठता भारी लेता हूं जन्म मैं स्वयं ॥ ७ ॥
रक्षण कर संतोंका दुष्टोंका नाश करने ।
स्थापना करने धर्म जन्मता मैं पुनः पुनः ॥ ८ ॥

मिटाकर अविवेकका काजल। करता हूं विवेक दीप उज्वल।
जिससे योगियोंकी दीपमाल। जले निरंतर ॥ ५४ ॥

आत्म-सुखसे विश्व खिलता। जगतमें धर्म ही रहता।
सात्विकताका वसंत आता। भक्त जनोंमें ॥ ५५ ॥

पापका जहां पहाड टूटता। पुण्यका है प्रभात प्रकटता।
मेरा रूप जब प्रकट होता। धनंजय ॥ ५६ ॥

ऐसे कार्यार्थ जगतमें। जनमता हूं युगयुगमें।
जानता जो यह विश्वमें। विवेकी वही ॥ ५७ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

जो मेरा रूप जानते हैं वे मद्रूप होते हैं—

मैं जो अजत्वमें ही जनमता। अक्रियतामें सक्रिय रहता।
अविकारत्व यह जो जानता। पाता वह मोक्ष ॥ ५८ ॥

संगमें वह असंग रहता। देहमें निर्देह अनुभवता।
पंचतत्वमें जब मिल जाता। मेरे ही रूपमें ॥ ५९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वे अपना पराया न सोचते। सदा कामना शून्य हो रहते।
कभी वे राह भी नहीं देखते। क्रोधकी ॥ ६० ॥

सदा वे मद्भावमें ही रहते। मेरी सेवामें ही रत रहते।
आत्म-बोधमें ही मगन होते। वीत राग हो ॥ ६१ ॥

मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य जो जानता सही।
तजके देह पुनर्जन्म न पाता मिलके मुझे ॥ ९ ॥

नहीं तृष्णा भय क्रोध जो मेरे कार्यमें रत।
हुये ज्ञान तपोपूत तथा मद्भावमें कयी ॥ १० ॥

होते वे तप तेजके पुंज । एकायत-ज्ञान-निकुंज।
पवित्रतामें है तीर्थराज । धनुर्धर ॥ ६२ ॥

सहजमें वे मद्‌भाव हुये । मेरे ही रूपमें एक भये।
फिर मेरे उनमें न आये । बीच परदा ॥ ६३ ॥

जैसे पीतलके गंज कालिख । मिटे यदि वे दोनों निःशेष।
सुवर्णत्व इससे अधिक ।क्या रहा ? ॥ ६४ ॥

पूर्ण जो यम नियममें। शुद्ध है जो तपज्ञानमें।
हुये वे मेरे ही रुपमें। निःसंदेह ॥ ६५ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

केवल भ्रमवश मुझ एकको अनेक देखते हैं —

मुझे जो जैसा भजता । उसको वैसा ही देखता।
दोनोंमें आती एकता । जान यह ॥ ६६ ॥

वैसे ही मनुष्य मात्र सकल । स्वभावसे ही है भजन-शील।
हुए ऐस मुझमें ही केवल । पांडुकुमार ॥ ६७ ॥

किंतु ज्ञानाभावसे नाश होता । उससे ही बुध्दिभेद होता।
उससे जगती है कल्पकता । अनेकत्वकी ॥ ६८ ॥

तभी अभेदमें भेद देखते । मुझे अनामको हैं नाम देते।
देव देवीके रूपमें पूजते । है जो शब्दसे परे ॥ ६९ ॥

जहां जो सर्वत्र सदा सम । वहां विभाग अधमोत्तम।
करते हैं मतिसे संभ्रम । विवेचन ॥ ७० ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

भजते मुझ जो जैसे वैसे मैं भजता उन्हे।
मेरे ही मार्गमें आते सभी हैं सब मार्गसे ॥ ११ ॥
देवोंको पूजते जो हैं चाहसे कर्म-सिध्दिकी।
कर्मकी सिध्दि वे शीघ्र पाते हैं नर-लोकमें ॥ १२ ॥

फिर नाना हेतु प्रकारसे । यथोचित पूजोपचारसे ।
देवदेवांतरोंको मान्यतासे । उपासते ॥ ७१ ॥

जो हैं ऐसे अपेक्षित । पाते हैं वैसे समस्त ।
कर्मफल वे निश्चित । जान ले तू ॥ ७२ ॥

बिन कर्मके लेना देना अधिक । निर्भ्रांत ऐसा नहीं कुछ सम्यक ।
यहां है कर्म ही फल रूपक । मनुष्य लोकमें ॥ ७३ ॥

खेतमें जैसे जो कछु बोया जाता । उसके बिना अन्य न उपजता
अथवा जो देखता वही दीखता । दर्पणमें जैसे ॥ ७४ ॥

या गिरिकंदरामें जैसे । अपने ही शब्द वैसे ।
गूंजते हैं दश दिशासे । निमित्तयोग ॥ ७५ ॥

ऐसे ये सभी भजन । साक्षीभूत हूं अर्जुन ।
प्रति-फलती भावना । अपनी ही ॥ ७६ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्वर्ण्य प्राकृतिक गुणोंके कारण—

इसी भांति तू जान । चार हैं ये वर्ण ।
रचे हैं मैंने गुण– । कर्म वि भागसे ॥ ७७ ॥

जो प्रकृतिके आधारसे । गुणोंके व्यभिचारसे ।
कर्मकी तदनुसारसे । योजना की ॥ ७८ ॥

है यहां यह एक अर्जुन । किंतु हुए हैं ये चार-वर्ण ।
ऐसे गुण कर्मके कारण । सहज हुआ ॥ ७९ ॥

तभी सुन तू पार्थ । ये वर्ण-भेद संस्था ।
कर्ता मैं न सर्वथा । इसीलिये ॥ ८० ॥

सृजे मैं ने वर्ण चार गुण-कर्म विभागसे ।
करके सब तू जान अकर्ता निर्विकार मैं ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

मेरे कारणसे यह भया । किंतु मैंने यह नहीं किया ।
ऐसे जिसने प्रतीत किया । हुआ वह सूज्ञ ॥ ८१ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्ववर्ती मुमुक्षु जन । ऐसा हूं मैं, यह जान ।
करते कर्माचरण । धनुर्धर ॥ ८२ ॥

किंतु जैसे भुने हुए बीज । उगते नहीं कभी सहज ।
वैस ही उन्हे कर्म महज । होते मोक्ष हेतु ॥ ८३ ॥

यहां और एक बात अर्जुन । यह कर्माकर्मका विवेचन ।
अपने ही बुध्दिसे है करना । नहीं योग्य ॥ ८४ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्माकम विवेचनमें ज्ञानी भी भ्रममें—

कर्म करते हैं वह कौन । या अकर्मका है क्या लक्षण ।
ऐसे सोचनेमें विचक्षण । पडते उलझनमें ॥ ८५ ॥

अजी ! खोटा सिक्का जैसा होता है । सच्चेकी समानता करता है ।
देखनेवालोंको जो डालता है । भ्रममें जैसे ॥ ८६ ॥

न लीपते मुझे कर्म न मुझे फल-कामना ।
मुझे जो जानते ऐसे कर्ममें भी अलिप्त वे ॥ १४ ॥

कर्म जो मुमुक्षुओंने किये हैं इस ज्ञानसे ।
कर तू कर्म वैसे ही उनसे पाठ लेकर ॥ १५॥

जाननेमें कर्माकर्म भ्रमते बुध्दिमान भी ।
तुझे मैं कहता कर्म छूटेगा जानके यह ॥ १६ ॥

वैसे नैष्कर्म्यके भ्रममें । पडते हैं कर्म-पाशमें ।
जो दूसरी सृष्टि मनमें । कर सकते ॥ ८७ ॥

मूर्खोंकी यहां कहें क्या बात । क्रांतदर्शी होते मोह-ग्रस्त ।
तभी कहता तुझसे बात । वही अब ॥ ८८ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

तभी कर्म जिसके स्वभावसे । विश्वाकार संभव हो उससे ।
जानना उसे संपूर्ण रूपसे । यहां सर्व प्रथम ॥ ८९ ॥

वर्णाश्रममें फिर उचित । तथा विशेष कर्म विहित ।
जानना उसको सुनिश्चित । उपयोगी जो ॥ ९० ॥

फिर जानना जो निषिद्ध । उसका भी रूप विषद ।
तभी न हो सकता बद्ध । सहज कर्ममें ॥ ९१ ॥

नहीं तो विश्व है कर्माधीन । उसका फैलाव है गहन ।
सुन लक्षण अब तू अर्जुन । बोध प्राप्तोंका ॥ ९२ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मका तिरस्कार और कर्मफलोमें आशा दोनों नहीं —

करते हुए सकल कर्ममें । अकर्म देखता जो अपनेमें ।
निरपेक्ष होता कर्म संगमें । फलाशासे ॥ ९३ ॥

तथा कर्तव्य करनेमें । अन्य न कोई जगतमें ।
ऐसेको बोध अकर्ममें । अच्छा होता है ॥ ९४ ॥

क्रिया कलापका वह संपूर्ण । करता है उत्तम आचरण ।
किंतु इन लक्षणके कारण । जानना ज्ञानी ॥ ९५ ॥

जानना कर्म सामान्य विकर्म भी विशेष जो ।
जानना अकर्ममें भी गूढ जो कर्मकी गति ॥ १७ ॥

अकर्म कर्ममें देखें तथा कर्म अकर्ममें ।
विज्ञ है वह लोगोंमें योगी वह कृतार्थ भी॥१८॥

जैसे जलाशयके पास रहकर । देखता अपना प्रतिबिंब सुंदर ।
किंतु जानता है निर्भ्रांत होकर । मैं हूं भिन्न ॥ ९६ ॥

या चलता जब नांवमें बैठकर । देखता वृक्षोंका चलना निरंतर ।
किंतु कहता है मनमें सोचकर । वृक्ष होते अचल ॥ ९७ ॥

करता वह सब कामोंमें वास । किंतु मानता यह है आभास ।
अपनेको जानता है सविश्वास । मैं हूं अकर्मी ॥ ९८ ॥

उदयास्त कारणसे होता भान । न चलते ही सूर्य गमन ।
वैसे होता उसे नैष्कर्म्यका ज्ञान । कर्म-रत रहते ॥ ९९ ॥

मनुष्य जैसा ही है वह दीखता । उसमें मनुष्यत्व नहीं रहता ।
वैसे जलमें पढ भी न डूबता । भानुबिंब ॥ १०० ॥

उसने विश्वदेखा कछु न देखते । सब कार्य किया कुछ भी न करते ।
सब भोग किये नहीं कछु भोगते । भोग-मात्र ॥ १ ॥

बैठ कर एक ही स्थल पर । करता रहता है विश्व संचार ।
बना वह विश्वरूप निरंतर । अपनेमें ही ॥ २ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

ऐसे पुरुषमें कहीं । कर्मका तिरस्कार नहीं ।
कर्म फलापेक्षा भी नहीं । छूती कभी ॥ ३ ॥

और मैं यह कर्म करूंगा । किया जो उसे पूर्ण करूंगा ।
ऐसा संकल्प नहीं छूएगा । उसके मनको ॥ ४ ॥

ज्ञानाग्निके ही मुखसे । सारे कर्म जलनेसे ।
ब्रह्म है मनुष्य रूपसे । जान ले तू वह ॥ ५ ॥

उद्योग करता सारे काम संकल्प त्यागके ।
जलाये ज्ञानसे कर्म उसको कहते बुध ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

कर्मयोगीके लक्षण—

शरीरमें जो उदास । फल-भोगमें निरास ।
निरंतर स-उल्हास । रहता है ॥ ६ ॥

संतोष-भवनके भोजमें । आत्मयोग मृष्टान्न भोगमें ।
न कहता कभी न मनमें । जान तू पार्थ ॥ ७ ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

नित्य अधिकाधिक प्यारी । ले महासुखकी माधुरी ।
आशाको न्योच्छावर करी । अहंभाव-सह ॥ ८ ॥

तभी जिस अवसरमें जो पाया । उससे ही वह नित है सुखाया ।
उसको अपना और पराया । दोनों नहीं ॥ ९ ॥

दृष्टिसे यह जो देखता । वह है आपही हो जाता ।
जिसको है वह सुनता । बनता वही ॥ ११० ॥

पैरसे जो चलता । मुखसे जो बोलता ।
वह जो चेष्टा करता । बनता स्वयं ॥ ११ ॥

नित्य तृप्त निराधार न राखे फल वासना ।
हुआ है लीन कर्मोंमें तो भी कुछ करें नहीं ॥ २० ॥

संयमी तजके सारा इच्छा सह परिग्रह ।
देहसे करता कर्म उसे दोष न स्पर्शता ॥ २१ ॥

मिले जो उसमें तुष्ट न जाने द्वंद्व मत्सर ।
फले जले उसे एक करके कर्म-मुक्त जो ॥ २२ ॥

अजी ! वह विश्वमें जब देखता । अपने बिन भिन्न नहीं दीखता ।
उसको अब कौन कहां क्या बंधता । कर्म कैसा ॥ ११२ ॥

जहांसे उपजता यह मत्सर । वह द्वैत ही नहीं जहांपर ।
उसको कहना क्या निर्मत्सर । शब्दके लिये ॥ ११३ ॥

इसलिये रहता सर्व मुक्त । कर्म करके भी कर्म रहित ।
सगुण होकर भी गुणातीत । निर्भ्रांत जो ॥ ११४ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

देह संगमें यदि होता । चैतन्यसा वह दीखता ।
कसौटी पर खरा उतरता । परब्रह्मकी ॥ ११५ ॥

ऐसा ही वह सकौतुक । करता कर्म यज्ञादिक ।
मिट जाते सब अशेष । उसीमें सब ॥ ११६ ॥

अकालके बादल जैसे । उर्मी बिन मिटते वैसे ।
नभमें सहज भावसे । उदय होके ॥ ११७ ॥

वैसे विधि विधान विहित । आचरण करता समस्त ।
तो भी ऐक्य भावसे अद्वैत । पाता वह ॥ ११८ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

यह है हवन मैं होता । या यह यज्ञ यह भोक्ता ।
बुध्दिमें ऐसी नही भंगता । इसीलिये ॥ ११९ ॥

इष्ट जो यज्ञ यजन । हवि मंत्रादि संपूर्ण ।
आत्म बुध्दिसे दर्शन । अविनाश भावसे ॥ १२० ॥

छूटा संग हुवा मुक्त ज्ञानमें स्थिर चित्त जो ।
यज्ञार्थ करता कर्म हो जाता सब ही लय ॥ २३ ॥

ब्रह्ममें होमके ब्रह्म ब्रह्मने ब्रह्म लक्ष्यके ।
ब्रह्ममें सानके कर्म पाया ब्रह्मत्व ही तब ॥ २४ ॥

तभी ब्रह्म ही उसका कर्म । बोध हुआ ऐसा उसका सम ।
उसका कर्तव्य ही नैष्कर्म्य । धनुर्धर ॥ २१ ॥

जिसका अविवेक कौमार्य गया । औ' विरक्तिसे पाणिग्रहण भया ।
फिर उपासना वहां लाया । योगाग्निसे ॥ २२ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुव्हति ॥ २५ ॥

योगग्निसे सतत उपासना—

यजनशील है जो दिन-रात । होमते अविद्या मन सहित ।
गुरुवाक्य हुताशनमें नित । किया हवन ॥ २३ ॥

ये हैं योगाग्निमें यजते । इसे दैवयज्ञ हैं कहते ।
इससे आत्म-सुख चाहते । धनंजय ॥ २४ ॥

दैवास्तव देहका पालन । ऐसा निश्चय जिसका पूर्ण ।
जो न सोचता देहाभरण । दैवयोगका महायोगी ॥ २५ ॥

अब सुन तू और एक । जो हैं ब्रह्माग्निमें साग्निक ।
वे यज्ञमें ही यज्ञ देख । करते हैं ॥ २६ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुव्हति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इंन्द्रियाग्निषु जुव्हति ॥ २६ ॥

कर्मयोगीका ब्रह्मयज्ञ—

संयम जिनका अग्नि होत्र । युक्तित्रय ही उनका मंत्र ।
देते इंद्रिय द्रव्य पवित्र । आहुति नित्य ॥ २७ ॥

वैराग्य रविका उदय होते । संयमका यज्ञ कुंड रचते ।
वहां वे प्रज्वलित करते । इंद्रियानल ॥ २८ ॥

कोयी योगी करे मात्र देव यज्ञ उपासना ।
कोयी ब्रह्माग्निमें वैसे जलाते यज्ञ यज्ञसे ॥ २५ ॥

श्रोत्रादि इंद्रियां कोयी होमते संयमाग्निमें ।
कोयी विषय शब्दादि होमते इंद्रियाग्निमें ॥ २६ ॥

उससे विरक्ति ज्वालायें निकलतीं । उसमें विकारोंकी समिधा जलती ।
तब हैं आशाकी धुमकडी छूटती । पांचही कुंडोंमें ॥ २९ ॥

फिर वे विधि वाक्यके ही अनुकूल । विषय आहुतियां देकर बहुल ।
हवन करते कुंडमें स-कुशल । इंद्रियाग्निके ॥ १३० ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुव्हति ज्ञानदिपिते ॥ २७ ॥

इस भांति कोई पार्थ । दोष धोते हैं सर्वथा ।
हृदयारणिमें मंथा । विवेक किया ॥ ३१ ॥

उसे पकड कर निग्रहसे । दबाकर अति धीरजसें ।
गुरु उपदेशके जोरसे । खींचा पार्थ ॥ ३२ ॥

समरसतासे मंथन किया । तत्काल इसका फल आया ।
फिर वहां उद्दीपन भया । ज्ञानाग्निका ॥ ३३ ॥

पहला ऋध्दि सिध्दिका संभ्रम । वह निवारण हुआ तो धूम ।
फिर वहां प्रकट हुआ सूक्ष्म । विस्फुलिंग ॥ ३४ ॥

उसमें डाला मन मुक्त । यम दमसे जो था रिक्त ।
इंधन बना जो सयुक्त । अपने आप ॥ ३५ ॥

उठीं उसमें ज्वालायें समृद्ध । पडी तब वासनाकी समिध ।
समता स्नेह-युत नाना विध । जलनेमें ॥ ३६ ॥

वहां सोऽहं मंत्रसे दीक्षित । इंद्रिय कर्मकी आहुति नित ।
देना ज्ञानानलमें प्रदीप्त । यज्ञ-कुंडमें ॥ ३७ ॥

फिर प्राण क्रियाकी सुवासे । यज्ञमें पड़ी पूर्णाहुतिसे ।
होता अवभृत सहजतासे । समरसका ॥ ३८ ॥

प्राणेंद्रिय क्रिया कोयी सभी आहुति देकर ।
अंतरमें समाधिको जगाते चिंतनाग्निसे ॥ २७ ॥

तब है आत्म-बोधका सुख। जो संयमाग्निका हुत-शेष।
वही पुरोडासु किया देख। सहज सेवन॥ ३९॥

ऐसे यज्ञ-कार्यसे अनेक। मुक्त हुए त्रिभुवनमें देख।
यहां यज्ञ क्रियायें हैं अनेक। प्राप्तव्य एक॥ १४०॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

कर्मयोगीके विविध यज्ञ—

एक द्रव्य यज्ञ कहलाता। दूजा तप उत्पन्न करता।
तथा योगयाग ही बनता। ऐसा है कहा॥ ४१॥

जिसमें शब्दमें शब्द यजना। उसको वाग्यज्ञ है कहना।
जिसमें ज्ञानसे ज्ञेयकी जानना। वह है ज्ञानयज्ञ॥ ४२॥

अर्जुन यह सब कठिन। अनुष्ठानका महा-बंधन।
किंतु जितेंद्रियको आसान। योग्यता रूप॥ ४३॥

यहां है जो प्रवीण। योग समृध्दि संपन्न।
किया आत्म-हवन। अपनेसे॥ ४४॥

अपाने जुव्हति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥

अपानाग्निके मुखमें फिर। प्राण द्रव्यको अर्पण कर।
हवन करते हैं धनुर्धर। अभ्यास-योगसे॥ ४५॥

कोई अपानको प्राणमें होमते। या प्राणापानका निरोध करते।
ये प्राणायामी है कहलाते। पांडुकुमार॥ ४६॥

द्रव्य जप तप योग स्वाध्याय और चिंतन।
संयमी करते यज्ञ रखके व्रत उग्र जो॥ २८॥

होमते परस्परमें कोयी प्राण अपानको।
रोकते गति दोनोंकी प्राणायाम परायण॥ २९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुव्हति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

या वज्रयोगक्रमसे । सर्वाहार संयमसे ।
प्राणमें प्राणार्पणसे । हवन करते ॥ ४७ ॥

ऐसे मोक्ष काम सकल । सारे हैं ये यजनशील ।
यज्ञसे जिन्होने मनोमल । किया क्षालन ॥ ४८ ॥

जिसका जला अविद्या जात । रहा जो निज स्वभावगत ।
जहां अग्नि औ' होताका द्वैत । रहा नहीं ॥ ४९ ॥

यहां यजित होता काम हत । यज्ञका विधान होता समाप्त ।
जहांसे फिर सारे क्रिया-जात । होते नष्ट ॥ १५० ॥

विचार यहां नहीं घुसता । यहांसे न हेतु निकलता।
द्वैत जो संग-दोषसे होता । स्पर्शता नहीं ॥ ५१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अनादि सिद्ध जो ऐसा ज्ञान । यज्ञमें जो बचता पावन ।
ब्रह्म-निष्ठ करते सेवन । स-ब्रह्ममंत्र ॥ ५२ ॥

शेषामृतसे जबे तृप्त । अमर्त्य भावको प्राप्त ।
ऐसे ब्रह्मत्वमें पूर्त । अनायाससे ॥ ५३ ॥

जिन्हें माला न पडती विरक्तिकी । सेवा नहीं घडती संयमाग्निकी ।
पहचान न होती योग-यागकी । जन्म लेकर ॥ ५४ ॥

जिनका नहीं ऐहिक नेक । बात क्या कहें पार-लौकिक ।
बात कहना है व्यर्थ देख । धनंजय ॥ ५५ ॥

प्राणमें होमते प्राण आहार कर निश्चित ।
सभी ये हैं यज्ञ-वेत्ता जलाते पाप यज्ञसे ॥ ३० ॥

यज्ञ-शेष-सुधा भोजी पाते हैं ब्रह्म शाश्वत ।
यज्ञ विना न यहां तो कहांका परलोक है ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

अनेक प्रकारके ऐसे । याग कहे हैं तुझसे ।
वेदमें अति-विस्तारसे । कहे हैं सब ॥ ५६ ॥

विस्तारसे क्या है जानना । इसे कर्म सिद्ध अनुभवना ।
कर्म-बंधसे मुक्त होना । स्वभावसे ॥ ५७ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

कर्मयोगीके विविध यज्ञोंकी तुलना–

जिसका है वेद मूल । क्रिया विशेष है स्थूल ।
उसका अपूर्व फल । स्वर्ग-सुख है ॥ ५८ ॥

द्रव्ययाग होते हैं तो श्रेष्ठ । किंतु ज्ञान यज्ञसे कनिष्ठ ।
जैसे तारा-तेज होता नष्ट । सूर्यके सम्मुख ॥ ५९ ॥

परमात्म-सुख निधान । साधनेमें है योगीजन ।
डालते नित ज्ञानांजन । उन्मेष-नेत्रमें ॥ १६० ॥

कर्मयोग समाप्तिका जो स्थान । नैष्कर्म्य बोधकी है खान ।
क्षुधार्तिको है अमृतान्न । साधनाका ॥ ६१ ॥

जहां प्रवृत्ति पंगु होती । तर्क-दृष्टि अंधी होती ।
इंद्रियां सब भूल जाती । विषय संग ॥ ६२ ॥

मिटता ममत्व मनका । औ' शब्दत्व शब्द-मात्रका ।
जिसमें मिलता ज्ञानका । ज्ञेय मात्र ॥ ६३ ॥

नाना प्रकारके ऐसे वेदोंमें यज्ञ जो कहे ।
कर्मसे निकले जान पायेगा मुक्ति जानके ॥ ३२ ॥

ज्ञान-यज्ञ सदा श्रेष्ठ जानना द्रव्य-यज्ञसे ।
समाते हैं सभी कर्म ज्ञानमें पूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥

मिटता दारिद्र्य वैराग्यका । द्वटता हठ्यास विवेकका ।
मिलन होता जहां आत्माका । सहज भावसे ॥ ६४ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

ज्ञान प्रप्तिका साधन—

अजी ! वह जो उत्तम ज्ञान । प्राप्त करना हो तो महान ।
करना है संतोंका भजन । सर्व भावसे ॥ ६५ ॥

वे हैं इस ज्ञानका घर । सेवा उसका महाद्वार ।
सेवासे ही पांडुकुमार । पाना है उसे ॥ ६६ ॥

अजी ! तन मन प्राणसे । लगाना उन चरणसे ।
करना निराभिमानसे । सकल दास्य ॥ ६७ ॥

पूछके तब इच्छित प्रश्न । पाना है उनसे वह ज्ञान ।
उस बोधसे अंतःकरण । होगा कामना रहित ॥ ६८ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

वाक्य प्रकाशसे उनके । मिटेंगे संशय चित्तके ।
तब होगा ब्रह्म रूपके । ज्ञान निश्चित ॥ ६९ ॥

फिर अपने सहित । अन्य सभी भूत जात ।
मेरे रूपमें अखंडित । देखेगा तू ॥ १७० ॥

ऐसा ज्ञान प्रकाश पायेगा । मोह-अंधकार दूर होगा ।
जब गुरु-कारुण्य होगा । धनुर्धर ॥ ७१ ॥

सेवा द्वारा नम्रतासे जान ले ज्ञान प्रश्नसे ।
देंगे अनुभवी संत सत्वज्ञ ज्ञान-तत्व जो ॥ ३४ ॥

जान कर वह ऐसा न होगा भ्रांत तू कभी ।
मुझमें और आत्मामें देखके जीव-मात्रको ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

ज्ञानकी महानता—

यदि है आगर पापका । महासागरही है भ्रांतिका ।
हिमालय ही है व्यामोहका । तो भी पार्थ ॥ ७२ ॥

इस ज्ञान शक्तिके सम्मुख । यह सब कुछ नहीं देख ।
उसका सामर्थ्य है विशेष । ज्ञानका यहां ॥ ७३ ॥

निरास है विश्व भ्रमका । विस्तार है जो अमूर्तका ।
प्रकाश भी यहां उसका । अपर्याप्त ॥ ७४ ॥

उसकेलिये क्या मनोमल । बोलनेमें भी तुच्छसा बोल ।
उसके सम्मुख तुल्य बल । नहीं विश्वमें ॥ ७५ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

अजी! धूलको जो भुवनत्रयकी । गगनमें उडानेवाली आंधिकी ।
रुकावट होगी कैसी बादलकी । कह तू धनंजय ॥ ७६ ॥

अथवा पवनसे जो प्रक्षुब्ध । प्रलयाग्नि करता जलको दग्ध ।
होगा क्या वह कहो अवरुद्ध । तृणकाष्ठसे ॥ ७७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

पापियोंमें महा पापी होगा यदि शिरोमणि ।
तो भी तू ज्ञान-नौकासे तरेगा पाप-सागर ॥ ३६ ॥

संपूर्ण जलती आग करती राख काष्ठको ।
वैसे ज्ञानाग्नि है सारा जलाता सर्व कर्मको ॥ ३७ ॥

ज्ञान सम न है अन्य पवित्र जगमें कुछ ।
योग-युक्त यथा काल पाये जो निजमें स्वयं ॥ ३८ ॥

असंभव है ऐसा होना । अशक्य है ऐसा सोचना ।
जगतमें ज्ञान समान । पवित्र नहीं कछु ॥ ७८ ॥

ज्ञान यहां अति उत्तम है । ऐसा क्या अन्य समान है ।
ज्ञान जो महा चैतन्य है । विश्वमें ॥ ७९ ॥

इस महातेज पे कसनेसे । निर्मल है यह सूर्य बिंबसे ।
समेटलें यह समेटनेसे । आकाशको भी ॥ १८० ॥

या तौलकर देखनेमें । इस पृथ्वीकी तुलनामें ।
यदि कुछ है तो विश्वमें । ज्ञान ही है ॥ ८१ ॥

बहुविध विचारनेसे । पुनः पुनः सोचनेसे ।
पवित्र यहां ज्ञानसे । ज्ञान ही है ॥ ८२ ॥

खोजनेसे अमृतका रस जैसा । अमृतमें ही मिलता है वैसा ।
ज्ञानके समान ज्ञान ही वैसा । जानना पार्थ ॥ ८३ ॥

इस पर है अब बोलना । व्यर्थका है समय बिताता ।
सच कहता सुन अर्जुन । जो कहा तूने ॥ ८४ ॥

उस ज्ञानको तब कैसे जानना । अर्जुनके मनमें यह पूछना ।
जानकर उसकी मनो कामना । कहा अच्युतने ॥ ८५ ॥

फिर कहता है किरीटी । चित दे सुन यह गोष्टी ।
कहता हूँ ज्ञानकी भेटी । होगी कैसी ॥ ८६ ॥

श्रध्दावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

आत्म-सुखकी माधुरीसे । उकताता है विषयोंसे ।
इंद्रियोंका कभी उनसे । न होता भाव ॥ ८७ ॥

मनमें जो चाह नहीं धरता । प्रकृति कर्मको न स्वीकारता ।
सुख रूप होकरके रहता । श्रद्धा भोगमें ॥ ८८ ॥

श्रद्धालु ज्ञान पाता है संयमी नित्य सावध ।

ज्ञानसे शीघ्र पाता है शांति अंतिम पावन ॥ ३९ ॥

ज्ञान है जो चिर वांछित । मिले वह उसे निश्चित ।
जिसमें होती अचुंबित । शांति-सुख ॥ ८९ ॥

हृदयमें जब ज्ञान होता । तब शांति-अंकुर फूटता ।
उससे विस्तार प्रकटता । आत्मबोधका ॥ १९० ॥

फिर जहां देखे वहां । सर्वत्र ही जहां तहां ।
न दीखे तीर है कहां । शांति सिंधुका ॥ ९१ ॥

ऐसा यह उत्तरोत्तर । ज्ञान बीजका है विस्तार ।
कहा है उसको अपार । धनंजय ॥ ९२ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

संदेह विनाशका धर है—

जिन प्राणियोंमें ज्ञानकी । चाह नहीं वह पानेकी ।
क्या कहें ऐसे जीवनकी । उससे भली मौत ॥ ९३ ॥

शून्य है जैसे गृह । या प्राण बिनु देह ।
है जीवित सम्मोह । ज्ञानके बिन ॥ ९४ ॥

हुआ नहीं प्राप्त वह ज्ञान । चाह करता पानेका मन ।
तब है आशा यह तू जान । पानेकी वह ॥ ९५ ॥

किंतु बात है कैसे ज्ञानकी । आस्था नहीं मनमें उसकी ।
तो पड़ा है संदेह रूपकी । अग्निमें वह ॥ ९६ ॥

जब अमृत भी नहीं भाता । ऐसा आस्वाद-स्वभाव होता ।
तभी जानना मरण आता । निकट सत्वर ॥ ९७ ॥

विषय सुखमें जो है रंगता । ज्ञानसे नित विमुख रहता ।
निश्चय ही संशयमें पड़ता । जानना वह ॥ ९८ ॥

न है ज्ञान न है श्रद्धा संशयीका विनाश है ।

दोनों ही लोकमें पार्थ न पाता सुख संशयी ॥ ४० ॥

डूबा यदि संशय सागरमें । नष्ट हुआ निश्चित जीवनमें ।
वंचित हुआ इह औ' परमें । सुखसे वह ॥ १९९ ॥

किसीको जब कालज्वर आता । वह जैसे शीतोष्ण न जानता ।
जैसे वह चांदनी औ' उष्णता । मानता एक-सा ॥ २०० ॥

वैसे वह जो सत औ' असत । अनुकूल औ' प्रतिकूल बात ।
नहीं जानता हित औ' अहित । संशयग्रस्त जो ॥ १ ॥

यह है दिवस औ' यह रात । जन्मांध न जानता यह बात ।
वैसे ही होता है संशयग्रस्त । मनमें सदा ॥ २ ॥

तभी संशयसे भयंकर । अन्य नहीं पाप कोई घोर ।
वह है विनाशका भंवर । प्राणियोंका ॥ ३ ॥

इस कारणसे तुझे तजना । पहले इस बातको जानना ।
ज्ञानाभावमें इसका रहना । जान निश्चित ॥ ४ ॥

पड़ता अज्ञानका गहरा अंधार । बढ़ता यह चितमें अपरंपार ।
जिससे है पथावरोध धनुर्धर । श्रद्धाका सदा ॥ ५ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

ज्ञान खड्ग—

हियमें ही यह नहीं समाता । बुद्धि पर भी पर्दा डालता ।
जिससे संशयात्मक हो जाता । भुवन-त्रय ॥ ६ ॥

इतना है इसका बडप्पन । उसे जीवनका एक साधन ।
यदि करमें होता है महान । ज्ञान खड्ग ॥ ७ ॥

उस तीखे ज्ञान खड्गसे । मिटता यह मूल रूपसे ।
मल होता मनका जिससे । सदा निर्मूल ॥ ८ ॥

योगसे छांटके कर्म ज्ञानसे छिन्न संशय ।
जो सावधान आत्मामें उसे कर्म न बांधते ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इस कारणसे तू पार्थ । नष्ट करके हृदयस्थ ।
संशय अब सर्वथा । ऊठ सत्वर ॥ ९ ॥

ऐसा सर्वज्ञोंका बाप । श्रीकृष्ण जो ज्ञानदीप ।
कहता वह सकृप । सुनो राजन् ॥ २१० ॥

कथा यह पूर्वापर । अर्जुन विचारकर ।
पूछेगा प्रश्न सत्वर । समयोचित ॥ ११ ॥

उस कथाकी संगति । भावकी है संपत्ति ।
उसकी है उन्नति । कहेगा हरि ॥ १२ ॥

उसकी उत्तमता पर । आठो रस हैं न्योच्छावर ।
वह है सज्जनोंका घर । आसरेका ॥ १३ ॥

प्रकट करेगा शांति-रस निर्मल । है वह महासागरसे भी खोल ।
मेरी देश-भाषाका अनमोल बोल । अर्थपूर्ण ॥ १४ ॥

बिंब दीखता है हथेली समान । प्रकाशमें ओछा होता त्रिभुवन ।
अनुभवना ऐसी व्याप्ति महान । शब्दार्थकी ॥ १५ ॥

अजी ! कामितार्थकी जो आशा । फलती कल्पवृक्षमें जैसा ।
बोल हैं अति व्यापक ऐसा । सुननाजी ॥ १६ ॥

रहने दो अब है क्या कहना । सर्वज्ञ जानते मनो कामना ।
फिर भी करता नम्र प्रार्थना । सुनना चित्त देके ॥ १७ ॥

यहां साहित्य तथा शांति । वैसे रेखा शब्द पद्धति ।
जैसे लावण्य गुण कुलवति । तथा पतिव्रता ॥ १८ ॥

पहले ही प्रिय है शक्कर । मिलती पथ्यके नाम पर ।
खाना या न खाना बात फिर । रहती कहां ? ॥ १९ ॥

तभी हृदयका सारा अज्ञान-कृत संशय ।
ज्ञानके खड्गसे तोड ऊठ तू योग साधके ॥ ४२ ॥

मलयानिलय मंद सुगंध । उसमें मिला अमृतका स्वाद ।
उसके साथ हो सुस्वर नाद । दैव-गतिसे ॥ २२० ॥

स्पर्शसे सर्वांग शांत करता । माधुरीसे रसनाको नचाता ।
श्रवणेंद्रियसे है कहलाता । भला भला ॥ २१ ॥

वैसे है इस कथाका सुनना । कानोंका है प्रसन्न होना ।
संसार-दुःखका मूलता होना । उच्चाटन ही ॥ २२ ॥

मंत्रसे यदि शत्रु मरता । कौन तलवार बांधता ।
दूध मधुसे रोग जाता । कौन पीवे नीम ॥ २३ ॥

वैसे मनको न मारते । इंद्रियोंको न सताते ।
अनायास ही मोक्ष पाते । श्रवण-मात्रसे ॥ २४ ॥

सुन सब हो प्रसन्न मन । करके गीतार्थका चिंतन ।
ज्ञानदेवका यह वचन । जो है निवृत्तिका दास ॥ २२५ ॥

गीता श्लोक ४२

ज्ञानेश्वरी ओवी २२५



५

कर्म-संन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

पार्थका प्रश्न, कर्म-संन्यास या कर्म-योग—

पार्थ कहता फिर श्रीकृष्णसे । आपका बोलना यह भी कैसे ।
एक हो तो अंतःकरणसे । सोचे उसको ॥ १ ॥

पहले कहा संन्यास कर्मका । तूने किया था निरूपण उसका ।
अब कहता अतिशय कर्मका । कैसे अनंत ॥ २ ॥

कैसी यह दो अर्थकी बात । हमारा अज्ञानियोंका चित्त ।
अपने आप कहे अनंत । समझेगा कैसे ॥ ३ ॥

सार तत्वको कहना । एक निष्ठासे बोलना ।
और क्या कहूं कहना । तुझसे अब ॥ ४ ॥

तभी कहा मैंने तुझसे । प्रभुजनोंसे विनयसे ।
परमार्थको द्वि-अर्थसे । कहना नहीं ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा

कहता कर्म-संन्यास वैसे ही योग भी कभी ।
दोनोंमें जो भला एक कह तू मुझ निश्चित ॥ १ ॥

हुआ जो वह जाने देना। अबकी यह सुलझा देना।
इन दोनोंमें अब बताना। मार्ग उत्तम ॥ ६ ॥

अन्त है जिसका मंगल। निश्चित है जिसका फल।
अनुष्ठानमें जो सकल। शुद्ध सहज ॥ ७ ॥

जिसमें न होता नींदका भंग। किंतु कटता प्रवास मारग।
ऐसा सुखासनसा सुभग। तथा सरल ॥ ८ ॥

अर्जुनके इस वचनसे। रीझे हरि अंत:करणसे।
फिर कहा अति संतोषसे। ऐसा ही होगा ॥ ९ ॥

माय जो कामधेनुसी। रहती साथ छायासी।
मांगनेसे चंदा भी जैसी। देती खेलने ॥ १० ॥

शंभुने प्रसन्न चित्त। उपमन्युको जो आर्त।
दिया जैसा दूध भात। क्षीराब्धी ही ॥ ११ ॥

वैसा सागर जो औदार्यका। सखा बना आप अर्जुनका।
क्यों न हो तब सर्व सुखका। वसति-स्थान वह ॥ १२ ॥

इसमें क्या है कौतुक। लक्ष्मीकांत है मालिक।
तो क्यों न मांगे ऐच्छिक। वरदान ॥ १३ ॥

मांगा था जो अर्जुनने। "दिया" कहा श्रीकृष्णने।
कहा क्या तब हरिने। वही कहूंगा ॥ १४ ॥

भगवान उवाच
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर—

हरि कहे सुन कुंती-सुत। विचार करने पर चित्त।
संन्यास योग दोनों तत्वत:। हैं मोक्ष-दायक ॥ १५ ॥

श्रीभगवानने कहा

कर्म-संन्यास औ' योग एक-से मोक्ष-दायक।
किंतु संन्याससे माना कर्म-योग विशेष है ॥ २ ॥

किंतु जान अनजानको सकल । आचरणमें कर्मयोग सरल ।
जैसे स्त्री बालक भी नांवके बल । तैरते सागर ॥ १६ ॥

सरासरी विचारनेसे । मार्ग यह सरल ऐसे ।
संन्यास फल मिले इससे । अनायास ॥ १७ ॥

करूंगा अब कथन । संन्यासका जो लक्षण ।
सहज हैं ये अभिन्न । जानेगा तू ॥ १८ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

नैष्कर्म्यका अर्थ आलस्य नहीं—

गतको जो भुलाना । प्राप्तव्यको तजना ।
मेरु-सा स्थिर होना । अंतरमें ॥ १९ ॥

मैं मेरा ऐसा सब स्मरण । भूला जिसका अंतःकरण ।
उसीको तू संन्यासी जान । निरंतर ॥ २० ॥

मनसे जो ऐसा हुवा । संगसे सदा मुक्त हुआ ।
जिसको है प्राप्त हुआ । शाश्वत सुख ॥ २१ ॥

गृह आदिका तब पूर्ण । तजनेका नहीं कारण ।
आसक्त स्वभावका मन । हुआ असंग ॥ २२ ॥

आग जब बुझ जाती । केवल राख रहती ।
कपास भी लपेटती । वैसे ही ॥ २३ ॥

रहकर भी उपाधिमें । न पड़ता कर्म-बंधमें ।
न रहा जिसकी बुद्धिमें । संकल्प बीज ॥ २४ ॥

कल्पनाका साथ जब टूटता । तभी संन्यास सहज बनता ।
इससे दोनों एक हो जाता । कर्म औ' संन्यास ॥ २५ ॥

जानो जो नित्य संन्यासी राग-द्वेष नहीं जिसे ।
द्वंद्वसे दूर जो होता सुखसे बंध-मुक्त भी ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

नहीं तो सुन पार्थ । हैं जो मूर्ख सर्वथा ।
वे सांख्य कर्म संस्था । जानेंगे कैसे ॥ २६ ॥

स्वभावसे जो अज्ञान । तभी कहते है भिन्न ।
एकेक दीपका भिन्न । प्रकाश होता क्या ? ॥ २७ ॥

करके एकका आचरण । अनुभव किया है संपूर्ण ।
कहते हैं अनुभव ज्ञान । दोनोंका एक ॥ २८ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

सांख्यसे जो मिलता । योगसे वही प्राप्त होता ।
तभी है दोनोंमें एकता । सहज भावसे ॥ २९ ॥

देख आकाश औ' अवकाश । जिसमें भेद नहीं है जैसा ।
योग तथा संन्यास भी ऐसा । है अभिन्न ॥ ३० ॥

जिसने सांख्य योग अभिन्न । देखा है उसको हुवा ज्ञान ।
उसने आत्मरूप दर्शन । किया सहज ॥ ३१ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

है जो युक्त पंथसे पार्थ । चढते हैं मोक्ष पर्वत ।
महा सुखका वे निश्चित । पायेंगे शिखर ॥ ३२ ॥

सांख्य औ' योग है भिन्न कहते अज्ञ-लोग जो ।
दोनोंमें एकसी निष्ठा दोनोंका फल एक है ॥ ४ ॥

पाते हैं स्थान जो सांख्य योगीको मिलता वह ।
दोनोंका एक ही रूप देखे जो जानता वह ॥ ५ ॥

योगके बिन संन्यास सुखसे मिलता नहीं ।
मुनि जो योगसे युक्त पाता है शीघ्र ब्रह्मको ॥ ६ ॥

जो यह योग स्थिति है तजता । व्यर्थ ही उलझनमें पड़ता ।
उससे प्राप्त कभी नहीं होता । संन्यास साध्य ॥ ३३ ॥

योगयुक्तो विशुध्दात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

संकल्पशून्य मन चैतन्यमय हो, सर्वव्यापी बनता है—

जिसने भ्रांतिसे है छुडालिया । गुरुवाक्यसे मनको धो लिया ।
आत्म रूपमें फिर ढाल दिया । धुलकर ॥ ३४ ॥

सागरमें जब नून गिरता । तब तक वह अल्प रहता ।
फिर वह समुद्रसा बनता । विलीन होकर ॥ ३५ ॥

वैसे तो संकल्पसे हुआ भिन्न । चैतन्य रूप हुआ उसका मन ।
सीमित होकर भी तनसे मन । व्यापता लोकत्रय ॥ ३६ ॥

कर्ता कर्म फिर काज । कटा जिसका सहज ।
अनुभवता वह सहज । अकर्तापन ॥ ३७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

जिसका मन अर्जुन । मैं देह हूं यह भान ।
भूला उसे न रहा जान । कर्तापन कछु ॥ ३८ ॥

चित्तसे शुद्ध जो योगी जीतके मन इंद्रिय ।
बना है जीव भूतोंका करके भी अलेप जो ॥ ७ ॥

मानके अकर्ता आप योगी तत्वज्ञ जो नित ।
देखें सुने छुये सूंघे खाये सुवे चले करे ॥ ८ ॥

बोले छोडे पकडे या हिलावे बरुनी यदि ।
इंद्रिया करती आप अपना कर्म जानता ॥ ९ ॥

तन त्यागके बिन । अमूर्तके जो गुण ।
दीखते हैं संपूर्ण । योग-युक्तमें ॥ ३९ ॥

वैसे उसका भी होता शरीर । अन्योंकी भाँति करता व्यापार ।
एक जैसा सबका व्यवहार । उसका भी ॥ ४० ॥

वह भी आंखोंसे देखता । वैसे ही कानसे सुनता ।
किंतु वह लिप्त न होता । उसमें कभी ॥ ४१ ॥

यदि वह सबको स्पर्शता । घ्राणसे परिमल भी लेता ।
समयोचित वह बोलता । सबके भाँति ॥ ४२ ॥

आहारको स्वीकारता । तजना जो तजता ।
निद्रा समयमें सोता । सुखसे वह ॥ ४३ ॥

अपनी ही इच्छासे । वह चलता जैसे ।
सकल कर्म वैसे । चलते हैं ॥ ४४ ॥

यह कहना क्या एकेक । देखें श्वासोच्छ्वासादिक ।
वैसे ही निमिषोन्निमिष । आदि सब ॥ ४५ ॥

पार्थ वह सब करता । कोई कर्म नहीं छोडता ।
किया ऐसा बोध न होता । प्रतीतिसे ॥ ४६ ॥

भ्रांतिकी सेज पर जो सोया था । स्वप्न रंजनमें जो उलझा था ।
ज्ञानोदयसे वह है जगा था । इसीलिये ॥ ४७ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

चैतन्यके आश्रयसे अब । इंद्रियोंकी वृत्तियां सब ।
बरतती हैं अपने तब । स्वभावसे ॥ ४८ ॥

जैसे दीपकके प्रकाशसे । व्यापार होते घरके जैसे ।
चलते शरीर कर्म वैसे । योगयुक्तके ॥ ४९ ॥

ब्रह्मार्पित करे कर्म करता संग छोड़के ।
न होता पापसे लिप्त जलमें पद्म-पत्रसा ॥ १० ॥

सभी कर्म है वह करता । कर्म बंधनमें नहीं आता ।
जैसे पानीमें नहीं भीगता । पद्मपत्र ॥ ५० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

कर्मकी विविधता-विवेचन—

जो बुद्धिकी भाषा नहीं जानता । मनमें अंकुर नहीं फूटता ।
ऐसा व्यापार जो तनसे होता । वह शरीर कर्म ॥ ५१ ॥

इसीको स्पष्ट रूपसे कहता । जैसा बालकका कर्म है होता ।
योगीका कर्म वैसे ही रहता । केवल तनसे ॥ ५२ ॥

जब पंच भौतिक तन । रहता है निद्रामें लीन ।
कार्य करता तब मन । स्वप्न रूपमें ॥ ५३ ॥

आश्चर्य देख तू धनुर्धर । कितना है वासना विस्तार ।
देहको नहीं होता जागर । भोगता सुख दुःख ॥ ५४ ॥

इंद्रियोंका स्पर्श भी न करता । ऐसा व्यापार जो होता रहता ।
वह केवल कर्म कहलाता । मनका ही ॥ ५५ ॥

वह कर्म भी योगी करता । किंतु उससे बद्ध न होता ।
उसका साथ छूटा रहता । अहंकारसे ॥ ५६ ॥

जैसे होता है भ्रम हत । पिशाच स्पर्शसे जो चित्त ।
करता इंद्रियां चेष्टित । विकल रूपसे ॥ ५७ ॥

रूप भी है वह देखता । कानसे भी वह सुनता ।
शब्द भी है वह बोलता । पर बेभान हो ॥ ५८ ॥

यह जो है बिन प्रयोजन । जो कुछ वह करता जान ।
वह केवल कर्म है मान । इंद्रियोंका ॥ ५९ ॥

केवल इंद्रियोंसे या शरीर मन बुद्धिसे ।
आत्म-शुध्यर्थ ही योगी करे कर्म असंग हो ॥ ११ ॥

सर्वत्र फिर जाननेका । कार्य रहता जो बुद्धिका ।
यह कथन है हरिका । अर्जुनसे ॥ ६० ॥

बुध्दिको आधार मानकर । कर्म करते चित्त देकर ।
किंतु वे नैष्कर्म्यसे पर । मुक्त दीखते ॥ ६१ ॥

बुध्दिसे तन तक कहीं । अहंकारका चिन्ह भी नहीं ।
वे कर्म करके ही वहीं । शुद्ध रहते ॥ ६२ ॥

कर्तृत्वभाव बिन कर्म । होता वही सही निष्कर्म ।
जानते ये उसका धर्म । गुरु-गम्य जो ॥ ६३ ॥

नैष्कर्म्य भावका दर्शन—

शांति-रसका अब पूर । छलके पात्रके ऊपर ।
बोल जो वाणीसे भी पर । होते हैं व्यक्त ॥ ६४ ॥

पराधीनता इंद्रियोंकी । मिटी है संपूर्ण जिनकी ।
सुननेमें योग्यता उनकी । मानना यहां ॥ ६५ ॥

रहने दो अति प्रसंग । न छोडो जी कथाका संग ।
होगा श्लोक संगति भंग । इसीलिये ॥ ६६ ॥

अनाकलन जो मनसे । प्रज्ञा-घर्षण करनेसे ।
वही मुझे दैव कृपासे । हुआ सहज ॥ ६७ ॥

स्वभावसे जो शब्दातीत । आया शब्दके अंतर्गत ।
औरोंकी रही क्या है बात । क्या कहो ॥ ६८ ॥

आग्रह विशेष श्रोताओंका । जानकर दास निवृत्तिका ।
कहता है संवाद दोनोंका । सुनो ध्यानसे ॥ ६९ ॥

कहता है कृष्ण अर्जुनसे । प्राप्तोंका लक्षण होता कैसे ।
कहता तुम्हें पूर्ण रूपसे । सुनो चित्त देकर ॥ ७० ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

फलको तजके योगी पाता है शांति निश्चल ।
अ-योगी फलका भोगी वासनामें फंसा रहा ॥ १२ ॥

संपन्न होता जो आत्म योगसे । उदासीन कर्म फल भोगसे ।
रमती शांति सदैव उससे । अपने आप ॥ ७१ ॥

अर्जुन जो कर्म बंधसे । अभिलाषाकी ही डोरीसे ।
बांधा जाता है खूंटेसे । फल भोगके ॥ ७२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

करता जैसे फलकामनासे । सभी कर्म वह करता वैसे ।
करता है फिर पूर्ण रूपसे । उपेक्षा उसकी ॥ ७३ ॥

जिस ओर उसकी दृष्टि । होती वहां सुखकी सृष्टि ।
जहां वह कहता वृष्टि । होती महा-बोधकी ॥ ७४ ॥

नवद्वारके देहमें जैसे । रहकर न रहता वैसे ।
करके सब न करे वैसे । रहे फलत्यागी ॥ ७५ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

निष्काम कर्मयोगीकी महानता--

होता है जैसे सर्वेश्वर । जब चाहे तब निर्व्यापार ।
करता वही सब विस्तार । त्रिभुवनका ॥ ७६ ॥

कहें यदि उसको कर्ता । कर्ममें वह न डूबता ।
हाथ पैर लिप्त न होता । उदास वृत्तिसे ॥ ७७ ॥

योग-निद्राका भंग न होता । अ-कर्तापन नहीं मलता ।
दलभार जो खड़ा करता । महाभूतोंका ॥ ७८ ॥

मनसे छोड़के कर्म सुखसे संयमी सभी ।
नौ द्वार पुरमें देही कराता करता नहीं ॥ १३ ॥
नहीं कर्तृत्व लोगोंका न कर्म सृजता प्रभु ।
न कर्म-फल संयोग होता सब स्वभावसे ॥ १४ ॥

सबके जीवनमें जो बसता । किंतु किसीका कोई न होता ।
विश्व बनता औ' उजाड़ता । उसका कुछ नहीं ॥ ७९ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽवृत्तंज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः ॥ १५ ॥

अशेष पाप पुण्य उसके । समीप रहते हैं विश्वके ।
किंतु साक्षी न होता उसके । अन्य बात क्या ॥ ८० ॥

वह रहता मूर्तिके साथ । मूर्ति रूप होकर सतत ।
किंतु न मलता रूप अमूर्त । उस पुरुषका ॥ ८१ ॥

पालता वह सृजता संहारता । चराचर सब है यही बोलता ।
सुन तू यह अज्ञान ही है पार्थ । सबका यहां ॥ ८२ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

अज्ञान यह समूल टूटता । भ्रांतिका तम भी है दूर होता ।
फिर अकर्तृत्व प्रकट होता । ईश्वरका ॥ ८३ ॥

ईश्वर है यहां एक अकर्ता । तब चित्त यदि ऐसा मानता ।
तब वही मैं यह स्वभावता । आदिसे हूँ ॥ ८४ ॥

होता जब ऐसा विवेक चित्तमें । उसको भेद कैसा त्रिभुवनमें ।
देखता अपने ही अनुभवमें । विश्व है मुक्त ॥ ८५ ॥

सूर्योदय होता पूर्व दिशामें । प्रकाश होता दश दिशामें ।
उस समय किसी दिशामें । तम न रहता ॥ ८६ ॥

किसीका भी न लें पाप वैसे ही पुण्य भी प्रभु ।
अज्ञानसे ढका ज्ञान इससे जीव मोहित ॥ १५ ॥

हुवा अज्ञानका नाश जिनका आत्म ज्ञानसे ।
स्वच्छ दीखे पर-ब्रह्म मानो सूर्य-प्रकाश है ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

बुध्दिनिश्चयसे हो आत्मज्ञान । अपनेको ब्रह्म स्वरूप मान ।
ब्रह्मनिष्ठासे है तत्परायण । रहता दिनरात ॥ ८७ ॥

ऐसा भला व्यापक ज्ञान । जिनके हियमें पाया स्थान ।
उनकी सम-दृष्टिका वर्णन । विशेष कैसे ॥ ८८ ॥

देखते अपने को जैसे । विश्वको देखते हैं वैसे ।
सहज कहनेमें इसे । आपत्ति क्या ॥ ८९ ॥

दैव जैसे लीलासे । न देखें दैन्य जैसे ।
न जाने विवेक जैसे । भ्रांतिको ॥ ९० ॥

अथवा अंधःकारका प्रकार । न देखता स्वप्नमें भी भास्कर ।
न आती अमृतके कान पर । मृत्युवार्ता ॥ ९१ ॥

जाने दो संताप है कैसा । न जानता चंद्र वैसा ।
ज्ञानी भी प्राणियोंमें वैसा । न जाता भेद ॥ ९२ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

यह है झींगुर यह गज । या यह चांडाल यह द्विज ।
या वह अन्य यह आत्मज । यह रहे कैसे ॥ ९३ ॥

या वह धेनु औ' यह श्वान । एक महान औ' दूजा हीन ।
इसका स्वप्नमें भी न भान । जगनेमें कैसे ॥ ९४ ॥

जहां है अहंकार भाव । वहीं है द्वैतका संभव ।
जहां अहंका ही अभाव । वहां विषमता कैसी ॥ ९५ ॥

बुध्दि निश्चय निष्ठाको उसीमें कर अर्पित ।
नहीं लेते पुनः जन्म ज्ञानसे पाप धो कर ॥ १७ ॥

विद्या विनय संपन्न द्विज गाय तथा गज ।
श्वान चांडाल जो सारे तत्वज्ञ सम देखते ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

इसीलिये सर्वत्र सदा सम । आप ही है जो आद्य ब्रह्म ।
जानकर यह संपूर्ण वर्म । समदृष्टिका ॥ ९६ ॥

विषय संग नहीं छोड़ते । इंद्रिय दंडन न करते ।
असंगता है ये भोगते । निरिच्छामे ॥ ९७ ॥

सब लोगोंके ही अनुसार । करता है लौकिक व्यापार ।
किंतु अज्ञानको छोड़कर । लौकिकका ॥ ९८ ॥

जन-जनमें जैसा खेचर । होकर भी न होता गोचर ।
वैसे देहधारीको संसार । नहीं जानता ॥ ९९ ॥

जैसे पवन-गतिके साथ । जल पे खेले जल सतत ।
जानते जन उसमें द्वैत । तरंग रूप ॥ १०० ॥

वैसे नाम-रूप भिन्नताका । वैसे ब्रह्म ही सच है एक ।
मन साम्य हुआ है जिसका । सदा सर्वत्र ॥ १ ॥

ऐसी जिसकी समदृष्टि है । उस नरके जो लक्षण हैं ।
संक्षेपमें हरि कहता है । अर्जुनसे ॥ २ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जैसे मृगजलका महापूर । हिला नहीं सकता गिरिवर ।
वैसे शुभ अशुभमें विकार । उठते नहीं ॥ ३ ॥

वही है निश्चित । समदृष्टि प्राप्त ।
हरि कहे पार्थ । वही ब्रह्म ॥ ४ ॥

यहीं जीत लिया जन्म स्थिर हो सम-बुध्दिमें ।
निर्दोष सम जो ब्रह्म उसीमें जो हुए स्थिर ॥ १९ ॥
न होता प्रियसे हर्ष अप्रियसे न व्याकुल ।
बुध्दि निश्चल निर्मोह ब्रह्मज्ञ ब्रह्ममें स्थिर ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

निज वृत्तिको छोड़कर । न आता इंद्रियग्राम पर ।
विषय सेवन वहां पर । विचित्र ही है ॥ ५ ॥

अपार सहज-स्व-सुखमें । स्थित होनेसे अपने ही में ।
न झांकता कभी बाहरमें । पांडुकुमार ॥ ६ ॥

थाली है जिसकी कुमुददल । भोजन चंद्रकिरण शीतल ।
औ' वह चकोर खायेगा धूल । यह संभव है क्या ॥ ७ ॥

मिला जिसे निज सहज सुख । अपनेमें स्थित अंतर-सुख ।
उसका छूटेगा विषय सुख । अपने आप ॥ ८ ॥

वैसे भी स-कौतुक । विचार करके देख ।
यह जो विषय सुख । चाहता कौन ॥ ९ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

जिसने अन्तर्सुख नहीं देखा वही विषय सुखके पीछे पड़ते हैं—

देखा नहीं जिसने निज सुख । रमता वही इंद्रियार्थी देख ।
बासी रोटी देख कर भी रंक । जैसे चाहता उसे ॥ १० ॥

अथवा मृग जो तृषा पीडित । भ्रमसे छोड़कर जल स्रोत ।
दौडते रहते मृग-जलार्थ । ऊसरमें सदा ॥ ११ ॥

जिसे नहीं निज सुखका अनुभव । औ' जिसको स्वरुपानंदका अभाव ।
उसको है विषय सुखका वैभव । भाते अपार ॥ १२ ॥

असंग विषयोंमें जो जानके आत्मका सुख ।
लीन होके ब्रह्ममें ही पाता है सुख अक्षय ॥ २१ ॥

इंद्रियोंके सभी भोग दुःख कारण केवल ।
उठते गिरते जान ज्ञानी न रमता वहां ॥ २२ ॥

विषयोंमें वैसा कुछ सुख है । कहने जैसा भी कुछ नहीं है ।
विद्युल्लतासे जैसे न होता है । प्रकाश जगतमें ॥ १३ ॥

वात वर्षा आतपमें यदि साया । करती है घने बादलकी काया ।
व्यर्थ है तब बांधना धनंजय । महलादिक ॥ १४ ॥

विषयोंको सुख कहना । व्यर्थकी बात है कहना ।
विषकंदको ही कहना । जैसा अति-मधुर ॥ १५ ॥

कहते जैसे भूमिपुत्रको मंगल । अथवा मृगजलको कहते जल ।
विषयानुभव कहलाता गरल । वैसे ही व्यर्थ ॥ १६ ॥

जाने दे पार्थ सब ये बोल । सर्प फनकी साया शीतल ।
होगी कह कहाँ तक निश्चल । मूशकको ॥ १७ ॥

आमिष ग्रास जैसा अर्जुन । न खाये तब तक भला मीन ।
वैसा विषय संग संपूर्ण । जान तू निश्चित ॥ १८ ॥

विरक्तियोंकी जो दृष्टि । देखती इसे किरीटी ।
पांडुरोगकी है पुष्टि । वैसे ही ॥ १९ ॥

तभी विषय भोगमें सुख । जानो है वह साद्यंत ही दुःख ।
किंतु क्या करेंगे जन मूर्ख । भोगके न थकते ॥ १२० ॥

न जानते अंतरंग बेचारे । इसीलिये सब सेवन करे ।
कहो पूय पंकके है जो कीरे । क्या करेंगे घृणा ॥ २१ ॥

दुख ही उन दुखितोंका घर । है विषय कर्दम ही दुर्दर ।
भोग-जल जलके जलचर । छोडें कैसे ॥ २२ ॥

और जो ये दुःख योनी हैं । सब निरर्थक होती हैं ।
यदि जीव सब विरत हैं । विषयोंमें ॥ २३ ॥

वैसे ही गर्भवासका कष्ट । या जन्म-मरणादि संकट ।
अविश्रांत रूप यह बाट । चलेगा कौन ॥ २४ ॥

विषयी यदि विषय छोडेंगे । महादोष ये जो कहाँ रहेंगे ।
संसारादि नाम ये व्यर्थ होंगे । इस जगतके ॥ २५ ॥

तभी किया सुख बुध्दिसे स्वीकार । विषय सुखका है जीवन भर ।
कर दिखाया मिथ्याको सच कर । अविद्याजात ॥ २६ ॥

सुन अर्जुन इस कारणसे । विष है विषय विचारनेसे ।
नहीं जा तू कभी इस राहसे । भूल कर भी ॥ २७ ॥

इससे ये विरक्त पुरुष । त्यजते हैं जैसे मान विष ।
न भाता उन्हे सुख रूप दुःख । विषयोंका कभी ॥ २८ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

बात नहीं ज्ञानियोंमें । विषयकी सपनेमें ।
देह भावको देहमें । मिटाया है ॥ २९ ॥

सदा जिसका अंतःकरण । अनुभवता सुख महान ।
न जाने अन्य कछु अर्जुन । विषयादिक ॥ १३० ॥

वे हैं भोगते द्वैत भावसे । पक्षीके फल चुगने जैसे ।
यहां संपूर्ण विसर्जनसे । भोक्ता भावके ॥ ३१ ॥

भोगमें ऐसी अवस्था आती । अहंताका परदा हटाती ।
महासुखालिंगन कराती । ऐक्य भावका ॥ ३२ ॥

उस आलिंगनके समय । जलमें होता जलका लय ।
मिट जाता है वैसा उभय । न दीखता भेद ॥ ३३ ॥

या आकाशमें खो जाता वात । मिटती वह "दो" ऐसी बात ।
रहता सुख मात्र शाश्वत । भोगमें वहाँ ॥ ३४ ॥

द्वैतकी भाषा मिटती है जहाँ । रहता है फिर ऐक्य ही वहाँ ।
रहता फिर साक्षी कौन कहाँ । जानता जो ॥ ३५ ॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यत्नसे मृत्युके पूर्व देहमें जो पचा सका ।
काम क्रोधादिके वही योगी वही सुखी ॥ २३ ॥

प्रकाश स्थिरता सौख्य मिला अंतरमें जिन्हे ।
ब्रह्म ही बनके योगी पाता निर्वाण ब्रह्ममें ॥ २४ ॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

इसीलिये जाने दो संपूर्ण । न बोलने जैसा बोले कौन ।
जानेगा सहज ज्ञानी चिह्न । आत्माराम ॥ ३६ ॥

जो हैं ऐसे सुखमें मगन । अपनेमें हैं आप अर्जुन ।
वे ढली हुई मूर्ति समान । समरसकी ॥ ३७ ॥

हैं वे आनंदके अनुकोर । महासुखके हैं जो अंकुर ।
या महाबोधके हैं विहार । बने जो ॥ ३८ ॥

वे हैं विवेकके गांव । परब्रह्मका स्वभाव ।
या सजे हैं अवयव । ब्रह्मविद्याके ॥ ३९ ॥

वे हैं सत्वके सात्विक । या चैतन्यके आंगिक ।
क्यों कर ये एक एक । बखानना है ॥ १४० ॥

विषय विस्तारकेलिये श्रीनिवृत्तिका उलाहना—

जब तू संत स्तवन रचता । कथाका विचार नहीं करता ।
विषयांतर कर तू बोलता । सनागर ॥ ४१ ॥

कर तू रसातिरेक संकुचित । ग्रंथार्थ दीप कर-प्रज्वलित ।
साधु हृदय मंदिर कर प्रभात । मंगलकारक ॥ ४२ ॥

ऐसा गुरुका अव्हाहन । निवृत्तिके दासने सुन ।
कहता श्रीकृष्ण-वचन । वही सुनो ॥ ४३ ॥

जिसने अनंत सुखका सागर । तलका लिया है सुदृढ आधार ।
वह तद्रूप होकर वहीं स्थिर । हुए हैं पार्थ ॥ ४४ ॥

विशुद्ध आत्म प्रकाशमें । विश्व देखता अपनेमें ।
वह है ब्रह्म रुप तनमें । मानना निश्चित ॥ ४५ ॥

पाते हैं ब्रह्म-निर्वाण होते हैं क्षीण-पाप जो ।
असंशयी ऋषी ज्ञानी जो विश्व हितमें रत ॥ २५ ॥

सत्याकार वह परम । अक्षर है वह निःस्सीम ।
उस गांवके है निष्काम । अधिकारी जो ॥ ४६ ॥

महर्षियोंका जहाँ अधिकार । विरक्तोंका है अंश सुंदर ।
संशय रहितोंका निरंतर । फलद्रूप वह ॥ ४७ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

मानवके निःस्सीम स्थितिका विवेचन—

विषयोंसे जिन्होंने खींचलिया । अपना चित्त आपही जीत लिया ।
निश्चित ही वहां लीन किया । सदैवही ॥ ४८ ॥

वह है परब्रह्म निर्वाण । आत्मज्ञानके ही कारण ।
उन्हींको तू पुरुष है जान । धनंजय ॥ ४९ ॥

वैसे वे कैसे हुए । देहमें ब्रह्मत्व पाए ।
संक्षेपमें हरि कहे । अर्जुनसे ॥ १५० ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥

वैराग्यका सहारा ले करके । तजे विषय अंतःकरणके ।
अंतर्मुख किये वेग मनके । शरीरमें ही ॥ ५१ ॥

सहज होती त्रिवेणीकी भेंट । पड़ती जहां भ्रूमध्यमें गांठ ।
वहां स्थिर करके जो दीठ । फेरते हैं ॥ ५२ ॥

छोडकर दक्षिण वाम । प्राणापान करके सम ।
चित्तको करने व्योम । मार्गी पार्थ ॥ ५३ ॥

जीतते काम औ' क्रोध यत्नसे चित्त रोधके ।
देखते ब्रह्म-निर्वाण ब्रह्मज्ञ सब ओरसे ॥ २६ ॥
विषयोंका बहिष्कार दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थिर ।
नाकसे चलते श्वास प्राणापान करे सम ॥ २७ ॥

यतेंद्रियमनो बिर्द्धुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

जैसे मार्गादिकका सकल । पानी ले गंगा सागर तल ।
जाके चुनती क्या भिन्न जल । एकेक करके ॥ ५४ ॥

वैसे वासनांतरकी विवंचना । अपने आप मिटती अर्जुन ।
गगनमें जब लय होता मन । प्राणायमसे ॥ ५५ ॥

संसार चित्र जहाँ पड़ता । वह मन पट है फटता ।
सरोवर जब है सूखता । तब नहीं प्रतिबिंब ॥ ५६ ॥

मिटता जब मूलसे मनत्व । रहता वहाँ अहंकार तत्व ।
तभी शरीरमें जो ब्रह्मतत्व । अनुभवना ॥ ५७ ॥

भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदम् सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥ २९ ॥

हमने जो अभी कहे हुए । देहमें ही जो ब्रह्मत्व पाए ।
सब वे इसी मार्गसे आए । इसीलिए ॥ ५८ ॥

यम नियमोंके डोंगर । तथा अभ्यासके सागर ।
अतिक्रमण कर पार । आये सब ॥ ५९ ॥

अपनेको कर निर्लेप । लेकर प्रपंचका नाप ।
हो गये सत्यका ही रुप । जीवनमें ॥ १६० ॥

योग-युक्तका यह उद्देश । बोला वह हृषीकेश ।
सुनकर अर्जुन सुदंश । हुआ चकित ॥ ६१ ॥

जाना कृष्णने यह देखकर । बोले तब पार्थसे हंसकर ।
हुआ न तेरा चित्त सुनकर । प्रसन्न अब ॥ ६२ ॥

जीतके मन प्रज्ञाको मुनि मोक्ष परायण ।
तजे इच्छा भय क्रोध सदा-सर्वत्र मुक्त है ॥ २८ ॥
भोक्ता तप यज्ञका मैं मित्र हूँ विश्व-चालक ।
मुझको मानके ऐसा पाता है शांति-शाश्वत ॥ २९ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका रूप योग–मार्ग–दर्शन—

अर्जुन कहता तब देव । पर चित्त लक्षणका ठाव ।
जान लिया तूने भला भाव । मनका मेरा ॥ ६३ ॥

स विवरण मेरा जो पूछना । देव ! उसीको पहले कहना ।
कहा जो उसीको फिर कहना । स्पष्ट रूपसे ॥ ६४ ॥

वैसे तेरे कहनेके अनुसार । पगडंडीसी है यह पानी पर ।
ऐसा सरल पथ जो शार्ङ्गधर । कहा अब ॥ ६५ ॥

सांख्यसे है यह सरल । हम जैसोंको जो दुर्बल ।
समझनेमें कुछ काल । सहना पडे ॥ ६६ ॥

इसीलिये मधुसूदन । मेरा है यह निवेदन ।
इसीका सविस्तर कथन । करना साद्यंत ॥ ६७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं ऐसा । तुझे लगा यह भलासा ।
कहता हूँ सुखसे वैसा । सुनो अब ॥ ६८ ॥

अर्जुन तू यदि सुनेगा । सुनकर वैसा चलेगा ।
तब कहनेमें करूंगा । क्यों संकोच ॥ ६९ ॥

चित्त है जो पहले ही माताका । निमित्त है वहां मन-भानेका ।
अब उस अद्‌भुत स्नेहका । करना ही क्या ॥ १७० ॥

कहना उसे कारुण्यकी वृष्टि । अथवा स्नेहकी नूतन सृष्टि ।
या वह थी हरिकी अनुग्रह दृष्टि । हरिही कहें ॥ ७१ ॥

वह थी क्या अमृतसे है ढली । या प्रेम रससे मत्त थी भली ।
पार्थ प्रेममें उलझी पहली । जो छूटे ही ना ॥ ७२ ॥

करना इसका जितना वर्णन । टूटेगा उतना कथाका संधान ।
किंतु न होगा प्रभु स्नेहका ज्ञान । शब्दसे कभी ॥ ७३ ॥

इसमें है क्या आश्चर्य महान । नहीं जिसे अपना ही ज्ञान ।
करेगा कैसे वह आकलन । ईश्वरका भला ॥ ७४ ॥

अबतककी कृष्णवाणीकी ध्वनिसे । लगता पार्थ प्रेममें उलझनेसे ।
हरि कहता है मानों बलात्कारसे । सुनो बाबा ॥ ७५ ॥

जिससे तेरा अर्जुन । चित्त करे आकलन ।
वैसे करूं निरूपण । विनोदसे ॥ ७६ ॥

नाम अब जिसका योग । उसका क्या है उपयोग ।
तथा अधिकार प्रसंग । कहूँगा तुझे ॥ ७७ ॥

ऐसा जो जो कुछ है । अब तक जो कहा है ।
वह सारा तुझसे है । कहूँगा अभी ॥ ७८ ॥

अब तू चित्त देकर । कथा सुन धनुर्धर ।
ऐसा कहता श्रीधर । अर्जुनसे ॥ ७९ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुनके संग । न छोड़के कहेगा योग ।
व्यक्त करूं वह प्रसंग । कहता निवृत्ति दास ॥ १८० ॥

गीता श्लोक २९

ज्ञानेश्वरी ओवी १८०



६

आत्म-संयमयोग

छठे अध्यायकी भूमिका—

राजासे कहता संजय । सुनिये अब अभिप्राय ।
श्रीकृष्ण कहता है वाक्य । योग-रूप ॥ १ ॥

ब्रह्म-रसका सहज पारण । देता अर्जुनको श्रीनारायण ।
अतिथिरूप पहुँचे उसी क्षण । हम भी वहाँ ॥ २ ॥

न जाने देवकी महता । तृषित जब पानी पीता ।
तब स्वाद लेके देखता । अमृत है यह ॥ ३ ॥

ऐसे हमें तुम्हें हुआ है । अनायास तत्व मिला है ।
किंतु धृतराष्ट्र बोला है । यह न पूछा हमने ॥ ४ ॥

इस बोलसे तब संजय । समझा है राजाका हृदय ।
हुआ है इन्हें मोह संचय । स्व कुमारोंका ॥ ५ ॥

सोचकर वह हँसा मनमें । बुध्दि नासी है बूढेकी मोहमें ।
योग जो अमृतोपम क्षणमें । चला है अब ॥ ६ ॥

किंतु इन्हें यह कैसा भायेगा । जन्मांध भला कैसा देखेगा ।
यह सब इन्हें कौन कहेगा । सोचता संजय ॥ ७ ॥

होकर वह प्रमुदित । देकर अपना सुचित्त ।
श्रवण की हुई जो बात । नरनारायणमें ॥ ८ ॥

अमृतानंदकी उस तृप्तिसे । साभिप्राय अंतःकरणसे ।
कहेगा वह अत्यादरसे । धृतराष्ट्रको ॥ ९ ॥

गीतामें वह षष्ठीका । प्रसंग है चातुर्यका ।
समुद्रार्णवमें अमृतका । उदय जैसा ॥ १० ॥

वैसा गीतार्थका है सार । विवेक सिंधुका है पार ।
योग-वैभवका भांडार । खुला है जो ॥ ११ ॥

आदि प्रकृतिका जो विश्रांतिस्थान । हुए हैं जहां शब्द-ब्रह्म भी मौन ।
अंकुरित हो फैला है गीता ज्ञान । वहांसे ही ॥ १२ ॥

ज्ञानेश्वरका देश-भाषा प्रेम—

अध्याय है यह छटा । साहित्यमें अनूठा ।
कहता मैं सुन सुभटा । चित्त देकर ॥ १३ ॥

मेरी देशीके बोल सुंदर । वे हैं अमृतसे भी मधुर ।
ऐसे सरस सरल अक्षर । जोडूंगा मैं ॥ १४ ॥

जो हैं कोमलसे अति कोमल । सप्त स्वर नादसे भी विमल ।
टूटेगा परिमलका भी बल । इन शब्दोंसे ॥ १५ ॥

इसकी सरसताका लोभ । बनायेगा कानको भी जीभ ।
होगा इंद्रिय कलहारंभ । इसे सुननेमें ॥ १६ ॥

विषय है शब्द सुनना श्रवणका । जीभ कहेगी मेरा विषय रसनाका ।
घ्राण कहेगा भाव है परिमलका । यही होगा ॥ १७ ॥

कौतुक करेंगी काव्य रसका । देख कर आंखें शब्द चित्रका ।
कहेंगी खुला है रूप-कोशका । सु-प्रदर्शन ॥ १८ ॥

संपूर्ण पद आता जहां उभर । मन दौड़ आता है वहां बाहर ।
आगे उठ आयेंगे दोनों कर । आलिंगन करने ॥ १९ ॥

अजी ! इंद्रियां ऐसे अपने भावमें । लडेंगी अपनेमें रसिक-पनमें ।
जैसा अकेला प्रकाशता जगतमें । सहस्रकर ॥ २० ॥

शब्दोंकी है ऐसी ही व्यापकता । जानो उसकी असाधारणता ।
भावज्ञोंको अर्थकी व्यापकता । चिंतामणिकी ॥ २१ ॥

निष्काम भावसे दिये गये शब्द-भोजनका आनंद—

ऐसा है सरस शब्द भोजन । परोसा कैवल्य रसमें सान ।
किया है मैंने यह संतर्पण । निष्काम भावसे ॥ २२ ॥

अजी ! आत्म प्रकाश नित्य नया । उसको ही बना करके दिया ।
इंद्रियोंसे चुरा करके खाया । जिसने पाया वह ॥ २३ ॥

श्रवणेंद्रियोंको जिस भोजमें । बिठाना पड़ता है पंगतमें ।
खाना है अंतर्मुख हो मनमें । यह अमृतान्न ॥ २४ ॥

खोलना यहां शब्दका आच्छादन । करना अर्थ ब्रह्मका आस्वादन ।
होना फिर सुख समरसैक्य जान । सुख रूप होके ॥ २५ ॥

आयेगा जब चितमें कोमलपन । होगा तब सफल यह निरूपण ।
न तो होगा यह वाचा विहार मान । गूंगे बहरोंका ॥ २६ ॥

अजी ! जाने दो यह सब । श्रोताका चुनाव क्यों अब ।
वे सब अधिकारी अब । जो हैं निष्काम काम ॥ २७ ॥

जिनका आत्म-बोधका प्यार । करे स्वर्ग-संसार न्योच्छावर ।
न जाने अन्य माधुर्य अमर । यहांका जी ॥ २८ ॥

काक जैसे चांदनी न जानता । विषयासक्त "तत्व" न जानता ।
वैसे सदा चंद्रकिरण खाता । चकोर पक्षी ॥ २९ ॥

वैसे ज्ञानियोंका है यही आधार । अज्ञानियोंको उसमें नहीं सार ।
इसमें नहीं बोलना कछु और । रहा अधिक ॥ ३० ॥

प्रसंग आया तब कहे यह वचन । क्षमा करेंगे सभी संत सज्जन ।
कहूंगा अब मैं वह निरूपण । श्रीरंगका कहा ॥ ३१ ॥

श्री गुरुको वंदन—

आता नहीं वह बुद्धिके बोधमें । नहीं आता है शब्दके परिघमें ।
निवृत्ति-कृपाके दीप-प्रकाशमें । देखूंगा मैं ॥ ३२ ॥

दृष्टिसे जो देखा नहीं जाता । दृष्टि बिन ही वह दीखता ।
ज्ञान बल जब प्राप्त होता । अतींद्रिय जो ॥ ३३ ॥

धातुवादसे जो न मिलता । लोहेमें ही वह प्राप्त होता ।
पारस यदि हाथमें आता । दैवयोगसे ॥ ३४ ॥

सद्गुरुकी जब कृपा होती है । सभी बात तब संभव होती है ।
हम पर वह कृपा अपार है । कहता ज्ञानदेव ॥ ३५ ॥

इस कृपा प्रभावसे मैं बोलूंगा । शब्दमें अरूप रूप दिखाऊंगा ।
अतींद्रियकी प्रतीति कराऊंगा । इंद्रियोंसे ॥ ३६ ॥

सुनो यश श्री औदार्य । ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य ।
ये जो छे गुणवर्य । रहते जहां ॥ ३७ ॥

वही है जो भगवंत । रहता निसंगके साथ ।
कहे पार्थ दत्त-चित्त । होकर सुन तू ॥ ३८ ॥

भगवान उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

एक ही स्थान पर पहुंचनेवाले दो मार्ग—

योगी तथा संन्यासी जगतमें । एक है, भिन्न माने तू मनमें ।
देखें जब दोनों विचारांतमें । एक ही है ॥ ३९ ॥

छोड दो , दो नामका आभास । वही योगी औ' वही संन्यास ।
जैसे ब्रह्ममें ना अवकाश । वैसे दोनोंमें देख ॥ ४० ॥

अजी ! भिन्न भिन्न नामसे हैं जैसे । बुलाते एक ही पुरुषको वैसे ।
अथवा जाते हैं दो भिन्न मार्गसे । एक ही स्थान ॥ ४१ ॥

अथवा जैसे उदक मात्र एक । भिन्न घटमें भरनेसे अनेक ।
वैसे हैं योगी संन्यास विषयक । भिन्न भिन्नत्व ॥ ४२ ॥

श्री भगवानने कहा

फलका आसरा छोड करे कर्तव्य कर्म जो ।
संन्यासी या वही योगी न जो निर्यज्ञ निष्क्रिय ॥ १ ॥

विश्वमें जो सकल समस्त । योगी है वह सुन तू पार्थ ।
कर्म करके भी जो आसक्त । फलमें नहीं होता ॥ ४३ ॥

भूमि जैसे उपजाती उद्बीज । बिना अहंभावके ही सहज ।
न करती कभी उसके बीज । अपेक्षा वह ॥ ४४ ॥

वैसे है कुल-धर्मका आधार । वर्ण धर्मानुसार है आचार ।
करता जो यहां स-अवसर । वही सभी ॥ ४५ ॥

करता रहता है उचित । किंतु कर्तव्य-भाव रहित ।
तथा फल विन्मुख हो चित । अन्त:करणसे ॥ ४६ ॥

सुन तू अर्जुन मेरी बात । रहता ऐसा संन्यासी नित ।
मानो उस विश्वाससे नित । योगीश्वर ॥ ४७ ॥

तथा उचित कर्म प्रासंगिक । छोडते उसे कहके बद्धक ।
किंतु तुरंत दूसरा ही एक । करते प्रारंभ ॥ ४८ ॥

जैसे एक लेप धोकर । लगाते दूसरा तन पर ।
वैसे आग्रहसे निरंतर । कष्टमें पडते ॥ ४९ ॥

अजी ! गृहस्थाश्रमका बोझ । आया जो सिरपर सहज ।
वहां संन्यासका रख साज । चलते आगे ॥ ५० ॥

तभी वे अग्नि सेवाको नहीं छोड़ते । कर्म-रेखाका उल्लंघन न करते ।
योग-सुखको हैं अनुभव करते । सहज भावसे ॥ ५१ ॥

उच्च स्थितिकी प्राप्तिकेलिये अष्टांग योगकी सीढियां—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

योगी जो है वही संन्यासी । विश्वमें एक-वाक्याता-सी ।
ध्वज गाड़के कही जैसी । शास्त्रोंने सभी ॥ ५२ ॥

संन्यास जो कहा जाता उसीको योग जान तू ।
योगी होता नहीं कोयी बिना संकल्प त्यागके ॥ २ ॥

जहां संन्यस्तका संकल्प टूटता । वहीं योगका सार-तत्व मिलता ।
अनुभवसे ऐसा है जो घडता । वही योगी औ' संन्यासी ॥ ५३ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगाचलके जो शिखरपर । चढ़ना चाहे वह निरंतर ।
कर्म-पथ सोपान धनुर्धर । न छोड़ता कभी ॥ ५४ ॥

यम नियमकी है तरायीसे । आसनादिक्की पगडंडीसे ।
प्राणायाम टेकडी लांघनेसे । पहुंचता है वहां ॥ ५५ ॥

टूटा पहाड खड़ा प्रत्याहारका । फिसलता वहांसे पैर बुद्धिका ।
टूटता वहां बंध प्रतिज्ञाका । योगीका भी ॥ ५६ ॥

वहां अभ्यासके बलसे । वैराग्यके कसे पंजोंसे ।
चिपकके प्रत्याहारसे । हौलेसे चढ़ना ॥ ५७ ॥

पवन वाहनसे ऐसे । धारणाके राज पथसे ।
ध्यानके शिखर पारसे । होना पार ॥ ५८ ॥

फिर उस पथकी है दौड़ । मिटेगी प्रवृत्तिकी जो होड़ ।
होगा साध्य साधनका गाढ़ । आलिंगनैक्य ॥ ५९ ॥

रुकती जहां भविष्यकी प्रवृत्ति । मिटती है वहां भूतकी भी स्मृति ।
इसी भूमिका पर है होती स्थिति । कहता हूं सुन ॥ ६० ॥

इन उपायोंसे जो योगारूढ । होके परिपूर्ण अखंड प्रौढ ।
हुए उसके लक्षण प्रौढ़ । कहता हूं सुन ॥ ६१ ॥

यदाहि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

योगपे चढ़ जानेमें कर्म कारण है कहा ।
योगपे चढ़ जानेपे शम साधन है कहा ॥ ३ ॥
न लीपता कर्मसे जो विषयोंमें विरक्त है ।
संकल्प छूटते सारे योगारूढ हुवा जब ॥ ४ ॥

इंद्रियोंद्वारा सतत कर्म, अंतर्यामी नैष्कर्म्य—

अजी ! इंद्रियोंके घरमें जिसके । आना जाना नहीं विषयोंके ।
तथा कक्षमें जो आत्मबोधके । सोता रहता है ।। ६२ ।।

आघातोंके सुखदुःखसे । जगता नहीं मानस जिसके ।
स्पर्शसे भी विषयादिकोंके । न होता स्मरण ।। ६३ ।।

इंद्रियां जिसकी कर्ममें । रत होती दिन रातमें ।
फलाषा अंत:करणमें । न जगती कभी ।। ६४ ।।

देहधारी वह रहकर । करता है ऐसा व्यवहार ।
जागृत रहकर सोकर । योगारुढ ।। ६५ ।।

अर्जुन कहता है अनंत । सुनकर होता हूं वह चकित ।
कहां उसमें यह योग्यता । आती कहांसे ।। ६६ ।।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ५ ।।

यह स्थिति स्वयं प्राप्त करनी होती है —

स्मित कर कृष्णका कहना । अचरजका तेरा बोलना ।
किसको किसका लेना देना । अद्वैतमें यहां ।। ६७ ।।

अविवेककी शैय्या पर । अविद्या निद्रामें सोकर ।
शिशु देखे स्वप्न भयंकर । जन्म मृत्युका ।।६८ ।।

होता है फिर अकस्मात् जागृत । तब होती है स्वप्नकी व्यर्थ बात ।
आता है यही अनुभव सतत । अपनेको ही ।। ६९ ।।

इसीलिये आप ही है अपना । घात करते रहते अर्जुन ।
चित्त देकरके देहाभिमान । जो है निरर्थक ।। ७० ।।

उभारना अपनी आत्मा न देना गिरने कभी ।
आप ही अपना बंधु आपही शत्रु आपका ।। ५ ।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

ऐसा सोचके अहंम्‌को त्यागना । फिर वस्तुका दर्शन करना ।
इससे होगा कल्याण अपना । आपने किया ऐसा ॥ ७१ ॥

नहीं तो कोशकीटक जैसे । बने अपना वैरी आप जैसे ।
तन पर आत्म-भाव रखनेसे । बनते हैं नित ॥ ७२ ॥

प्राप्ति वेलामें दैव हीनकी । चाह होती है अंधत्वकी ।
तथा अपनी ही आंखोकी । मिटती दृष्टि ॥ ७३ ॥

कभी कोई कहता भ्रमसे । यह मैं नहीं चुराया ऐसे ।
अंत:करणमें फंसे फंदसे । अपनी कल्पनाके ॥ ७४ ॥

देखें तो वह पहले जैसा । किंतु न जानती बुद्धि ऐसा ।
स्वप्नके घावसे कोई जैसा । मरता नहीं ॥ ७५ ॥

अंग भारसे शुकके जैसे । नलिका घूमती उलटके ।
शुक बैठे उसे पकडके । न उडता शंकासे ॥ ७६ ॥

व्यर्थ ही चहूं ओर देखता । संकोचसे नली पकडता ।
वही कसकर पकड़ता । पैरोंसे शुक ॥ ७७ ॥

अपनेको बंधनमें मानकर । भावनासे स्वयं जकड़कर ।
पैरोंसे पकड़ता है कसकर । मुक्त होकर भी ॥ ७८ ॥

कारणके बिन जकड़ा हुआ । किसीसे क्या वह बंधा हुआ ।
खींचने पर भी पकड़ा हुआ । रहता सतत ॥ ७९ ॥

ऐसा रिपु है अपने आप । जिसने बढ़ाये हैं संकल्प ।
न लेता मिथ्याभिमान आप । वह है बंधु अपना ॥ ८० ॥

जीतता अपने आप आपही अपना सखा ।
छोडा यदि उसे स्वैर अपना शत्रु है बना ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७॥

आत्मज्ञका वर्णन —

उस स्वांत:करणजित । सकल कामनादिसे शांत ।
परमात्म उसके सतत । रहता सपीप ॥ ८१ ॥

जलानेसे सोना हीन कस । होता है जो विशुद्ध सरस ।
वैसा जीवका ब्रह्मत्व खास । मिले संकल्प लोपसे ॥ ८२ ॥

घटाकारके मिटनेपर जैसे । घटाकाश मिलनेमें आकाशसे ।
जाना नहीं लगता अन्यत्र जैसे । वैसे अर्जुन ॥ ८३ ॥

नाश हुआ देहाहंकारका । कारणोंके सहित मूलका ।
वास सर्वत्र परमात्माका । अनादि सिद्ध है ॥ ८४ ॥

शीत उष्ण आदिका द्वंद्व । औ' सुख दु:खका चुनाव ।
मानापमान अनुभव । नहीं वहां ॥ ८५ ॥

जिस दिशामें जाता है भास्कर । प्रकाश फैलाता है उसी ओर ।
जिसका स्वरूप है वही स्थिर । दीखता सतत ॥ ८६ ॥

मेघसे गिरी वर्षाकी धार । न चुभे जैसे कभी सागर ।
वैसे शुभाशुभ योगेश्वर । नहीं अनुभवता ॥ ८७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जो है यह विज्ञानात्मक भव । सोचनेसे व्यर्थत्व अनुभव ।
फिर हुआ अपना अनुभाव । वही ज्ञान है ॥ ८८ ॥

हुवा शांत जितात्मा जो देखता ब्रह्म केवल ।
शीतोष्ण सुख औ' दु:ख मानापमानमें नित ॥ ७ ॥
ज्ञान विज्ञानमें तृप्त स्थिर इंद्रिय जीतके ।
देखता सम जो योगी सोना पाषाण मृत्तिका ॥ ८ ।

मैं अमर्याद या मर्यादित । इसकी चर्चा भी हुई व्यर्थ
अनुभवमें न आता द्वैत । इसीलिये ॥ ८९ ॥

शरीर है किंतु कौतुक । परब्रह्म-धाम है नेक ।
जिन्होंने जीत लिया देख । इंद्रियोंको ॥ ९० ॥

जो है जितेंद्रिय सहज । वही योग-युक्त समझ ।
वहां छोटे मोटेका दूज । कभी नहीं ॥ ९१ ॥

सोनेका मेरु पर्वत । माटीका ढेर या पात ।
मानता समान नित । समदृष्टिसे ॥ ९२ ॥

पृथ्वीके मोलका प्रसिद्ध । रत्न पाता जो शुद्ध ।
तथा पत्थर भी असिद्ध । एक जैसा ॥ ९३ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपिच पापेषु समबुध्दिर्विशिष्यते ॥ ९

सुहृद और शत्रु । उदास और मित्र ।
भेदाभेद विचित्र । कल्पना नहीं ॥ ९४ ॥

या बंधु है कौन उसका । द्वेष करे कौन किसका ।
मैं हूँ विश्व ऐसा जिसका । हुआ अनुभव ॥ ९५ ॥

कहो कैसे फिर उसकी दृष्टि । जाने अधम उत्तम किरीटी ।
दिखाये कैसे पारस कसौटी । सोना औ' लोहकी ॥ ९६ ॥

विवर्णको सुवर्ण करता पारस । वैसे चराचरसे होता समरस ।
बुद्धिमें समता रहती है सरस । निरंतर उसकी ॥ ९७ ॥

विश्वालंकारके प्रकार । अनेक रूपके आकार ।
मूलमें स्वर्ण है धनुर्धर । परब्रह्म रूप ॥ ९८ ॥

प्राप्त जिसे ऐसा उत्तम ज्ञान । नाना प्रकार देख असमान ।
नहीं फंसता वह बुद्धिमान । आकार-जालमें ॥ ९९ ॥

शत्रु मित्र उदासीन मध्यस्थ आप्त औ' पर ।
साधु या पातकीमें भी सम-बुध्दि विशिष्ट सो ॥ ९ ॥

डालनेसे वस्त्रपर दृष्टि । दीखती सभी सूतकी सृष्टि ।
वहां है नहीं दूसरी गोष्टि । सूतके बिना ॥ १०० ॥

ऐसा प्रतीत जो है करता । अनुभव ऐसा जहां होता ।
वही समबुद्धि कहलाता । नहीं अन्य ॥ १ ॥

होता है वह तीर्थ-राज समान । उसके दर्शनसे हो समाधान ।
होता संगसे ब्रह्मभावका ज्ञान । भ्रमिष्ठको भी ॥ २ ॥

धर्मका सारथ्य करती है उसकी गोष्टि । महा-सिद्धिको जन्म देती उसकी दृष्टि ।
स्वर्गादि सुखकी करना है नव-सृष्टि । खेल है उसको ॥ ३ ॥

यदि कोई सहज स्मरता । देते हैं वे अपनी योग्यता ।
उनकी प्रशंसा स्वभावता । देती शुभ-लाभ ॥ ४ ॥

योगी युञ्जीत सततम् आत्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

कभी अस्त न होगा ऐसे । देखा अद्वैत दिवससे ।
आप रहता है अपनेसे । अखंडित ॥ ५ ॥

इस दृष्टिसे वह विवेकी है । अर्जुन जो एकाकी रहता है ।
त्रिभुवनमें वही होनेसे है । सहज अपरिग्रही ॥ ६ ॥

ऐसे हैं जो असाधारण । प्राप्त पुरुषके लक्षण ।
सर्वज्ञताके ही कारण । श्री कृष्ण कहता ॥ ७ ॥

यह है ज्ञानियोंका बाप । सबकी दृष्टिका है दीप ।
उसका समर्थ संकल्प । रचता विश्वको ॥ ८ ॥

हाटमें है जो प्रणवके । वस्त्र बना शब्द-ब्रह्मके ।
लपेट न सका उसके । यशसे छोटा बड़ा ॥ ९ ॥

उसकी है अंगकी कांतिसे । प्रकाशते रवि-शशि ऐसे ।
विश्व क्या उसके प्रकाशसे । ओझल है पार्थ ॥ ११० ॥

इच्छा संग्रहको छोड़ चित्तको करके वश ।
आत्मामें ही सदा लीन रहा एकांत भावसे ॥ १० ॥

जिसके नामके ही सम्मुख । आकाश लगता बौना देख ।
उसका गुण तू एक एक । कैसा जानेगा ? ॥ ११ ॥

इसीलिये ऐसा वर्णन । न जाने किसके लक्षण ।
कहनेके बहाने मान । कहे हैं यहां ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णका भक्त प्रेम--

सुनोजी द्वैतका स्थान मान । नष्ट करता है ब्रह्म-ज्ञान ।
उससे सख्य माधुरी जान । नष्ट होगी ॥ १३ ॥

इसीलिये हरिका यह बोलना । मानो हलकासा परदा रखना ।
मनके सख्य सुखको है भोगना । द्वैत भावसे ॥ १४ ॥

जिसका सोऽहं भावका रोक । मोक्ष सुखार्थ बने जो रंक ।
उनकी दृष्टिका है कलंक । लगेगा तेरे प्रेमको ॥ १५ ॥

इसका अहंभाव जायेगा । यदि यह मैं ही हो जायेगा ।
मैं अकेला ही कैसा रहूंगा । सोचता है हरि ॥ १६ ॥

दृष्टिसे देख कर सुखी होना । या सुखसे मनसोक्त बोलना ।
या प्रेमसे आलिंगन करना । किसको फिर ॥ १७ ॥

या अपने मनकी सुंदर । बात कहें किससे मधुर ।
हुआ यदि यह धनुर्धर । मुझमें समरसैक्य ॥ १८ ॥

दयनीय भावसे जनार्दन । अन्योपदेश रूपसे ही मान ।
बोलनेमें किया मनमोहन । आलिंगन पार्थका ॥ १९ ॥

सुननेमें यह किंचित्कठिण । फिर भी है यह स्पष्ट ही जान ।
श्रीकृष्ण रूपकी मूर्ति अर्जुन । है ढली हुई ॥ १२० ॥

अर्जुनकी प्रशंसा—

जैसे ही आयूके अंतमें । पुत्रजन्म होता है बांझमें ।
फिर वह मोहत्रयमें । नाचने लगती है ॥ २१ ॥

ऐसा हुआ है अनंत । यह मैं नहीं कहता ।
यदि मैं नहीं देखता । प्रेमातिशय ॥ २२ ॥

देखो कैसा है यह अचरज । कहां उपदेश औ' कहां झुंज ।
परंतु यहां है प्रेमका भोज । नाचता जो ॥ २३ ॥

अजी ! लाज लज्जा है प्रेममें । तथा थकान है व्यसनमें ।
भ्रम नहीं जो पगलाईमें । यह होगा कैसे ॥ २४ ॥

इसका भावार्थ है ऐसा । पार्थ भक्तिका आश्रयसा ।
सुख श्रृंगारके मानस-सा । दर्पण रूपमें ॥ २५ ॥

ऐसा है यह पुण्य पवित्र । विश्वमें भक्ति बीज सुक्षेत्र ।
तभी है श्रीकृष्ण-कृपा पात्र । त्रिभुवनमें ॥ २६ ॥

आत्म निवेदनकी नींवका । आधार पीठ है जो सख्यका ।
पार्थ है अधिष्ठान उसका । मुख्य देवता ॥ २७ ॥

पास ही है प्रभु उसका वर्णन । छोड़ करते हैं भक्त-गुणगान ।
भाता है ऐसा स्वभावका अर्जुन । श्रीहरिको सहज ॥ २८ ॥

भजती जैसे पतिको प्रीतिसे । पाती मान्यता प्रीतिकी पतिसे ।
वर्णन ऐसी सतीका पतिसे । होना स्वाभाविक ॥ २९ ॥

अर्जुनका ऐसा गुणगान । चाहता विशेष मेरा मन ।
त्रिभुवनका भाग्य महान । पार्थमें बसता ॥ १३० ॥

जिसके प्रेमके कारण । निर्गुण हो आता सगुण ।
तथा सकल गुणपूर्ण । अनुभवता प्रेम-पीड़ा ॥ ३१ ॥

श्रोताओंकी ओरसे वक्ताका यशोगान—

कहते तब श्रोता हमारा भाग्य । कैसा बोलना यह सहज योग्य ।
शब्द शोभा आयी पाकर विजय । नाद-ब्रह्मपर ॥ ३२ ॥

आश्चर्यजी गगनमें देश-भाषाके । प्रकार प्रकटते साहित्य रंगके ।
खिल आयी हिंदी ऐसे अलंकारके । वैभवानंदमें ॥ ३३ ॥

छटकी है ज्ञान चांदनी कैसी । भावार्थ दे प्रिय शीतलतासी ।
खिली श्लोकार्थ कुमुदिनी ऐसी । सहज रूपसे ॥ ३४ ॥

चाह होती इससे निरिच्छोंमें । मन होता वचन सुननेमें ।
तथा झुलते हैं अंतरंगमें । ज्ञान प्रकाशसे ॥ ३५ ॥

ज्ञानेश्वर कृत कृष्ण वर्णन—

निवृत्तिदासने यह जाना । फिर कहा ध्यान सब देना ।
पांडव कुलमें कृष्ण दिन । हुआ उदय ॥ ३६ ॥

देवकीके उदरमें जन्म लिया । यशोदाने सायास पालन किया ।
पांडव कुलके वह काम आया । इस समय ॥ ३७ ॥

तभी सेवा करता बहु समय । अवसर देख करता विनय ।
पड़ा नहीं ऐसा प्रयास अवश्य । विषय जाननेमें ॥ ३८ ॥

अर्जुनकी उत्कट जिज्ञासा—

जाने दो कहते संत जन । विषय कहो सत्वर महान ।
सन्त लक्षण मुझमें अर्जुन । कहता नहीं है ॥ ३९ ॥

किया तो संत लक्षणका विचार । "अयोग्य मैं" निःसंदेह "यह सार"।
किंतु तेरा उपदेश सुनकर । बनूंगा अवश्य ॥ १४० ॥

यदि तू मन करेगा । तब मैं ब्रह्म बनूंगा ।
जो कहो अभ्यास करुंगा । निःसंदेह ॥ ४१ ॥

न जानता देव यह किसका बखान । सुनकर करे अंतःकरण स्तवन ।
इन लक्षणसे पूर्ण जो संत महान । कैसे होंगे जी ॥ ४२ ॥

यह लक्षण मुझमें क्या आयेगा । इतना तू मुझे अपना पायेगा ।
श्रीकृष्ण कहता "अवश्य ही होगा" । स्मित करके ॥ ४३ ॥

जब तक संतोष नहीं मिलता । सुखका सर्वत्र अभाव रहता ।
जब वह समाधान है मिलता । सुखाभाव कहाँ ॥ ४४ ॥

जो है सर्वेश्वरका सेवक । वह होगा ब्रह्म स कौतुक ।
हुआ है यह फलकारक । दैवयोगसे ॥ ४५ ॥

सहस्र जन्मोंमें इंद्रादिकके । मिलन नहीं होता जिसके ।
आधीन वह कितना पार्थके । कथनमें अधीर ॥ ४६ ॥

पार्थका यह कहना । मुझको है मग होना ।
श्रीकृष्णने यह सुना । पूर्ण रूपसे ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्ण कहते तब अपनेमें । ब्रह्मत्वका दोहद हुआ इसमें ।
वैराग्य आया बुद्धिके उदरमें । बनके गर्भ ॥ ४८ ॥

किंतु दिन है अभी अपूर्ण । वैराग्य वसंतमें भरा पूर्ण ।
बौरा आया है भावका महान । सोऽहम्‌के ॥ ४९ ॥

प्राप्ति फल अब फलेगा । इसमें समय न लगेगा ।
पूर्ण हुआ इसका विराग । जाना श्रीहरिने ॥ १५० ॥

अब यह जो कर्म करेगा । इसको प्रारंभमें फलेगा ।
इसीलिये कहा हुआ होगा । अभ्यास इससे ॥ ५१ ॥

ज्ञानेश्वरका पंथराज—

श्रीहरि ऐसा सोचकर । कहते हैं सु अवसर ।
अर्जुन सुन तू सत्वर । पंथराज ॥ ५२ ॥

जबमें वहां प्रवृत्ति वृक्षके । फल लगे करोडों निवृत्तिके ।
पथिक हैं जहां इस पथके । महेश भी ॥ ५३ ॥

योगी-वृंदके अनुभव परसे । उस सूक्ष्म-पथ पर चलनेसे ।
मूर्ध्नि आकाश मार्ग इस कारणसे । हुआ सुलभ ॥ ५४ ॥

आत्म-बोधके सरल पथपर । गये सीधे वे सानंद दौडकर ।
अन्य सकल मार्ग छोड़कर । जो हैं अज्ञानके ॥ ५५ ॥

फिर ऐसे महर्षी आये । साधक थे सिद्ध भये ।
आत्मविद् हो महती पाये । इस पंथसे ॥ ५६ ॥

यह मार्ग जो देखता । भूख प्यास भी भूलता ।
रात दिन न जानता । चलनेमें यहां ॥ ५७ ॥

चलते चलते जहां पग पड़ता । वहां मोक्ष सुखका भांडार खुलता ।
कहीं यदि गलत पग भी पड़ता । वह है स्वर्ग सुखका ॥ ५८ ॥

पूर्वाभिमुख हो चलना । पश्चिमको जा पहुंचना ।
मनको स्थिर ही रखना । चलना यहां ॥ ५९ ॥

इस भांतिसे है जाना । गतव्य स्वयं हो जाना ।
इसे भला क्या कहना । जानेगा तू ॥ १६० ॥

"देव !" तब पार्थ कहता । "मुझे तू कब उभारता ।"
आर्त सागरमें डूबता । हूं इस समय ॥ ६१ ॥

श्रीकृष्ण तब ऐसा कहता । उतावला हो क्यों बोलता ।
अपने आप मैं हूं कहता । तब तू क्यों पूछता वही ॥ ६२ ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

योग साधनका स्थान ऐसा होना चाहिए—

अब जो मैं एक विशेष कहूंगा । अनुभवसे वह काम आयेगा ।
उसके लिये योग्य ऐसा लगेगा । स्थान एक ॥ ६३ ॥

जहां होता सहज समाधान । न रहता उठनेका भी भान ।
वैराग्य होता जहां बलवान । देखते वह ॥ ६४ ॥

वह हो संतोंका वसतिस्थान । संतोषका हो आवास महान ।
जहां हो चित सदा धैर्यवान । तथा उत्साही भी ॥ ६५ ॥

अभ्यास होता सहज जहां । अनुभव होता आप वहां ।
ऐसी रम्यता वसती वहां । अखंडित ॥ ६६ ॥

वहां जानेसे ही पार्थ । नास्तिकको मनोरथ ।
तपस्यामें हो सु-स्वस्थ । अंतःकरण ॥ ॥ ६७ ॥

सहज ही वहां जानेसे । सहसा बैठ जानेसे ।
करें न मन उठनेसे । सकामका भी ॥ ६८ ॥

करता वह घुमक्कडको भी स्थिर । आनेसे सहज उस स्थान पर ।
जागृत करता वैराग्य सत्वर । थपकियां देके ॥ ६९ ॥

पवित्र देशके स्थान लगाना स्थिर आसन ।
दर्भ चर्म तथा वस्त्र ऊंचा नीचा न हो वह ॥ ११ ॥

राज्य सुखका त्याग करना । ऐसा कहे विलासीका भी मन ।
एकांतमें यहीं बैठा रहना । ऐसा ही लगे ॥ १७० ॥

स्थान वह ऐसा हो उत्तम । तथा अत्यंत पवित्रतम ।
प्रकटे अधिष्ठान परम । नयनोंमें वहां ॥ ७१ ॥

देखना औ' एक विशेष लक्षण । होना वहां साधक-वसति-स्थान ।
न होना जन संचार प्रचलन । अर्जुन वहां ॥ ७२ ॥

वहां अमृतके समान । पक्व फल वृक्ष अर्जुन ।
फलते रहे अनुदिन । सभी ओर ॥ ७३ ॥

पग पगमें बहे नीर । वर्षा ऋतुमें भी पवित्र ।
ऐसे जो सहज निर्झर । सुलभ हो वहां ॥ ७४ ॥

आतप भी हो कोमल । सौम्यता भासे शीतल ।
पवन अति निश्चल । मंदमंद हो ॥ ७५ ॥

अधिक तर हो निःशब्द । न करें आकुल श्वापद ।
शुक तथा न हो षट्पद । उस स्थानमें ॥ ७६ ॥

स्रोत समीप हो हंस । वैसे दो चार सारस ।
कूजन करें आस पास । कोयल कभी कभी ॥ ७७ ॥

किंतु जो निरंतर नहीं । आवे जावे कभी कहीं ।
मोरको अपनी ना नहीं । उस स्थानमें ॥ ७८ ॥

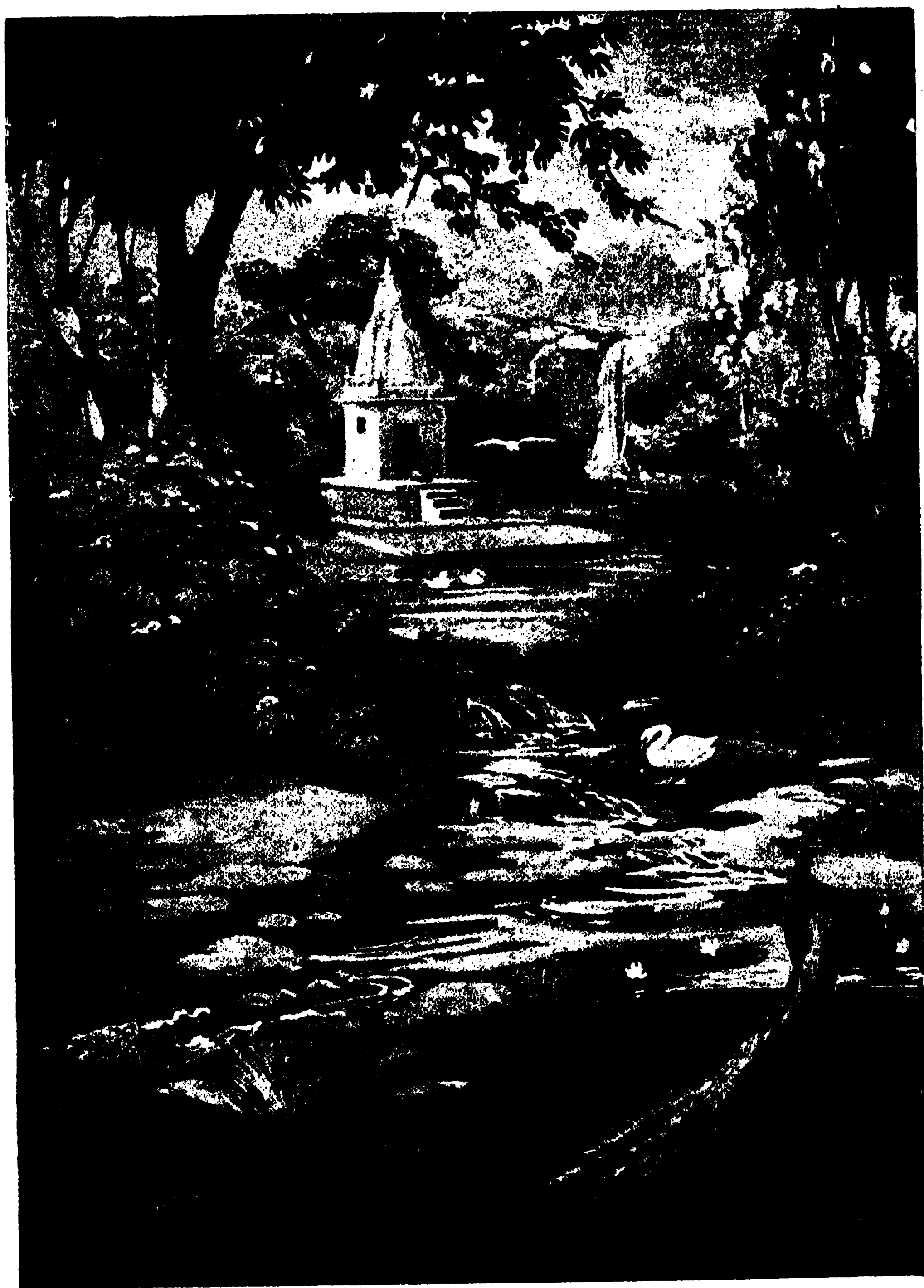
परंतु अवश्य ही अर्जुन । ऐसा ठाव खोजके रखना ।
वहां निगूढ़सा मठ होना । या शिवालय ॥ ७९ ॥

इन दोनोमें एक । भाता है जो अधिक ।
एकांतमें अधिक । बैठा रहना ॥ १८० ॥

देखें कैसा है यह स्थान । स्थिर रहता है क्या मन ।
रहा तो लगाना आसन । इस भांति ॥ ८१ ॥

योग साधनामें आसन ऐसा होना चाहिये—

वहां शुद्ध मृगचर्म एक बिछाना । उसपे धौत वस्त्रकी तह डालना ।
उसके तलमें कोमलसे बिछाना । कुशांकुर ॥ ८२ ॥



परंतु अवश्य ही अर्जुन । ऐसा ठाव खोजके रखना ।
वही निगूढसा मठ होना । या शिवालय ।। ज्ञा. ६–१७९

होना है वे स-कोमल समान । एकसे सहज रखना जान ।
रचना करें एकसी समान । भूमिपर ॥ ८३ ॥

थोड़ा भी यदि वह ऊंचा होगा । उससे शरीर अस्थिर होगा ।
थोडासा यदि वह नीचा होगा । आयेगा भूमि दोष ॥ ८४ ॥

इसीलिये ऐसा न करना । आसन सम भावका होना ।
ऐसा आसन तैयार करना । धनुर्धर ॥ ८५ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

योग-साधनाका प्रारंभ ऐसा करना—

करना प्रारंभ अनुष्ठान । एकाग्र कर अंत:करण ।
करके श्री गुरुका स्मरण । अनुभवसे ॥ ८६ ॥

ऐसे स्मरणके आदरसे । अहंकारके घुल जानेसे ।
भर जाता है सात्विकतासे । साधक वहां ॥ ८७ ॥

वासनाका विस्मरण होता । इंद्रियोंका चांचल्य मिटता ।
वैसेही तब स्थिरत्व आता । अंत:करणमें ॥ ८८ ॥

संतुलन ऐसा स्वाभाविक । होने तक रुके क्षण एक ।
बैठो इस बोधमें क्षणिक । आसन पर ॥ ८९ ॥

अंग ही अंगको सचेत करता । जैसे पवनको पवन करता ।
वैसे अनुभवोंका उदय होता । ऐसे समय ॥ १९० ॥

प्रवृत्ति मुडती है पीछेको । समाधि उतरती आगेको ।
अभ्यास पहुंचे पूर्णताको । आसन पर ॥ ९१ ॥

मुद्राका महत्व है ऐसे । कहता हूँ उसीको कैसे ।
भिडाके रान औ' जांघसे । पलथी मारना ॥ ९२ ॥

करके मन एकाग्र रोक चित्तेंद्रिय क्रिया ।

करे आसन पे बैठ योजना आत्म-शुद्धिकी ॥ १२ ॥

चरण तलको मोड़कर । आधार चक्रके तल पर ।
रखना ऐसे ही सटाकर । सुस्थिर हो वैसे ॥ ९३ ॥

दहिनेको नीचे रखना । उससे सीवन दबाना ।
उसपे सहज रखना । वामपाद ॥ ९४ ॥

गुद औ' शिश्नके मध्यमें । चार अंगुलके स्थानमें ।
डेढ़ औ' डेढ़ अंगुलमें । छोड़ करके ॥ ९५ ॥

रहता है स्थान अंगुल एक । उसे एडीके उत्तराग्रसे देख ।
दबाकर अंग उस पर रख । तौल करके ॥ ९६ ॥

उठाया या नहीं यह जाने नहीं । उतना ही पृष्ठांश उठावो कहीं ।
उठावो गुल्फद्वय भी वैसे ही । उसी समय ॥ ९७ ॥

तब शरीरका ढांचा पार्थ । पूर्ण रूपसे सुन सर्वथा ।
होता ऐडीसे लेकर माथा- । तक स्वयंभू जैसे ॥ ९८ ॥

यह तू जान अर्जुन । मूलबंधका लक्षण ।
वज्रासन भी है गौण । इसका नाम ॥ ९९ ॥

ऐसा आधार मूल पड़ता । उतरनेका मार्ग ढूंढता ।
तब है उर्ध्व गतिको पकड़ता । संकुचित अपान ॥ २०० ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

सहज कर संपुट । वाम चरणमें बैठ ।
बाहुमूल दीखें ऊठ । सहज रूपसे ॥ १ ॥

उभरे हुए भुज मूलमें । मस्तक रखना स्थिरतामें ।
किवाड जैसे नेत्र द्वारमें । चाहते लगाने ॥ २ ॥

ऊपरके पलक मिटते । नीचेके पलक हैं फैलते ।
जिससे अर्धोन्मिलिन होते । नेत्रद्वय ॥ ३ ॥

शरीर सम-रेखामें रखना स्थिर निश्चल ।
रख नासाग्रमें दृष्टि कभी न देखना कहीं ॥ १३ ॥

दृष्टि रहती अंतरमें । पैर रखे तो बाहरमें ।
बैठती है नासिकाग्रमें । स्थिर होके ॥ ४ ॥

दृष्टि रहती अंदर ही अंदर । आती नहीं वह हठसे बाहर ।
होती तभी अर्ध दृष्टि है स्थिर । नासिकाग्रमें ॥ ५ ॥

दिशाओंका दर्शन करना । रूप राशीकी राह देखना ।
मिटे दृष्टिकी लत संपूर्ण । अपने आपमें ॥ ६ ॥

होगा फिर कंठनाल संकुचित । चिबुक छूता कंठ अरितकागर्त ।
स्थिर होके फिर दबाती सतत । वक्ष स्थलमें ॥ ७ ॥

होता फिर कंठमणि लोप । उसपे हो बंधका आरोप ।
कहलाता जालंदर आप । पांडुकुमार ॥ ८ ॥

होता है जो नाभी पर पुष्ठ । उदर हो अंदर आकृष्ट ।
अंतरंगमें खिलता कोष्ठ । हृदय-कोषका ॥ ९ ॥

स्वाधिष्ठानके उत्तराग्रसे । नाभिस्थानके अधोभागसे ।
बढ़ता बंध जिस नामसे । वह उड्डिपान ॥ २१० ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

इस योग-साधनका, विस्तार,परिणाम,अनुभव,—

ऐसे शरीरके बाहर । पड़ा अभ्यासका पाखर ।
मनका चांचल्य भीतर । धीमा पडता ॥ ११ ॥

कल्पना है मिटती । प्रवृत्ति भी घटती ।
तन-मनको शांति । मिलती आप ॥ १२ ॥

क्षुधा गयी है कहां । निद्रा रहती कहां ।
न है स्मरण यहां । मनमें भी ॥ १३ ॥

शांत निर्भय मच्चित्त व्रतस्थ ब्रह्मचर्यमें ।
साधके मनको नित्य मुझमें ही लगा रहे ॥ १४ ॥

मूलबंधमें रहा हुआ अपान । ऊर्ध्व आया पाकरके आकुंचन ।
पा करके अध ऊर्ध्व आकुंचन । फूल उठता वह ॥ १४ ॥

क्षुभित हो खौलके उन्मत्त । घेरेमें गरजता सतत ।
मणिपूरकको करे आघात । रह रह कर ॥ १५ ॥

फिर वह अपानका बवंडर । शोधन करता संपूर्ण शरीर ।
बालपनका सडा गला जहर । बाहर करता ॥ १६ ॥

अंदर कहीं नहीं मुड सकता । फिर उदरमें संचार करता ।
वहां वह नाम भी नहीं रखता । कफ पित्तका ॥ १७ ॥

धातूके सागर उलटाता । मेदके पर्वतोंको तोडता ।
अंदरकी मज्जा निचोडता । अस्तिगत भी ॥ १८ ॥

नसोंको खुला करता । गात्रोंको ढीला करता ।
साधकको भी डराता । डरना नहीं ॥ १९ ॥

रोगोंको उठाकर दिखाता । किंतु उनको मिटा भी देता ।
आप औ' पृथ्वीको सान देता । एक जीव-सा ॥ २२० ॥

एक ओर जब यह होता । वहां जो आसनकी उष्णता ।
करती है शक्तिको जागृत । कुंडलिनीकी ॥ २१ ॥

नागका पिल्ला हो जैसे । स्नान कर कुंकुमसे ।
मुडकर आया जैसे । सेज पर ॥ २२ ॥

ऐसी वह कुंडलिनी । साडेतीन घुमावनी ।
अधोमुख सर्पिनी । सोती रहती जो ॥ २३ ॥

जागृत कुंडलिनी शक्तिका कार्य विवेचन—

कडी जैसी वह विद्युल्लताकी । तह जैसी अग्निकी ज्वालाओंकी ।
सांखलसी चमकीली स्वर्णकी । रहती है पार्थ ॥ २४ ॥

सुव्यवस्थित जो सिकुडी हुई । संकुचित स्थानमें सोई हुई ।
वज्रासनके चिमटेमें फंसी हुई । होती है सावध ॥ २५ ॥

गिरा वहां मानो नक्षत्र टूटकर । या आया स्थानच्युत हो स्वयं भास्कर ।
अथवा तेज बीजमें फूटा अंकुर । प्रकाश रूप ॥ २६ ॥

अपनें कुंडल खोलकर । लीलासे ही अंग मोडकर ।
कुंडलिनी नाभिकंद पर । टूट पडती ॥ २७ ॥

बहुत दिनकी रहती भूखी । छेडनेसे होती है अति तीखी ।
आवेशसे होकर ऊर्ध्वमुखी । उठती है जो ॥ २८ ॥

वहां हृदय-कोशके निम्न । भागमें रहता जो पवन ।
उसे पकडकर अर्जुन । निगलती वह ॥ २९ ॥

अर्जुन ! मुखकी ज्वालाओंसे । निगलती ऊपर नीचेसे ।
मांस खंड संपूर्ण-रूपसे । शरीरके ॥ २३० ॥

जो जो स्थान हैं समांस । वहांका भरती ग्रास ।
लेती है दो चार ग्रास । हृदयका भी ॥ ३१ ॥

करती फिर तलुओंका शोधन । तथा ऊर्ध्व खंडका भी है भेदन ।
चाटती अंगका प्रत्येक स्थान । वह धनंजय ॥ ३२ ॥

न छोडे अपना आश्रय । नामका भी रक्त संचय ।
रखे शुद्ध चर्मवलय । अस्थिपंजरपे ॥ ३३ ॥

अस्थि-नलियोंको सोखती । शिराओंको भी चूस लेती ।
बाह्य वृद्धिको जलादेती । रोमकूपके ॥ ३४ ॥

सप्त-धातुके जो सागर । प्यारसे घोंट भर कर ।
रखती सब सुखाकर । ग्रीष्म कालसा ॥ ३५ ॥

नासापुटिका जो श्वास । जाता अंगुल द्वादश ।
बीचमें धर अशेष । खींचती भीतर ॥ ३६ ॥

अधो-भागसे होता तब आकुंचित । ऊर्ध्व-भागसे होता खींचाव सतत ।
उस भेंटमें केवल चक्रके दांत । रहते बचकर ॥ ३७ ॥

ऐसे होता इन दोनोंका मिलन । किंतु मध्य कुंडलिनी क्षोभ पूर्ण ।
पूछती है उनसे "तुम हो कौन ? । चलो यहां से" ॥ ३८ ॥

पार्थिव धातु वह अशेष । निगलती वह रख शेष ।
आपको भी वैसे ही अशेष । पी जाती है ॥ ३९ ॥

दोनों भूतोंको निगल कर । देती है जो तृप्तिकी डकार ।
तब वह संतुष्ट होकर । रहती सुषुम्नाके पास ॥ २४० ॥

तब वह तृप्तिके तोषसे । गरल उगलती मुखसे ।
उस गरलके अमृतसे । जीता प्राण ॥ ४१ ॥

उस अग्निसे निकलता अमृत । करता वह अंतर बाह्य शांत ।
खिलते तब सब गात्र गलित । अर्जुन उसके ॥ ४२ ॥

रुकते हैं नाडिके स्रोत । नव विध वायुका द्वैत ।
मिटता और होता मुक्त । शरीर-धर्मसे ॥ ४३ ॥

इडा पिंगला एक होती । तीनो गांठे जो छूट जाती ।
छही झलियां टूट जाती । षट्चक्रोंकी ॥ ४४ ॥

अजी ! फिर शशि और भानु । ऐसी कल्पनाका अनुमान ।
कपास रखके भी पवन । दीखता नहीं ॥ ४५ ॥

बुध्दिका आकार तब गलता । परिमल जो घ्राणमें रहता ।
शक्ति संह वह है संचरता । मध्यमामें ॥ ४६ ॥

ढलता उपरकी ओर । चंद्रामृतका सरोवर ।
जाता जो बहकर फिर । शक्ति मुखमें ॥ ४७ ॥

उस शक्तिसे रस भरता । सर्वांगमें वह संचरता ।
जहांका वहां सगबगाता । प्राण पवन ॥ ४८ ॥

तपे हुए ढांचेमेंसे । मूम निकलता जैसे ।
भरती रससे वैसे । ढले हुए ॥ ४९ ॥

तब शरीरके आकारसे । विद्युल्लता उतरी है जैसे ।
ऊपर त्वचा आच्छादनसे । ढकी है जो ॥ २५० ॥

रविपर पडता मेघावरण । छिपते हैं तब प्रकाश किरण ।
फटता है फिर वह आवरण । न रुकता प्रकाश ॥ ५१ ॥

वैसा ही शुष्क है ऊपर । त्वचावरण तन पर ।
झडे जैसा वह चोकर । तन परसे ॥ ५२ ॥

चमकता वह फिर जैसे बिल्लोर । या रत्न बीजमें उग आया अंकुर
वैसे अवयव कांति शोभा अपार । होती प्रस्फुटित ॥ ५३ ॥

अथवा संध्या-रागके रंग । लेकरके बनाया है अंग ।
अथवा स्वयंभू ज्योतिर्लिंग । आत्माका जो ॥ ५४ ॥

या केशरसे भरा हुआ । सिद्ध रससे ढला हुआ ।
मूर्ति रूप उतरा हुआ । शांत-ब्रह्म ॥ ५५ ॥

अथवा आनंद त्रयका लेप । या महा सुखका प्रत्यक्ष रूप ।
या मानो संतोष-तरुका रोप । अति कोमल ॥ ५६ ॥

माना कनक-चंपककी कली । या अमृतसे ढली है पुतली ।
या वह कोमलता ही है खिली । अति कोमल हो ॥ ५७ ॥

ओससे शरदऋतुकी । प्रफुल्लता चंद्र-बिंबकी ।
या मूर्ति बैठी तेजकी । आसन पर ॥ ५८ ॥

योगीकी काया तब ऐसी बनती । कुंडलिनी जब चंद्रामृत पीती ।
देख डरता छूने वह देहाकृति । कृतांत भी तब ॥ ५९ ॥

बुढापा तब पीछे हठता । तारुण्यका भी वियोग होता ।
बीता हुआ बालपन आता । योगीका पार्थ ॥ २६० ॥

वयमें देखे तो वह इतनासा । कार्य उसका ब्रह्म पुरुषका-सा ।
धैर्यमें मानो मेरु पर्वत जैसा । होता निरुपम ॥ ६१ ॥

अंकुर ही है कनकद्रुमका । नित्य नूतन रत्नकी कलिका ।
वैसी ही उसकी नखाकृतिका । होता नवदर्शन ॥ ६२ ॥

उसके दांत भी नये उगते । किंतु वे अतिशय नन्हे होते ।
हीरेके कणसे वे चमकते । दुपंक्तियोंमें ॥ ६३ ॥

जैसे माणिकके कण । वे भी हो अणुसमान ।
आते हैं सर्वांगपूर्ण । रोमाग्र जो ॥ ६४ ॥

कर चरण तल । मानो हैं रातोत्पल ।
नयन जो निर्मल । कहूं कैसे ॥ ६५ ॥

मुक्ताके संपूर्ण खिल जानेसे । समेट न सकती शुक्ता उसे ।
खुल जाता है फिर बंध जैसे । शुक्ति पल्लवोंका ॥ ६६ ॥

वैसे पलक पल्लवमें न समानेसे । दृष्टिके सर्वव्याप्त हो निकलनेसे ।
लिपट जाती है फिर गगनसे । जो पहले थी ॥ ६७ ॥

तन होता तब कंचनका । हलकापन आता वायुका ।
न होता अंश आप-पृथ्विका । अर्जुन वहां ॥ ६८ ॥

वह फिर सागर पारका देखता । स्वर्ग लोकका भी विचार सुनता ।
चींटीका मनोगत भी है जान लेता । सहज भावसे ॥ ६९ ॥

पवनाश्वपर भी चढता । उदक पर वह चलता ।
ऐसी सिध्दियां प्राप्त करता । प्रसंग रूप ॥ २७० ॥

जो प्राणका हाथ पकडकर । गगनकी सीढियां बनाकर ।
सुषुम्नाका जीना चढकर । आयी हृदयमें ॥ ७१ ॥

वह कुंडलिनी जगदंबा । चैतन्य चक्रवर्तीकी शोभा ।
उसने विश्व बीजका कोंब । छायामें लिया ॥ ७२ ॥

आकार वह शून्य लिंगका । आवरण है परमात्माका ।
आसरा है जो खुला प्राणका । जन्मभूमिसा ॥ ७३ ॥

ऐसी जो वह कुंडलिनी । हुई है हृदय-वासिनी ।
तब अनाहतकी ध्वनी । करती है ॥ ७४ ॥

शक्तिके तनमें चिपकनेसे । बुध्दिमें चैतन्य आया है जैसे ।
उसने ध्वनी सुनी है हौलेसे । अनाहतकी ॥ ७५ ॥

पोखरमें उस नादके । रुप दीखे नाद चित्रके ।
प्रणव रूप आकारके । रेखा लेखन ॥ ७६ ॥

करनेसे इसकी कल्पना । कल्पनासे इसको जानना ।
किंतु कल्पनाका मन लाना । कहांसे अब ॥ ७७ ॥

भूल गया मैं अर्जुन । नाश न होता पवन ।
जिससे है "ख" गगन । गूंजाता वह ॥ ७८ ॥

अनाहतकी उस घन गर्जनासे । गूंज उठता है हृदयाकाश जैसे ।
ब्रह्म-स्थानके महाद्वार हैं उससे । खुलते हैं सहज ॥ ७९ ॥

वहां कमल गर्भाकार अर्जुन । महदाकाश रहता अन्य जान ।
वहां रहता कर अर्ध भोजन । अतृप्त चैतन्य ॥ १८० ॥

सदनमें उस हृदयाकाशके । वास कुंडलिनी-परमेश्वरीके ।
अर्पण करती अपने तेजके । कौर चैतन्यको ॥ ८१ ॥

शाक सह वह बुध्दिके । देकर कौर हाथके ।
द्वैतको न देख सके । ऐसा करती ॥ ८२ ॥

ऐसी निज-कांतिको खोकर । केवल प्राण रूप होकर ।
ऐसी देखती है धनुर्धर । कहूंगा अब ॥ ८३ ॥

कोई पुतली ही हो पवनकी । अपनी आढेनी स्वर्णांबरकी ।
उतार कर रखी हो निजकी । अलग करके ॥ ८४ ॥

अथवा लहरसे वायुकी । मिटी हो अभी ज्योत दीपकी ।
चमक लहर बिजलीकी । अस्त हुई गगनमें ॥ ८५ ॥

अथवा हृदय-कमल पर्यंत । गया मानो प्रकाश-जलका झोत ।
अथवा स्वर्णधार आदिसे अंत । बहती हुई ॥ ८६ ॥

फिर वह हृदयाकाशमें । समायी हो एक रूपमें ।
जैसे शक्ति शक्तिके रूपमें । समायी जाती ॥ ८७ ॥

तभी वह शक्ति ही कहलाता । केवल प्राण वायु जो रहता ।
नाद बिंदु अब नहीं जानता । कला औ" ज्योति ॥ ८८ ॥

करना मनका निरोध । तथा प्राणका अवरोध ।
ध्यानकी न रहती साध । तब अर्जुन ॥ ८९ ॥

कल्पनाका त्याग-भोग । न रहता अनुराग ।
महा-भूतोंका सुराग । रहता नहीं ॥ २९० ॥

पिंडसे करना पिंडका ग्रास । यह है नाथ-संकेत सारांश ।
कह गया यह महोपदेश । महाविष्णु ॥ ९१ ॥

रहस्यका बांध ढा कर । यथार्थका तह खोलकर ।
रखी सन्मुख मैंने सादर । ग्राहक श्रोतोंके ॥ ९२ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियत मानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

शक्तिका जब तेज लोपता । देहका तब रूप मिटता ।
फिर आंखोंमें ही छिप जाता । विश्वकी वह ॥ ९३ ॥

ऐसे मगन आत्मामें होता योगी मनो-जयी ।
मोक्षसे जो भिडी शांति पाता हो मुझमें रत ॥ १५ ॥

वह पहिले जैसे रहता । अवयवोंसे भी पूर्ण होता ।
किंतु ऐसा हलका रहता । हवासे बना हो ॥ ९४ ॥

अथवा कर्दलीका है सार । खड़ा आप छाल खोलकर ।
या आकाश ही स-शरीर । खड़ा रहा हो ॥ ९५ ॥

ऐसा होता जब शरीर । कहलाता वह खेचर ।
पद मिलता चमत्कार । स-शरीर यह ॥ ९६ ॥

साधक करता जब यह स्थिति पार । तब होते जो उसके पदके आकार ।
उस पर सिद्धियां रमती हैं आकर । अणिमादिक ॥ ९७ ॥

किंतु क्या क्या करती हैं सिध्दियां । सुन तू यह बात धनंजय ।
लोप हो जाते भूत-चतुष्टय । देहके देहमें ॥ ९८ ॥

पृथ्विको आप गलाता । आपको तेज सुखाता ।
तेजको वायु सोखता । हृदयाकाशमें ॥ ९९ ॥

फिर आकाश अकेला रहता । किंतु शरीरका आकार लेता ।
वह भी अंतमें लय होता । मूर्ध्न्याकाशमें ॥ ३०० ॥

तब कुंडलिनी नाम मिटता । मारुता ऐसा नाम है मिलता ।
किंतु शक्तित्व बना ही रहता । शिवमें मिलने तक ॥ १ ॥

जालंधरको लांघकर । काकी मुखको तोड़कर ।
मूर्धन्यके पर्वतपर । चढ़ जाती है ॥ २ ॥

ॐकारकी पीठपर फिर । पद रख वह उठ कर ।
पश्यंति गिरा पीछे छोडकर । बढ जाती है ॥ ३ ॥

अर्ध तन्मात्रा फिर वेगमें । मूर्धन्याकाशके अंतरंगमें ।
मानो सरिता है सागरमें । मिल जाती है ॥ ४ ॥

ब्रह्मरंद्रमें फिर स्थिर होकर । सोऽहं भावके बाहें पसारकर ।
परमात्म-लिंगालिंगनमें सत्वर । दौड जाती है ॥ ५ ॥

पंच-महाभूतका परदा उठता । शिव-शक्तिका तब अद्वैत घड़ता ।
गगन सह सबका लय हो जाता । उस समरसैक्यमें ॥ ६ ॥

मेघ रूपसे हुआ जो द्वैत । धारा रूपसे आ मिला नित ।
जैसे आप ही मिलता नित । अपनेसे ही ॥ ७ ॥

वैसे तन रूपसे रहा द्वैत । त्यज शक्ति-शिव शिवमें रत ।
वह एकत्व अपनेमें नित । आप ही आप ॥ ८ ॥

रहा था क्या कभी द्वैत । या स्वयंसिद्ध अद्वैत ।
विचारमें भी यह बात । आती ही नहीं ॥ ९ ॥

लय हुआ गगनमें गगन । अनुभव करता है चिंतन ।
प्रत्यय जिसका उसे महान । बोध है यह ॥ ३१० ॥

इससे उस स्थितिका वर्णन । शब्दसे न हो सकता कथन ।
जब शब्दमें उलझता मन । होता है संवाद ॥ ११ ॥

करनेसे है सहज विचार । कथनका कहती अधिकार ।
रही भाषा वैखरी अति दूर । इस स्थितिसे ॥ १२ ॥

भ्रू-लताकी पिछली ओर । न धरता रूप मकार ।
प्रवेशमें कष्ट होते घोर । प्राणको भी ॥ १३ ॥

गगनमें होता प्राण प्रवेश । न रहता शब्दका अवशेष ।
उसमें भी लय होता आकाश । महाशून्यमें ॥ १४ ॥

कहां महासागर महाशून्यका । उसमें न लगे ठाव आकाशका ।
वहां कैसे शब्द-नांवके डांडका । लगे सुराग ॥ १५ ॥

तब यह कहना शब्दसे । तथा सुनना भी जो कानसे ।
असंभव है जान. तू इसे । पांडुकुमार ॥ १६ ॥

जब कभी दैवयोगसे । सानुभव पाना है इसे ।
आपमें समरसैक्यसे । आप हो रहना ॥ १७ ॥

हुआ है जो उसमें ही एक । कहना क्या उसका अधिक ।
कहना वही एक ही एक । व्यर्थका ही ॥ १८ ॥

शब्दमात्र है पीछे हठता । संकल्पका नाम न रहता ।
वायु भी नहीं भी तर आता । विचारका वहां ॥ १९ ॥

वह है उन्मनीका लावण्य । तथा है तुर्याका सु-तारुण्य ।
अनादि और जो है अगण्य । परम-तत्व ॥ ३२० ॥

आकारका जो प्रांत । मोक्षका जो एकांत ।
जहां आदि औ' अंत । हुए विलीन ॥ २१ ॥

विश्वका है जो मूल । योगद्रुमका फल ।
आनंदका केवल । चैतन्य ही है ॥ २२ ॥

महाभूतका जो बीज । महातेजका जो तेज ।
एवं अर्जुन है निज- । रूप मेरा ॥ २३ ॥

यह है जो चतुर्भुज साकार । लिया उसकी शोभाने आकार ।
नास्तिकोंसे परास्त देखकर । भक्तवृंद ॥ २४ ॥

वह अनिर्वचनीय महासुख । बनते हैं वे स्वयं महापुरुष ।
टिके रहते हैं जिनके निष्कर्ष । अंतिम - सिद्धि तक ॥ २५ ॥

हमने कहा जो अब साधन । जिसने किया तन मूर्तिमान ।
हुआ है वह हमारे समान । निश्चित रूपसे ॥ २६ ॥

अर्जुनका संदेह—

पर - ब्रह्मके रससे । ढला शरीर सांचेसे ।
दीखते हैं सारे ऐसे । अंगांग ॥ २७ ॥

अंतरंगमें अनुभावका प्रकाश । जिससे लुप्त होता है जगदाभास ।
अर्जुन कहता सच है यह भाष । तब श्रीकृष्णसे ॥ २८ ॥

आपने कहा जो साधन । ब्रह्म प्राप्तिका वह स्थान ।
इससे होगा समाधान । निश्चय ही ॥ २९ ॥

होते जो अभ्यासमें दृढ - चित्त । वही पाते हैं ब्रह्मत्व निश्चित ।
कथनका है यह मतितार्थ । जाना आपका ॥ ३३० ॥

सुनकर है यह बात । बोध लेता है यह चित्त ।
अनुभूतिसे अनुरक्त । कैसे न होगा ॥ ३१ ॥

इसीलिये यहां कहीं । अन्यथा कुछ भी नहीं ।
थोडासा चित दे यही । मेरी बातमें ॥ ३२ ॥

अब जो योग कहा तुमने । स्वीकार किया मेरे मनने ।
योग्यता हीनत्वसे अपने । आचरण नहीं होता ॥ ३३ ॥

योग्यता है जो मेरी सहज । उससे सिद्ध हो योगी राज ।
तब मैं सुखसे करूँ आज । अभ्यास इसका ॥ ३४ ॥

नहीं तो प्रभुने कहा जैसे । अपनेसे नहीं होता वैसे ।
बनता जो निज योग्यतासे । पूछते वही हम ॥ ३५ ॥

अंतरंगका यह धारणा । पूछनेका यही कारण ।
देना प्रभु इस पर ध्यान । स्वस्थ चित्तसे ॥ ३६ ॥

अजी तुमने यह सुना ? । तुमने जो कही साधना ।
चाहे जिसने अनुष्ठान । किया तो चलेगा क्या ? ॥ ३७ ॥

या योग्यता बिना नहीं । ऐसा भी कछु है कहीं ।
ऐसा कभी हुआ कहीं । पूछता हूं कृष्ण ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ काज यह महा-निर्वाण । इसे छोड़ जो होते साधारण ।
वह भी होते योग्यता कारण । जगतमें सिद्ध ॥ ३९ ॥

योग्यता जो कहलाती । प्रकृतिके आधीन होती ।
योग्य हो कर की जाती । फलती प्रारंभमें ॥ ३४० ॥

वैसी है जो योग्यता । न मिले हाठमें तथा ।
योग्योंकी खान सर्वथा । होती नहीं ॥ ४१ ॥

किंतु होता जो अल्पसा विरक्त । तथा देह-धर्ममें जो संयत ।
ऐसा साधक है जो व्यवस्थित । अधिकारी है ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण द्वारा इंद्रिय निग्रहका निरूपण—

इस युक्तिसे योग्यता । पायेगा तू सुन पार्थ ।
ऐसी जो असुविधता । दूर की उसकी ॥ ४३ ॥

फिर कहे वह पार्थ । है यह ऐसी व्यवस्था ।
अनियतको सर्वथा । योग्यता नहीं ॥ ४४ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न योग अधिक खाके तथा भोजन छोडके ।
वैसे ही अति निद्रासे या मात्र जगते हुये ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

रसनेंद्रियका जो अंकित होता । निद्राको जो अपने प्राण बेचता ।
योगमें वह नहीं है कहलाता । अधिकारी कभी ॥ ४५ ॥

या आग्रह वश होकर । भूख-प्यासको रोककर ।
या आहारको तोड़कर । करता दमन ॥ ४६ ॥

तथा निद्रासे विमुख होकर । दुराग्रहसे उन्मत्त होकर ।
शरीरका अधिकार खोकर । योग हो कैसे ॥ ४७ ॥

विषय सेवनकी तीव्र आस । विरोधका यह भाव है ख्वास ।
तथा पूर्ण विरोध स आवेश । यह भी न करना ॥ ४८ ॥

अन्नका सेवन करना । हित मित युक्त ही खाना ।
[illegible] क्रियाचरण करना । नियमित ॥ ४९ ॥

संयत वचन बोलना । नियमित डग भरना ।
निद्राका सन्मान करना । यथोचित ॥ ३५० ॥

करना है यदि जागरण । उसका भी होना परिमाण ।
जिससे हो धातु नियमन । अनायास ॥ ५१ ॥

देना ऐसे युक्तियुक्त । इंद्रियोंको जो वांछित ।
रहता इससे चित्त । सदा संतुष्ट ॥ ५२ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

खाना औ' जगना सोना फिरना अन्य कार्य भी ।
इसे जो करता योग्य योग है दुःख नाशक ॥ १७ ॥

आत्मामें लीन होता है पूर्ण संयत चित्त जो ।
होती है वासना शांत योगी तो मुक्त जान तू ॥ १८ ॥

बाहर जब युक्ति सधती । अंतरमें सुख - वृद्धि होती ।
ऐसी योग - सिद्धि बढ़ती । अनायास ॥ ५३ ॥

जैसा भाग्यका उदय होता । उद्यमका निमित्त मिलता ।
ऐश्वर्य सर्वस्व घर आता । अपने आप ॥ ५४ ॥

युक्तियुक्त सदा लिलासे । अभ्यासकी चालढालसे ।
खिलता है आत्म - सिद्धिसे । उसका अनुभव ॥ ५५ ॥

रहता है जो युक्तियुक्त । होता है सदा भाग्यवंत ।
जिससे होता अलंकृत । मुक्त भावसे ॥ ५६ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

होता जहां युक्ति-योगका मिलन । वहां है प्रयागका संगमस्थान ।
क्षेत्र संन्यास लेकरके मन । बसता है वहां ॥ ५७ ॥

उसको योग-युक्त करना । प्रसंगसे यह भी जानना ।
दीप-ज्योतिकी यह तुलना । निर्वात - स्थलकी ॥ ५८ ॥

इस अभ्याससे मन निश्चल बनता है—

अब तेरा मन जान कर । कहते हम पांडुकुमार ।
सुन तू वह चित्त देकर । बात जो भली ॥ ५९ ॥

जब तू उसे पाना चाहता । किंतु अभ्यासमें दक्ष न होता ।
तब कठिनाईसे क्यों डरता । इसकी भला ॥ ३६० ॥

अर्जुन यहां कष्ट नहीं जान । करता यह ग्रह यदि मन ।
हौवा बनाती इंद्रियां दुर्जन । व्यर्थ ही इसका ॥ ६१ ॥

आयूको जो स्थिर करती । जीवनको भी लौटा लाती ।
उसे नहीं क्या शत्रु मानती । रसनेंद्रिय ॥ ६२ ॥

निर्वात स्थलमें जैसे जलता दीप निश्चल ।
आत्मान्वेषक योगीके चित्तकी उपमा कही ॥ १९ ॥

ऐसा जो कुछ भी है हितका। रहा है इंद्रियोंके दुखका ।
ऐसे नहीं योगके सरीखा । सरल कछु ॥ ६३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

तभी आसनकी दृढ़तासे । कहा सभी अभ्यास तुझसे ।
हुआ तो हो निरोध इससे । इंद्रियोंका ॥ ६४ ॥

अन्यथा जब इस योगसे । इंद्रियोंका निग्रह होनेसे ।
निकलता चित्त अपनेसे । मिलन हेतु ॥ ६५ ॥

जब वह विषयोंसे निवृत्त होता । अपनेमें अपनेको ही है देखता ।
पहचान करके तब है कहता। सोऽहम् ब्रह्म ॥ ६६ ॥

इसी पहचानमें । सुखके साम्राज्यमें ।
चित्त समरसमें । विलीन होता ॥ ६७ ॥

इससे भिन्न कुछ भी नहीं । इसे इंद्रियां जानती नहीं ।
वह अपनेमें आप वहीं । बन जाता मन ॥ ६८ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

अवरुद्ध चित्तका है संचार मिटता सब ।
आत्मासे मिलके आत्मा तोषता निजमें स्वयं ॥ २० ॥

भोगके इंद्रियातीत बुद्धि-गम्य महा-सुख ।
डिगे नहीं जहां जाके तत्वज्ञ लेश-मात्र भी ॥ २१ ॥

न माने अन्य जो लाभ श्रेष्ठ है इस लाभसे ।
दु:खके भारसे भारी न कांपे रहके वहां ॥ २२ ॥

इस निश्चलताके सम्मुख दुःख नहीं रहता –

फिर मेरुसे भी बहुत । यातनाके बडे पर्वत ।
पडनेपर भी चित्त । टूटता नहीं ॥ ६९ ॥

या शस्त्रसे तोडा तन । अग्निमें जला बदन ।
चित्त है सुखमें लीन । अविचल ॥ ३७० ॥

अपनेमें होकर रत । भूल जाता देहको चित्त ।
सुखरूप होके सतत । रहता अपनेमें ॥ ७१ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उस सुखमें होकर लीन । भूलता विषय-सुख मन ।
संसार सुखमें अनुदिन । उलझाया जो ॥ ७२ ॥

वह है योगिका सौभाग्य । स्वसंतोषका है सम्राज्य ।
ज्ञान भानका है उद्देश्य । पांडुकुमार ॥ ७३ ॥

योगाभ्याससे वह सतत । देखना पडता मूर्तिमंत ।
देखनेसे बनता स्वगत । एकरूप ॥ ७४ ॥

संकल्प प्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

जो वास्तविक हितका है वह इंद्रियोंको दुःखदायक लगता है—

किंतु यह योग अर्जुन । एक ढंगसे आसान ।
संकल्पको दिखाता महान । पुत्रशोक ॥ ७५ ॥

उसको कहते योग दुःखका जो वियोग है ।
दृढ निश्चयसे पाना वह योग उमंगसे ॥ २३ ॥
संकल्पजन्य जो काम तजके पूर्ण रूपसे ।
मनसे ही इंद्रियोंको विषयोंसे निकालना ॥ २४ ॥

सुनकर हुवा वासनाका अंत। इंद्रियोंको देख नियममें स्थित।
शोक विव्हल होकर होगा मृत। अपने आप ॥ ७६ ॥

यदि वैराग्यने यह किया। संकल्पका झमेला ही गया।
धृति घरमें बुद्धि निर्भय। रहेगी सुखसे ॥ ७७ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरं।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

जब हो धृति-धीका वसति स्थान। अनुभव पथसे चलके मन।
कर लेता अपना प्रतिष्ठापन। आत्म-भुवनमें ॥ ७८ ॥

होती है इस भांति। आत्म-तत्वकी प्राप्ति।
यह भी असाध्य होती। सुनो अन्य मार्ग ॥ ७९ ॥

करेगा जो एक नियम निश्चित। उसकी सीमामें ही रहो सतत।
तन मनसे उसकी आज्ञा रत। रहना निष्ठासे ॥ ३८० ॥

इससे हुआ यदि स्थिर-चित्त। माना सहज हुआ कार्य कृतार्थ।
नहीं तो छोड देना चित्तको मुक्त। अपने मार्गसे ॥ ८१ ॥

फिर चित्त जहां जायेगा। वहांसे नियम लायेगा।
इससे स्थैर्यका बनेगा। अभ्यास उसको ॥ ८२ ॥

प्रशांत मनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

होना शनै शनै शांत बुद्धिसे धैर्य-पूर्वक।
आत्माको मनमें रोप न करें अन्य चिंतन ॥ २५ ॥

फूटे जहां जहांसे तो मन चंचल अस्थिर।
वहांसे धरके लाना आत्मामें करना स्थिर ॥ २६ ॥

प्रशांत मन निष्पाप ब्रह्म-रूप बना हुवा।
विकार शांत योगी जो पाता है सुख उत्तम ॥ २७ ॥

फिर कुछ कालान्तरसे । उस स्थैर्यके कारणसे ।
पास आयेगा सहजसे । आत्म-स्वरूपके ॥ ८३ ॥

उसे देख मन होता तद्रुत । फिर डूबेगा अद्वैतमें द्वैत ।
होगा ऐक्य तेजसे प्रकाशित । त्रिभुवन सारा ॥ ८४ ॥

दीखते जो गगनमें भिन्न । होते वे भेद जब विलीन ।
तब भरा रहता गगन । त्रिलोकमें जैसा ॥ ८५ ॥

चित्तका जब ऐसा लय होता । तब मात्र चैतन्य ही रहता ।
ऐसी सुलभतासे प्राप्त होता । महासुख ॥ ८६ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

सर्वत्र परमात्म दर्शनका सहज मार्ग--

ऐसी सुगम योग-स्थितिका । अनुभव है बहुत जनका ।
संकल्पकी सब संपत्तिका । करके त्याग ॥ ८७ ॥

सब वे अनायाससे ऐसे । विलीन हुए पर-ब्रह्मसे ।
होता जैसे लवण पानीसे । अभिन्न रूप ॥ ८८ ॥

मिलन होता है इस रूपमें । समरसके महा-सदनमें ।
दीखता है तब त्रिभुवनमें । महा-दीपोत्सव ॥ ८९ ॥

यह है अर्जुन अपने ही पगसे । चलना अपनी ही पीठपर जैसे ।
यह है असंभव यदि तुझसे । कहता हूँ अन्य मार्ग ॥ ३९० ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

ऐसा निष्पाप जो योगी आत्मामें स्थिर होकर ।
सुखसे भोगता नित्य ब्रह्मानंद अपार जो ॥ २८ ॥

भूतोंमें पूर्ण है आत्मा आत्मामें भूत है भरे ।
देखता योगसे युक्त सर्वत्र सम दर्शन ॥ २९ ॥

मैं हूं जैसे सकल देहमें । वैसे हैं सकल ही मुझमें ।
विचार करना है इसमें । कुछ नहीं अन्य ॥ ९१ ॥

यह है ऐसा ही बना हुआ । परस्पर सभी घुला हुआ ।
किंतु बुद्धिसे है माना हुआ । होना सब ॥ ९२ ॥

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

नहीं तो भी अर्जुन । एकत्वकी भावना ।
सर्वभूत अभिन्न । भजते मुझे ॥ ९३ ॥

जीव-जातिका अनेकपन । न मानता जो अंतःकरण ।
सर्वत्र एकत्व अनुदिन । मानता मेरा ॥ ९४ ॥

वह है मुझमें ही विलीन । व्यर्थका ऐसा वचन ।
न कहने पर भी तू जान । वह है मैं ही ॥ ९५ ॥

जैसे दीप और प्रकाश । वैसे हैं दोनों समरस ।
उसका है मुझमें वास । मेरा उसमें ॥ ९६ ॥

जैसे पानीमें है भीनापन । या गगनमें है पोलापन ।
मेरे लावण्यसे लूनापन । पाता है वह ॥ ९७ ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जिसकी ऐक्यकी दृष्टिमें । मैं ही समस्त हूँ सबमें ।
जैसे दीखता है पटमें । सूत सर्वत्र ॥ ९८ ॥

सबमें मुझको देख मुझमें देखता सब ।
वियोग न उसे मेरा मुझे न उसका कभी ॥ ३० ॥

भजता है मुझे एक स्थिर हो सब भूतमें ।
कैसे भी रहता योगी रहता मुझमें वह ॥ ३१ ॥

जैसे होते हैं गहनोंके विविध आकार । किंतु न होते सुवर्णके नाना प्रकार ।
ऐसी है जिस एकताकी स्थिति स्थिर । की है अपनी ॥ ९९ ॥

अथवा वृक्षके होते जितने दल । उतने नहीं होते गाछ विपुल ।
अद्वय प्रकाशमें खुला है सकल । द्वैतमत जिसका ॥ ४०० ॥

यदि वह पंचात्मकमें बसता । फिर भी उसमें नहीं है फंसता ।
अनुभवसे है उसकी क्षमता । मेरे समान ॥ १ ॥

मेरा समस्त व्यापक पन । करता जो स्वानुभव पान ।
कहे बिना ही व्यापक जान । हुआ वह सहज ॥ २ ॥

यदि वह शरीरमें है । शरीरका बोध नहीं है ।
उस स्थितिका वर्णन है । शब्दातीत ॥ ३ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

उसका वर्ण असाधारण । देखता वह अपने समान ।
स-चराचरके है अनुदिन । पांडुकुमार ॥ ४ ॥

सुखदुःखादिक वर्म । या शुभ अशुभ कर्म ।
ऐसे दोनो मनो-धर्म । न जानता वह ॥ ५ ॥

ये सम विषम, भाव । अन्य विविधता सर्व ।
मानो जैसे अवयव । अपने ही ॥ ६ ॥

कहना क्या है भिन्न भिन्न । यह त्रिलोक ही संपूर्ण ।
मैं स्वयं हूं इसका ज्ञान । हुआ सहज ॥ ७ ॥

अजी ! इसको भी है एक तन । कहते हैं इसको सुखी दुखी जन ।
किंतु हमारा यह मत जान । वह है परब्रह्म ही ॥ ८ ॥

अपनेमें विश्वको देखना । तथा आप ही है विश्व होना ।
कर यह साम्य उपासना । अर्जुन तू ॥ ९ ॥

सर्वत्र समबुध्दीसे देखें आत्म समान जो ।

सुख दुःख सम माने योगी उत्तम मानना ॥ ३२ ॥

इसीलिये मैं तुझसे सतत । कहता हूं रहो साम्यमें रत ।
साम्यसे बड़ा नहीं कुछ प्राप्त । रहता त्रिभुवनमें ॥ ४१० ॥

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

चंचल मनको कैसे स्थिर किया जाय--

कहता है "देव!" अर्जुन । तू कहता है सकरुण ।
किंतु मनकी उलझन । टिकने नहीं देती ॥ ११ ॥

यह कैसा कितना है मन । इसका नहीं होता है भान ।
किंतु छोटा माना त्रिभुवन । भटकनेमें इसके ॥ १२ ॥

तब यह ऐसा होगा जी कैसा । मर्कट समाधि लगाये कैसा ।
अंधड रोकनेसे रुके कैसा । लगता असंभव ॥ १३ ॥

अजी! वह बुद्धिको है छलता । उसके निश्चयको है टालता ।
धीरजको छकाकर भागता । झांसा देकर ॥ १४ ॥

विवेकको है भरमाता । तृप्तिको चाहकी लत लगाता ।
आसनस्थको भी भटकाता । दश दिशामें ॥ १५ ॥

पकडनेसे जो अधिक उछलता । निग्रहको अपना साथी बना लेता ।
अपना स्वप्न छोडनेकी शक्यता । न दीखती मनकी ॥ १६ ॥

अर्जुनने कहा

अब तू मुझसे बोला साम्य योग जनार्दन ।
दीखे न इसका स्थैर्य क्योंकि चंचल है मन ॥ ३३

मन चंचल अत्यंत प्रमत्त बलवान जो ।
दीखे दुष्कर वायूसा निग्रह उसका मुझे ॥ ३४ ॥

ऐसा मन निश्चल होगा । इसमें तब साम्य मिलेगा ।
ऐसा कुछ भी नहीं होगा । दीखता यह ॥ १७ ॥

भगवान उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अभ्यास और वैराग्यसे मानवी-मन स्थिर होता है—

कृष्ण कहता सच है बात । तू कहता है यह निश्चित ।
इस मनकी यही हालत । चंचल स्वभाव ॥ १८ ॥

किंतु लेकर वैराग्यका आधार । तथा अभ्याससे उसे मोडकर ।
परिश्रम करनेसे होगा स्थिर । कालांतरमें वह ॥ १९ ॥

मनकी बात है एक नेक । ललचे रसमें स कौतुक ।
दिखाना आत्मानुभव सुख । संकेतसे सतत ॥ ४२० ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिनमें विरक्ति है नहीं । अभ्यासमें वे आते नहीं ।
उनका मन स्थिरता नहीं । यह जानते हम ॥ २१ ॥

राह न देखी यम नियमोंकी । कभी भेंट नहीं की वैराग्यकी ।
विषय सागरमें दे डुबकी । बैठ रहे जो ॥ २२ ॥

मनको कभी जन्मसे कहीं । युक्तिका चिमटा दिया नहीं ।
तब वह स्थिर होगा कहीं । कहांसे भला ॥ २३ ॥

श्री भगवानने कहा

अवश्य मन दुःसाध्य कहता तू सही यह ।
जान तू साध्य होता है अभ्यास औ' विरागसे ॥ ३५ ॥
विन संयमके योग मानता हूं असाध्य मैं ।
होता प्रयत्नसे साध्य संयमीको उपायसे ॥ ३६ ॥

मनका निग्रह करना होगा । उपाय ऐसा करना पड़ेगा ।
तब वह स्थिर न कैसा होगा । देखेंगे हम ॥ २४ ॥

तब क्या सारे योगासन । व्यर्थके क्या ये अनुष्ठान ।
किंतु होती नहीं साधना । कहो हमसे ॥ २५ ॥

अपनेमें यदि होता है योग-बल । तब होता है कितना मन चंचल ।
यह महतत्व आदि जो सकल । आधीन अपने ॥ २६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुन कहता तब यह उचित । देव नहीं कहता है कभी गलत ।
योग बल सम्मुख होती क्या बात । मनके बलकी ॥ २७ ॥

किंतु न जानते हम योग है कैसा । उसके ज्ञानकी गंध भी नहीं जैसा ।
तभी कहते मन अनिर्बंध ऐसा । अयासके बिन ॥ २८ ॥

अर्जुनने कहा

श्रद्धायुक्त यत्न-हीन योग-चलित चित्त जो ।

कौनसी गति पायेगा योगकी सिद्धिके बिना ॥ ३७ ॥

होगा क्या उभय भ्रष्ट भूलके ब्रह्म मार्गको ।

नाश पाता निराधार टूटे बादल-सा कहीं ॥ ३८ ॥

मेरा संशय श्रीकृष्ण मूलता दूर तू कर ।

तेरे बिन नहीं कोई करेगा दूर जो इसे ॥ ३९ ॥

जन्म भरमें देव अभी हम । तव प्रसादसे पुरुषोत्तम ।
सुन सके योग विद्याका मर्म । इस क्षणमें यहां ॥ २९ ॥

साधना अधुरी रही तो ?—

किंतु देव और एक । मनमें है अकधक ।
तुझसे कौन है नेक । दूर करेगा ॥ ४३० ॥

कह तू हे गोविंद । कोई जो मोक्ष-पद ।
चाहता है सभद्र । बिना युक्तिके ॥ ३१ ॥

निकला वह इंद्रिय-ग्रामसे । पथमें चला भी अति श्रद्धासे ।
आत्म-सिद्धिके महा उद्देश्यसे । आलिंगन करने ॥ ३२ ॥

किंतु न पहुंचा आत्म-सिद्धिको । लौट न सकता मूल स्थानको ।
गया बीचमें ही अस्ताचलको । आयुष्य-भानु ॥ ३३ ॥

अकालमें जैसे बादल । आ जाते हैं अति विरल ।
शायद आते हैं केवल । बरसते नहीं ॥ ३४ ॥

ऐसे खोये गये वे दोनोंसे । दूर हो अति मोक्ष-पदसे ।
पद न पानेकी निराशासे । श्रद्धाके कारण ॥ ३५ ॥

गया वह ऐसा समयाभावसे । तथा आत्म-सिद्धकी महा-श्रद्धासे ।
उसकी गति अब बनेगी कैसे । कहना मुझे ॥ ३६ ॥

भगवान उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

सन्मार्ग पर चलनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती—

कृष्ण कहते हैं तब पार्थ । जिसको मोक्ष-सुखकी आस्था ।
उसको मोक्ष बिन अन्यथा । नहीं गति ॥ ३७ ॥

श्री भगवानने कहा

न होगा उसका नाश इस या उस लोकमें ।
कल्याण करके कोई नहीं पाता बुरी गति ॥ ४० ॥

किंतु बीचमें इतना होता । उसे थोडा सुस्ताना पड़ता ।
इताना जो सुखमय होता । देवोंको भी दुर्लभ ॥ ३८ ॥

अभ्यास-पग यदि शीघ्र उठाता । फुर्तीसे वह डग यदि भरता ।
सहज वह आत्म-सिद्धि है पाता । समय रहते ही ॥ ३९ ॥

किंतु वेग नहीं जब उतना । होता है तब विवश सुस्ताना ।
फिर है निश्चित सिद्धि महान । धरोहर रूप ॥ ४४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

सुन तू होता कैसा कौतुक । सायास करके शत-मख ।
पाते हैं जो वही पाता सुख । सहज कैवल्यका ॥ ४१ ॥

वहां भी फिर जो अमोघ । करता अलौकिक भोग ।
उससे उकताके तंग । लौटता वह ॥ ४२ ॥

विघ्न हैं क्यों यह यकायक । साधनामें जो बाधाकारक ।
स्वर्ग भोग भी तापदायक । मानता वह ॥ ४३ ॥

फिर वह संसारमें जन्म लेता । घर जो धर्मका सहारा रहता ।
सकल विभवश्रीका क्षेत्र होता । उसका अंकुर बन ॥ ४४ ॥

नीति पथसे जहां चलते । सत्य पूत ही उच्चारते ।
देखना है जो वही देखते । शास्त्र दृष्टिसे ॥ ४५ ॥

वेद ही जागृत देव जहां । सदाचार ही व्यापार वहां ।
सारासार विचारही जहां । बनता मंत्री ॥ ४६ ॥

जिस घरमें रहती चिंता । होकर ईश्वरकी पतिव्रता ।
जिससे रहती गृह देवता । आदि ऋध्दि ॥ ४७ ॥

निज पुण्यका जहां संचय होता । सकल सुखका व्यापार चलता ।
ऐसे कुलमें सुखसे जन्म लेता । योग-भ्रष्ट वह ॥ ४८ ॥

रहके पुण्य लोकोंमें जो योग-भ्रष्ट संतत ।
शुचि साधनवंतोंके घरोंमें जन्मता फिर ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिध्दौ कुरुनन्दन ॥४३॥

या हैं जो ज्ञानग्निमें करते हवन । या ब्रह्मनिष्ठ वेदशास्त्रादि संपन्न ।
अथवा ब्रह्मसुखानुभूत महान । होते हैं पार्थ ॥ ४९ ॥

या सिद्धांत सिंहासनपे बैठकर । राज्य करते हैं त्रिभुवन पर ।
संतोष वनमें कोयल बनकर । कूकते रहते ॥ ४५० ॥

या विवेक ग्रामके हृदयमें । बैठ निरत हैं फलाहारमें ।
ऐसे महायोगियोंके घरमें । पाते हैं जन्म ॥ ५१ ॥

छोटीसी देहाकृतिमें ही उदित । निज ज्ञानका प्रातःकाल निश्चित ।
जैसे सूर्योदयके पूर्व होता नित । अरुणोदय वैसा ॥ ५२ ॥

वैसे अवस्थाकी राह न देखती । वयका गांव भी नहीं पूछती ।
बालपनमें ही है ब्याह लेती । सर्वज्ञता उसे ॥ ५३ ॥

सिद्ध प्रज्ञाके उसी लाभसे । सारस्वत प्रसवता है मनसे ।
फिर सकल शास्त्र हैं मुखसे । निकलते सहज ॥ ५४ ॥

ऐसा है वह दिव्य जन्म । जिसकेलिये हो सकाम ।
करते देव स्वर्गमें होम । सदा सर्वत्र ॥ ५५ ॥

अमरोंको है भाट बनना । मृत्यु-लोकके गुण हैं गाना ।
ऐसा है वह जन्म अर्जुन । पाता है जो ॥ ५६ ॥

अथवा प्राज्ञ योगीके कुलमें जन्मता वह ।
बड़ा दुर्लभ है ऐसा जन्म पाना जगतमें ॥ ४२ ॥

वहां जो पूर्व-जन्मके बुद्धि संस्कार पाकर ।
मोक्षार्थ करता यत्न पानेमें सिद्धि उत्तम ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

तथा पूर्व-जन्मकी जो सद्बुद्धि । जीवन पर्यंतकी ज़ो अवधि ।
फिर वही आगे भी निरवधि । खिलती जाती ॥ ५७ ॥

पायालु है जो दैवयोगसे । औ' दिव्यांजन पडी आंखोंसे ।
देखती गुप्त संपदा जैसे । पातालकी भी ॥ ५८ ॥

वैसे दुर्भेद होते जो सिद्धांत । गुरु-करुणासे ही बुध्दिगत ।
करता है उन्हे ग्रहण चित्त । सहज भावसे ॥ ५९ ॥

इंद्रियां होती हैं मनके आधीन । मन होता है पवनमें विलीन ।
मूर्ध्न्याकाशमें सहज ही पवन । विलीन हो जाता ॥ ४६० ॥

होता है यह सहज भावसे । अभ्यास होता अपने आपसे ।
पूछने आती समाधि आपसे । मानसका घर ॥ ६१ ॥

मानो होता वह योगपीठका भैरव । अथवा हो कार्यारंभका गौरव ।
अथवा है वैराग्य सिध्दिका अनुभव । आया आकार लेकर ॥ ६२ ॥

जैसे यह संसार अंकनका नाप । अथवा अष्टांग योग साधन दीप ।
जैसे परिमलने ही लिया है रूप । चंदनका ॥ ६३ ॥

संतोषकी बनी मूर्तिसा । सिध्द समाजकी कीर्तिसा ।
होता योग्यताका पुंजसा । साधक दशामें ही ॥ ६४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

समय शतकोटिवर्षोंका । प्रतिबंध जन्म सहस्रका ।
लांघके पाया आत्म-सिध्दिका । किनारा वह ॥ ६५ ॥

पूर्वाभ्यास बलसे ही खींचे अवश होकर ।
योग-ज्ञान इच्छासे ही शब्दके पार लांघके ॥ ४४ ॥

बलसे रहके योगी दोषोंसे मुक्त होकर ।
अनेक जन्ममें पाता पूर्ण होके महापद ॥ ४५ ॥

तब है साधना मात्र संपूर्ण । करती उसका अनुकरण ।
जिससे पाता वह सिंहासन । विवेक राज्यका ॥ ६६ ॥

फिर वह गतिसे विवेककी । लांघ जाता है सीमा विवेककी ।
बनता है वह विचारान्तकी । मूर्ति ही मानो ॥ ६७ ॥

मन-बादल वहां छटता । पवनका पवनत्व जाता ।
आकाशका भी विलय होता । अपनेमें ही ॥ ६८ ॥

होता पवनकी अर्धमात्रामें लीन । इतना वह शब्द-सुख संपन्न ।
जिससे होता है उसका शब्द मौन । अपने आप ॥ ६९ ॥

ऐसी है यह ब्राह्मी-स्थिति । सब गतिकी जो है गति ।
ऐसी वह अमूर्त मूर्ति । बनता स्वयं ॥ ७० ॥

अपने अनेक जन्मोंमें पूर्वके । जाल झटका दिये थे विक्षेपके ।
इसलिये क्षणमें ही जनमके । लग्न घटिका भरी ॥ ७१ ॥

किया तद्रूपतासे लग्न । उसने होकर अभिन्न ।
अभ्र लोपसे है गगन । होता एक रूप ॥ ७२ ॥

जहांसे होता विश्व उत्पन्न । तथा होता है जहां विलीन ।
प्राप्त करता है विद्यमान । शरीरके ही ॥ ७३ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

जिस लाभकी करके आशा । धैर्य-बहूका किये भरोसा ।
कूदते हैं करके साहस । कर्मनिष्ठ ॥ ७४ ॥

अथवा जिस वस्तुकेलिये । ज्ञान-कवच पहन लिये ।
जूझे प्रपंचमें जिसलिये । ज्ञानी जन ॥ ७५ ॥

अथवा फिसड्डी निराधार । तप दुर्गकी टूटी दिवार ।
भिडे उसको चढ़ने घोर । तपस्वी जन ॥ ७६ ॥

ज्ञानी तापस कर्मिष्ठ इनसे जो विशेष है ।
माना है श्रेष्ठ योगीको योगी हो पार्थ तू तभी ॥ ४६ ॥

या जो भजकोंका भजनीय । तथा पूजकोंका पूजनीय ।
और याज्ञिकोंका यजनीय । सदा सर्वत्र ॥ ७७ ॥

वही तत्व जो पूर्ण । हुआ स्वयं निर्वाण ।
जो साधना कारण । सिद्ध तत्व ॥ ७८ ॥

तभी कर्म निष्ठोंमें वंद्य । तथा ज्ञानियोंमें है वेद्य ।
है वह तापसमें आद्य । तपोनाथ ॥ ७९ ॥

जीव और परमात्म-संगम । जिसका है ऐसा मनोधर्म ।
होती है उस तनकी महिमा । अपार यहां ॥ ४८० ॥

तभी मैं इस कारणसे । कहता हूं सदा तुझसे ।
योगी हो अंतःकरणसे । अर्जुन तू ॥ ८१ ॥

योगीनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

अजी योगी जो कहलाता । देवोंका वह देव होता ।
मेरा सुख सर्वस्व तथा । चैतन्य ही वह ॥ ८२ ॥

जिसके भजनसे भजनीय भजन । तथा यह भक्ति साधन स्वयं संपूर्ण ।
हुआ वह स्वयं अनुभवसे तू जान । अखंडित ॥ ८३ ॥

फिर हमारे प्रेमका । स्वरूप नहीं वाचाका ।
अनिर्वचन है उसका । विषय अर्जुन ॥ ८४ ॥

वह है जो प्रेम एकात्म । उसकी है योग्य उपमा ।
मैं शरीर और वह आत्मा । यही एक ॥ ८५ ॥

ऐसा भक्त चकोर-चंद्र । वह भुवनैक नरेंद्र ।
बोला सर्वगुण समुद्र । कहता संजय ॥ ८६ ॥

जहां पहलेसे ही पार्थ । जानना चाहता था सार्थ ।
जान लिया है यदुनाथ । हुआ अधीर ॥ ८७ ॥

श्रेष्ठ है योगियोंमें जो मुझमें प्राण रोपके ।
भजता मुझ श्रद्धासे मानता श्रेष्ठ मैं उसे ॥ ४७ ॥

जान कर वह प्रमुदित मन । निरूपणका है यथार्थ ग्रहण ।
करता है यह जैसे सुदर्पण । कहेगा श्रीरंग ॥ ८८ ॥

ऐसा प्रसंग आगे आयेगा । वहां शांत रस खिला होगा ।
अब है वहां बोया जायेगा । प्रमेय बीज ॥ ८९ ॥

सत्वकी वर्षासे पिघला ढेला । हुआ चित्तका बाग गुलगुला ।
सहजतासे हुआ क्षेत्र कोमल । इस समय ॥ ४९० ॥

फिर अवधानकी क्यारी सुंदर । मिली स्वर्णमय इस अवसर ।
निवृत्त-चित्तने यह जान कर । प्रेरणा दी बुवाईकी ॥ ९१ ॥

चाह कर किया मुझे प्रेमसे । सद्गुरुने सहज लीलासे ।
बीज बोया आशीर्वादसे । कहता ज्ञानदेव ॥ ९२ ॥

सो मेरी वाणीसे जो निकलेगा । सन्त हृदयमें महुलायेगा ।
रहने दो अब क्या कहा कहियेगा । श्रीरंगने वहां ॥ ९३ ॥

किंतु वह मनके कानसे सुनना । शब्द है जो बुद्धि-नयनसे देखना ।
चित्तकी कीमत देकर ही है लेना । मेरे शब्द ॥ ९४ ॥

यह सब ध्यान देकर । ले जाना हृदय-भीतर ।
सज्जनोंको ये निरंतर । देंगे संतोष ॥ ९५ ॥

स्वहितको स्थिर करेंगे । पूर्णत्वको जगायेंगे ।
तथा लखौरी चढ़ायेंगे । जीव पर ये ॥ ९६ ॥

अब जो मुकुंद अर्जुनसे । बोलेगा सुंदर विनोदसे ।
वह सब ओवीके छंदसे । कहूंगा मैं ॥ ४९७ ॥

गीता श्लोक ४७

ज्ञानेश्वरी ओवी ४९७



७

ज्ञानविज्ञानयोग

भगवान उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

प्रापंचिक ज्ञान विज्ञान है, इसको सत्य मानना अज्ञान—

सुन तू अब पार्थ । कहता है अनंत ।
हुआ है योग-युक्त । इस समय ॥ १ ॥

जानता तू मुझे पूर्ण रूपसे । हथेली पर रखे रत्नके जैसे ।
अब तुझे ज्ञान कहूंगा मैं वैसे । विज्ञान सह जो ॥ २ ॥

यहां विज्ञानका है क्या करना । ऐसी यदि तेरी मनो भावना ।
किंतु उसको पहले जानना । आवश्यक यहां ॥ ३ ॥

क्यों कि ससयमें स्वरूपज्ञानके । मिटता यह नयन पहुंचके ।
जैसे किनारेसे लगे जहाजके । नहीं है वेग ॥ ४ ॥

श्री भगवानने कहा

मेरे आसरा मेरा लेके जो योग साधते ।
वैसे समग्र निःशंक जानेंगे मुझसे सुन ॥ १ ॥

विज्ञान सह जो ज्ञान संपूर्ण कहता तुझे ।
जानके जो नहीं अन्य जगमें जानना रहा ॥ २ ॥

होती नहीं पहुंच वहां ज्ञानकी । पुच्छ प्रगति होती है विचारकी ।
बोथरा हो जाती है धार तर्ककी । उस समय ॥ ५ ॥

नाम है जिसका ज्ञान अर्जुन । उससे भिन्न प्रपंच विज्ञान ।
वहां सत्य बुद्धि ही है अज्ञान । जान तू यह ॥ ६ ॥

अन्त होगा जब अज्ञानका । निवारण होगा विज्ञानका ।
तब साक्षात् होगा ज्ञानका । अपनेमें पूर्ण ॥ ७ ॥

रहस्य है ऐसा जो गूढ । वह करूंगा शब्दरूढ ।
जिसका पूर्ण करूंगा कोड । मनका मैं ॥ ८ ॥

जिससे है मिटता प्रवचन । सुननेवालोंका भी व्यसन ।
मिटता है यह सब अज्ञान । ऊंच नीचका ॥ ९ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मुझे जाननेवाला कोई एकाद होता है—

सहस्रो मनुष्योंमें कहीं एक । चाह करता इस विषयकी नेक ।
चाहनेवालोंमें भी कहीं एक । पाता है मुझे ॥ १० ॥

जैसे भरा हुआ भुवन । एकेक छंटके अर्जुन ।
करते संघटित सेना । लक्षाधिक ॥ ११ ॥

उसमें भी कहीं एक । सहते घात अनेक ।
पाता है विजयश्रीका । सिंहासन ॥ १२ ॥

आस्थाके इस महापूरमें । कूदढते हैं जन करोडोंमें ।
पहुंचता है पैल-तीरमें । कोई एक ॥ १३ ॥

इसीलिये यह नहीं सामान्य । कहनेमें भी यह असामान्य ।
फिर कहेंगे तुझे वह अन्य । अब सुन विज्ञान ॥ १४ ॥

शत सहस्रमें एक मोक्षार्थ जुटता कभी ।
जुटते उसमें कोई तत्वता जानते मुझे ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अब तू सुन हे धनंजय । है महदादिक मेरी माया ।
जैसे प्रतिबिंबित हो छाया । निजांगोंकी ॥ १५ ॥

यह विज्ञान है—

इसे कहते प्रकृति जान । जान यह जो अष्टधा भिन्न ।
उत्पन्न होता है त्रिभुवन । इससे ही ॥ १६ ॥
यह है कैसी अष्टधा भिन्न । पूछता है यदि यह मन ।
कहता हूं अब विवेचन । सुन तू यह ॥ १७ ॥
आप तेज तथा गगन । धरणी मारुत औ' मन ।
बुध्दि अहंकार है भिन्न । ये भाग आठ ॥ १८ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विध्दि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

औ' इन आठोंकी जो समावस्था । मेरी परमप्रकृति है पार्थ ।
उसका नाम है सुन व्यवस्था । जीव ऐसा ॥ १९ ॥
जड़को जो है जिलाता । चेतनको है चेताता ।
मनसे है मनवाता । शोक मोहादिक ॥ २० ॥
बुध्दिमें जो शक्ति है जानना । उसके सान्निध्यके कारण ।
अहंकार कौशल्यके कारण । उसने धरा जगत ॥ २१ ॥

पृथ्वी आप तथा तेज वायु आकाश पांचवा ।
मन बुध्दि अहंकार मेरी प्रकृति है यह ॥ ४ ॥

हुई ये अपरा मेरी दूसरी जान तू परा ।
जीव रूप बनके जो धरता विश्वको सब ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

सूक्ष्म प्रकृति जब लीलासे । पाती स्थूलके परिणामसे ।
निकलती है टंकसालसे । भूत सृष्टि ॥ २२ ॥

उद्बीज, जारज, स्वेधज, अंडज । टंकसालसे निकलते सहज ।
उसके मूल्य है समान महज । आकार भिन्न ॥ २३ ॥

होते हैं चौरासी लक्षके आकार । उसकी सीमा न जानता भांडार ।
भर जाता है आदिशून्यका घर । इन नाणोंसे ॥ २४ ॥

पंच भौतिक ऐसे बहुतसे । रंग रूप धरते हैं एकसे ।
उसको लिखती है नियमसे । स्वयं प्रकृति ही ॥ २५ ॥

नाण्य आकृतिका प्रसार करती । फिर उसको धऱ्या भी करती ।
कर्माकर्म व्यवहारमें कराती । प्रवर्तन स्वयं ॥ २६ ॥

जाने दो यह रूपक कुशल । कहता हूं तुझको मैं सरल ।
नाम रूपका विस्तार विशाल । करती है प्रकृति ॥ २७ ॥

तथा प्रकृति मुझमें बिंबित । इसमें नहीं है अन्यथा बात ।
तभी सृष्टिका आदि मध्य अंत । जानो मुझको ही ॥ २८ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

यह जो रोहिणीका जल । उसका देखनेसे मूल ।
रवि-रश्मि नहीं केवल । है वह भानु ॥ २९ ॥
इसी भांति सुन किरीटी । परा प्रकृतिसे जो सृष्टि ।
उस पार जाय तो दृष्टि । वहां हूं मैं ॥ ३० ॥

इन दोसे सभी भूत होते उत्पन्न जान तू ।
इसीसे विश्व है सारा मैं ही हूं मूल अंत भी ॥ ६ ॥
नहीं है दूसरा तत्व मुझसे पर जो रहे ।
पिरोया मुझमें सारा धागेमें मणि मान जो ॥ ७ ॥

ऐसा हू मैं सबका आधार । मुझमें सृष्टि स्थिति संहार ।
जैसा मणियोंमें होता डोर । आधार रूप ॥ ३१ ॥

जैसे सुवर्णके मणि किये । सुवर्ण सूत्रमें वे पिरोये ।
वैसे सृष्टिका धारण किये । रहा हूं मैं ॥ ३२ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

इसीलिये उदकमें रस । अथवा पवनमें जो स्पर्श ।
तथा शशि सूर्यमें प्रकाश । वह मैं ही जान ॥ ३३ ॥

वैसा ही नैसर्गिक शुद्ध । पृथ्वीमें रहता जो गंध ।
तथा गगनमें मैं शब्द । प्रणव वेदमें ॥ ३४ ॥

नरमें जो होता नरत्व । अहंभावका जो है सत्व ।
वह पौरुष मैं औ' तत्व । कहता तुझे ॥ ३५ ॥

अग्निका भी अर्जुन ऐसा ही है । वह तेजका निरा कवच है ।
उसके परे जो निज तेज है । वह मैं ही जान ॥ ३६ ॥

तथा जो नानाविध योनियोंमें । जनमके प्राणी त्रिभुवनमें ।
आचरण करते हैं जीवनमें । अपने पार्थ ॥ ३७ ॥

एक पवन ही है पीता । दूसरा तृणार्थ है जीता ।
कोई अन्नाधार रहता । जलपे एक ॥ ३८ ॥

सब भूतोंका जो है अन्न । प्रकृतिवश है जीवन ।
उन सबमें जो अभिन्न । मैं ही केवल ॥ ३९ ॥

हुवा मैं रस पानीमें प्रकाश चंद्र-सूर्यमें ।
वेदमें ॐ 'ख' में शब्द नरोंमें पुरुषार्थ मैं ॥ ८ ॥

मैं पुण्य गंध पृथ्वीमें उष्णता अग्निमें बना ।
आयुष्य प्राणि-मात्रोंमें तापसोंमें बना तप ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विध्दि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुध्दिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुध्दो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

विश्वोत्पत्तिके कालमें जो था । गगन अंकुरसे खिलाथा ।
अंतमें अक्षर निगलाथा । प्रणव पटके ॥ ४० ॥

जब यह विश्वाकार रहता । विश्वके समानही है दीखता ।
महा-प्रलय दशामें है होता । निराकार ॥ ४१ ॥

ऐसा अनादि जो सहज । वह मैं ही हूं विश्व-बीज ।
हथेली पर वह आज । देता हूं तुझे ॥ ४२ ॥

इस पर पांडुकुमार । करेगा गंभीर विचार ।
इसका प्रभाव सुंदर । होगा श्रेष्ठ ॥ ४३ ॥

जाने दो अप्रासंगिक आलाप । अब न बोलूंगा ऐसा संक्षेप ।
जान तपस्वियोंमें है जो तप । वह रूप है मेरा ॥ ४४ ॥

बलियोंमें है जो बल । रहता है जो अचल ।
बुद्धिवंतोंमें केवल । बुद्धि है मैं ॥ ४५ ॥

भूतमात्रोंमें है जो काम । जिससे उत्कर्ष हो धर्म ।
मैं हूं कहता आत्माराम । जान निश्चल ॥ ४६ ॥

अन्यथा जो विकारोंके रूपमें । पडे इंद्रियानुकूल कर्ममें ।
किंतु धर्म-विरुद्ध पथमें । जाने नहीं देता ॥ ४७ ॥

शास्त्र निषिद्ध कर्मका जब कुपथ । तज चलता विहित कर्मका पथ ।
तब रहता नित मशालची साथ । धर्म-रूप ॥ ४८ ॥

बीज जो सब भूतोंमें वह हूं मैं सनातन ।
तेज मैं तेजस्वियोंमें बुद्धि मैं बुद्धिमानमें ॥ १० ॥

वैराग्य-युक्त निष्काम बल मैं बलवानका ।
धर्मसे अविरोधी मैं भूतोंकी काम-वासना ॥ ११ ॥

ऐसा काम तेज देता चलता । जिससे होती धर्मकी पूर्णता ।
संसारमें मुक्ताफल भोगता । मोक्षतीर्थका वह ॥ ४९ ॥

तब श्रुति-गौरवके मांडवेपर । बढ़ाता काम सृष्टि-लताका अंकुर ।
सुकर्म फल सह पल्लव सुंदर । पहुंचते मोक्षतक ॥ ५० ॥

ऐसा जो काम है धर्म विहित । जिसमें सृष्टिका बीज निहित ।
वह हूं मैं कहता जगन्नाथ । अर्जुनसे ॥ ५१ ॥

कहना कितना भिन्न भिन्न । वस्तुमात्र मुझसे उत्पन्न ।
जिससे भरा है त्रिभुवन । जान तू पार्थ ॥ ५२ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये ।
मत्त एवेति तान्विध्दि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

जो हैं ये सात्विक भाव । या रज-तमादि सर्व ।
वे मम रूप संभव । जान तू यहां ॥ ५३ ॥

हुए ये यदि मुझसे ही । इसमें मैं रहता नहीं ।
स्वप्न कुंडमें डूबे नहीं । जागृति जैसी ॥ ५४ ॥

नहीं तो बीज होता ठोस । जैसे जमा हुआ ही रस ।
फूटके कोंपल सरस । बनता काष्ठ ॥ ५५ ॥

फिर कहो उस काष्ठमें सभी । बीजपन रहता है क्या कभी ।
वैसा दीखता विकार कर भी । नहीं मैं विकारमें ॥ ५६ ॥

अथवा गगनमें घिरते बादल । उनमें न रहता गगन केवल ।
अथवा बादलमें होता है सलिल । जलमें नहीं अभ्र ॥ ५७ ॥

फिर उस जलके आवेशसे । दीखता लखलख तेज जैसे ।
किंतु उस तेजमें जल वैसे । रहता है क्या ॥ ५८ ॥

जैसे अग्निसे है धूम होता । धूममें क्या अग्नि है रहता ।
वैसे विकारके भी नहीं होता । विकृत मैं कभी ॥ ५९ ॥

मुझसे हैं बने भाव सत्व राजस तामस ।
इनमें न रहता मैं रहते मुझमें वही ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

मुझसे निर्मित त्रिगुणोंने मुझे ढक दिया है—

जलसे हुई जलकुंभी जैसे । छिपा देती है सलिलको वैसे ।
झूठे ही घटोंके आवरणसे । छिपता आकाश ॥ ६० ॥

अजी ! स्वप्न यह मिथ्या सब । आप हुआ निद्रावश तब ।
आती उसकी प्रतीति जब । समरसता है क्या ॥ ६१ ॥

अजी ! पानी ही जो आंखका । रूप लेता जब झिल्लीका ।
देखना ही वह आंखका । मिटा देता ॥ ६२ ॥

ऐसी ही यह मेरी माया । बनी त्रिगुणात्मक छाया ।
उसने मुझे है छिपाया । आवरण बन ॥ ६३ ॥

प्राणिमात्र तभी मुझे नहीं जानते । मेरे होकर भी मद्रूप नहीं होते ।
जल होकर जलमें न गलते । मोति जैसे ॥ ६४ ॥

माटीसे बनाया हुआ जो मटका । तुरंत मिलानेसे होता मृत्तिका ।
किंतु आगमें जला हुआ मटका । रहता खपरा बन ॥ ६५ ॥

वैसे भूतमात्र सर्व । हैं मेरे ही अवयव ।
किंतु अविद्यासे जीव । बने हैं जो ॥ ६६ ॥

तभी ये मेरे होकर भी मैं नहीं । मेरे होकर भी मुझे जानते नहीं ।
अहं ममताकी भ्रांतिमें ही यहीं । हुए विषयांध ॥ ६७ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अहं ममताकी भ्रांतिके कारण जन्ममरण-चक्र—मायानदी—

इन्हीं त्रिगुण भावोंने किया है विश्व मोहित ।
जिससे मैं नहीं ज्ञात गुणातीत सनातन ॥ १३ ॥

दैवी गुणमयी माया मेरी है अति दुस्तर ।
मेरी शरण जो आते इसको तरते वही ॥ १४ ॥

महदादि है यह मेरी माया । उसे पार करके धनंजय ।
होना है मद्रूपमें जो विलय । किस भांतिसे ॥ ६८ ॥

टूटे कगारसे जो ब्रह्माचलके । उमंगसे मूल संकल्प जलके ।
उठे हैं बुल्ले पंचमहाभूतोंके । छोटेसे वहां ॥ ६९ ॥

सृष्टि विस्तारके जो ओघसे । काल-ग्रास शक्तिके वेगसे ।
प्रवृत्ति निवृत्तिके कूलसे । बहती उमड़कर ॥ ७० ॥

जो गुण-घनकी महा-वृष्टिसे । भरी है मोहके महा-पूरसे ।
काटकर ले जाती है वेगसे । यम नियम नगर ॥ ७१ ॥

भरी है जो द्वेषावर्तोंसे । मत्सरादि बडे मोडोंसे ।
तथा भयानक मीनोंसे । प्रलोभनके ॥ ७२ ॥

चक्कर हैं उसमें प्रपंचके । महापूर आते कर्माकर्मके ।
ऊपर तरते सुख दु:खके । झाग-पुंज ॥ ७३ ॥

वहां द्वीप पर हैं रतीके । टकराते तरंग कामके ।
दीखते हैं जीव समूहके । झाग पुंज ॥ ७४ ॥

अंत: प्रवाह अहंकारके । उबाल आते मदत्रयके ।
उठे तरंग विषयोर्मिके । पुन: पुन: ॥ ७५ ॥

जहां रेलेसे उदयास्तके । गढे पड़ते जन्म मृत्युके ।
बुल्ले उसमें पंच भूतके । उठते औ' फूटते ॥ ७६ ॥

संमोह विभ्रम हैं मीन जिसके । निगलते कौर सात्विक धैर्यके ।
वक्र गतिसे चलते अज्ञानके । भवर भी जहां ॥ ७७ ॥

जहां भ्रांतिके गंदले जलमें । फंसता जीव आशाके पकमें ।
रजोगुणकी खलबलीमें । गूंजता स्वर्ग ॥ ७८ ॥

वहां है तमकी तीव्रधार । सत्वकी है स्थिर औ" गंभीर ।
यह तैरनेमें भयंकर । माया-नदी ॥ ७९ ॥

पुनर्जन्मके उत्तंग तरंग । छूते सत्य-लोकके गिरिशृंग ।
ढलती जिससे शिला भी संग । ब्रह्मलोककी ॥ ८० ॥

महानदीका यह पूर । वह जाता जो भयंकर ।
करे कौन इसको पार । धनंजय ॥ ८१ ॥

यहां है एक और आश्चर्य । करते हैं जो तरणोपाय ।
होता है वह सब अपाय । वह कैसा जान ॥ ८२ ॥

बुध्दि बाहूसे जो तरने गये । पता नहीं चला वे कहां गये ।
अभिमान डोहमें डूब गये । ज्ञानमानी जो ॥ ८३ ॥

लिया जिन्होंने वेदोंका आश्रय । साथ ही दिया मानको प्रश्रय ।
हुए वे मद-मीनमें ही लय । पूर्ण रूपसे ॥ ८४ ॥

जिसने किया तारुण्यका साथ । उसपे पडा मन्मथका हाथ ।
उसे विषय मगरके दांत । चबाते सदा ॥ ८५ ॥

फिर वृद्धावस्थाका जाल । मति-भ्रम कंप जंजाल ।
कसता जाता पल पल । चहूं ओरसे ॥ ८६ ॥

पटकता फिर शोक तीर पर । क्रोधावर्तमें नित उलझाकर ।
जब उठाते हैं उसमेंसे सिर । कोंचते विपद्गृध्र ॥ ८७ ॥

रुते फिर दु:ख पंकमें । फंसे नित मृत्यु-पाशमें ।
गये जो काम आश्रयमें । गये व्यर्थ ही जो ॥ ८८ ॥

यज्ञ-क्रियाके साधनसे । लैस होकर तरनेसे ।
स्वर्ग-कंदरामें जा फंसे । यकायक ॥ ८९ ॥

मुक्ति-किनारा जो पाने गये । कर्म-बाहूंका आसरा लिये ।
चक्करमें ही उलझ गये । विधि-निषेधके ॥ ९० ॥

वहां वैराग्य नांव नहीं जाती । विवेकको थाह नहीं मिलती ।
योग-विद्या भी यदि काम आती । यदाकदा ही ॥ ९१ ॥

अपना बल लगाकर । माया-नदीको तैर कर ।
पार करनेका विचार । व्यर्थ ही है ॥ ९२ ॥

कुपथ्यशीलकी मिटे व्याधी । साधु जाने दुर्जनकी बुध्दि ।
अथवा लोभी त्यजे श्रीसिध्दि । हाथमें जो आयी ॥ ९३ ॥

अथवा दंड डरे चोरसे । कांटा निगला जावे मीनसे ।
तथा काय लडे भूतसे । वैसे हां पार्थ ॥ ९४ ॥

या जाल कुतरे मृग-छौना । चींटीका हिमगिरि लांगना ।
तभी है माया नदी तैरना । जीवसे साध्य ॥ ९५ ॥

अजी! सुन तू पांडुसुता। कामी न जीतता वनिता।
वैसी मायामय सरिता। न तैरता जीव॥ ९६॥

किंतु सरते सहज लीलासे। भजते मुझे जो सर्व भावसे।
सूखा उनके इसी तीरसे। मायाका जल॥ ९७॥

सद्गुरु मांझी उनके साथ। प्रतीतिका बल उनके हाथ।
आत्म-निवेदनकी है सतेज। डांगी ही जो॥ ९८॥

अहंभावका जो तजकर भार। विकल्प आंधीका झांका ढालकर।
अनुराग जलावेगका उतार। लेकर टोह॥ ९९॥

फिर लिया ऐक्यका आधार। उसे जोडा बोधका उतार।
तब निवृत्तिका पैल-तीर। जीत लिया॥ १००॥

उपरतिका चप्पू मारकर। सोऽहंभावका साम्य साधकर।
फिर चले निवृति तट पर। सहज भावसे॥ १॥

इस उपायसे जो मेरे हुये। वे सब मेरी माया तर गये।
ऐसे भक्त भी क्वचित ही भये। नहीं अधिक॥ २॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाःप्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

सभी अहंकारकी भूत-चेष्टामें आते हैं—

अन्य जन हैं जो अवांतर। अहंकारका भूत संचार।
होनेसे विस्मृत निरंतर। आत्म-बोधसे॥ ३॥

हीन मूढ दुराचारी मेरा आश्रय छोड़के।
भ्रात होकर मायासे पाते हैं भाव आसुरी॥ १५॥

भक्त चार सदाचारी भजते मुझको नित।
ज्ञानी तथैव जिज्ञासू अर्थार्थी पार्थ विह्वल॥ १६॥

होता नियम-पटका विस्मरण । अधोगतिका रहता नहीं भान ।
किया जाता शास्त्र-निषिद्ध ही जान । अकार्य सब ॥ ४ ॥

क्यों किया शरीरका आश्रय । भूलकर ही मूल उद्देश्य ।
तदर्थ करणीय जो कार्य । छोडकर ॥ ५ ॥

इंद्रिय-ग्रामके चौराहेपर । अहं ममताके गप्पोंमें भर ।
विकारोंके समुदाय अपार । जुटाते रहते ॥ ६ ॥

दुःख-शोकके घावोंसे । प्रहारोंके विचारसे ।
बेभान माया-तमसे । ग्रस्त हैं जो ॥ ७ ॥

इसीलिये वे बिछुडे मुझसे । अन्य जो भजते चतुर्विधसे ।
उन्होंने आत्महित है जिससे । किया वृध्दिंगत ॥ ८ ॥

चार प्रकारके मेरे भक्त—

पहला आर्त कहलाता । दूसरा जिज्ञासू बनता ।
तीसरा अर्थार्थी है होता । चौथा है जो ज्ञानी ॥ ९ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

दुःखी होनेसे भजता आर्त । जिज्ञासु भजता है ज्ञानार्थ ।
तीसरा है भजता अर्थार्थ । धनंजय ॥ ११० ॥

मत्प्रिय ज्ञानी भक्त—

अब बात चौथेकी रही । उसको करणीय नहीं ।
वही एक भक्त है सही । ज्ञानी है जो ॥ ११ ॥
होता है जो ज्ञानके प्रकाशसे । मुक्त सदा भेदाभेद तमसे ।
रहता मद्रूप-समरससे । तथा भक्त भी जो ॥ १२ ॥

श्रेष्ठ है सबमें ज्ञानी नित्य-युक्त अनन्य जो ।
उसे मैं प्रिय अत्यंत वह भी प्रिय है मुझे ॥ १७ ॥

जैसे सामान्य दृष्टिसे स्फटिक । आभास होता है मानो उदक ।
वैसा लगता ज्ञानी सकौतुक । नहीं है ज्ञानी ॥ १३ ॥

पवन जब गगनमें धुल जाता । उसका अस्तित्व भिन्न नहीं रहता ।
ज्ञानीका समरसमें विलय होता । रहता जैसे ॥ १४ ॥

हिलाकर देखा पवन । दीखता गगनसे भिन्न ।
वैसे स्वभावसे गगन- । जैसे रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानी वैसे काया-कर्मसे । दीखता उपासक जैसे ।
आंतरिक अनुभावसे । मद्रूप है जो ॥ १६ ॥

किंतु वह ज्ञानके प्रकाशसे । अनुभवता तत्वमसि ऐसे ।
मैं भी कहता तब आनंदसे । है वह "मम आत्मा" ॥ १७ ॥

जो जीव भाव परका बोध पाकर । करना जानता शुद्ध व्यवहार ।
पानेसे वह केवल भिन्न शरीर । मुझसे भिन्न है क्या ॥ १८ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ऐसे अपने स्वार्थके लोभसे । भक्त बनकर चिपकते मुझसे ।
किंतु मैं प्रेम करता जिनसे । वह है ज्ञानी मात्र ॥ १९ ॥

अजी ! दूधि पय घृतकी जो आशा । उलझाती लोगोंसे गायको फांसा ।
किंतु उस पाशके बिन भी कैसा । दूध पाता है बछड़ा ॥ १२० ॥

क्यों कि वह तन मन प्राणसे । न जाने अन्य कुछ भी जिससे ।
जो सामनेसे दीखता है उसे । मानता माय मेरी ॥ २१ ॥

इस भांति जो हैं अनन्य गति । तभी करती है गाय भी प्रीति ।
इसलिये कहता लक्ष्मीपति । वह है यथार्थ ॥ २२ ॥

रहने दो फिर वे बोले । अब तुझसे हम बोले ।
वे तीन भक्त भी भले । भाते हैं मुझको ॥ २३ ॥

हैं ये उदार सारे ही ज्ञानी तो स्व-समान है ।
मुझमें स्थिर जो युक्त गति अंतिम जानके ॥ १८ ॥

किंतु जिसने मुझे जानकर । मुडकर देखा नहीं संसार ।
सरिता सागरको प्राप्तकर । न मुडती जैसे ॥ २४ ॥

जिसके हृदय गव्हरमें उगम । अनुभव गंगाका मुझसे संगम ।
कैसे गायें फिर महिमा अनुपम । शब्दोंसे उसकी ॥ २५ ॥

अजी ! जो ज्ञानी कहलाता है । वह तो मेरा चैतन्य ही है ।
यह बात कहनेकी नहीं है । कहता हूं तुझसे ॥ २६ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

ज्ञानी भक्तिका महान् अनुभाव—

वह तो घने वनमें विषयोंके । आया है आतंकसे काम-क्रोधके ।
पाकर छुटकारा सद्वासनाके । पहाडपर ॥ २७ ॥
फिर वह साधु-संगसे धनुर्धर । विहित कर्म-पथ पर चलकर ।
निषिद्ध-प्रवृति पथ छोड़कर । कर्म-मार्गसे ॥ २८ ॥
शत-जन्मोंका है प्रवास करता । फलाशाका जूता नहीं पहनता ।
फल-हेतुका लेख कौन लिखता । ऐसी स्थितिमें ॥ २९ ॥

शरीर संयोगकी रातमें ऐसे । सर्व-संग त्यागकी सिद्धतासे ।
दौडनमें पौ फटी अनायाससे । कर्मक्षयकी ॥ १३० ॥

फिर चमकी उषा गुरु-कृपाकी । खिल फैली स्वर्ण-किरण ज्ञानकी ।
वहां प्रतीति हुई साम्य-सिद्धिकी । अंतर दृष्टिमें ॥ ३१ ॥

जिस ओर देखो तब मैं हूं । एकांत लोकांतमें मैं ही हूं ।
सदा सर्वत्र मैं एक ही हूं । मैं ही उसका ॥ ३२ ॥

उसके लिये सदा सर्वत्र कहीं । मैं छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं ।
तलावमें डूबी गगरीको कहीं । जैसे जल सर्वत्र ॥ ३३ ॥

होता है वह मेरे भीतर । उसको मैं बाहर भीतर ।
इसको शब्दोंमें गूंथकर । कहा नहीं जाता ॥ ३४ ॥

अनेक जन्मके पीछे पायो हैं शरणागति ।
विश्व देखें वासुदेव संत है अति दुर्लभ ॥ १९ ॥

ऐसा होता वह ज्ञान-सागर । जिससे सदा बाहर भीतर ।
देखता आत्म-रूप निरंतर । विश्वमें आप ॥ ३५ ॥

यह समस्त है श्रीवासुदेव । प्रतीति रससे ढला है भाव ।
इसीलिये भक्तमें वह राव । तथा ज्ञानियोंमें भी ॥ ३६ ॥

उसका अनुभव भंडार । भरता है जंगम स्थावर ।
ऐसा महात्मा है धनुर्धर । दुर्लभ मिलना ॥ ३७ ॥

नाशवंत वस्तुओंकी इच्छासे आरधना करनेवाले अनेक—

ऐसे बहुत आते हैं अर्जुन । करते हैं जो भोगार्थ भजन ।
आशा तमसे जिनके नयन । हुए अति-मंद ॥ ३८ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताःस्वया ॥ २० ॥

होती जब फलकी तीव्र आस । हृदयमें होता काम प्रवेश ।
बुझाता है उसका सहवास । ज्ञान-दीपको ॥ ३९ ॥

पडनेसे ऐसा उभय अंधार । समीपस्थ मुझको वे भुलाकर ।
होते हैं सर्व भावसे अनुचर । देवताओंके ॥ १४० ॥

पहलेसे जो दास हैं प्रकृतिके । उसीमें वश हैं भोग लालसाके ।
लोलुपतासे रचते हैं पूजाके । महोत्सव ॥ ४१ ॥

क्या है उसकी नियम-बुध्दि । कैसी है उपचार-समृध्दि ।
अर्पण करते हैं यथाविधि । विहित रूपसे ॥ ४२ ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

भ्रांत जो कामना ग्रस्त पूजते अन्य दैवत ।
स्वभाव वश अज्ञानी उनके ही विधानसे ॥ २० ॥

पूजना चाहते जैसे श्रद्धासे जिस रूपको ।
जैसी है जिसकी श्रद्धा करता स्थिर मैं स्वयं ॥ २१ ॥

किंतु जो है अन्य देवता । भजनेकी चाह करता ।
इच्छा पूर्तिमें ही करता । उनकी भी ॥ ४३ ॥

देव-देवीमें मैं ही रहता । यह भी वह नहीं जानता ।
सबमें वह भाव धरता । भिन्न भिन्न ॥ ४४ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

फिर हैं वह श्रद्धायुक्त । आरधनामें जो उचित ।
सिध्दि तक सब समस्त । करता रहता है ॥ ४५ ॥

जैसा है जिसका भाव । वैसा फल देता देव ।
मिलता वह सदैव । मेरे ही कारण ॥ ४६ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्य देवताओंद्वारा पाये गये भोग नाशवंत होते हैं --

किंतु भक्त वे मुझे नहीं जानते । कल्पनाके बाहर नहीं पड़ते
इसीलिये कल्पित फल हैं पाते । नाशवंत जो ॥ ४७ ॥

अजी ! ऐसा जो यह भजन । वह है संसारका ही साधन ।
यहां फल भोगका ही स्वप्न । दीखे क्षणभर ॥ ४८ ॥

फिर जो भाता है दैवत । जिसका यजन सतत ।
होता है वही जिसे प्राप्त । धनंजय ॥ ४९ ॥

यहां जिसके तनमन प्राण । करता सतत मेरा स्मरण ।
होता है जब उसका निर्वाण । पाता मद्रूप ॥ १५० ॥

उसी श्रद्धा-शक्तिसे तो पूजते उस रूपको ।
मांगे जो उससे भोग पाते मेरे विधानसे ॥ २२ ॥

नाशवंत फल पाते जन जो अल्प बुद्धिके ।
देवोंके भक्त देवोंको मेरे जो मुझसे मिले ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

किंतु ऐसा न करके प्राणिजात । व्यर्थ ही खोता है जो अपना हित ।
मानो तैरते हैं जलमें सतत । हथेलीके ही ॥ ५१ ॥

या अमृतकुंडमें डूबकर । होठोंको दृढतासे दबाकर ।
स्मरण करता है निरंतर । डबरेका पानी ॥ ५२ ॥

किसलिये यह ऐसा करना । अमृतमें डूबकर मरना ।
सुखसे अमर क्यों नहीं होना । अमृतमें ही ॥ ५३ ॥

फलाशाका पिंजडा तजकर । अनुभव पंखसे धनुर्धर ।
क्यों न करें चिदंबर संचार । समर्थ भावसे ॥ ५४ ॥

चिदाकाशमें ऊंचाई पर । करें सुखसे उन्मुक्त संचार ।
उसका है अनंत विस्तार । अपनाही ॥ ५५ ॥

असीम पर क्यों सीमाका नियमन । मुक्त निराकारको आकार बंधन ।
स्वयंसिद्धका करना क्यों बलिदान । साधन पर ॥ ५६ ॥

किंतु मेरा यह कथन । विचारांतमें भी अर्जुन ।
न करेगा जीवोंका मन । इसका स्वीकार ॥ ५७ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

मैं सर्वव्यापी हूं किंतु—

क्यों कि योगमायाके परदेसे । अंधत्व आनेके कारणसे ।
न देखता प्रकाश बलसे । मुझको कभी ॥ ५८ ॥

पूजते व्यक्त हो रूप बुद्धि-हीन न जानके ।
अव्यक्त श्रेष्ठ जो रूप मेरा अंतिम शाश्वत ॥ २४ ॥

घिरा मैं योग मायासे न हूं प्रकट विश्वसे ।
अजन्मा नित्य मैं ऐसा न जाने मूढ लोग जो ॥ २५ ॥

ऐसा देखे तो मैं नहीं । ऐसी वस्तु नहीं कहीं ।
जैसा पानी होता नहीं । रसके बिना ॥ ५९ ॥

पवन किसको नहीं छूता । आकाश कहां नहीं रहता ।
वैसी ही सर्वत्र व्यापकता । एक मात्र मेरी ॥ १६० ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अतीतमें जितने भूत । मैं ही वे जान तू सतत ।
आज हैं विश्वमें जो पार्थ । वे भी मैं हूं ॥ ६१ ॥

भविष्यमें होंगे जितने ही । अलग मुझसे वे भी नहीं ।
यह बात है कहनेकी ही । वैसा न होता कछु ॥ ६२ ॥

अजी ! रज्जूके भुजंगको जैसे । काला पीला न कह सके ऐसे ।
भूतमात्र सब मिथ्यापनसे । हैं अनिश्चित ॥ ६३ ॥

सदा मैं सुन पांडुसुत । होने पर भी अखंडित ।
संसार ग्रस्त सब भूत । अन्य प्रकारसे ॥ ६४ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

कहता हूं इसका कारण । अब तू ध्यान देकर सुन ।
अहंकार-तनका वरण । हुआ तब ॥ ६५ ॥

जन्म हुआ कुमारीका । आया उसे यौवन कामका ।
हुआ द्वेषसे ब्याह उसका । सुनो तब ॥ ६६ ॥

आपत्य हुआ उन दोनोंके । द्वंद्व मोह नाम हैं उनके ।
बड़े वह प्यारमें दादाके । जो था अहंकार ॥ ६७ ॥

हुये जो और जो होंगे भूत हैं आज जो यहां ।
सबको जानता हूं मैं मुझे कोयी न जानते ॥ २६ ॥

राग औ' द्वेषसे ऊठे चित्तमें मोह-द्वंद्व जो ।
जगतके सभी प्राणि घिरे हैं इससे यहां ॥ २७ ॥

धृतिका जो प्रतिकूल रहता । आशा-रससे परिपुष्ट होता ।
नियमका अनादर करता । द्वंद्व-मोह ॥ ६८ ॥

असंतुष्टताकी मदिरा । मत्त होकर धनुर्धर ।
विकार स्त्री-सह संसार । करता विषयोंमें ॥ ६९ ॥

जिससे भाव-शुध्दिकी राह पर । फैलाये विकल्पके कांटे अपार ।
खुल जाते तब कुपथ दो चार । अप्रवृत्तिके ॥ १७० ॥

इसने प्राणि गड़बडाये । संसार खडियामें फंसाये ।
फिर दंडुकेसे पिटवाये । महा-दुःखके ॥ ७१ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

भाव-शुध्दिकी राह पर । विकल्प-शूल देखकर ।
नहीं आते जो लौट कर । बुध्दि-भ्रमसे ॥ ७२ ॥

थोडेसे जो मद्रूप होते हैं उनको अंतकालमें दुःख नहीं होता--

पगसे ही एक-निष्ठाके । शूलांकुरोंको विकल्पके ।
रौंध छोडे महा-पापके । वन-प्रांत ॥ ७३ ॥

सत्कर्मकी फिर दौड़-लगायी । मेरे सामिप्यकी मंजिल पायी ।
महा-विपत्तिसे जान बचायी । बटमारोंके ॥ ७४ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्मतद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

सहज ही सोचने पर पार्थ । जन्म मरणकी मिटती कथा ।
इस भ्रांतिके प्रयत्नोमें आस्था । उत्पन्न होती ॥ ७५ ॥

गलाये जिसने पाप अपने पुण्य कर्मसे ।
दृढतासे भजते वे द्वंद्व मोह हटाकर ॥ २८ ॥

जुटे मेरे सहारे जो जीतते जन्म मृत्युको ।
जानते ब्रह्म वे पूर्ण तथा अध्यात्म-कर्म भी ॥ २९ ॥

उनका वह यत्न ही एक काल । देता समग्र पर-ब्रह्मका फल ।
पक्वतामें चूता रस पल पल । तब पूर्णताका ॥ ७६ ॥

कृतार्थतासे विश्व जब भरता । मिटती है अध्यात्मकी अपूर्णता ।
तथा कर्मका काम नहीं रहता । होता मन विलय ॥ ७७ ॥

उसकी ऐसा अध्यात्म लाभ । होता है सुन पुरुषर्षभ ।
उसका पूंजी हूं मैं सुलभ । इस उद्यममें ॥ ७८ ॥

साम्यके वृध्दिसे उसके । सधते व्यापार उसके ।
वहां दारिद्र्य जो द्वैतके । रहता नहीं ॥ ७९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

सब अधिभूत मुझको । प्रतीतिसे अधिदैवको ।
जिन्होंने जाना यथार्थको । धनंजय ॥ १८० ॥

अनुभवके ज्ञान बलसे । जानता मैं अधियज्ञ इसे ।
वह शरीरके वियोगसे । अकुलाता नहीं ॥ ८१ ॥

अन्यथा आयुष्य सूत्र जब टूटता । प्राणियोंका तब हृदय तड़पता ।
सजीवके चितमें भी युगांत आता । देखकर यह ॥ ८२ ॥

किंतु यह नहीं जाने कैसा । ज्ञानियोंका नहीं होता ऐसा ।
अंतकालमें भी वह सहसा । मुझे भूलते नहीं ॥ ८३ ॥

अन्यथा तू यह जान । ऐसे जो महा-निपुण ।
औ' युक्त अंतःकरण । योगी हैं वही ॥ ८४ ॥

सातवे अध्यायका ज्ञानेश्वर कृत उपसंहार और आठवेकी भूमिका—

तब यह शब्द कूपका तल । न पहुंचा पार्थ कर-कमल ।
पल एक पार्थ था उस काल । पिछडा हुआ ॥ ८५ ॥

अधिभूताधि दैवोंमें मुझे जो अधि-यज्ञमें ।
प्रयाण-कालमें भी जो जानते रह सावध ॥ ३० ॥

जहां तद्ब्रह्मवाक्फल । जो ज्ञानार्थसे रसाल ।
साभिप्राय परिमल । भावोंके हैं ॥ ८६ ॥

जो सहज कृपामंदानिल । कृष्णाद्रुमका वचन-फल ।
लाया अर्जुन श्रवण-तल । अकस्मात ॥ ८७ ॥

जो ये तत्व सिद्धांतसे बनाये । ब्रह्म-रस सागरमें हैं डुबोये ।
फिर वैसे ही थे जो पगाये । परमानंदमें ॥ ८८ ॥

उसके निर्मल सौंदर्यसे । ज्ञान-उन्मेशकी वासनासे ।
चूने लगा पार्थकी जिव्हासे । विस्मयामृत ॥ ८९ ॥

लाभसे उस सुख-संपत्तिके । सुरसुराहटसे हृदयके ।
व्यंग दिखाकर स्वर्ग-सुखके । हंसने लगा ॥ २९० ॥

फलका बाह्य सलोनापन । अनुभव करके अर्जुन ।
रस-स्वादमें रसना मन । खो बैठा सहज ॥ ९१ ॥

उठाकर वह वाक्फल । अनुमानका करतल ।
प्रतीति-मुखमें तत्काल । भरने लगा ॥ ९२ ॥

किंतु विचार मुखमें न समाता । हेतुका दांत नहीं काट सकता ।
इसलिये पार्थ मुख न लगाता । उस फलको ॥ ९३ ॥

कहता तब अर्जुन हो चमत्कृत । तारागण ये जलमें प्रति-बिंबित ।
ऐसे हैं तेरे ये वाक्फल सुशोभित । इसमें मैं उलझा ॥ ९४ ॥

नहीं ये तेरे साधारण शब्द । है अनुभव-गगन विषद ।
थाह न पाती बुध्दि भाव-पद । डूब जाती है ॥ ९५ ॥

मनमें जान यह गोष्टि । कृपार्थ पुनः किरीटी ।
पुनरपि घुमाता दृष्टि । कृष्ण चरणमें ॥ ९६ ॥

विनय करता अर्जुन । ये सात ही पद नवीन ।
ग्रहण न करते कान । आश्चर्यकारक ॥ ९७ ॥

श्रवण करके ही ये केवल । इनके प्रमेयोंका जो है जाल ।
करेगा मन इन्हे करतल । ऐसे लगा था ॥ ९८ ॥

ऐसा नहीं यह निश्चय । देख अक्षर समुदाय ।
है साश्चर्य-जीव आश्चर्य । देव मेरा ॥ ९९ ॥

कानोंके इन गवाक्षोंसे । शब्द-किरण प्रवेशसे ।
मन हुआ चमत्कृतिसे । चकित मेरा ॥ २०० ॥

चाहता मैं भावको जानना । कहनमें समयको खोना ।
कष्ट कर प्रभु निरूपण । कर तू सत्वर ॥ १ ॥

पीछेका कर अवलोकन । अगले पर रख नयन ।
स्व-इच्छाका भी कर दर्शन । पूछना चतुराइसे ॥ २ ॥

देख अर्जुनका चतुरपन । न कर मर्यादाका उलंघन ।
करता हृदयका आलिंगन । श्रीकृष्णके ॥ ३ ॥

कैसे पूछना है प्रश्न । रखकर अवधानं ।
जानता यह अर्जुन । भली भांति ॥ ४ ॥

अर्जुनका है ऐसा पूछना । श्रीकृष्णका भाव समझाना ।
संजयको भाये ये वचन । कहेगा वह प्रेमसे ॥ ५ ॥

सुनो उस संवादको दे ध्यान । करूंगा देश भाषामें कथन ।
कानसे आगे करके नयन । जानेंगे वह ॥ ६ ॥

बुध्दि-जिव्हासे चखनेसे पूर्व अक्षर । देखकर नयन उनका अलंकार ।
अनुभवेंगे इंद्रिय अपरंपार । सुख संतोषको ॥ ७ ॥

जैसे मालतीका फूल । घ्राणसे है परिमल ।
लेनेसे पूर्व कोमल । सुख लेते नयन ॥ ८ ॥

वैसे है देशीका जो सौंदर्य । करायेगा इंद्रियसे राज्य ।
फिर करेगा वह प्रमेय- । सुधा-पान ॥ ९ ॥

जहां होती है वाचा मौन । वह करूंगा मैं कथन ।
यह ज्ञानदेव-वचन । जो हैं निवृत्ति-दास ॥ २१० ॥

गीता श्लोक ३०

ज्ञानेश्वरी ओवी २१०.



८

सातत्ययोग

अर्जुन उवाच

किं तद्‌ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनके सात प्रश्न—

फिर कहा अर्जुनने । जी सुनलिया मैंने ।
अब जो पूछा मैंने । कहो वह ॥ १ ॥

कहो क्या है वह ब्रह्म । किसका नाम है कर्म ।
अथवा क्या है अध्यात्म । कहो मुझे ॥ २ ॥

प्रभो ! अधिभूत यह है कैसे । औ' अधिदैवत कहते किसे ।
यह सुनाओ प्रकट रूपसे । जो मैं समझूं ॥ ३ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

प्रभो अधियज्ञ क्या है । इस देहमें कौन है ।
समझमें न आता है । अनुमानके भी ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा

किसको कहते ब्रह्म तथा अध्यात्म-कर्म क्या ।
अधिभूत कहो क्या है तथा क्या अधिदेव भी ॥ १ ॥

अधियज्ञ यहां कौन कैसा है इस देहमें ।
कैसे प्रयाणमें योगी निग्रही जानते तुझे ॥ २ ॥

तथा कैसे किया नियतांत:करण । प्रायाण-कालमें कैसे हो तव ज्ञान ।
वह कैसे कहो तुम मुझे श्रीकृष्ण । पूर्ण-रूपसे ॥ ५ ॥

ज्ञान देनेमें उदार प्रसन्न प्रभु—

कोई सोया घरमें चिंतामणिके । यदि योगसे ही अपने भाग्यके ।
बोल भी उसके बडबडानेके । न जाते व्यर्थ ॥ ६ ॥

अर्जुनके शब्दके साथ । मनमें कहते हैं नाथ ।
"तूने पूछा यही उचित ।" सुन तू अब ॥ ७ ॥

शावक है अर्जुन कामधेनुका । आसरा है ऊपर कल्पतरुका ।
होना उसके मनोरथ सिद्धिका । आश्चर्य क्या ॥ ८ ॥

क्रोधसे देता प्रभु जिसको मार । उसको होता है ब्रह्म साक्षात्कार ।
जिसको देता वह सीख कृपाकर । उसको क्या न मिलेगा ॥ ९ ॥

जब होते हम श्रीकृष्ण-शरण । कृष्ण होता अपना अंत:करण ।
तब अपना संकल्पका अंगन । भरता महा-सिद्धिसे ॥ १० ॥

किंतु ऐसा जो प्रेम । पार्थमें है नि:स्सीम ।
तभी उसका काम । सदा फलता ॥ ११ ॥

इस कारण ही वह अनंत । जानकर उसका मनेरथ ।
भर रखता थाली पक्वानयुत । ज्ञानान्नसे आप ॥ १२ ॥

आपत्य जब स्नेहसे दूर होता । भूख उसकी अनुभवती माता ।
नहीं तो क्या वह शब्दसे कहता । मुझे दूध दे री ॥ १३ ॥

कृपालु गुरुदेवके यहां । आश्चर्य नहीं इसका जहां ।
जाने दो यह प्रभुने वहां । कहा क्या सुनो ॥ १४ ॥

भगवान उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वाभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्री भगवानने कहा

ब्रह्म अक्षर है श्रेष्ठ अध्यात्म निज-भाव जो ।
भूत-सृष्टि सजाता जो वह व्यापार कर्म है ॥ ३ ॥

सभी साकार वस्तुओंमें ओतप्रोत अविनाशी-तत्व है ब्रह्म—

कहता है तब सर्वेश्वर। टूटे हुए हैं सब आकार।
उसमें भी जो ठूंसने पर। टूटता नहीं ॥ १५ ॥

देखने पर वैसी उसकी सूक्ष्मता। शून्य किंतु शून्य नहीं है स्वभावता।
गगनसे वह है छननेमें आता। जो है सूक्ष्मतम ॥१६॥

इस भांती यह विरल होकर। विज्ञान-पटमें भर हिलने पर।
चूता नहीं जो वह पांडुकुमार। परब्रह्म है जान ॥ १७ ॥

सहज नित्यत्व है आध्यात्म

तथा जो आकारके साथ। न जानता जन्मकी बात।
आकार-लोपमें समस्त। न जानता नाश ॥ १८ ॥

जो है आपना ही सहजत्व। जिसको है ब्रह्मका नित्यत्व।
यही है जो सहज-नित्यत्व। कहलाता अध्यात्म ॥ १९ ॥

बिना कर्ताके अव्यक्तमें दीखनेवाली हलचल कर्म है—

जैसे गगनमें निर्मल। न जाने कैसे किसी काल।
उमड फैलते बादल। नाना रंगके ॥ २० ॥

उस विशुद्ध अमूर्तमें जैसे। महत्तत्वादि जो भूत भेदसे।
ब्रह्मांडके विभिन्न अंकुरसे। फूटने लगते ॥ २१ ॥

निर्विकल्पके उस ऊसर पर। फूटता आदि संकल्पका अंकुर।
फिर बनते जाते घने आकार। ब्रह्म-गोलके ॥ २२ ॥

देखनेसे एकेकके भीतर। भरा है बीजसे ही भरपूर।
होने-जाने वाले जीवोंकी अपार। गणना ही नहीं ॥ २३ ॥

फिर उन ब्रह्मगोलकोंके जो अंशांश। जानते आदि संकल्प असम साहस।
जिससे बढ़ती ही जाती है अनायास। सृष्टि सर्वत्र ॥ २४ ॥

पर एक ही है दूसरेके बिन। पर-ब्रह्म ही भर रहा संपूर्ण।
यहां अनेकत्वका आया महान। पूर जैसा ॥ २५ ॥

न जाने सम विषम आये कैसे। व्यर्थ ही चराचर रचते ऐसे।
औ' प्रसव योनिके अनंत जैसे। दीखते प्रकार ॥ २६ ॥

यहां है जीव-भावके कोंपल। गणनातीत दीखते सकल।
देखें तो इनके जन्मका मूल। वहां है शून्य ॥ २७ ॥

मूलमें कर्ता कोई दीखता नहीं। तथा कारण कुछ नहीं कहीं।
किंतु कार्य आप रुकता ही नहीं। बढ़ता जाता ॥ २८ ॥

ऐसे कर्ताके बिन गोचर। अव्यक्तमें जो यह आकार।
निपजता है यह व्यापार। उसका नाम कर्म ॥ २९ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैमतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

बादलके समान जो बनता और बिगडता है वह अधिभूत—

अब जो अधिभूत कहलाता। वह भी संक्षेपमें हूं कहता।
जो है बनता और बिगड़ता। बादल जैसा ॥ ३० ॥

ऐसा व्यर्थ है अस्तित्व जिसका। न होता सहज-रूप जिसका।
पांच मिल लाते रूप जिसका। धनुर्धर ॥ ३१ ॥

पंच भूतोंका आश्रय लेकर। उनके संयोगसे ले आकार।
और वियोगमें है जाता मर। नाम रूपादिक ॥ ३२ ॥

अहंकारसे अलग-सा बना आत्मा ही अधिदैव—

यह है अधिभूत कहलाता। पुरुष अधिदैव कहलाता।
जो प्रकृति उपार्जित भोगता। भोग सर्व ॥ ३३ ॥

चक्षु है जो चेतनका। अध्यक्ष है इंद्रियोंका।
वृक्ष संकल्प-पक्षिका। देहांतमें ॥ ३४ ॥

परमात्मा ही है जो किंतु भिन्न। है अहंकार निद्रामें मगन।
इसीलिये स्वप्नमें होता खिन्न। अथवा प्रसन्न भी ॥ ३५ ॥

अधि-भूत विनाशी जो जीवत्व अधि-दैवत ।
अधि-यज्ञ स्वयं मैं हूं देहमें यज्ञ-मूत जो ॥ ४ ॥

कहलाता यह जीव। जैसा इसका स्वभाव।
इसे जान अधिदैव। पंचायतनका ॥ ३६ ॥

शरीर भाव रहित आत्मा अधियज्ञ --

यहां शरीर-ग्राममें जान। शरीर-भाव उपशमन।
करता हूँ अधियज्ञ बन। पांडुकुमार ॥ ३७ ॥

यह सब मैं ही हूँ, अविद्याके कारण भिन्नता दीखती है—

यहां अधिदैवाधिभूत। यह सब मैं हूँ समस्त।
वंगयुत स्वर्ण जो नित। हीन होता जैसे ॥ ३८ ॥

फिर भी न मलता कांचन। नहीं होता वंगके समान।
किंतु मिल वंगसे हीन। कहलाता है ॥ ३९ ॥

वैसे अधिभूतादि सब। अविद्या सहित हो तब।
अलग मानते हैं जब। धनंजय ॥ ४० ॥

अविद्याका पटल उठता। भेद-भावका अंत है होता।
और दोनोंका एक रूप होता। तो वे दो थे क्या ? ॥ ४१ ॥

सलौनी अलक लट एक। स्फटिक शिलातलमें रख।
ऊपरसे उसे जब देख। लगती टुटी हुई ॥ ४२ ॥

जैसे अलक-लट हटायी। न जाने दरक कहां गयी।
अंक देकर की क्या जुडायी। स्फटिक-शिलाकी ॥ ४३ ॥

मूलकी वह जो अखंडित थी। केश-संगसे खंडित हुई थी।
उसके हटनेसे ही आयी थी। मूल रूपमें ॥ ४४ ॥

ऐसा अहंभाव जब जाता। मूलमें रहती है एकता।
जहां हो ऐसी वास्तविकता। वह अधियज्ञ मैं ॥ ४५ ॥

किंतु हमने अब तुझ। सकल-यज्ञ हैं कर्मज।
कहा धरकर जो काज। मनमें पार्थ ॥ ४६ ॥

विश्राम जो जीव-जातिका। निधान नैष्कर्म्य-सुखका।
प्रकट रूप मैं उसका। कहता पार्थ ॥ ४७ ॥

वैराग्य और अभ्याससे अविद्या-मल दूर करो—अधियज्ञ

वैराग्य इंधनसे भरपूर। इंद्रियानल प्रज्वलित कर।
विषय-द्रव्य आहुति देकर। उसमें तब ॥ ४८ ॥

वज्रासन धरातल बनाकर। आधार-मुद्रा-वेदिका रचकर।
शरीर-मंडपका शोधन कर। अनंतर पार्थ ॥ ४९ ॥
कुंडमें संयमाग्निके। मंत्र-घोशसे युक्तिके।
देना इंद्रिय-द्रव्यके। शाकल्य नित्य ॥ ५० ॥
फिर मन-प्राण तथा संयम। है हवन संप्रदाय संभ्रम।
इससे तुष्ट करना निर्धूम। ज्ञानानल ॥ ५१ ॥
ऐसा यह सकल-साधन। ज्ञानाग्निमें करनेसे अर्पण।
ज्ञेयमें लय होकर ज्ञान। ज्ञेय ही रहता ॥ ५२ ॥
इसका नाम अधियज्ञ। ऐसा बोला है जब सर्वज्ञ।
तब पार्थने जो अति प्राज्ञ। जान लिया पूर्ण ॥ ५३ ॥

अंतकालकी स्थितिका वर्णन—

जानकर यह बोले कृष्ण। कर रहा है न तू श्रवण।
देख कृष्णका मुदित मन। खिल उठा पार्थ ॥ ५४ ॥
सन्तानकी तृप्तिसे तृप्त होना। या शिष्यकी पक्वतासे खिलना।
जानते मात्र सद्‌गुरु महान। या जन्मदात्री ॥ ५५ ॥

तब खिल उठे सात्विक-भाव। नारायणमें नरसे भी पूर्व।
किंतु समता-बुद्धिसे ही देव। संयत आप ॥ ५६ ॥
पक्व-फलका है परिमल। या शीतल अमृत-कल्लोल।
वैसे कोमल तथा सरल। बोले शब्द ॥ ५७ ॥
श्रोतृ-श्रेष्ठ तू अर्जुन। मेरी बात यह सुन।
जलानेवाला जो ज्ञान। जलाता मायाको ॥ ५८ ॥

> अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्
> यः प्रयाति समद्भाव याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

प्रयाण कालमें भी जो मेरे ही ध्यानमें रत।
जाते हैं तजके देह मिलता मुझ निश्चित ॥ ५ ॥

मेरे स्मरण-पूर्वक जो शरीर छोड़ता है वह मद्रूप होता है—

अधियज्ञ कहते हैं जिसे। अभी कहा था तुझसे ऐसे।
जीवनमें जो जानते उसे। औ' मरते समय भी ॥ ५९ ॥

शरीर एक झोल मानकर। अपनेमें ही आप होकर।
मठ जैसे व्योमसे भर कर। रहता उसीमें ॥ ६० ॥

इस प्रतीतिके अंगनमें। निश्चलताके अंत:कक्षमें।
सोते हैं सो विषयोंको उनमें। नहीं प्रवेश ॥ ६१ ॥

अंतर्बाह्य ऐसा ऐक्य भरा है। जो आप मद्रूप बन गया है।
पंच-भूतोंका झोल उतरा है। अनजाने बाहर ही ॥ ६२ ॥

जीवनमें उभयत्व नहीं जिसके। मरणमें संकर कैसे जी उनके।
तभी न हिले अनुभूति उदरके। निश्चय रूप जो ॥ ६३ ॥

वह है ऐक्य रससे ढली हुई। या नित्यता हृदयमें बसी हुई।
या समरस-सिंधुसे धुली हुई। न होती जो मलिन ॥ ६४ ॥

मटका अथाह पानीमें डूब कर। जलसे भरकर अंदर बाहर।
दैव गतिसे मानो टूटा वहीं पर। तब होगा क्या रीता? ॥ ६५ ॥

या सांपने केंचुला उतारा। या किसीने कपडा उतारा।
इससे टूटा क्या अंग सारा। या अवयव ॥ ६६ ॥

वैसा है भासमान शरीराकार। गिरता तब आत्मवस्तु अंतर।
भरा है बोधसे जहां भरपूर। अपनेमें आप ॥ ६७ ॥

मुझे इस प्रकार। अंतमें जानकर।
छोडते हैं शरीर। होते हैं मद्रूप ॥ ६८ ॥

इसलिये तू मेरे स्मरण पूर्वक युद्ध-रत हो जा—

अथवा वैसे भी साधारण। जिसे स्मरता अंत:करण।
प्राप्त करता है जो मरण। तद्रूप होता ॥ ६९ ॥

कोई एक अकुलाहटसे। भागते हुए वायु-वेगसे।
सहसा फिसलकर जैसे। गिरा कुएमें ॥ ७० ॥

गिरनेसे पहले गिरनेसे-। बचानेका उपाय न होनेसे।
गिरना ही पड़ता है वैसे। किसी मनुष्यको ॥ ७१ ॥

वैसे मृत्युके अवसरपर। बढता जो जीव सम्मुख आकर।
उसमें ही चित्तका उलझकर। तद्रूप होना पडता ॥ ७२ ॥

जागृतिमें जिसकी लगन। करता मन उसका ध्यान।
देखता वही निद्रामें स्वप्न। पांडुकुमार ॥ ७३ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा मेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

वैसे ही जीवनमें सतत। जीव रहता चावसे नित।
जिसमें आसक्त वही बात। आती मृत्यु समय ॥ ७४ ॥

मरणमें जिसका जो स्मरण। उसकी होती वही गति जान।
इसलिये कर सदा स्मरण। मेरा ही तू ॥ ७५ ॥

आंखोंसे जो देखना। कानोंसे जो सुनना।
मनमें जो भावना। बोलना वाणीसे ॥ ७६ ॥

संपूर्ण हो अंदर बाहर। मद्रूप ये सभी व्यवहार।
फिर सहज ही निरंतर। मै ही हूं ॥ ७७ ॥

अजी! हुआ इस भांति ही जब। न मरता देह गिरा थी तब।
संग्राम करने पर भी अब। भय रहा कहां ॥ ७८ ॥

मन बुद्धि तू संपूर्ण। मुझमें कर अर्पण।
मद्रूप होगा तत्क्षण। प्रण है मेरा ॥ ७९ ॥

लीन हो जिसमें जीव अंतमें देह त्यागता।
पाता है जो वही भाव जिसमें नित्य ही रत ॥ ६

तभी अखंड ही मेरा स्मरण कर जूझ तू।
मन-बुद्धि मुझे देके पायेगा मुझ निश्चित ॥ ७ ॥

इसलिये मेरे स्मरणका अभ्यास कर–

यह स्थिति होगी कैसे। यदि है संदेह वैसे।
देख साधना कर ऐसे। तब दे दोष ॥ ८० ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अजी! अभ्यास-योग बलसे। चितको जोड़ तू भलाईसे।
लूला भी है उपाय बलसे। चढ़ता पहाड़ ॥ ८१ ॥
वैसे अभ्याससे निरंतर। परम-पुरुषकी मुहर।
लगा चित पर फिर शरीर। रहे या ना रहे ॥ ८२ ॥
नाना वृत्तियोंमें जो डूबता। वह जब आत्मको वरता।
तब तन रहता या न रहता। स्मरता कौन ॥ ८३ ॥
सरिता-प्रवाहके जो साथ। सागरसे मिलता सतत।
वह जल देखता क्या बात। पीछे होता है क्या? ॥ ८४ ॥
जैसे वह समुद्र बन जाता। वैसे चितका चैतन्य हो जाता।
वहां जन्म-मरण ही मिटता। जो है घनानंद ॥ ८५ ॥

कविं पुराणमनुशासितारम्
अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

ब्रह्मका और योगका स्वरुप

अस्तित्व जिसका आकार रहित। जन्म-मृत्यु बिन रहता सतत।
वह है पूर्णत्वसे पूर्ण भरित। देखता पूर्ण ॥ ८६ ॥

जुटे अभ्यासमें चित्त न करें अन्य चिंतन।
योगी निश्चित पाता है महा-पुरुष दिव्यको ॥
सर्वज्ञ कर्ता कवि जो पुराण
है सूक्ष्मसे सूक्ष्म अचिंत्य रूप।
आदित्य दीप्ती तमसे परे जो
जगन्नियंता स्मरता सदा ही ॥ ९ ॥

गगनसे जो प्राचीन। परमाणुसे महीन।
जिसका है सन्निधान। चलाता विश्व ॥ ८७ ॥
प्रसवता है जो सब। जीते हैं उससे सब।
उटता तर्क भी सब। वह है अचिंत्य ॥ ८८ ॥
आगमें दीमक नहीं लगती। तेजमें जैसे रात नहीं आती।
किंतु स्थूल-दृष्टि नहीं देखती। स्वरूप-तेज ॥ ८९ ॥
जो है सूर्यकणोंका निधान। ज्ञानियोंका नित्योदय जान।
नहीं है जिसको अस्तमान। नाम-मात्र ॥ ९० ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

प्राप्त होते ही मरण-काल। स्थिर-चित्तसे है जो तात्कल।
स्मरता परब्रह्म सकल। अव्यंग जान ॥ ९१ ॥
पद्मासनमें रख शरीर। उत्तराभिमुख बैठकर।
हृदयमें सुख रखकर। सत्कर्मका ॥ ९२ ॥
अन्तः मिलनके मनो-धर्मसे। स्वरूप-प्राप्तिके अनुरागसे।
आत्म मिलनके समारोहसे। मिलनेके लिये ॥ ९३ ॥
जो आकलन योगसे। सुषुम्ना-मध्यमार्गसे।
निकले अग्नि-स्थानसे। ब्रह्मरंद्र ॥ ९४ ॥
वहां प्राण तथा चित्तका। भास होता है संबंधका।
जहां है प्राण संचारका। मूर्ध्न्याकाश ॥ ९५ ॥
मन-स्थिरतासे धरा हुआ। भक्ति-भावनासे भरा हुआ।
योग-बलसे जो सधा हुआ। सज्ज होकर ॥ ९६ ॥

प्रयाण-काले स्थिर-चित्त होके
सद्भक्तिसे निश्चल योग-युक्त।
भ्रू-मध्यमें प्राण जो है टिकाता
वह योगि पाता सु दिव्य-धाम ॥ १० ॥

जड़ाजड़को घुलाता। भ्रूमध्यमें लय होता।
घंटानाद लय होता। घंटामें ही वैसे ॥ ९७ ॥

अथवा ज्योति घटमें ढ़की। न जाने क्या हुई है कबकी।
ऐसी मृत्यू आती है उसकी। पांडुकुमार ॥ ९८ ॥

ऐसा होता है वह पर-ब्रह्म। परम-पुरुष जिसका नाम।
ऐसा है वह मेरा निजधाम। स्वयं है वह होता ॥ ९९ ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

वेदोंको भी अगम्य ब्रह्म-पद प्राप्त करनेका साधना मार्ग—

सकल-ज्ञानका अंत है जो ज्ञान। उस ज्ञानकी एक-मात्र खान
अक्षर कहते उसे ज्ञानी-जन। धनुर्धर ॥ १०० ॥

आंधीमें न उड़ता जान। होता जैसे स्वयं-गगन।
यदि हो वह जैसा घन। टिकता कैसे ॥ १ ॥

ज्ञानका विषय होनेसे। गुना गया जो ज्ञानसे।
वृत्ति-ज्ञान लय होनेसे। कहा अक्षर सहज ॥ २ ॥

तभी वेद-विद नर। कहते उसे अक्षर।
प्रकृतिसे जो है पर। परमात्म-रूप ॥ ३ ॥

विषयोंको विष मानकर। इंद्रिय सबको शुद्ध कर।
देह-वृक्ष सायाके अंदर। बैठे है शांत ॥ ४ ॥

इस भांतिसे जो विरक्त। देखते निरंतर पथ।
निष्कामसे हैं अभिप्रेत। सर्वदा जो ॥ ५ ॥

गाते जिसे अक्षर वेद—वेत्ता
विरक्त जाके जिसमें समाते।
जो ब्रह्मचारी पद चाहते हैं
तुझे कहूंगा वह तत्व-सार ॥ ११ ॥

उसके प्रेमसे साधक जन। साधते हैं ब्रह्मचर्य कठिन।
इंद्रियोंपर करके शासन। कठोर नित्य॥ ६ ॥

ऐसा जो महत्पद। दुर्लभ औ' अगाध।
तट पर ही वेद। खडे अगम्य हो॥ ७॥

ऐसा जिसका लय होता। वह स्वयं वह बनता।
कैसा यह तुझे कहता। मैं फिर एक बार॥ ८॥

अर्जुन कहता नारायण। यही पूछता था मेरा मन।
सहज कृपा की सकरुण। कहिये जी॥ ९॥

किंतु कहना अति ही सरल। बोले त्रिभुवन-दीप ये बोल।
जानते हैं तेरा मन निर्मल। कहूंगा संक्षेपमें ॥ ११० ॥

मनकी लत होती बहिर्मुख। उसको तोड़कर स्वाभाविक।
करना है उसको अंतर्मुख। हृदय-तलमें॥ ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायाऽत्मनः प्राणमस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

बहिर्मुख मनको अंतर्मुख करनेकी साधना—

किंतु तभी है यह घड़ता। जब संयमकी कड़ी लगाता।
सर्व-द्वारमें अनवरत। निग्रहसे॥ १२॥

स्वभावसे ही संयत मन। घर करता अन्तःकरण।
टूटे जिसके कर-चरण। घर न छोड़ता वैसे॥ १३॥

जब होता चित्त ऐसा स्थिर। तब कर प्राणका ओंकार।
लाओ उसको मूर्ध्न्याकाशपर। सुषुम्ना मार्गसे॥ १४॥

लय होता न होता आकाशमें। ऐसा धरना है उसे धारणामें।
होता है मात्रात्रय अर्ध-बिंदुमें। तब विलीन॥ १५॥

तब तो वह समीर। गगनमें कर स्थिर।
ऐक्यमें जैसे ओंकार। लय कर बिंदुमें॥ १६॥

रोकके इंद्रिय-द्वार जकडे मन अंतर।
तालुमें रखके प्राण करते योग-धारणा॥ १२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

तब मिटता है ओं स्मरण । लय होता गगनमें प्राण ।
प्रणव अन्तमें पूर्ण घन । रहता तब ॥ १७ ॥

तभी प्रणवैक नाम । यह एकाक्षर ब्रह्म ।
वह मद्रूप परम । जपते हुए ॥ १८ ॥

जो छोड़ देता है तन । त्रिशुद्धि मुझमें लीन ।
नहीं उसे मेरे बिन । गति अन्य ॥ १९ ॥

मृत्यु समय असहाय स्थितिमें भगवत्स्मरण होगा क्या ?—

अंतकालका स्मरण । करना सच अर्जुन ।
यह विचारता मन । कैसा होगा ॥ १२० ॥

इंद्रियां शिथिल होकर । जीवन-सुख डूब कर ।
मृत्यु-चिन्ह अंतर्बाहर । दीखने लगे ॥ २१ ॥

तब बैठ कर भला कौन । करेगा निरोध औ' धारण ।
कैसा करेगा अंतःकरण । स्मरण प्राणका ॥ २२ ॥

यदि ऐसा हो तेरा मन । संदेहात्मका तो अर्जुन ।
नित्य सेव्य मैं सेवालीन । होता हूं अंतमें ॥ २३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
सस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानःसंसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

करें ॐच ब्रह्म उच्चार मनमें स्मरते मुझे ।
ऐसे जो तनको त्यागे पाता है गति उत्तम ॥ १३ ॥
अनन्य चित्त जो नित्य सदैव स्मरता मुझे ।
लीन जो मुझमें योगी पाता है सुखसे मुझे ॥ १४ ॥
मुझमें मिलके पाये महात्मा मोक्ष-सिद्धि जो ।
दुःखका घर जो जन्म न पाते हैं अशाश्वत ॥ १५ ॥

जीवन भर जो मेरी सेवा करता है अंतकालमें मैं उसकी सेवामें आता हूँ—

विषयोंको तिलांजलि देकर। प्रवृत्तिका जो निरोधकर।
हृदयमें मद्रूप निरंतर। अनुभवते हैं। ॥ २४ ॥

उस अनुभवका जो भोग। कराता क्षुधा-तृषाका त्याग।
वहां चक्षु आदिकी मांग। रहती कहां ॥ २५ ॥

ऐसे एकात्म हुए निरंतर। हृदयमें मुझसे मिलकर।
समाते जो समरस हो कर। उपासनामें ॥ २६ ॥

होता जब उनका देहावसान। उनको करना है मेरा स्मरण।
तब होता यदि मेरा आगमन। तो भक्तिका मूल्य ही क्या ? ॥ २७ ॥

अंतकालमें कोई दीन। पुकार करता रूदन।
तब क्या उसके कारण। दौड़ना पड़ता मुझे ॥ २८ ॥

भक्तोंकी भी यदि यही स्थिति। तब गावें क्यों भक्तिकी महति।
न करे संदेह-ग्रस्त मति। ऐसी तू अर्जुन ॥ २९ ॥

जिस समय वह स्मरता। उस समय मैं पहुंचता।
यह बोझ भी नहीं सहता। मन मेरा ॥ १३० ॥

मान यह अपना ऋण। भक्तोंके प्रति प्रतिक्षण।
सेवा करना है लक्षण। अंतमें मेरा ॥ ३१ ॥

संभवता व्याकुलताका भाव। अनुभवेगा सुकुमार देह।
मान मैं देता हूं उनको गेह। आत्म-बोधका ॥ ३२ ॥

फिर देता मेरे स्मरणकी। छाया घनी सुशीलताकी।
तथा-दृढ बुध्दि नित्यताकी। उसको मैं ॥ ३३ ॥

अंतकालमें व्याकुल। न होते भक्त सकल।
आते अति सकुशल। मम धाममें ॥ ३४ ॥

उतारकर देहकी केंचुली। झाडकर अहंकारकी धूली।
भिझकर सद्वासना मैं भली। अपनमें समरस करता ॥ ३५ ॥

भक्तोंको भी देह-भाव नहीं। देहमें रहते हुए कहीं।
इसलिए देह त्यागमें ही। नहीं वियोग ॥ ३६ ॥

तथा मेरा आना मरण कालमें । उनके लिये करना अपनेमें ।
ऐसा नहीं है वे जीवन-कालमें । हुए हैं समरस ॥ ३७ ॥

जैसे शरीरके सलीलमें । प्रतिबिंब अस्तित्व रूपमें ।
दीखती किंतु जोस्ना साथमें । होती चद्रके ॥ ३८ ॥

ऐसा होता जो नित्य-युक्त । उसको मैं सुलभ नित ।
तभी देहांतमें निश्चित । मैं होता वह ॥ ३९ ॥

फिर क्लेश-तरुका झंझाड़ । तथा तापत्रयाग्निका कुंड ।
है मृत्यु-काकको दिया पिंड़ । उतारा हुआ ॥ १४० ॥

दु:खको जो है प्रसवता । महाभयको जो बढाता ।
सकल दु:खका बनता । मूल-धन ॥ ४१ ॥

दुर्मतिका जो है मूल । तथा कु-कर्मका फल ।
व्यामोहका है केवल । स्वरूप ही ॥ ४२ ॥

संसारका है जो आसन । औ' विकारोंका महा-वन ।
सब व्याधियोंका है अन्न । परोसा हुआ ॥ ४३ ॥

जो है मृत्युका उच्चिष्ट । तृष्णा मानो मूर्तिमंत ।
जन्म-मरणका पथ । स्वभावसे ॥ ४४ ॥

भूलोंसे जो भरा हुआ । विकल्पका ढला हुआ ।
चौड़ है जो खुला हुआ । बिच्छुओंका ॥ ४५ ॥

जो है व्याघ्रका क्षेत्र । पण्यांगनाका मैत्र ।
विषय-विज्ञान यंत्र । सुपूजित ॥ ४६ ॥

राक्षसकी करुणा-सा । शीतल विष-घूंट-सा ।
तस्करका विश्वास-सा । वह है दिखाऊ ॥ ४७ ॥

कोढ़ीका है जो आलिंगन । काल-सर्पका मृदुपन ।
तथा बहेलियाका गान । धनंजय ॥ ४८ ॥

शत्रुका अतिथि सत्कार । मानो दुर्जनका आदर ।
अथवा जो महा-सागर । अनर्थका ॥ ४९ ॥

स्वप्नका जो है देखा स्वप्न । मृगजल सिंचित वन ।
या धूम्र-जका गगन । ढला हुआ ॥ १५० ॥

ऐसा है यह शरीर । जो मेरा रूप ले नर ।
हो गये हैं जो अपार । रूपमें मेरे ॥ ५१ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

ब्रह्म, इंद्रादि भी पुनर्जन्मसे मुक्त नहीं—

वैसे ब्रह्मपद प्राप्त कर भी । न चुकता पुनरावृत्त कभी ।
किंतु मरने पर जैसा कभी । न दुखता पेट ॥ ५२ ॥

अथवा जैसे जगनेपर । नहीं डुबाता स्वप्नका पूर ।
वैसे मुझमें मिलने पर । न होता संसार लिप्त ॥ ५३ ॥

जगदाकारका शीर्ष-स्थान । चिर-स्थायित्वका है प्रधान ।
शिखर-सम ब्रह्म-भुवन । लोकाचलका ॥ ५४ ॥

उस सत्यलोकका है एक प्रहर । अमरेंद्रकी आयु भरपूर ।
उठती है पंगत दिनमें निरंतर । चौदह इंद्रोंकी ॥ ५५ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिंयुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

बदलती जब युग चौकडी हजार । तब होता ब्रह्मदेवका दिवस भर ।
सब उलटती ऐसी ही और हजार । तब होती है रात्र ॥ ५६ ॥

यह है वहांका दिन-रात । जो देखते हैं वे भाग्यवंत ।
देखते हैं यह वे स्वर्गस्थ । चिरंजीव ॥ ५७ ॥

सुरगणोंकी क्या बात । देख इंद्रकी ही गत ।
होते जाते दिनरात । चौदह इंद्र ॥ ५८ ॥

ब्रह्मादि लोक जो सारे भेजते फिर जन्ममें ।
पुनर्जन्म नहीं होता मुझसे मिलके फिर ॥ १६ ॥

सहस्र युगका होता ब्रह्मका दिन एक है ।
रात भी दिन जैसी ही कालोपासक मानते ॥ १७ ॥

ब्रह्मके जो आठ पहर । देखते हैं आंखभर ।
कहलाते यहां पर । अहोरात्रविद ॥ ५९ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

होता जब ब्रह्म-भुवनमें उदय । उसकी गणना होना अवश्यप्राय ।
ऐसे समय जो था अव्यक्तमें लय । होता व्यक्त विश्व ॥ १६० ॥

अंत होते ही दिनके चार प्रहर । सूखता है विश्वका आकार सागर ।
प्रातः समय होते ही वैसे ही फिर । उमड़ आता वह ॥ ६१ ॥

शरद्ऋतुके प्रवेशमें । समाते घन गगनमें ।
फिरसे आते ग्रीष्ममें । वही उमड़ ॥ ६२ ॥

वैसे उदयमें ब्रह्म-.दिनके । उमड़ते ढेर भूत सृष्टिके ।
निमित्त हजार चौकडियोंके । मिटने तक ॥ ६३ ॥

जब रात्रीका समय आता । विश्व अव्यक्तमें लय होता ।
युग-सहस्रका तम जाता । होता विश्व उदय ॥ ६४ ॥

कही क्यों यह उपपत्ती । विश्व प्रलय औ' संभूती ।
ब्रह्म-भुवनमें जो होती । दिन-रातमें ॥ ६५ ॥

देख उसकी महानताका मान । है वही सृष्टि बीजका संकलन ।
पुनरावर्तनका अंतिम स्थान । दोनों ही आप ॥ ६६ ॥

त्रिभुवनमें जो धनुर्धर । उसीका है सब विस्तार ।
होता रचना चमत्कार । दिनोदयमें ॥ ६७ ॥

दिनमें व्यक्त होते हैं सभी भूत अव्यक्तसे ।
होते विलय रात्रीमें सभी अव्यक्तमें फिर ॥ १८ ॥

उठते मिटते सारे जीव सब वही वही ।
दिनमें जन्म लेते हैं रातमें मरते वही ॥ १९ ॥

आते ही रात्रीका समय । होता है जो उसीमें लय ।
स्वभावसे ही स-समय । अपने आप ॥ ६८ ॥

वृक्ष जैसे लेते बीज रूप । मेघ लेते गगनका रूप ।
औ' अनेकत्व समाता आप । कहलाता जो साम्य ॥ ६९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

इन सबसे अक्षर चैतन्य भिन्न है और वह अक्षर चैतन्य भक्तिसे प्राप्त होता है—

सम-विषम वहां न दीखता कहीं । इसीलिये भूत यह भाषा भी नहीं ।
जैसे दूध ही बन जाता है दही । नाम रूप रहित ॥ १७० ॥

आकारका होते ही अभाव । जगतका मिटता जगत्व ।
किंतु जिससे होता है तत्व । वह रहता ही है ॥ ७१ ॥

इसका नाम सहज अव्यक्त । आकारमें होता है वही व्यक्त ।
यह होता है सापेक्ष सूचित । किंतु है एक ही ॥ ७२ ॥

पिघलाया स्वर्ण होता घन । घनके होते नाना भूषण ।
तब न रहता रूप घन । जब हो अलंकार ॥ ७३ ॥

घन अथवा भूषण । उसका मूल है स्वर्ण ।
जो व्यक्ताव्यक्त कारण । स्थिर-रूपसे ॥ ७४ ॥

न वह व्यक्त या अव्यक्त । न है नित्य न नाशवंत ।
दोनों भावोंसे जो अतीत । अनादि-सिद्ध ॥ ७५ ॥

यह जो विश्व हो कर है बसता । विश्व-नाश होकर भी न नासता ।
जैसे अक्षर पोंछनेसे न मिटता । बोध वैसा ॥ ७६ ॥

जैसे तरंग उठता गिरता । किंतु उदक अखंड रहता ।
वैसे भूत मात्रमें न नाशता । वह अविनाशी तत्व ॥ ७७ ॥

अव्यक्त दूसरा तत्व उस अव्यक्तसे परे ।
नाशसे सब भूतोंके रहे शाश्वत नित्य जो ॥ २० ॥

पिघलते हैं आभूषण । न गलता उसका स्वर्ण ।
वैसे जीवाकारमें पूर्ण । मर्त्यमें जो अमर ॥ ७८ ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतीम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

उस चैतन्यकी व्यक्ताव्यक्तता —

अव्यक्त कहनेसे सकौतुक । स्तुति न होती उसकी सार्थक ।
न आता मन - बुद्धिमें सम्यक । इसी लिये ॥ ७९ ॥

आकारत्व आनेपर जिसका । निराकारत्व न जाता उसका ।
आकार लोपसे भी नित्यताका । न होता लोप ॥ १८० ॥

इसीलिये उसे कहते हैं अक्षर । जिससे बोध होता है सविस्तर ।
न दीखता विस्तार उसके पार । उसका नाम परमगति ॥ ८१ ॥

किंतु मैं देहपुरमें संपूर्ण । रहता हूं निद्रस्तके समान ।
नहीं करता चलन वलन । न करता इसीलिये ॥ ८२ ॥

वैसे शरीरके कोई व्यापार । नहीं रुकते हैं धनुर्धर ।
दस इंद्रियोंके हैं व्यवहार । चलते अव्याहत ॥ ८३ ॥

अंत:करणके चौराहे पर । लग रहा है विषय-बाजार ।
मिले सुख-दुखका राज कर । मिलता जीवको ही ॥ ८४ ॥

जैसे राजा सुखसे जब सोता । उसका राज-काज न रुकता ।
प्रजा-जन करते सहजता । अपनी इच्छासे ॥ ८५ ॥

वैसे बुद्धिका जानना । मनका है लेना-देना ।
इंद्रियोंका भी करना । तथा स्फुरण वायुका ॥ ८६ ॥

कहा अक्षर अव्यक्त वही है गति अंतिम ।
वही मेरा परं-धाम वहांसे लौटता नहीं ॥ २१ ॥
मिले अनन्य भक्तीसे पार्थ परं-पुरुष जो ।
जिसमें रहते जीव जिससे व्याप्त है जग ॥ २२ ॥

वैसे ही सब शरीराचार । न चलाते चलते सुंदर ।
जैसे रविके न चलाकर । चलता त्रिलोक ॥ ८७ ॥

अर्जुन ! यह है ऐसा । शरीरमें निद्रित-सा ।
इसीलिये हैं पुरुष । कहते इसको ॥ ८८ ॥

तथा प्रकृति जो पतिव्रता । उसका है यह पत्नीव्रत ।
इसीलिये यह कहलाता । पुरुष है ॥ ८९ ॥

किंतु वेदोंका भी बहुश्रुतपन । देख न सकता इसका अंगन ।
होता यह गगनका आच्छादन । धनुर्धर ॥ १९० ॥

यह जानकर योगीश्वर । उसको कहते परम पर ।
जो है अनन्यगतिका घर । ढूंढकर आते हैं ॥ ९१ ॥

ऐसा यह अक्षर चैतन्य भक्तिसे प्रष्ट होता है—

जिनका तन मन वचन । नहीं सुनता अन्य कथन ।
पकता एक निष्ठका धान । इस खेतमें ॥ ९२ ॥

यह त्रैलोक्य ही पुरुषोत्तम । ऐसा सच्या जिनका मनोधर्म ।
वह सदा आस्तिकोंका आश्रम । है धनंजय ॥ ९३ ॥

जो निगर्वियोंका मान । गुणातीतका है ज्ञान ।
सुखका है उपवन । निरिच्छोंका ॥ ९४ ॥

संतोषका परोसा जो पक्वान्न । अचिंत अनाथोंका मातृ-स्थान ।
भक्ति-नगरका पथ महान । सरल सुलभ ॥ ९५ ॥

यह एकेक कह कर । खोयें क्यों काल धनुर्धर ।
वहां जानेसे वह ठौर । होता है स्वयं ॥ ९६ ॥

जैसे हिम-शीतकी लहर । शीतल करता तप्त नीर ।
या सूर्य सम्मुख आ अंधार । होता प्रकाश ॥ ९७ ॥

वैसे संसार भी अर्जुन । पहुंचकर संपूर्ण ।
बनता है मोक्ष स्थान । अनायास ॥ ९८ ॥

अग्नि-कुंडमें जैसे जो आया । वह ईंधन ही अग्नि भया ।
चुनकर भी हाथ न आया । काष्ठपन फिर ॥ ९९ ॥

जैसे डली जो गूड़की । रूप न लेती ईखकी ।
बुध्दिमंत ले बुध्दिकी । कितनी थाह ॥ २०० ॥

अथवा लोहका कनक भया । यह पारसने सहज किया ।
फिर उसका लोहपन आया । यह असंभव ॥ १ ॥

घृत बनकर एक बार । असंभव फिर होना क्षीर ।
वैसे ही वह धाम पाकर । नहीं पुनरावर्तन ॥ २ ॥

ऐसा वह मेरा परम । निजधाम सर्वोत्तम ।
अंत:करणका मर्म । कहता तुझसे ॥ ३ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

मृत्यु समयकी दो स्थितियां—

इसको जाननेका प्रकार । अति सुलभ है इक और ।
देह त्यागके स-अवसर । पाते योगीजन ॥ ४ ॥

अकस्मात ऐसा भी घड़ता । अनवसर तन गिरता ।
तब है पुनः आना पड़ता । देहमें उन्हें ॥ ५ ॥

देह छोड़कर सकाल । ब्रह्म होते हैं वे तत्काल ।
देह छोड़कर अकाल । आते संसारमें ॥ ६ ॥

सायुज्य तथा पुनरावर्तन । वह है सब अवसराधीन ।
वह अवसर कहूं महान । तुझसे अब ॥ ७ ॥

अब तू सुन अर्जुन । मृत्यूके नशामें जान ।
पांचों करते प्रयाण । अपनी राहसे ॥ ८ ॥

होता है प्रयाणकाल प्राप्त । न होती है बुद्धि भ्रम-ग्रस्त ।
तथा न होता सब विस्मृत । न वरता मन ॥ ९ ॥

किस काल गया कैसे तजके देह साधक ।
आता है या न आता है कहता मैं सुनो अब ॥ २३ ॥

यह चेतन-वर्ग संपूर्ण । मरण कालमें भी नवीन ।
आकलनसे होता प्रसन्न । ब्रह्म बोधके ॥ २१० ॥

चैतन्य-वर्गका सचेतन । कालमें होता मरणासन्न ।
अग्नि-सहायतासे जान । संभव होता ॥ ११ ॥

हवा या पानीसे जब । बुझती है ज्योति तब ।
देखती क्यों दृष्टि कब । अपनी ही ॥ १२ ॥

वैसे देहावसानकी विषमतासे । देह भरता है अंतरबाह्य श्लेष्मसे ।
तेज बुझता तब अग्निका उससे । सहज धनुर्धर ॥ १३ ॥

न रहता जब प्राणका प्राण । न होता है चतन्य अग्नि बिन ।
तब रहकर सतेज ज्ञान । क्या होगा शरीरमें ॥ १४ ॥

जब है शरीरका अग्नि जाता । केवल वह कीचड रहता ।
तनमें तब खोजता रहता । मृत्यु घटिका ॥ १५ ॥

पूर्व स्मरण जहां संपूर्ण । थाम लेता कालमें प्रयाण ।
शरीर त्यज ब्रह्म-निर्वाण । पाना स्वरूपमें ॥ १६ ॥

किंतु कीचमें देह श्लेष्मकी । फंसी तब शक्ति चेतनाकी ।
कैसी बात भूत-भविष्यकी । रहेगी स्मरण ॥ १७ ॥

अजी ! जीवन भरका अभ्यास । भूल गया अंतकालमें खास ।
जैसे थाथी देखते ही प्रकाश । बुझा हाथका ॥ १८ ॥

रहने दो यह सकल । ज्ञानको अग्नि ही है मूल ।
अग्निका ही है पूर्ण बल । प्रयाण कालमें ॥ १९ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अंदर अग्नि-ज्योतिका प्रकाश । बाहर शुक्ल पक्ष औ' दिवस ।
तथा षण्मासोंमें कोई भी भास । उत्तरायणका ॥ २२० ॥

अग्निसे दिन शुक्लार्ध जोडके उत्तरायण ।
जाता जो जुडता ब्रह्म अंतमें ब्रह्म जानके ॥ २४ ॥

मृत्युसमयकी पहली स्थिति–चैतन्यप्रधान, प्रकाश प्रधान—

ऐसे समय-योगमें नियत । होता है जिसका देहपात ।
जो ब्रह्म विद करता प्राप्त । परमपद ॥ २१ ॥

सुन तू अब धनुर्धर । सामर्थ्य जो सु-अवसर ।
सरल मार्ग है स्वपुर । पहुंचनेका ॥ २२ ॥

अग्नि प्रथम पावरी । ज्योतिर्मयता दूसरी ।
तथा दिवस तीसरी । शुक्लपक्ष ॥ २३ ॥

तथा षण्मास उत्तरायण । वह है ऊपरका सोपान ।
पाते हैं सायुज्य-सिद्धिदिन । इससे योगी ॥ २४ ॥

उत्तम काल है बहुत । कहलाता अर्चिरा पथ ।
कहता हूं अकाल पार्थ । सुन तू अब ॥ २५ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

तम प्रधान मृत्यु समय—

समयमें जब प्रयाणके । उभार आवे वात-श्लेष्मके ।
आवरण हो अंधःकारके । अंतःकरणपे ॥ २६ ॥

इंद्रियां होती जैसे काष्ठ । स्मृति होती भ्रममें नष्ट ।
मन होता है पथ भ्रष्ट । तथा घुटता प्राण ॥ २७ ॥

मिटता अग्निका अग्निपन । रहता है धूम्र ही संपूर्ण ।
जिसमें चेतनाकी घुटन । होती शरीरमें ॥ २८ ॥

जैसे चंद्रपर बादल । आता है घना औ' सजल ।
तब ना घना या उज्वल । रहता प्रकाश ॥ २९ ॥

न मरता वह न सावध । जीवितसह पडता स्तब्ध ।
ऐसी आयु-कालकी मर्याद- । प्रतीक्षामें रहता ॥ २३० ॥

धूमसे रात कृष्णार्ध जोड़के दक्षिणायन ।
जाता जो लौटता पीछे पहुंचे चंद्र-लोकको ॥ २५ ॥

जहां मन-बुध्दि-करण । डूबा धूम कुलावरण ।
वहां अनुभवका ज्ञान । डूबा जीवनका ॥ ३१ ॥

जहां हाथका भी जाता । वहां लाभकी क्या कथा ।
प्रयाणकाल अवस्था । होती ऐसे ॥ ३२ ॥

यहां देहमें ऐसी स्थिति । वहां कृष्ण पक्ष औ' राति ।
षण्मासमें घटिका आती । दक्षिणायनकी ॥ ३३ ॥

जब पुनरावर्तनका घर । प्रयाण समयमें जाता भर ।
तब स्वरूप-सिध्दि समाचार । सुने कौन ॥ ३४ ॥

ऐसा जिस योगीका शरीर पडता । योगी होनेसे चंद्रलोक ही मिलता ।
वहासे फिर पुनरावर्तन होता । संसारमें ॥ ३५ ॥

कहा मैंने अकाल अर्जुन । वह यही है इसको जान ।
धूममार्ग पुनरावर्तन । यही है जो ॥ ३६ ॥

यहां वह अचिरामार्ग । चलता हुआ औ' सलग ।
सहज सुलभ सुभग । मोक्ष-दायक ॥ ३७ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

किंतु जो मद्रूप है वह किसी मार्गसे आय तो भी ब्रह्मपद पाता है —

ये दो ऐसे अनादि पथ । सरल तथा टेडा पार्थ ।
तभी बताये मैंने सार्थ । तुझको अब ॥ ३८ ॥

क्यों कि मार्ग अमार्ग देखना । सच्चा झूठा यह जान लेना ।
हित अहित समझलेना । अपने हितार्थ ॥ ३९ ॥

कोई भली नांव छोडकर । कूदेगा क्या नदीके भीतर ।
तथा सीधी राह जानकर । चलेगा क्या कुपथ ॥ २४० ॥

जानता जो विष औ' अमृत । छोडता है क्या वह अमृत ।
वैसा कोई छोड सीधा पथ । चलें क्यों टेडा ॥ ४१ ॥

प्रकाश और अंधार दोनों मार्ग अनादि हैं ।
निस्तार करता एक घेरेमें एक डालता ॥ २६ ॥

इसीलिये अर्जुन प्रथम । जानना उत्तम अधम ।
जाननेसे समयमें काम । होगा सब व्यर्थ ॥ ४२ ॥

वैसे देहांतमें बडा विषम । इन मार्गोंका है बडा संभ्रम ।
जीवन भर अभ्यासका काम । होगा सब व्यर्थ ॥ ४३ ॥

अर्चरा मार्ग भूलकर । पडे तो धूम्र पथपर ।
पडेंगे संसार-सागर । भंवर-चक्रमें ॥ ४४ ॥

देख कर ये बडे सायास । किस भांति मिटेंगे त्रास ।
सोचकर यह पथ खास । कहा जायेगा ॥ ४५ ॥

ऐसे ब्रह्मपद महान । दूसरेसे पुनरावर्तन ।
दैवसे अंतकालका क्षण । जैसा हो वैसा मिलेगा ॥ ४६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

तब कहे देव यह नहीं ऐसा । कब क्या मिलेगा जाने कोन कैसा ।
देह-पातसे ब्रह्म बनता जैसा । रहा मार्गसे ही ॥ ४७ ॥

तब रहे या जाये यह तन । हम वह ब्रह्म है यह जान ।
डोरीपे सर्पत्वका आरोपण । मिथ्या है इसलिये ॥ ४८ ॥

मुझे तरलपन है या नहीं । भासता क्या यह पानीको कहीं ।
पानी जो है पानी ही कभी कहीं । वैसे ही पार्थ ॥ ४९ ॥

तरंगाकारसे न जन्मता । तरंग लोपसे न मरता ।
देहमें रहते ब्रह्म होता । देहसे जो ॥ २५० ॥

शरीरत्व नहीं रहा खास । अब उन तत्वज्ञोंके पास ।
भला होगा क्या किसका नाश । इसमें क्या रहा ॥ ५१ ॥

देशकालादि यदि संपूर्ण । भये आपही जब तत्क्षण ।
फिर पथका अनुसंधान । रहा किसके लिये ॥ ५२ ॥

ऐसे जो जानके मार्ग योगी होता न मोहित ।
तभी तू सर्वदा पार्थ योगसे युक्त हो रह ॥ २७ ॥

अजी ! जब यह घट फूटता । घटाकाश है राहमें लगता ।
वह महदाकाशमें मिलता । या रहता वहीं ॥ ५३ ॥

यहां है ऐसा प्रकार । मिटता मात्र आकार ।
गगन है एकाकार । सदा सर्वत्र ॥ ५४ ॥

होता है जब यह बोध । न रहता मार्गका द्वैध ।
बनने पर सोऽहं सिद्ध । योगियोंको ॥ ५५ ॥

इसका कारण पांडुसुत । तुम्हे बनना योग-युक्त ।
जिससे सर्वदा समता । रहगी अपनेमें ॥ ५६ ॥

तबहो कुछ भी कभी । देह बंध हो न हो तभी ।
अखंड ब्रह्म बोध कभी । न बिगडेगा ॥ ५७ ॥

सभी प्रकारके मोहसे मुक्त मनुष्य—

वह कल्पारंभमें न जनमता । कल्पांतमें भी वह नहीं मरता ।
स्वर्ग संसारादिमें नहीं फंसता । सृष्टि-कालमें ॥ ५८ ॥

जिस बोधसे वह योगी बनता । उसकी सरलता अनुभवता ।
अन्य भोगोंको तौलकर तजता । स्वरूपावस्थामें ॥ ५९ ॥

अर्जुन इंद्रादि देव । मानते अपना सर्वस्व ।
वह राज्य-भोग वैभव । मानता तुच्छ ॥ २६० ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

जो वेदका यज्ञ तथा तपोंका
दानादिका पुण्य कहा गया है ।
जो लांघता सर्व हि जानके तो
योगी चढे आद्य महान धाम ॥ २८ ॥

यदि पुण्य वेदाध्ययनका । तथा बहार यज्ञ-फलका ।
प्राप्त सर्वस्व तप दानका । धनंजय ॥ ६१ ॥

मिलकर सब पुण्यका खेत । बहर पकने पर भी पार्थ ।
ब्रह्मानंदकी तुलनामें व्यर्थ । जो नित्य निर्मल ॥ ६२ ॥

तुलनामें जो नित्यानंदके । तुलामें डाले तो उपमाके ।
छोड़ा नहीं है उस सुखके । साधन यज्ञादि हैं ॥ ६३ ॥

न नासता जो न खूटता । भोगीको सदा तृप्ति देता ।
भावी महा-सुखका होता । बंधुही वह ॥ ६४ ॥

ऐसे जिस दृश्य सुखका । अधिष्ठान हैं संसारका ।
प्राप्तव्य है शत-मखका । न मिलता कभी ॥ ६५ ॥

उस अलौकिकको योगीश्वर । तोलता है हथेली पर ।
स-कौतुक अनुमान कर । कहता हलका ॥ ६६ ॥

फिर जिस सुखका अर्जुन । रचकर भलासा सोपान ।
प्राप्त करता है सिंहासन । ब्रह्म-सुखका ॥ ६७ ॥

ज्ञानेश्वरका उपसंहार—

ऐसा जो चराचरैक्य भाग्य । ब्रह्मेशके आराधना योग्य ।
योगी जनके महायोग्य । योग धन जो ॥ ६८ ॥

वह सकल कलाकी कला । परमानंदका है पुतला ।
जीवोंका परम जिव्हाला । विश्वके जो ॥ ६९ ॥

सर्वज्ञताका है जो जीवन । यादव कुलदीप पावन ।
बोला धनंजयसे श्रीकृष्ण । इस भांति ॥ २७० ॥

कुरु क्षेत्रकी ऐसी कथा । संजय राजासे कहता ।
उसीको है आगे सुनाता । ज्ञानदेव निवृत्तिदास ॥ २७१ ॥

गीता श्लोक २८

ज्ञानेश्वरी ओवी २७१.



राज-विद्या = समर्पणयोग

१

पित्र-रूपमें गुरु-वंदन—

अजी ! ध्यानसे चित दीजिये । सब सुखका पात्र बनिये ।
प्रतिज्ञोत्तर यह सुनिये । प्रकट बात ॥ १ ॥

प्रौढ़तासे यह नहीं बोलता । आप सर्वज्ञोंसे स-ममता ।
ध्यान दें यह विनय करता । सर्वज्ञ-समाजसे ॥ २ ॥

लाड़लेके सब लाड़ पूर्ण होते । सब ही मनोरथ संपन्न होते ।
मातापिता जब हैं श्रीमंत होते । आपके समान ॥ ३ ॥

आपकी कृपा-दृष्टिके रससे । प्रसन्नताका बाग खिलनेसे ।
उसकी छायामें सोता, सुखसे । श्रांत जो मैं ॥ ४ ॥

प्रभु आप हैं सुखामृतके सागर । हम पाते शीतलता इच्छानुसार ।
यहां पर भी स्नेहार्थ सकुचाकर । कहां पायें शांति ॥ ५ ॥

यों तो बालक तुतलाता । टेड़ा मेड़ा पग रखता ।
उससे स-कौतुक माता । रीझती सदा ॥ ६ ॥

वैसा आप सन्तोंका प्रेम । चाहते जिसे सदा हम ।
इसीलिये करते प्रेम । श्री चरणोंमें ॥ ७ ॥

बोलनेमें क्या है मेरी योग्यता । जहां सर्वज्ञ भावा-दृश श्रोता ।
सरस्वती सुत है क्या सीखता । देकर पाठ ॥ ८ ॥

कितना ही बड़ा क्यों न हो ज्योतिरिंगण । नहीं प्रकाशता भानुबिंबके समान ।
नहीं मिलता अमृत थाल सम पकवान्न । उसका उपाय क्या ? ॥ ९ ॥

हिमकरको पंखा झलना। नाद-ब्रह्मको गाना सुनाना।
अथवा भूषणको सजाना। होता क्या ऐसा ? ॥ १० ॥

कहिए सुगंधको क्या सूंघना। सागरको कहां स्नान करना।
आकाशको जिसमें समाना। क्या लावें ऐसा ॥ ११ ॥

आप सब जिससे तृप्त होंगे। जिसको सु-प्रवचन कहेंगे।
सुनके मनमें प्रसन्न होंगे। ऐसा वक्तृत्व कहां ? ॥ १२ ॥

किंतु प्रकट होते ही गभस्ति। न उतारते क्या हाथ आरती।
न देते क्या अर्घ्यांजलि स-भक्ति। महा-सागरको ॥ १३ ॥

आप हैं स्वामी महेशकी मूर्ति। दुबला मैं पूजता हूँ स-भक्ति।
तभी बिल्व छोड़ दूं गंगावती। स्वीकार करेंगे ॥ १४ ॥

पिताकी थालमें हाथ डाल कर। खिलाता शिशु जब पिताको कौर।
प्रेम-भरसे तब पिता सत्वर। झुकके खोलता मुख ॥ १५ ॥

वैसा मैं करता हूँ आपसे। तुतलाता हूँ बाल-मतिसे।
तथा सुनते आप मोदसे। यह है प्रेम-भाव ॥ १६ ॥

ऐसी आत्मीयतासे मोहित। सन्त-समूह है अति-ग्रस्त।
नहीं होगा स्नेहका किंचित। भार आपको ॥ १७ ॥

आघात करता जब शिशुका मुख। प्रेमार्द्र-माता स्तन्य देती अधिक।
रोषसे बढ़ता सदा प्रेम अधिक। प्रिय-वस्तुके ॥ १८ ॥

मुझ बलकका यह वचन। आपका निद्रस्त कृपालुपन।
जागृत करेगा यह मैं जान। बोला हूँ आपसे ॥ १९ ॥

कार्यकी और गुरु-कृपाकी महत्ता—

पकाते क्या कभी पालमें चांदनीको। पंखेसे गति देते हैं क्या पवनको।
खोल चढ़ाते कैसे कहो गगनको। मुझसे आप ॥ २० ॥

तरल नहीं करना पड़ता पानी। नवनीतमें नहीं पैठती मथनी।
लज्जित हो अभिव्यक्त न होती वाणी। आपके सम्मुख ॥ २१ ॥

शब्द-ब्रह्म जिस खटौले पर। सोता है शब्द कुंठित हो कर।
देश-भाषामें यह गीता-सार। कहनेकी योग्यता क्या ? ॥ २२ ॥

किंतु कहता हूं कर साहस। मनमें धरके मैं एक आस।
आपके सम्मुख कर साहस। प्रिय बनूं आपके ॥ २३ ॥
अजी! शीतल जो चंद्रमासे। जीवनदायी है अमृतसे।
पूर्ण करता अवधानसे। मेरी चाह ॥ २४ ॥

अजी! कृपा-दृष्टिकी वृष्टि आपकी। करती है सृष्टि सकलार्थ मतिकी।
सूखेगी कली अंकुरीत मतिकी। आपकी उदासीसे ॥ २५ ॥

देते हैं आप सहज अवधान। मिलता उससे वक्तृत्वको अन्न।
जिससे होते हैं अक्षर संपन्न। सिद्धान्तोंसे ॥ २६ ॥

राह देखता तब अर्थ शब्दकी। सृष्टी होती नव-नव आशयकी।
बहार आती है भाव सुमनोंकी। मति पर सतत ॥ २७ ॥

रहता है जहां संवादका उल्लास। बरसता स्वारस्वत हृदयाकाश।
सूखता है वह सारस्वतका रस। जहां श्रोता हो दुश्चित्त ॥ २८ ॥

अजी! चंद्रकान्त मणि द्रवता। वह द्रावकता चंद्र ही देता।
वैसा वक्ता वक्ता नहीं हो सकता। बिन श्रोताके ॥ २९ ॥

हमें अब मधुर कर लेना। ऐसा क्या तंदुलोंको है कहना।
या गुड़ियाको प्रार्थना करना। सूत्र धारसे क्या ॥ ३० ॥

वह क्या गुड़ियाके लिये नचाता। या अपना कला-ज्ञान है बढ़ता।
इसीलिए हमारा क्या आता जाता। इस झमेलेसे ॥ ३१ ॥
"अरे क्या हुआ पूछा तब श्रीगुरुने। कहा "तुम्हारा विनय सुना हमने।"
"कहो अब क्या कहा श्री नारायणने। धनंजयसे ॥ ३२ ॥

संतोषसे निवृत्तिका दास। "जी! जी!!" कह कर स-उल्लास।
बोले किया यह उपदेश। श्री कृष्णने तब ॥ ३३ ॥

भगवान उवाच
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्री भगवानने कहा

कहूंगा गुह्य जो श्रेष्ठ निष्पाप तुमसे अब।
विज्ञान सह जो ज्ञान छुड़ाता दोषसे बड़े ॥ १ ॥

सरल बुद्धिके जिज्ञासुके सम्मुख गुह्यका उद्घाटन—

अथवा जो है यह बीज। कहता हूँ मैं तुझे आज।
मेरे हृदयका है गुज। जीवनका पार्थ ॥ ३४ ॥

हृदयका गूढ़ क्यों ऐसा खोलना। वह गूढ़ भी मुझसे क्यों कहना।
आती ऐसी यदि मनमें कल्पना। है वह स्वाभाविक ॥ ३५ ॥

तो तू सुन ले हे प्राज्ञ। तू है आस्थाकी ही संज्ञा।
कही बातकी अवज्ञा। जानता नहीं ॥ ३६ ॥

टूटा तब आपना गूढ़पन। कहूँ न कहने जैसे वचन।
किंतु अपना जो अन्तःकरण। उतरे तुझमें ॥ ३७ ॥

अजी ! स्तनमें क्षीर गुप्त होता। स्तनको क्यों मधुर नहीं होता।
आत्मीय मिलता तब स्रवता। सहज-भावसे ॥ ३८ ॥

खत्तीमेंसे बीज निकाला। जोती हुई भूमिमें डाला।
"व्यर्थ गया वह" ऐसा भला। कह सकते क्या ? ॥ ३९ ॥

जब सुमन औ, शुद्ध मति। अनिंदक जो अन्यन-गति।
गूढ़ बात भी उसके प्रति। सुखसे कहना ॥ ४० ॥

इन गुणोंसे संपन्न अब। बिना तेरे कोई नहीं तब।
तुझसे अपना गुह्य सब। नहीं छिपाता ॥ ४१ ॥

गुरु-मुखसे श्रवण करनेके बादही पवित्र ज्ञानका अनुभव—

गूढ़ कहनेसे पुनः पुन। चमत्कृत होगा तेरा मन।
अब कहूँगा ज्ञान-विज्ञान। सहज-भावसे ॥ ४२ ॥

सत्य-असत्य सन जाने पर। उसका यथार्थ चुनाव कर।
निकालना जैसे परख कर। कहूँगा मैं वैसे ॥ ४२ ॥

अपनी चोंचकी संडसीसे जैसे। विभेदता हंस नीर क्षीर वैसे।
कहूँगा ज्ञान-विज्ञान तुझसे। रहस्य मैं आज ॥ ४४ ॥

अनाजसे सना हुआ भूसा। हवासे उड़ाकर जैसा।
धानका ढेर होता है आपसा। वैसे ही पार्थ ॥ ४५ ॥

अजी ! जानकारको वह ज्ञान । भवको करके भवमें लीन ।
देता मोक्ष-लक्ष्मीका सिंहासन । मोक्षार्थीको ॥ ४६ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

ज्ञान जो विद्याओंके ग्राममें । गुरुत्वसे आचार्य-पदमें ।
सकल गुह्यके स्वामित्वमें । पवित्रम है ॥ ४७ ॥

तथा धर्मका जो निज-धाम । वैसे ही उत्तमका उत्तम ।
पानेसे जिसे नहीं है काम । जन्मांतरका ॥ ४८ ॥

दीखा अल्पसा गुरु-मुखसे उदित । तथा हृदयमें स्वयमेव स्थित ।
प्रत्यक्ष रूपमें होता है अनुभूत । अपने आप ॥ ४९ ॥

सुखकी पावरीसे हो उत्थान । जिससे करना होता मिलन ।
होनेसे अजी ! उससे मिलन । मिटता है भोग ॥ ५० ॥

किंतु भोगके इस तीर । चित्त खडा सुखसे भर ।
वैसे सुलभ औ' सुन्दर । तथा पर-ब्रह्म ॥ ५१ ॥

इसकी है एक महत्ता । पाने पर कभी नहीं खो जाता ।
अनुभवनेसे नहीं घटता । औ' बिगड़ता नहीं ॥ ५२ ॥

अर्जुन ! तू है तर्क-कुशल । यहां होकरके शंकाकुल ।
ऐसी वस्तु लोगोंमें कुशल । रही कैसे जी ॥ ५३ ॥

वृद्धिके लिए एकोत्तरकी । गोदमें जाते जलती ज्वालाकी ।
वे क्या अनायाससे सु-सुखकी । छोड़ेंगे क्या माधुरी ॥ ५४ ॥

किंतु पवित्र तथा रम्य । वैसे सुखोपायसे गम्य ।
तथा स्वसुख परंतु धर्म्य । अपनेमें ही मिलता ॥ ५५ ॥

मूर्ख लोग हृदयको छोडकर बाहरी सुखके पीछे पडते हैं —

सब प्रकारसे ऐसा सुखकर । किंतु लोक सेवनसे बचकर ।
भ्रमका कारण यह धनुर्धर । रहा वह तज तू ॥ ५६ ॥

राज-विद्या महा गुह्य उत्तमोत्तम पावन ।
प्रत्यक्ष बोध-दाता जो धर्म-सार सनातन ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

देख तू दूध पवित्र तथा मधुर । पास ही है त्वचाके पदरके पार ।
किंतु किलनी सदा उसे छोड़कर । चूसती रक्त-मात्र ॥ ५७ ॥

या कमलकंद औ' दादुर । रहते हैं सदा एक घर ।
किंतु पराग खाता भ्रमर । दूसरा कीचड़ ॥ ५८ ॥

अथवा अभागीके परिवारमें । गड़ी स्वर्ण मुद्रा पड़ी सहस्रमें ।
किंतु भूखे मरते हैं दारिद्र्यमें । बैठकर पार्थ ॥ ५९ ॥

वैसे हृदयमें बसा है राम । सकलैश्वर्य सुखका आराम ।
किंतु भ्रांतका है सदा काम । विषयका ही ॥ ६० ॥

दूर देख करके मृगजल । आधा निगला अमृत उगल ।
शुक्ता लाभार्थ डाला निकाल । गलेका पारसमणि ॥ ६१ ॥

मैं सर्वत्र हूं, यह विश्व मेरा ही विस्तार है—

अहं ममतामें जो व्यस्त । मुझे नहीं पाते हैं त्रस्त ।
जन्म मृत्यु प्रवाह ग्रस्त । रहते पार्थ ॥ ६२ ॥

नहीं तो मैं रहता हूँ कैसा । सम्मुख भानु-बिंब हूँ ऐसा ।
कभी वह उदयअस्त-सा । किंतु मैं हूँ सतत ॥ ७३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

नाम है मेरे विस्तारका । जान तू संपूर्ण जगतका ।
जैसा दही होता है दूधका । सहज जमकर ॥ ६४ ॥

जैसा बीजका वृक्ष बनता । या सोनेका गहना बनता ।
वैसा है मेरा विस्तार होता । जगतके रूपमें ॥ ६५ ॥

लोग नास्तिक जो धर्म अश्रद्धासे न चाहते ।
मृत्यूकी चलते राह भवमें मुझ छोड़के ॥ ३ ॥

अव्यक्त रूपसे मैंने घेरा है जगको सब ।
मुझमें रहते भूत उनमें मैं नहीं रहा ॥ ४ ॥

यह अव्यक्त जो जमा हुआ। वही विश्वाकार पिघला हुआ।
अमूर्त मूर्तमें मैं फैला हुआ। त्रैलोक्य रूपमें ॥ ६६ ॥

महत्तत्वसे शरीर तक। यहांके भूत जो हैं अशेष।
मुझमें भास होते सम्यक। पानी पर झागसा ॥ ६७ ॥

जैसे झागमें न दीखता नीर। स्वप्नकी विविधता धनुर्धर।
नहीं दीखती जैसे जगकर। वैसे ही जान ॥ ६८ ॥

भास होते हैं भूत मुझमें। किंतु मैं नहीं जान उनमें।
कही है पहले सातवेमें। तुझे यह बात ॥ ६९ ॥

कही हुई बातका तब। विचार रहने दो अब।
तेरा ध्यान मुझमें अब। पैठने दो ॥ ७० ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

हमारा भाव जो प्रकृति अतीत। देखने लगो तो कल्पना रहित।
मुझमें सभी भूत हैं यह व्यर्थ। सब मैं होनेसे ॥ ७१ ॥

संकल्पके संध्याकालमें जैसे। बुद्धि चक्षु मंद होते तमसे।
तब अखंडित किंतु अस्पष्टसे। दीखते भूत भिन्न हैं ॥ ७१ ॥

होता जब संकल्प-संध्या लोप। तब अखंडित ही है स्वरूप।
संदेह जाते जैसे होता लोप। मालाका सर्पपन ॥ ७३ ॥

मेरे शुद्ध रूपमें कल्पनासे विश्व उत्पन्न होता है

भूमिमेंसे क्या अपने आप। अंकुरते मटकोंके रूप।
जैसे कुलाल मतिके छाप। अंकुरते सब ॥ ७४ ॥

है क्या सागरका पानी। बनी तरंगोंकी खानी।
है अवांतर करनी। वायुकी वह ॥ ७५ ॥

है क्या कपासका उदर। कपड़ेका बना आगर।
ओढय्याको हैं मनोहर। बना कपड़ा ॥ ७६ ॥

या नहीं मुझमें भूत देख तू दिव्य योग जो।
सृजता पालता भूत उनमें रहता नहीं ॥ ५ ॥

होने पर स्वर्णके अलंकार। स्वर्णत्वमें नहीं आता अंतर।
नाना रूप उसके मनोहर। भूषितकी दृष्टिसे ॥ ७७ ॥
अजी! प्रतिध्वनिका प्रत्युत्तर। या क्या प्रतिबिंबका आविष्कार।
होता जो प्रति रूप ही आखर। या स्वयं भिन्न वस्तु ॥ ७८ ॥
वैसे है मेरा निर्मल स्वरूप। उसपे होता भूत-भावना आरोप।
जिसका भासता है संकल्प। कल्पना रूप ॥ ७९ ॥
मिटती जब प्रकृति कल्पित। भूताभास नहीं रहता पार्थ।
फिर शुद्ध स्वरूप अखंडित। रहता मेरा ॥ ८० ॥
जब है सिर चक्कर खा जाता। तब भासता है विश्व फिरता।
अपनी कल्पनासे भास होता। भूतोंका अखंडमें ॥ ८१ ॥
वही तू कल्पना छोड़कर देख। मैं भूतोंमें भूत मुझमें अनेक।
स्वप्नोंमें भी नहीं होगा सविवेक। विचारने योग्य ॥ ८२ ॥
भूतोंको करता मैं धारण। या भूतोंमें है मेरा जीवन।
संकल्प सन्निपात कारण। होती ये बातें ॥ ८३ ॥
इसलिए सुन तू प्रियोत्तम। ऐसा मैं विश्वाका हूँ विश्वात्म।
जो हो इस झूठे भूत-ग्राम। आश्रयदाता ॥ ८४ ॥
लेकर जैसे रवि-रश्मिका आधार। मृग-जल मिथ्या भासता भूमि पर
वैसा जान भास भूतोंका मुझ पर। और मुझे सत्य ॥ ८५ ॥
ऐसा हूँ मैं भूत-भावन। औ' सब भूतोंसे अभिन्न।
जैसे भानु-रश्मि अभिन्न। होते हैं पार्थ ॥ ८६ ॥
यह है ऐश्वर्य-योग हमारा। देखा न तूने भला धनुर्धरा।
इसमें है क्या कह तू आसरा। भूत भेदका ॥ ८७ ॥
इसलिए भूत मुझसे। न है भिन्न किसी रूपसे।
अथवा हूँ भिन्न भूतोंसे। मैं यह नहीं मानता ॥ ८८ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

आकाशमें महा-वायु रहे सर्वत्र हो सदा।
मुझमें हैं सभी भूत रहते जान तू यह ॥ ६ ॥

अजी! आकाश होता जितना जैसा। पवन होता उतना ही औ' वैसा।
हिलानेसे भास होता भिन्न ऐसा। नहीं तो उतना ही ॥ ८९ ॥

वैसे भूत मात्र मुझमें। भास होते हैं कल्पनामें।
नहीं होता निर्विकल्पमें। वहां मैं ही सर्वत्र ॥ ९० ॥

नहीं औ' है यह कल्पनाका औरस। कल्पना लोपसे होता है वह भ्रंश।
कल्पनाके संग होता है भूताभास। पांडुकुमार ॥ ९१ ॥

मिटती है जब कल्पना मूलत:। तब वहां है या नहीं यह जाता।
इसलिये तू आगे यह देखता। ऐश्वर्य योग ॥ ९२ ॥

ऐसा है यह प्रति-बोध सागर। अपनेको कर उसकी लहर।
तब तू देखेगा सब स-चराचर। आप ही है ॥ ९३ ॥

ज्ञान-जागृति अब अर्जुन। हुई न यह पूछते कृष्ण।
अब तो भंग हो द्वैत-स्वप्न। है जो मिथ्या ॥ ९४ ॥

फिर तुझे यदि शायद। आएगी कल्पनाकी नींद।
मिटेगा अभेदका बोध। पड़ेगा स्वप्न ॥ ९५ ॥

जिससे टूटेगा निद्राका पथ। उद्बोध-रूप हो आप पार्थ।
कहता अब ऐसा गुपित। खोल करके ॥ ९६ ॥

इंद्रियोंके अंतर्मुख होनेसे ईश्वरका अनुभव आता है—

तब हे धनुर्धर स-धैर्य। अवधान दे तू धनंजय।
सब भूतोंको है यह माया। करती हरनी जो ॥ ९७ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

जिसका नाम ही प्रकृति है। तुझसे जो द्विविध कही है।
एक अष्ठधा भेदयुत है। दूसरी जीव रूप ॥ ९८ ॥

मेरी प्रकृतिमें सोते भूत कल्पांतमें सभी।
जगाता सबको मैं ही कल्प-आरंभमें स्वयं ॥ ७ ॥

यह प्रकृति विषय संपूर्ण । सुना तूने पहले अर्जुन ।
इसीलिए कहता हूं सुन । अगली बात ॥ ९९ ॥

यह है मेरी प्रकृति । महा कल्पांतमें होती ।
ऐक्य-लीन भूत-जाति । मुझ अव्यक्तमें ॥ १०० ॥

ग्रीष्मके प्रखर तापमें । बीज सह दूभ भूमिमें ।
ऐक्य होती पूर्ण रूपमें । धनुर्धर ॥ १ ॥

या वर्षा आडंबर मिटता । शरदका परदा खुलता ।
जैसे घन-जात लय होता । गगनका गगनमें ॥ २ ॥

अथवा आकाशका घर । नीरमें तरंग सुंदर ।
लोपता वायु औ' आकार । वैसे ही ॥ ३ ॥

तथा जागते ही जैसा स्वप्न । मनके मनमें होता लीन ।
प्राकृत प्रकृतिमें ही लीन । कल्पक्षयमें ॥ ४ ॥

जब फिर कल्पारंभ होता । कहते हैं मैं सृष्टि सृजता ।
इस विषयमें मैं कहता । सुन तू पार्थ ॥ ५ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

तब है यह जो प्रकृति । करती सहज स्वीकृति ।
तंतु समवाय दीखती । पटमें बुनायी जैसे ॥ ६ ॥

लेकर उस बुनायीका आधार । भरते वस्त्र बन छोटे चौकोर ।
प्रकृति पंचात्मक आकार । लेती है वैसे ॥ ७ ॥

लेकर जामूनका आधार । दूध लेता दहीका आकार ।
वैसे प्रकृति रूप सुंदर । लेती है सृष्टिका ॥ ८ ॥

बीज होता पानीके नजदीक । औ' वही होता शाखोपशाख ।
वैसा मेरा ही कारण देख । भूत जातका यह ॥ ९ ॥

प्रकृति हाथमें लेके जगाता मैं पुनः पुनः ।
भूतोंका संघ संपूर्ण प्रकृतिके अधीन जो ॥ ८ ॥

अजी ! राजाने बसाया नगर । सच कहनेका यह प्रकार ।
थक गया क्या राजाका शरीर । नगर बसाके ॥ ११० ॥

मैं प्रकृति-अधिष्ठान कैसे । कोई स्वप्नमें रहता वैसे ।
फिर वही प्रवेशता जैसे । जागृतावस्थामें ॥ ११ ॥

स्वप्नसे जागृतिमें आते । उसके क्या पैर दूखते ।
अथवा स्वप्नमें रहते । होता क्या प्रवास ॥ १२ ॥

इसका है यह अभिप्राय । जो यह भूत-सृष्टिका कार्य ।
चलता उसमें करणीय । मुझे कुछ भी नहीं ॥ १३ ॥

या राजाकी आश्रित प्रजा जैसे । वरतती अपने लिए वैसे ।
प्रकृतिके साथ मेरा भी वैसे । संबंध है यहां ॥ १४ ॥

पूर्णचंद्रसे मिलकर । आता सिंधु उमडकर ।
तब चंद्रको धनुर्धर । श्रमना है क्या ॥ १५ ॥

पासका लोह जो अ-चेतन । हिलता रहता यथा-स्थान ।
उससे चुंबकको सहन । करना क्या कष्ट ॥ १६ ॥

ऐसा निज-प्रकृति स्वीकार । करता हूं मैं पांडुकुमार ।
ऐसी भूत-सृष्टि सरासर । प्रसवती जाती ॥ १७ ॥

जो है यह भूतग्राम संपूर्ण । रहता है प्रकृतिके आधीन ।
जैसे बीजसे अंकुर अर्जुन । उपजाती भूमि ॥ १८ ॥

अथवा बाल्यादि अवस्थात्रय । लेकर शरीरका ही आश्रय ।
गगनकी मेघावली प्रश्रय । लेती वर्षा-ऋतुका ॥ १९ ॥

या स्वप्नका कारण निद्रा । वैसी प्रकृति है नरेंद्र ।
जो सम्पूर्ण भूत समुद्र । स्वामिनी प्रकृति ॥ १२० ॥

स्थावर औ' जंगम । स्थूल अथवा सूक्ष्म ।
ऐसा जो भूत ग्राम । प्रकृति मूल ॥ २१ ॥

इसलिए भूतमात्रोंका सृजन । या सृजित भूतोंका प्रतिपालन ।
करना नहीं पडता अर्जुन । हमको कभी ॥ २२ ॥

जलमें फैलती चन्द्रिकाकी लता । उसे चन्द्रको फैलाना न पडता ।
वैसे मुझसे दूर ही है रहता । कर्मजाल ॥ २३ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

उमडता जब ज्वार सिंधु-जलका । रोक न सकता तब बांध नूनका
वैसे मैं हूं सकल कर्मोंकी पूर्णता । यह क्या बांधेंगे मुझे ॥ २४ ॥

धूम्र रजका छतनार । रोके यदि वायुका जोर ।
या सूर्यबिंबमें अंधार । करे प्रवेश ॥ २५ ॥

जैसे पर्वतके उदरस्थ । न करे पर्जन्य-धार त्रस्त ।
वैसे प्रकृतिके कर्मजात । मुझे न करते स्पर्श ॥ २६ ॥

विकारोंमें यहां प्रकृतिके । मैं ही हूं जान तू समझके ।
किंतु उदासीन ही रहके । न करता न करता ॥ २७ ॥

घरमें रखी दीप-ज्योती । जो न प्रेरती या रोकती ।
कौन है यह न जानती । कौन क्या करता ॥ २८ ॥

जैसा होता वह साक्षीभूत । गृह-व्यापार प्रवृत्ति हेत ।
भूत कर्ममें मैं अनासक्त । वैसा रहता भूतोंमें ॥ २९ ॥

यह एक ही विचार । क्या कहूं मैं फिर फिर ।
पार्थ यहां एक बार । इतना जान तू ॥ १३० ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

जैसा लोक-चेष्टामें समस्त । निमित्त मात्र होता सवित ।
जगत प्रभवमें पांडुसुत । कारण मैं हूं ॥ ३१ ॥

किया मैंने प्रकृतिका अंगीकार । जिससे हुआ उत्पन्न स-चराचर ।
तब कारण मैं हुआ स-चराचर । यह है उपपत्ति ॥ ३२ ॥

किंतु जो ये सभी कर्म न बांध सकते मुझे ।
रहता मैं उदासीन तथा आसक्ति हीन भी ॥ ९ ॥

साक्षी मैं प्रकृति-द्वारा उठाता स-चराचर ।
उससे सब सृष्टीका होता है परिवर्तन ॥ १० ॥

इस प्रकाशमें तू निश्चित । निहार ऐश्वर्य योग नित ।
मुझमें है सब भूतजात । उसमें मैं नहीं ॥ ३३ ॥

या भूतमात्र नहीं मुझमें । तथा मैं नहीं भूतमात्रमें ।
इस रहस्यको जाननेमें । भूल न कर तू ॥ ३४ ॥

आकारके परे देखनेसे ही मेरा अनुभव आयेगा—

है यह हमारा सर्वस्व गूढ । दिखाया तुझको मैंने उघड ।
लगाकर इन्द्रियोंका किवाड । भोग तू हृदयमें ॥ ३५ ॥

रहस्य यह करमें नहीं आता । तब तक मेरा स्वरूप जो पार्था ।
नहीं समझेगा तुझको सर्वथा । भूसेमें जैसे दाना ॥ ३६ ॥

अन्यथा कभी अनुमानसे । लगे समझमें आयी ऐसे ।
क्या मृगजलके सींचनेसे । भीगती है खेती ॥ ३७ ॥

जलमें जब जाल फैलता । चन्द्रबिंब उसमें दीखता ।
जाल जब खींच लिया जाता । तब बिंब कहां ॥ ३८ ॥

शब्द चातुर्यसे वक्तृत्वके । मूँदते नयन प्रतीतिके ।
समय आने पर बोधके । रहते कोरे ॥ ३९ ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

यदि कोई संसारसे डरता । मेरी स्वरूप प्राप्तिको चाहता ।
तो हमारेमें जो विचार पार्थ । ध्यानमें रखले ॥ १४० ॥

जिसकी दृष्टिमें हुयी कामली । देखता वह चांदनी भी पीली ।
वैसा मेरा स्वरूप जो निर्मल । देखते हैं मलिन ॥ ४१ ॥

या ज्वरसे दूषित जो मुख । दूधको कहे कडुआ विष ।
वैसे अमानुषको मानुष । कहेंगे मुझको ॥ ४२ ॥

तुच्छतासे मुझे मूढ देख मानव रूपमें ।
न जानते महा-रूप मेरा जो विश्व-चालक ॥ ११ ॥

इसीलिए तू धनंजय । भूलेगा यह अभिप्राय ।
स्थूल दृष्टिका ज्ञानाशय । होगा व्यर्थ ॥ ४३ ॥

स्थूल-दृष्टिसे मुझे पार्थ । देखना है जान तू व्यर्थ ।
स्वप्नमें पीनेसे अमृत । न होता अमर ॥ ४४ ॥

वैसे स्थूल-दृष्टि है मूढ । जानते समझके दृढ ।
वह जानना होता आड । स्वरूप ज्ञानके ॥ ४५ ॥

होनेसे जैसा नक्षत्रका आभास । अपना ही घात कर लेता हंस ।
नीरमें रत्न-बुध्दिकी कर आस । मारकर चोंच ॥ ४६ ॥

गंगा जान गया मृगजल । उस जानेसे मिला क्या फल ।
सुरतरु समझ बबूल । लगानेसे क्या होगा ? ॥ ४७ ॥

हार मान नीलमणिका दुहरा । पकड लिया विषैला फणिधर ।
अथवा रत्न मानकर पत्थर । चुनना जैसे ॥ ४८ ॥

या प्रकट हुआ स्वर्ण-भंडार । कहकर उठा लिया अंगार ।
कूपमें कूदा छाया देखकर । अपनी सिंह ॥ ४९ ॥

मुझको देहधारी मानकर । निश्चय किया है धनुर्धर ।
उसने चंद्र समझकर । पकडा प्रतिबिंब ॥ १५० ॥

वैसे कृत-निश्चय गया व्यर्थ । कोयी जैसे मांड पीकर पार्थ ।
देखने लगा सुपरिणामार्थ । अमृतके मानो ॥ ५१ ॥

वैसे नाशवंत स्थूलाकार । चितमें निश्चय बांधकर ।
परखा अविनाश अक्षर । दीखूंगा मैं कैसे ॥ ५२ ॥

कोयी पश्चिम समुद्रका तट । चलके पहुंचे पूर्वकी बाट ।
चोकर कूट करके सुभट । मिलेंगे क्या दाने ॥ ५३ ॥

वैसे विकृत जो स्थूल । जानकर मैं केवल ।
जैसे फेन पीके जल । कैसे पायेगा ? ॥ ५४ ॥

ऐसे मोहग्रस्त मनसे । यही मैं मान संभ्रमसे ।
देहके जन्मादि कर्मोंसे । लादते मुझे ॥ ५५ ॥

जिससे अनामको नाम । मुझ क्रिया-शून्यको कर्म ।
अ-शरीरको देह धर्म । आरोपते ॥ ५६ ॥

मुझ आकारशून्यको आकार । औ' निरुपाधिकको उपचार ।
विधि विवर्जितको व्यवहार । आचारादिक ।। ५७ ।।

मुझ वर्ण-हीनको वर्ण । तथा गुणातीतको गुण ।
औ' अ-चरणको चरण । अ-पाणिको पाणी ।। ५८ ।।

अमर्यादको मान । सर्वगतको स्थान ।
शय्यापे लेटे जान । देखते हैं ।। ५९ ।।

वैसे अ-श्रवणको श्रोत्र । मुझ अ चक्षुको नेत्र ।
तथा अ-गोत्रको गोत्र । रूप अ-रूपको ।। १६० ।।

मुझ अव्यक्तको व्यक्ति । तथा अनार्तको आर्ती ।
सर्व तृप्तिको है तृप्ति । सोचते सब ।। ६१ ।।

अनावरणको प्रावरण । भूषण-अतीतको भूषण ।
सकल कारणको कारण । देखते मुझको ।। ६२ ।।

मुझ सहजको रचते । स्वयंभूको हैं प्रतिष्ठते ।
निरंतरको आह्वानते । तथा विसर्जते हैं ।। ६३ ।।

सर्वदा मैं स्वयं-सिद्ध । बाल तरुण और वृद्ध ।
एक रूपका संबंध । जानते वे मुझे ।। ६४ ।।

मुझ अद्वयको द्वैत । अकर्ताको माने कर्ता ।
तथा अभोक्तको भोक्ता । कह जानते ।। ६५ ।।

अकुलका करते कुल-वर्णन । नित्यके निधनसे व्याकुल-मन ।
अंतर्यामिका शत्रु-मित्र अर्जुन । मानते हैं वे ।। ६६ ।।

मैं हूं सर्वदा स्वानंदाभिराम । मुझे माने सकल-सुखकाम ।
सर्वत्र व्याप्त हूं संपूर्ण सम । मानते मुझ स्थानिक ।। ६७ ।।

आत्मा मैं चराचरमें बसता । कहते एकका पक्ष लेता ।
दूसरेका शत्रु बन मारता । बढाचढाके गाते यह ।। ६८ ।।

अजी ! प्राय: ऐसे समस्त । मनुष्य-धर्म जो प्राकृत ।
लगाते मुझे विपरीत । यही उनका ज्ञान ।। ६९ ।।

आकार कोई जब देखते । देव भावसे पूजा करते ।
वह बिगडनेपे कहते । नहीं रहा अब ।। १७० ।।

ऐसे ही अनेक प्रकार । बनाकर मानवाकार ।
करके ज्ञानपे अंधार । विपरीत ज्ञानसे ॥ ७१ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मैं अंधोंके हाथमें पड़ा मोति-सा हूं—

इसीलिए जन्मना ही मोघ । जैसे वर्षाके बिन ही मेघ ।
अथवा मृगजल तरंग । देखना दूरसे ही ॥ ७२ ॥

या मृत्तिकाके घुडसवार । या कलंदरके अलंकार ।
गंधर्व-नगरका आवार । आभास जो ॥ ७३ ॥

जैसे थूहरका बडा सरल । अंदर खोकला ना है फल ।
लटकते स्तन जैसे गला- । में बकरीके ॥ ७४ ॥

मूर्खका जीवन है व्यर्थ । जैसे सेमल फल पार्थ ।
धिक् उसके कर्म समस्त । जो हैं निरर्थक ॥ ७५ ॥

फिर मानो है उसका पढना । मर्कटका नरियल तोडना ।
अथवा अंधेका हाथ पडना । मोति जैसे ॥ ७६ ॥

वास्तवमें उनके शास्त्र । कुम्हारके हाथमें शस्त्र ।
या कहा अशौचको मंत्र- । बीज किसीने ॥ ७७ ॥

वैसे उसका ज्ञान-जात । औ' आचरण क्रिया पार्थ ।
वह संपूर्ण गया व्यर्थ । चित्तहीन ॥ ७८ ॥

तमो-गुण राक्षसी । जो है सद्बुद्धि ग्रासी ।
विवेक-मूल नासी । निशाचरी ॥ ७९ ॥

उस प्रकृतिके आधीन हुये । इसीलिए चिंताका ग्रास भये ।
इस तामसीके कलेऊ हुये । मुखमें ही ॥ १८० ॥

वे आशावाद मूढोंके व्यर्थ हैं ज्ञान-कर्म भी ।
जिन्होंने संपदा पायी आसुरी मोह-कारक ॥ १२ ॥

जहां लारमें आशाकी । लोटती जिह्वा हिंसाकी ।
जुगाली करें कौरकी । मोदसे नित ॥ ८१ ॥

जो हैं कान तक अनर्थके । चाटती जीभ बाहर लाके ।
कोह बन प्रमाद गिरिके । हुई उन्मत्त ॥ ८२ ॥

जहां हैं क्रूर दांत द्वेषके । पीसते हैं बीजको ज्ञानके ।
आवरण डालते तमके । मूढ-बुध्दि पर ॥ ८३ ॥

आसुरी बुद्धिके मुखमें ऐसे । पडते हैं भूत बलिके कौरसे ।
भ्रमजालके कुण्डमें पडनेसे । सुन धनंजय ॥ ८४ ॥

पडे वे ऐसे गर्तमें तमके । न लगते हाथमें विचारके ।
जहां गये उस स्थानके । निशान भी नहीं ॥ ८५ ॥

मैं भक्तोंके कीर्तन-मेलेमें रहता हूं—

यह निष्फल वर्णन तदर्थ । रहने दो मूर्खोंकी बात पार्थ ।
विस्तार करनेसे वाणी व्यर्थ । थकेगी इससे ॥ ८६ ॥

ऐसे बोले तब देव । "जी" कहा सुन पांडव ।
सुन वाचा ही नीरव । साधु-कथासे ॥ ८७ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

अजी ! जिनका है निर्मल मानस । बसता वहां मैं ले क्षेत्र-सन्यास ।
नींदमें भी वे करते स-उल्लास । वैराग्याराधना ॥ ८८ ॥

जिनका सद्भाव आलंबन । रहता धर्मका सिंहासन ।
जिनके मनका है जीवन । विवेकमात्र ॥ ८९ ॥

जो हैं ज्ञान गंगामें स्नात । पूर्णता-भोजनसे तृप्त ।
शांति-लताके नव-पात । है अति कोमल ॥ १९० ॥

जुटाके संपदा दैवी महात्मा भजते मुझे ।
अनन्य भावसे जान मैं विश्वारंभ शाश्वत ॥ १३ ॥

पूर्णावस्थामें जो फूटे अंकुर । तथा धर्म-मंडपके आधार ।
शांति-सागरसे लिये हैं भर । पूर्ण-कुम्भ जैसे ॥ ९१ ॥

भक्तिकी हुई इन्हें इतनी प्राप्ति । कहते वे परे हठो तुम मुक्ति ।
उनके आचरणसे है नीति । खिलती सदा ॥ ९२ ॥

उनकी इंद्रियां भी संपूर्ण । पहने हैं शांतिका भूषण ।
उनका चित है आवरण । मुझ व्यापकको ॥ ९३ ॥

ऐसे जो महानुभाव । दैवी प्रकृतिके देव ।
जान करके वे सर्व । मेरा ही रूप है ॥ ९४ ॥

बढता हुआ उनका प्रेम । मुझे भजता है जो निष्काम ।
किंतु भिन्नताका मनोधर्म । छूता भी नहीं ॥ ९५ ॥

स्वयं मैं होकर पांडव । करते हैं वे मेरी सेवा ।
किंतु आश्चर्य है जो भाव । अब मैं कहता ॥ ९६ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

उत्कर्षसे उन्होंने कीर्तनके । नाशे व्यवसाय प्रायश्चित्तके ।
नाम भी न रहे सब पापके । ऐसा ही किया ॥ ९७ ॥

निस्तेज किये सब यम-दम । तीर्थ हठाये पदसे उत्तम ।
थमे यमलोकके उपक्रम । अनेक प्रकारके ॥ ९८ ॥

यम कहें क्या यमना । दम पूछे किसे दमना ।
तीर्थ कहते हैं क्या खाना । दोष नहीं नाम-मात्र ॥ ९९ ॥

ऐसा है मेरा नाम-घोष । मिटाते हैं विश्वके दुःख ।
सारे जगमें महासुख । गूंज-महकता ॥ २०० ॥

दिखाते वे सूर्योदय बिन । जिलाते हैं अमृतके बिन ।
तथा वे देते योगके बिन । दर्शन-कैवल्यको ॥ १ ॥

नित्य कीर्तनमें मेरे यत्नसे लीन जो व्रती ।
भक्तिसे नित्य हो युक्त पूजते नम्र भावसे ॥ १४ ॥

राजा रंकका भेद नहीं करते । बाल-वृद्ध यह भी नहीं देखते ।
जगतको आनंदमें भर देते । पूर्ण-रूपसे ॥ २ ॥

अजी ! कभी कोई जाता है वैकुण्ठ । इन्होंने किया है विश्व ही वैकुण्ठ ।
मेरे नाम गौरवसे है सुभट । उजलाया विश्व ॥ ३ ॥

तेजमें होते सूर्य-से उज्वल । किन्तु सूर्यमें अस्तका काजल ।
पूर्ण-चन्द्र रहता एक काल । ये सदा पूर्णत्वमें ही ॥ ४ ॥

बरसनेमें मेघ उदार । घटनेमें हैं वह अपूर ।
ये निःसंदेह कृपालु वीर । पंचानन ॥ ५ ॥

उनकी जिह्वा पर सतत । नाम रहे मेरा नृत्य-रत ।
पानेमें जो जाते जन्मजात । सहस्रावधि ॥ ६ ॥

तब मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता । भानु-बिंबमें तब नहीं दीखता ।
योगियोंके हृदयके पार जाता । मैं उस समय ॥ ७ ॥

किंतु उनके पास धनुर्धर । करते जो नाम-घोष मधुर ।
रहता हूँ मैं निश्चित सादर । जो है खोया हुआ ॥ ८ ॥

मेरे गुणगानमें ही हैं वे तृप्त । देशकाल भूलते जो नामरत ।
कीर्तन सुखमें हुए सतत । स्वरूप रूप ॥ ९ ॥

कृष्ण विष्णु हरि गोविंद । नामके निखिल प्रबंध ।
तथा आत्म-चर्चा विषद । खोते हैं उसमें ही ॥ १० ॥

नमस्कार भक्तिसे मद्रूप होते हैं—

रहने दो अब ये अर्जुन । सुन करके वे मेरा कीर्तन ।
तथा विचरते हैं अनुदिन । चराचरमें ॥ ११ ॥

ऐसे अनेक हैं पार्थ । कर सहज सिद्धता ।
मन-प्राणको ले साथ । पथ-दर्शक ॥ १२ ॥

बाहर लगायी यम नियमकी बाड़ । भीतर वज्रासनका गढ़ सुदृढ़ ॥
उस पर प्राणायमकी तोप चढ़ा- । रखी है सज्ज ॥ १३ ॥

वहां कुण्डलिनीके प्रकाशमें । मन-पवनके सहयोगमें ।
कर लिया अपने आधीनमें । सत्रहवींका कुम्भ ॥ १४ ॥

प्रत्याहारने तब पराक्रम किया। विषयोंके नाम मात्रको मिटा दिया
सब इन्द्रियोंको बांध करके लाया। हृदयांगनमें ॥ १५ ॥

तब दौड़े धारणाके घुड़सवार। पकड़ लाये महाभूत इक ठौर।
फिर किया चतुरंग सेना संहार। जो हैं संकल्पकी ॥ १६ ॥

तब "विजय हुआरे विजय।" सिंगी बजी ध्यानकी हो निर्भय।
दीखता तन्मयका स-समय। वहां एक-छत्र ॥ १७ ॥

फिर समाधिश्रीका अशेष। आत्मानुभवका राज्य-सुख।
सिंहासन आरोहण देख। हुआ समरससे ॥ १८ ॥

ऐसा है यह गहन। अर्जुन मेरा भजन।
अब कहता हूं सुन। अन्य प्रकार ॥ १९ ॥

जैसे सर्वत्र समानरूपमें। एक तंतु रहता है वस्त्रमें।
वैसे वे "मैं" बिन चराचरमें। जानते नहीं ॥ २० ॥

आदि ब्रह्मसे लेकर। मच्छर तक आखर।
मेरा रूप है सुन्दर। जानते हैं यह ॥ २१ ॥

फिर छोटा बड़ा नहीं कहते। निर्जीव सजीव नहीं जानते।
सबके सम्मुख नम्र हैं होते। सब "मैं" मानकर ॥ २२ ॥

अपना उत्तमत्व नहीं जानते। औरोंकी योग्यायोग्यता न देखते।
सर्वत्र आत्म-तत्व देख नमते। प्रेम-भावसे ॥ २३ ॥

जैसे ऊपरसे पानी गिरता। नीचे तल तक है वह जाता।
वैसे भूतमात्रसेही नम्रता। स्वभाव यह उनका ॥ २४ ॥

या वृक्षकी शाखा फल - भारसे। उतरती है सहज-भावसे।
वैसे वे झुकते हैं नम्रतासे। सबके प्रति ॥ २५ ॥

रहते हैं सर्वज्ञ निराभिमान। विनय ही उनकी संपत्ति महान।
करते वे जयजय मंत्र अर्पण। मुझको ही ॥ २६ ॥

नमनसे गला मानाभिमान। सहज हुए मद्रूप अर्जुन।
ऐसे होकर मत्स्वरूप-लीन। भजते मुझको ॥ २७ ॥

है यह अर्जुन श्रेष्ठ भक्ति। कही मैंने अभी तेरे प्रति।
ज्ञान-यज्ञसे भजन रीति। सुन तू भक्तकी अब ॥ २८ ॥

ज्ञानी-भक्त सदा-सर्वत्र एक भावसे मुझे देखता है—

यह भजन-परिपाटी। जानता ही है तू किरीटी।
की इसकी हमने गोष्ठी। पहले ही ॥ २९ ॥

तब कहता है "जी हां" अर्जुन। "यह है देवप्रसाद महान।"
जब मिलता अमृत-भोजन। कहेगा कौन "बस है" ॥ २३० ॥

सुनकर यह अनंत। हुआ अति प्रसन्न-चित्त।
सुननेका अर्जुन-मत। जानकर ॥ ३१ ॥

कहते हैं भला किया पार्था। यह अनवसर सर्वथा।
किंतु कहलाती तेरी अवस्था। मुझसे अब ॥ ३२ ॥

पार्थ पूछे ऐसे कैसे कहता। बिन चकोर चंद्र नहीं उगता?।
देता है वह विश्वको शीतलता। यह स्वभाव उसका ॥ ३३ ॥

यहां चकोर अपनेही हितार्थ। चोंच उठाता चन्द्रकी ओर नित।
हमारी विनय है एक निमित्त। देव आप कृपासिंधु ॥ ३४ ॥

उदारतासे मेघ बरसता। जगतकी है तरस मिटाता।
चातककी प्यासकी क्या है कथा। वर्षाके सम्मुख ॥ ३५ ॥

पानीके लिये एक घूंट। जाना पडता गंगा-तट।
देव सुनाओ हमें चट। चाह है बहु या अल्प ॥ ३६ ॥

कृष्ण कहे रहने दो पार्था। देखके तुम्हारी यह आस्था।
हुआ है मेरा चित्त मुदित। स्तुति न होती सहन ॥ ३७ ॥

जब तू सुनता है अति उत्तम। वक्तृत्व निमंत्रणका काम।
कहता यह बोल पुरुषोत्तम। आदर कर बोले ॥ ३८ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

ज्ञान-यज्ञका यह रूप। आदि संकल्प यह यूप।
पंच-महाभूत मंडप। भेद है पशु ॥ ३९ ॥

दूसरे ज्ञान-यज्ञोंसे देखके ब्रह्म-भावसे।
विवेकसे अविभेद भेदमें भजते मुझे ॥ १५ ॥

फिर पांचोंके जो विशेष गुण। अथवा इन्द्रियां तथा है प्राण।
यही है यज्ञोपचार भरण। अज्ञान है घृत ॥ २४० ॥

वहां कुण्ड है मन बुद्धिका। प्रज्वलित अग्नी है ज्ञानका।
समताकी सुन्दर वेदिका। जान तू पार्थ ॥ ४१ ॥

मति कौशल्य स-विवेक। मंत्र-विद्या गौरव नेक।
शांति ही है सुवा और सुक। जीव है यजमान ॥ ४२ ॥

स्वरूपानुभव पात्रसे। विवेकके महा-मंत्रसे।
वह है ज्ञानाग्नि होत्रसे। नाशता भेद ॥ ४३ ॥

जब है अज्ञान मिट जाता। यजितका यज्ञ है रुकता।
आत्म-समरस स्नान होता। अवभृतका ॥ ४४ ॥

तब भूत विषय कारण। न होता इसका भेद ज्ञान।
एकत्वका है संपूर्ण ज्ञान। होता आत्म-बुद्धिसे ॥ ४५ ॥

जागृत मनुष्य जैसे अर्जुना। कहता स्वप्नकी विचित्र सेना।
आप रही स्वयं बन गया था ना। निद्राशव होकर ॥ ४५ ॥

अब न रही सेना जो थी सेना। मैं अकेला ही था पूर्ण रूपेण।
ऐसा होता तब एकत्व-भान। उसको विश्वका ॥ ४७ ॥

फिर जीवत्वका भान है मिटता। आब्रह्म परमात्म बोध भरता।
इस भांति ज्ञान-भावसे भजता। अद्वय-बोधसे ॥ ४८ ॥

जब सर्वत्र मैं हूं तब अलग भजन कैसे?—

या अनादि यह अनेक। भिन्नत्व है अनेकानेक।
तथा है नाम-रूपादिक। वह भी विषम ॥ ४९ ॥

इसीलिए विश्व है भिन्न। न भेदता उसका ज्ञान।
जैसे अंग हैं भिन्न भिन्न। पर शरीर एक ॥ २५० ॥

शाखाओंके अनेक प्रकार। किंतु है एक ही तरूवर।
रश्मि ढेर, एक दिनकर। वैसे ही पार्थ ॥ ५१ ॥

वैसे नानाविध व्यक्ति । नाना नाम तथा वृत्ति ।
उसमें मैं अभेद - मूर्ति । भेदमें जानते ॥ ५२ ॥

ऐसे भिन्नत्वमें धनुर्धर । करते ज्ञानयज्ञ सुन्दर ।
बोध न होता नाना प्रकार । जाननेसे ॥ ५३ ॥

या जहां जो कुछ है देखते । मेरे बिन अन्य न जानते ।
सदा मेरी प्रतीति करते । यह बोध उनका ॥ ५४ ॥

बुल्ले जहां तथा जितने होते । जलके आधारसे ही बनते ।
फिर रहते या घुल जाते । पानीमें ही ॥ ५५ ॥

मानो आंधीने परमाणु उडाये । वे भूमित्वसे अलग नहीं गये ।
वे जब पुनः नीचे ही गिर गये । तो पृथ्वी पर ही ॥ ५६ ॥

वैसे कहीं कुछ भी हो जाये । या कहो कुछ भी ना हो जाये ।
सब ही "मैं" बोध लेते गये । सर्व-भावसे ॥ ५७ ॥

अजी! जहां जितनी मेरी व्याप्ति । उतनी ही है उनकी प्रतीति ।
बहुधाकारकी वर्तन स्थिति । बहुरूप उनकी ॥ ५८ ॥

जैसे भानु-बिंब नित्य । सबके सम्मुख दिव्य ।
वैसे वे विश्वके भव्य । सदा सम्मुख ॥ ५९ ॥

अजी! उनका वह जो ज्ञान । आगे पीछे न जाने अर्जुन ।
वायु जैसा सदैव गगन । रहे सर्वत्र ॥ २६० ॥

वैसे जितना हूं मैं संपूर्ण । उतना उनका भाव-पूर्ण ।
इससे न करते अर्जुन । भजन होता है ॥ ६१ ॥

वैसे मैं हूं सर्वत्र पूर्ण रूपसे । कहां मेरा भजन न होता कैसे ।
किंतु यहां ऐसा ज्ञान होनेसे । भजन न होता ॥ ६२ ॥

यहां जो उचित रूपसे । भजते हैं ज्ञान-यज्ञसे ।
कही बात मैंने तुझसे । उनकी पार्थ ॥ ६३ ॥

जहां मैं नहीं ऐसा स्थान नहीं—

यह सब है सतत सबकी ओरसे । अर्पण होता मुझे सहज भावसे ।
यह नहीं जाननेसे अज्ञानियोंसे । न होता मुझे अर्पण ॥ ६४ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

उदय होगा जब ज्ञानका । तब वेद ही "मैं हूं" इसका ।
"मैं" ही तजन्य-क्रतु होनेका । अनुभव होगा ॥ ६५ ॥

तब यज्ञ जन्य सकल । सांगोपांग कर्म निर्मल ।
यज्ञ भी "मैं" यह निखिल । होगा बोध पार्थ ॥ ६६ ॥

स्वाहा "मैं" हूं तथा स्वधा । सोमादि दिव्य विविध ।
आज्य और "मैं" समिधा । मंत्र औ, हवि भी ॥ ६७ ॥

होता मैं हवन करता । अग्नि स्वरूप मैं रहता ।
हवन-वस्तु जो जो होता । वह सब मैं हूं ॥ ६८ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

अजी ! जिसके अंग-संगसे । यहां प्रकृतिके अष्टांगसे ।
जन्म होता विश्वका जिससे । पिता वह मैं हूं ॥ ६९ ॥

अर्धनारी नटेश्वरी । जो पुरुष वह नारी ।
वैसा मैं सचराचरीं । माता भी हूं ॥ २७० ॥

जगत जहांसे होता औ' रहता । जिससे जीवन लेकर बढता ।
मेरे बिना वह कछु नहीं होता । अन्य धनुर्धर ॥ ७१ ॥

प्रकृति तथा पुरुष दोनोंको यहां । जनम दिया हमने मनमें जहां ।
वह पितामह त्रिभुवनमें यहां । मैं हूँ विश्वका ॥ ७२ ॥

जहां ज्ञान-रूप सभी वाट । जिस स्थान आती हैं सुभठ ।
उन वेदोंकी वेद्य जो गोष्ठ । कहलाती है ॥ ७३ ॥

मैं ही संकल्प मैं यज्ञ स्वावलंबन अन्न मैं ।
मंत्र मैं हव्य भी मैं हु अग्नि मैं अहुती तथा ॥ १६ ॥

जगदाधार ही मैं हूं माता पिता पितामह ।
मैं तीनों वेद ॐकार जानने योग्य पावन ॥ १७ ॥

जहां नाना मतोंका अपरिचितपन । मिटता है शास्त्रोंका अनजान ।
मिलते हैं जहां भूले हुए सभी ज्ञान । वह पवित्र मैं हूँ ॥ ७४ ॥

ब्रह्म-बीजका फूटा अंकुर । घोष ध्वनि नाद औ' आकार ।
उसका भुवन जो ओंकार । वह भी मैं हूँ ॥ ७५ ॥

उस ओंकारका है उदर । समालेता है अ, उ, म, कार ।
जनमते ही वेद लेकर । उठे वे तीनों ॥ ७६ ॥

इसीलिए ऋग् यजु तथा साम । ये तीनों कहे मैं आत्माराम ।
एवं मैं ही हूँ सब कुलक्रम । शब्द ब्रह्मका ॥ ७७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

जो है यह चराचर संपूर्ण । जिसमें भरी है प्रकृति पूर्ण ।
उस प्रकृतिका विश्राम स्थान । परमगति मैं हूँ ॥ ७८ ॥

जिससे पाती है प्रकृति जीवन । अधिष्ठानसे होता विश्व जनन ।
आकर जो उस प्रकृतिके गुण । भोगता है ॥ ७९ ॥

विश्वश्रीका वह भर्ता । मैं हूँ जानो पांडुसुता ।
हूँ अधिपति समस्ता । त्रिभुवनका मैं ॥ २८० ॥

आकाशको सर्वत्र बसाना । वायुको कभी स्वस्थ न होना ।
तथा वर्षाको बरसना । औ' दहना अग्निको ॥ ८१ ॥

पर्वतको न छोडना आसन । समुद्रको न सीमा उल्लंघन ।
पृथ्वी करे भूतोंका वहन । यह है आज्ञा मेरी ॥ ८२ ॥

मेरे कहनेसे है वेद बोलता । मेरे चलानेसे सूर्य है चलता ।
मेरे हिलानेसे प्राण है हिलता । करता विश्वका चलन ॥ ८३ ॥

मेरे ही नियमनमें काल । प्राणि-मात्रको जाता निगल ।
मेरी ही आज्ञामें हैं सकल । चलता नित्य ॥ ८४ ॥

साक्षी स्वामी सखा भर्ता निवास गति आसरा ।
मैं हूं कर्ता धर्ता हर्ता निदान बीज अक्षय ॥ १८ ॥

ऐसा हूं मैं समर्थ । जो जगतका नाथ ।
औ' मैं हूं साक्षीभूत । गगन जैसा ॥ ८५ ॥

यहां नाम रूपमें पूर्ण । बसा हुआ है अर्जुन ।
नाम रूपका अधिष्ठान । वह भी मैं हूं ॥ ८६ ॥

जलका है जैसे कल्लोल । औ' कल्लोलमें होता जल ।
वैसे विश्वका मैं सकल । आधार भूत हूँ ॥ ८७ ॥

होता जो मेरा अनन्य शरण । उसका हरता जन्म मरण ।
शरणगतका शरण्य स्थान । मैं ही एक ॥ ८८ ॥

एक मैं अनेक रूप-धारण । कर ले प्रकृतिके भिन्न गुण ।
बन सजीव जगतके प्राण । रहता हूँ पार्थ ॥ ८९ ॥

*खरा सागर भेद न मान । सबमें बिंबता सूर्य समान ।
वैसे ब्रह्मादि भूतमें समान । सु-हृदयस्थ मैं ॥ २९० ॥

अजी ! मैं ही हूँ अर्जुन । त्रिभुवनका जीवन ।
सृष्टि क्षयका कारण । मूल जो मैं हूँ ॥ ९१ ॥

बीज ही शाखाओंको प्रसवता । वही वृक्ष बीजमें है समाता ।
वैसे संकल्पसे सब बनता । औ' समाता संकल्पमें ॥ ९२ ॥

विश्वका बीज जो है संकल्प । अव्यक्त तथा वासना रूप ।
उस संकल्पका है निक्षेप । अन्तमें मैं हूँ ॥ ९३ ॥

यहां नाम-रूप मिटते । वर्ण औ' व्यक्ति है अटते ।
जातिके भेद भी खुलते । जब न होता आकाश ॥ ९४ ॥

संकल्प वासना संस्कार । फिर रचनेमें आकार ।
रहते हैं जहां अमर । वह स्थान मैं हूँ ॥ ९५ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ।

तपके जलको खींच गिराता वृष्टि रूपसे ।
मृत्यु मैं और मैं मोक्ष मैं ही सत् और हूं असत् ॥ १९ ॥

मैं सूर्य बन तपता । शोषता औ' प्रकाशता ।
इंद्र बन मैं वर्षाता । आता सुकाल ॥ ९६ ॥

जब है अग्नि काष्ठ खाता । काष्ठ ही है अग्नि बनता ।
वैसे मरता व मारता । जानो स्वरूप मेरा ॥ ९७ ॥

जो जो दीखता है यहां मर्त्य । वह सब मेरा रूप स्तुत्य ।
तथा जो है सहज अमर्त्य । वह अविनाशी हूँ मैं ॥ ९८ ॥

अजी ! बहुत बोल क्या करना । सबही एक वाक्यमें जानना ।
सता-सत सार अनुभवना । मैं हूँ सब ॥ ९९ ॥

पुण्यकी समाप्तिके बाद पुनः मृत्यु-लोकमें—

इसीलिए पार्थ मैं नहीं । ऐसा कछु है नहीं कहीं ।
प्राणियोंका दैव है कहीं । जो न देखें मुझको ॥ ३०० ॥

पानी बिन तरंग है सूखती । सूर्य बिन रश्मि न दीखती ।
न करते मद्रूपकी प्रतीति । है यह विस्मय ॥ १ ॥

भरा यह मुझसे बाहर भीतर । ढला है विश्व मुझसे ही ओर छोर ।
किंतु बीता है उनका कर्म-कठोर । कहते हैं मैं नहीं ॥ २ ॥

अमृत-कुण्डमें जो पडते । अपनेको निकाल कहते ।
ऐसोंको है क्या कह सकते । अप्राप्यको होता ऐसा ॥ ३ ॥

अन्नके लिए एक कौर । दौडता है अंध सत्वर ।
चिंतामणि ठुकराकर । अंधत्वमें ॥ ४ ॥

मिटती है जब ज्ञानमें आस्था । होती ऐसी अंधेकीसी अवस्था ।
करके न किया ऐसा सर्वथा । होता ज्ञानके बिन ॥ ५ ॥

अंधेको गरुड पंख मिलता । उसका क्या उपयोग होता ।
वैसे सत्कर्म सदा व्यर्थ जाता । ज्ञानके बिन ॥ ६ ॥

अजी ! देख तू यह अर्जुन । आश्रम-धर्मका आचरण ।
विधि-मार्गका देता शिक्षण । अपने आप ॥ ७ ॥

करनेसे सहज-यजन । होता है प्रसन्न वेदार्जन ।
क्रिया फल सह मूर्तिमान । आता सम्मुख ॥ ८ ॥

ऐसे दीक्षित है जो सोमप । आपही होते यज्ञ-स्वरूप ।
वहां पुण्यके नामसे पाप । जुडा जान ॥ ९ ॥

श्रुतित्रयको वे जानकर । शत-यज्ञोंको सम्पन्न कर ।
यजित मुझको भूलकर । चाहते स्वर्ग ॥ ३१० ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

जैसे जो कल्पतरुकी छायामें । बैठ गांठ बांधे भिक्षा-झोलीमें ।
निकलेगा ही वह भिक्षान्नमें । निर्दैवी निश्चित ॥ ११ ॥

वैसे सौ शत सौ यज्ञ किये मेरेलिए । किंतु चाह है स्वर्ग सुखकेलिए ।
पुण्य करना यह पापकेलिए । ऐसा नहीं क्या ? ॥ १२ ॥

मुझे छोडकर पाना स्वर्ग । अज्ञानका यह पुण्यमार्ग ।
ज्ञानी जन उसे उपसर्ग । कहते हैं जो ॥ १३ ॥

वैसे देख नरकको दुःख । दिया है नाम स्वर्गको सुख ।
नित्यानन्द-रूप है निर्दोष । स्वरूप मेरा ॥ १४ ॥

मेरे पास आते हुए पार्थ । पडते हैं ये दोनों सतत ।
स्वर्ग तथा नरकका पथ । है ये चोरोंके ही ॥ १५ ॥

जो मेरे पास लाता है वही शुद्ध-पुण्य है—

स्वर्ग देता है पुण्यात्मक पाप । नरक देता है पापात्मक पाप ।
मुझ तक पहुंचाता है आप । यह है शुद्ध-पुण्य ॥ १६ ॥

मत्स्वरूपमें रहते । मुझसे हैं दूर होते ।
ऐसे कर्मको कहते । पुण्य कैसे ? ॥ १७ ॥

वेदाभ्यासी सोम पीके पुनीत
यज्ञसे जो चाहते स्वर्ग पाना ।
वे पुण्यसे पाकर इंद्र-लोक
पाते वहांके सुख भोग दिव्य ॥ २० ॥

किंतु रहने दो यह प्रस्तुत । सुन इस भांति हैं वे दीक्षित
यज कर मुझको ही याचित । स्वर्गका सुख ॥ १८ ॥

जो पापात्मक पुण्य होता । उससे मैं नहीं मिलता ।
उससे प्राप्त जो योग्यता । देती है स्वर्ग ॥ १९ ॥

स्वर्ग-सुखका वर्णन—

अमरत्व जहां सिंहासन । ऐरावत जैसा है वाहन ।
राजधानी तथा है भुवन । अमरावती ॥ ३२० ॥

महासिध्दिका जहां भंडार । अमृतका भरा है कोठार ।
वहां फिरते हैं समाहार । कामधेनुके ॥ २१ ॥

देवही जहां स्वयंसेवक । भूमि है चिंतामणिकी नेक ।
विनोद वाटिका हैं अनेक । सुरतरुकी वहां ॥ २२ ॥

गायन गंधर्वोंका । नर्तन है रंभाका ।
विलास उर्वषीका । मिलता वहां ॥ २३ ॥

मदन करता शैय्या-शृङ्गार । चन्द्र बिछाता अमृत-तुषार ।
हरकारा है पवन तयार । वहां सदैव ॥ २४ ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

बृहस्पतिसे महान । स्वस्तिश्रीके ब्राह्मण ।
भोजनमें सुरगण । साथ रहते ॥ २५ ॥

वे भोगते स्वर्ग विशाल ऐसा
आते यहीं क्षीण होते हि पुण्य ।
ऐसे फलासक्त जो वेद-धर्मी
पुनः पुनः जाकर लौटते हैं ॥ २१ ॥

लोकपालोंके समान । अश्व खींचते वाहन ।
उच्चैश्रवा स-सम्मान । चलता आगे ॥ २६ ॥

वहां मिलते हैं ऐसे । भोग इंद्र-सुख जैसे ।
पुण्यांश लोप होनेसे । होते लोप ॥ २७ ॥

पुण्य क्षीण होनेके बाद—

पुण्यका जब लोप होता । इंद्रैश्वर्य भी है मिटता ।
तब लौट आना पडता । मृत्यु लोकमें ॥ २८ ॥

धन गंवाता है जो वेश्यागमनमें । जा न सकता फिर उसके द्वारमें ।
दीक्षितके वैसे लज्जित जीवनमें । कहना क्या रहा ? ॥ २९ ॥

उन्होंने यहां खोया मुझको । पुण्य बलसे चाहा स्वर्गको ।
वंचित हुवे अमरत्वको । तब फिर मृत्यु-लोक ॥ ३३० ॥

फिर माताका उदर गह्वर । पचाना वहाँ मलमूत्र सागर ।
वहां रहके नवमास भर । जनमते औ' मरते ॥ ३१ ॥

अजी ! स्वप्नमें पाते निधान । जगकर भूलते सम्पूर्ण ।
वैसे स्वर्गका सुख है जान । वेदज्ञोंका ३२ ॥

यद्यपि हैं वेद महान । मेरे बिन हैं वे अर्जुन ।
भूसा कूटना धान बिन । वैसा है व्यर्थ ॥ ३३ ॥

जो मेरी निष्काम भक्ति करते हैं उनका मैं दास बनता हूं—

इसलिए जो मेरे बिन । वेद-धर्म है अकारण ।
जान मुझे कुछ न जान । तो भी होगा सुखी ॥ ३४ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

चितसे सर्व भाव संपूर्ण । मुझे किया सर्व समर्पण ।
जैसे गर्भ-गोल है अजान । न जानता उद्यम ॥ ३५ ॥

अनन्य भावसे नित्य भजते भक्त जो मुझे ।
उनका जो सदा लीन चलाता योग-क्षेम मैं ॥ २२ ॥

मेरे बिन कुछ भी नहीं । जिन्हें सुहाता कभी कहीं ।
उनके जीवन हेतु ही । एकमात्र मैं ॥ ३६ ॥

ऐसा अनन्य गति जो चित्त । मेरे ही चिंतनमें है रत ।
उनकी मैं हूँ दिन रात । सेवा करता ॥ ३७ ॥

जब वे एकनिष्ठ हो पार्थ । चलते रहते मेरा पथ ।
उनकी चिंता है मेरे साथ । लगती सदा ॥ ३८ ॥

फिर जो जो है उनको करना होता। वह सब मुझको ही करना पडता ।
जैसा अजात पक्षीका जीवन होता । पक्षिणीको जीना ॥ ३९ ॥

शिशु अपनी भूख-प्यास न जानता। तब माताको सब करना पडता ।
वैसे जो प्राण-पणसे मुझे भजता । उनकी सेवा लजाता नहीं ॥ ३४० ॥

उसको चाह मेरे सायुज्यकी । उसे पूर्ण करना मेरे मनकी ।
या सेवाकी चाह मुझसे उसकी । जिससे होती प्रीति ॥ ४१ ॥

वैसे मनमें वे जो जो भाव । धरते पूर्ण करता देव ।
देता जो उसे मैं ही सदैव । रक्षण करता ॥ ४२ ॥

किंतु विश्वमें सकाम भक्त ही अधिक हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

यह योग-क्षेम सम्पूर्ण । मुझ पर पडा अर्जुन ।
उसका है सर्व भावेन । मैं ही आश्रय ॥ ४३ ॥

अब अन्य कयी हैं संप्रदाय । जो मुझे न जानते मैं उन्हें नित्य ।
वे हैं अग्नि इन्द्र सूर्य सोमाय । कहकर हैं यजते ॥ ४४ ॥

वह भी है मेरा ही भजन। क्योंकि यह जो है मैं ही पूर्ण ।
किंतु यह सरल न जान । वक्र ही हैं ॥ ४५ ॥

श्रद्धा-पूर्वक जो कोयी पूजते अन्य दैवत ।
पूजते हैं मुझको ही किंतु है विधि छोडके ॥ २३ ॥

जैसे शाखा पल्लव वृक्षके । सारे हैं ये एक ही बीजके ।
किंतु पानी लेते हैं जडके । धर्म वैसे ही ॥ ४६ ॥

या जो दस इन्द्रियां हैं । सब एक ही देहकी हैं ।
इनके विषय जाते हैं । एक ही स्थानपे ॥ ४७ ॥

किंतु मृष्टान्न कैसे मधुर । कानोंमें भरना सुखकर ।
कैसे जाने सौरभ मधुर । सूँघकर नमक ॥ ४८ ॥

जैसे जिह्वासे रस चखना । घ्राणसे ही परिमल लेना ।
वैसे मेरा भजन करना । मुझे जानकर ॥ ४९ ॥

मुझे न जानकर भजन । करते हैं वह पार्थ जान ।
तभी कर्मके चक्षु हैं ज्ञान । वह हो निर्दोष ॥ ३५० ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

वैसे देखें तो हे पार्थ । यज्ञोपहार समस्त ।
मेरे बिन कहो भोक्ता । कौन है अन्य ॥ ५१ ॥

सकल यज्ञका मैं आदि । इसका मैं ही हूं अवधि ।
किंतु मुझे छोड दुर्बुद्धि । भजते देवोंको ॥ ५२ ॥

गंगाजीको गंगोदक ही जैसे । देते हैं देव पितरोद्‌देश्यसे ।
देते हैं मेरा ही मुझको वैसे । भावसे अन्य ॥ ५३ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥२५॥

इसीलिए सुन पांडुसुता । मुझे न मिलकर सर्वथा ।
दिया मनमें रख जो आस्था । वहीं गया ॥ ५४ ॥

भोक्ता मैं सब यज्ञोंका फलदायक भी स्वयं ।
न जाने तत्व जो मेरा गिरते हैं सदा वही ॥ २४ ॥

देवोंके भक्त देवोंसे पितृोंसे पितृ-पूजक ।
भूतोंके भक्त भूतोंसे मेरे जो मिलते मुझे ॥ २५ ॥

मन-वचन करणसे अर्जुन । करता है जो देवार्पण भजन ।
शरीर त्यागकर वह तत्क्षण । पाता देव-लोक ॥ ५५ ॥

अथवा पितरोंके व्रत । आचरता जिनका चित्त ।
समाप्त होतेही जिवित । पाते पितृ-लोक ॥ ५६ ॥

या क्षुद्र देवतादि जो भूत । जिनके हैं परम दैवत ।
अभिचारसे जिनका चित्त । करता उपासना ॥ ५७ ॥

उनका शरीर जब गिरता । भूतत्वको वह प्राप्त करता ।
संकल्पवशतासे है फलता । उनका कर्म ॥ ५८ ॥

मैं उनका हो जाता हूं जो मेरी निष्काम भक्ति करते हैं —

जिसने देखा मुझको ही आंखसे । जिसने सुना मुझको ही कानसे ।
मुझको ही प्रतीत किया मनसे । वाणीसे गाया ॥ ५९ ॥

अजी ! सर्वत्र सर्वांगसे । मुझे भजन पूजनसे ।
दान-पुण्य किया भी उसे । मेरे ही हेतु ॥ ३६० ॥

जिन्होंने किया मेरा ही अध्ययन । अंदर बाहर मेरा ही चिंतन ।
मुझसे जुडा उनका जीवन । सर्व-भावसे ॥ ६१ ॥

धोते हैं वे सदैव अहंकार । हरि दास्यत्वका कर स्वीकार ।
उनका लोभ है एक आखर । केवल हरि-भक्ति ही ॥ ६२ ॥

जो मेरे ही काममें सकाम । मेरे ही प्रेममें सप्रेम ।
मेरे ही भ्रममें संभ्रम । जानता अन्य ॥ ६३ ॥

उनके शास्त्र मुझे ही जानते । उनके मंत्र मुझे ही जुडते ।
उनके तंत्र सदा ही करते । मेरा ही भजन ॥ ६४ ॥

आनेसे पहले वे मरण । ऐक्य हुए मुझसे अर्जुन ।
मर करके वे कौन स्थान । पाएंगे पार्थ ॥ ६५ ॥

इसीलिए जो मद्याजी हुए । मेरे ही सायुज्यमें वे आये ।
उपचारार्थ जिन्होंने दिये । अपने भाव ॥ ६६ ॥

वैभव-पूर्ण पूजासे मैं किसीका नहीं होता— मुझे क्या कम है? —

अजी! आत्मार्पणके बिन । न भाता मुझे कुछ भिन्न ।
अन्य उपचारसे जान । मैं नहीं मिलता ॥ ६७ ॥

जाना कहता जो वह न जानता । संपन्नता दिखाना ही है न्यूनता ।
कृतार्थ हुआ मैं यह जो कहता । वह कुछ नहीं जान ॥ ६८ ॥

दान-यज्ञ-तपका जो अर्जुन । मनमें धरता है अभिमान ।
यहां यह सब तृण-समान । व्यर्थ जान तू ॥ ६९ ॥

जो है ज्ञानमें संपन्न । वेदसे बढके कौन ।
अचल शेष समान । कोयी है क्या? ॥ ३७० ॥

शैयाके नीचे शेष छिपता । वेद नेति नेति है कहता ।
जहां ज्ञान भी है पगलाता । सनकादिकका ॥ ७१ ॥

तापसमें है कहां कौन । जो शूल-पाणीके समान ।
लेता है त्यज अभिमान । पद-जल सिरपे ॥ ७२ ॥

या ऐश्वर्यमें कौन । है लक्ष्मीके समान ।
है श्रियाके समान । घरमें दासी ॥ ७३ ॥

जिसके खेलका घरौंदा एक । कहलाता अमरावति नेक ।
तब हुए खिलौने इन्द्रादिक । उनके सब ॥ ३७४ ॥

जब वह तोड़ती अनचाह खेल । होते रंक इन्द्रादिक ले दल-बल ।
जिसके कटाक्षसे होते वृक्ष फल । सुरतरु दिव्य ॥ ७५ ॥

जिनकी दासियाँ विभिन्न । हैं इतनी शक्ति सम्पन्न ।
वह लक्ष्मी देवी महान । है यहाँ दासी ॥ ७६ ॥

करती वह सर्व भावसे सेवा । छोड़के अभिमान सब पांडव ।
तब कहीं चरण धोनेका दावा । पा सकी वह ॥ ७७ ॥

छोड़कर सब बडप्पन । भूलकर व्युत्पत्ति सम्पूर्ण ।
होते हैं लघु अणु समान । पाते तब सामिप्य ॥ ७८ ॥

सहस्र करके समीप । चंद्रका भी होता है लोप ।
खद्योत करता प्रलाप । अपने प्रकाशका ॥ ७९ ॥

न चलती जहाँ लक्ष्मीकी महत्ता। तथा शिवका तप नहीं पुरता।
घामड़ लोगोंका भला क्या चलता। वहाँ धनंजय ॥ ८० ॥

इसीलिए तन अर्पित कर। सकल गुण कर न्योछावर।
संपति-मद श्री-चरण पर। रख तत्पश्चात् ॥ ८१ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

मुझे निष्काम प्रेम चाहिये-प्रेमसे दिया पत्ता भी मैं सुखसे खाता हूं—

कर निःस्सीम भाव उल्लास। मेरे अर्पणका ले उद्देश्य।
जो भी फल दिया स-संतोष। लेता हूँ मैं ॥ ८२ ॥

जब वह भक्त मुझे दिखाता। अपने हाथ मैं दोनों बढ़ाता।
उसका डंठल भी न तोड़ता। खाता हूँ आदरसे ॥ ८३ ॥

किसीने शुद्ध भक्तिसे। दिया सुमन प्रीतिसे।
खाता भावातिरेकसे। भूल सूंघना ॥ ८४ ॥

फल-फूल क्यों इक पात। सूखा भी हो उसका गात।
लेता उसे मोदसे पार्थ। देते हैं जो भक्तिसे ॥ ८५ ॥

देख भरा वह सर्व-भावसे। भूखा तोषता जैसे अमृतसे।
वैसा मैं मुखमें तोषसे उसे। डालता हूँ पार्थ ॥ ८६ ॥

अथवा ऐसा भी जब होगा। वह पात भी नहीं मिलेगा।
पानीका बूँद एक तो होगा। उसे नहीं अकाल ॥ ८७ ॥

वह है सर्वत्र रहता। सबको सहज मिलता।
उसीका अर्पण करता। सर्वस्व मान ॥ ८८ ॥

उसने बैकुण्ठके विशाल। बनाया मेरे लिए महल।
कौस्तुभसे भी अति निर्मल। दिये अलंकार ॥ ८९ ॥

प्रेमसे पत्र या पुष्प फल या जल दे मुझे
भक्तिसे जो दिया सारा खाता मैं सुख-पूर्वक ॥ २६ ॥

दूधके शैयागार। क्षीराब्धिसे सुन्दर।
मेरे लिए अपार। दिये उसने ॥ ३९० ॥

कर्पूर चंदन अगरु। ऐसे सुगंध महामेरु।
दी दीपमाल दिनकरु। उसने मुझे ॥ ९१ ॥

गरुड समान वाहन। सुरतरुके उपवन।
काम धेनु बहु गोदान। उसने दिये ॥ ९२ ॥

अमृतान्नसे भी सरस। भक्तका जल-बिंदु लेश।
लेकर पाता हूँ संतोष। धनंजय मैं ॥ ९३ ॥

कहना क्या है वह बात। जानता है तू यह पार्थ।
सुदामाके चिउडेके हित। खोली गांठ ॥ ९४ ॥

केवल भक्ति ही मैं जानता। छोटा-मोटा वहां न कहता।
भावका भूखा मैं रहता। अतिशय अर्जुन ॥ ९५ ॥

यहां है पत्र-पुष्प-फल-जल। भावार्पणका निमित्त केवल।
आवश्यक है मुझको निष्कल। भक्ति तत्व सदैव ॥ ९६ ॥

इसलिए तू पांडुकुमार। अपनी बुद्धिको वशकर।
अपने हृदयमें ही फिर। स्मरकर मुझको ॥ ९७ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

जो सदैव मेरा स्मरण करता है वह सदैव मुक्त ही है—

जो कुछ तू व्यापार करता। अथवा जो कुछ है भोगता।
तथा यज्ञमें तू जो यजता। नाना विधिसे ॥ ९८ ॥

अथवा विशेष पात्रको दान। या सेवकको तू देता वेतन।
तथा व्रत-तप आदि साधन। करेगा तू ॥ ९९ ॥

खाता जो होमता देता जो जो आचरता तप।
जो भी कुछ करें कर्म कर तू मुझ अर्पण ॥ २७ ॥

क्रिया-जात जो संपूर्ण। होगा तुझसे अर्जुन।
करना तू यह मान। है सब मदर्थ ॥ ४०० ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

जैसे अग्निकुंडमें पड बीज। अंकुर दशा खोता है सहज।
वैसे अर्पित शुभाशुभ मुझ। न फलते कभी ॥ १ ॥

अनर्पित कर्म जब रहता। सुख दुःखमें वह फलता।
उसके भोगार्थ आना पडता। नया जन्म लेकर ॥ २ ॥

है जो मदर्पित कर्म। पोंछता मरण-जन्म।
करे जन्म-सह श्रम। अन्य सब नष्ट ॥ ३ ॥

यह है संन्यस्तकी युक्ति। सरल होती फल-प्राप्ति।
आचरणमें इसे अति। शीघ्र ही लाना ॥ ४ ॥

इससे देह-बंध नहीं घडता। सुख-दुखाब्धिका संबंध न आता।
सुखका है सुखमें ही ऐक्य होता। सजह-रूपसे ॥ ५ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

पूछेगा पार्थ तू वह कैसा। सर्व भूतमें सदा एकसा।
जहां नहीं आप पर ऐसा। भेद-भाव ॥ ६ ॥

जो सदा सर्वत्र मुझे देखते हैं वे सदेह मुक्त हैं, मद्रूप हैं—

इस भांति मुझे जानकर। तोड कर्तृत्वका अहंकार।
जीव-भावसे जो कर्मकर। भजते मुझको ॥ ७ ॥

जिससे तोडके सारे कर्म-बंध शुभाशुभ।
साधके योग-संन्यास पायेगा मुक्त हो मुझे ॥ २८ ॥

सम मैं सब भूतोंसे प्रियाप्रिय न है मुझे।
किंतु है मुझमें भक्त भक्तमें मैं बसा नित ॥ २९ ॥

दीखते स्थित हैं देहमें। किंतु वे स्थिर हैं मुझमें।
औ' मैं उनके हृदयमें। रहता संपूर्ण ॥ ८ ॥

संपूर्ण वटवृक्ष जैसे। बीजमें रहता है वैसे।
तथा रहता बीज जैसे। वट-वृक्षमें ॥ ९ ॥

वैसे हमें और उन्हें परस्पर। बाहरको नामका ही है अंतर।
किंतु अंतरमें जो वस्तु-विचार। हम हैं एक ॥ ४१० ॥

उधार लाये हुए अलंकार। चढाते हैं जैसे शरीर पर।
वैसे धारण करता शरीर। उदास भावसे ॥ ११ ॥

परिमल ले गया जब पवन। दंडीमें रहता है तब सुमन।
वैसे प्रारब्ध भोगके ही कारण। शरीर रहता है ॥ १२ ॥

अहंकार उनका संपूर्ण। हुआ है विलीन मद्भावन।
मेरे ही अंदर है अर्जुन। स्थिर रूपसे वह ॥ १३ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

प्रेम भावसे करता भजन। उसको फिर न मिलता तन।
उसकी जातिकी नहीं अर्जुन। कोई बात ॥ १४ ॥

जो जिस क्षणसे भक्त बना उसी क्षणसे मेरा बना—

देखें तो उसका पूर्व जीवन। सब ही दुराचारोंकी है खान।
किंतु उसने है अब जीवन। बेचा है भक्तिको ॥ १५ ॥

मरण समयमें जैसी है मति। रहती है जैसी, वैसी ही गति।
मिलती है यह जानके भक्ति। की है सर्व भावसे ॥ १३ ॥

पहले था रत दुराचार। सर्वोत्तम है पांडुकुमार।
महापूरमें है डूबकर। मरा नहीं ॥ १७ ॥

कोयी बडा दुराचारी भजे मुझ अनन्य हो।
मानना उसको साधु उसको शुभ निश्चयी ॥ ३० ॥

जीवन उसका इस किनारे आया। इसलिए डूबा हुआ भी व्यर्थ गया
रहा ही ऐसा नहीं जो पाप किया। भक्तिके कारण ॥ १८ ॥

पहले था जो दुराचारी महान। किंतु पश्चात्ताप तीर्थमें कर स्नान।
मेरी शरणमें आया जो अर्जुन। सर्व भावसे ॥ १९ ॥

उसका है अब पवित्र कुल। अभिजात्य तथा अति निर्मल।
जन्मका उसको मिला है फल। भक्तिके कारण ॥ ४२० ॥

उसने किया सब अध्ययन। तथा समस्त तप अनुष्ठान।
अष्टांग-योग भी सुन अर्जुन। सिद्ध उसको ॥ २१ ॥

रहने दे अब यह पार्थ। जिसकी चाह है "मैं" सतत।
कर्म-बंधनसे वह मुक्त। सर्वदा ही ॥ २२ ॥

मन-बुद्धि सब एक गांठमें। बांध कर दी वह पिटारीमें।
वह पिटारी मेरे स्वरूपमें। रख दी धनंजय ॥ २३ ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ।

स-समय वह मद्रूप होगा। चितमें तेरे यह भाव होगा।
सदैव जो अमृतमें रहेगा। मरेगा कैसे ॥ २४ ॥

तभी रात्री कहलाती है। सूर्य जब नहीं होता है।
मद्भक्ति बिन जो होता है। वह सब पाप ॥ २५ ॥

इसलिए उसका चित। रहता मुझमें सतत।
तभी होता वह निश्चित। मद्रूप तत्वतः ॥ २६ ॥

जैसे दीपसे दीप है जलता। वहां पहला कौन न जानता।
वैसे सदैव जो मुझे भजता। होता वह मैं ही ॥ २७ ॥

फिर मेरी ही नित्य-शांति। उसकी दशा वही कांति।
जीवित रहता स-भक्ति। मेरे ही जीवसे ॥ २८ ॥

होगा जो शीघ्र धर्मात्मा शांति शाश्वत पाकर।
जान निश्चित तू मेरे भक्तका नाश है नहीं ॥ ३१ ॥

केवल शास्त्रीय भक्तिसे मेरी प्राप्ति नहीं होती—

कहूँ कितना पुनः पुन। वही वही फिर अर्जुन।
नहीं होगी भक्तिके बिन। मेरी प्राप्ति ॥ २९ ॥

व्यर्थ है कुल अभिमान। व्यर्थ शास्त्राध्ययनभान।
व्यर्थ है श्रष्टेताका मान। लोभ-मात्र ॥ ४३० ॥

व्यर्थ है रूप अभिमान। व्यर्थ है तारुण्य यौवन।
एक मेरे भावके बिन। व्यर्थका बतंगड ॥ ३१ ॥

भुट्टे लगे बहु धान विहीन। बसे नगर, पर हैं वीरान।
उसका है कहो क्या प्रयोजन। वैसे ही पार्थ ॥ ३२ ॥

सरोवर बडा नीर विहीन। तथा दुखीसे दुखिका मिलन।
बांझ लताका बहार सुमन। खिला वैसा ॥ ३३ ॥

वैसा मानो सकल वैभव। अथवा कुल-जाति-गौरव।
वैसा ही देह स-अवयव। किंतु नहीं प्राण ॥ ३४ ॥

वैसी मेरी भक्ति बिन। व्यर्थ है सारा जीवन।
अजी! पृथ्विपे पाषाण। रहते वैसे ॥ ३५ ॥

हिंवारेका आच्छादन घन। त्यज देते हैं जैसे सज्जन।
पुण्य करता अवहेलन। वैसे अभक्तको ॥ ३६ ॥

नीममें निंबौरिका बहार आया। जिससे कौवोंका ही सुकाल भया।
वैसे भक्ति-हीनको ऐश्वर्य आया। दोष बढानेको ॥ ३७ ॥

परोसा खप्परमें षड्रसान्न। रखा चौराहे पर अपरान्ह।
खायेगा उसको केवल श्वान। वैसे ही पार्थ ॥ ३८ ॥

वैसे भक्ति-हीनका जीवन। स्वप्नमें भी सुकृति-विहीन।
संसार दुःखका आव्हान। केवल-मात्र ॥ ३९ ॥

व्यर्थ है कुलकी उत्तमता। अन्त्यजका भी तन मिलता।
पशुका शरीर भी मिलता। शरीरके नामसे ॥ ४४० ॥

पकडा मगरने गजेन्द्रको। उसने स्मरण किया मुझको।
व्यर्थ किया अपनी पशुताको। पाकर मद्रूप ॥ ४१ ॥

मेरी भक्ति में कुल जाति आदिका बंधन नहीं—मुझे प्रेम चाहिये—

आती लेनेमें लज्जा नाम। जो अधमोंमें अधमतम।
ऐसी योनिमें जिन्होंने जन्म। लिया है अर्जुन ॥ ४२ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

जो हैं पापयोनिके मूढ। जैसे पत्थर सम जड।
किंतु है मुझमें वे दृढ। सर्व भावसे ॥ ४३ ॥

वाणीमें जिनके मेरे आलाप। नयन भोगते मेरे ही रूप।
मनमें सतत मेरा संकल्प। भरे रहते हैं ॥ ४४ ॥

मेरी कीर्ति-कथाके बिन। न करते अन्य श्रवण।
जिनके सर्वांग-भूषण। मेरी सेवा ॥ ४५ ॥

ज्ञानका विषय वे न जानते। केवल मुझ एकको जानते।
उन्हें ऐसा लाभ मिला तो जीते। नहीं तो मरण ॥ ४६ ॥

ऐसा हुआ जो सम्पूर्ण। सर्व-भाव कर अर्पण।
जीवनका बना जीवन। मैं ही एक ॥ ४७ ॥

पाप योनिमें हुआ जनन। सुनके भी न हुआ पठन।
तुलनामें उनका वज़न। मुझसे कम नहीं ॥ ४८ ॥

भक्ति संपन्नताके कारण। देव बने राक्षसोंसे हीन।
मेरा नरसिंहका भूषण। उसकी महिमा ॥ ४९ ॥

किया प्रह्लादका अंगीकार। मेरे स्थानमें पांडुकुमार।
प्रह्लाद कथामें साक्षात्कार। होता मेरा ही ॥ ४५० ॥

उसका है दैत्य-कुल आखर। इंद्रको नहीं वह अधिकार।
यहां है भक्ति महिमा अपार। कुल-जातिकी नहीं ॥ ५१ ॥

करके आसरा मेरा भोले स्त्री-वैश्य-शूद्र भी।
या पाप-योनिके जीव पाते हैं सुख शाश्वत ॥ ३२ ॥

राजाज्ञाके होते चार अक्षर। वह भी चामके टुकडे पर।
वह टुकडा देता है अपार। वस्तु-मात्र॥ ५२॥

आज्ञाके उन अक्षरके बिन। स्वर्ण-रजत भी प्रमाण-हीन।
उस अक्षर चामके कारण। मिलते सर्व वस्तु॥ ५३॥

उत्तमता तो तभी है। यथा सर्वज्ञता भी है।
मन बुद्धि भारता है। जब मेरे प्रेमसे॥ ५४॥

इसलिए कुल जाति वर्ण। ये सब ही हैं बिना कारण।
मुझमें हैं अनन्य शरण। सार्थक एक॥ ५५॥

मुझमें मिलनेके बाद कोयी भिन्नता नहीं रहती—

जब किसी न किसी कारण। मन होता मद्रूपमें लीन।
तब होता है पुर्णरूपेण। जाति कुलादि व्यर्थ॥ ५३॥

तब तक नाले कहलाते। गंगामें जब नहीं मिलते।
फिर मात्र गंगाजल होते। गंगारूप हो॥ ५७॥

जैसे खदिर चंदनादि काष्ट। तब तक भिन्न रहते स्पष्ट।
यज्ञाहुति देने पर है नष्ट। भिन्नता सारी॥ ५८॥

वैसे हैं क्षत्रिय वैश्य स्त्रियां। शूद्र अन्त्यजादि कहलाया।
मुझमें विलय न हो गया। तब तक ही सब॥ ५९॥

जाति कुल व्यक्ति फिर बनता शून्य। होता है जब चित्त मुझमें अनन्य।
घुलते जैसे लवण कण सामान्य। सागरमें वैसे॥ ४६०॥

तब तक नदी नदोंका नाम रहता। वैसे ही पूर्व पश्चिम प्रवाह रहता।
किंतु जब सागरमें मिल जाता। सब होता एकरूप॥ ६१॥

लेकर कोयी न कोयी निमित्त। होता लय जब मुझमें चित्त।
फिर होता है उसमें निश्चित। मद्रूप ऐसे॥ ६२॥

अव्यभिचारी शत्रुतासे भी मेरी प्राप्ति होती है—

तोडने हेतु पडा पारस पर। लोहेका घन उसे स्पर्श कर।
होगा निश्चित ही सुवर्ण सत्वर। सहज-भावसे॥ ६३॥

वृजांगनाएं प्रेमवश होकर। मनमें स्मरण कर निरन्तर।
पार्थ वे सब मुझसे मिलकर। मद्रूप हो गयीं ॥ ३४॥

वैसे ही भयके करण। निशिदिन कर चिंतन।
अखंड वैर धर मन। कंस चेद्यादि ॥ ६५॥

ममत्वसे भी भक्त मुझे मिलते हैं—

आप्तत्वसे हैं पांडव। संगसे सब यादव।
ममत्वसे वसुदेव। तथा अन्य भी सब ॥ ६६॥

नारद ध्रुव अक्रूर। शुक और सनत्कुमार।
भक्तिसे मैं धनुर्धर। हुवा प्राप्त ॥ ६७॥

वृजांगनाओंको कामसे। कंसको भय संभ्रमसे।
घातुक मनके धर्मसे। शिशुपालादिकको ॥ ६८॥

सब पंथोंका एक स्थान। होना है मुझमें विलीन।
सभक्ति विषय भंजन। या विराग वैसे ॥ ६९॥

इसलिए हे अर्जुन। होने मुझमें विलीन।
उपायोंका जो बंधन। नहीं है कोई ॥ ४७०॥

तथा किसी कुलमें होना जनन। करें प्रेम-वैर अथवा भजन।
किंतु भक्त या शत्रु होना अर्जुन। एकमात्र मेरा ही ॥ ७१॥

किसी रूपमें सतत। होना है मुझमें रत।
मद्रूप होना निश्चित। स्वाभाविक ॥ ७२॥

वैसे ही पाप योनी भी अर्जुन। क्षत्रिय वैश्य शूद्र औ' अंगना।
भजकर मुझे मेरे सदन। पायेंगे ही ॥ ७३॥

वर्णमें हैं जो छत्र चामर। स्वर्ग है जिनका अग्रहार।
मंत्र है जिनका मातृघर। वे हैं ब्राह्मण ॥ ७४॥

बसता जहाँ अखंड याग। तथा हैं जो वेदोंका वज्रांग।
जिनकी दृष्टिका है उत्संग। बढाता मांगल्य ॥ ७५॥

जो हैं पृथ्वी तलके देव। तपावतार जो सवयव।
सकल तीर्थोंका जो है दैव। उदित हुआ है ॥ ७६॥

जिनकी आस्था है शीतल। बढाती सत्कर्मकी वेल।
सत्य है जीवित केवल। उनके संकल्पसे ॥ ७७ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

सबके लिए मेरा द्वार खुला है—

आशिर्वादसे उनके। बने आयुष्य अग्निके।
दिया सिंधुने उनके। प्रेमसे नीर ॥ ७८ ॥

मैंने किया लक्ष्मीको कुछ दूर। लिया हाथ कौस्तुभ उठाकर।
बढाया हृदय आगेकी ओर। चरण रजके लिए ॥ ७९ ॥

अब तक वह पद मुद्रा। हृदयपे धरी है सु-भद्र।
अपने ही ऐश्वर्य समुद्र। रक्षा हेतु ॥ ४८० ॥

जिनका क्रोध है अर्जुन। कालाग्निका वसतिस्थान।
उनका प्रसाद महान। देता सर्व-सिद्धि ॥ ८१ ॥

ऐसे पुण्य-पूज्य जो ब्राह्मण। मुझमें होते अति निपुण।
होके नित मत्परायण। यह क्या कहना ? ॥ ८२ ॥

चंदन-वृक्षके समीप होनेसे। तथा उनके पवनके स्पर्शसे।
निर्जीव नीम भी हुआ योग्यतासे। चढा प्रभु मस्तक पर ॥ ८३ ॥

फिर चंदन वहां न पहुंचेगा। इस बातको मन कैसे मानेगा।
अथवा चंदन वहां पहुंचेगा। यह कहना पडे क्यों ? ॥ ८४ ॥

शीतलताकी अपेक्षा कर। महादेवने मस्तक पर।
धारण किया जो निरंतर। अर्ध चन्द्र ही ॥ ८५ ॥

जहां शीतलतामें अप्रतिम। सुवासमें चंद्रसे भी उत्तम।
ऐसा चंदन क्यों न सर्वोत्तम। लगायें सर्वांगपे ॥ ८६ ॥

वहां ब्रह्मर्षि राजर्षि इनकी बात क्या रही।
भज तू मुझ आया है दुखी नश्वर लोकमें ॥ ३३ ॥

रथ्योदक हो जहां गंगा-शरण। करते हैं सागरोदक वरण।
वहां जान्हवीकी समरस पूर्ण। अन्य गति कैसी॥ ८७॥

इसलिए राजऋषि हो या ब्राह्मण। उनकी गति मति मैं ही हूँ शरण।
उनका त्रिशुद्धि पूर्वक है निर्वाण। स्थिति-गति मैं हूँ॥ ८८॥

जीर्ण आयुष्य नौकामें बैठकर मूर्खता--

बैठकरके शत-जर्जर नावमें। होता कैसे कहो निश्चिंत मनमें।
या विवश हो जीना कैसे रणमें। शत संवत्सर॥ ८९॥

पडता जहाँ पाषाण शरीर पर। न रखें ढाल कहो बीचमें क्योंकर।
रहे कैसे उदास हो रोग-जर्जर। शरीर औषधसे॥ ४९०॥

भडकी जहां चहूं ओर आग। न जाय कैसे बचाकर भाग।
कष्टमें नित न हो सानुराग। मुझे न भजे कैसे॥ ९१॥

नहीं लगे मेरे भजनमें। ऐसा क्या सामर्थ्य है जनमें।
विश्वास घरमें या भोगमें। है उनके॥ ९२॥

या विद्याका या आयुका। ऐसा कौनसा प्राणियोंका।
है मुझे न भजनेका। कहो सुखाधार॥ ९३॥

मिलता है जितना भोग्य-जात। वह है केवल शरीर हित।
ओ' शरीर रहता है सतत। मृत्युके मुखमें॥ ९४॥

अजी! दुःखका माल आयात होता। हाठमें मृत्युके तौलसे तुलता।
उस मृत्युलोकमें आना पडता। अन्तिम हाठमें॥ ९५॥

अब सुखका जीवित। कैसे मिले पांडुसुत।
फूंककर राख जोत। जलेगी कैसे॥ ९६॥

अजी! विषकंद पीसकर। उसका रस निचोडकर।
उसे नाम अमृत देकर। अमर हो कैसे॥ ९७॥

ऐसे हैं विषयोंका सुख। केवल है परम दुःख।
सेवन करते हैं मूर्ख। जीव भावसे॥ ९८॥

अथवा काटकर अपना शिर। करना पैर तलके उपचार।
ऐसा है मृत्यु लोकका व्यवहार। चला है सतत ॥ ९९ ॥

मृत्युलोकमें कहानी सुखकी। श्रवण करना सभी व्यथाकी।
जहाँ शैया ही अग्नि-स्फुलिंगकी। सुख-निद्रा कैसी ॥ ५०० ॥

क्षयरोगी होता चन्द्र जिस लोकका। अस्तार्थ उदय होता रवि जहांका
दु:ख आता है आवरणमें सुखका। छलनेके लिए ही ॥ १ ॥

जहां फूटते ही मांगल्यका अंकुर। पडते अमंगल कीट उसपर।
पडता जहां मृत्यु पाश भयंकर। गर्भमें ही ॥ २ ॥

मिलना नहीं जो उसका चिंतन। मिले तो करते गंधर्व हरण।
जाता उसका न होता आकलन। कहां और कैसे ॥ ३ ॥

अजी ! खोल जब सब ही पथ। लौटा पदचिह्न न देख पार्थ।
मिलता सब मृतकोंका कथित। पुराणोंमें जहाँ ॥ ४ ॥

यहाँकी अनित्यताकी महती। ब्रह्मकी आयुतक पहुँचती।
नश्वरताकी है कितनी व्याप्ति। स्वस्थ चित्त सुन तू ॥ ५ ॥

सुन ऐसे लोगोंका बर्ताव। जबसे जन्म लिये ये जीव।
उनकी निश्चितता वैभव। कौतुकास्पद ॥ ६ ॥

जहां होता इह परका लाभ। वहां धरते कवडीका लोभ।
तथा होता जहां विनाश सब। खरचते हैं करोडों ॥ ७ ॥

उलझता जो विषय भोगमें। सुखी कहलाता इस लोकमें।
गडा जाता है जो महा-लोभमें। वह है महा-ज्ञानी ॥ ८ ॥

जिसका रहा अल्प जीवन। हुआ सब बल-बुद्धि जीर्ण।
उसके पकडते चरण। वृद्ध कहकर ॥ ९ ॥

जैसा होता बालकका विकास। माता-पिता नाचते स-उल्लास।
अंदरसे होता जीवन ह्रास। इसका नहीं खेद ॥ ५१० ॥

जो जन्मके दिवस दिवस-से। चलता मृत्यु दिशामें गतिसे।
करते शुभोत्सव उल्लाससे। वृद्धि-दिवस मानकर ॥ ११ ॥

अजी ! मृत्यु यह शब्द न सहते । मरने पर जो रुदन करते ।
तथा आयुष्य व्यर्थ ही खोते । मूर्खताओंमें ॥ १२ ॥

निगलता है सांप मेंढकको । मेंढक जीभ चाटता है कीटकको ।
औ' प्राणि किस लोभसे किसको । बढाता तृष्णा ॥ १३ ॥

अजी ! यह है सब अनिष्ट । मृत्यु लोकका सब उलट ।
यहां अर्जुन तू अवचट । जन्म लिया है ॥ १४ ॥

तू इससे दूर रह कर मेरी भक्ति कर —

तू हो दूर इससे अलग । मेरी भक्तिके पथमें लग ।
पायेगा तू जिससे अव्यंग । निजधाम मेरा ॥ १५ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ।

मनको तू मद्रूप कर । मेरी भक्तिमें डूब कर ।
सर्वत्र कर नमस्कार । एक मुझको ॥ १६ ॥

मेरी भक्ति करनेका अर्थ सब कुछ मुझे समर्पण करना —

कर तू सतत मेरा अनुसंधान । उससे होगा संकल्प-बीज दहन ।
इसको कहते हैं भगवद्भजन । पांडुकुमार ॥ १७ ॥

होगा तू इससे मम-योग संपन्न । तब रहेगा मेरे स्वरूपमें लीन ।
यह मेरे अंतःकरणका वचन । कहा तुमसे ॥ १८ ॥

सबसे छिपाई बात । हुई अब तुझे प्राप्त ।
उससे हो तू सुखी शाश्वत । सदैव रहेगा ॥ १९ ॥

ऐसा श्याम-परब्रह्म । भक्त-वत्सल कल्पद्रुम ।
बोला है जो आत्माराम । कहता संजय ॥ ५२० ॥

प्रेमसे ध्यानसे नित्य भज तू पूज तू मुझे ।
ऐसे ही मिल आत्मामें मुझमें लीन होकर ॥ ३४ ॥

कृष्णकी बात धृतराष्ट्रसे कहते समय संजयकी मनस्थिति—

अजी ! श्रवण किया क्या अपने। पूछा जब राजासे संजयने।
मौन होके सुन लिया बूढेने। पानीमें पडे भेंसेकासा ॥ २१ ॥

तब डुला संजय सहसा। मानो आज अमृत बरसा।
किंतु होकर भी न होनासा। रहा यह बूढा ॥ २२ ॥

फिर भी यह हमारा दातार। मानके रहा स्वस्थ-स-आदर।
इनका स्वभाव है मानकर। संजय मनमें ॥ २३ ॥

करके श्रीमुनि-व्यासने निमित्त। राजको सुनाना युद्धका वृत्तांत।
किया मानो मेरा उद्धार निश्चित। हर्षाया संजय ॥ २४ ॥

दृढ कर अपना सायास। बोला वह इतना मानस।
पुलक हो आये स-उल्लास। अष्ट-सिद्धि-भाव ॥ २५ ॥

भक्तिके अष्ट सिद्धि भाव—

चकित हो भर आया है चित्त। खुली पडी वाचा हो प्रमुदित।
अपाद मस्तक है कंचुकित। हुआ रोमांचसे ॥ २६ ॥

भये अर्धोन्मिलित नयन। बरस पडे आनंद घन।
हुआ सकंप सारा बदन। अंतर्मुख भावसे ॥ २७ ॥

अजी ! संपूर्ण रोममूल। खिले स्वेदकण निर्मल।
जैसे मोतिकी मणिमाल। बनी कंचुकिसी ॥ २८ ॥

महा सुखके अति-रससे ऐसा। मिटने लगी जैसी जीवदशा।
वहां श्री व्यासाज्ञाका भान कैसा। रहेगा भला ॥ २९ ॥

इतनेमें कृष्णार्जुनके वचन। गूंजने लगे श्रवणोंमें महान।
लौटा लाया वह शरीरका भान। संजयका तब ॥ ५३० ॥

ध्यान देनसे आनंद-सिंहासन पर चढते ?—

पोंछा तब नयन जल। तथा स्वेद बिंदु निर्मल।
मुखसे निकले ये बोल। श्रीमान् सुनिये जी ॥ ६१ ॥

पढेंगे अब कृष्णार्जुन वाक्य बीज । सात्विक भाव-युत चितमें सहज ।
खिलेगा प्रेम-प्रमेयका बाग आज । श्रोताओंके लिए ॥ ३२ ॥

अजी ! देना अब अवधान । चढना आनंद सिंहासन ।
देवने डाली माला श्रवण- । इंद्रियको आज ॥ ३३ ॥

विभूतियोंका अब महाज्ञान । देगा अर्जुनको सिद्ध श्रीकृष्ण ।
सुनिये ज्ञानदेवका कथन । जो है निवृत्तिका दास ॥ ३४ ॥

गीता श्लोक ३४

ज्ञानेश्वरी ओवी ५३४



१०

विभूति—चिंतनयोग

श्री गुरु निवृत्तिनाथका आध्यात्मिक स्वरूप

विशदबोधविदग्ध । विद्यारविंद-प्रबोध ।
पराप्रमेय-प्रमद- । विलासिया नमो ॥ १ ॥

संसारतमका तू सूर्य । अप्रतिम परम-वीर्य ।
नमो तरुण-तर-तूर्य । लालनलीला ॥ २ ॥

जगदखिल-पालन । मंगलमणि-निधान ।
स्वजन-वन-चंदन । नमो आराध्यलिंग ॥ ३ ॥

चतुर-चित-चकोरचंद्र । आत्मानुभव-महानरेंद्र ।
श्रुतिगुणगण तू समुद्र । मन्मथ मन्मथ नमो ॥ ४ ॥

सुभाव-भजन-भाजन । तू भवेभ-कुंभ-भंजन ।
विश्व-उद्भवका भवन । नमो श्री गुरुदेव ॥ ५ ॥

श्री गुरुका सामर्थ्य—

तेरा अनुग्रह श्री गणेश । देता है जो अपना स्वरस ।
तब सरस्वतीमें प्रवेश । होता है शिशुका ॥ ६ ॥

आश्वासन उदार देवका । जलाता दीप नव-रसका ।
थाह लगाता तव वाणीका । अनायास ॥ ७ ॥

तेरा ही स्नेह वागीश्वर। कर गूंगेका अंगीकार।
स्पर्धा वाचस्पतिसे कर। जीतता वह ॥ ८ ॥

पडती दृष्टि तेरी जिस पर। रखता तू सिरपे पद्मकर।
करता वह जीव होने पर। समानता शिवसे ॥ ९ ॥

श्री गुरुका अवर्णनीय - महिमा—

जिसकी महिमाका यह करना। वाचालतासे वर्णन क्या करना।
सूर्यको कैसे उबटन लगाना। चमकाने को ॥ १० ॥

कल्पतरुके फलका कैसे बहार। क्षीरसागरका कैसा पाहुनाचार।
अन्य किस गंधकी अपेक्षा कर्पूर। सुवासित करनेमें ॥ ११ ॥

चंदनको किसका उबटन। अमृतका कैसे करें पक्वान।
कैसे बांधे गगनपे भवन। कहो मुझसे ॥ १२ ॥

वैसे श्री गुरुका महिमान। आकलनका क्या है साधन।
यह जानके किया नमन। मैंने चुपचाप ॥ १३ ॥

बुद्धिकी संपन्नता पर समर्थ। श्री गुरु-वर्णन करना यथार्थ।
मोति पर पानी चढाना है सार्थ। अभ्रकका वैसे ॥ १४ ॥

स्वर्ण पर रौप्यका पानी चढाना। वैसा है श्रीगुरुका स्तवन गाना।
स-मौन श्री-चरणपे नत होना। यही भला है ॥ १५ ॥

गीताकी यह धरोहर श्री गुरु-कृपाका फल है—

अजी! श्रीगुरु परम उदार। कृपा-दृष्टी रखते हम पर।
तभी कृष्णार्जुन संगम पर। प्रयाग बने हम ॥ १६ ॥

मांगा जब दूध घूंट भर। बना क्षीरसागर कटोर।
सम्मुख रखता है शंकर। उपमन्युके वैसे ॥ १७ ॥

अथवा जैसे वैकुंठनायक। रिझाया ध्रुव जब स-कौतुक।
रीझाया ध्रुवपद भातुक। समझाके वैसे ॥ १८ ॥

ब्रह्मविद्याका जो राजा महान। सकल शास्त्रका वसति स्थान।
ओवियोंमें भगवद्गीता गान। संभव किय ॥ १९ ॥

शब्दारण्यमें भटक दिन-रात। न सुनी अक्षर फलनेकी बात।
वाचा-बनी स्वयं कल्पलता सत-। विवेककी यहा ॥ २० ॥

देहात्म-बुद्धि भी जो निरंतर। बनी थी मंदिर आनंदका भंडार।
मनने किया गीतार्थका सागर। शयन सुखसे ॥ २१ ॥

श्री गुरुकी लीला अपार। करूं कैसे वर्णन मैं पामर।
फिर भी गाया ढीठ बनकर। सहन कीजिये यह ॥ २२ ॥

आपका ही कृपा-प्रसाद। बना भगवद्गीता प्रबंध।
पूर्वार्ध गाया स-विनोद। ओवियोंमें ॥ २३ ॥

सूत्र रूपसे पिछले नौ अध्यायोंका उपसंहार—

पहलेमें अर्जुनका विषाद। दूसरेमें गाया योग विशुद्ध।
किंतु सांख्य तथा ज्ञानका भेद। दिखा कर ॥ २४ ॥

तीसरेमें केवल कर्म प्रतिष्ठित। चौथेमें वही ज्ञान-सह प्रकटित।
पांचवेमें अष्टांग-योगका गुपित। कहा वैसे ही ॥ २५ ॥

छटेमें कहा वही प्रकट। आसानादि-सह कर स्पष्ट।
जीवात्म-भावैक्य जो है श्रेष्ठ। होता जिससे ॥ २६ ॥

वैसी ही वह योग-स्थिति। योग-भ्रष्टोंकी है क्या गति।
वह पूर्णस-उपपत्ति। सुना दी है ॥ २७ ॥

उस पर है जो सप्तम। प्रकृति-रूप उपक्रम।
भक्त चार पुरुषोत्तम। होते हैं कैसे ॥ २८ ॥

फिर सप्तमीकी प्रश्न सिद्धि। कह करके प्रयाण-सिद्धि।
एवं सकल वाक्य अवधि। अष्टमाध्यायमें ॥ २९ ॥

अगणित है जो शब्द-ब्रह्म। उसमें है जो अर्थ परम।
महा-भारतमें अनुपम। एक लक्षमें मिलता ॥ ३० ॥

फिर अठारह पर्व भारतमें। मिलता वह कृष्णार्जुन उक्तिमें।
तथा अभिप्राय जो सप्तशतिमें। नौवेमें मिलता ॥ ३१ ॥

तभी नवमका अभिप्राय। पूर्ण हुआ करनेमें भय।
प्रतीत कर नवमाध्याय। हुआ किस गर्वसे ॥ ३२ ॥

अजी ! गूड शर्करा औ' राब । होते एक ही वस्तुके सब ।
अनुभवती है स्वाद जीभ । भिन्न भिन्न ॥ ३३ ॥

कुछ जान करके कहते । कुछ पुनः पुनः ज्ञान देते ।
कुछ जानतेमें है खो जाते । ज्ञेय गुणमें ॥ ३४ ॥

ये सारे अध्याय मैंने गुरु-कृपासे गाये है—

ऐसे हैं ये गीताके अध्याय । नवम है अनिर्वचननीय ।
गाया मैंने कर श्रवणीय । तव सामर्थ्यसे ॥ ३५ ॥

किसीके दंडसे सूर्योदय कराया । किसीसे नव-विश्व ही है रचाया ।
सिंधुमें पाषाण तैराके उतराया । सैन्य तुमने ॥ ३३ ॥

किसीसे आकाशमें सूर्य पकडवाया । किसीसे सागरका आचमन करवाया ।
तुमने ही मुझ गंवारसे है गवाया । अनिर्वचनीय ऐसे ॥ ३७ ॥

पर यह रहने दो तू ऐसे । राम-रावण भिडे थे कैसे ।
राम-रावण भिडे थे वैसे । समरमें जो ॥ ३८ ॥

वैसे नवमें श्री कृष्णका बोलना । उसे नवम जैसा ही है कहना ।
गीता-तत्वज्ञ जाने यह कहना । मेरा समुचित ॥ ३९ ॥

नवमका प्रारंभिक कथन । जिसका किया अल्पसा वर्णन ।
अब उत्तर खंडका श्रवण । कीजियेगा ॥ ४० ॥

यहां विभूति प्रति विभूति । धनुर्धरसे हैं कही जाती ।
उसमें चातुर्य-रस-वृत्ति । प्रतीत होगी ॥ ४१ ॥

ज्ञानेश्वरका मातृभाषा प्रेम-मेरा अनुवाद गीताके तोडका है—

यहां देशिका नागरिकपन । जीतेगा शांत श्रृंगारको जान ।
ओवियां ये होंगी महा-भूषण । साहित्यका ॥ ४२ ॥

मूल-ग्रंथ जो गीता संस्कृतका । तथा यह अनुवाद देशिका ।
जाननेसे मूल अनुवादका । होगा अनुभवैक्य ॥ ४३ ॥

जैसे शरीरका सुंदरपन । बनता अलंकारका भूषण ।
सजा कौन किससे यह ज्ञान । होता नहीं ॥ ४४ ॥

वैसे देशी और संस्कृतवाणी। सोहती सार्थ चिर-संगिनी।
भावार्थ-सिंहासन भूषिणी। शुद्ध भावसे ॥ ४५ ॥

खिलाया जहां भावोंका रूप। आया है रस-वृत्तिमें ओप।
प्रतिष्ठा मिली इमें अमाप। कहता चातुर्य ॥ ४६ ॥

वैसे देशीका लावण्य। जिससे लेके तारुण्य।
रचा है फिर अगण्य। गीता-तत्व ॥ ४७ ॥

ऐसा चराचर गुरुवर। जो चतुर चित्त चमत्कार।
वह सुनोजी यादवेश्वर। बोलने लगे ॥ ४८ ॥

कहे ज्ञानदेव निवृत्तिदास। सुनो श्री हरि बोले जो सरस।
अर्जुन तू है अव्यंग सर्वस्व। अंतः करणका ॥ ४९ ॥

भगवान उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

मैं तेरी आंखों से दीखता हूं उतना ही नहीं—

हमने जो निरूपण किया। तेरा अवधान भी देख लिया।
वह भी हमने संपूर्ण पाया। धनुर्धर ॥ ५० ॥

देखना घटमें भर अल्प नीर। वह नहीं चुआ तो अधिक भर।
देखी तेरी चाह कुछ कह कर। अब कहता हूं सुन ॥ ५१ ॥

कोई आया जो अनायास। उस पर छोड़ा सर्वस।
हुआ मेरा निज-निवास। तू इस समय ॥ ५२ ॥

पार्थकी योग्यता देख सर्वेश्वर। ऐसे बोलने लगा सादर।
आती मेघमाला जैसे घर कर। देख हिमालय ॥ ५३ ॥

फिरसे सुन तू मेरी बात उत्तम अर्जुन।
प्रेमसे कहता तेरी करके हित-कामना ॥ १ ॥

बोले कृपालुओंके राज। सुन धनुर्धर तू आज।
कहा था तुझको जो गूज। कहूंगा पुनरपि ॥ ५४ ॥

अजी! प्रतिवर्ष जैसे खेत पेरना। हरे भरे खेतको फिर काट-लेना।
खेतमें श्रमने कभी न उकताना। पाने अधिक उपज ॥ ५५ ॥

पुनः पुनः पुट देनेसे। सुवर्ण चमकता जैसे।
वैसा सुवर्ण खोजनेसे। मिलता नहीं ॥ ५६ ॥

यहां भी ऐसा ही है पार्थ। तेरे हित नहीं सर्वथा।
सुनो अपने ही स्वार्थार्थ। बोलता मैं ॥ ५७ ॥

करनेसे शिशुका अलंकार। होगा क्या उसपर उपकार।
देखके होंगे आनंद विभोर। स्वयं माता पिता ॥ ५८ ॥

जैसे तू अपना हित पूर्ण। जानेगा हम होंगे प्रसन्न।
यह है वास्तविकता जान। हमारे कहनेकी ॥ ५९ ॥

जाने दो सुमन सुभाषित। तुझसे है ममत्व बहुत।
औ' तुझे भाती है यह बात। तभी कहता हूं ॥ ६० ॥

अर्जुन हम इसी कारण। करते हैं तुझसे भाषण।
सुन यह स-अंतःकरण। चित्त देकर ॥ ६१ ॥

सुन सुन तू यह मर्म। मेरा वाक्य यह परम।
आया स्वयं अक्षर-ब्रह्म। तुझसे मिलने ॥ ६२ ॥

पार्थ तू मुझको न जानता। न जानो तो मैं यह कहता।
अजी! मैं जो यहां हूं बोलता। मानो ब्रह्मांड ही है ॥ ६३ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

यहां वेद हुए मौन। लंगडा हुआ पवन।
बिन रातके विलीन। होते रवि-शशि ॥ ६४ ॥

न देव जानते मेरा प्रभाव न महर्षि भी।
सभी प्रकारसे मैं हूं उनका मूल कारण ॥ २ ॥

सब कोयी मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं इसलिये मुझे कोयी नहीं जानता—

अजी ! गर्भ जो है उदरका । नहीं जानता पय माताका ।
वैसे ही ज्ञान-जात देवोंका । मेरे विषयमें ॥ ६५ ॥

जलचरोंको सागरका भान । गुरगुरेको जैसा है गगन ।
वैसा ही महर्षियोंका ज्ञान । मेरे विषयमें ॥ ६६ ॥

मैं हूँ कौन तथा हूँ कितना । कब किससे हुआ उत्पन्न ।
इसपे न कहा है वचन । युग-युगोंसे ॥ ६७ ॥

महर्षी तथा वे देव । ये भूतजात हैं सर्व ।
मैं अनादि हूँ पांडव । जान तू यह स्पष्ट ॥ ६८ ॥

उतरा हुआ नीर चढेगा पर्वत । वृक्ष बढता जायेगा जड पर्यंत ।
जानेगा तब मुझसे बना जगत । मुझे पूर्ण ॥ ६९ ॥

या वटांकुरमें वृक्ष समायेगा । अथवा ऊर्मीमें सागर डूबेगा ।
या परमाणुमें ही समा जायेगा । ब्रह्मांड गोल ॥ ७० ॥

तो भी मुझसे बने थे जीव । महर्षी अथवा जो हैं देव ।
मुझे जाननेमें हैं पांडव । लेंगे समय बहुत ॥ ७१ ॥

मुझे जाननेके लिये इंद्रियोंको अंतरमुख करो—

मुझे जानना है यद्यपि कठिन । कोई रखे इंद्रिय बहिर्गमन ।
कर उसको अंतर्मुख विलीन । अपनेमें ही ॥ ७२ ॥

बढ़ता है वह मेरी ओर । चढ़ भूतोंके सिरपर ।
छोडके अगत्य संसार । धनंजय ॥ ७३ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जाने जो मैं अजन्मा हूं स्वयम्भू विश्व-चालक ।
निर्मोही हो मनुष्योंमें छूटता सब पापसे ॥ ३ ॥

भली भांति यहां रह कर। स्व-प्रकाशमें ही जानकर।
देखता अजत्व जो प्रखर। मेरे नयनों से ॥ ७४ ॥

मैं हूं अनादिसे पर। सर्व लोक महेश्वर।
मुझको ऐसा जो नर। जानता है ॥ ७५ ॥

पाषाणमें वह पारस। रसमें है जो सिद्धरस।
मनुष्याकृतिमें जो अंश। मेरा ही जान ॥ ७६ ॥

जंगम बिंब है वह ज्ञानका। अवयव सुखके अंकुरका।
प्रकाश है वह मानवताका। लोकदृष्टिका है भ्रम ॥ ७७ ॥

कर्पूरमें हिरा मिला। उस पर पानी डाला।
कर्पूर सब पिघला। प्रकटा हीरा ॥ ७८ ॥

रूपमें है वह मानुष। देखनेमें अन्य सदृष।
न स्पर्षते प्रकृति-दोष। उसको कभी ॥ ७९ ॥

उसको छोड जाते हैं सब पाप। जैसे जलता चंदन वृक्ष साप।
वैसे ब्रह्म-ज्ञानीको कोई संकल्प। कभी छूता नहीं ॥ ८० ॥

होना यदि मेरा ज्ञान। ऐसा चाहता है मन।
मैं कैसा हूँ यह जान। तथा मज्जन्य वस्तु ॥ ८१ ॥

सभी है मेरे ही विकार। भूतमात्रके रूप धर।
फैले हैं त्रिलोकमें भर। धनंजय ॥ ८२ ॥

बुद्धिर्ज्ञानसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि ज्ञान क्षमा शांति सत्य निर्मोह निग्रह।
जन्म-मृत्यु सुख-दुःख लाभालाभ भयाभय ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टि तप दान यशायश।
हुये ये मुझसे भाव भूतोंमें भिन्न भिन्न जो ॥ ५ ॥

प्रथम है जान तू बुद्धि। फिर ज्ञान जो निरवधि।
असंमोह सहन सिद्धि। क्षमा सत्य ॥ ८३ ॥

तब इंद्रिय मन दमन। सुख दुखमें समवर्तन।
भाव अभाव मान अर्जुन। मेरे ही विकार ॥ ८४ ॥

भय तथा अभयता। अहिंसा तथा समता।
मेरा रूप पांडुसुत। जान तू यह ॥ ८५ ॥

दान यश अपकीर्ति। इन भावोंकी वसती।
मेरी ओरसे है होती। सब भूतोंमें ॥ ८६ ॥

जैसे भूत जात भिन्न भिन्न। वैसे मेरे गुण भी है जान।
होते मेरे ज्ञानसे उत्पन्न। कुछ अज्ञानसे भी ॥ ८७ ॥

जैसे प्रकाश औ' अंधार। लेकर सूर्यका ही आधार।
फैलता अस्तमें है अंधार। उदयमें वैसे प्रकाश ॥ ८८ ॥

मेरा ज्ञान और अज्ञान। है जो दैवके ही कारण।
तभी भूतोंमें भाव जान। कम और अधिक ॥ ८९ ॥

तभी जीव सृष्टि संपूर्ण। मेरे ही विकारमें तू जान।
उलझी हुई यहां अर्जुन। जान तू यह ॥ ९० ॥

अब इस सृष्टिके पालक। जिसके आधीन होते लोक।
वे ग्यारह भाव भिन्न देख। कहता तुझे ॥ ९१ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

संपूर्ण गुणसे जो वृद्ध। औ' महर्षियोंमें प्रबुद्ध।
जो हैं कश्यपादि प्रसिद्ध। सप्त-ऋषी ॥ ९२ ॥

चौदह मनु जो विख्यात। उसमें चार प्रतिष्ठित।
स्वयंभू आदि ख्याति प्राप्त। कहे हैं अन्य ॥ ९३ ॥

महर्षि सात आदीके मनु जो चार हैं तथा।
मेरे संकल्पसे भाव लोकमें उनकी प्रजा ॥ ६ ॥

ऐसे एकादश ये समस्त। मेरे मनसे ही है निर्मित।
सृष्टि व्यापार संचलनार्थ। धनुर्धर ॥ ९४ ॥

न हुए थे लोक व्यवस्थित। ये त्रिभुवन अनधिष्ठित।
तथा यह सब भूतजात। जो था पडा हुआ ॥ ९५ ॥

तभी हुए ये ग्यारह उत्पन्न। उन्होने ही लोकपाल निर्माण।
करके उनको अध्यक्ष जान। रखा यहां ॥ ९६ ॥

इसलिये ये ग्यारह राजा। उनके रहे अनेक प्रजा।
है विस्तार यह सजा-धजा। मेरा ही सारा ॥ ९७ ॥

पहले होता है बीज एक। वही बनता तना नेक।
उसमें ही अंकुर अनेक। निकलते हैं ॥ ९८ ॥

उस अंकुरके अनेक। निकलते शाखोपशाख।
शाखाओंमें फुटते देख। असंख्य पल्लव ॥ ९९ ॥

उन पल्लवोंमें फल फूल। वृक्षत्व बहरता सकल।
चिंतन रतको है केवल। बीज-मात्र ॥ १०० ॥

वैसे मैं आदि एक ही जान। उत्पन्न है मुझसे ही मन।
मनसे सप्तऋषी उत्पन्न। तथा मनु भी ॥ १ ॥

उन्होंने किये लोकपाल निर्माण। लोक-पालोंने किया लोकसृजन।
लोकोंसे हुई नाना प्रजा उत्पन्न। दीखती जो ॥ २ ॥

ऐसे इस विश्वका निर्माण। किया मैंने ही पूर्ण रूपेण।
चिंतन रतको होता ज्ञान। अन्यको नहीं ॥ ३ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

मेरा जो योग-विस्तार जानता यह तत्वता।
वह निश्चय पायेगा इस निष्कंप योगको ॥ ७ ॥

मैं सर्व व्यापी हूँ इसलिये "जो जो मिला भूत। उसे मान भगवंत"—

इसी लिये सुभद्रा-पति । ये भाव मेरी ही विभूति।
तथा उसकी है ये व्याप्ति। संपूर्ण विश्व ॥ ४ ॥

इसीलिये सुन तू पार्थ । ब्रह्मादिसे चींटि पर्यंत।
बिना मेरे दूसरी बात । नहीं है विश्वमें ॥ ५ ॥

ऐसे जो जानता यथार्थ । ज्ञान बोधसे हो जागृत।
उसे नहीं दुःस्वप्न द्वैत । उत्तम-मध्यमादिक ॥ ६ ॥

मैं तथा मेरी विभूति । औ' विभूति व्याप्त व्यक्ति ।
एक है यह प्रतीति । करता वह ॥ ७ ॥

ऐसे जो संदेह रहित । अनुभव-ज्ञान सहित ।
मिलकर हुआ कृतार्थ । मनसे मुझमें ॥ ८ ॥

ऐसे जो मुझको भजता । अभेद दृष्टिसे जानता।
भजन नादमें झूमता । उसके मैं ॥ ९ ॥

भक्तियोग यह भेद रहित। है अखंड तथा संशयातीत।
आचारमें टूट भी शुभदाता । ऐसा कहा छटेमें ॥ ११० ॥

मेरा यह अभेद ज्ञान। जानना चाहता तो मन।
कहता हूं उसको सुन । ध्यान देकर ॥ ११ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मुझसे ही यह संपूर्ण । होता है विश्वका जनन।
तथा है पालन पोषण । मुझसे ही ॥ १२ ॥

जैसे जल-कल्लोल माल । उसका जन्मदाता जल ।
औ' आधार भी वही जल । तथा जीवन भी ॥ १३ ॥

मुझमें सबका मूल प्रेरणा मुझसे सब ।
यह जान मुझे ज्ञानी भजता भक्ति-भावसे ॥ ८ ॥

जैसे वहां सर्वत्र कहीं । जलके बिना कछु नहीं ।
वैसे विश्वमें जहां कहीं । मेरे बिन ना कछु ॥ १४ ॥

मुझे ऐसे व्यापक मान । भजन करते सर्व स्थान ।
ये उनके भजन पूजन । प्रकट है प्रेम-भावसे ॥ १५ ॥

देशकाल वर्तमान । मुझमें देख अभिन्न ।
जैसे वायु हो गगन । फिरता गगन में ॥ १६ ॥

ऐसे निज-ज्ञान संपन्न । हो विचरते त्रिभुवन ।
मुझको जगद्रूप मान । अंतः करणमें ॥ १७ ॥

जो जहां मिलता है भूत । उसीको माना भगवंत ।
यह भक्ति-योग निश्चत । मेरा जान ॥ १८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

दो भक्तोंकी भेंट आनंद–महोत्सव है—

अन्तःकरण मैं बना । प्राण भी मद्रूप बना ।
भूला है जीव मरण । बोध-भूलसे ॥ १९ ॥

फिर बोधके नशामें । औ' संवादके सुखमें ।
नाचते लेने देनेमें । ज्ञानानंदके ॥ २० ॥

जैसे समीपके दो सरोवर । उमड आते जब परस्पर ।
बनाते तब तरंग ही घर । तरंगको वैसे ॥ २१ ॥

होता जब भक्तसे भक्तका मिलन । मानो आनंदसे आनंदका गुंफन ।
ज्ञानसे करता ज्ञानका ही भूषण । ज्ञानके लिये ॥ २२ ॥

सूर्यसे सूर्यकी आरती उतारना । चंद्रने चंद्रका आलिंगन करना ।
या-गंगा यमुनाका है मिलन होना । वैसे ही धनंजय ॥ २३ ॥

चित्त प्राण मुझे मान बोध देते परस्पर ।
मेरे कीर्तनमें नित्य रमते तुष्ट होकर ॥ ९ ॥

जैसे प्रयाग है समरसका। संगम प्रवाह सात्विकताका।
हुआ जो सुसंवाद चौराहेका। गणपति ही मानो ॥ २४ ॥

तब है महा सुखके नशामें। उडे देह-ग्रामके बाहरमें।
आत्म-तृप्तिके गर्जनानंदमें। गूंजता गगन ॥ २५ ॥

गुरु शिष्यका एकांत-स्थल। वहां भी देखके देश-काल।
कहनेकी बात जो मंगल। गरजते हैं मेघ-से ॥ २६ ॥

पूरा खिला हुआ जो कमल। समा न सकता परिमल।
अभेद रूप देता प्रफुल्ल। आमोदोन्माद ॥ २७ ॥

सदा सर्वत्र मेरा गुणवर्णन। औ' वर्णनानंदमें खो जाता कथन।
उस खोनेमें घुलते तन मन। जीव सहित ॥ २८ ॥

जीत लिया मत्सुख पूर्ण। प्रेमोत्कर्षमें हो बे-भान।
भूले देश-काल भी पूर्ण। अपनेमें ही ॥ २९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

भक्त केवल मेरा प्रेम-सुख चाहते हैं—

हमको उन्हे जो कुछ देना था। उन्होने पहले ही पालिया था।
हमारे दिये बिना कमाया था। फिर रहा क्या देनेको ॥ १३० ॥

उनका जो निश्चित पथ। उसके सम्मुख है पार्थ।
स्वर्ग-मोक्ष आदिके पथ। जैसी पगडंडियां ॥ ३१ ॥

अंगीकार किया उन्होंने प्रेम। दे देना है जो हमारा नियम।
कर लिया उन्होने वही काम। नाम लिया हमारा ॥ ३२ ॥

अनुदिन वह बढते जाये। कालकी दृष्टि नहीं पड पाये।
इतना ही काम हमारे लिये। रहता है तब ॥ ३३ ॥

ऐसे मगन जो नित्य भजते प्रीति-पूर्वक।
देता उन्हे बुद्धि योग जिससे मैं मिलूं उन्हे ॥ १० ॥

ममता दृष्टिका आच्छादन कर। जैसे दौडती है माता धनुर्धर
शिशुके पीछे सदा बध्द होकर। रहता जो क्रीडारत ॥ ३४ ॥

शिशु जब जो जो खेल दिखाता। उसे स्वर्णमय करती माता।
वैसे भक्तका प्रभुत्व बढाता। मैं उपासनामें ॥ ३५ ॥

उस उपासना पोषणसे। भक्त मिलन होगा मुझसे।
देखता है इस भांतिसे। भाता है मुझे ॥ ३६ ॥

अजी ! भक्तकी मुझे है आस। उसकी एक-निष्ठाकी प्यास।
प्रेमी भक्तोंका अकाल खास। रहता मेरे यहां ॥ ३७ ॥

स्वर्ग औ' मोक्षके पथ। छोड दिये उन्हीके हाथ।
दिया तन लक्ष्मीके साथ। शेषके आधीन ॥ ३८ ॥

अपने पास केवल एक। रखा है निर्मल प्रेम-सुख।
वह प्रेमियोंके लिये देख। किया जतन ॥ ३९ ॥

जैसे कहा मैंने अब तक। देखके अपनत्व नेक।
लेते प्रेमियोंका प्रेम एक। जो शब्दसे परे ॥ ४० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

मुझ आत्मामें ही प्रेम-भाव। जिन्होने किया जीनेका ठाव।
उसके बिना अन्य पांडव। सब है व्यर्थ ॥ ४१ ॥

ऐसे प्रिय तत्वज्ञोंके सम्मुख। कर्पूर मशाल हाथमें रख।
चलता हूं मैं आगे आगे देख। राह दिखाते ॥ ४२ ॥

उनको अज्ञान रातमें। घिरे हुए घने तममें।
दूर कर तम राहमें। करता नित्योदय ॥ ४३ ॥

अर्जुनको कृष्ण परब्रह्म होनेका भास—

प्रिय भक्तोंका प्रियतम। बोला जब पुरुषोत्तम।
कहा अर्जुनने सप्रेम। मन हुआ शांत ॥ ४४ ॥

करुणा करके मैं ही हियमें रहके नित।
तेजस्वी ज्ञान ज्योतीसे अज्ञान तम नाशना ॥ ११ ॥

अजी ! मुझे क्या सुना दिया। संसार तापसे दूर किया।
जन्म-मरणसे है छुडाया। कृपाकर प्रभु ॥ ४५ ॥
यह नव-जन्म अपना। देखते अपने नयन।
मेरे हाथ आया जीवन। मन भाया जो ॥ ४६ ॥
उज्वल हुआ आज आयुष्य। हुआ दैव दशाका उदय।
वाक्प्रसाद पाया है सदय। दैव मुखसे ॥ ४७ ॥
तेरे वचनके प्रकाशसे। अंतर्बाह्य तम मिटनेसे।
देखता हूं यथार्थ रूपसे। स्वरूप तेरा ॥ ४८ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

अजी ! वही है तू परब्रह्म। महाभूतोंका विश्राम-धाम।
पवित्र तम अति परम। जगन्नाथ ॥ ४९ ॥
परम दैवत तू तीनोंका। पुरुष है तू पंचवीसका।
दिव्य है तू प्रकृति भावका। परे है जो श्रेष्ठ ॥ १५० ॥
स्वामी तू है अनादि-सिद्ध। जन्म रहित जो प्रसिद्ध।
हमने पाया अब शुद्ध। स्वरूप तेरा ॥ ५१ ॥
काल-यंत्रका तू सूत्रधार। जीवन कलाका कर्णधार।
तू ही है ब्रह्मांडका आधार। जाना यह निश्चित ॥ ५२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

यहां ओर ही एक भांति। आती है इसकी प्रतीति।
ऋषियोंने भी इसी भांति। किया है वर्णन ॥ ५३ ॥

अर्जुनने कहा

पवित्र तू पर-ब्रह्म श्रेष्ठ जो मोक्ष-धाम तू।
आत्मा शाश्वत औ' दिव्य अजन्मा आदि औ' विभु ॥ १२ ॥
गाते हैं ऋषि जो सारे तथा असित देवल।
व्यास नारद देवर्षि वैसे ही आपने कहा ॥ १३ ॥

उन ऋषियोंने जो कहा था । अनुभवमें आयी सत्यता ।
कृपया आपने सुनाया था । इसीलिये अब ॥ ५४ ॥

आता था देव-ऋषि नारद । गाता था ऐसे वचन छंद ।
गानेका ही लेकर आनंद । खो देते थे अर्थ ॥ ५५ ॥

प्रकट हुए यदि भास्कर । अंधोंके ही गांवमें आकर ।
बिना उष्णताके तापकर । देखें प्रकाश कैसे ॥ ५६ ॥

सुन देवर्षि नारदका अध्यात्म-गान । उससे केवल नाद-माधुर्य ही सुन ।
चितसे न कर उसका सार-ग्रहण । छोड देते थे ॥ ५७ ॥

असित देवलके मुखसे । सुना है तेरा चरित्र ऐसे ।
किंतु चित्त विषय-विषसे । था अति ग्रस्त ॥ ५८ ॥

विषय-विष होता भयंकर । तीता विषय है अति मधुर ।
तथा परमार्थ होता मधुर । लगता तीता ही ॥ ५९ ॥

अजी ! औरोंका क्या कहना । भवनमें तेरा गुण गाना ।
व्यास देवका नित सुनाना । तेरा चरित्र श्रेष्ठ ॥ १६० ॥

अंधारमें चिंतामणि देखा । उपेक्षासे नहीं उठा सका ।
उजालेमें पहचान सका । ऐसे ही है यह ॥ ६१ ॥

वैसे व्यासादिकोंके वचन । मेरी भी जो चिद्रत्नोंकी खान ।
उपेक्षित पड़ी थी श्रीकृष्ण । बिना प्रकाशके ॥ ६२ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

फैले तेरे वाक्सूर्य किरण । ऋषि-वाक्योंका हुआ स्मरण ।
मिटा सब अपरिचितपन । तेरी कृपासे ॥ ६३ ॥

ज्ञान-बीज रूप थे उनके बोल । हृदय-भूमिमें जमे थे सकल ।
उसपे तेरी कृपाका यह ओल । संवाद फल आया ॥ ६४ ॥

मानता सत्य ये सारा स्वयं तू कहता मुझे ।
देव दानव कोयी भी तेरा रूप न जानते ॥ १४ ॥

अजी ! नारदादिक जो संत । उनकी भक्ति रूप सरिता ।
मैं महोदधि बना अनंत । संवाद सुखका ॥ ६५ ॥

मेरा अनेकानेक जन्म- । किया हुआ जो सत्कर्म ।
फला है यह अत्युत्तम । तू सद्गुरु रूप ॥ ६६ ॥

वैसे सुने थे वृद्धोंके वचन । सदैव तेरे ही गुण-वर्णन ।
हुई अब तेरी कृपा महान । तभी फले सब ॥ ६७ ॥

तभी भाग्य होता अनुकूल । उद्यम होते सब सफल ।
सुना था वह है जो सफल । हुआ गुरु कृपासे ॥ ६८ ॥

माली जिसमें जन्म बिताता । गाछ लगाकर जन्म देता ।
किंतु वसंतमें ही खिलता । अनायास ॥ ६९ ॥

जब विषम ज्वर उतरता । तभी रसनामें स्वाद आता ।
रसायन भी है जो फल देता । जब होता आरोग्य ॥ १७० ॥

वाचा श्रवण नयन प्राण । अनुभवते सार्थकपन ।
संचरता उसमें चेतन । तभी मात्र ॥ ७१ ॥

वैसे शब्दजातका अध्ययन । योगाभ्यासादि समस्त साधन ।
अपना कह सकते हैं जान । जब गुरु अनुकूल ॥ ७२ ॥

इस प्रतीतिके आनंदसे । नाचता अर्जुन निश्चयसे ।
कहता है हे देव ! कृष्णसे । तेरी बात मानी ॥ ७३ ॥

सच है यह कैवल्यपति । हुई मुझे त्रिशुद्ध प्रतीति ।
सुरासुर-नरादिकी मति । न जानती मुझे ॥ ७४ ॥

न सुनकर तेरा वचन । अपनेसे ही कर चिंतन ।
अशक्य है होना तेरा ज्ञान । हुआ मेरा निश्चय ॥ ७५ ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

तू ही है अपने आप जानता पुरुषोत्तम ।
देव देव जगन्नाथ भूतेश-भूत भावन ॥ १५ ॥

जीव स्व-सामर्थ्यसे ईश्वरको नहीं जान सकता—

जैसे अपनी विशालता गगन। आप ही जानता संपूर्ण रूपेण।
अथवा जैसे अपना हो सपना। जानती पृथ्वी ॥ ७६ ॥

वैसे अपनी सर्वशक्ति। जानता तू ही लक्ष्मीपति।
यहां वेदादिककी मति। अकडती व्यर्थ ॥ ७७ ॥

दौडनेमें जीतना मनको। आंकना हाथसे पवनको।
पार करना आदि शून्यको। कैसे संभव ॥ ७८ ॥

ऐसा है तुझे जानना। उसको कह सकना।
असंभव तेरे बिना। अन्य किसीको ॥ ७९ ॥

तू ही जानता अपनी बात। कहनेमें भी तू ही समर्थ।
देव! मेरे माथे का तू आर्त-। पसीना पोंछ दे ॥ १८० ॥

सुना क्या यह भूत-भावन। त्रिभुवन-गज-पंचानन।
सकल देव-देवतार्चन। जगन्नायक ॥ ८१ ॥

जानना चाहें तो तेरा बड़प्पन। उसके सम्मुख हम रजकण।
यह जान हुए तो सलज्ज मौन। नहीं अन्य उपाय ॥ ८२ ॥

चहूँ ओर सरिता सागर भरा। किंतु चातक बेचारा रहा कोरा।
स्वातीका बूंद ही उसका सहारा। वही उसका पानी ॥ ८३ ॥

वैसे गुरु है सर्वत्र चहूं ओर। किंतु कृष्ण! मुझे तेरा ही आधार।
रहने दो यह वचन विस्तार। कहो विभूतियोग ॥ ८४ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

तेरी जो विभूति संपूर्ण। जिससे तू व्याप्त भुवन।
कह तू दिव्य श्री कृष्ण। कृपा पूर्वक ॥ ८५ ॥

विभूति अपनी दिव्य मुझ अशेष तू कह।
जिससे विश्व है सारा व्याप्त हो कर तू रहा ॥ १६ ॥

विभूति जो यहां समस्त। लोगोंमें व्याप्त है अनंत।
जो है प्रधान औ' विख्यात। कर तू प्रकट ॥ ८६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

किस भांति जानुं तुझको। किस भांति गाऊं तुझको।
विश्व रूप कहूँ तुझको। न होगा चिंतन ॥ ८७ ॥

अजी! पीछे कहे जैसे। निज-भाव कहे वैसे।
अभी सविस्तर तैसे। कह तू एक भार ॥ ८८ ॥

किन भावोंका ले आधार। भजनेसे है सुखकर।
कह वह मुझे सत्वर। विभूति-योग ॥ ८९ ॥

विस्तारेणाऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वंतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अर्जुनकी विभूति-विस्तार सुननेकी इच्छा—

मैंने पूछा जो विभूति। वहि कहो भूतपति।
पुनः इसकी पुनरुक्ति। करना क्या ॥ १९० ॥

ऐसी आवे तो भाव कल्पना। उसको जाने दो जनार्दन।
मुझ जैसेको अमृत पान। ना न कहलाता ॥ ९१ ॥

कालकूटका जो सहोदर। मृत्यु भयसे पिये अपार।
किंतु चतुर्दश पुरंदर। होते जाते हैं ॥ ९२ ॥

ऐसा वह क्षीराब्धिका रस। उसमें है अमृतका वास।
उसके जो माधुर्य मृष्टांश। नहीं छोडा जाता ॥ ९३ ॥

उस अल्पामृतकी यह महता। उस सामान्यकी वह मधुरता।
यहां तेरा वचन परमामृत। कहना क्या ॥ ९४ ॥

योगेश जानुं मैं कैसे तुझे चिंतनमें नित।
कौन कौन स्वरूपोंमें करूं मैं तव चिंतन ॥ १७

योग-विभूति-विस्तार कह तू अपना निज।
सुनके न अघाता मैं वचनामृत पानसे ॥ १८ ॥

मंदराचलको न उतराना । क्षीर सागरको नहीं मथना ।
अनादि सिद्ध जो अमृत पीना । वह भी अनायास ॥ ९५ ॥

न है वह द्रव या बद्ध । न है वहां रस औ' गंध ।
वह मिलता नित्य-सिध्द । स्मरते ही ॥ ९६ ॥

सुन कर होता निरास । निश्चित संसारका पाश ।
तथा आति नित्यता पास । अपने आप ॥ ९७ ॥

मिटती जन्म-मृत्युकी भाषा । भूल जाता सर्वस निःशेष ।
अंतर्बाह्य वह महा-सुख । बढता जाता ॥ ९८ ॥

तथा दैवयोगसे होता सेवन । सेवनसे अमृत होता है प्राण ।
देता है स्वयं श्री कृष्ण भगवान । ना न कहता चित्त ॥ ९९ ॥

सहज भाता है चित्तको नाम । दर्शन होता रहता परम ।
तथा ज्ञान देता अमृतोपम । आनंद मगन हो ॥ २०० ॥

अनुभवता मैं कैसा सुख । कह न सकता परितोष ।
कथित कथन कृष्णमुख- । करता है आनंद ॥ १ ॥

आनादि भास्कर क्या बासी होता । अस्नात अग्नि अमंगल होता ।
नदी प्रवाह क्या पुराना होता । समय बीतनेसे ॥ २ ॥

सुन तेरे मंगल वचन । किया है नाद-ब्रह्म दर्शन ।
तथा कृष्णागरुके सुमन । बटोर लिये हैं ॥ ३ ॥

सुनकर पार्थके वचन । डुला कृष्णका अंतःकरण ।
कहता है भक्ति ज्ञान पूर्ण । सागर बना यह ॥ ४ ॥

प्रिय सखाके प्रेममें मस्त । उमडते स्नेहमें हो ग्रस्त ।
कष्टसे संयत हो अनंत । बोलता क्या ॥ ५ ॥

भगवान उवाच
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

सुन मैं कहता दिव्य मुख्य मुख्य विभूतियां ।
मेरा विभूति-विस्तार न टूटता कभी कहीं ॥ १९ ॥

भगवानकी अनंत विभूतियोंकी कल्पना—

मैं हूँ पितामहका पिता । स्मरनेसे भी है भूलता ।
कहता बाबा पांडुसुत । अच्छा किया तूने ॥ ६ ॥

बाबा ! कहता वह अर्जुनको । इसमें विस्मय नहीं हमको ।
शिशु हो कहा नहीं क्या नंदको । बाबा ! उसने ॥ ७ ॥

यहांका प्रसंग है ऐसे । प्रेमोद्रेकमें होता वैसे ।
कृष्ण कहता अर्जुनसे । सुन धनंजय ॥ ८ ॥

तूने पूछा हैं मेरी विभूति । अनंत हैं वे सुभद्रापति ।
मेरी होकर भी मेरी मति । न जानती उन्हे ॥ ९ ॥

शरीरमें रोम हैं किती । जिसका उसे न गिनती ।
वैसी ही है मेरी विभूति । अनगिनत मुझे ॥ २१० ॥

वैसा भी मैं कैसा कितना । ज्ञान नहीं मुझे अपना ।
सबसे रूढ जो प्रधान । कहता हूं तुझे ॥ ११ ॥

जिनको जाननेसे है पार्थ । सभी जान लिया होता ।
बीज जब हाथमें है आता । आया वृक्ष जैसा ॥ १२ ॥

या स्वाधीन होनेसे उपवन । आते सभी वृक्ष फल सुमन ।
वैसे जान लिया कर चिंतन । आता चितमें विश्व ॥ १३ ॥

वैसे सच ही है धनुर्धर । अनंत है जो मेरा विस्तार ।
अकाशका जो महा विस्तार । छिप जाता मुझमें ॥ १४ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

कुंतलालक मस्तक सुन । धनुर्वेद त्र्यंबक अर्जुन ।
बसा मैं हियमें आत्मा बन । भूतमात्रके ॥ १५ ॥

अंदर भी मैं हूँ अंतःकरणमें । बाहर भी मैं आवरण रूपमें ।
मैं ही हूँ आदिमें तथा निर्वाणमें । मैं मध्यमें भी ॥ १६ ॥

हियमें सबके मैं हूँ बसता आत्म रूपसे ।
मैं आदि भूत मात्रोंको मध्य मैं और अंत भी ॥ २० ॥

जैसे मेघ तलमें गगन । अंदर बाहर सूक्ष्म स्थान ।
आकाशमें इनका जनन । रहना भी वहीं ॥१७॥

फिर ये सब लय हो जाते । अकाश ही बनके रहते ।
वैसे आदि अंत लय होते । भूतमात्र मुझमें ॥ १८ ॥

ऐसा विविध व्यापक पन । मेरा विभूति विस्तार जान ।
जीवका कर तू अब कान । सुन जो सुना था ॥ १९ ॥

अब भी मेरी वे जो विभूति । सुनना है क्या सुभद्रापति ।
पुनरुक्ति करता सप्रीति । प्रधान रूपसे ॥ २२० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

भगवानकी प्रधान ऐसी पिचत्तर विभूतियां —

यह कह बोला प्रेममें । मैं हूं विष्णु आदित्योंमें ।
तथा सूर्य ज्योतिर्वंतोंमें । जो है रश्मिवंत ॥ २१ ॥

मरीचि मैं मरुतोंमें । चंद्र मैं तारागणोंमें ।
बोले श्रीकृष्ण रणमें । गगन रंगके ॥ २२ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदोंमें मैं सामवेद । कहता वह गोविंद ।
देवोंमें मरुद्बंधु । महेंद्र हूँ मैं ॥ २३ ॥

इंद्रियोंमें मैं हूँ मन । जो है ग्यारहवा जान
भूतमात्रोंमें चेतन । स्वभावसे मैं ॥ २४ ॥

आदित्योंमें महा विष्णु सूर्य मैं ज्योतिमानमें ।
मरीचि मुख्य वायुमें नक्षत्रोंमें शशांक मैं ॥ २१ ॥

मैं सामवेद वेदोंमें देवोंमें देव-राज मैं ।
मन हूँ इंद्रियोंमें मैं चेतना भूत-मात्रमें ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षराक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं हूं रुद्रोंमें शंकर । कामसे जिसका वैर ।
निःसंशय धनुर्धर । निभ्रांत मान तू ॥ २५ ॥

यक्ष-रक्ष गणमें विख्यात । शंभुका मित्र जो धनवंत ।
वह कुबेर मैं हूँ अनंत । कहने लगा ॥ २६ ॥

वैसे ही मैं वसुओंमें । अग्नि हूँ जान मनमें ।
सर्वोच्च मैं शिखरोंमें । मेरू हूं गिरीश जो ॥ २७ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिं ।
सेनानिनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

स्वर्ग सिंहासन सहायक । सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ जो नेक ।
पुरोहित स्वर्गका प्रमुख । मैं वह बृहस्पति ॥ २८ ॥

त्रिभुवनका श्रेष्ठ सेनापति । कहलाता स्कंद जो महामति ।
अग्नि कृत्तिका जान जो विभूति । शिव वीर्य से ॥ २९ ॥

विश्वके सकल सरोवरमें । जल राशिमें समुद्र रूपमें ।
तपोराशि हूँ मैं महर्षियोंमें । कहलाता भृगु मुनि ॥ २३० ॥

सकल अक्षरोंमें जो है श्रेष्ठ । जहां सत्योत्कर्ष परमोत्कट ।
ज्ञानी जन जिससे एक निष्ठ । वह ओंकार मैं हूँ ॥ ३१ ॥

कुबेर यक्ष रक्षोंमें रुद्रोंमें मैं सदाशिव ।
मेरू मैं गिरि-मालामें अग्नि मैं वसु वर्गमें ॥ २३ ॥

बृहस्पति मुझे जान पुरोहित प्रधान जो ।
स्कंद सेनाधिपोंमें मैं समुद जल-राशिमें ॥ २४ ॥

मैं एकाक्षर वाणीमें भृगु मैं ऋषि-वृंदमें ।
जप हूं सब यज्ञोंमें स्थावरोंमें हिमालय ॥ २५ ॥

जो है समस्त यज्ञोंमें। जपयज्ञ मैं लोकमें।
कर्म-त्याग प्रणवादिमें। नित्य होता ॥ ३२ ॥

अजी! जप यज्ञ जो परम। बांध न सकते यज्ञादि कर्म।
नामसे पावन धर्म-अधर्म। परब्रह्म वेदार्थ ॥ ३३ ॥

स्थावरोंमें जो पर्वत। पुण्य रूप रहा स्थित।
पुण्य-पुंज हिमवंत। मैं हूँ जान तू ॥ ३४ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् देवर्षिणां च नारदः।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलोमुनिः ॥ २६ ॥

उच्च्यैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेंद्राणाम् नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

कल्पद्रुम औ' पारिजात। गुणमें चंदन है ख्यात।
फिर भी वृक्षोंमें अश्वत्थ। मेरी विभूति है ॥ ३५ ॥

देवऋषियोंमें मुझे पार्थ। जानना तू नारद यथार्थ।
तथा गंधर्वोंमें चित्ररथ। मुझे ही जान ॥ ३६ ॥

सभी सिध्दोंमें महासिद्ध। कपिलाचार्य जो प्रबुद्ध।
तुरंगोंमें जो है प्रसिद्ध। उच्चैःश्रव मैं ॥ ३७ ॥

गजोंमें मैं हूं राज-भूषण। ऐरावत स्वर्ग-भूषण।
पय-राशि कर मंथन। निकाला अमृतांश ॥ ३८ ॥

यहां मैं नरोंमें जो राजा। विभूति विशेष सहज।
जन कहलाते हैं प्रजा। जिसकी सब ॥ ३९ ॥

अश्वत्थ सब वृक्षोंमें देवर्षि बीच नारद।
चित्ररथ गंधर्वोंमें सिद्धोंमें कपिलमुनि ॥ २६ ॥

उच्यैश्रवा अश्वोंमें मैं निकला जो अमृतसे।
ऐरावत गजेंद्रोंमें नरोंमें मैं नराधिप ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनुनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

वज्र हूँ मैं हथियारोंमें । पकडता इंद्र करमें ।
जो शतमख करनेमें । होता है उत्तीर्ण ॥ २४० ॥

धेनुओंमें मैं कामधेनु । कहता कृष्ण भगवान ।
जन्मदात्रोंमें मैं मदन । जान तू यह ॥ ४१ ॥

सर्प कुलका अधिष्ठाता । वासुकि हूँ मैं कुंति-सुत ।
नागोंमें जो कहलाता । वह अनंत मैं हूँ ॥ ४२ ॥

जलराशी में पांडुसुत । पश्चिम प्रमदाका कांत ।
कहता है देवकी सुत । मैं हूँ वरुण ॥ ४३ ॥

तथा पितृगणोंमें समस्त । जो है अर्यमा पितृ-देवता ।
वह मैं ही यह तत्वता । जान तू अर्जुन ॥ ४४ ॥

जगका कर शुभाशुभ लेखन । तथा प्राणियोंके मनका दर्शन ।
तदनुरूप करते नियमन । पाप-पुण्य फलका ॥ ४५ ॥

उन नियमितोंमें यम । सर्व साक्षी रूप मैं धर्म ।
कहता यह आत्माराम । मैं हूं वह ॥ ४६ ॥

प्रल्हादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्
मृगानां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

मैं कामधेनु गायोंमें शस्त्रोंमें वज्र मैं रहा ।
उत्पत्ति हेतु मैं काम मैं सर्वोत्तम वासुकी ॥ २८ ॥
मैं हूँ वरुण पानीमें नागोंमें शेष-नाग मैं ।
पितरोंमें अर्यमा हूँ यम संयम-कारक ॥ २९ ॥
मैं हूँ प्रल्हाद दैत्योंमें काल हूँ गणितज्ञमें ।
मृगोंमें मैं मृगराज पक्षियोंमें खगेंद्र हूँ ॥ ३० ॥

दानव कुल तिलक। भक्त प्रल्हाद मैं नेक।
आसुरी गुणोंमें देख। न हुआ जो लिप्त ॥ ४७ ॥
ग्रासनेमें मैं महाकाल। कहता है वह गोपाल।
श्वापदोंमें मैं शार्दूल। जान तू यह ॥ ४८ ॥
पक्षि-जातिमें तू सुन। गरुड हूं मैं अर्जुन।
तभी तो वह आसन। हो सका मेरा ॥ ४९ ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पृथिवीका है जो पसारा। क्षण भरमें धनुर्धर।
उड्डाण जो सप्तसागर। करते रहते ॥ २५० ॥
ऐसे रहते जो गतिवंत। उनमें पवन मैं पांडुसुत।
शस्त्र-धारियोंमें जो हैं समस्त। श्रीराम मैं हूं ॥ ५१ ॥
पक्ष लेके संकटग्रस्त धर्मका। सहारा मात्र अपने धनुष्यका।
मोड़ लिया मुख विजय लक्ष्मीका। जिसने अपनी ओर ॥ ५२ ॥
चढकर पर्वत मस्तक सुवेली। प्रताप लंकेश्वरकी मस्तकावली।
आकाशस्त भूतोंको दी हस्त-बलि। जो चीखते थे ॥ ५३ ॥
बढाया उन्होंने देवोंका मान। किया धर्मका जीर्णोद्धार जान।
जनमा सूर्यवंशको महान। मानो सूर्य रूप ही ॥ ५४ ॥
ऐसा जो धनुर्बाण हस्त। रामचंद्र मैं सीता-कांत।
तथा मकर पुच्छवंत। मैं हूं जलचरोंमें ॥ ५५ ॥
अजी! जान तू सकल जल ओघ। उसमें भगीरथकी लायी गंगा।
उसको निगले जन्हुकी जांध। फाड आयी जो ॥ ५६ ॥
वह त्रिभुवनैक सरिता। जान्हवी है सुन पांडुसुत।
जल प्रवाहोंमें समस्त। मेरी विभूति है ॥ ५७ ॥

राम मैं शस्त्र-वीरोंमें वायु मैं वेगवानमें।
मत्स्योंमें मैं बना नक्र नदियोंमें गंगा नदी ॥ ३१ ॥

ऐसी मेरी विभूति अनेक । उनका नाम लूं मैं एकेक ।
बीतेंगे सहस्त्र जन्म देख । सुननेमें ही ॥ ५८ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः समासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

नक्षत्र चुनना आकाशके पूर्ण । ऐसी अपेक्षा जब करेग मन ।
तब पोटलीमें बांधना गगन । यही है अच्छा ॥ ५९ ॥

यदि पृथ्वीके परमाणु गिनना । तो पृथ्वीको ही बगलमें दबाना ।
वैसा विस्तार यदि मेरा जानना । तो मेरे ही ज्ञानसे ॥ २६० ॥

जैसे शाखाओंके फूल फल । बटोरना चाहे तो सकल ।
उखाडना वृक्ष सहमूल । लेना हाथमें ॥ ६१ ॥

वैसी मेरी विभूति विशेष । जानना चाहे यदि अशेष ।
मेरा स्वरूप एक निर्दोष । जानना होगा ॥ ६२ ॥

अन्यथा भिन्न भिन्न विभूति । कहें कितनी सुभद्रापति ।
एक बातमें ही जान महामति । मैं हूँ सर्वस्व ॥ ६३ ॥

मैं हूं संपूर्ण सृष्टिमें । अजी ! आदि मध्यांतमें ।
होते हैं जैसे पटमें । तंतु ही तंतु ॥ ६४ ॥

व्यापक ऐसे मुझे जानना । विभूति-भेद है क्या करना ।
तुझमें योग्यताका न होना । सो कहना पड़ा ॥ ६५ ॥

या तूने पूछ लिया है पार्थ । इसीलिये कहता विस्तृत ।
विद्याओंमें जान तू प्रस्तुत । मैं हूँ आत्म-विद्या ॥ ६६ ॥

आदि मध्य तथा अंत मैं चराचर सृष्टिका ।
विद्यामें आत्म-विद्या मैं वादिका तत्व-वाद मैं ॥ ३२ ॥
मैं हूँ द्वंद्व समासोंमें अक्षरोंमें अकार मैं ।
मैं ही अक्षय जो काल विश्वकर्ता विराट् स्वयम् ॥ ३३ ॥

वाद जो है बोलनेवालोंमें। जान तू वह हूँ मैं संक्षेपमें।
कभी न आते एक मतमें। जिससे शास्त्र ॥ ६७ ॥

विषय-निश्चयमें जो बढता। सुनके तर्कका जोर चढता।
तथा वाणीका रस है बढता। औ' होता मधुर भाषण ॥ ६८ ॥

ऐसे प्रतिपादनमें वाद। कहता है मैं ही हूँ गोविंद।
औ' अक्षरोंमें जो विशद। वह अकार मैं हूँ ॥ ६९ ॥

वैसे समासमें अर्जुन। द्वंद्व समास मैं हूँ जान।
करता जो सर्व भक्षण। वह काल मैं हूँ ॥ २७० ॥

जिसमें मेरु मंदार सहित। पृथिवी भी हो जाती द्रवित।
उस एकार्णवको भी जो पार्थ। पचाता अपनेमें ॥ ७१ ॥

उस प्रलय तेजको भी ग्रासता। तथा महा अनिलको निगलता।
आकाशको भी अपनेमें समाता। धनंजय ॥ ७२ ॥

ऐसा है जो असीम काल। मैं हूँ कहता है गोपाल।
सृजता विश्व जो निर्मल। वह ब्रह्मा मैं हूँ ॥ ७३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीवाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

तथा उत्पन्न भूतोंका धारण। सबका जीवन भी संपूर्ण।
अंतमें सबको देता मरण। वह भी मैं हूँ ॥ ७४ ॥

स्त्री जातिमें अर्जुन। सात मेरी है सुन।
कहता वह कौन। सकौतुक ॥ ७५ ॥

सुन नित्य नूतन कीर्ति। अर्जुन वह मेरी मूर्ति।
तथा स-औदार्य संपत्ति। मैं हूँ जान ॥ ७६ ॥

तथा वह है जो वाणी। न्याय सुखासन वासिनी।
औ' विवेक-पथ गामिनी। मेरा ही रूप ॥ ७७ ॥

सर्व नाशक मैं मृत्यु जन्म भी मैं भविष्यका।
वाणी श्री कीर्ति नारीमें क्षमा मेधा धृति स्मृति ॥ ३४ ॥

देख विश्वका पदार्थ । देता मेरा यथार्थ ।
ज्ञान जो है वह पार्थ । स्मृति मैं विशुद्ध ॥ ७८ ॥
स्वहितके अनुकूल । मेधा हूं मैं जो निर्मल ।
त्रिभुवन धृति-शील । तथा क्षमा मैं ॥ ७९ ॥
नारि जातिमें सात । शक्तियां हैं जो पार्थ ।
मैं हूं कही है बात । श्रीकृष्णने यह ॥ २८० ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

वेद-राशिमें बृहत्साम । मैं हूं सुन तू प्रियोत्तम ।
कहता है पुरुषोत्तम । धनंजयसे ॥ ८१ ॥
छंदमें गायत्री छंद । मेरा स्वरूप है विषद ।
जान यह अप्रमाद । अर्जुन तू ॥ ८२ ॥
मासोंमें जो मगसिर । जान यह धनुर्धर ।
ऋतुमें कुसुमाकर । वसंत मैं हूं ॥ ८३ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

कपट कारस्थानमें द्यूत । मैं हूं जान यह पांडुसुत ।
तभी चौरस्तेका है प्रशस्त । चलता यह चौर्य ॥ ८४ ॥
तेजस्वियोंका तेज निश्चय । मैं ही हूं जान तू धनंजय ।
कार्योद्देश्यमें जो है विजय । वह भी मैं हूं ॥ ८५ ॥

गायत्री सब छंदोंमें मैं बृहत्साम साममें ।
मैं मार्गशीर्ष मासोंमें ऋतुओंमें वसंत मैं ॥ ३५ ॥
द्यूत मैं छलियोंमें हूं तेज तेजस्विका बना ।
सत्व मैं सात्विकोंमें हूं जय मैं व्यवसायमें ॥ ३६ ॥
मैं वासुदेव वृष्णींमें पांडवोंमें धनंजय ।
मुनियोंमें मुनी व्यास कविमें उषना कवि ॥ ३७ ॥

उद्योगमें जो है धनंजय । उद्योगसे दीखता है न्याय ।
मेरा रूप वह यदुराय । कहता है ॥ ८६ ॥

सत्व है जो सत्वस्थमें । कृष्ण है यदुवंशमें ।
तथा श्री संपन्नतामें । मैं हूं जान ॥ ८७ ॥

वसुदेव देवकीसे मैं उत्पन्न । कुमारि स्थानमें गोकुल गमन ।
प्राणोसह चूस लिय मैंने स्तन । पूतनाके ॥ ८८ ॥

मिटा नहीं था अभी कौमार्य । किया अदानव सृष्टिकार्य ।
गिरिधर बन कृता आर्य । इंद्रकी महिमा ॥ ८९ ॥

मिटाया कालिंदी-हृदय शूल । बचा लिया ज्वाला ग्रस्त गोकुल ।
बनाया मैंने ब्रह्माको पागल । बछडे बनाके ॥ २९० ॥

होते ही बाल्यका प्रभात । कंसादि प्रचंड अत्यंत ।
मिटाये दुष्ट जो ज्वलंत । सहज लीलासे ॥ ९१ ॥

कहना मेरा कार्य कितना । तूने स्वयं देखा है अर्जुन ।
यादवोंमें श्रीकृष्ण जानना । मेरा रूप ॥ ९२ ॥

पांडव जो हैं सोम वंशस्थ । उनमें मैं अर्जुन हूं पार्थ ।
हमारा प्रेम भाव विश्वस्थ । कभी न टूटता ॥ ९३ ॥

नहीं तो विचार कर देख अर्जुन । संन्यासी हो चूराई तूने बहन ।
किंतु विकल्प न हुआ मेरा मन । क्यों कि हम एक हैं ॥ ९४ ॥

मुनियोंमें मैं व्यासराय । मैं कहता हूं यादवराय ।
तथा मैं हूं उषनाचार्य । कवीश्वरोंमें ॥ ९५ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

चींटीसे ब्रह्मतक समान । चलता है जो सुनियमन ।
उसमें अनिवार्य शासन । मैं हूं पार्थ ॥ ९६ ॥

दंड मैं दमवंतोमें धर्म मैं विजयार्थिका ।
ज्ञान हूँ ज्ञानियोंमें मैं गूढोंमें श्रेष्ठ मौन हूँ ॥ ३८ ॥

सारासार कर निर्णय । धर्म-ज्ञानका जो निश्चय ।
सभी शास्त्रोंमें धनंजय । मैं हूं नीति शास्त्र ॥ ९७ ॥

सब गुह्योंमें अर्जुन । मौन है अति महान ।
गूंगोंके सम्मुख जान । होता अज्ञानी ब्रह्म ॥ ९८ ॥

अजी ! मैं हूं ज्ञानियोंमें । श्रेष्ठ है जो जगतमें ।
ज्ञान जान तू इसमें । अंत नहीं पार्थ ॥ ९९ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरं ॥ ३९ ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अजी ! पर्जन्यकी धार । गिनेगा क्या धनुर्धर ।
या पृथ्वीके तृणाँकुर । होंगे क्या गिनके ॥ ३०० ॥

लहरें क्या महा सागरकी । किसीने कभी क्या गिननेकी ।
मेरी अनंत विभूतियोंकी । कहूँ कैसा ॥ १ ॥

फिर भी पचत्तर प्रधान । विभूतियां तुझसे अर्जुन ।
ऊपर ऊपरकी तू जान । कहीं तुझसे ॥ २ ॥

मेरे विभूति-विस्तारका कहीं । आदि अंत यहां कुछ भी नहीं ।
तभी तू सुनेगा कितनी यहीं । और मैं कहूँगा कितनी ॥ ३ ॥

इसीलिये एक वाक्यमें तुझ । मर्म कहता हूँ अब मैं निज ।
तभी तू सब भूतांकुर-बीज । जान मुझको ही ॥ ४ ॥

तभी छोटा बडा न मानना । नीच उच्च भावको तजना ।
भूतमात्रमें मुझे देखना । सम भावसे ॥ ५ ॥

वैसे ही सब भूतोंका मुझको बीज जान तू ।
बिना मेरे नहीं कोई कहीं भी कुछ भी यहां ॥ ३९ ॥
नहीं अंत कभी आता मेरी दिव्य समृद्धिका ।
तो भी विभूति विस्तार मैंने जो अल्पमें कहा ॥ ४० ॥

इस पर भी साधारण। कर कहता सावधान।
सूचित करता अर्जुन। मेरी विभूति॥ ६ ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ ४१ ॥

जहां जहां संपत्ति औ' दया। दोनो वसति हैं धनंजय।
वहां तू जान अति निश्चय। मेरी विभूति है॥ ७ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२ ॥

नभमें होता रवि-बिंब एक। त्रिभुवनका जो है प्रकाशक।
उसके आज्ञा-रत होते लोक। सकल हि सदैव॥ ८ ॥

ऐसोंको अकेला नहीं कहना। साधन-हीन न मानना।
साथ होते हैं क्या सभी साधन। कामधेनुके कभी॥ ९ ॥

उससे जब जो चाहता। तभी प्रसवती है माता।
वैसे अंगभूत रहता। विश्व भी उसके॥ ३१० ॥

उनकी पहचानकी है संज्ञा। विश्व मानता उसकी आज्ञा।
ऐसे मनुष्यको जान तू प्राज्ञा। मेरा ही अवतार॥ ११ ॥

अब है सामान्य विशेष। जानना यहां महा दोष।
क्यों कि मैं ही एक अशेष। विश्व है जान॥ १२ ॥

तब क्यों बुरा भला कहना। स्व-मतिसे विभाग करना।
औ' अपनी मतिसे लगाना। कलंक मुझको॥ १३ ॥

नहीं तो क्या घीका करते मंथन। अमृतको पकाके करें क्या न्यून।
वायुका होता क्या दायां बायां पन। कह तू मुझसे॥ १४ ॥

विभूति-युक्त जो वस्तु लक्ष्मीवंत उदात्त वा।
मेरी ही किरणोंमेंसे निकली जान तू यह॥ ४१ ॥

अथवा लाभ हो क्या है जान विस्तारसे तुझे।
एकांशमें विश्व सारा मुझसे है भरा रहा॥ ४२ ॥

रविका होता क्या पेट पीठ। देखनेसे अंधी होगी दीठ।
ऐसी मेरी स्वरुप-गोष्ट। न वहां भला-बुरा ॥ १५ ॥

गिनेगा कितनी मेरी विभूति। अनगिनतकी क्या है गिनती।
जाने दें बातें हे सुभद्रापति। विभूतिकी आज ॥ १६ ॥

मेरा है एक ही जो अंश। विश्व व्यापता अशेष।
भेद छोड़ तू निःशेष। भज साम्य भावसे ॥ १७ ॥

ऐसा ज्ञानी-वन वसंत। विरक्त जनोंका एकांत।
बोला यह बात श्रीमंत। श्रीकृष्णचंद्र ॥ १८ ॥

अजी! देव-देवेश श्रीकृष्ण। कहता है सनम्र अर्जुन।
बोला तू अविवेक वचन। भेद त्यागका ॥ १९ ॥

अर्जुनका अद्वैतानुभव—

विश्वसे कहता है क्या भास्कर। आता मैं दूर करो अंधार।
कैसे कहूँ मेरा यह विचार। तू है अडवंग नाथ ॥ ३२० ॥

तेरा नाम भी किसी समय। सुनने मिला तो है तन्मय।
छोडकर भागेगा हृदय। भेदासुर तुरंत ॥ २१ ॥

ऐसा है परब्रह्म तू अभेद श्रेष्ठ। दान-सा मिला हो भाग्यका पराकाष्ठ।
तो भी देखता है क्या भेद कनिष्ठ। किससे औ' कहां ॥ २२ ॥

चंद्र-बिंबके हृदयमें ठौर। 'तपन' कहता क्या यदु-श्रेष्ठ।
शोभा देता है क्या कह तू स्पष्ट। यह बड़ायी तेरी ॥ २३ ॥

श्री कृष्णका अर्जुन प्रेम—

सुन यह कृष्णने मन ही मन। कर लिया पार्थका प्रेमालिंगन।
इस बोलने पर न रुसना। कहता श्री हरि ॥ २४ ॥

भेद मार्गसे कही कहानी। विभूतियोंकी बडी सुहानी।
अभेदांतःकरणसे सुनी। तुझे जंची या नहीं ॥ २५ ॥

देखनेके लिये मैंने इसीको। कही बाह्य व्यवहारी बातको।
जाना तूने विभूति विस्तारको। भली भांति ॥ २६ ॥

अर्जुन कहता देवदेवेश। तू ही जाने तेरा वह विशेष।
किंतु मैं देखता विश्व अशेष। तुझसे भरा हुआ ॥ २७ ॥

यह सुन कर अंधा धृतराष्ट्र अंतःकरणसे भी अंधा ही रहा—

राजन् कहता है यहां अर्जुन। वह अद्वयानुभव वरण।
संजयका शब्द कर श्रवण। स्तब्ध है धृतराष्ट्र॥ २८॥

संजयका दुखी अंतःकरण। जैसे हैं इसके बाह्य नयन।
वैसे ही अंधा है अंतःकरण। कहता संजय॥ २९॥

किंतु वहां वह अर्जुन। बढाता है स्वहित मान।
दूसरा जागृत महान। संकल्प एक॥ ३३०॥

सोचता यह हृदयानुभव। बना लेना है नयनका भाव।
बुद्धिमें हुआ इच्छाका उद्भव। सहज भावसे॥ ३१॥

मेरे यही दोनों नयन। करें विश्व-रूप दर्शन।
लालसा हुई दैववान। सहज भावसे॥ ३२॥

आज वह है कल्पतरुकी शाख। उसकी इच्छा व्यर्थ न होती देख।
जो जो कहेगा आज उसका मुख। सिद्ध करेगा दैव॥ ३३॥

सुन कर प्रल्हादका बोल। प्रसन्न हुआ वन सकल।
वह सद्गुरु मिला कुशल। अर्जुनको॥ ३४॥

विश्वरूप दर्शनार्थ वैसे। पूछेगा अर्जुन श्रीकृष्णसे।
कहूँगा कहता श्रोताओंसे। निवृत्तिदास ज्ञानदेव॥ ३३५॥

गीता श्लोक ४२

ज्ञानेश्वरी ओवी ३३५.



११

विश्व-रूप-दर्शनयोग

यह अध्याय शांत अद्भुत रसोंका प्रयागराज है—

एकादश है इसके अनंतर। कथा भरी है दो रसोंका भंडार।
वहां दर्शन करेगा धनुर्धर। विश्व-रूपका ॥ १ ॥

जहां शांत-रसके सदन। अद्भुत आया अतिथि बन।
मिला पंगतका बहुमान। अन्य रसोंको ॥ २ ॥

होता जब वधु-वरोंका मिलन। तब होता बरातियोंका सन्मान।
वैसे मिला है देशीका सिंहासन। अन्य रसोंको भी ॥ ३ ॥

किंतु उत्तम जो शांत अद्भुत। जंचेंगे आखोंको कर तृप्त।
जैसे हैं प्रेम-भावालिंगित। हरिहर दोनों ॥ ४ ॥

अथवा जैसे अमावासके दिन। करते हैं दोनों बिंब आलिंगन।
वैसे दोनों रसोंका सम्मेलन। हुआ इस स्थलमें ॥ ५ ॥

मिले हैं गंगा-यमुनाके ओघ। वैसे रसोंका हुआ है प्रयाग।
इसीलिये यहां सुस्नात जग। संपूर्ण-रूपसे ॥ ६ ॥

इसमें गीता-सरस्वती गुप्त। तथा ये दोनों रस-ओघ मूर्त।
इसीलिये त्रिवेणी है उचित। सबको प्राप्त है ॥ ७ ॥

सबको त्रिवेणी-स्नान सुलभ हो इसलिये देश-भाषाका घाट बांधा है—

अजी ! यहां श्रवणके द्वारसे । तीर्थमें प्रवेश सुलभ हो ऐसे ।
करवाया है श्री गुरुने मुझसे । कहता ज्ञानदेव ॥ ८ ॥

अजी ! संस्कृतका तीर है गहन । उसको देशीके ये शब्द सोपान ।
निर्माण कराये हैं धर्म-निधान । निवृत्तिनाथने ॥ ९ ॥

यहां करना सबको सद्भाव-स्नान । प्रयाग-माधव विश्व-रूप-दर्शन ।
तथा करना यहां संसार-तर्पण । तिलोदकका ॥ १० ॥

ऐसे हैं यह सावयव । स्वरूप लाये रस-भाव ।
औ' श्रवण-सुखका चाव । मिला विश्वको ॥ ११ ॥

यहां प्रत्यक्ष शांत-अद्भुत । अन्य रसोंको शोभा प्राप्त ।
साथ ही हुआ है मोक्ष-प्राप्त । स्पष्ट रूपसे ॥ १२ ॥

यह ग्यारहवां अध्याय है । देवोंका जो विश्राम-धाम है ।
सुदैवियोंमें पार्थ श्रेष्ठ है । पहुंचा जो वहां ॥ १३ ॥

पार्थ वहां पहुंचा भला क्यों अकेला । जिसे भाता है उसका हुवा सुकाल ।
गीता-भाव उभरा देशीमें सकल । इसी समय ॥ १४ ॥

संत जनोंसे कविकी विनय —

मेरी बात यह इसीलिये । विनय करता सुन-लीजिये ।
जरासा ध्यानसे चित्त दीजिये । आप सज्जन ॥ १५ ॥

अजी ! यह है संतोंकी परिषद । ऐसा लगाव यहां अ-शोभास्पद ।
किंतु आपत्य बन आनंद-स्पंद । कहता मैं यह ॥ १६ ॥

आप ही पहले तोतेको पढाते । वह बोलता तब आप झुलते ।
या बच्चेसे नकल करा रीझते । माता पिता जैसे ॥ १७ ॥

वैसे जो जो कुछ मैं बोलता । प्रभु आपने ही सिखाया था ।
जो आपने ही जो है दिया था । सुनिये चित्त देकर ॥ १८ ॥

अजी ! गाछ है यह सारस्वतका । आपने ही जो लगाया था उसका ।
सिंचन कर अवधानामृतका । बढाया कीजिये ॥ १९ ॥

रस-भाव तब पुष्प-सा खिलेगा । नाना अर्थ फल-भारसे फलेगा ।
आपके ही धर्मका सुकाल होगा । सारे जगतमें ॥ २० ॥

इस बातसे रीझ उठे सब संत । "भला कहा" कह कर हो प्रमुदित ।
अब कहो कृष्णार्जुनमें क्या बात । हुयी जो वहां ॥ २१ ॥

तब निवृत्तिदास कहता । कृष्णार्जुनकी मैं क्या जानता ।
सामान्य क्या मैं कह सकता । कहलाते सब आप ॥ २२ ॥

अजी ! जंगलका जो पात खाते । रावण पर वे विजय पाते ।
पार्थ अक्षोहिणी सैन्य जीतते । अकेले ही ॥ २३ ॥

तभी जो जो करते हैं समर्थ । चराचरमें होता वह सार्थ ।
मुझसे कहलाते हैं तदर्थ । संत जन आप ॥ २४ ॥

सुनिये अब यह बोल । गीता भावार्थके निर्मल ।
वैकुंठ-पतिके सरल । निकला मुखसे ॥ २५ ॥

धन्य धन्य वह ग्रंथ गीता । वेद-प्रतिपाद्य जो देवता ।
बना है श्रीकृष्ण महा-वक्ता । इस ग्रंथका ॥ २६ ॥

कैसे करें उस गौरवका वर्णन । न होता शिव-बुद्धिको भी आकलन ।
जीव-भावसे करना उसे वंदन । यही भला है ॥ २७ ॥

बुद्धिने जो स्वीकार किया उसको आंखोंसे देखनेकी इच्छा—अर्जुनका संकोच—

सुनिये अब वह किरीटी । विश्व-रूपपे रख दृष्टि ।
करने लगा है कैसे गोष्टि । श्रीकृष्णसे ॥ २८ ॥

सकल ही है यह सर्वेश्वर । अनुभव है यह रुचिकर ।
होना यह नयनसे गोचर । प्रत्यक्ष रूपमें ॥ २९ ॥

आशा है यह अंत:करणकी । विवंचना है कैसे कहनेकी ।
विश्व-रूपके महा-गुपितकी । अर्जुनको यहां ॥ ३० ॥

सोचता पीछे कभी कहीं । प्रिय-जनने पूछा नहीं ।
सहसा मैं इनको यहीं । पूछूं कैसे ? ॥ ३१ ॥

यद्यपि है हमारा स्नेह चांग । तो क्या लक्ष्मी मातासे अंतरंग ।
वह भी डरती ऐसा प्रसंग । पूछनेमें ॥ ३२ ॥

हमने सेवा की है बहुत नेक । किंतु क्या गरुड़से भी अधिक ।
इसमें वह भी न पूछता एक । चुपचाप बैठा है ॥ ३३ ॥

मैं क्या सनकादिकसे अधिक । वे भी झमेला करते न देख ।
मैं हूँ क्या गोपियोंसे भी भावुक । प्रिय-जन उन्हे ? ॥ ३४ ॥

उन प्रिय-जनोंको भी छकाया । दस गर्भ वास भी सहन किया ।
विश्व-रूप नहीं दिखाया । किसीको भी ॥ ३५ ॥

ऐसी यह गुपित बात । छिपायी जो हृदय-गत ।
पूछना क्या मुझे उचित । क्या कैसे ॥ ३६ ॥

यदि मैं यह प्रश्न नहीं पूछता । उसके बिन सुख नहीं मिलता ।
जान लेना भी संभव नहीं होता । यह बात कभी ॥ ३७ ॥

श्री कृष्णका भक्त-प्रेम—

पूछें अब अल्पसी बात । फिर देखें हरिका मत ।
सोचकर हो भीति-युक्त । पूछता अर्जुन ॥ ३८ ॥

तब अर्जुनका यह भाव । सुन एक दो शब्दमें देव ।
दिखाता विश्व-रूप-वैभव । पूर्ण-रूपसे ॥ ३९ ॥

गाय जो बछडेको देखकर । ऊठ जाती है हडबडाकर ।
मुखमें ले स्तन चूसने पर । न स्रवेगी क्या दूध ? ॥ ४० ॥

जहां आता है पांडवोंका नाम । रक्षार्थ दौडना जिसका काम ।
पूछना अर्जुनका सप्रेम । सहेगा कैसे ? ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण सहज प्रेमावतरण । अर्जुन प्रेम-नशाको उत्तेजन ।
समरस होनेमें यहां अभिन्न । भिन्नता भान विस्मय ॥ ४२ ॥

अर्जुनके बोलनेसे अब महज । कृष्ण विश्व-रूप दिखायेग सहज ।
ऐसा अद्भुत प्रसंग आया है आज । सुनियोगा ॥ ४३ ॥

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। १ ।।

प्रभो तूने अपने हृदयका दर्शन दिया और —

कृष्णसे फिर कहता अर्जुन । श्रीकृष्ण तूने मेरे ही कारण ।
वाच्य किया था जो गुह्य कथन । कृपा करके ।। ४४ ।।

महाभूत जब ब्रह्ममें विलीन । जीव महदादि भी होते हैं लीन ।
अंतिम वह जो है विश्रांति-स्थान । आपका रूप ।। ४५ ।।

अंत:करणके वह भीतर । रखा था वेदोंसे भी छिपाकर ।
कहता है कृष्णसे धनुर्धर । कृपणके भांति ।। ४६ ।।

वह तूने आज श्री नारायण । दिया है मुझे हृदय-दर्शन ।
उसपे शिवने अध्यात्म-ध्यान । किया न्योच्छावर ।। ४७ ।।

ऐसी वस्तु तूने मुझे दी है । क्षण भी विलंब न किया है ।
यदि हम ऐसे कहते हैं । तो मैं भिन्न हूं क्या ? ।। ४८ ।।

भंवरमें मैं महा-मोहके । डुबा था शिखा तक देखके ।
श्रीहरि तूने स्वयं कूदके । उभार लिया मुझे ।। ४९ ।।

तुझ एक बिना देव कभी कहीं । विश्वमें अन्य वस्तुका नाम नहीं ।
किंतु देख यहां दुर्दैव है यही । मानते "हम हैं" भिन्न ।। ५० ।।

विश्वमें मैं कोयी एक अर्जुन । धर ऐसा देहका अभिमान ।
तथा कौरवको यहां स्वजन । कहता था मैं ।। ५१ ।।

इस पर भी मैं इन्हें मारूंगा । इसका पाप-भोगी भी बनूंगा ।
ऐसे दु:स्वप्न रत मुझे जगा- । दिया तूने कृष्ण ।। ५२ ।।

अर्जुनने कहा

करके करुणा मेरी कहा तूने रहस्य जो ।
उस अध्यात्म विद्यासे मेरा जो मोह था गया ।। १ ।।

गंधर्व-नगरकी बसती । छोड़ निकला मैं लक्ष्मी-पति ।
प्यासते पानीका था मैं प्रार्थी । औ' पीता था मृगजल ॥ ५३ ॥

अजी ! वज्रके सर्प-दंशसे । चढती विष-लहरियोंसे ।
त्रस्त जीवको मृत्यु-भयसे । उभार लिया देव ॥ ५४ ॥

अपना प्रतिबिंब न जानकर । कूपमें कूदना सिंह देखकर ।
उसको बचा लिया पकड़कर । मेरी रक्षा की ऐसी ॥ ५५ ॥

मुझपर अपार कृपा करके मेरी रक्षा की – अब—

नहीं तो मेरा यहां तक । निश्चय हुवा था तू देख ।
सप्त-सागर हुये एक । मिलकर ॥ ५६ ॥

या डूबने दो युग संपूर्ण । या टूटने दो यह गगन ।
लडेगा नहीं कभी अर्जुन । स्व-गोत्रजोंसे ॥ ५७ ॥

ऐसी अहंकार-उर्मियोंमें उन्मत्त । आग्रह जलमें डूबा था मैं अनंत ।
उठा लिया है तूने हो स्नेहार्द-चित्त । कौन था अन्य मेरा ॥ ५८ ॥

नहीं था वह एक-मात्र अर्जुन । वैसे दूसरेको नाम दे स्वजन ।
सवार हुवा ऐसा पागलपन । तूने बचा लिया देव ! ॥ ५९ ॥

पहले होना था जब हमारा दहन । भय था तब देह जल जानेका सुन ।
अब चैतन्य सह होना था दहन । बचा लिया तूने दोनो बार ॥ ६० ॥

हिरण्यासुर दुराग्रहमें भरकर । मेरी बुद्धि-भूको बगलमें दबाकर ।
मोहार्णव-सिंधुके गवाक्षसे अंदर । जा बैठा था ॥ ६१ ॥

तेरे ही बलसे मधुसूदन । विवेकने ले लिया है स्व-स्थान ।
वराहका पुनरावतरण । लेना पडा यह ॥ ६२ ॥

अपार कृपा है तेरी मुझ पर । एक वाचासे ही बोलूं क्यों कर ।
पंच-प्राण किये तूने न्योच्छावर । मुझपर देव ॥ ६३ ॥

कुछ भी वह व्यर्थ नहीं गया । उसमें संपूर्ण यश भी आया ।
देव ! मैं साद्यंत रूपसे माया- । रहित हुवा जी ॥ ६४ ॥

आनंद सरोवरके कमल । वैसे हैं तेरे नयन निर्मल ।
अपने प्रसादके हैं महल । बना लेते हैं ॥ ६५ ॥

उसका तथा मोहका मिलन । है यह व्यर्थ-बातका कथन ।
मृगजलसे होगा क्या शमन । वडवानलका ॥ ६६ ॥

तथा जो मैं हूं तब श्रीकृष्ण । पाके कृपाका अंतःकरण ।
करता हूं सानंद भोजन । ब्रह्म-रसका ॥ ६७ ॥

इससे हुवा मेरा मोह निवारण । इसमें क्या भला विस्मयका कारण ।
इससे हुवा मेरा उद्धार श्रीकृष्ण । तेरे चरणोंकी सौगंध ॥ ६८ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

अर्जुनकी आंतरिक द्विविधा—

अजी ! हे कमल-नयन । कोटि-सूर्य-तेज वदन ।
मैंने तुझसे जनार्दन । सुना है आज ॥ ६९ ॥

प्रकृतिसे उत्पन्न भूत-जात । वैसे प्रकृतिमें उसका अंत ।
कैसा होता है जो प्राकृत । कहा है देवने ॥ ७० ॥

प्रकृतिका दिया संपूर्ण-ज्ञान । बताया ब्रह्मका वसति-स्थान ।
जिसको ओढ करके महान । हुए हैं वेद ॥ ७१ ॥

ज्ञान-राशीको जो बढाता । धर्म-रत्नोंको प्रसवता ।
वेद है आश्रय करता । तेरे स्वरूपका ॥ ७२ ॥

ऐसा अगाध है महात्म्य । जो सकल मार्गैक्य-गम्य ।
तथा है स्वानुभव रम्य । दिखाया मुझे ॥ ७३ ॥

हठाकरके सब बादल । दिखाते जैसे सूर्य-मंडल ।
सेवार हठाकर निर्मल । जल दिखाते हैं ॥ ७४ ॥

छुडानेसे सांपकी जकडन । होता जैसे चंदन-दर्शन ।
या करनेसे पिशाचोच्चाटन । मिलती भूमिस्थ निधि ॥ ७५ ॥

उत्पत्ति नाश भूतोंका सुना मैंने सविस्तर ।
अभंग महिमा वैसे तेरे ही मुखसे प्रभु ॥ २ ॥

वैसे थी प्रकृतिकी अड़चन। हठाया तूने उसे जनार्दन।
पर-तत्वमें की है फिर लीन। बुद्धि मेरी ॥ ७६ ॥

इस विषयमें मेरा देव। हुवा संदेह रहित जीव।
किंतु और एक संकल्प-भाव। हुआ उत्पन्न ॥ ७७ ॥

रहने दिया इसे संकोचकर। किससे पूछें कहो चक्रधर।
तेरे बिना नहीं अन्य आधार। जानता मैं ॥ ७८ ॥

जलचर माने जलका आभार। या बालक स्तन्यका संकोच कर।
जीनेका वह दूसरा क्या आधार। ढूंढेगा देव ! ॥ ७९ ॥

तो संकोच नहीं करना। मनकी जो बात कहना।
कहे तब कृष्ण अर्जुन। कह तू चाह ॥ ८० ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

स-संकोच विश्व-रूप दर्शनकी प्रार्थना —

तब कहता किरीटी। कही थी तूने जो गोष्ठि।
उससे प्रतीति दृष्टि। शांत हुई मेरी ॥ ८१ ॥

संकल्प जहांसे है निकलता। लोक-क्रमका उदयास्त होता।
जिस स्थानको है तू मैं कहता। जनार्दन ॥ ८२ ॥

वह वास्तविक रूप है तेरा। जहांसे आता तू ले अवतार।
सुर-कार्यार्थ तू है चक्रधर। द्विभुज या चतुर्भुज हो ॥ ८३ ॥

क्षीर-शयनाभिनय समाप्त कर। मत्स्य-कूर्मका अलंकार छोड़कर।
लीला-साधन सबको तू छिपाकर। रखता लपेटके ॥ ८४ ॥

उपनिषद् करते गायन। योगी-जन हृदयमें दरशन।
सनकादिक नित आलिंगन। करते जिसके ॥ ८५ ॥

तेरा जो ईश्वरी रूप मानना हूँ यतार्थ है।
वही मैं देखना चाहूँ प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

ऐसा तेरा असीम जनार्दन । विश्व-रूप कथा सुनके मन ।
देखना चाहते वही नयन । प्यासे होकर ॥ ८६ ॥

मेरा संकोच करके दूर । स-स्नेह पूछी चाह श्रीधर ।
यही एक चाह चक्रधर । पूर्ण करना ॥ ८७ ॥

तेरा विश्व-रूप संपूर्ण । देखना चाहता स-तृष्ण ।
होकर तन-मन प्राण । एकमात्र ॥ ८८ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

और एक बात केशव । विश्व-रूप दर्शनास्तव ।
मेरी योग्यता है वास्तव । या नहीं है ॥ ८९ ॥

यह मैं आप नहीं जानता । यह क्यों है यदि तू पूछता ।
अपने रोगका क्या जानता । निदान रोगी ? ॥ ९० ॥

अजी ! होती जब इच्छाकी तीव्रता । भूलते हैं तब अपनी योग्यता ।
प्यासा मनुष्य है सदैव मानता । अपर्याप्त समुद्र ॥ ९१ ॥

इच्छाकी है ऐसी जो तीव्रता । भुला देती है मेरी योग्यता ।
जानती किंतु शिशुको माता । सहज-भावसे ॥ ९२ ॥

वैसा तू भक्त जन रंजन । जानता है मेरी संभावना ।
फिर तू विश्व-रूप दर्शन । देगा हो सदय ॥ ९३ ॥

किंतु मेरी योग्यतानुसार । ना हो तो ना कह कृपाकर ।
गाके लाभ क्या पंचम स्वर । बहरेके सम्मुख ॥ ९४ ॥

एक प्यासेकेलिये वर्षा होती । उससे पृथ्वीकी प्यास बुझती ।
किंतु वही चट्टान पर होती । व्यर्थ जाती है ॥ ९५ ॥

चकोरको चंद्रामृत मिलता । अन्योंको क्या इनकार करता ।
किंतु दृष्टि न होनेसे होता । व्यर्थ ही सब ॥ ९६ ॥

यदि तू मानता शक्य तेरा जो रूप देखना ।
तभी योगेश्वर देव दिखावो वह अव्यय ॥ ४ ॥

अजी ! तू विश्व-रूप यह सहसा । दिखायेगा इस बातका भरोसा ।
ऐसी बातोंमें उदार अपना-सा । नित्य-नूतन तू ॥ ९७ ॥

परमत्माकी असमान्य उदारताका वर्णन—

तेरी उदारता है जो स्वतंत्र । न देखती देनेमें पात्रापात्र ।
कैवल्य-सा वर अति-पवित्र । दिया शत्रुओंको भी ॥ ९८ ॥

अजी ! मोक्ष है जो अति दुराराध्य । तेरे चरण हैं उसका आराध्य ।
होता है वह तेरी बातसे साध्य । सेवकके समान ॥ ९९ ॥

तूने सनकादिकके समान । पूतनाको दिया सायुज्यासन ।
कराके जो विषका स्तन-पान । मारने आयी थी ॥ १०० ॥

राजसूय सभा-सदनमें । त्रिभुवन जन-सम्मुखमें ।
जिसने शत दु-र्वचनमें । डुबोया तुझे ॥ १ ॥

ऐसा अपराधी जो शिशुपाल । पाता है तेरे चरणमें स्थल ।
या उत्थानपादका ध्रुवबाल । चाहता था क्या मोक्ष ॥ २ ॥

ध्रुवबाल आया था वनमें । बैठना है पिताकी गोदमें ।
उसको किया तूने जगतमें । सूर्य-चंद्रसे ऊंचा ॥ ३ ॥

ऐसे वनवासियोंको सकल । देनेवाला एक है तू धसाल ।
पुत्रको पुकारता अजामिल । किया चिद्रूप ॥ ४ ॥

जिसने मारी लात तेरी छाती पर । उसका पद-चिन्ह किया अलंकार ।
अब-तक है शत्रुका ही कलेवर । भूषण बना करमें ॥ ५ ॥

अपकारी पर भी तेरा उपकार । अपात्रों पर भी तू है अति उदार ।
द्वारपाल बना तू दान मांगकर । बलिके घरका ॥ ६ ॥

न सुनी जिसने आराधना । रिझाती थी जो तोता अपना ।
उस गणिकाको जनार्दन । तूने दिया वैकुंठ ॥ ७ ॥

दिखा कर ऐसे व्यर्थके कारण । निज-पद देता तू नारायण ।
न करेगा तू मुझे ऐसा श्रीकृष्ण । कभी निराश ॥ ८ ॥

जिससे इतने जगत सकल । पाता है शांति तुष्टि पुष्टि औ' बल ।
उस नंदिनीका बछडा व्याकुल । होगा क्या भूखसे ॥ ९ ॥

इसीलिये मैंने कही पीछे जो बात। देव न करेंगे अस्वीकार निश्चित।
उसकी योग्यता देना मुझे अच्युत। यह है विनय ॥ ११० ॥
तेरे विश्व-रूपका आकलन। कर सकेंगे तो मेरे नयन।
प्यास बुझावो हे जनार्दन। इन नयनोंकी ॥ ११ ॥

श्री कृष्णकी भक्त-वत्सलता—

करता है जब ऐसी विनती। लीन हो करके सुभद्रापति।
तब वह षड्गुण-चक्रवर्ति। होता है उतावला ॥ १२ ॥

वह है कृपा-पीयूष सजल। पास आया है यहां वर्षा-काल।
अथवा है श्रीकृष्ण कोकिल। अर्जुन वसंत ॥ १३ ॥

देखकर जैसे चंद्र-बिंब वर्तुल। उछल आता है क्षीर-सागर-जल।
वैसे प्रेम-बलसे हृदय-कमल। खिला श्री हरिका ॥ १४ ॥

प्रसन्नताके उस उमंगसे। गरज कर कहता कृपासे।
पार्थ तू देख देख आनंदसे। स्वरूप मेरा ॥ १५ ॥

केवल विश्व-रूपको देखना। इतनी थी पार्थकी मनो-कामना।
यहां विश्व रूपमय त्रिभुवन। किया श्री हरिने ॥ १६ ॥

धन्य-धन्य उदार अपरिमित। याचकको देता देव दिन-रात।
चाहता जो उससे अनगिनत। अपना सर्वस्व ॥ १७ ॥

शेषसे भी जो था चुराया। वेदोंको जिससे छकाया।
लक्ष्मीसे भी जो था छिपाया। वह हृदय-गुह्य ॥ १८ ॥

प्रकट करेंगे अनेक दर्शन। बनायेंगे विश्व-रूप प्रदर्शन।
भाग्यशाली है यह बडा अर्जुन। धन्य धन्य ॥ १९ ॥

स्वप्नमें जाता जैसे मनुष्य जागृत। स्वप्नमें बनता है स्वयं वस्तु जात।
वैसे स्वयं बना विराट्-विश्व अनंत। अपने आपमें ॥ १२० ॥

यकायक वह मुद्रा छोडी। स्थूल-दृष्टि थी यवनिका जो फाडी।
अथवा खोलकर दिखायी बडी। अपनी योग-सिद्धि ॥ २१ ॥

किंतु यह देखेगा या नहीं। ऐसा विचार कुछ भी नहीं।
किया और देख कहना है यही। हो स्नेहातुर ॥ २२ ॥

भगवान उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

विश्व-रूपके प्रत्येक रोम-कूपकी जड़में एक सृष्टिका दर्शन, स्वभाव-विविधता—

तूने कहा अर्जुन दिखावो एक । उसीको दिखाया तो क्या रहा नेक ।
यहां भरा है जो सभी अब देख । मेरे ही रूपमें ॥ २३ ॥

एक कृष तो एक स्थूल । एक लघु एक विशाल ।
पृथुतर तथा विशाल । अमर्याद सब ॥ २४ ॥

एक अनावर तो एक प्रांजल । कुछ स-व्यापार तो कुछ निश्चल ।
कुछ उदासीन तो कुछ स्नेहल । कुछ हैं कठोर ॥ २५ ॥

कुछ उन्मन कुछ सावध । कुछ उथल कुछ अगाध ।
कुछ प्रसन्न तो कुछ क्रुद्ध । तथा मुक्त संकुचित ॥ २६ ॥

कुछ संत कुछ सदा-मद । कुछ स्तब्ध कुछ सानंद ।
गर्जन रत कुछ निःशब्द । तथा सौम्य भी ॥ २७ ॥

अभिलाषा-युत कुछ विरक्त । कुछ जागृत कुछ निद्रित ।
कुछ संतुष्ट कुछ है आर्त । अति उदार कुछ ॥ २८ ॥

कुछ अशस्त्र तो कुछ सशस्त्र । तथा अति रौद्र औ' अति-मित्र ।
कुछ तम-युत कुछ पवित्र । कुछ है समाधिस्थ ॥ २९ ॥

कयी जन लीला-विलास । औ' पालन-शील-लालस ।
संहारक कुछ सावेश । कुछ है साक्षि-भूत ॥ १३० ॥

नाना विध जो प्रकर्ष ऐसे । प्रकाशित जो दिव्य-तेजसे ।
वर्णमें भी जो एक एक-से । नहीं थे कोयी ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानने कहा

देखो मेरे सभी रूप दिव्य शत सहस्र तू ।
नाना प्रकार आकार वर्ण भी जिसमें बहु ॥ ५ ॥

विश्व-रूपके प्रत्येक रोम-कूपमें वर्ण-विविधता—

कुछ तो तप्त सुवर्णसे । कुछ भूरे मट-मैलेसे ।
कुछ सराग चित्रितसे । सिंधुसे नभ ॥ ३२ ॥

कुछ जो सहज स्वाभाविक कांतिके । कुछ रत्न-जडित ब्रह्मांड दीप्तिके ।
कुछ तो अरुणोदय-प्रभा सरीखे । कुंकुमके समान ॥ ३३ ॥

कुछ शुद्ध स्फटिकोज्वल । कुछ इंद्र-नील सुनील ।
कुछ काले अंजनाचल । कुछ रक्त-वर्ण ॥ ३४ ॥

कुछ लसित-कंचनसे पीले । कुछ शामल बादलसे नीले ।
कुछ चंपक-गौर सम पीले । कुछ थे हरे ॥ ३५ ॥

कुछ लाल तप्त-ताम्र सम । कुछ सुंदर जो चंद्र-सम ।
नाना वर्णके रूप असीम । देख लो भरे ॥ ३६ ॥

जैसे हैं ये अनेक वर्ण । रूपमें भी नहीं प्रमाण ।
लज्जासे कंदर्प-शरण । रूप होंगे देख ॥ ३७ ॥

विश्व-रूपके प्रत्येक रोम-कूपमें रूप विविधता—

कुछ अति लावण्य साकार । स्निग्ध-तन कुछ मनोहर ।
कुछ श्रृंगार-श्रीके-भांडार । खुला प्रदर्शनार्थ ॥ ३८ ॥

कुछ पीनाकवयव मांसल । कुछ शुष्क अति-विकराल ।
कुछ दीर्घ-कंठ और शिथिल । कुछ अति घिनौने ॥ ३९ ॥

ऐसे नाना-विध वर्ण आकृति । पार नहीं यहां सुभद्रा-पति ।
यहां प्रत्येक अंगकी आकृति । दिखाती विश्व ॥ १४० ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

वसु रुद्र तथा वायु देखो आदित्य अश्विनी ।
देखो अनेक आश्चर्य न देखे पहले कभी ॥ ६ ॥

विश्वरूपमें अनेक देवताओंका दर्शन—

खुलती है जहां दृष्टि । फैलती है आदित्य-सृष्टि ।
मिटती है जहां दृष्टि । होता अस्त ॥ ४१ ॥

मुखसे निकला हुवा फूत्कार । लेकरके ज्वालाओंका आकार ।
पावक आदि वसु समाधार । निर्माण करते ॥ ४२ ॥

जहां भ्रू-लताओंका अवसान । क्रोधसे होता रहता मिलन ।
वहां रुद्रोंके समूह उत्पन्न । होते हैं देख ॥ ४३ ॥

सौम्य आर्द्रतामें यहां सदैव । निर्माण होते हैं अश्विनी देव ।
तथा श्रोत्रोंमें होते हैं पांडव । वायू अनेक ॥ ४४ ॥

एकेक रूपके ऐसे खेल । सृजते सुर-सिद्धके कुल ।
ऐसे अपार तथा विशाल । देखो वहां रूप ॥ ४५ ॥

जिसको कहनेमें वेद तुतलाता । देखनेमें कालका आयुष्य खूटता ।
विधाताको भी उसका नहीं लगता । ठौर ठिकान ॥ ४६ ॥

तीनों देवोंने न सुनी एक । उसको तू प्रत्यक्षमें देख ।
भोग जो अचरज अनेक । योग-वैभव महा ॥ ४७ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इस आकृतिके तू किरिटी । रोम-मूलमें है देख सृष्टि ।
सुर-तरुके तलकी मिट्टी । सृजती तृणांकुर ॥ ४८ ॥

तथा पवनका प्रकाश जैसे । दिखाता उड़ते परमाणु-से ।
भ्रमते यहां ब्रह्मांड भी वैसे । अंगके सांधोंमें ॥ ४९ ॥

यहांका प्रत्येक अवयव । दिखाता है सविस्तर विश्व ।
औ' विश्वके पार भी पांडव । देखना चाहो ॥ १५० ॥

देखो अब यहां सारा विश्व तू सचराचर ।
एकत्र देहमें मेरे इच्छा दर्शन है तुझे ॥ ७ ॥

किसी भी बातकी अपूर्णता। कोई नहीं है यहां सर्वथा।
देख सुखसे जो तुझे भाता। मेरे तनमें तू ॥ ५१ ॥

विश्व-मूर्ति उससे ऐसे। बोली जो अति कारुण्यसे।
तो दीखता या नहीं ऐसे। न कहता रहा मौन ॥ ५२ ॥

रहा क्यों भला यह ऐसा मौन। सोचकर देखता यह जनार्दन।
तब भी इच्छा-भूषित अर्जुन। खड़ा है उत्कंठित ॥ ५३ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

उतरा नहीं है उत्कंठोन्माद। न मिला अब भी स्वर्ग सुखद।
आकलन नहीं होता विशद। मेरा रूप ॥ ५४ ॥

अर्जुनको विश्व-रूप देखनेके लिये दिव्य-दृष्टि दी—

हंसा देव यह सोचकर। कहने लगा जो हंसकर।
"हमने दिखाया रूप पर। तू देखता ही नहीं" ॥ ५५ ॥

बोला तब अर्जुन विलक्षण। यह किसके दोषके कारण।
बगलेको देता है सुलक्षण। चंद्रामृत तू ॥ ५६ ॥

दिखाता सुंदर दर्पण। जन्मांधको तू है श्रीकृष्ण।
सुनाता तू मधुर बीन। बहरेको जो ॥ ५७ ॥

मकरंद-कणोंका चारा। कहता है तू दादुरसे चर।
व्यर्थ मानकर क्यों शार्ङ्गधर। बिगडता अब ॥ ५८ ॥

शास्त्रोंसे यह अतींद्रिय घोषित। ज्ञान-दृष्टिका जो विषय निश्चित।
कहता इसे देखेंगे कैसे पार्थ। चर्म-चक्षु ॥ ५९ ॥

यह मेरा व्यंग नहीं बोलना। मुझे अपना सहन करना।
यह सुन कहता जनार्दन। सच है यह ॥ १६० ॥

किंतु तू चर्म-चक्षूसे न देख सकता मुझे।
ले दिव्य दृष्टि है मेरी ईश्वरी योग देख तू ॥ ८ ॥

यह स्वरूप यदि दिखाना होता । दी होती पहले ही यह योग्यता ।
बोलनेमें मैं प्रेमसे स्वभावता । भूल गया हूं ॥ ६१ ॥

पहले जुताईके बुवाईसे । थकावट भई व्यर्थ इससे ।
अब देता दिव्य-दृष्टि इससे । देखो निज-रूप ॥ ६२ ॥

इस दृष्टिसे फिर तू अर्जुन । हमारा ऐश्वर्य-योग संपूर्ण ।
देखके उसे करो संगोपन । अपने अनुभवमें ॥ ६३ ॥

ऐसा वह वेदांत-वेद्य । सकल लोकका जो आद्य ।
जगताका जो है आराध्य । कहने लगा ॥ ६४ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अर्जुनका महा-भाग्य—

सुन तू कौरव-कुल-तिलक । विस्मय है मुझे इसी बातका ।
है क्या लक्ष्मीसे भुवनत्रयका । दूसरा भाग्यवान ॥ ६५ ॥

अथवा तत्त्व-विवेचनार्थ । है क्या कोयी वेदसे समर्थ ।
सेवामें शेषसे भी विश्वस्थ । दूसरा कौन है ? ॥ ६६ ॥

उसके लिये ऐसे कष्ट सहन । करते हैं जो योगियोंके समान ।
अनुसरणमें बना है वाहन । गरुड सतत ॥ ६७ ॥

उन सबको है परे हठाया । जबसे पांडवोंका जन्म भया ।
कृष्ण-सुख सब सहज आया । इनके भागमें ॥ ६८ ॥

इन पांचोंमें भी जो अर्जुन । कृष्ण जैसे उसके आधीन ।
कामुक होता है अनुदिन । कामिनी-संग ॥ ६९ ॥

संजयने कहा

ऐसा बोल कुरु-श्रेष्ठ महायोगेश कृष्णने ।
दिखाया अपना श्रेष्ठ ईश्वरी-रूप पार्थको ॥ ९ ॥

सिखाया गया पंछी ऐसा न बोलता । क्रीड़ा-रत मृग भी ऐसा न चलता ।
पार्थके दैवका उत्कर्ष जो दीखता । यहां अकथनीय ॥ १७० ॥

पर-ब्रह्म यह आज है संपूर्ण । भोगार्थ सिद्ध इसके ही नयन ।
इसकी बातका दुलार श्रीकृष्ण । करता है यहां ॥ ७१ ॥

पार्थ कोपता तब वह शांत रहता । यह रूसता तब वह है समझाता ।
अर्जुनसे पगलाया है जगन्नाथ । निश्चित रूपसे ॥ ७२ ॥

जनमें हैं वैसे विषय जीतकर । शुकादि पुरुष जो श्रेष्ठ मुनिवर ।
रह गये हैं लीला गाकर सुंदर । भाटोंके समान ॥ ७३ ॥

और योगियोंका समाधि-धन । हो रहा है पार्थके आधीन ।
देख यह विस्मित होता है मन । महाराज मेरा ॥ ७४ ॥

संजय कहता है कौरवेश । इसमें विस्मय नहीं खास ।
कृष्ण करलें जिसे आपना-सा । भाग्योदय उसका ॥ ७५ ॥

कहता है इसलिये देवराज । यह दिव्य-दृष्टि ले तू पार्थ आज ।
इससे देख विश्व-रूप सहज । पूर्ण रूपसे ॥ ७६ ॥

श्रीमुखके ऐसे अक्षर । निकले जिस अवसर ।
मिटा अविद्याका अंधार । उसी क्षणमें ॥ ७७ ॥

अक्षर नहीं थे वे देख । था ब्रह्म-साम्राज्य-दीपक ।
अर्जुनार्थ थी चित्‌कलिका । जगादी श्रीकृष्णने ॥ ७८ ॥

संपूर्ण ब्रह्मांड ही विश्व-रूपसे भर गया—

प्रकटे जो दिव्य-चक्षु फिर । ज्ञान-दृष्टिका फूटा अंकुर ।
तथा दिखाया है सविस्तर । ऐश्वर्य-योग ॥ ७९ ॥

अवतार है ये जो सकल । उस महा-सिंधुके कल्लोल ।
विश्व दीखता है मृगजल । उसके किरणोंसे ॥ १८० ॥

उचित उस अनादि भूमिका पर । प्रकट होता है चित्र स-चराचर ।
अपने आप अपनेमें दामोदर । दिखाता उसको ॥ ८१ ॥

बचपनमें श्रीपतिने जब। इकबार माटी खायी थी तब।
माताने क्रोधसे पकडी खब्ब। कलाई इसकी ॥ ८२ ॥

इसने तब डरके ऐसे । मुख दिखानेके बहानेसे।
माताको दिखाया था धीरेसे। ब्रह्मांड सारा ॥ ८३ ॥

या मधु-बनमें ध्रुवको जैसे। गंडस्थलको शंख लगानेसे।
वेद्-मति भी कुंठित हो ऐसे। स्तवन किया उसने ॥ ८४ ॥

अनुग्रह वैसे कुरुपति। पार्थ पर करता श्रीपति।
जानती नहीं है अब मति। माया उसकी ॥ ८५ ॥

प्रकट हुवा यकायक योगैश्वर्य। कल्पांतमें होता जैसे जल-प्रलय।
विस्मयमें डूबा चित उस समय। धनंजयका ॥ ८६ ॥

आ-ब्रह्म उद्कसे जैसे व्याप्त था। अकेला मार्कंडेय ही तैरता था।
विश्व-रूप विस्मयमें वैसे पार्थ। लगा लोटने ॥ ८७ ॥

अजी ! कितना था यहां गगन। कौन ले गया वह जो महान।
कहें सब चराचर अर्जुन। औ' महाभूत भी ॥ ८८ ॥

मिट गया दिशाओंका नाम-निशान। तना नहीं होता अध-ऊर्ध्वका ज्ञान।
जागृतिसे लुप्त होता है स्वप्न। वैसे लोकाकार ॥ ८९ ॥

जैसे अनेक सूर्य-तेज प्रताप। करता स-चंद्र तारागण लोप।
वैसे निगल गया है विश्व-रूप। प्रपंच सर्वस्व ॥ १९० ॥

नहीं स्फुरता मनमें तब मनत्व। नहीं संभालता अपनेको बुद्धित्व।
लौट अया इंद्रियोंका इंद्रियत्व। हृदयमें ही ॥ ९१ ॥

केवल वहां स्तब्ध स्तब्धता। एकाग्र है स्वयं एकाग्रता।
पडी जैसे संमोहनावस्था। विचारोंपर ॥ ९२ ॥

देखता था वह ऐसा हो विस्मित। सम्मुख था चतुर्भुज रूप स्थित।
नाना रूप ले वही था सुसज्जित। चहूँ ओर ॥ ९३ ॥

होते जैसे वर्षा-ऋतुके बादल। या महा-प्रलयके तेजोमंडल।
वह रूप वैसा सर्वत्र सकल। भर रहा था एक-मात्र ॥ ९४ ॥

प्रथम स्वरूप समाधान । होकर रहा वह अर्जुन ।
खुले फिर उसने लोचन । देखा विश्व-रूप ॥ ९५ ॥

देखना इन्हीं नयनोंसे । विश्व-रूप संपूर्ण ऐसे ।
वह दुलार भी कृष्णसे । हुवा पूर्ण ॥ ९६ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

विश्व-रूपकी अद्भुतता—

देखता तब वहां अनेक वदन । जैसे रमा-रमणके राज-भवन ।
प्रकट हुए अनेकानेक निधान । लावण्य श्रियाके ॥ ९७ ॥

या आनंद-वनमें आया बहार । या सौंदर्य राज्य मिले हैं अपार ।
वैसे देखता वदन मनोहर । श्रीहरिका वह ॥ ९८ ॥

उसमें भी थे जो अनेक । सहज अति भयानक ।
प्रलय-रात्रीके कटक । उठ आया है ॥ ९९ ॥

या मृत्युके ये मुख उत्पन्न । भयके दुर्ग रचे विभिन्न ।
या प्रलयाग्निके ये हवन- । कुंड खुले हैं ॥ २०० ॥

ऐसे अद्भुत औ' भयंकर । देखता है रूप धनुर्धर ।
कई सालंकृत औ' सुंदर । तथा सौम्य भी ॥ १ ॥

ज्ञान-चक्षुसे किया अवलोकन । किंतु न होता मुखोंका अंत न जान ।
स-कौतुक देखने लगा नयन । विश्व रूपके ॥ २ ॥

नाना वर्णका मानो कमल-वन । विकसित हो रहा था यह जान ।
आदित्य-समुदायसे वे नयन । देखने लगा पार्थ ॥ ३ ॥

जैसे कृष्ण मेघ-घटाओंमें । कौंधती बिजली प्रलयमें ।
वैसी देखी भ्रू-भंग तलमें । पिंगलानलकी ॥ ४ ॥

अनेक मुख औ' आंखें जिसमें अति अद्भुत ।
बहु दिव्य अलंकार अनेक दिव्य आयुध ॥ १० ॥

देखनेमें आश्चर्य एकेक । उसी विश्व-रूपमें जो एक ।
अनेकताका दर्शन-सुख । हुवा फल-प्रद ॥ ५ ॥

कहां हैं इसके चरण । कहां है मुकुट विस्तीर्ण ।
बढती इच्छा प्रतिक्षण । देखनेकी ॥ ६ ॥

रखी वहां भाग्य-निधि पार्थ । होंगे कैसे निष्फल मनोरथ ।
रखता क्या भातेमें बाण व्यर्थ । पिनाकपाणी ॥ ७ ॥

नहीं तो ब्रह्मदेवकी गिरापर । होते हैं क्या झूटे अक्षर ।
इसीलिये साद्यंत जो है अपार । देखा विश्व-रूप ॥ ८ ॥

नहीं होता जो वेदको आकलन । उसका सकलावयव दर्शन ।
एक समय करते हैं नयन । धनंजयके ॥ ९ ॥

चरणोंसे मुकुट पर्यंत । देखता है रूप-श्रेष्ठ पार्थ ।
नाना रत्नालंकार भूषित । झलक सुंदर ॥ २१० ॥

पर-ब्रह्म बना स्वयं भूषण । सजानेके लिये अपना तन ।
उन अलंकारोंका मैं वर्णन । करूं कैसे ॥ ११ ॥

उसकी जो प्रभा अतीव उज्वल । निखारती थी चंद्रादित्य मंडल ।
थी जो वह महातेजकी चित्कला । उससे प्रकटता विश्व ॥ १२ ॥

वह जो दिव्य-तेज शृंगार । किसीकी बुद्धिको हो गोचर ।
पहना हरि वे अलंकार । देखता पार्थ ॥ १३ ॥

शरीर था वही अलंकार । जो है हाथ वही हथियार ।
जो है शरीरी वही शरीर । स-चराचरमें वही ॥ १४ ॥

वही फिर ज्ञान दृष्टिसे निर्मल । देखता कर-पल्लव जो सरल ।
वहां तोडते जो कल्पांतक ज्वाल । ऐसे शस्त्र करमें ॥ १५ ॥

उसके किरणोंके स्फुलिंग । नक्षत्रोंको बनाते जो मूंग ।
उसके तेजमें छिपी आग । घुसती सिंधुमें ॥ १६ ॥

फिर कालकूट कल्लोलके तरंग । अथवा विद्युत्वनके विस्फुलिंग ।
दीखते हैं कर-पल्लव अभंग । उचितायुध-युक्त ॥ १७ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

विश्वरूपकी भयानकतासे विव्हल होकर दृष्टि मूंद लेना—

उस भयसे हठाकर दृष्टि । देखता कंठ मुकुट किरीटी ।
हुई है सुरतरुकी जो सृष्टि । मानो वहींसे ॥ १८ ॥

मूल-सिद्धीका जहां महा-पीठ । श्रांत कमलाका विश्राम मठ ।
ऐसे सुमनों से वह किरीट । सजा हुआ ॥ १९ ॥

मुकुट पर पुष्प स्तवक । तथा पूजा अंध जो अनेक ।
गलेमें झूलते अलौकिक । पुष्पहार ॥ २२० ॥

सूर्य तेजसे स्वर्गको लपेटना । मेरु-गिरिको सुवर्णसे ओढ़ना ।
वैसा था उसका भव्य पहनना । पीतांबार सुंदर ॥ २१ ॥

शंकरको कर्पूरसे लेपना । कैलासको पारदसे पोतना ।
अथवा सागरको ही ओढ़ना । क्षीरार्णवसे ॥ २२ ॥

अजी ! चंद्रमाकी तह खोलकर । आवरण डालना आकाशपर ।
वैसे ही था उसके सर्वांग पर । चंदन लेपन ॥ २३ ॥

स्व-प्रकाशकी आभा जिससे बढ़ती । तथा ब्रह्मानंदकी उष्णता मिटती ।
पृथ्वी है अपना अस्तित्व टिकाती । उस सुगंधसे ॥ २४ ॥

ब्रह्म जिसका लेपन करता । अनंग भी उबटन करता ।
उस परिमलकी जो महता । बखाने कौन ॥ २५ ॥

ऐसी श्रृंगार शोभा देखकर । विस्मित-सा रहा पांडुकुमार ।
यह भी न समझा देखकर । देव बैठा है या सोया है ? ॥ २६ ॥

दृष्टि खोलकर देखता बाहर । जब वही विश्व-रूप सभी ओर ।
आंख मूंदकर देखता ऊपर । तब भी वही रूप ॥ २७ ॥

सम्मुख देखें मुख अगणित । पीछे मुड देखा हो भयग्रस्त ।
वहां भी वही मुख पाया हाथ । तथा दिव्य-रूप ॥ २८ ॥

दिव्य वस्त्र पुष्प माला भूषित दिव्य गंधसे ।
सब आश्चर्यसे पूर्ण विश्व-व्यापी अनंत जो ॥ ११ ॥

देखनेसे दीखना है स्वाभाविक। ना कछु इसमें विस्मय-जनक।
किंतु न देखते भी दीखना एक। महादाश्चर्य ॥ २९ ॥

अनुग्रहकी यह कैसी करतूत। देखता या नहीं देखता वह पार्थ।
उसके सह कर लिया आच्छादित। नारायणने ॥ २३० ॥

पड़कर विस्मय प्रवाहमें। निकलकर किनारा छूनेमें।
उलझता आश्चर्य सागरमें। अनायास ॥ ३१ ॥

ऐसे ही उस अनंत-रूपके। अलौकिक दर्शन-कौशल्यके।
जालमें धनंजय उलझके। हो रहा विस्मित ॥ ३२ ॥

श्री कृष्ण विश्वतोमुख स्वभावसे। दर्शनार्थी जो पार्थकी प्रार्थनासे।
विश्वरूप हुआ है संपूर्णतासे। इस समय ॥ ३३ ॥

दीप या सूर्य-तेजमें है देखती। या आंख मूंदनेसे नहीं देखती।
वह दिव्य-दृष्टि ऐसी नहीं थी। दी जो श्रीकृष्णने ॥ ३४ ॥

पार्थ देखता तब दोनों ओर। आंख खोलकर या मूंदकर।
कहता नगरमें बैठकर। संजय राजासे ॥ ३५ ॥

कहता है "सुनो" यह संजय। विश्व-रूप देखता धनंजय।
नानाभरणयुत स-विस्मय। विश्वतोमुख ॥ ३६ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

अनंत सूर्योंसे भी वह तेजस्वी रूप—

उस देवके जो अंग-प्रभाकी। बात कहनी है सो कहनेकी।
जैसे द्वादशादित्य मिलनकी। प्रभा-सी कल्पांतमें ॥ ३७ ॥

अजी! सहस्रावधि दिव्य-सूर्य। उदय हुए एक ही समय।
फिर भी है वह अनुपमेय। उस दिव्य-प्रभासे ॥ ३८ ॥

प्रभा सहस्र सूर्योंकी नभमें एक हो दिखे।
तभी उस महात्माकी प्रभासे तुल्य है नहीं ॥ १२ ॥

सभी विद्युल्लताओंका हो मिलन । तथा प्रलयाग्निके सारे सामान ।
उसीमें जो दश-तेजोंका मिलान । करने पर भी ॥ ३९ ॥

उस शरीर-कांतिके सम्मुख । पास पास आएगा देख ।
किंतु उसके सम नहीं चोख । यह निश्चित ॥ २४० ॥

ऐसा महात्म्य उसका सहज । फैलता है अंगका सब तेज ।
व्यासकी कृपासे मैं वह आज । यहां देखता हूँ ॥ ४१ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

दृश्य और द्रष्टाका अद्वय-भाव—

उस विश्व-रूपमें एक ओर । जगत है अपना सविस्तर ।
रहते जैसे बुले ठौर ठौर । महा-सागरमें ॥ ४२ ॥

अथवा आकाशमें गंधर्व-नगर । भूतलमें पिपीलिका बांधती घर ।
तथा परमणु मेरु-पर्वतपर । उड़ते रहते है ॥ ४३ ॥

इस भांति विश्व अपरंपार । देव चक्रवर्तिके तन पर ।
उस अवसर पांडुकुमार । देखता है ॥ ४४ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

एक विश्व वहां और एक आप । ऐसा दुजा भाव था जो अल्प स्वल्प ।
उसका भी अंत:करणमें लोप । हुवा अचानक ॥ ४५ ॥

जागृत हुआ ब्रह्मानंद अंदर । शरीर बल खोया यहां बाहर ।
डूबा आनंद पुलकमें शरीर । अपाद-मस्तक ॥ ४६ ॥

विश्वके जो सभी भेद जैसे घुल गये तब ।
अर्जुनने वहां देखे देहमें देवदेवके ॥ १३ ॥
फिर अर्जुन साश्चर्य हर्ष रोमांच गात्रसे ।
प्रभुसे जोडके हाथ बोला हो नत मस्तक ॥ १४ ॥

वर्षाका जैसे प्रथम काल। सर्वांग हरा होता है शैल।
वैसे रोम-कूपमें सकल। खिले रोमद्रुम ॥ ४७ ॥

स्पर्श होते ही चंद्रकिरण। होता सोम-कांतका द्रवण।
तन पर वैसे स्वेद-कण। उमड़ आये ॥ ४८ ॥

फंस जानेसे जैसे अलिकुल। झूलती कमल कलि सकल।
हृदय-आनंदोर्मियोंके बल। सिहरता वैसे ॥ ४९ ॥

कर्पूर-केलिका गर्भ-पुट जैसे। छीलकर कर्पूर चूता वैसे।
अर्जुनके नयन-कमलोंसे। चूते अश्रुकण ॥ २५० ॥

सात्विकताके ये जब अष्ट भाव। परस्परमें करते हैं उछाव।
पाता है तब ब्रह्मानंदका जीव। दिव्य-साम्राज्य ॥ ५१ ॥

उदित होते ही सुधाकर। सानंद उमड़ता सागर।
बार बार वैसे उर्मि भर। आती हृदयमें ॥ ५२ ॥

अजी! सुखानुभवके कारण। कृपासे किया था द्वैत रक्षण।
आह भर करके प्रतिक्षण। देखता पार्थ ॥ ५३ ॥

मुख कर बैठा था जिस ओर। उसी ओर मस्तक नवाकर।
प्रणाम किया हाथ जोड कर। औ' किया स्तवन ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंधान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुनने कहा

हे देव देखुं तव देहमें मैं
हैं देव औ' भूत समूह सारा।
ध्यानस्थ ब्रह्मा कमलासनस्थ
महर्षि औ' नाग हैं एक साथ ॥ १५ ॥

सर्वत्र सभी तू ही तू भरा है प्रभो—

कहता है प्रभो तेरी जय जय । तव कृपासे ही यह धनंजय ।
दर्शन कर सका इस समय । यह विश्व-रूप ॥ ५५ ॥

सच ही प्रभो तूने भला किया । हृदय यह आनंदित भया ।
तू ही है यह मैंने देख लिया । आश्रय विश्वका ॥ ५६ ॥

अनेक वन जैसे मंदार पर । श्वापदों सह लगे हैं ठौर ठौर ।
वैसे ही यहाँ तेरे शरीर पर । भुवन हैं अनेक ॥ ५७ ॥

अथवा गोदमें आकाशके । दीखते हैं मंडल ग्रहोंके ।
होते हैं झुण्ड पक्षी-कुलके । वृक्ष पर ॥ ५८ ॥

उसी भांति हे चक्रधर । विश्वात्मक तेरा शरीर ।
स्वर्गकेलिये भी है घर । देव गणोंके ॥ ५९ ॥

स्वामी ! महाभूतोंका पंचक । देखता हूं मैं यहां अनेक ।
तथा भूत-ग्राम जो अनेक । भूत-सृष्टिके ॥ २६० ॥

तुझमें दीखता है सत्य-लोक । बैठा है ब्रह्म-देव चतुर्मुख ।
वहां उस ओर कैलास एक । देखता मैं ॥ ६१ ॥

भवानी सह महादेव । तुझमें तू दीखता केशव ।
एकांशमें तुझमें ये सर्व । दीखते यहां ॥ ६२ ॥

वैसे ही कश्यपादि ऋषि-कुल । दीखते इस मूर्तिमें सकल ।
दीखते हैं यहां सप्त पाताल । शेष-नाग सह ॥ ६३ ॥

अथवा मानो त्रिभुवन-पति । तेरे अंगांगकी एकेक भित्ति ।
चतुर्दश भुवन चित्राकृति । सृजाती है ॥ ६४ ॥

तथा यहां दीखते जो जो लोक । मानो चित्र रचना है अनेक ।
गोचर होता यहां अलौकिक । तेरा गांभीर्य ॥ ६५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।। १६ ।।

देखता मैं दिव्य चक्षुसे । जहां तहां सभी ओरसे ।
भुजदंडमें भरे जैसे । महा आकाश ।। ६६ ।।

वैसे एक ही निरंतर । देखनेसे हैं तेरे कर ।
करते संपूर्ण व्यापार । एक कालमें ।। ६७ ।।

तथा ब्रह्मका है विस्तार । खोलता ब्रह्मांड भांडार ।
वैसा दीखता उदर । तेरा असीम ।। ६८ ।।

कहते हैं सहस्रशीर्ष पुरुष । देखता मैं अनंत-शीर्ष पुरुष ।
लगता पर-ब्रह्म हो आया मुख । इस समय ।। ६९ ।।

जहां तहां देखता तेरे वदन । विश्व-रूपमें जो है विराजमान ।
वहीं दीखते हैं अनंत नयन । पंक्ति बद्ध हो ।। २७० ।।

रहने दो यह स्वर्ग पाताल । तथा धरणी दिशा अंतराल ।
इसी रूपमें भरा है सकल । मूर्तिमय हो ।। ७१ ।।

कहीं नहीं है तेरे बिन । परमाणु-सा रिक्त स्थान ।
यह देख कहता मन । कितना व्यापक तू ।। ७२ ।।

नाना प्राणि जात सहित । भरे हुए जो महाभूत ।
तूने व्यापलिये अनंत । देखता मैं ।। ७३ ।।

विश्व-रूपके संबंधमें अर्जुनकी जिज्ञासा—

अनेक आंखें मुख हाथ पेट
जहां तहां देखुं अनंत मूर्ति ।
दीखे नहीं अंत न मध्य मूल
विश्वेश्वरा जो तव विश्वरूप ।। १६ ।।

ऐसा तू कहांसे आया है। बैठा है खडा या सोया है।
तेरी आकृति कितनी है। किस मांके उदरमें ? ॥ ७४ ॥

तेरा रूप कैसा वय कितना। तेरे आदि औ' अंतकी भावना।
तू किस भांति है यह जानना। चाहता अब ॥ ७५ ॥

देख लिया मैंने यह संपूर्ण। तू ही है अपना स्थान श्रीकृष्ण।
न तू किसीका औ' न है कारण। अनादि सिद्ध तू ॥ ७६ ॥

न तू बैठा है न खड़ा है। न छोटा है या न बड़ा है।
नीचे ऊपर सर्वत्र है। केवल तू ही ॥ ७७ ॥

रूपमें है तू अपनासा। वयमें भी तू है तुझ-सा।
उदर पीठ भी परेशा। तेरा तू है ॥ ७८ ॥

क्या कहना है अब बात। तुझमें तू पूर्ण अनंत।
बार बार सोचके ज्ञात। हुवा यह मुझको ॥ ७९ ॥

किंतु तेरे इस रूपमें एक। रह गया व्यंग कहता देख।
आदि मध्य अंतका निकष। नहीं दीखता ॥ २८० ॥

देखा मैंने सर्वत्र कहीं। इन बातोंका पता नहीं।
तुझमें तीनों कहीं नहीं। ये विशुद्ध रूप ॥ ८१ ॥

ऐसा आदि मध्यांत रहित। विश्वेश्वर तू अपरिमित।
देखा है मैंने आज तत्वतः। विश्व-रूप ॥ ८२ ॥

तू है ऐसा महा विश्व-रूप। तेरे तनमें हैं अन्य रूप।
तभी नाना वस्त्र अपरूप। पहने हैं तूने ॥ ८३ ॥

अथवा नाना रूप द्रुमांकुर। तेरे स्वरूप-महाचल पर।
दिव्यालंकार फल पुष्प धर। उमड आये हैं ॥ ८४ ॥

अथः तू है स्वरूप सागर। अनेक रूप मात्र ये लहर।
या तू एक महा-वृक्ष सुंदर। फला रूप-फलोंसे ॥ ८५ ॥

भूतोंसे भरा जैसे भूतल। या नक्षत्रोंसे नभ-मंडल।
वैसे तू मूर्ति-मय सकल। बना स्वामी ॥ ८६ ॥

तेरा एकेक अंग-प्रांत । होता जाता है त्रि-जगत ।
विश्व-रूप ऐसा है मूर्त । रोम रोममें भरा ॥ ८७ ॥

लगाकर तू ऐसा विश्व-पसारा । कौन कहांसे ले आया है शरीर ।
सोच देखा तो सारथी तू हमारा । वही जो जनार्दन ॥ ८८ ॥

सोचना हूं तब तू मुकुंद । ऐसा ही व्यापक सर्वदा ।
भक्तानुग्रहार्थ तू हो मुग्ध । बना है सारथी ॥ ८९ ॥

चतुर्भुज तू शाम मनमोहन । देखकर होते हैं तृप्त नयन ।
करनेमें तव प्रेमालिंगन । आना भुजाओंमें ॥ २९० ॥

ऐसी सुंदर मूर्ति तू सरूप । भक्तसे हो आता है विश्व-रूप ।
किंतु हमारी दृष्टि है सलेप । देखते हम सामान्य ॥ ९१ ॥

गयी है अब दृष्टिकी मलीनता । सहज दी तूने दृष्टिमें दिव्यता ।
इसीलिये जाना मैंने यथार्थता । महिमा तेरी ॥ ९२ ॥

उस मरियलके उस पार । छिपा था रूप जो ना ओर छोर ।
वह सम्मुख आया भयंकर । पहचाना मैंने ॥ ९३ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

वही मुकुट जो मस्तक पर । दीखता है यहां धरणी धर ।
अज है उसका तेज अपार । है अति विस्मय ॥ ९४ ॥

प्रभो गदा चक्र किरीट धारी
प्रकाश सर्वत्र भरा प्रचंड ।
देखा न जाता वह अप्रमेय
जला रहे सूरज अग्नि ज्योति ॥ १७ ॥

भक्त मनोरथार्थ विश्व-रूप बना ऋषिकेश—

ऊपरका जो यह हाथ । चक्रचलानेमें है रत ।
वह चिन्ह स्पष्ट है तात । विश्व-मूर्तिका ॥ ९५ ॥

वहीं दूसरे हाथमें गदा । नीचेका हाथ है निरायुध ।
रास संभालते है गोविंद । सरसाते जो ॥ ९६ ॥

तथा उसी वेगसे तू सहसा । मेरे मनोरथार्थ ऋषीकेश ।
विश्व-रूप बना है विश्वेश । जानता हूं मैं ॥ ९७ ॥

किंतु है क्या यह अतिचोज । मौका है न सोचनेका आज ।
हुवा है मेरा चित्त अबूझ । अतिशय तात ॥ ९८ ॥

यह विश्व-रूप हैं भी या नहीं । सोच ऐसा श्वास चलता नहीं ।
अंग-प्रभाकी जो यह नवाई । भरी है सर्वत्र ॥ ९९ ॥

इस तेजसे नयन झुलसता । सूर्य मलिन खद्योतसा भासता ।
ऐसी तीव्र है जिसकी अद्भुतता । यहां आज ॥ ३०० ॥

यह मानो महा-तेजका महार्णव । विश्वको डुबो देता है कर तांडव ।
युगांतका वज्रपात जैसे देव । ढक देता है ॥ १ ॥

अथवा संहार तेजकी जो ज्वाल । तोडके मंडप बांधा अंतराल ।
दिव्य-चक्षुसे अब नभ-मंडल । देखा नहीं जाता ॥ २ ॥

अधिकाधिक प्रकाश उज्वल । जलाता बनकर महाज्वाल ।
देखनेसे होती दृष्टि व्याकुल । दिव्यता होने पर भी ॥ ३ ॥

अथवा महा-प्रलयका प्रचंड । होता है जो कालाग्निरूद्रमें गूढ़ ।
उस तीसरे नयनके प्रगाढ़ । खुले हैं पलक ॥ ४ ॥

तथा फैला यह प्रकाश । पंचाग्नि-ज्वालाओंके पाश ।
करते ब्रह्मांडका शोष । जलकर ॥ ५ ॥

तेजाराशी है जो ऐसी अद्भुत । देखता मैं आज ही हो चकित ।
तेरी कांतिकी व्याप्ति हैं अनंत । विश्व-रूप ॥ ६ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

तेरे तेजसे सारा विश्व संतप्त है प्रभो—

हे देव तू है अक्षर । त्रिअर्ध मात्रासे पर ।
श्रुति है जिसका घर । ढूंढती है ॥ ७ ॥

आकारका तू आयतन । विश्व निक्षेपका निधान ।
वह अव्यय तू गहन । अविनाशी जो ॥ ८ ॥

धर्मका है तू जीवन । अनादि नित्य-नूतन ।
सैंतीसवा तू महान । पुरुष विशेष ॥ ९ ॥

तू है आदि मध्यांत रहित । सर्व सामर्थ्यसे तू है अनंत ।
विश्व-बाहु तू अपरिमित । विश्व-चरण तू ॥ ३१० ॥

असीम तू अक्षर जाननेका
तू ही महा आश्रय विश्वका है ।
तू रालता शाश्वत-धर्म नित्य
मैं जानता तू परमात्म तत्व ॥ १८ ॥

अनादि मध्यांत अनंत शक्ति
अनेक भुजा मुख अग्नि-ज्योति ।
आंखें दिखे उज्वल चन्द्र सूर्य
स्वतेजसे तू जगको तपाता ॥ १९ ॥

मानो सूर्य चंद्रकी जो कला । तेरी कोप-प्रसाद लीला ।
कृपा दृष्टिसे कर संभाल । कोप कटाक्षसे क्रोध ॥ ११ ॥

इस भांति मैं अब देखता । प्रलयाग्नि तेज-सा अनंत ।
तेरे वदनकी जो दिव्यता । विस्मित होकर ॥ १२ ॥

आगसे धधकते पर्वत । निकलती ज्वालायें अद्भुत ।
जैसे चाटते हैं दाढ़ दांत । ज्वाला जिव्हा ॥ १३ ॥

इस वदनकी जो है ऊब । तथा सर्वांग कांतिकी प्रभा ।
करती विश्वमें अति क्षोभ । अकुलाहट भरा ॥ १४ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशाश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

जो देख अकुला रहा त्रिलोक —

भूलोक और पाताल । पृथ्वी तथा अंतराल ।
दश दिशायें आकुल । है दिशा चक्र ॥ १५ ॥

तुझसे है जो यह संपूर्ण एक । भरा हुवा देखता मैं सकौतुक ।
गगन सह डूबा है, भयानक । विश्व-रूपमें ॥ १६ ॥

या रस लहरोंसे अद्भुद । चतुर्दश भुवन हैं व्याप्त ।
वैसे मैं हो अत्यंत विस्मित । देखूं क्या क्या ॥ १७ ॥

अनाकलित व्याप्ति जो असाधारण । सही न जाती रूपकी उग्रता तीक्ष्ण ।
सुख गया दूर, यहां विश्वके प्राण । निकले भयसे ॥ १८ ॥

सभी दिशा विस्तृत अंतरिक्ष
सर्वत्र तू एक हि छा रहा है ।
तेरा यही अद्भुत उग्र रूप
जो देख अकुला रहा त्रिलोक ॥ २० ॥

तुझको देखकर हे विश्वेश्वर। न जाने आया कैसे भय उभर।
डूब रहा है अब दु:ख सागर। लहरियोंमें त्रिलोक ॥ १९ ॥

वैसे तुझ महात्माका दरशन। वहां क्या है भय दु:खका स्थान।
जिससे न होता सुखका ज्ञान। इसका भान है मुझे ॥ ३२० ॥

जब तक तेरा रूप नहीं देखा। तब तक जगको संसार चोखा।
देखने पर विजय विष चखा। हुई अरुचि ॥ २१ ॥

आगे रूप नहीं होता आकलन। जिससे नहीं होता प्रेमालिंगन।
पीछे दीखता है संसार मलिन। ऐसा उभय संकट ॥ २२ ॥

तभी पीछे हठे तो संसार। जो है रुकावट अनिवार।
आगे तू अनिवार अपार। न होता आकलन ॥ २३ ॥

ऐसा है उभय संकटग्रस्त। त्रिभुवन होता है अतित्रस्त।
मेरा मत हुव ऐसा निश्चित। यह रूप देखके ॥ २४ ॥

संतापसे जो ऐसा झुरसा हुआ। उपशमार्थ सिंधुपे आया हुआ।
तरंग तांडव देख डरा हुआ। रहता है जैसे ॥ २५ ॥

ऐसा हुआ यह विश्व समस्त। तुझे देख तड़पनेमें रत।
उससे भला पैर तीर प्राप्त। ज्ञान-संपन्न देव ॥ २६ ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिमि : पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अविद्या-सिंधु और स्वर्ग संसार फंदोंसे मुक्तिके लिये तेरी प्रार्थना—

ये देव सारे तुझमें समाये
कोई भयग्रस्त हो बद्ध-हस्त।
मांगल्य गाके तव सिद्ध-संत
स्तवते तुझीको अनेक भांति ॥ २१ ॥

तेरे शरीरका यह जो तेज। जलाता है सारे कर्मका बीज।
जिससे तुझमें मिलते निज। सद्भावनासे ॥ २७ ॥

तथा जो हैं सहज भय-भीत। होकर तेरे पथके आश्रित।
गाते हैं तेरी प्रार्थनाके गीत। कर जोड करके ॥ २८ ॥

देव ! डूबे हैं अविद्या-सिंधुमें। फंसे हैं विषय-विष-जालमें।
फंसे हैं स्वर्ग-संसार फंदोंमें। दोनों ओरसे ॥ २९ ॥

ऐसे हमको करनेमें मुक्त। कौन हैं त्रिभुवनमें समस्त।
आये हैं हम सो शरणागत। कहते हैं ये ॥ ३३० ॥

तथा महर्षि अथवा सिद्ध। विद्याधर संघ जो विविध।
गाते हैं तेरा ही स्वस्तिवाद। तथा शुभ-स्तवन ॥ ३१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्र-आदित्योंके ये समुदाय। वसु साध्य आदि ये देव।
अश्विनी विश्वे-देव स-वैभव। मरुत भी वहां ॥ ३२ ॥

सुनो अग्नि तथा गंधर्व। यक्ष राक्षस गण सर्व।
महेंद्रादि जो मुख्य देव। तथा सिद्धादिक ॥ ३३ ॥

ये सब धर अपना स्वस्थान। विस्मित करते अवलोकन।
महा-मूर्तिका है दिव्य-दर्शन। देखता हूँ मैं ॥ ३४ ॥

आदित्य विश्वे वसु रुद्र साध्य
कुमार दोनों पितृ-देव वायु ।
गंधर्व दैत्यों सह यक्ष सिद्ध
सारे तुझे विस्मित देखते हैं ॥ २२ ॥

फिर देखते हैं क्षणक्षण । विस्मययुत अंत:करण ।
नत-मस्तक हो समर्पण । करते निज मुकुट ॥ ३५ ॥

जय घोषके कलरव मधुर । गूंजते हैं स्वर्गमें जो सुंदर ।
रखे हैं ललाट पर सुंदर । कर संपुट नमनार्थ ॥ ३६ ॥

वह नम्रता-वृक्ष वन सकल । खिला सात्विक वसंतसे सकाल ।
तभी उस कर-संपुटमें फल । लगा यह तेरा ॥ ३७ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नयनोंका हुवा यह भाग्योदय । या जीवोंका सुख सुकाल उदय ।
तभी हुवा तेरे रूपका सदय । भव्य दर्शन ॥ ३८ ॥

रूप है जो यह लोक-व्यापक । चहूं ओरसे दीखता सम्मुख ।
देवोंके लिये भी जो भयानक । देखके चौंकते हैं ॥ ३९ ॥

ऐसा एक किंतु है विचित्र । तथा भयानक हैं वक्त्र ।
बहु लोचन तथा सशस्त्र । भुजा असंख्य ॥ ३४० ॥

अनेक जो चारु-चरण । बहु उदर नाना-वर्ण ।
प्रति वदन मद-पूर्ण । आवेशसे ॥ ४१ ॥

अथवा महा-प्रलय समय । पाशमें बांधकर यमराय ।
प्रलयाग्नि जलाता भयमय । जहां तहां सर्वत्र ॥ ४२ ॥

या संहार त्रिपुरारिका यंत्र । या प्रलय-भैरवका जो क्षेत्र ।
अनेक युगांत शक्तिका पात्र । आगे किये विनाशार्थ ॥ ४३ ॥

विशाल है रूप असंख्य नेत्र
कराल दाढें बुल हाथ पैर ।
अनेक हैं ऊरु विशाल पेट
ये देख हूं व्याकुल लोक मैं भी ॥ २३ ॥

वैसे जहां तहां चहूं ओर। तेरे वदन हैं भयंकर।
वहां सिंहसे दांत प्रखर। दीखते क्रोधाग्निसे ॥ ४४ ॥

देख जैसे काल रात्रिका अंधार। करते हैं पिशाच घोर संचार।
वैसे वदनमें प्रलय रुधिर। भरे हैं दांत ॥ ४५ ॥

कालने किया है जैसे युद्ध-निमंत्रण। उन्मत्त हुआ सर्व संहारक मरण।
वैसे दीखते हैं मुखमें भय लक्षण। तेरे आज ॥ ४६ ॥

बेचारे उस त्रिभुवन पर। सहज दृष्टि डाली इक बार।
वह दुःख कालिंदी तट पर। हो गया है वृक्ष ॥ ४७ ॥

रूप है यह महा-मृत्युका सागर। उठते हैं उसमें दुर्वार्ता भंवर।
त्रैलोक्य-जीवित डोंगी खाती चक्कर। उलटी आंधीमें ॥ ४८ ॥

क्रोधसे तू यदि यह कहता। लोगोंकी बात क्यों व्यर्थ करता।
इसमें तेरा क्या आता जाता। भोग तू ध्यान सुख ॥ ४९ ॥

देव! लोगोंकी बात क्या साधारण। किया है यह परदा स-कारण।
कांप रहे हैं मेरे स-देहप्राण। देखकर रूप ॥ ३५० ॥

संहार-रुद्र भी घबडाता जिससे। मृत्यु भी छिप जाता जिसके डरसे।
ऐसा महाबली मैं कांपता भयसे। ऐसा किया तूने ॥ ५१ ॥

महामारीका यह कराल रूप। भयको जो छिपाने लगता आप।
इसको कहना यदि विश्व-रूप। आश्चर्य है यह ॥ ५२ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

आकाश भेदे बहुरंगवाले
खुले मुखोंके विशाल नेत्र।
ज्वलंत तू देव तुझ देख जीव
अधीर होता सुख शांति खोता ॥ २४ ॥

महाकालसे हठ होड़कर । अनेक मुख जो क्रोधसे भर ।
आकाशको ओछा मान विस्तार । दिखाते हैं अपना ।। ५३ ।।

नभ-विस्तार न करता आकलन । त्रिलोक पवन न करता वेष्ठन ।
जिसमेंसे ज्वाला निकलती महान । धधकती हुई ।। ५४ ।।

इनमें हैं विविध आकार । वैसे ही हैं वर्णके प्रकार ।
प्रलयाग्नि भी लेता आधार । इन मुखोंका ।। ५५ ।।

इतना है इनके अंगका तेज । इनसे राख होता विश्व सहज ।
एक मुखमें मुख उनमें तेज । दांत औ' दाढ भी ।। ५६ ।।

हुवा यहां मानो वायूको धनुर्वात । समुद्र हुवा महापूरमें पतित ।
विषाग्नि मारनेमें हुवा प्रवृत्त । वड़वानलको ।। ५७ ।।

पीता है जैसे अग्नि हालाहल । मृत्यु मरनेमें समक्ष है नवल ।
संहार तेज आज निगलता खोल । मुख बन कर ।। ५८ ।।

किंतु कैसे हैं ये विशाल । जैसे टूटा हुवा अंतराल ।
मानो आकाशका ही बिल । पड़ा है यह ।। ५९ ।।

या वसुंधराको बगलमें दबाकर । हिरण्याक्ष घुसा जब पाताल गव्हर ।
पाताल कुहर खोला हाटकेश्वर । वक्त्र दीखते ऐसे ।। ३६० ।।

तेरे मुखोंका ऐसा विकास । उसमें जिव्हाओंका आवेश ।
विश्व बनता अधुरा ग्रास । इसीलिये नहीं खाता ।। ६१ ।।

तथा पातालव्यालोंका फूत्कार । विष ज्वाला जा छूती हैं अंबर ।
वैसी फैली है जिव्हा भयंकर । वदन-दरीमें ।। ६२ ।।

प्रलय-विद्युतके झुंड लेकर । सजाये हैं जैसे गगन शिखर ।
मुखमें दीखते हैं दांत प्रखर । तथा डाढ भी वैसे ।। ६३ ।।

जैसे ललाट परके अंचलमें । भयको ही डराते हैं अंधारमें ।
महा-मृत्युके हैं अवेग वेगमें । अंगार-सी आंखें ।। ६४ ।।

ऐसा ले यह महा-भयका भोज । यहां क्या करने आया है तू काज ।
समझ न पा करके यह मुझ । मरण भय आया है ।। ६५ ।।

देव ! विश्व रूप देखनेकी आस । उसका प्रतिफल है यह खास ।
उसको देखा है मैंने स-हव्यास । हुई अब आंखें शांत ॥ ६६ ॥

शरीर है यह नाशवंत पार्थीव । उसका नहीं है यहां विशेष भाव ।
अविनाशी चैतन्यका न रहा ठाव । जीने मरनेका ॥ ६७ ॥

भयमें है वैसे अंग कांपता । बढता है तब मन तापता ।
अथवा बुद्धिका बल हिलता । गलता अभिमान ॥ ६८ ॥

इन सबसे जो है निराला । केवल जो आनंदैककला ।
वह अंतरात्मा भी निश्चल । कांपता यहां ॥ ६९ ॥

लगा साक्षात्कारका वेध । नष्ट किया है सब बोध ।
ऐसा गुरु-शिष्य संबंध । मिलेगा कहां ॥ ३७० ॥

देवेश ! तेरा जो यह दर्शन । शिथिल करता अंतःकरण ।
उसको संभालनेमें जतन । करता हूं मैं ॥ ७१ ॥

धैर्य जो मेरा संपूर्ण खो गया । तूने यह विश्व-रूप दिखाया ।
तथा मुझको है उलझा दिया । उपदेशमें ॥ ७२ ॥

यहां आसरा पानेमें जीव । करता है चारों और धांव ।
उसको नहीं मिलता ठाव । इस रूपमें ॥ ७३ ॥

विश्व-रूप ऐसा महामार । निर्जीव करता है चराचर ।
तब रहे कैसे मौन होकर । देव देवेश ॥ ७४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

कल्पांत अग्नीसम दीखतें है
प्रचंड मुख औ' कराल दाढ ।
दिशा न सूझे सुख-शांति नाशे
प्रसन्न हो तू जगके निवास ॥ २५ ॥

सबका नाश करनेवाली दैवी शक्ति—

फूटा महा-मृत्युका मशक । ऐसे जो तेरे मुख अनेक ।
नाचते हैं आंखोंके सम्मुख । फैले हुए ॥ ७५ ॥

दांत औ' डाढोंकी खुली कतार । ओंठ न छिपा सकते प्रखर ।
प्रलय-शस्त्रोंका पडा है घेर । लगा है जैसे ॥ ७६ ॥

तक्षमें भरा हालाहल जहर । काल-रात्रिमें हुवा भूत-संचार ।
या आया वज्राग्नि-अग्न्यस्त्र घर । वैसा यह रूप ॥ ७७ ॥

वैसे ही तेरा वदन विकराल । उसमें मृत्यु-रसका रेलारेल ।
फिर आवेश उमडता विपुल । हम पर ही ॥ ७८ ॥

संहार-कालका चंडानिल । महाकल्पका प्रलयानल ।
हुवा दोनोंका संहार-मेल । फिर न जलेगा क्या ॥ ७९ ॥

वैसे तेरे ये संहारमुख । देखा हुवा मेरा धैर्य खाख ।
भूला मैं अब दिशा भी देख । तथा अपनेको भी ॥ ३८० ॥

विश्व-रूप देखा क्षण काल । तथा पडा सुखका अकाल ।
समेट ले तू रूप विशाल । जो है अस्त-व्यस्त ॥ ८१ ॥

ऐसा करेगा तू यह यदि जानता । विश्व-रूपकी मैं बात भी क्यों करता ।
रक्षा कर तू प्राणकी परम-पिता । इस स्वरूप प्रलयसे ॥ ८२ ॥

भगवानका हेतु अर्जुनका मोह —

यदि तू स्वामी है हमारा अनंत । रक्षण कर डाल बन जीवित ।
समेटले फैलाव अपरमित । महा-मृत्युका ॥ ८३ ॥

सुन तू सकल देवोंका परम देव । चैतन्य तू तुझमें बसता विश्व सर्व ।
भूला तू सबको जीवन देना सदैव । और लगा संहारमें ॥ ८४ ॥

प्रसन्न हो त्वरित देवराय । समेट ले अपना महाकाय ।
उद्धार कर मेरा भय-मय । मृत्यु दशासे ॥ ८५ ॥

करता हूं पुनः पुनः ऐसा विनय । हुवा है इतना भय-ग्रस्त हृदय ।
विश्व रूप देख कर खाया भय । मैने जनार्दन ॥ ८६ ॥

हुवा अमरावति पर आक्रमण । किया है मैंने अकेलेने निवारण ।
ऐसा मैं महाकालको भी कठिण । डरानेमें ॥ ८७ ॥

किंतु है यह प्रसंग दुर्धर । मृत्युको भी तूने निगलकर ।
भर लिया है मेरा भी जो कौर । विश्व सह सकल ॥ ८८ ॥

ऐसा नहीं था अब प्रलय काल । बनकर आया है तू महाकाल ।
बेचारा बना त्रिभुवन सकल । अल्पायुषी आज ॥ ८९ ॥

विधि-विधान है यह विपरीत । उठा हुवा विघ्न करनेमें शांत ।
मह-विघ्न उठ आया अकल्पित । विश्व-प्रलयका ॥ ३९० ॥

बात नहीं यह काल्पनिक । खेलकर तू अनंत-भुख ।
सैन्यका कौर लेता है देख । चहूं ओरसे तू ॥ ९१ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

ये सब कुरु-कुलके वीर । अंध धृतराष्ट्रके कुमार ।
गये रे गये स-परिवार । तेरे कराल मुखमें ॥ ९२ ॥

तथा आये हैं यहां जो देश देशके । इनके सहायक हो दौड़ दौड़के ।
न रहेंगे ये तेरे कौर बनके । नाम कहनेको भी ॥ ९३ ॥

मद-मस्त हाथियोंके जो झुंड । निगलता तू पकड पकड़ ।
तथा योद्धाओंको भी धड़ाधड । निगलता जाता ॥ ९४ ॥

शातघ्निके संहारक । पदचारी जो कटक ।
भरता है तेरा मुख । पता न चलता ॥ ९५ ॥

अहा ! सभी ये धृतराष्ट्र पुत्र
लेके सभी राज समूह साथ ।
ये भीष्म ये द्रोण ये सूत पुत्र
औ' वीर सारे अपने अनेक ॥ २६ ॥

कृतांतके जो जो हथियार क्रूर। निगलते एकेक स-चराचर।
निगलता तू ऐसा शस्त्र भांडार। करोडोंका ॥ ९६ ॥

चतुरंग-सेना परिवार। स-अश्व-रथ पकडकर।
दांत न लगाते विश्वेश्वर। निगलता तू ॥ ९७ ॥

भीष्मसे ऐसा है कौन। सत्यशौर्यमें प्रवीण।
तथा जो द्रोण ब्राह्मण। तूने चबाया ॥ ९८ ॥

ओ! वह सहस्र-कर-कुमार। गयारे गया व्यर्थ जो कर्ण वीर।
तथा हमारे अनेक महावीर। खा गया तू ॥ ९९ ॥

कैसा है देव! यह विधि विधान। मेरी मांगसे विश्व-रूप-दर्शन।
करता वह विश्वका निकंदन। चाहता था मैं शांति ॥ ४०० ॥

तूने कही पहले उपपत्ति। बताई थी यहां कुछ विभूति।
छोडके वह मैं हो मंदमति। मांगा दर्शन ॥ १ ॥

होनी है जो त्रिकालमें भी नहीं चूकती। बुद्धि भी उसका अनुकरण करती।
मेरे दैवमें अजी! यही बात बधीथी। उसका उपाय क्या? ॥ २ ॥

अमृत भी पहले हाथ आया। देवोंको उससे तोष न भया।
फिर कालकूटको जन्म दिया। अंतमें जैसे ॥ ३ ॥

किंतु वह था जो किंचित। निराकरण योग्य बात।
उसे किया है तब शांत। पीके शंभुने ॥ ४ ॥

जलता बवंडर अब कौन लपेटता। विष भरा आकाश कौन निगलता।
महाकालके कालसे कौन खेलता। सामर्थ्यवान हो ॥ ५ ॥

अर्जुन ऐसे शोकमें गलता। हृदयमें अति संतप्त होता।
मनोगत वह नहीं जानता। देवदेवेशका यहां ॥ ६ ॥

परमात्मका मनोगत—

कौरव मरते और मैं मारता। अर्जुन ऐसे मोहग्रस्त हुवा था।
श्रीकृष्णको उसे दूर करना था। यह रूप दिखाके ॥ ७ ॥

अजी कोई किसीको न मारता । मैं ही सबका संहार करता ।
विश्व-रूप निमित्तसे बताता । यहां श्रीहरि ॥ ८ ॥

नहीं जाननेसे यह बात । पार्थ हुवा है व्याकुलचित्त ।
तथा कांपता रहा है व्यर्थ । देखके रूप ॥ ९ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

कहता है वह देखकर अर्जुन । कवच सह ये दोनों दल महान ।
खो जाते हैं जैसे गगनमें घन । वैसे जाते मुखमें ॥ ४१० ॥

या अया है अब कल्पांतका अंत । या हुवा है क्रुद्ध विश्वपे कृतांत ।
जो है स्वर्ग पाताल सह जगत । निगलता आप ॥ ११ ॥

होता जब प्रतिकूल दैव । तब सभी संचित वैभव ।
जहांका तहां ही हो गलाव । होता नष्ट ॥ १२ ॥

दोनों ओरकी एकत्रित सेना । जाती है मुखमें एक समान ।
किंतु वहांसे कभी लौटना । नहीं दीखता ॥ १३ ॥

अशोकके पात जैसे । चबाता है ऊट वैसे ।
सेना समुह व्यर्थ वैसे । मुखमें जाता ॥ १४ ॥

यहां मुकुट सह मस्तक । दांतोंमें चूर्ण होते अनेक ।
देखता मैं यह भयानक । दृष्य इस रूपमें ॥ १५ ॥

सबको तेरे ये दांत पीस रहे हैं —

जाते त्वरासे मुखमें हि तेरे
भयान जिसमें कराल दाढ ।
चिपके हुए हैं अनेक मुंड
दीखे वहां चून बना हुवा जो ॥ २७ ॥

दांतोंमें फंसे हैं कुछ रत्न । कुछ चूर्ण हो गये हो भग्न ।
जिव्हा-मूलमें फंसा चूरन । कुछ दांतोंमें ॥ १६ ॥

विश्व-रूप है यह महाकाल । चबाता लोगोंकी देह सबल ।
किंतु जीव देहका शिर-कमल । रखता आवश्य ॥ १७ ॥

वैसे शरीरमें है चोख । उत्तमांग जो शिर सम्मुख ।
महाकालके मुखमें देख । शेष रहे हैं ॥ १८ ॥

कहता है फिर अपनेसे अर्जुन । अन्य गति नहीं जो कुछ हुवा है जनन ।
करते हैं वे इस मुखमें गमन । अपने आप ॥ १९ ॥

यहां हुवा है जो सृष्ट । होता है इस मुखमें प्रविष्ट ।
निगलकर सब होता पुष्ट । विश्व-रूप काल ॥ ४२० ॥

समस्त हैं जो ब्रह्मादिक । स-वेश जाते ऊंचे मुख तक ।
पडते हैं जाके सामान्य लोक । इसी ओरके मुखमें ॥ २१ ॥

अन्य सभी हैं जो भूत-जात । जन्मते वहीं होते ग्रसित ।
किंतु इनका मुख निर्भ्रांत । न छूटता कोई ॥ २२ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥ २८ ॥

जैसे हैं महानदीके ओघ । डूबते हैं सिंधुमें अथांग ।
वैसे सभी ओरसे हैं जग । जाता इस मुखमें ॥ २३ ॥

अयुष्य पथमें प्राणि-गण । करके अहो रात्र प्रयाण ।
इस मुखमें पाते निधान । अति-वेगसे ॥ २४ ॥

जैसे नदीके जलके प्रवाह
दौडे हुए सागरमें समाते ।
वैसे समाते नर वीर सारे
सवेग तेरे जलते मुखों में ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जलते पर्वत-दरीमें जैसे । पतंग-समूह पडते वैसे ।
समस्त लोक पडते वेगसे । इस मुखमें आज ॥ २५ ॥

प्राणिमात्र जो है इसमें जाता । उसका नाम भी नहीं रहता ।
जैसे सारा पानी है सोख लेता । तपा हुवा लोह ॥ २६ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

तथा कर इतना आरोगन । नहीं होता तेरा क्षुधा-शमन ।
कैसा असामान्य यह दीपन । हुवा उदय ॥ २७ ॥

जैसे ज्वरसे उठा हुवा रोगी । या अकाल भुक्त भिक्षुक भोगी ।
वैसे तेरी जिव्हा है सदा लगी । चरनेमें ही । २८ ।

आहारका वैसे जो जो है नाम । आता तेरे निगलनेका काम ।
नहीं देखी ऐसी क्षुधा असीम । विस्मय जनक ॥ २९ ॥

उडते हुए ये जैसे पतंग
सवेग जाते जलते दियेपे ।
वैसे विनाशार्थ तेरे मुखोंमें
ये लोग सारे सवेग उडते ॥ २९ ॥

संसार सारा कर ग्रास होठ
तू चाटता है जलती जिभोंसे ।
लपेट सारा तव उग्र तेज
है तीन लोगोंको जला रहा जो ॥ ३० ॥

सागरका जैसे आपोशन करना । तथा मेरु-पर्वतका कौर भरना ।
संपूर्ण ब्रह्मांड ही धरके चबाना । अपनी डाढोंसे ॥ ४३० ॥

सभी दिशाओंको निगल जाना । तारागण नभके चाट जाना ।
ऐसी सहज-लालसा धरना । यह है तेरा काम ॥ ३१ ॥

जैसे भोगसे है काम बढ़ता । ईंधनसे अग्नि धू धू करता ।
वैसे खा खा कर होठ चाटता । अधिक आशासे ॥ ३२ ॥

किया कैसा यह एक ही पसारा । जिह्वाग्रपे रखा त्रिभुवन सारा ।
डाला है यह एक छोटासा कौर । वडवानलमें ॥ ३३ ॥

ऐसे हैं जो अगणित वदन । आर्य कैसे इतने त्रिभुवन ।
इससे क्षुधा न होती सहन । बढती असह्य ॥ ३४ ॥

अजी ! है यह विश्व बेचारा । वदन-ज्वालामें पडा सारा ।
दावानलका पडा है घेरा । भेडों पर यहां ॥ ३५ ॥

विश्वका ऐसा हुआ अब । दैव कर्म नहीं आया तब ।
चराचर पर फैला सब । अकालका जाल ॥ ३६ ॥

विश्व-रूपका यह तेज-मंडल । बहुलियाका फैलाया हुवा जाल ।
मुख नहीं लाक्षाग्नि-ज्वाल । घेरता चराचरको ॥ ३७ ॥

जलाती कैसी अपनी दाहकता । इस बातको अग्नि नहीं जातना ।
किंतु जो जलता है वह जानता । नहीं बचते उसके प्राण ॥ ३८ ॥

अजी ! अपनी तीखी धारसे कैसे । न जानता शस्त्र-घात होता जैसे ।
अपना विनाश न जातना वैसे । हालाहल विष ॥ ३९ ॥

वैसे तुझको भी ज्ञात है नहीं । अपनी उग्रताकी बात सही ।
प्रत्येक मुखसे यहां हो रही । विनाश-लीला ॥ ४४० ॥

यदि तू है आत्मा एक । सकल विश्व-व्यापक ।
तब हमारा अंतक । हो आया कैसे ॥ ४१ ॥

छोडी मैंने जीवितकी आस । तू भी छोड दे संकोच खास ।
कह अपनी भानकी क्या खास । बात है आज ॥ ४२ ॥

अपनी उग्रताको क्यों बढ़ाता जाता। अपना ईशत्व तू क्यों नहीं स्मरता।
विश्व संभालना यदि नहीं चाहता। मेरे लिये ही स्मर तू ॥ ४३ ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

तुम कौन हो प्रभो! —

एक बार वेद-वेद्य। त्रिभुवनका तू आद्य।
विनति है विश्व-वंद्य। सुन तू मेरी ॥ ४४ ॥
ऐसा कह वह वीर। चरणपे रख शिर।
कहता है सर्वेश्वर। सुन तू विनय ॥ ४५ ॥

अपना करने समाधान। मांग विश्व-रूपका दर्शन।
औ' एक कालमें त्रिभुवन। निगल उठा तू ॥ ४६ ॥

अजी! कह तू तब है भी कौन। कहांसे पाये भीषण आनन।
शस्त्र क्यों लिये इतने महान। चमकाये हैं जो ॥ ४७ ॥

तेरा रुद्र-क्रोध भडक कर। दिखाता गगनको ओछा कर।
दिखाता है आंखें निकालकर। भयग्रस्त होता विश्व ॥ ४८ ॥

कृतांतसे क्यों इतनी होड़। कर रहा क्यों तू ऐसा अड़।
कह तू मुझसे यह गूढ़। बात जो देव ॥ ४९ ॥

सुन यह कहता अनंत। कौन तू यह पूछता पार्थ।
औ' होता क्यों ऐसा वृद्धिंगत। उग्रतासे ॥ ४५० ॥

हो कौन बोलो विकराल रूपी
तुझे नमस्कार देवेश बोलो।
पहचान चाहूँ देवादिदेव
जानी न जाती करती तुम्हारी ॥ ३१ ॥

भगवान उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

मैं सबको संहारनेवाला काल हूं—

जान तू मैं सम्मुख हूं महाकाल। लोक-संहारार्थ बढ़ता कराल।
फैलाये हैं ये जो मुख विकराल। सबको निगलने ॥ ५१ ॥

सुनकर यह अकुलाता पार्थ। पहली बातसे मैं ही संकट-ग्रस्त।
विनय की थी तेरी मैंने अनंत। हुवा प्रकट तू काल ॥ ५२ ॥

इस पर बोलनेसे कठिन। यह निराश होगा यह जान।
सत्वर कहता देव अर्जुन। और एक बात ॥ ५३ ॥

सबका जो यह चला संहार। इसमें रहे पांडव बाहर।
सुनकर यह पांडु कुमार। संम्हालता प्राण ॥ ५४ ॥

मरण महा-भयसे हो मुक्त। सुनने लगा वह ध्यान-युक्त।
श्रीकृष्ण वचन हो अनुरक्त। धनंजय ॥ ५५ ॥

पांडव तुम मेरे आत्मीय जन। इसलिये तुम्हे छोड़के अर्जुन।
अन्य सबका करने निकंदन। हुवा उद्यत यहां ॥ ५६ ॥

वडवानलमें जैसे प्रचंड। डालना जैसे नवनीतका पिंड।
मेरे मुखमें वैसे ब्रह्मांड। देखा तूने ॥ ५७ ॥

श्रीभगवानने कहा

मैं काल उठा जग-नाशकारी
संहारने सिद्ध यहां खड़ा हूँ ।
तेरे बिना ये सब नष्ट होंगे
जो हैं खड़े सैनिक दोन ओर ॥ ३२ ॥

उसमें नहीं रहेगा कुछ शेष । जान तू होगा यह सब अ-शेष ।
सेनाकी चली है बकवास । व्यर्थकी जान तू ॥ ५८ ॥

बनाकर जो यह सैन्य मिलन । करते हैं विरावेशका गर्जन ।
देखते काल पर विजय स्वप्न । अपने गदा-दंडसे ॥ ५९ ॥

कहते सृष्टि पर सृष्टि करेंगे । प्रतिज्ञासे महाकालको जीतेंगे ।
तथा जगतका हम बनएंगे । एक ही कौर ॥ ४६० ॥

जगतको हम निगलेंगे । आकाशको धर जलायेंगे ।
तीर पर हम नचायेंगे । विश्वका प्राण ॥ ६१ ॥

ऐसी यह चतुरंग संपदा । करती है महाकालसे स्पर्धा ।
अपने पराक्रमका है मद । करते व्यर्थका ॥ ६२ ॥

बोलते हैं तलवारसे भी तीखा । दीखते हैं आगसे भी दाहक ।
मारनेमें कालकूटसे भी अधिक । भयानक मानते ॥ ६३ ॥

किंतु ये सब गंधर्व-नगर माल । जान तू ये हैं गेंदुरीके शोर पोल ।
अथवा सब हैं ये आलेखके फल । दीखते हैं बडे ॥ ६४ ॥

अथा यह मृगजलमें महापूर । सेना नहीं वस्त्रके सांप बनाकर ।
रखा है यहा बंड सजधजाकर । धनंजय ॥ ६५ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहिताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

यहां जो संचलित बल । मैंने ग्रास लिया सकल ।
अब चित्रके-से बेताल । निर्वीर्य हैं ये ॥ ६६ ॥

इनका जीवन सूत्र कबका टूट चुका है—

इसीलिये ऊठ पा ले तू कीर्ति
होके जयी राज्य समृद्ध भोग ।
मैंने हने हैं सब ही कर्मी के
निमित्त हो केवल सव्यसाची ॥ ३३ ॥

टूटा सूत्र जो था नचानेवाला। गुड्डा खंबे पर नाचनेवाला।
खींचते ही गिरेगा अलबेला। वैसे ही यहां ॥ ६७ ॥

नष्ट करने सैन्यका आकार। न लगेगा समय धनुर्धर।
इसीलिये ऊठकर सत्वर। हो बुद्धिमान ॥ ६८ ॥

तूने जब गोग्रहणके समय। मोहनास्त्र छोडा तब धनंजय।
भीरू उत्तरने भी होके निर्भय। विवस्त्र किया सबको ॥ ६९ ॥

हुए हैं आज ये उससे भी तेजोहीन। अनायास युद्ध चल आया स-सम्मान।
पा लो यश जीत कर शत्रुको अर्जुन। आकेला लडके ॥ ४७० ॥

तना नहीं हैं यहां कोरा यश। होगा सकल राज्य वैभव तेरे वश।
मुझसे मरे ये पहले ही अब शेष। निमित्त हो सव्यसाची ॥ ७१ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

दोनों सेनाओंमें केवल पांडव ही बचेंगे—

द्रोणकी परवाह न कर। भीष्मका भय भी तू न धर।
न सोच तू कैसे कर्ण पर। पाऊं विजय ॥ ७२ ॥

कौन उपाय जयद्रथ पर। करना उसकी चिंता न कर।
तथा यहां हैं जो जो महावीर। प्रसिद्ध महारथी ॥ ७३ ॥

ये एक एक तू अर्जुन। चित्रके ही सिंह मान।
गीले हाथ लीप लोपन। करना इनका ॥ ७४ ॥

ये द्रोण ये भीष्म जयद्रथादि
या कर्ण या अन्य महान योद्धा।
मैंने हने जो उनको तु मार
निःशंक जूझो जब मान तेरी ॥ ३४ ॥

इस पर क्या रहा है अर्जुन। दीखती यह युद्धकी सेना।
भास मात्र है बल-तेज-हीन। किया मैंने पहले ही ॥ ७५ ॥

यहां तूने देख लिया सब। मेरे मुख सुन लिया अब।
सभी जीवन मिटा है अब। रहा भूसा ॥ ७६ ॥

अब तू ऊठ धनुर्धर। मेरे मारे हुओंको मार।
व्यर्थका ही शोक न कर। अब तू यहां ॥ ७७ ॥

जैसे कहीं एक निशान करना। स-कौतुक उसपे तीर चलाना।
इसी भांति यहां देख तू अर्जुन। निमित्त मात्र है ॥ ७८ ॥

अजी! तेरे विरुद्ध जो भया। उसे कभीका शेर खा गया।
अभी विजय काल है आया। यशको लूट ले ॥ ७९ ॥

साभिमान फूले थे जो दायाद। तथा हुए थे विश्व-दुर्मद।
किया उनका अनायास वध। धनंजयने ॥ ४८० ॥

ऐसी यह विजय गाथा। गायेगी वांग्मय-सरिता।
लिखो अब इसको पार्थ। विश्व-पट पर ॥ ८१ ॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

ऐसी जो यह अपूर्व कथा। जिसका अपूर्ण मनोरथ।
कहता संजय कुरुनाथ। कहे ज्ञानदेव ॥ ८२ ॥

संजयने कहा

श्रीकृष्णसे यों सुनके किरीटी
जो हाथ जोडे भयभीत होके।
कर वंदना यों पुनश्च बोले
नमा हुवा गद्गद भावपूर्ण ॥ ३५ ॥

सत्य-लोकका तब गंगा जल । खुलता जैसे कर कल कल ।
वैसी खुली है वाग्धारा विशाल । बोलनेमें ॥ ८३ ॥

या जैसे महामेघका गर्जन । होते हैं एक कालमें गूंजन ।
या करें क्षीर-सागर मंथन । करता मंदराचल ॥ ८४ ॥

ऐसा गंभीर महा-नाद । कर ये वाक्य विश्व कंद ।
बोला है जो वह अगाध । अनंत रूप ॥ ८५ ॥

सुनी ये बात अर्जुनने किंचित । सुखाया भयावेग बहुत ।
न जाने सुख या भयसे है पार्थ । कांपने लगा ॥ ८६ ॥

बोलनेमें भर आय कंठ । सहज जुडे कर संपुट ।
पुनः पुनः रखता ललाट । चरणों पर जो ॥ ८७ ॥

तथा कुछ भी नहीं बोला जाता । बोलनेमें वह गद्‌गद होता ।
सुख या भयसे नहीं जानता । आप ही करें निर्णय ॥ ८८ ॥

किंतु सुना मैंने देवकी बात । ऐसा कैसा हुवा है यह पार्थ ।
मैंने शब्द पर किया है अर्थ । श्लोकके यहां ॥ ८९ ॥

वैसे ही भय भीत जो अर्जुन । करता हरि पादमें वंदन ।
तथा करता है वह कथन । इस भांतिसे ॥ ९० ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुनने कहा

है योग्य जो कीर्तनसे तुम्हारे
संसार आनंद औ' प्रेम पाता ।
डरे हुए राक्षस भागते हैं
औ' पूजता सिद्ध समूह सारा ॥ ३६ ॥

अर्जुनका किया हुवा विराट स्तवन --

अर्जुन सुन मैं हूं काल । निगलना है मेरा खेल ।
श्रीकृष्ण तेरे यह बोल । मैं मानता हूं ॥ ९१ ॥

किंतु तू है जो महाकाल । आज विश्व-स्थितिका वेल ।
तब क्यों संहारका खेल । यह जानता नहीं ॥ ९२ ॥

कैसे शरीरका तारुण्य तोडना । तथा कैसे वहां वार्धक्य है लाना ।
ऐसे सोचकर करनेसे न होना । स्वाभाविक है ॥ ९३ ॥

जब चार प्रहर नहीं होता । किसी भी समय क्या है अनंता ।
माध्यान्ह समय क्यों जो सविता । अस्त होगा क्या ? ॥ ९४ ॥

तू है अखंडित काल । तुझे भी है तीन वेल ।
वे भी हैं अति सबल । अपने समयमें ॥ ९५ ॥

होने लगती जब उत्पत्ति । तब लय स्थिति जो भूलती ।
जब लय स्थिति बन आती । न उत्पत्ति प्रलय ॥ ९६ ॥

आता है जब प्रलयका वेल । उत्पत्ति स्थितिका है अस्त काल ।
इसे टाल न सकता है काल । जो अनादि सिद्ध ॥ ९७ ॥

आज स्थिति-कालमें है यह जग । भोगके बहारमें करता भोग ।
अब तू निगल सकता है जग । ऐसा जँचता नहीं ॥ ९८ ॥

तब संकेतसे कहता बोल । आया है इस सेनाका ही काल ।
दिखाया यह प्रत्यक्ष सकल । तुझको अभी ॥ ९९ ॥

अर्जुनकी क्षमा याचना --

पाया जब यह संकेत । देखता तब सब पार्थ ।
संपूर्ण रूपसे जगत । स्वाभाविक है ॥ ५०० ॥

तब कहता है वह अर्जुन । सूत्रधार तू रूपका महान ।
आया है पूर्व स्थितिमें संपूर्ण । सभी यह विश्व ॥ १ ॥

अजी ! दुःख सागरमें जो पचता । उनको जिस भांति तू उभारता ।
स्मरूंगा मैं सदा यह कीर्ति-कथा । श्रीकृष्ण तेरी ॥ २ ॥

इस कीर्ति-स्मरणसे सदैव । भोगते महा-सुखका वैभव ।
हर्षामृत ऊर्मिपर स-भाव । झुलते जाते ।। ३ ।।

अजी ! जीनेसे है यह जग । तुझसे करता अनुराग ।
तथा करनेसे दुष्ट-भंग । अधिकाधिक ।। ४ ।।

किंतु त्रिभुवनके राक्षस । भय खाते तेरा हृषीकेश ।
तथा भागते हैं दिशा दस । अमर्याद ।। ५ ।।

और ये सुर सिद्ध किन्नर । अथवा सभी सचराचर ।
देख तुझको है नमस्कार । करते सहर्ष ।। ६ ।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।। ३७ ।।

अजी ! यहां किस कारण । राक्षस ये जो नारायण ।
न झुकते तव चरण । भागते सदैव ।। ७ ।।

और यह तुझको क्या पूछना । इतना तो हमको भी जानना ।
सूर्योदय बाद कैसे रहना । अंधःकारका साध्य ।। ८ ।।

तू है स्वयं-प्रकाशका आगर । और हुवा है अब जो गोचर ।
तभी निशाचरोंका है अंधार । मिटा सहज ।। ९ ।।

अब तक जो थे हम जन । न जानते थे तेरी महान ।
महिमा उसका हुवा ज्ञान । इसी समय ।। ५१० ।।

प्रभो न क्यों ये तुझको नमेंगे
आधार तू ब्रह्मका आदि-कर्ता
अनंत देवेश जगन्निवास
है या नहीं के पर है परेश ।। ३७ ।।

जहांसे विविध सृष्टि-माळ । फैलती भूत-ग्रामकी बेल ।
ब्रह्म जो तेरी इच्छाका फल । प्रसवता है ॥ ११ ॥

देव ! निःस्सीमत्व सदोदित । देव ! निःस्सीममें गुण अनंत ।
देव ! निःस्सीमागम्य सतत । देवेंद्र देवका ॥ १२ ॥

तू है जगत्रयका जो आश्रय । अक्षर सदाशिव है निश्चय ।
तू ही सत-असतका प्रश्रय । उससे परेका ॥ १३ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनंत रूप ॥ ३८ ॥

प्रकृति पुरुषका तू आदि । तू ही महतत्वकी अवधी ।
स्वयं तू है जो आदि अनादि । पुरातन पुराण ॥ १४ ॥

तू सकल विश्वका जीवन । जीव मात्रका तू ही निधान ।
भूत और भविष्यका ज्ञान । तेरे ही करमें ॥ १५ ॥

श्रुतिका तू है लोचन । स्वरूप सुख अभिन्न ।
त्रिभुवन आयतन- । का आयतन तू ॥ १६ ॥

इसीलिये तू परम । तू ही रहा महा धाम ।
कल्पांतमें महद्ब्रह्म । तुझमें विलीन ॥ १७ ॥

वास्तवमें तू ही है देव । विश्व विस्तारता सदैव ।
अनंत रूप देवदेव । अवर्णनीय ॥ १८ ॥

देवादि तू, देव पुराण आत्मा
संसारका अंतिम आसरा तू ।
तू जानता है तुझ मोक्ष-धाम
विस्तारिता विश्व अनंत रूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तदाथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

एक तू क्या नहीं है देव । तथा कहां नहीं तू देव ।
जहां जैसे ही तू है देव । नमस्कार मेरा ॥ १९ ॥

वायु है तू अनंत । यम तू नियमित ।
भूतमात्रमें नित । बसता तू अग्नि ॥ ५२० ॥

वरुण और तू सोम । सृष्टा तथा तू है ब्रह्म ।
पितमहका परम । आदि जनक तू ॥ २१ ॥

और जहां जो जो कुछ है । रूप है अथवा नहीं है ।
नमन जहां जैसा भी है । जगन्नाथ तुझको ॥ २२ ॥

तू अग्नि तु वायु समस्त देव
प्रजापते ब्रह्म-पिता सु-श्रेष्ठ ।
तुझे नमस्कार सहस्र बार
पुनः पुनः और पुनः पुनः है ॥ ३९ ॥

आगे कि पीछे सब ओर देव
सदा नमस्कार जहां जहां तू ।
उत्साह सामर्थ्य अनंत तेरा
सभी बना तू तुझमें सभी है ॥ ४० ॥

ऐसा हो सानुराग चित्त। स्तुति करता पांडुसुत ।
आगे पीछे नमन नित। कहता नमस्ते ॥ २३ ॥

पुनः देखता साधंत। श्रीमूर्ति जो है सतत।
तथा कहता है पार्थ। नमस्ते देव ॥ २४ ॥

देख देख कर सतत। प्रसन्न होता पार्थ-चित्त।
कहता है वह हो नत। नमस्कार देव ॥ २५ ॥

यहां चराचरमें समस्त। देखता उसीको अखंडित।
तथा करता है प्रणिपात। नमस्कार देव ॥ २६ ।

वह रूप ऐसा अद्भुत। आश्चर्य स्फूर्त जो अनंत।
पुनः पुनः कहता पार्थ। नमस्कार देव ॥ २७ ॥

अन्य स्तवन न सूझता। शांत रहना भी न होता।
ऐसा प्रेम भाव जगता। कहता नमस्कार ॥ २८ ॥

वास्तवमें ऐसा ही बार बार। नमन करता सहस्र बार।
फिर कहता है श्री चक्रधर। प्रणाम तेरे सम्मुख ॥ २९ ॥

देवका पेट पीठ है नहीं। इससे हमें लाभ भी नहीं।
फिर भी तेरी पीठको सही। नमस्कार स्वामी ॥ ५३० ॥

रहा है तू मेरे पीछेसे। तभी पीछे कहता तुझसें।
सम्मुख विमुख विश्वसे। होता नहीं तेरा ॥ ३१ ॥

भिन्न भिन्न अन्न अवयव। नहीं जान सकता मैं देव।
तभी नमन तुझको सर्व-। सर्वात्मक स्वामी ॥ ३२ ॥

देव ! तू अनंत बल-धाम। नमन है अमित विक्रम।
सकल काल सर्वत्र सम। सर्वेश देव ॥ ३३ ॥

अजी ! संपूर्ण अवकाशमें जैसे। आकाश ही अकाश रहता ऐसे।
सर्वत्वमें तू सर्व-व्यापी है वैसे। हुआ सर्व सर्व ॥ ३४ ॥

अथवा तू है केवल। सब ही सब अखिल।
क्षीरार्णवमें कल्लोल। क्षीरका जैसे ॥ ३५ ॥

इसीलिये हे देव। भिन्न नहीं तू सर्व।
हुवा है अनुभव। सर्व सर्व तू है॥ ३६॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥

किंतु तू है ऐसा महान। हमें नहीं इसका भान।
या तुझे आप्त ही मान। किया बर्ताव॥ ३७॥

हुई यह बडी अनुचित बात। लिया मैंने संमार्जनमें अमृत।
कामधेनु देकर किया स्वीकृत। गर्दभ-शावक॥ ३८॥

चट्टान मिला था हमको पारसका। तोडके आधार बनाया मकानका।
औ' काटकर बनाया सुर-तरुका। खोंडा बगियामें॥ ३९॥

हाथ लगी थी चिंतामणिकी खान। किया जो गोरु हांकनेका साधन।
वैसे तेरी समीपताके कारण। खोया महत्व॥ ५४०॥

यह क्या युद्ध तथा इसका मूल्य। परंतु है तू परब्रह्म अमूल्य।
फिर भी आज दिया है तुझे कार्य। सारथी बनाके॥ ४१॥

उन कौरवोंके घर। शिष्टाईमें चक्रधर।
बेचा है तू सर्वेश्वर। सामान्य बातमें॥ ४२॥

योगियोंका तू समाधिसुख। यह नहीं जनता मैं मूर्ख।
तेरा उपरोध मैं सन्मुख। तुझसे ही करता॥ ४३॥

समान माना अविनीत होके
हे कृष्ण हे यादव हे सखा जो।
न जानके ये महिमा तिहारी
प्रमाद या प्रेमसे ही पुकारा॥ ४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे आदि अनादि पुरुष ! तुझसे हंसी-विनोद किया क्षमा कर —

इस विश्वका तू अनादिमूल । जहां जब मिला हंसीके बोल ।
बोला सगाईके नाते केवल । विनोदसे बहु ॥ ४४ ॥

आते थे हम जब तेरे सदन । पाते थे तुझसे ही बहु सम्मान ।
तो भी अति लगावसे जनार्दन । बैठते थे रूठके ॥ ४५ ॥

समझाना हमारे पांव छूकर । तुझसे है इस भांति चक्रधर ।
बैठते जैसे हटके रूठ कर । ऐसे किया बहुत ॥ ४६ ॥

आत्मीय-जन भावके नाते । उलटे हो हम थे बैठते ।
ऐसे प्रकार किसे सोहते । भूल हुयी स्वामी ॥ ४७ ॥

अरे ! कलाबाजी कर देवसे । आखाडेमें भिडते थे मस्तीसे ।
सतरंजमें आ अति-क्रोधसे । लड़ते थे देव ॥ ४८ ॥

जो चाहा जो तुझसे मांगना । तुझको ही उपदेश करना ।
" तुझसे क्या हमारा ! " भी बोलना । हमारी उद्दंडता ॥ ४९ ॥

ऐसे हैं हमारे अनंत अपराध । त्रिलोकमें नहीं समाते अगाध ।
तेरे चरण छू लेता कर सौगंध । था यह सब अज्ञानसे ॥ ५५० ॥

भोजनके समय देव । रखते स्मरण सदैव ।
किंतु मूर्ख मैं जो सगर्व । अडके बैठता ॥ ५१ ॥

खेला फिरा साथ जीमा कि सोया
एकांतमें या सबके समक्ष ।
तथा हंसी की तुझ तुच्छ माना
क्षमा करो भान तेरा किसे है ॥ ४२ ॥

जाके देवके अंतरगृहमें । खेलते शंका न लाता मनमें ।
इतना क्या लुढ़कता शैय्यामें । साथ ही देव ॥ ५२ ॥

कृष्ण कहके ही पुकारता । यादव कह तुझे देखता ।
अपनी सौगंध भी खिलाता । जाते हुए तुझे ॥ ५३ ॥

एकासन पर देव ! बैठना । सदैव तेरी अवज्ञा करना ।
अति-स्नेहसे ऐसा बरतना । हुवा देव ॥ ५४ ॥

इसीलिये यह क्या क्या सब । कहूं मैं स्वामी तुझसे अब ।
मैं हूं अपराध ढेर सब । रहा अनंत ॥ ५५ ॥

प्रभो तेरे सम्मुख या विमुख । की हैं भली बुरी बाते अनेक ।
मां जैसे निभाती है शिशुकी चूक । वैसे निभा लेना मुझे ॥ ५६ ॥

जब कभी ले आती है सरिता । गंदा पानीका प्रवाह बहता ।
तब कैसे सागर समा लेता । उलचास नहीं अन्य ॥ ५७ ॥

वैसे प्रीति या स-प्रमाद । मुझसे हुआ जो विरोध ।
या बोला कुछ भी मुकुंद । उपहासकी बात ॥ ५८ ॥

तथा देवके क्षमत्वसे क्षमा । आधार है जो सब भूत-ग्राम ।
इसीलिए है श्री पुरुषोत्तम । तुझसे मांगता अल्प ॥ ५९ ॥

तभी कर तू अप्रमेय । शरणागत धनंजय ।
जिसे तूने अपना लिया । क्षमा कर अपराध ॥ ५६० ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

तू है पिता स्थावर जंगमोंका
तू है बड़ा ही गुरु पूजनीय ।
त्रिलोकमें ना तुझ तुल्य कोई
कहांसे आये अनुमप्रभावी ॥ ४३ ॥

मुझे हुवा अब इसका ज्ञान । आना देवकी महिमा महान ।
देव है यहां उत्पत्ति स्थान । चराचरका सब ॥ ६१ ॥

हरिहरादि जो है समस्त । उनका तू परम दैवत ।
वेदोंका भी है जो ज्ञानदात । तू ही आदि-गुरु ॥ ६२ ॥

गंभीर है तू श्रीराम । विविध भूतैक सम ।
सकल गुण अप्रतिम । अद्वितीय ॥ ६३ ॥

कोई नहीं है तेरे समान । यह कहनेका क्या कारण ।
तुझसे ही हुवा है गगन । उसमें समाया विश्व ॥ ६४ ॥

ऐसे तेरे समान है अन्य कोई । कहनेमें वाणी अत्यंत लजाई ।
वहां अधिककी क्या बात आई । कहनेकी देव ॥ ६५ ॥

इसीलिये त्रिभुवनमें तू एक । कोई नहीं तुझसे अधिक ।
तेरा महिमा ही ऐसे अलौकिक । नहीं होता बखान ॥ ६६ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

ऐसे कह कर जो अर्जुन । करता दंडवत नमन ।
आया सात्विकताका उफान । लहराकर ॥ ६७ ॥

कहता तब प्रसीद प्रसीद । वाचा होती है अतीव गद्गद ।
उभार ले तू मुझे अपराध- । सागरसे देव ॥ ६८ ॥

विश्व-सुहृदको सगा मान । नहीं किया उचित सन्मान ।
तुझ ईश्वरमें सा-भिमान । किया प्रभुत्व ॥ ६९ ॥

इसीलिये मैं करता प्रणाम
प्रसन्न हो तू स्तवनीय देव ।
क्षमा करो जी मुझ पुत्र मान
सखा सखाको प्रिय ज्यों प्रियाको ॥ ४४ ॥

वर्णनीय तू प्रेमके कारण । करता सभामें मेरा वर्णन ।
तब सगर्व अपना बखान । करता मैं अधिक ॥ ७० ॥

ऐसे हैं कितने ही अपराध । उनकी मर्यादा नहीं गोविंद ।
क्षमा कर लक्ष लक्ष प्रमाद । प्रसाद रूप तू ॥ ७१ ॥

किंतु ऐसे विनय करनेमें । योग्यता कहां है देव मुझमें ।
शिशु जैसे पिताके दुलारमें । बोलता वैसे ही ॥ ७२ ॥

पिता पुत्रके अपराध । कितने भी हों वे अगाध ।
सहता है पिता निर्द्वंद्व । वैसे सह ले तू ॥ ७३ ॥

सखाकी उद्धतता । सखा शांत सहता ।
वैसे ही हे अनंत । सहन कर तू ॥ ७४ ॥

प्रियमें कभी सम्मान । न करता प्रिय जान ।
आप उठाये झूठन । क्षमा करोजी ॥ ७५ ॥

या होता जहां जी-लगे स्नेहीका मिलन । कहा जाता जीवन संकटमें कथन ।
ऐसा करनेमें वहां आत्म-निवेदन । न होता संकोच ॥ ७६ ॥

जिसने किया तन-मन अर्पण । प्रेमादर-युत पतिके चरण ।
मिलनसे होता सर्वस्व कथन । स्वाभाविक वैसे ॥ ७७ ॥

वैसे ही देव मैंने अब । कह डाला तुझसे सब ।
दूसरा हेतु रहा कब । अपना स्वामी ॥ ७८ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अपूर्व देखा अपरूप दृश्य
तो भी बना व्याकुल चित्त मेरा ।
मुझे बताओ प्रभु मूल रूप
प्रसन्न हो तू जगका निवास ॥ ४५ ॥

फिर भी किया मैंने देवसे प्यार । मांग की विश्व-रूपकी जिद्द कर ।
पूर्ण की जो माय-बाप बन कर । स्नेहार्थ देव ॥ ७९ ॥

गाछ जो सुर-तरुका । अंगनमें लगानेका ।
बाछा भी काम-धेनुका । दिया खेलने ॥ ५८० ॥

मेरा नक्षत्रोंका दांव लगाना । चंद्रको गेंद बनाके खेलना ।
ऐसी धुनको भी पूर्ण करना । माता बनकर ॥ ८१ ॥

अमृत-बिंदुके लिये करते यत्न । उसकी वर्षा चारमास रात दिन ।
जिससे हर बालका जो कणकण । चिंतामणि हुवा ॥ ८२ ॥

तूने ऐसा कृतार्थ किया । बहु अधिक स्नेह दिया ।
परम-ब्रह्मको दिखाया । जो नहीं सुनाथा ॥ ८३ ॥

कैसा होगा इसका प्रत्यक्ष दर्शन । न होता उपनिषदोंको आकलन ।
हृदयकी ऐसी जो गिरह महान । मुझसे खोली प्रभु ॥ ८४ ॥

देव ! कल्पके आदिसे । इस क्षण तक ऐसे ।
हुए मेरे कितनेसे । यहां जन्म ॥ ८५ ॥

किया मैंने इन जन्मोंका संपूर्ण । खोज खोज कर अवलोकन ।
विश्व-रूप-श्रवणका भी स्मरण । वहां नहीं मिला ॥ ८६ ॥

अजी ! बुद्धि-शक्ति या ज्ञान । न जाता जिसके अंगन ।
कल्पना भी अंतःकरण । कर न सकता ॥ ८७ ॥

तब इसका दर्शन होना । इसकी कैसी करें कल्पना ।
कभी न देखा या सुना । ऐसा हुवा कहीं ॥ ८८ ॥

ऐसा यह विश्व-रूप । दिखाया मुझे अनूप ।
जिससे स्वरूप-रूप । हुवा चित्त ॥ ८९ ॥

चतुर्भुज सौम्य रूप दर्शनकी कामना—

अब रही एक कामना । तुझसे सानंद बात करना ।
तथा सामिप्यको अनुभवना । आलिंगनसे ॥ ५९० ॥

इस रूपसे यह कैसे करना । तब किस मुखसे कहो बोलना ।
अनंतको कैसे अंकमें भरना । नहीं होता यह देव ॥ ९१ ॥

तमी वायुके साथ दौडना। गगनको आलिंगन देना।
अथवा जल-क्रीडा करना। महा-सागरमें ॥ ९२ ॥

ऐसे करनेमें देव। भय-ग्रस्त होता जीव।
विश्व-रूप तू केशव। समेट लेना ॥ ९३ ॥

घूम फिर देखना चराचर। सुखसे रहनेमें होना घर।
वैसे चतुर्भुज है मनोहर। निवास देव ॥ ९४ ॥

योगाभ्यासका अनुभव। शास्त्राध्ययनका भी देव।
अंतिम सिद्धांत केशव। यही एक ॥ ९५ ॥

हमने यज्ञ किये सकल। उस फलका भी यही फल।
दान-पुण्यका भी है केवल। यही कारण ॥ ९६ ॥

अन्य दान-पुण्यका कारण। तीर्थ-यात्रादि जो है साधन।
इसका कारण है दर्शन। चतुर्भुजका सतत ॥ ९७ ॥

चतुर्भुज दर्शनका जो चाव। बनाता उतावला केशव।
वह व्याकुलता वासुदेव। दूर कर सत्वर ॥ ९८ ॥

अजी! अंत:करणका ज्ञाता। सकल विश्वका रचयिता।
पूंजित देवोंसे भी पूजित। तु हो प्रसन्न ॥ ९९ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्र बाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

जैसे नीलोत्पल रंजन। रंगता जो सदा गगन।
तेजका ओज देता रत्न। इंद्र-नीलको ॥ ६०० ॥

हो तू गदा चक्र किरीट-धारी
चाहूँ यही मैं तव रूप देखुं।
संवार कर तू अनंत बाहू
चतुर्भुजा रूप बन विश्व-मूर्ते ॥ ४६ ॥

या परिमल आया मरगज । आनंदमें उमड आये भुज ।
गोदमें खेला सो मकरध्वज । हुवा सुंदर ॥ १ ॥

अजी ! मस्तकपर रखा मुकुट । मस्तक बना-मुकुटका मुकुट ।
श्रृंगारमें हुवा सौंदर्य प्रकट । शरीरसे ही ॥ २ ॥

जैसे इंद्र-धनुषका जो वर्तुल । घेरता मेघको गगन-मंडल ।
वैसे देवके शरीरको शामल । माला वैजयंती ॥ ३ ॥

कैसी वह है उदार गदा । मोक्ष देती असुरोंको सदा ।
वैसे ही चक्र वह गोविंद । सोहता सौम्य तेजसे ॥ ४ ॥

वैसे ही रूप शाम-सुंदर । देखनेको शिशु है आतुर ।
इसीलिये प्रभु तू सत्वर । बन जा वैसे ॥ ५ ॥

विश्व-रूपका उत्सव देख । शिथिल हुई है मेरी आंख ।
अब हुई हैं अति उत्सुक । कृष्ण-मूर्तिके लिये ॥ ६ ॥

कृष्ण-रूप वह जो साकार । उसके विना सूना संसार ।
विश्व-रूप भी जो है असार । मानती आंखें ॥ ७ ॥

भोग मोक्षमें हमें कभी कहीं । श्रीमूर्तिके विना कुछ भी नहीं ।
इसीलिये अब साकार होई । समेटले यह रूप ॥ ८ ॥

भगवान उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवानने कहा

प्रसन्न होके निज-योग द्वारा
तुझे दिखाया यह विश्वरूप ।
अनंत तेजोमय आद्य पूज्य
देखा किसीने तुझसे न पूर्व ॥ ४७ ॥

अर्जुनका गंवारापन—

सुन अर्जुनकी यह बात। विश्व-रूप हुवा जो विस्मित।
कहता ऐसा अव्यवस्थित। देखा न कोई ॥ ९ ॥

कैसी वस्तु हुई यह प्राप्त। इस लाभसे न होता मुदित।
कैसे भयसे करता बात। सनकी बनकर ॥ ६१० ॥

होते जब हम सहज प्रसन्न। निहाल कर देते हैं तन मन।
किसे देना यह वैभव अर्जुन। ऐसा कभी हुवा क्या ॥ ११ ॥

अपना सर्वस्व बटोर। खड़ा किया यह सुन्दर।
तेरे लिये है धनुर्धर। विश्व-रूप ॥ १२ ॥

यही जो अपर अपार। स्वरूप मेरा परात्पर।
यहींसे सब अवतार। कृष्णादिक ॥ १३ ॥

तेरे चाहके ही कारण। पगलाई है कृपा जान।
औ' इस गौप्यका महान। ध्वज उभारा ॥ १४ ॥

ज्ञान-तेजसे जो निखिल। यह विश्वात्मक केवल।
अनंत रूप है अचल। सबका आद्य ॥ १५ ॥

तेरे बिना यह अर्जुन। किसीने न देखा सुना जान।
नहीं इसके योग्य साधन। इसीलिये ॥ १६ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

धोखाइसे वेद न यज्ञ द्वारा
या दान देके ना उग्र तपसे।
तेरे बिना दर्शन है किसीको
हुवा नहीं जो जगमें अशक्य ॥ ४८ ॥

इसकी खोजमें जो गये। वेद वे मौन बैठ गये।
यज्ञ वैसे ही लौट आये। स्वर्गसे ही ॥ १७ ॥

साधकोंने देखा मात्र त्रास। इसीलिये सूखा योगाभ्यास।
तथा स्वाध्यायमें न सौरस। रूप-दर्शनका ॥ १८ ॥

पूर्ण आचरित सत्कर्म। दौडे हो अतीव संभ्रम।
करके अतिशय श्रम। पाया सत्यलोक ॥ १९ ॥

तपने देखा प्रभुत्व। छोडा अपना उग्रत्व।
तप-साधनसे तत्व। रहा अपरांतर ॥ ६२० ॥

वह तूने यहां अनायाससे। देखा स्वाभाविक ही उल्हाससे।
मनुष्य-लोकमें किसीको वैसे। असंभव जान ॥ २१ ॥

ध्यान-रूप संपत्तिके कारण। तू एकमेव है यहां अर्जुन।
ऐसा नहीं परम-भाग्यवान। ब्रह्मदेव भी ॥ २२ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम्
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अर्जुनका अनाडीपन—

तभी यह विश्व-रूप महान। इसका तू भय नहीं मान।
इससे कुछ भी श्रेष्ठ महान। अपने चित्तमें ॥ २३ ॥

अजी! छलक रहा अमृत सागर। भाग्यसे पहुंचा कोई उसके तीर।
तब मरनेके भयसे तजकर। भागेगा क्या वहांसे ॥ २४ ॥

धरो नहीं व्याकुल मूढ भाव
निहार मेरा यह घोर रूप।
भय छोड़ तू हो प्रसन्न-चित्त
निहार मेरा प्रिय पूर्व रूप ॥ ४९ ॥

अथवा देखा सुवर्णका टीला । उसको उठावूं मैं कैसे भला ।
कहके यह उसे छोड चला । ऐसे होता क्या ? ॥ २५ ॥

अथवा मानो चिंतामणि मिला । इस बोझको उठावूं क्यों भला ।
कामधेनु पालनेका झमेला । कह छोडेगा कोयी ? ॥ २६ ॥

अथवा घरमें आया चन्द्रमा । इससे होता है बडा ही उष्मा ।
या सूर्यसे होती छायाकी कालिमा । मान तजेंगे क्या ? ॥ २७ ॥

वैसे ऐश्वर्य जो है महा-तेज । आया तेरे हाथमें जो सहज ।
और तू अकुलाया अचरज । कहना क्या ? ॥ २८ ॥

अरे ! है तू कितना गंवार । तुझे कहूं क्या मैं धनुर्धर ।
गले मिलता छोड शरीर । छायाके तू ॥ २९ ॥

विश्व-रूप मेरा निज-रूप । वहां बनाकर मन विरूप ।
प्रेम करता है तू क्षुद्र-रूप । चतुर्भुजसे ॥ ६३० ॥

इतने पर भी छोड तू पार्थ । विश्व रूपकी यह अनास्था ।
इसके विषयमें धर आस्था । श्रद्धा-पूर्वक ॥ ३१ ॥

यदि विश्व-रूप है भयंकर । न दीखता उसका ओर छोर ।
किंतु है वह निश्चयका घर । उपासनामें ॥ ३२ ॥

जैसे है कृपणकी चित्तवृत्ति । गढे धनमें उलझी रहती ।
केवल शरीर करता कृति । करना वैसे ॥ ३३ ॥

अथवा अपने चकुलेमें सब जीव । उलझाकर उडती पक्षिणी सदैव ।
अंतरिक्षमें करने अपना निभाव । लाचारीसे ॥ ३४ ॥

अथवा गाय चरती है बाहर । मन लगा है बछडेके ऊपर ।
वैसे तू नित्य इसपे प्रेम कर । अपने स्वामित्वसे ॥ ३५ ॥

वैसे सामान्य चित्त । सख्य-सुख निमित्त ।
पूज तू मूर्तिमंत । चतुर्भुज ॥ ३६ ॥

किंतु कहता हूं सुन अर्जुन । यह बात कभी नहीं न भूलना ।
इस स्वरूप विषय भावना । करना स्थिर ॥ ३७ ॥

कभी किसीने जो देखा नहीं था। सो देख तू भय-भीत हुवा था।
संचित प्रेम-सर्वस्व जो भी था। रख वह यहीं पर ॥ ३८ ॥

अब तू जैसा ही है कहता। वैसे शांत रूप मैं धरता।
विश्वतोमुख यह कहता। तू निहार अब ॥ ३९ ॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

विश्वरूप विसर्जन --

ऐसा वाक्य कह वह तत्क्षण। मनुष्य हुवा देव विलक्षण।
कहें क्या प्रेमका वह लक्षण। लीला-कौतुक ॥ ६४० ॥

श्रीकृष्ण है कैवल्यधाम प्रकट। देता है सर्वस्व विश्व-रूप श्रेष्ठ।
किंतु न भाता अर्जुनको जो शिष्ट। वह रूप अद्भुत ॥ ४१ ॥

जैसे कोई वस्तु लेकर लौटाना। रत्नोंका खोट निकालते बैठना।
अथवा कन्या देखकर कहना। यह मन-भाया नहीं ॥ ४२ ॥

दिखा दी उसको विश्व रूपकी जो दशा। इससे दीखता प्रेम विकास है कैसा।
देवने दिया रहस्यमय उपदेश। धनंजयको ॥ ४३ ॥

सुवर्णका छड गलाकर। किया जो आभूषण सुन्दर।
नहीं हुवा उसका स्वीकार। गलाया पुनः ॥ ४४ ॥

संजयने कहा

ऐसा कहा श्रीहरिने तुरंत
तथा दिखाया वह पूर्व-रूप।
आश्वस्थ करने डरे हुएको
हुवा पुनः सौम्य उदार देव ॥ ५० ॥

वैसे शिष्यके प्रेममें आकर। कृष्णत्वको पूर्ण गलाकर।
लिया जो विश्व-रूप भयंकर। बना फिर श्रीकृष्ण ॥ ४५ ॥

अजी! शिष्यका दिया यह त्रास। सहनेवाले गुरु कहां कौन देश।
न जाने कैसे हरिका प्रेम-विकास। कहता है संजय ॥ ४६ ॥

विश्व-रूपका यह योग विस्तार। समा लिया अपनेमें ही सत्वर।
तथा प्रकटा कृष्ण-रूप सुन्दर। क्षण भरमें ॥ ४७ ॥

जैसे त्वं पद होता संपूर्ण। तत् पदमें लीन सर्व रूपेण।
वृक्ष मिटा होता बीज-कण। यह उसी भांति ॥ ४८ ॥

अथवा स्वप्न-संभ्रम जैसा। निगलता जागृत जीव-दशा।
श्रीकृष्णने योग-विस्तार वैसा। समा लिया अपनेमें ॥ ४९ ॥

जैसे सूर्यादिका तेज बिंबमें। घनादिका जल गगनमें।
ज्वारका जल सब समुद्रमें। वैसे नरेंद्र ॥ ६५० ॥

अथवा कृष्ण रूपका थान। खोल दिया विश्व-रूप दर्शन।
दिखाता स-कौतुक जनार्दन। प्रिय अर्जुनको ॥ ५१ ॥

मानो तब उसका आकार प्रकार। गाहक कहता है देखकर।
यह नहीं हमारे मन अनुसार। और समेटा थान ॥ ५२ ॥

अपना पसारा फैलाकर। विश्वको किया सहज पार।
उसे समेट हुवा साकार। बना मन-मोहन ॥ ५३ ॥

वह भाग्य अर्जुनको मिला जो किसीको नहीं मिला था—

अथवा हुवा अनंत। जैसे था बना जो सांत।
पार्थको करने शांत। था जो अधीर ॥ ५४ ॥

जैसे देखता है स्वर्ग स्वप्नमें। जगते ही पाता बिछावनमें।
ऐसे ही पार्थको क्षण-भरमें। हुवा अति विस्मय ॥ ५५ ॥

अथवा गुरु-कृपासे संपूर्ण। प्रपंच-ज्ञान होता है क्षीण।
तथा होता पर-ब्रह्म स्फुरण। वैसा देखा कृष्ण-रूप ॥ ५६ ॥

सोचता था पार्थ चितमें एक। विश्व-रूपके परदेको रोक।
वह गया बड़ा ही हुवा नेक। मेरे हितमें ॥ ५७ ॥

आया जैसे कालको जीतकर। अथवा बवंडर चीरकर।
या सप्त-सागर तैरकर। अपने बाहूसे ॥ ५८ ॥

उसे हुवा ऐसा अति-संतोष। माना पार्थने परम-उल्लास।
देख कर श्रीकृष्णको स-हास। विश्व-रूपके नंतर ॥ ५९ ॥

सूर्यके होते ही अस्तमान। नक्षत्रोंसे भरता गगन।
वैसे देखने लगा अर्जुन। लोगों सह पृथ्वी ॥ ६६० ॥

देखता वैसे ही कुरु-क्षेत्र। दोनों ओर हैं वैसे सगोत्र।
रण-सज्ज वीर ले शस्त्रास्त्र। चलाते हुए ॥ ६१ ॥

रण-मध्यमें वहां सब शांत। वैसा ही रथ खडा है रक्षित।
बैठा है उसमें श्रीलक्ष्मी-कांत। अपने पास ॥ ६२ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

एवं पहले जैसे था वैसे। देखा यह वीर्य-विलाससे।
फिर कहता जिया मैं ऐसे। हुवा अब ॥ ६३ ॥

बुद्धिको छोड कर ज्ञान। भयसे गया था जो वन।
अहंकार सह है मन। भाग गया था ॥ ६४ ॥

इन्द्रियां प्रवृत्ति भूल गयी थीं। भाषा प्राणसे वंचित हुई थीं।
शरीर-ग्राममें अव्यवस्था थी। अभूतपूर्व ॥ ६५ ॥

हुवे वे सब अब प्रफुल्लित। प्रकृति हुई फिरसे जीवित।
अब हुवा पुनरुज्जीवित। ऐसे लगता मुझे ॥ ६६ ॥

जीवने ऐसा सुख पा लिया। फिर कृष्णसे है कह दिया।
मैंने तेरा वह जो पा लिया। यह मानवी रूप ॥ ६७ ॥

अर्जुनने कहा

देखके यह जो सौम्य मानवी-रूप माधव।
हुवा प्रसन्न औ' शांत आया मैं निज भावमें ॥ ५१ ॥

देवेश ! तूने यह रूप दिखाकर । मुझ राह भूले शिशुको बुलाकर ।
माताने मानो स्नेहसे गोद लेकर । कराया स्तन-पान ॥ ६८ ॥

अजी ! महा सागरमें विश्व-रूपके । जूझ रहा था हमलोंसे तंरगोंके ।
अब पा लिया किनारा निज-मूर्ति के । दर्शनानुग्रहसे देव ॥ ६९ ॥

सुन तू यह द्वारकापुराध्यक्ष । विश्व रूपसे मानो सूखा था वृक्ष ।
इस दर्शनसे तूने की है रक्षा । प्रेम-मेघ-वर्षासे ॥ ६७० ॥

तृषार्थिको जैसे मिला अपार । लहराता अमृत-सिंधु तीर ।
जीनेका संदेह हुवा है दूर । इस दर्शनसे ॥ ७१ ॥

मेरे हृदयांगणमें आज । खिली आनंद-लता सहज ।
सुख-दर्शनका हुवा साज । मुझको तेरे ॥ ७२ ॥

भगवान उवाच
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

पार्थके ऐसे बोलको सुन । ऐसे क्यों कहता जनार्दन ।
तू आ-प्रेमका दृढ स्थान मान । विश्व-रूप वह ॥ ७३ ॥

सदैव यहां मूर्ति-दर्शन । करना केवल लेके तन ।
भूला तू मेरा यह कथन । सुभद्रापति ॥ ७४ ॥

केवल अनन्य भक्तिसे ही यह मिलता है—

अरे ! ऐसा कैसा तू अंधा अर्जुन । हाथ आया स्वर्गका मेरु महान ।
कहता है वह ओछा तेरा मन । यह है भ्रम-भाव ॥ ७५ ॥

रूप है जो मेरा विश्वात्मक । दिखाया तुझे प्रेम-पूर्वक ।
शंभूने किये तप अनेक । किंतु न पा सका वह ॥ ७६ ॥

तथा संकटमें अष्टांग-योगके । पडते हैं योगी आशासे इसके ।
किंतु नहीं पाते भाग्य दर्शनके । इसके कभी वे ॥ ७७ ॥

श्री भगवानने कहा

देखा तूने वह मेरा अति दुर्लभ दर्शन ।
चाहते देव भी नित्य वह स्वरूप दर्शन ॥ ५२ ॥

विश्व-रूप कभी किसी काल । देखेंगे अणुमात्र केवल ।
इस आशासे देव सकल । करते हैं चिंतन ॥ ७८ ॥

अंजली जैसे आशाकी । माथे पर ले सदाकी ।
निहारते आकाशकी । राह चातक ॥ ७९ ॥

ऐसे उत्कंठासे भरकर । देखते हैं सदा सुर नर ।
निहारते हैं आठो प्रहर । उसके दर्शनार्थ ॥ ६८० ॥

फिर भी विश्व-रूप सरीखा । स्वप्न भी किसीने नहीं देखा ।
प्रत्यक्ष मिला जो वह सुख । तुझको यहां ॥ ८१ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

वहां पहुंचनेका साधन । कोई नहीं जान तू अर्जुन ।
वेद सहित षड्दर्शन । व्यर्थ है वहां ॥ ८२ ॥

करने विश्व-रूप दर्शन । करनेमें सब तपको जान ।
अशक्य पानेमें वह स्थान । धनंजय ॥ ८३ ॥

तथा जैसे देखा तूने सविस्तर । वैसे ज्ञान यज्ञसे भी धनुर्धर ।
निहारना जान तू अति दुस्तर । किसीको भी ॥ ८४ ॥

इसका है एक ही प्रकार । सुन तू यह चित्त देकर ।
चित्त करता जब स्वीकार । भक्तिको नित्य ॥ ८५ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

वह भी भक्ति है कैसी । वर्षा न जानती जैसी ।
दूसरा आसरा वैसी । धरती बिन ॥ ८६ ॥

तप यज्ञ किया दान तथा अभ्यास वेदका ।
तो भी दर्शन है मेरा अशक्य जो तुझे मिला ॥ ५३ ॥

अनन्य भक्तिसे शक्य मेरा है ज्ञान दर्शन ।
तत्वता जानना पाना प्रवेश मुझमें फिर ॥ ५४ ॥

या सकल जल संपत्ति । लेकर सागरमें जाती ।
जैसे गंगा अनन्य-गति । लय हो मिलती है ॥ ८७ ॥

वैसे सर्व भाव सहित । होकर अति स्नेह-सिक्त ।
रहना मुझमें हो रत । मेरे ही रूपमें ॥ ८८ ॥

तथा मैं रहता ऐसा । क्षीर-सागरमें है जैसा ।
तटपे मध्यमें एकसा । रहता है दूध ॥ ८९ ॥

मुझसे चींटी पर्यंत । चराचरमें समस्त ।
भजनमें नहीं भ्रांत । होता कभी ॥ ६९० ।

उसी क्षणसे है होती । विश्व-रूपकी प्रतीति ।
नयन सम्मुख आति । मूर्ति विश्व-रूपकी ॥ ९१ ॥

इंधनसे जैसे अग्नि प्रदीप्त । होनेसे होता इंधन समाप्त ।
तथा इंधन ही अग्नि बन व्याप्त । होता है वैसे ॥ ९२ ॥

सूर्यके अभावसे जैसे अंबर । बन जाता है स्वयं ही अंधकार ।
सूर्योदयसे होता है तेजाकार । पूर्णरूपसे वह ॥ ९३ ॥

वैसे है मेरा साक्षात्कार । दूर करता अहंकार ।
तथा मिटता द्वैताकार । सहज भावसे ॥ ९४ ॥

फिर मैं वह यह संपूर्ण । बनता है जो एक रूपेण ।
तथा एक भाव एक गुण । होता है समरस ॥ ९५ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

मेरे लिए ही जो सतत । करता कर्म समर्पित ।
मेरे बिन उसे जगत । लगता सूना ॥ ९६ ॥

दृश्यादृश्य उसे सकल । जो कुछ है मैं ही केवल ।
उसका जीनेका जो फल । मेरा ही नाम ॥ ९७ ॥

मग्न जो कर्ममें मेरे भक्तिसे है भरा हुवा ।
असंग सर्व-निर्वैर पाता हो मुझ मत्पर ॥ ५५ ॥

प्राणि-मात्रोंकी बातको भूल। सर्वत्र देखता मुझे ही केवल।
इसीलिये होता निर्वैर सकल। विश्वको भजता ॥ ९८ ॥

अजी! होता है जो ऐसा भक्त। होनेपे उसका देह-पात।
मैं ही हो जाता है वह पार्थ। पूर्ण रूपसे ॥ ९९ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका—

ऐसा वह विश्वोदर तोंदल। वैसे ही करुणा-रस रसाल।
श्रीकृष्ण बोला ऐसे मधुबोल। कहता संजय ॥ ७०० ॥

सुनकर यह पांडुकुमार। आनंद-संपदामें भरकर।
श्रीहरि पद-कमल-भ्रमर। मान अपनेको ॥ १ ॥

उसने देखली वे दोनो मूर्ति। अपने चितमें भरी आकृति।
तब विश्व-रूपसे कृष्णाकृति। लगी सुंदर ॥ २ ॥

किंतु उसका बना जो ज्ञान। अमान्य करता जनार्दन।
व्यापकसे न होता महान। कभी रूप एक ॥ ३ ॥

करनेमें समर्थन। इसका श्री भगवान।
कहता है दो वचन। अर्जुनसे ॥ ४ ॥

उन्हे सुनकर अर्जुन। चितमें करता चिंतन।
इसमें बड़ा है कौन। पूछें इनसे ॥ ५ ॥

ऐसा सोचकर चितमें पार्थ। करेगा प्रश्न जो अब उचित।
सुनेंगे अब हम जो खचित। अगले निरूपणमें ॥ ६ ॥

प्रांजल ओवी प्रबंध। कहा मैंने स-विनोद।
यह निवृत्ति प्रसाद। कहे ज्ञानदेव ॥ ७ ॥

भरके सद्भावनाकी अंजली। मैंने ओवी सुमन भरी खुली।
अर्पण की है चरण युगलीं। विश्व-रूपके ॥ ८ ॥

गीता श्लोक ५५

ज्ञानेश्वरी ओवी ७०८·



१२

भक्तियोग

मातृ-रूपसे गुरुका वन्दन—

जय-जय हे शुद्धे । उदारतम प्रसिद्धे ।
अनवरत आनन्दे । वर्षा कर ॥ १ ॥

विषयव्यालका जकडनव । विषतम भ्रमका अंजन ।
गुरु-कृपाके स्निग्ध-नयन । निर्विष करेंगे ॥ २ ॥

झुरसा हो कैसे ही तापमें । या जला हो कैसे हि शोकमें ।
तव कृपा-रस-कल्लोलमें । होंगे शीतल ॥ ३ ॥

अजी ! योग-सुखका उमंग । तव स्नेह-रसके तरंग ।
सोऽहं सुख सिद्धिसें अंतरंग । भर देते हैं ॥ ४ ॥

आधार शक्तिकी गोदमें । बढाती प्रेम-सुख-मोदमें ।
हृदयाकाश पालनेमें । झुलाती सदा ॥ ५ ॥

उतारती प्रागज्योतिकी आरति । मन पवन खिलौनोंसे खिलाती ।
आत्म-सुख अलंकारसे सजाती । बालकको नित ॥ ६ ॥

सत्रहवींका स्तन्य देती । अनाहतके गीत गाती ।
समाधि-बोधमें सुलाती । समझाके ॥ ७ ॥

तभी तू साधकोंकी मां कहलाती । चरणमें साहित्य-लता खिलती ।
तव चरण तलकी छाया ही गति । सर्वदा मुझे ॥ ८ ॥

अजी ! सद्‌गुरुकी कृपा-दृष्टि । तव कारुण्य जिसकी अधिष्ठी ।
सकल विद्याओंकी जो सृष्टि । धात्री ही है ॥ ९ ॥

तभी हे अंबे श्रीमंते । निज-जन कल्पलते ।
आज्ञा दे तू मुझे माते । ग्रन्थ-निरूपणकी ॥ १० ॥

नव-रसके भरे सागर । जो हैं महा रत्नोंके आगर ।
भावार्थके ऊँचे गिरिवर । उठ आयेंगे ॥ ११ ॥

साहित्य सुवर्णकी खान । हो देश-भाषाका अंगन ।
विवेक-वल्लीका उद्यान । लगे सर्वत्र ॥ १२ ॥

संवाद-फल निधान । प्रमेयोंका उपवन ।
लगे सर्वत्र गहन । निरंतर ॥ १३ ॥

पटे पाखंडकी खायी महान । मिटे वाग्वाद सब अर्थ-शून्य ।
भगे कुतर्कके दुष्ट-श्वान । सदाके लिए ॥ १४ ॥

मेरा चित्त सदैव श्री कृष्ण गुणवर्णनमें समर्थ हो—

श्रीकृष्ण-गुणगानमें चित्त । रहे मेरा सर्वदा समर्थ ।
श्रोता श्रवणासनपे रत । रहे निरंतर ॥ १५ ॥

त्रिभुवनके सभी नगर । बने ब्रह्मविद्याका आगर ।
लेन-देनका रहे आधार । सुविचार मात्र ॥ १६ ॥

मां अपने स्नेहांचलमें । संभालो सर्वदा गोदमें ।
वहां यह सब लीलामें । उपजाऊँ मैं ॥ १७ ॥

इस विनयसे रीझ उठी । श्रीगुरुकी अनुग्रह-दृष्टि ।
कहा कर अब गीता गोष्टि । न बोल अन्य ॥ १८ ॥

वहांका यह महा-प्रसाद । पाकर हुआ महदानन्द ।
अब कहूँगा गीता-प्रबंध । सुनियेजी ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ।

विलीन तुझमें होके भजता भक्त जो तुझे ।
कोई अक्षर अव्यक्त योगीमें श्रेष्ठ कौन हैं ॥ १ ॥

ईश्वर प्राप्तिके दो मार्ग—

तब सकल वीराधिराज। सोम-वंशका विजयध्वज।
बोलने लगा वह आत्मज। पांडु नृपतिका ॥ २० ॥

कृष्ण! मैंने किया श्रवण। तथा विश्वरूप दर्शन।
भय-ग्रस्त हुआ जी मन। देख अद्भुत ॥ २१ ॥

कृष्ण-मूर्तिका हैं रूप सुन्दर। जिसका किया चितने आधार।
श्रीकृष्ण तूने ना कहकर। दूर किया मुझसे ॥ २२ ॥

अजी! व्यक्त तथा अव्यक्त। एकमात्र तू है निभ्रांत।
भक्तिसे जो मिलता व्यक्त। अव्यक्त योगसे ॥ २३ ॥

अजी! ये हैं दो ही पथ। दर्शनार्थिको उचित।
द्वारमें व्यक्त अव्यक्त। पहुंचाते जो ॥ २४ ॥

कस होता है जो तोला स्वर्णका। वही कस होता एक रत्तिका।
इसीलिए जो है एक व्यापक। दूसरा है सीमित ॥ २५ ॥

जो महानता अमृत व सिंधुकी। वही शक्ति है अमृत-बिंदुकी।
करनेसे आचमन दोनोंकी। मिलती एकसे जो ॥ २६ ॥

इन दोनोंसे तत्वतः तुझे कौन जानता है ?—

बात है यह मेरा चित्त। प्रतीत करता निश्चित।
जानना चाहूं तेरा मत। योगेश्वर ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण तूने क्षण एक। स्वीकार किया जो व्यापक।
यथार्थमें था या कौतुक। जिज्ञासासे ॥ २८ ॥

तेरे लिए ही सब कर्म। तु ही है जिनका परम।
भक्तका यह मनोधर्म। सर्व-समर्पण ॥ २९ ॥

तथा अन्य सब भांति। तुझको ही मान गति।
दृढ़ कर यह मति। भजते तुझे ॥ ३० ॥

तथा जो प्रणवके उस पार। वैखरीके लिए भी जो है पर।
उपमा रहित औ' निराकार। वस्तु है जो ॥ ३१ ॥

वह है अक्षर औ' अव्यक्त । तथा निर्देश देश रहित ।
तत्वऽमसि भावसे पूजित । ज्ञानियोंसे ॥ ३२ ॥

योगी या भक्तमें तत्वता । तुमको कौन है जानता ।
कह तू मुझको अनंता । इस समय ॥ ३३ ॥

सुन अर्जुनकी यह बात । जगद्‌बन्धु हो प्रसन्न चित्त ।
कहे करना प्रश्न उचित । जानता तू ॥ ३४ ॥

भगवान उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

दिन रात मेरा चिंतन करनेवाला भक्त मुझे जानता है —

जैसे अस्ताचलके समीप । गये रवि-बिंबके आतप ।
रविके पीछे अपने आप । चलता वैसे ॥ ३५ ॥

वर्षा-ऋतुकी जो सरिता । चढ़ती जाती पांडुसुता ।
वैसी नित्य-नूतन आस्था । दीखे भजनमें ॥ ३६ ॥

मिलन स्थलमें जैसे सागर । गंगा-प्रवाह होता अनिवार ।
वैसा आता है अनिवार पूर । प्रेम-भावका ॥ ३७ ॥

वैसे जो सर्वेंद्रिय सहित । नित रहता मुझमें रत ।
स्मरता रहता दिन-रात । न जानकर भी ॥ ३८ ॥

इस प्रकार है जो भक्त । कर सर्वस्व समर्पित ।
उसको ही मैं योगयुक्त । मानता श्रेष्ठ ॥ ३९ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

मुझमें मनको रोप भजता नित्य जो मुझे ।
जुडा परम श्रद्धासे उसे मैं श्रेष्ठ मानता ॥ २ ॥

जो है अचिंत्य अव्यक्त सर्व-व्यापी अवर्णित ।
नित्य निश्चल निर्लिप्त जो अक्षर उपासता ॥ ३ ॥

निराकारका योग-मार्ग—

तथा अन्य है जो पांडव। आरूढ़ होके सोऽहं भाव।
उलझते निरवयव। अक्षरसे ॥ ४० ॥

जहाँ मनकी रसाई नहीं होती। बुद्धिकी दृष्टि भी नहीं पहुँचती।
वहाँ होगी इन्द्रियोंकी कौन गति। कह तू अर्जुन ॥ ४१ ॥

ध्यानमें भी वह आना कठिन। होता नहीं उसका एक स्थान।
न होता उसका आकार गुण। इससे ही ॥ ४२ ॥

जिसका सर्वत्र सर्व काल। रहना सदैव सर्व-स्थल।
देख होती कुण्ठित सकल। चिंतन-शक्ति ॥ ४३ ॥

जिसका आदि अन्त है नहीं। तथा है नहींका पता नहीं।
जिसका कोई उपाय नहीं। जाननेका ॥ ४४ ॥

जो स्थिर ना चर। जर ना अजर।
पाया वह पर। जिन्होंने स्वयं ॥ ४५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

उनके वैराग्य महाज्वालसे। विषय-वाहिनीको जलानेसे।
अधजले इंद्रियोंको धैर्यसे। समेट लिया है ॥ ४६ ॥

फिर संयमके पाशमें। ऐंठके अंतर तममें।
इंद्रियाँ हृदय द्वारमें। बाँध रखीं ॥ ४७ ॥

लगाया अपानका जो द्वार। देकर आसन मुद्राधार।
मूलबन्धका सुदृढ़ घर। बना लिया ॥ ४८ ॥

तोड़ा लगाव चाहका। ढा दिया ढाँचा भयका।
मिटाया निद्रा-तमका। अंधियारा जो ॥ ४९ ॥

रोकता इन्द्रियां सारी सर्वत्र सम-बुद्धिसे।
पाते हैं मुझको ही वे विश्वके हितमें रत ॥ ४ ॥

महा ज्वालाओंसे वज्राग्निकी । होली कर अपान धातुकी ।
व्याधि-वर्ग मुंडोंसे पूजा की । शतघ्निकी ॥ ५० ॥

फिर मशाल कुण्डलिनीकी । आधारचक्र पर खड़ी की ।
राह बतायी ब्रह्म-रंध्रकी । उस प्रभाने ॥ ५१ ॥

नव-द्वारके किवाड पर । संयम सांखली लगाकर ।
खोला सुषुम्ना गवाक्ष-द्वार । धनंजय ॥ ५२ ॥

तब प्राण-शक्ति चामुंडा । प्रहारसे संकल्प भेड ।
मन महिषासुर मुंड । लेती है बलि ॥ ५३ ॥

इडा पिंगलाका ऐक्य कर । अनाहद नाद जगाकर ।
जीत लिया इन्द्रामृत नीर । उसी क्षण ॥ ५४ ॥

फिर मध्यमा मध्य विवर । जिसका द्वार अति सुन्दर ।
खोलके ब्रह्मरंध्र शिखर । पालिया है ॥ ५५ ॥

सिवा मकारांत सोपान । छोड करके जो गहन ।
काँखमें ले शून्य गगन । पाया ब्रह्मैक्य ॥ ५६ ॥

ऐसे जो सर्वत्र समबुद्धि । निगल जानेमें सोऽहं सिद्धि ।
प्राप्त करते हैं निरवधि । योग दुर्ग ॥ ५७ ॥

अपनेको ही बेचकर । लेते हैं शून्य निराकार ।
वे भी पाते हैं धनुर्धर । मुझको ही ॥ ५८ ॥

अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासक भले-क्यों कि—

पाते हैं योग बलसे । विशेष हैं कछु ऐसे ।
नहीं कष्ट ही अधिकसे । पाते हैं वे ॥ ५९ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

विशेष क्लेश पाते हैं गूंथ अव्यक्तमें चित ।
होना अज्ञातमें बोध कठिन देह-धारिको ॥ ५ ॥

सकल भूतोंके हितार्थ । निरालंब औ' अव्यक्त ।
उसमें हुआ जो आसक्त । बिना भक्तिके ॥ ६० ॥

उसको इन्द्रादिक पद । करते हैं पथमें वध ।
तथा ऋध्दि-सिध्दियोंका द्वंद्व । बनते हैं रोडे ॥ ६१ ॥

काम-क्रोधके उत्पात । करते बडे आघात ।
तथा शून्यसे भिडन्त । नित है तनको ॥ ६२ ॥

प्याससे प्यास ही है पीना । भूखसे भूख ही है खाना ।
दिन रात हवा गिनना । हवासे ही ॥ ६३ ॥

सतत-जागृति जहां सोना । इन्द्रिय इन्द्रियको ही भोगना ।
वृक्षोंसे मैत्री करके बोलना । स्वभावसे ॥ ६४ ॥

शीतको बिछाना । तापको ओढना ।
घरमें हैं सोना । वर्षाके ॥ ६५ ॥

अथवा यह है धनंजया । अग्नि-प्रवेश है नित-नया ।
भ्रातर बिना ही पूर्णतया । करना ही योग ॥ ६६ ॥

न है यह स्वामीका काज । जिसमें मिलता स-व्याज ।
किंतु मात्र मृत्युसे झूज । नित्य-नयी ॥ ६७ ॥

ऐसा मृत्युसे भी जो भीषण । तप्त विष घूंटसे भी तीक्ष्ण ।
पहाड लीलनेमें आनन । न फटेगा क्या ? ॥ ६८ ॥

योगीका जो पथ । चलते हैं पार्थ ।
दुःख ही हैं साथ । उनके सदा ॥ ६९ ॥

अजी ! लोहेके ही चने । पडते हैं नित खाने ।
पेट भरने या मरने । क्या कहें इसे ? ॥ ७० ॥

बाहुसे तरना सागर । पैरोंसे गगन विहार ।
ऐसा ही है पांडुकुमार । बात जो यह ॥ ७१ ॥

बीच रण रंगमें जाकर । तनपे घाव न झेलकर ।
सूर्य मण्डलको भेदकर । आना कैसे ? ॥ ७२ ॥

पंगुकी बराबरी वायुसे। शरीरीकी निर्गुणमें वैसे।
प्रवेश है समान रूपसे। जान तू पांडव ॥ ७३ ॥

फिर भी करके साहस। लिपट लेते हैं आकाश।
जिससे पायेंगे वे क्लेश। निश्चित जान ॥ ७४ ॥

किंतु इस और पार्थ। न जाने क्या है व्यथा।
तभी है ये भक्ति पंथ। आते हैं जन ॥ ७५ ॥

भक्ति पंथ सरल है—क्यों कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥

कर्मेन्द्रिय यहां स-सुख। करती हैं कर्म विशेष।
प्राप्त हैं जो वर्ण विशेष। स्वभाव-जन्य ॥ ७६ ॥

विधिको है पालना। निषिद्धको त्यागना।
अर्पण कर जलाना। कर्म-फलको ॥ ७७ ॥

इस भांति कर समर्पण। कर्मका करते हैं क्षालन।
ऐसे करते कर्म अर्जुन। जो हैं भक्त ॥ ७८ ॥

दूसरे भी हैं जो जो सर्व। काया वाचा मनके भाव।
मेरे बिना नहीं है ठाव। कोई भी अन्य। ॥ ७९ ॥

ऐसे होके जो मत्पर। उपासते निरंतर।
जिससे हैं मेरा घर। ध्यानसे वे ॥ ८० ॥

उनकी रुचि चाह चाव। मेरे लिए ही है ये सर्व।
योग-क्षेम मोक्षादि भाव। त्यजे कुलादि मी ॥ ८१ ॥

ऐसा यह अनन्य-योग। न्योच्छावर मन प्राण अंग।
उनका क्या है एकेक भाग। करता हूं मैं सब ॥ ८२ ॥

किंतु जो सब ही कर्म करके मुझ अर्पण।
अनन्य भक्तिसे मेरा करते नित्य चिंतन ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

निष्काम भक्तसे मैं अत्यंत प्रेम करता हूँ—

अथवा जो पांडुकुमार । आता जो माताके उदर ।
उससे माता कैसे प्यार । करती है नित ॥ ८३ ॥

वैसा मैं करता उनसे । जहां वे जैसे रहते वैसे ।
कलिकालके परिहारसे । करता स्वीकार ॥ ८४ ॥

वैसा तो कभी मेरा भक्त । संसार चिंता नहीं करता ।
अजी ! क्या श्रीमंतकी कांता । मांगती कोरान्न ॥ ८५ ॥

वैसा वे सर्वदा सर्वत्र । माननाजी मेरा कलत्र ।
लजाऊँ ना मैं तिलमात्र । उनकी सेवामें ॥ ८६ ॥

जन्म-मृत्युके भंवरमें । देख डूबे हुए विश्वमें ।
उठे ये विचार मनमें । ऐसे सब ॥ ८७ ॥

भव सागरके खम्भारमें । भय न हो किसके हियमें ।
यहां यदि मेरे ही जनमें । होगी भीति ॥ ८८ ॥

इसीलिये मैं अर्जुन । रूप लेकर सगुण ।
जहां बसते सज्जन । आया वहां ॥ ८९ ॥

मेरे नाम हैं जो अनंत । नांव है यहां मूर्तिमंत ।
इसको लेकर मैं पार्थ । बना मांझी ॥ ९० ॥

थे जो परिग्रह रहित । उनको लगाया ध्यानार्थ ।
जो थे परिग्रह सहित । उनको नाममें ॥ ९१ ॥

प्रेमकी पेटी बांधकर । लाया किसीको तैराकर ।
पहुंचाया है तीर पर । सायुज्यके ॥ ९२ ॥

रोकता मुझमें चित्त उनको शीघ्र मैं स्वयम् ।
बिना विलम्ब उद्धार करता भव-सिंधुसे ॥ ७ ॥

जिसने पकडे मत्पाद। भले ही होवे चतुष्पाद।
उनको मिला महापद। मेरे सानिध्यका ॥ ९३ ॥

इसीलिए जी भक्त। नहीं होते चिंतित।
उनका समुद्धर्त। मैं हूं सदा ॥ ९४ ॥

तथा जबसे की भक्ति। दी मुझको चित्त-वृत्ति।
उनके फंदकी शक्ति। खींचती मुझे ॥ ९५ ॥

इस कारणसे अर्जुन। कर भक्तिका आचरण।
यह मंत्र रखो स्मरण। मनमें सदा ॥ ९६ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवासिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मन बुद्धि आदिका मुझमें लीन होनेसे मद्रूप हो जाता है—

अजी! मानस यह एक। मेरे स्वरूपमें वृत्तिक।
करके रख तू निष्कंक। निश्चित बुद्धिसे ॥ ९७ ॥

इन दोनों साधनसे। मुझमें रहे प्रेमसे।
मिलन होगा मुझसे। तेरा निश्चित ॥ ९८ ॥

मन बुद्धिने घर। किया मेरे भीतर।
रहा क्या भेद और। मेरे तेरेका ॥ ९९ ॥

जैसे ज्योति बुझने पर। मिट जाती कांति सत्वर।
या अस्त होते ही भास्कर। जाता प्रकाश ॥ १०० ॥

तजता जब तनको प्राण। निकल जाते सभी कण।
जहां मन-बुद्धिका गमन। वहां अहंकार ॥ १ ॥

इसीलिये मेरे स्वरूपमें। मन बुध्दिके रुत जानेमें।
होगा तू विश्व-वयापकतामें। मैं ही मान ॥ २ ॥

मनको मुझमें रोक बुद्धि भी मुझमें रख।
तभी तू फिर निःशंक पाएगा मम रूप ही ॥ ८ ॥

इस वचनमें कहीं । अन्यथा कछु भी नहीं ।
मेरी प्रतिज्ञा है यही । सौगंध पूर्वक ॥ ३ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

मद्रूपका क्षणिक अनुभव–अभ्यास-योग—

अथवा यह चित्त । मन बुध्दि सहित ।
मुझको अचुंबित । न दे सके तो ॥ ४ ॥

तब तो ऐसा कर । दिनमें क्षण भर ।
सबको भूलकर । रत हो मुझमें ॥ ५ ॥

जिससे तू निमिष एक । अनुभवेगा मेरा सुख ।
उससे होगा अरोचक । विषय-मात्र ॥ ६ ॥

जैसा शरत्काल आता । सूखते जाती सरिता ।
वैसी छूटेगी ममता । प्रपंचसे ॥ ७ ॥

फिर पूर्णमासीसे जैसे । शशि-बिंब लगता वैसे ।
अमावसमें पूर्णरूपसे । मिट जाता है ॥ ८ ॥

ऐसे वासनासे निकलकर । मुझमें चित्त चुभते जाकर ।
धीरे धीरे वह अर्जुन स्थिर । होगा मद्रूप ॥ ९ ॥

अजी ! अभ्यास योगका अर्थ । एक ही जो है सर्व समर्थ ।
जिससे न होगा कुछ प्राप्त । ऐसा नहीं ॥ ११० ॥

सुन अभ्यासका बल । देता गति अन्तराल ।
व्याघ्र सर्पको प्रांजल । करते इससे ॥ ११ ॥

विषका ही आहार बनता । सागरपे पगसे चलता ।
कोई वाग्ब्रह्मको ही जीतता । अभ्यास बलसे १२ ॥

करना चित्तको शांत असाध्य मुझमें तब ।
अभ्यास योगसे चाह तू मेरी प्राप्तिको कर ॥ ९ ॥

अभ्यासको कुछ नहीं । सर्वथा दुष्कर कहीं ।
इसलिए मुझमें ही । उससे रत हो ॥ १३ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

निराग्रह वृत्तिसे जीवन-यापन—

अथवा अभ्यासमें ऐसा । न आता साहस सहसा ।
तब रह अब है जैसा । अर्जुन तू ॥ १४ ॥

इन्द्रियोंका निग्रह न कर । विषय-भोग कम न कर ।
याभिमानका त्याग न कर । स्वजातिके ॥ १५ ॥

कर कुल धर्माचरण । विधि निषेधका पालन ।
तब भी सुखसे जीवन । चलता रहता है ॥ १६ ॥

किंतु काया वाचा मन । करता जो आचरण ।
उसका जो अहंपन । न मान तू ॥ १७ ॥

जिसको है विश्व चलाना । पूर्ण यह उसने जाना ।
करना या नहीं करना । उसका काम ॥ १८ ॥

उसमें कुछ जो न्यून पूर्ण । उससे अछूता रख मन ।
स्वजातिके लिए ही जीवन । देकर तू ॥ १९ ॥

जैसा ही माली चलाता ले जाता । वैसा ही पानी है सहज जाता ।
यदि तू वैसा ही करता जाता । निराभिमानसे ॥ १२० ॥

वैसे ही देख तू पार्थ । कैसा है अपना पथ ।
देखता क्या यह रथ । अल्पसा भी ॥ २१ ॥

तभी प्रवृत्ति या निवृत्ति । इससे दूर रख मति ।
तथा अखंड चित्त-वृत्ति । मेरे स्मरणमें ॥ २२ ॥

अभ्याससे न हो साध्य तब मत्कर्म आचर ।
मिलेगी तुझको सिद्धि सत्कर्म करने पर ॥ १०



जैसे वृक्ष अथवा वेल । गिरा देते हैं पक्व फल ।
वैसे तज दें फल सकल । कर्म सिद्धि के !! ज्ञा. १२-१२९

कर्म जो होता है तुझे प्राप्त। न मान तू अल्प या बहुत।
चुपचाप कर तू अर्पित। मुझको सदा ॥ २३ ॥

ऐसी ही भद्भावना। तन त्यागमें अर्जुना।
तू सायुज्य सदन। पायेगा मेरा ॥ २४ ॥

कर्म-रत रहकर कर्म फल समर्पण—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

न तो यह भी तुझे। न दे सके कर्म मुझे।
तब तू सतत मुझे। भजते जा ॥ २५ ॥

बुध्दिके पेट पीठमें। कर्मके आदि अंतमें।
मुझको जोड़ देनेमें। यदि है दुस्तर ॥ २६ ॥

तो यह भी रहने दो। मदर्पणकी जाने दो।
किंतु निग्रही होने दो। बुध्दि तेरी ॥ २७ ॥

और जैसे जिस काल। कर्म होते हैं सकल।
उसके वे सब फल। तजते जा ॥ २८ ॥

जैसे वृक्ष अथवा वेल। गिरा देते हैं पक्व फल।
वैसे त्यज दे फल सकल। कर्म सिद्धिके ॥ २९ ॥

मनमें मेरा करना स्मरण। अथवा मुझे करना अर्पण।
यदि है तुझे यह अग्रहण। जाने दे शून्यमें ॥ १३० ॥

जैसे पत्थर पे पड़ी वर्षा व्यर्थ। तथा आगमें हुई बुवाई व्यर्थ।
अथवा देखा हुआ स्वप्न है व्यर्थ। वैसा कर्म-फल ॥ ३१ ॥

अजी! जैसे आत्मजामें। जीव निष्काम मनमें।
वैसे सकल कर्ममें। अकाम होना ॥ ३२ ॥

ऐसा कर्म न होता तो मुझमें योग साधके।
यत्नसे छोड़ तू सारे कर्मके फल अर्जुन ॥ ११ ॥

जैसे उठती अग्नि-ज्वाल। आकाशमें व्यर्थ सकल।
वैसे लय हो कर्म-फल। शून्यमें ही ॥ ३३ ॥

अर्जुन यह जो फल त्याग। दीखता है अति असलग।
योगमें है यह महायोग। सर्वोत्कृष्ट ॥ ३४ ॥

फल-त्याग यह अविकार। जिससे न हो कर्म विस्तार।
अंकुरता वेणु एक बार। उसी भांति ॥ ३५ ॥

इस शरीरसे ही शरीर। पाना है रुकता बार बार।
पुनरागमनपे पत्थर। पड़ता मानो ॥ ३६ ॥

अभ्यासकी महता—

फिर अभ्यासका सोपान। सौंपता है ज्ञानका स्थान।
ज्ञानसे ध्यानका मिलन। सहज होगा ॥ ३७ ॥

ध्यानका तब आलिंगन। करते हैं भाव संपूर्ण।
रहते तब दूर जान। कर्म-जात ॥ ३८ ॥

जहां कर्म ही दूर है। फल-त्याग सरल है।
त्यागका जो सहज है। शांति-सुख ॥ ३९ ॥

शांतिके लिये है तब। अभ्यास करना अब।
क्रमगत ही है सब। सुभद्रापति ॥ १४० ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥

अभ्याससे भी गहन। अर्जुन फिर है ज्ञान।
ज्ञानसे भी है जो ध्यान। महत्वका ॥ ४१ ॥

फिर है कर्म-फल-त्याग। जो है ध्यानसे भी सुभग।
उससे श्रेष्ठ है जो भोग। शांति सुखका ॥ ४२ ॥

मिलता यत्नसे ज्ञान होती तन्मयता फिर।
तब पूर्ण फल-त्याग देता है शांति सत्वर ॥ १२ ॥

यह है ऐसा पथ। इस पथसे पार्थ।
शांतिका ही मध्यस्थ। प्राप्त करता है॥ ४३॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणा एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

भक्तकी स्थिति-गुण-विकास—

अजी प्राणि मात्रमें कहीं। द्वेषका जो नाम भी नहीं।
आप-पर-भाव भी नहीं। चैतन्यका-सा॥ ४४॥

उत्तमका करना स्वीकार। अधमका करें अस्वीकार।
नहीं जानती ऐसा प्रकार। जैसे धरणी॥ ४५॥

राजाके तनको चलाना। रंक-शरीरको हनना।
न सोचता कृपालु प्राण। वैसा ही वह॥ ४६॥

करें गायका तृषा-निवारण। विष बन व्याघ्रको दे मरण।
न जानता ऐसा एक भी क्षण। नदी-नीर॥ ४७॥

वैसे हैं सभी भूत-मात्र। उसके समान जो मित्र।
जैसे धात्रीको है सर्वत्र। सम-भाव॥ ४८॥

मैं तूकी भाषा बोलना। सुख-दु:खको जानना।
"मेरा" ऐसा भी कहना। नहीं है उसे॥ ४९॥

क्षमामें वैसी ही क्षमता। धरित्री समान योग्यता।
संतोष नित है बढ़ता। उसकी गोदमें॥ १५०॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

किसीका न करे द्वेष दया मैत्री बना क्षमा।
मैं मेरा सब भूला जो सहके सुख दु:खको॥ १३॥

सदा संतुष्ट जो योगी संयमी दृढ निश्चयी।
मन-बुद्धि मुझे देता भक्त है मुझको प्रिय॥ १४॥

वर्षा-ऋतुके बिना सागर । पूर्ण रहता आत्म-निर्भर ।
वैसा ही वह निरुपचार । सदा-संतुष्ट ॥ ५१ ॥

देकर अपनी सौगंध । देता है हृदयको बोध ।
इससे निश्चयमें बाध । न आता कभी ॥ ५२ ॥

हृदय-भुवनमें जिसके । एक ही आसन पे बैठके ।
शासन करते विराजके । जीव-परमात्मा ॥ ५३ ॥

ऐसी योग समृध्दि । पाकर निरवधि ।
चढाके मन-बुध्दि । मुझपे ही ॥ ५४ ॥

बाहर भीतर योग । शुद्धतामें भी सुभग ।
फिर भी ममानुराग । जिसे सप्रेम ॥ ५५ ॥

अर्जुन ऐसे जो भक्त । वही योगी तथा मुक्त ।
वह वल्लभा मैं कांत । ऐसे जान ॥ ५६ ॥

उससे मुझे जो प्रेम है । जीवनसे भी अधिक है ।
यह बात भी अपूर्ण है । कहूं कैसे ॥ ५७ ॥

अजी ! भक्तोंकी जो कहानी । मुझपे मोहके मोहिनी ।
अकथनीय है कथनी । कहलाती श्रद्धा ॥ ५८ ॥

इसीलिए जी हम । कह गये उपमा ।
वैसे तो वह प्रेम । रहता मौन ॥ ५९ ॥

रहने दो यह किरीटी । प्रिय जनोंकी यह जो गोष्टि ।
प्रेमसे जो पुलक उठी । अति वेगसे ॥ १६० ॥

उसपर भी हे पार्था । सकल संवाद-कर्ता ।
उसको यहां यथार्थ । उपमा भला ॥ ६१ ॥

इसीलिए पांडुसुता । प्रिय तू औ' तू ही श्रोता ।
फिर प्रियकी ही वार्ता । प्रसंग आया है ॥ ६२ ॥

तभी मैं अब बोलता । बोलका सुख भोगता ।
कहके हरि झुलता । आनंद मगन ॥ ६३ ॥

फिर कहता यह सुन । उस भक्तके ये लक्षण ।
उसको मैं अंतःकरण । आसनार्थ देता हूं ॥ ६४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

भक्त भय-उद्वेग रहित—

जैसे सागरके भीतर । भीत न होता जलचर ।
या जलचरोंसे सागर । उकताता नहीं ॥ ६५ ॥

वैसे ही उन्मत्त जगत । न करता उसे दुखित ।
तथा न ऊबता जगत । उससे कभी ॥ ६६ ॥

अथवा मान तू पांडव । जैसे तनको अवयव ।
नहीं ऊबते वैसे जीव । औ' जीवोंसे वह ॥ ६७ ॥

विश्व ही जैसे देह हो गया । इसलिए प्रिया-प्रिय गया ।
हर्ष शोकादि द्वन्द्व भी गया । द्वैत मिटनेसे ॥ ६८ ॥

ऐसा द्वन्द्वसे जो मुक्त । भय उद्वेग रहित ।
फिर भी अनन्य भक्त । वह मेरा ॥ ६९ ॥

तभी है वह मेरा प्रिय । दिखाऊँ कैसा मेरा हिय ।
वह है मुझमें तन्मय । इससे जीता हूं ॥ १७० ॥

जो है निजानन्दमें तृप्त । मानो ब्रह्मको जन्म प्राप्त ।
पूर्णताका वह है आप्त । वल्लभ जैसा ॥ ७१ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

ऊबता जो न लोगोंसे न ऊबे उससे जन ।
हर्ष-शोक भय क्रोध न जाने जो मुझे प्रिय ॥ १५ ॥

नहीं व्यथा उदासीन दक्ष निर्मल निस्पृह ।
तजे आरंभ जो सारे भक्त है मुझको प्रिय ॥ १६ ॥

संतका पावन चरित—

न है उसमें अपेक्षा । वैसी ही नहीं उपेक्षा ।
जीवन बिन आकांक्षा । केवल आत्मोत्कर्ष ॥ ७२ ॥

मोक्ष देनेमें उदार । काशी नामका आदर ।
किंतु उसमें शरीर । त्यजना होगा ॥ ७३ ॥

पाप हरता हिमवंत । भयभीत कर जीवित ।
संतका पावन चरित । वैसा नहीं ॥ ७४ ॥

पावन है गंगोदक । पाप तापका शामक ।
किंतु उसमें है एक । डूबनेका भय ॥ ७५ ॥

गहराई जिसकी अपार । किंतु डूबनेका है डर ।
रोकड़ मोक्षका है घर । जीवनमें ही ॥ ७६ ॥

संतोंके चरण स्पर्शसे । मुक्त है गंगा भी पापसे ।
ऐसे संत-संगके कैसे । कहना शुचित्व ॥ ७७ ॥

अजी ! यह रहने दो अब । बना तीर्थोंका आश्रय सब ।
धोकर मनका मल शुभ– । शुचित्वसे ॥ ७८ ॥

होता तन मनसे निर्मल । सूर्यके समान है उज्वल ।
तत्वार्थिथोंमें है पायल । ब्रह्म-धनका ॥ ७९ ॥

व्यापक तथा उदास । रहता जैसे आकाश ।
वैसे उसका मानस । सदा-सर्वत्र ॥ १८० ॥

जो है संसार-व्यथासे मुक्त । निरपेक्षालंकार-भूषित ।
मानो व्याध-बाणसे विमुक्त । विहंगमसा ॥ ८१ ॥

सुखमें जो है लीन सतत । न होती कभी टीस प्रतीत ।
न जाने जैसे लज्जाको प्रेत । उसी भांति ॥ ८२ ॥

तथा कार्यारंभका है नहीं । अहंकार तनिक भी कहीं ।
जैसा निरिंधन होके वन्ही । बुझ जाता है ॥ ८३ ॥

ऐसा हुआ जब उपशम । मोक्ष-सत्रमें लिखाया नाम ।
हुआ है वह निष्काम-काम । धनंजय ॥ ८४ ॥

अर्जुन वह यहीं पर । सोऽहं भावसे भरकर ।
पहुंच चुका उस पार । द्वैत-भावके ॥ ८५ ॥

किंतु भक्ति-सुखके कारण । कर अपना दो विभाजन ।
सेवा धर्मका अंगीकरण । करता आप ॥ ८६ ॥

अन्यको है मैं कहता । फिर स्तोत्र नहीं होता ।
भक्तिका मार्ग दिखाता । योगी वह ॥ ८७ ॥

हमें है उसका व्यसन । उसका ही निज-ध्यान ।
या उसमें ही समाधान । मिलता हमको ॥ ८८ ॥

उसके लिये रूप-धारण । इस विश्वमें अवतरण ।
न्योछावर है उसपे प्राण । सर्व-भावसे ॥ ८९ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो आत्म लाभके समान । सुन्दर कछु नहीं आन ।
तभी भोगमें न दें मन । न हो आनंदित ॥ ९० ॥

आप ही है विश्व बन गया । भेद भाव सहज धो गया ।
तब द्वेश भी है मिट गया । उस पुरुषका ॥ ९१ ॥

जो है अपना संतत्व । कल्पांतमें है अस्तित्व ।
तभी भूतका है स्वत्व । कभी न सोचता ॥ ९२ ॥

तथा उसके परे कुछ भी नहीं । अपना जो है अपने पास यहीं ।
तभी उसकी आकांक्षा है ही नहीं । कुछ मी कभी ॥ ९३ ॥

न उल्हास न संताप न चाह सोच भी नहीं ।
भला बुरा सभी छोडा भजता जो मुझे प्रिय ॥ १७ ॥

बीभत्स है या सुंदर । न जाने वह अंतर ।
जैसे जाने ना भास्कर । दिन औ' रात ।। ९४ ।।

ऐसे बोधसे केवल । रहता है जो निष्कल ।
फिर भी भजनशील । मुझमें वह ।। ९५ ।।

उसके समान और । नहीं हमें प्रियकर ।
कहता हूं धनुर्धर । सौगंध तेरी ।। ९६ ।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ।। १८ ।।

भक्तकी सम-भावना —

जिसके मनमें पार्था । नहीं वैशम्यकी वार्ता ।
रिपु-मित्रकी समता । रहे सदा ।। ९७ ।।

अपनोंको प्रकाश देना । परायोंको अंधेरा देना ।
जैसा दीप यह सोचना । जानता नहीं ।। ९८ ।।

करता जो वृक्ष-छेदन । या करता गाछ-पालन ।
दोनोंको दे छाया समान । जैसा वृक्ष ।। ९९ ।।

मालीको देता मीठा रस । पेरकको न खट्टा रस ।
सबको है मधुर रस । देता ईख-सा ।। २०० ।।

शत्रु-मित्रमें तैसा । उसका भाव ऐसा ।
रहता है एकसा । मानापमानमें ।। १ ।।

तीनों ऋतुओंमें समान । रहता है जैसा गगन ।
वैसा ही एक समान । शीतोष्ण जिसे ।। २ ।।

दक्षिण उत्तर मारुत । जैसा है मेरु पांडुसुत ।
तैसा सुख दुःख हो प्राप्त । मध्यस्थ है जो ।। ३ ।।

सम जो शत्रु-मित्रोंमें मानापमानमें सम ।
शीतोष्ण सुख दुःखोंमें अलिप्त सम-भावसे ।। १८ ।।

चंद्रिकाकी शीतलता । राजा रंककी समता ।
वैसे जो सकल भूत । है सामान ॥ ४ ॥

संपूर्ण जगत एक । जैसे सेवन उदक ।
वैसे उसकी त्रिलोक । करते चाह ॥ ५ ॥

अंतर बाह्य संग । करके सब अंग ।
शून्य हो अन्तरंग । वस्तुलीन ॥ ६ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

विश्व ही मेरा घर ऐसी जिसकी मति—

निंदासे जो न खिन्न । स्तुतिसे न प्रसन्न ।
रहे जैसा गगन । निर्लेप ॥ ७ ॥

जो निंदा और स्तुति । रखके एक पांति ।
रमता प्राण-वृत्ति । सदा-सर्वत्र ॥ ८ ॥

सत्यासत्यको जो समान । बोलकर रहता मौन ।
भोगता है सदा उन्मन । अतृप्त भावसे ॥ ९ ॥

लाभसे जो न हरषाता । न अलाभसे कुम्हलाता ।
वर्षाके बिन ना सूखता । समुद्र जैसा ॥ २१० ॥

जैसा वायुका इक ठौर । रहता नहीं है आधार ।
वैसा ही न उसका घर । कहीं रहता ॥ ११ ॥

संपूर्ण आकाश स्थिति । वायुकी नित्य-वसति ।
वैसे है विश्व विश्रांति- । स्थान उसका ॥ १२ ॥

विश्व ही यह मेरा घर । ऐसी मति जिसकी स्थिर ।
या हुआ जो सचराचर । अपनेमें आप ॥ १३ ॥

स्तुति-निंदा तजे मौनी संतुष्ट प्राप्त-भोगमें ।
स्थिर-बुद्धि निराधार भक्त जो है मुझे प्रिय ॥ १९ ॥

इस पर भी हे पार्थ । मेरे भजनमें आस्था ।
उसको करू मैं माथा । पर मुकुट ॥ १४ ॥

उत्तमको मस्तक । नमाना क्या कौतुक ।
मान देता त्रिलोक । पद रेणुको ॥ १५ ॥

श्रद्धा वस्तुका आदर । करना जानो प्रकार ।
होता है यदि शंकर । श्री गुरु ॥ १६ ॥

रहने दो यह भाषा । करनेमें है प्रशंसा ।
शंभुकी होती सहसा । आत्म-स्तुति ॥ १७ ॥

रहने दो यह उक्ति । कहता है रमापति ।
लेकर करता स्तुति । माथेपे उसे ॥ १८ ॥

अपने भक्तके अलिंगनके लिये दो हाथ कम पडे—

सिद्धि चौथा पुरुषार्थ । लेकर अपने हाथ ।
चला है जो भक्ति-पंथ । देते विश्वको ॥ १९ ॥

कैवल्यका ले अधिकार । करे मोक्षका व्यवहार ।
रहता नम्र जैसा नीर । स्वभावसे ॥ २२० ॥

उसको करूंगा नमस्कार । मुकुट धरूंगा सिरपर ।
चरण हृदय पीठ पर । पूजूंगा मैं ॥ २१ ॥

उसके गुणका भूषण । होगा मेरी वाणीका गान ।
उसकी कीर्तिका श्रवण । प्रेमसे करूंगा ॥ २२ ॥

उसके दर्शनका प्रलोभन । बने मुझ अचक्षुके नयन ।
करुं लीला सुमनसे पूजन । उसका मैं ॥ २३ ॥

अजी ! दो पर दो और । कर लेकर मैं चार ।
आलिंगनार्थ आतुर । आया उसके ॥ २४ ॥

उसके संगके सुखके लिये । आया हूं विदेही मैं देह लिये ।
उसके प्रेम बखानके लिये । वाणी है असमर्थ ॥ २५ ॥

उसका मैं हूं मित्र । उसमें क्या विचित्र ।
सुनता जो चरित्र । उसका वह ॥ २६ ॥

करता है गुणगान । उससे भी मैं प्रसन्न ।
वह है प्राण समान । मुझको प्रिय ॥ २७ ॥

अजी ! यह साद्यंत । कहा है जो प्रस्तुत ।
भक्तियोग समस्त । योग-रूप ॥ २८ ॥

करता उसका आदर । धरता उसे सिरपर ।
उस स्थितिकी है अपार । श्रेष्ठता सुन ॥ २९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

भक्त क्या ? मुझे अत्याधिक मधुर है—

गोष्ठि है यह रम्य । अमृत धारा धर्म्य ।
करें प्रतीति-गम्य । सुनकर ॥ २३० ॥

श्रद्धाका जिसमें आदर । उरमें इसका विस्तार ।
होता है चितमें सत्वर । अनुष्ठान सुलभ ॥ ३१ ॥

जैसे किया है निरूपण । वैसे हो मनका धारण ।
तभी सुक्षेत्रमें रोपणं । हुआ मानो ॥ ३२ ॥

मुझे मानकर परम । इसीलिये करके प्रेम ।
यही सर्वस्व सर्वोपम । मान लेते जो ॥ ३३ ॥

विश्वमें अजी पार्थ । वही योगी औ' भक्त ।
उत्कंठा है तदर्थ । मुझको सदा ॥ ३४ ॥

वही तीर्थ वही क्षेत्र । विश्वमें हैं वे पवित्र ।
भक्ति कथाका हैं मित्र । सदैव ही ॥ ३५ ॥

जो धर्म-सार है नित्य मुझमें लीन होकर ।
सेते श्रद्धालु जो भक्त अत्यंत प्रिय है मुझे ॥ २० ॥

करता म उनका ध्यान । मेरा यह देवतार्चन ।
उस बिना माने ना मन । दूसरा भला ।। ३६ ।।

उसका है मुझे व्यसन । मेरा वह निधि निधान ।
अथवा मेरा समाधान । उनके मिलनमें ही ।। ३७ ।।

ऐसी प्रेमकी वार्ता । जो है अनुवादता ।
है परम देवता । हमारी वह ।। ३८ ।।

ज्ञानदेवका सगुण कृष्ण—

जो है निज-जनानंद । तथा जगदादिकंद ।
कहता है श्री मुकुन्द । बोला संजय ।। ३९ ।।

होता है जो निर्मल । निष्कल लोक कृपाल ।
शरणागत प्रतिपाल । शरण्य वह ।। २४० ।।

वह है धर्म-कीर्ति धवल । अगाध-दातृत्वमें सरल ।
तथा अतुल बल प्रबल । बलि बंधन ।। ४१ ।।

सुर-सहायशील । लोक-लालन-लील ।
प्रणत-प्रतिपाल । खेल जिसका ।। ४२ ।।

भक्त-जन-वत्सल । प्रेमी-जन-प्रांजल ।
सत्य-केतू सरल । कला निधि ।। ४३ ।।

वह कृष्ण वैकुंठका । चक्रवर्ति अपनोंका ।
कहता बोल प्रेमका । सुनता पार्थ ।। ४४ ।।

संजय कहता श्रीकृष्ण । अब करेंगे निरूपण ।
कीजिये आप श्रवण । धृतराष्ट्रसे ।। ४५ ।।

ज्ञानदेव कहता तुम । संत सेवा करना हम ।
सिखाया है महा-महिम । निवृत्तिनाथने ।। ४६ ।।

गीता श्लोक ५५

ज्ञानेश्वरी ओवी ७०८.



१३

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोग

आत्म-रूपी गणेश वंदन—

आत्म-रूप गणेश स्मरण। जो सकल विद्याधिकरण।
नमन करें वे श्रीचरण। श्रीगुरुके ॥ १ ॥

करनेसे जिसका स्मरण। शब्द-सृष्टि होती स्वाधीन।
चढ़ता सारस्वत संपूर्ण। जिह्वा पर ॥ २ ॥

तब है वक्तृत्वकी मधुरता। हठाती अमृतकी मधुरता।
नव-रस है चूता ही रहता। अक्षरोंसे ॥ ३ ॥

भावोंका अवतरण। स्पष्ट करता है चिह्न।
हस्तामलकसा पूर्ण। होता तत्व-भेद ॥ ४ ॥

श्रीगुरुके जब पाय। पकडता है हृदय।
महा-भाग्यका समय। उन्मेषका वह ॥ ५ ॥

उनको करके मैं वंदन। पितामहका पिता महान।
कहता जो श्रीलक्ष्मीरमण। कहूंगा वह ॥ ६ ॥

भगवान उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवानने कहा

इस शरीरको पार्थ कहते क्षेत्र जान तू।
जानता यह जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कहते उसे ॥ १ ॥

आत्मानात्म विचार—

सुन तू अब यह पार्था । देह है क्षेत्र कहलाता ।
इसको जो सही जानता । वह है क्षेत्रज्ञ ॥ ७ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

यहां है जो क्षेत्रका पालक । मुझको जान क्षेत्रज्ञ एक ।
बन सभी क्षेत्रका रक्षक । रहता हूं मैं ॥ ८ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको मान । जानना है यहां ज्ञान ।
समझें हम अर्जुन । इस समय ॥ ९ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

तभी हमने है क्षेत्र कहा । किस भावसे देहको यहां ।
कहता हूं प्रयोजन सह । सुन तू पार्थ ॥ १० ॥

इसको क्षेत्र क्यों कहना । इसका पैदा कैसा होना ।
किन विकारोंसे बढ़ना । कहता हूं यही ॥ ११ ॥

यह क्या तीन अर्ध हाथका है । या इससे भी अधिक बड़ा है ।
यह बंजर है या उर्वरा है । तथा है किसका ॥ १२ ॥

इत्यादि इसके सर्व । जो जो हैं वे सभी भाव ।
कहूंगा यह अपूर्व । सुन तू सावधान हो ॥ १३ ॥

शरीरके विषयमें भिन्न भिन्न विचार—

क्षेत्रज्ञ मुझको जान बसा मैं सब क्षेत्रमें ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञका ज्ञान उसे मैं ज्ञान मानता ॥ २ ॥

क्षेत्र क्या उसमें कैसे विकार रहते कहो ।
कैसा क्षेत्रज्ञ कौन कहता सुन तू यह ॥ ३ ॥

अजी ! इसी स्थलके कारण । श्रुतिका चलता है भाषण ।
तर्ककी वाद वैखरी तीक्ष्ण । इसके लिये है ।। १४ ।।

छाननेमें यह स्थान । थक गये हैं दर्शन ।
मिटे नहीं जो घर्षण । उनके कभी ।। १५ ।।

अजी ! शास्त्रोंका भी नाता । इससे ही है टूटता ।
तथा इसीसे जुडता । झगडा जगतका ।। १६ ।।

बातसे बात न मिलती । एक-वाक्यता नहीं होती ।
बनके वाचालता युक्ति । हुई समर्थ ।। १७ ।।

न जाने किसका है यह स्थल । किंतु कैसी अभिलाषाका बल ।
घर घरमें है यह कपाल— । मोक्ष गाथा ।। १८ ।।

नास्तिकोंसे करने मुटभेड । वेदोंने किया विद्रोह प्रचंड ।
उसको देख कर हैं पाखंड । बकवाद करते ।। १९ ।।

कहते तुम निर्मूल । झूठा तुम्हारा वाग्जाल ।
प्रण हमारा है सबल । बीडा उठाकर ।। २० ।।

पक्ष है जो पाखंड । नग्न लुंचित-मुंड ।
नियोजित वितंड । आते भानपे ।। २१ ।।

मृत्यूके कसे हुए पाशमें । जायेगा यह इस भयमें ।
चले योगी-जन निर्णयमें । इस क्षेत्रके ।। २२ ।।

मृत्यूसे हैं जो भयग्रस्त । करते वनमें एकांत ।
यम-दम-अभ्यास-रत । हो पाते पूर्ण ।। २३ ।।

इस क्षेत्राभिमान मगन । कैलास तजता है ईशान ।
बसता है जाकर स्मशान । उलझन भयसे ।। २४ ।।

इस प्रतिज्ञासे शंकर । सिकुडकर सभी ओर ।
करता राख घूस-खोर । मन्मथकी भी ।। २५ ।।

तथा सत्य-लोक-नाथ । वदन चार वादार्थ ।
किंतु वे नहीं सर्वथा । जानते कुछ ।। २६ ।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः प्रथक ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।। ४ ।।

ज्ञानेश्वर द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें भिन्न भिन्न मतोंका विवेचन—

आत्मानात्म विवेक जीववादी दृष्टिसे—

एक कहता यह स्थल । जीवका ही है सहमूल ।
फिर प्राण है यह कुल । उसका यहां ।। २७ ।।

घरमें उस प्राण के । चार भाई जो उसके ।
तथा मन-सा जिसके । प्रबंधक है ।। २८ ।।

इन्द्रिय-बैलोंका जो समूह । नहीं देखता काल प्रवाह ।
करता है श्रम बिना आह । विषय-खेतमें ।। २९ ।।

खोकर विहित-कर्म अवसर । अन्याय-बीजकी बुवाई कर ।
कुकर्मार्थ सब परिश्रम कर । फसल काटता ।। ३० ।।

तभी उसीके समान । पाता है पाप जो मन ।
भोगता दुःख महान । जन्म-कोटि ।। ३१ ।।

या विधिवत कर उद्यान । किया सत्कर्म-बीजारोपण ।
शत शत है जन्मानुदिन । सुख-भोग ।। ३२ ।।

प्रकृतिवादियोंकी दृष्टिसे—

कहते हैं तब कुछ औ । जीवका न कहो यह ठौर ।
हमसे जानो इसका विचार । पूर्ण रूपसे ।। ३३ ।।

अजी ! है यहां जीव पथिक । चलती राहमें रहा रुक ।
प्राण है जो यहां मालिक । जग रहा है ।। ३४ ।।

यहां जो अनादि प्रकृति है । सांख्य जिसके गीत गाते हैं ।
खेत यह उसकी वृत्ति है । जान तू यह ।। ३५ ।।

गाया विविध मंत्रोंमें ऋषियोंने इसे प्रथक् ।
कहा है ब्रह्म-सूत्रोंमें सप्रमाण सुनिश्चत ।। ४ ।।

इसके पास है साधन। घरका ही है बारदान।
तब बनती है किसान। अपने आप ॥ ३६ ॥

झमेलेमें नित चतुर। इसके हैं तीन कुमार।
करते सब कारोभार। गुण हैं जो ॥ ३७ ॥

रजो-गुण बुवाई करता। सत्व जो उसको संभालता।
तमोगुण फसल काटता। अकेला ही ॥ ३८ ॥

महत्तत्वका रच खलिहान। काल-सांडसे कराके मांडन।
अव्यक्तका वहां ढेर महान। होता रहता है ॥ ३९ ॥

संकल्प वादियोंकी दृष्टिसे—

तब कहते कुछ बुध्दिमान। प्रकृति वादियोंसे बुरा मान।
यह है अति आर्वाचीन। आप लोगोंका ॥ ४० ॥

अजी! चित देकरके हो स्वस्थ। सुनो तुम यह क्षेत्र-वृत्तांत।
तत्वमें कहां प्रकृतिकी बात। कहते हैं यह ॥ ४१ ॥

वह शून्य शैय्यागृहमें। पूर्णावस्थाकी लीनतामें।
शक्त-संकल्पने शैय्यामें। निद्रा की थी ॥ ४२ ॥

जगा जो वह अकस्मात। उद्योगमें था भाग्यवंत।
मिली है पूंजी अमानत। इच्छ-मात्रसे ॥ ४३ ॥

निराकारके उद्यानमें। त्रिभुवनकी समतामें।
आया जो है व्यक्त रूपमें। उससे यह ॥ ४४ ॥

महा-भूतोंकी जो ऊसर। कसके उसे उर्वर।
भूतग्रामके बांधे चार। सीमा-मेड़ं ॥ ४५ ॥

अजी! प्रारंभ किया फिर। पंच तत्वात्मक शरीर।
समुचित मिश्रण कर। पंच-भूतका ॥ ४६ ॥

कर्माकर्मके पत्थर। रख बांधे दोनों ओर।
किया है अति उर्वर। ऊसर था जो ॥ ४७ ॥

आवागमनार्थ यहां फिर। जन्म मृत्युके बांधे गव्हर।
रक्षाका ऐसा प्रबंध कर। संकल्पने तब ॥ ४८ ॥

अंहाकारसे हो एक। वह भी पूर्णायुतक।
बुध्दिसे कार्य कृषक। कराया चराचर ॥ ४९ ॥

इस भांति है निराली। बडी संकल्पकी डाली।
इसीलिये है वह मूली। यहां प्रपंचकी ॥ ५० ॥

ऐसे हैं यह मत-मुक्तक। व्यक्त हुए हैं जब शाब्दिक।
जी! आप हैं बडे विचारक। कहते हैं और ॥ ५१ ॥

स्वभाव-वादियोंकी दृष्टिसे—

अजी! गांवमें पर-तत्वके। पर्यंकको देखें संकल्पके।
तो क्यों प्रकृति-वादियोंके। तर्क नहीं माने ॥ ५२ ॥

किंतु ऐसा नहीं कहना। इसमें तुम्हें न पडना।
कहा जायेगा यह पूर्ण। हमसे अब ॥ ५३ ॥

आकाश कहो है कौन। भरता मेघोंसे पूर्ण।
अधरमें तारा-गण। कौन रखता ॥ ५४ ॥

गगनका यह वितान। किसने ताना महान।
होता वायुका संचालन। किसकी आज्ञासे ॥ ५५ ॥

रोमोंकी बुवाई करता कौन। समुद्रको सदा भरता कौन।
पर्जन्य धाराको गिराता कौन। कहो यहां ॥ ५६ ॥

यह क्षेत्र है ऐसा स्वाभाविक। न है कोई इसका मालक।
पाता है जो करता देखरेख। अन्य नहीं कोई ॥ ५७ ॥

कालवादिकी दृष्टिसे—

कहता है तब और एक। तुम कहते हो बडा नेक।
कहो कैसे भोगता है एक। केवल काल ॥ ५८ ॥

यह क्रोधी मृत्यु-सिंहका। गव्हर अपना उसका।
नहीं क्या व्यर्थ प्रलापका। सही उत्तर ॥ ५९ ॥

सभी हैं इसकी मार। देखते हैं अनिवार।
किंतु स्व-मतपे भार-। दे बोलते हैं ॥ ६० ॥

महा कल्पके उस ओर । यकायक झपट्टा मार ।
प्रहार भद्र जाती पर । किया सत्य लोकके ॥ ६१ ॥

नित-नव नव लोकपाल । तथा दिग्गजोंको यह काल ।
स्वर्ग-काननमें जा विपुल । तोड़ता रहता ॥ ६२ ॥

शरीर-समीरसे इसके । गर्तमें जनम-मरणके ।
भूमिष्ट पडे निर्जीव होके । जीव-मृग हैं ॥ ६३ ॥

फैला है इसका पंजा । मानो यह है शिंकजा ।
बनाके आकर गज- । करता है ग्रास ॥ ६४ ॥

इसीलिये कालकी सत्ता । कहते हैं हम निश्चित ।
ऐसा वाद है पांडुसुत । इस क्षेत्रका ॥ ६५ ॥

इस क्षेत्रके विषयमें सभी अज्ञानमें हैं—

कर चुका है वाद विपुल । नैमिशारण्यमें ऋषि-कुल ।
पुराण इसके अनुकूल । आधार रूप हैं ॥ ६६ ॥

हैं अनुष्टुप आदि छंद । इस विषयमें विविध ।
होते हैं आधार स-श्रध्द । आज भी लोंगोंके ॥ ६७ ॥
वेदोंके बृहत्साम-सूत्र । जो हैं अतिशय पवित्र ।
उसको भी है यह क्षेत्र । अज्ञात-रूप ॥ ६८ ॥

अन्य और अगणित । महा-कवि बुद्धिमंत ।
इसपे अपना मत । देते रहते हैं ॥ ६९ ॥

किंतु यह किसका है । किसके स्वामित्वमें है ।
समझमें न आता है । किसीक भी ॥ ७० ॥

अजी ! यह है जैसे । अब क्षेत्र है कैसे ।
कहता मैं तुझसे । सुन साद्यन्त ॥ ७१ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पंच भूत अहंकार बुद्धि अव्यक्त मूल जो ।
एकादश इंद्रियोंको खींचे विषय पंचक ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।। ६ ।।

इस शरीरके मूल-भूत छैंतीस तत्व—

है महा-भूत पंचक । तथा अहंकार एक ।
बुध्दि अव्यक्त दशक । इंद्रियोंका ।। ७२ ।।

और भी है एक । विषय-दशक ।
द्वेष सुख दुःख । संघात इच्छा ।। ७३ ।।

तथा चेतना धृति । एवं है क्षेत्र वृत्ति ।
कही तुझसे अति । अल्प-रूपसे ।। ७४ ।।

कौन है महा भूत । विषय क्या है पार्थ ।
औ' इंद्रिय सहित । कहता हूं सब ।। ७५ ।।

पृथ्वी जल अग्नि । वायु तथा गगन ।
ये हैं पांच अर्जुन । महा-भूत ।। ७६ ।।

अहंकारका रूप—

जागृतिमें जैसे स्वप्न । आंखोंमें रहता लीन ।
या अमावासके दिन । चंद्र होता गुप्त ।। ७७ ।।

बालकोंमें जैसे अर्जुन । छिपा रहता है यौवन ।
या कलिमें होता प्रसन्न । सुगंध गुप्त ।। ७८ ।।

अथवा जैसे इन्धनमें । अग्नि होता सुप्तावस्थामें ।
वैसे होता है प्रकृतिमें । गुप्त-रूपसे ।। ७९ ।।

अथवा धातु गत ज्वर । कुपथ्यामिष देखकर ।
होता है अंदर बाहर । व्याप्त अर्जुन ।। ८० ।।

ऐसे पांचोंसे मिल कर । देहका आकार लेकर ।
नचाता तब अहंकार । दश-दिशामें ।। ८१ ।।

इच्छा द्वेष सुख-दुःख धृति संघात चेतना ।
विकार-युक्त है क्षेत्र अल्पमें तुझसे कहा ।। ६ ।।

अहंकारका इक अचरज है । अज्ञानियोंको जो नहीं सताता है ।
ज्ञानियोंको ही नचाता रहता है । सिर पर चढके ॥ ८२ ॥

बुद्धिका लक्षण—

बुद्धिके जो लक्षण । जान ले तू अर्जुन ।
कहता है श्रीकृष्ण । यदुराज ॥ ८३ ॥

कंदर्पका ले सहाय । वृत्ति-सह जो इन्द्रिय ।
जीत लाते हैं विषय । धनुर्धर ॥ ८४ ॥

सुख दु:खके लूटका माल । जीवको अंतरंग सकल ।
दिखाता तब देता फैसला । चुनावमें योग्य ॥ ८५ ॥

यह है क्लेष या तोष । है यह गुण या दोष ।
मैला है या यह चोख । दिखाता सब ॥ ८६ ॥

अधमोत्तम जिसे सूझता । छोटा बडा है जो देख पाता ।
अपनी दृष्टिसे परखता । विषयोंको जो ॥ ८७ ॥

तेज तत्वका आदि । सत्व-गुणकी वृद्धि ।
आत्म-जीवकी संधि । जागृत रखता ॥ ८८ ॥

अव्यक्त प्रकृतिका रूप

जान तू यह अर्जुन । बुद्धि-तत्त्व है संपूर्ण ।
अब सुन पहचान । अव्यक्तकी ॥ ८९ ॥

जिसको है सांख्य सिद्धांत । करता प्रकृति घोषित ।
यहांपे है यही प्रस्तुत । अव्यक्त जो ॥ ९० ॥

तथा है सांख्य-योगके मतसे । प्रकृति-विचार कहा तुझसे ।
जहां प्रकृतिके दोनों रूपसे । तू है परिचित ॥ ९१ ॥

दूजी जो वहां जीव दशा । जिसका नाम है वीरेशा ।
उसे यहां अव्यक्त ऐसा । कहा गया है ॥ ९२ ॥

रजनीका होते ही अस्त । नभमें होते तारा लुप्त ।
रुकती होनेपे सूर्यास्त । भूतमात्रकी क्रिया ॥ ९३ ॥

देह-पात पर अर्जुन । देह होती उपाधि-लीन।
कृत-कर्ममें अनुदिन । डुबी रहती ॥ ९४ ॥

बीज-रूपमें यह सतत । रहता है वृक्ष समस्त।
अथवा पटत्व बन सूत । रहता जैसे ॥ ९५ ॥

वैसे छोड़के स्थूल-धर्म । महा भूतोंके भूत-ग्राम।
लय हो रहते हैं सूक्ष्म । जिस स्थानपे ॥ ९६ ॥

उसका नाम अर्जुना । अव्यक्त यह जानना।
अब संपूर्ण सुनना । इंद्रिय-भेद ॥ ९७ ॥

इंद्रिय विवेचन----

यहां श्रवण नयन । त्वचा औ' रसना घ्राण ।
इसको ज्ञानके जान । पांच इंद्रिय ॥ ९८ ॥

मेलेमें इन तत्वोंके । विचार सुख-दुःखके।
करती है इंद्रियोंके- । द्वारा बुध्दि ॥ ९९ ॥

फिर वाचा और कर । पाय तथा अधोद्वार।
तथा है जनन द्वार । पांच पार्थ ॥ १०० ॥

ये हैं कर्मेंद्रियां जान । कैवल्य-पति श्रीकृष्ण।
कहता है तू अर्जुन । सुन ले यह ॥ १ ॥

प्राणोंको जो प्रिया होती । क्रिया-शक्ति कहलाती।
तनमें है आती जाती । इन पांचोंसे ॥ २ ॥

ऐसे ये दश-करण । बताये तुझे अर्जुन।
कहता हूं अब मन । रहता कैसा ॥ ३ ॥

मनका विवेचन----

इंद्रिय-बुध्दि मध्य पर । रजोगुणका ले आधार।
अतीव तरल होकर । रहता पार्थ ॥ ४ ॥

आकाशकी नीलिमा-सा । मृग-जल-तरंग सा।
व्यर्थका मिथ्याभास-सा । रहता है वह ॥ ५ ॥

तथा-शुक्रशोणित मिलन । देता है पंच-तत्वको चिन्ह ।
एक वायु- तत्व अर्जुन । बनता दस रूप ॥ ६ ॥

फिर यह दस प्रकार । देहका सामर्थ्य लेकर ।
अपने निज स्थान पर । हुए प्रतिष्ठित ॥ ७ ॥

वहां चांचल्य चपल । रहा जो एक केवल ।
इससे रजका बल । लिया उसने ॥ ८ ॥

बुद्धिके वह बाहर । अहंताके उर पर ।
ऐसे मध्य-स्थान पर । दृढ हो बैठा ॥ ९ ॥

व्यर्थ है उसका नाम मन । जो मात्र कल्पना मूर्तिमान ।
उसके संगसे मिला जान । वस्तुको जीव भाव ॥ ११० ॥

प्रकृतिका है जो मूल । कामको जिसका बल ।
चेतता है जो प्रबल । अहंकार ॥ ११ ॥

इच्छाको वह बढ़ाता । आशाको वह चढ़ाता ।
रक्षण नित करता । भयका जो ॥ १२ ॥

द्वैतका जो उगम-स्थान । अविद्या करे बलवान ।
इन्द्रियोंका करे पतन । विषयोंमें ॥ १३ ॥

संकल्पोंसे है सृष्टि रचता । विकल्पोंसे उसको तोड़ता ।
मनोरथोंका ढेर चढा था- । उतराता वह ॥ १४ ॥

भ्रांतिका जो भंडार । वायु तत्व-अंतर ।
तथा बुद्धिका द्वार । करता बंद ॥ १५ ॥

यह कहलाता मन । अन्य कछु नहीं जान ।
अब विषयाभिदान । बताता हूं ॥ १६ ॥

विषयोंका स्पष्टीकरण—

स्पर्श तथा शब्द । रूप रस गंध ।
हैं ये पंच-विध । ज्ञानेंद्रियोंके ॥ १७ ॥

इन द्वारोंसे निरंतर । दौडता है ज्ञान बाहर ।
भ्रांत हो जैसा जानवर । हरा चारा देख ॥ १८ ॥

फिर स्वर वर्ण विसर्ग । अथवा स्वीकार औ' त्याग ।
तथा संक्रमण उत्सर्ग । विण्मूत्रोंका ॥ १९ ॥

कर्मेंद्रियोंके पांच । विषय हैं ये सच ।
बांध करके माच । चलती क्रिया ॥ १२० ॥

ऐसे दस बसे हैं । देहमें विषय हैं ।
इच्छा जो कहाती है । कहते अब ॥ २१ ॥

इच्छका स्वरूप तथा द्वेष—

गत भोग जब है स्मरता । या ऐसा शब्द कानपे आता ।
तो कानपे हाथ रख जाता । न तो वृत्ति-जगती ॥ २२ ॥

विषयेंद्रिय भेंट होती । तभी वह जाग उठती ।
कामका हाथ धर वृत्ति । उठती जो ॥ २३ ॥

अजी ! उठनेसे यह वृत्ति । मनकी होती तीव्र-गति ।
जहां नहीं जाना वहां जाती । ललचाकर इन्द्रियां ॥ २४ ॥

जिस प्रवृत्तिके लोभसे । बुद्धि हो पगलाई जैसे ।
इन्द्रियां लुब्ध हो उससे । वह है इच्छा ॥ २५ ॥

इन्द्रियोंका जो इच्छित विषय । नहीं पाती वे जब धनंजय
तब अनुभवती जो इन्द्रिय । वह है द्वेष ॥ २६ ॥

सुख दुःखका स्वरूप—

कहता हूं अब सुख । वह ऐसा है तू देख ।
जिस एकसे अशेष । भूले सब जीव ॥ २७ ॥

अजी ! तन मन वचन । अपनी सौगंधसे जान ।
देह-स्तुतिको बल-हीन । करते आता ॥ २८ ॥

पानेसे जिसे अर्जुन । शिथिल होता है प्राण ।
दूना होता है सत्व-गुण । पहलेसे भी ॥ २९ ॥

इन्द्रिय-वृत्तियोंको संपूर्ण । हृदयमें ला एकांत स्थान ।
करता है शांत निद्राधीन । पुचकाकर ॥ १३० ॥

कहूं क्या इससे अधिक । जीव होता आत्मासे एक ।
उस स्थितिका नाम सुख । पांडुकुमार ॥ ३१ ॥

तथा ऐसी अवस्था । न पाके जीना पार्थ ।
तुम जानो सर्वथा । नाम दुःखका ॥ ३२ ॥

मनोरथ जो संगसे नहीं । वैसे वह स्वयं-सिद्ध है ही ।
इन दोनोंके कारणसे ही । सुख है औ' दुःख ॥ ३३ ॥

चेतनाका विवेचन—

अब है असंग औ' साक्षी-भूत । जिसकी सत्ता देहमें सतत ।
नाम उसका यहां पांडुसुत । चेतना है ॥ ३४ ॥

नखसे जो शिख पर्यंत । तन पे सर्वत्र जागृत ।
नहीं होता परिवर्तित । अवस्थात्रयमें ॥ ३५ ॥

मन-बुद्धि आदि प्रफुल्लित । औ' प्रवृत्ति-वनमें वसंत ।
खिला रहता जिससे पार्थ । सदैव ही ॥ ३६ ॥

जडाजड़से समान । करता है जो वर्तन ।
कहता हूं मैं चेतन । यह नहीं मिथ्या ॥ ३७ ॥

राजा परिवार नहीं जानता । आज्ञासे पर-चक्र दूर होता ।
पूर्ण-चंद्र देख उमड़ आता । महा-सागर ॥ ३८ ॥

या चुंबकका सन्निधान । करता लोहेको चेतन ।
सूर्य-संगसे होते जन । कार्य-प्रवृत्त ॥ ३९ ॥

मुख लगाये बिन । पिल्लोंका है पोषण ।
करती है अर्जुन । कूर्मी जैसे ॥ १४० ॥

उसी भांतिसे अर्जुन । अत्म-संगसे है तन ।
प्राप्त करता जीवन । जड़ है जो ॥ ४१ ॥

इसको है चेतन । कहते हैं अर्जुन ।
धृतिका विवेचन । सुन तू अब ॥ ४२ ॥

धृतिका विवेचन—

पंच तत्वमें परस्पर । जाति-स्वभावसे है वैर ।
डुबोता है पृथ्विको नीर । प्रकट रूपसे ॥ ४३ ॥

पानीको तेज सोखता । वायु तेजसे लड़ता ।
वायुका नाश करता । गगन सहज ॥ ४४ ॥

कभी किसीमें न मिलकर । किसीसे मिलन न होकर ।
पैठकर भी भिन्न भीतर । रहता आकाश ॥ ४५ ॥

पंच-भूत ऐसे परस्पर । करते रहते सदा वैर ।
किंतु एक बनके शरीर । रूप होता प्रकट ॥ ४६ ॥

शत्रुता छोड भीषण । रहते कर संघटन ।
परस्पर कर पोषण । अपने गुणसे ॥ ४७ ॥

जिनमें स्वभावसे शत्रुता । रहती है वे कर मित्रता ।
जिस गुणसे है यह होता । धृति उसका नाम ॥ ४८ ॥

संघात और क्षेत्र-विवेचन—

तथा जीव सह साथ । छत्तीस है यहां साथ ।
वह है यहां संघात । तत्व जान ॥ ४९ ॥

ऐसे छत्तीस ही भेद । किये तुझसे विषद ।
इसको जान प्रसिध्द । क्षेत्र है यह ॥ १५० ॥

जैसे रथांगोंका समुदाय । रथ कहलाता धनंजय ।
या शरीरावयव इंद्रिय । कहलाता शरीर ॥ ५१ ॥

करि तुरंगादिका समाज । कहलाता है सैन्य सहज ।
वाक्य कहलाते हैं जो पुंज । शब्दोंके ॥ ५२ ॥

जल-धरोंके मंडल । कहलाते हैं बादल ।
अनेक लोक सकल । कहलाता जगत ॥ ५३ ॥

या तेल बात अगिन । आते जब एक स्थान ।
दीप कहते हैं जान । धनंजय ॥ ५४ ॥

ये जो छत्तीस ही तत्व । मिलते हैं हो एकत्व ।
वह समूह-परत्व । कहलाता क्षेत्र ॥ ५५ ॥

बोआईके व्यवहारसे । पाप-पुण्य पक जानेसे ।
हमने कहा कौतुकसे । क्षेत्र है यह ॥ ५६ ॥

अनेकोंका है मत । देह है यह पार्थ ।
इसके हैं अनंत । यहां नाम ॥ ५७ ॥

इस ओर परतत्वके । औ' उस ओर स्थावरके ।
होता जाता है जो उसके । नाम क्षेत्र है ॥ ५८ ॥

किंतु सुर-नर-उरग । आदि होते योनि-विभाग ।
सब गुण-कर्मके संग । भिन्न हैं पार्थ ॥ ५९ ॥

यह गुण-विवेचन । आगे आता है अर्जुन ।
प्रस्तुत है यहां ज्ञान- । रूप दिखाऊं ॥ १६० ॥

ज्ञानकी महानता, ध्यानकी विविधता—

तुझे क्षेत्र सविस्तर । मैंने कहा स-विकार ।
सुन अब तू उदार । ज्ञानका रूप ॥ ६१ ॥

जिस ज्ञानार्थ योगी-जन । स्वर्गका कर उल्लंघन ।
निगलते सदा गगन । धनंजय ॥ ६२ ॥

सिध्दिकी आस न करते । ऋध्दिका ध्यान न धरते ।
योगके कष्ट हैं सहते । तुच्छ मानके ॥ ६३ ॥

तप-दुर्गोंको पार करते । यज्ञादि अनुष्ठान करते ।
तथा उलटाकर छोड़ते । कर्म-वल्ली ॥ ६४ ॥

कुछ जो भजन मगन । दौडते हैं खुले बदन ।
कुछ सुरंगमें अर्जुन । घुसते सुषुम्नाके ॥ ६५ ॥

ऐसे हैं इस ज्ञानार्थ । मुनीश्वर जो इच्छित ।
फिरते हैं पात पात । वेद-तरुके ॥ ६६ ॥

देगी यह गुरु-सेवा । इस बुध्दिसे पांडव ।
करते जन्मका ठेवा । न्योच्छावर ॥ ६७ ॥

अजी ! प्रवेश उस ज्ञानका । नाश करता है अविद्याका ।
ऐक्य साधता जीव-आत्मका । पांडुकुमार ॥ ६८ ॥

इंद्रियोंका द्वार रोकता । प्रवृत्तिका पैर तोड़ता ।
दारिद्र्यको नष्ट करता । मन-बुध्दिका ॥ ६९ ॥

हरता द्वैतका अकाल । करता साम्यका सुकाल ।
प्राप्त होती ऐसी उज्वल । स्थिति ज्ञानसे ॥ १७० ॥

मदको करता नाम शेष । न रखता भ्रांति-अवशेष ।
तथा आप-परका है भास । नष्ट करता ॥ ७१ ॥

करता संसार उन्मूल । धोता संकल्प-महामल ।
घेरता ज्ञेयको सकल । जो है अनावर ॥ ७२ ॥

जिसका है उज्वलपन । खोलता बुध्दिके नयन ।
बने जीवका क्रीडांगन । आनंद धाम ॥ ७३ ॥

ऐसे है यह ज्ञान । पवित्र्यक्य निधान ।
जहां भ्रष्ट हो मन । होता निर्मल ॥ ७४ ॥

आत्माको जो जीव-बुद्धि । लगी जैसी क्षय-व्याधि ।
वह उसकी सन्निधि । करती दूर ॥ ७५ ॥

उस अनिरूपका निरूपण । सुनकर होगा बुद्धिको ज्ञान ।
किंतु देख न सकेंगे नयन । उसको कभी ॥ ७६ ॥

अजी ! शरीरमें वह जब । शक्ति प्रकट करता तब ।
इंद्रियोंके व्यापारसे सब । देखेंगे नयन ॥ ७७ ॥

वसंतका शुभागमन । दिखाता खिला हुवा वन ।
वैसे दिखाते हैं करण । अस्तित्व ज्ञानका ॥ ७८ ॥

वृक्षके जडमें नीर । पातालमें धनुर्धर ।
दिखाते वह अंकुर । लहरा कर जैसे ॥ ७९ ॥

अथवा भूमिकी है मृदुता । कहे अंकुरोंकी कोमलता ।
आचार गौरव विविधता । सत्कुलिनोंकी ॥ १८० ॥

आदरातिथ्यका समारोह । प्रकट करता जैसे स्नेह ।
या दर्शनसे होता उत्साह । पुण्य-पुरुषके ॥ ८१ ॥

कदली-वृक्षमें उत्पन्न कपूर । जाना जाता है सुगंधसे सुन्दर ।
जैसे प्रकाश फैलाता है बाहर । स्फटिक घटका दीप ॥ ८२ ॥

अजी ! वैसे हृदय स्थित-ज्ञान । प्रकटता बन देह-लक्षण ।
उसे कहता हूं तुझे अर्जुन । सुन ध्यान देकर ॥ ८३ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

ज्ञानके लक्षण—१ अमानित्व—

नहीं रुचता है उसे । होड करना किसीसे ।
सज्जनता भी है उसे । लगता बोझ ॥ ८४ ॥

करनेसे गुण-वर्णन । मान्यताका भी दिया मान ।
प्रकट होनेसे अर्जुन । योग्यताका ॥ ८५ ॥

घबडाता है वह कैसा । व्याधसे घिरा मृग जैसा ।
अथवा भंवरमें फसा । तैराक मानो ॥ ८६ ॥

सम्मानको यह सुभट । पास आया मान संकट ।
आने न देता है निकट । गरिमा अपने ॥ ८७ ॥

नम्रता दंभ-शून्यत्व अहिंसा ऋजुता क्षमा ।
पावित्र्य गुरु-शुश्रूषा स्थिरता आत्म-संयम ॥ ७ ॥

न देखना आंखोंसे पूजना । स्वकीर्ति कानोंसे न सुनना ।
लोगोंको स्मरण नहीं होना । अपना कभी ॥ ८८ ॥

वहां सत्कारकी गोष्ठि । न आदर न है भेटी ।
मनमें होता है कष्टी । नमस्कारसे ॥ ८९ ॥

वाचस्पतिकी भांति । सर्वज्ञताकी प्राप्ति ।
होके भी है छिपाती । भीति कीर्तिकी ॥ १९० ॥

चातुर्यको छिपाता । महत्वको भुलाता ।
बावला हो रहता । प्रेमसे जो ॥ ९१ ॥

लौकिकका उसे उद्वेग । शास्त्रार्थका भी है उबग ।
मनमें है नाम सुभग । रहता स्वस्थ ॥ ९२ ॥

लोगोंसे हो अनादर । आप्तोंसे न अंगीकार ।
ऐसी लालसा अपार । रहती उसकी ॥ ९३ ॥

नम्रताका व्यवहार । अल्पत्व हो अलंकार ।
करना ऐसे आचार । उसका स्वभाव ॥ ९४ ॥

रहता है या नहीं । ऐसा रहना कहीं ।
मनमें आशा यही । जीवनमें सदा ॥ ९५ ॥

चलता है या नहीं वहां । हवासे उडता है कहां ।
ऐसा भ्रम हो जहां तहां । सहज रहे ऐसा ॥ ९६ ॥

मेरा अस्तित्व हो लोप । मिट जाये नाम-रूप ।
जिससे भय हो लोप । प्राणि-मात्रका ॥ ९७ ॥

उसकी ऐसी मनौति । एकांतमें होती प्रीति ।
एकांतसे नित्य-रति । उसको सर्वत्र ॥ ९८ ॥

हवासे उसका पटता । गगनसे बोलना भाता ।
वृक्षोंसे मैत्री है करता । जीव-भावसे ॥ ९९ ॥

अथवा है इस भांतिके । लक्षण दीखते जिसके ।
सह-शैयामें ही उसके । रहता ज्ञान ॥ २०० ॥

साधकमें अमानित्व गुण । जानना है ऐसा सु-लक्षण ।
कहूंगा अदंभका लक्षण । तुझसे अब ।। १ ।।

२ अदंभका विवेचन—

अदंभत्व यह ऐसा । लोभीका धन हो जैसा ।
न कहता ठाव जैसा । प्राणांतमें भी ।। २ ।।

उस पर मानो सुभट । आया यदि प्राण-संकट ।
किंतु न करता प्रकट । सत्कर्म अपना ।। ३ ।।

सहज आयी दुग्धार्द्रता । सोखती गायकी दुष्टता ।
या छिपाती वेश्या प्रौढता । वैसे ही धनंजय ।। ४ ।।

या श्रीमंत श्री-मानता । अरण्यमें है छिपाता ।
या तनकी सुंदरता । कुलांगना ।। ५ ।।

बोया हुवा बीज छिपाता । उसपे है माटी डालता ।
ऐसे ही सत्कर्म छिपाता । पुण्यके वह ।। ६ ।।

देहकी पूजा नहीं करता । लोक-रंजन नहीं करता ।
स्वधर्मको न बांध सकता । वाग्ध्वजमें कभी ।। ७ ।।

परोपकार नहीं कहता । न करें साधनाकी वाच्यता ।
पाया हुवा पुण्य न बेचता । वैभवार्थ कभी ।। ८ ।।

देख उसके अंग-भोग । लगता कृपण अभाग ।
धर्म-कर्ममें महा-भाग । न कम या अधिक ।। ९ ।।

घरमें सदा तंग । रहता कृष अंग ।
दानमें आगे पग । सुर-तरु-सा ।। २१० ।।

या स्वधर्ममें महान । स-समय देता दान ।
आत्म-चर्चामें निपुण । वैसे मूढ ।। ११ ।।

कदलीका अंग छिलकेदार । लगे हलका थोथा धनुर्धर ।
होता है रसाल पकनेपर । वैसा ही जान ।। १२ ।।

या हलका अंग जैसे मेघका । उड़ायेगा मानो झोंका वायुका ।
किंतु बरसते आश्चर्यका । घनघोर मेह ॥ १३ ॥

होता वह पूर्णत्वमें जैसे । देख तृष्णा भी पूर्ण हो वैसे ।
किंतु रहता है कंगालीसे । परिपूर्ण ॥ १४ ॥

ऐसे जो चिन्ह-युत । दीखता है सतत ।
ज्ञान है करगत । नित्य उसके ॥ १५ ॥

है जो अदंभ पन । इसीका नाम जान ।
अब तू मर्म सुन । अहिंसाका ॥ १६ ॥

३ अहिंसा-विवेचन, याज्ञिक-अहिंसा—

अहिंसाके अनेक प्रकार । कहते हैं नाना मतांतर ।
करते हैं अपना प्रचार । निरूपणसे ॥ १७ ॥

वह सब ऐसा देख । जैसा तोड़ कर शाख ।
किया है जडमें देख । उससे बाढ ॥ १८ ॥

या हाथोंको तोड-बेचकर । करना क्षुधाका परिहार ।
या मंदिरको तुड़वा कर । बांधलें पौली ॥ १९ ॥

वैसे हिंसा कर अहिंसा । उत्पन्न करना है ऐसा ।
निर्णय है पूर्ण-मीमांसा– । का धनंजय ॥ २२० ॥

अवृष्टिके उपद्रवसे जब । विश्व होता है जर्जरित तब ।
करना याग नाना विध सब । पर्जन्यार्थ ॥ ५१ ॥

जब होता यज्ञका मूल । पशु-हिंसासे ही सरल ।
कहो तब अहिंसा-कूल । देखें कैसे ? ॥ २२ ॥

बोनेसे केवल हिंसा । फलेगी कैसी अहिंसा ।
अचरजका साहस । याज्ञिकोंका ॥ २३ ॥

आयुर्वेद और अहिंसा—

तथा अयुर्वेद संपूर्ण । इसी ढंगका है अर्जुन ।
करना जीवके कारण । जीव घात ॥ २४ ॥

विविध रोगसे पीडित । देख उसमें जर्जरित ।
हिंसा कर निवारणार्थ । कहा चिकित्सा ॥ २५ ॥

देखो उस चिकित्साको । खोदा किसीके जड़को ।
उखाड़ा किसी वृक्षको । समूल-पत्र ॥ २६ ॥

किसीका गाभा निकाल । किसिकी खाल छील ।
किसीका तोडा कोंपल । पकाने पुट देने ॥ २७ ॥

अजात-शत्रु वे तरुवर । सर्वांग उनका चीरकर ।
ऐसा जीव लेके धनुर्धर । किया नीरस ॥ २८ ॥

तथा जंगमको भी हाथ । लगाकर निकाला पित्थ ।
फिर किये रोग-पीडित । भले चंगे ॥ २९ ॥

व्यावहारिक अहिंसा—

अजी ! तोड वसति घर । बांधे जाते मंदिर-द्वार ।
व्यवहारमें लूट कर । बांधा अन्न-छत्र ॥ २३० ॥

पगडी बांधी सिरपर । अपनी धोती खोलकर ।
या तोडके अपना घर । डाला मंडवा ॥ ३१ ॥

अपनी रजाई जलाकर । ताप लिया जैसे रात-भर ।
जैसे स्नान करता कुंजर । मृतिकासे ॥ ३२ ॥

गोठा बांधा बैल बेच कर । या तोता दे लिया पंजर ।
ऐसी करणी देख कर । हंसी आती है ॥ ३३ ॥

कोई धर्म धर्म कहते । पानीको छानकर पीते ।
उसी तापसे हैं मरते । जीव असंख्य ॥ ३४ ॥

न पकाके खाते धान । हिंसाके भयसे जान ।
जिससे तडपे प्राण । यही है हिंसा ॥ ३५ ॥

एवं हिंसाको अहिंसा । कर्म-कांडमें है ऐसा ।
सिध्दांत है सुमन-सा । जान ले तू ॥ ३६ ॥

नाम लिया अहिंसाका । दर्शन हुवा मतोंका ।
अंकुर फूटा स्फूर्तिका । मतिमें यहां ॥ ३७ ॥

तब इसको कैसे छोड़ना । इसलिये पडा है कहना ।
तुझको भी इसे है जानना । यही भाव ॥ ३८ ॥

जब कभी अहिंसापे कहा जाता । इसी भांति है प्रतिपादन होता ।
इसीलिये सब कहना पड़ता । न तो अपथ क्यों जावें ? ॥ ३९ ॥

तथा स्व-मतका निर्धार । करनेमें है धनुर्धर ।
दूसरे मत-मतांतर । जानना अच्छा ॥ २४० ॥

तथा सुन तू यह पार्थ । निरूपणकी यह-रीत ।
अब कहता मुख्य बात । इसके बाद ॥ ४१ ॥

वास्तविक अहिंसा, श्रीज्ञानदेवका स्वमत --

अब कहूंगा मैं स्वमत । अहिंसाका रूप-लक्षित ।
उसको जानकर चित्त । प्रकटेगा ज्ञान ॥ ४२ ॥

जिसमें है अहिंसाका अधिष्ठान । प्रकट करेगा उसका वर्तन ।
जैसे कसौटी करे मूल्य-मापन । स्वर्णका वैसे ॥ ४३ ॥

होता ज्ञान औ' मनका मिलन । होता अहिंसाका बिंब-दर्शन ।
उसका रूप सुन तू अर्जुन । कहता हू मैं ॥ ४४ ॥

ज्ञानी अहिंसकका चलना—

जैसे तरंग न लांधता । पैरसे लहर न तोड़ता ।
पानकी ध्वनि भी न तोड़ता । अपने पैरसे ॥ ४५ ॥

वेगसे किंतु बचाकर । भक्षपे दृष्टि स्थिर-कर ।
चलता पैर उठाकर । बक-पक्षी जैसे ॥ ४६ ॥

अथवा कमल पर भ्रमर । रखता है कोमलतासे पैर ।
कहीं टूटेगा उसका केसर । इसके भयसे ॥ ४७ ॥

जैसे परमाणुमें छिपे हैं । छोटे जीव वह जानता है ।
दयासे ढकके चलता है । अपने पाव ॥ ४८ ॥

कृपाकी राह बनाकर । प्रेमसे दिशा भरकर ।
पद-तलमें बिछाकर । अपना जीव ॥ ४९ ॥

किस भांति बचाकर चलता । वर्णनमें शब्द नहीं मिलता ।
तथा जो है अनुपमेय होता । अर्जुन वह ॥ २५० ॥

स-ममता मुहसे उठाती । बिलाडी पिल्लेको ले जाती ।
पिल्लेको दांत नहीं लगाती । वैसे पार्थ ॥ ५१ ॥

अथवा स्नेहार्द्र जो माता । राह देखती स-ममता ।
शिशुकी तब जो मृदुता । होती दृष्टिमें ॥ ५२ ॥

या कमल-दल हिलाते । उससे जो पवन लेते ।
तब जैसे हैं सुख पाते । नयन पसार ॥ ५३ ॥

उस मार्दवसे जो पग । पृथ्वीपे रखता अलग ।
लगनेसे यदि वे स्वर्ग- । सुखसा मिलता ॥ ५४ ॥

ऐसे चलते हुए भी कोमल । कृमि-कीटक देखके दुर्बल ।
लौटता वहांसे वह निर्मल । सावकाश ॥ ५५ ॥

मेरे पगका शब्द भी यदि होगा । विश्व-व्यापकका निद्रा-भंग होगा ।
उसका सुख-रूप कुम्हलायेगा । ऐसे वह सोचता ॥ ५६ ॥

इस कारणसे सदैव । चलता है सावध-भाव ।
न कुचलता कोई जीव । कभी कहीं ॥ ५७ ॥

देख कर तृणमें भी जीव । न लांघना है उसका भाव ।
तब देख प्रत्यक्ष जीव । कुचले कैसे ॥ ५८ ॥

चींटा मेरू न लांघ सकता । झींगुर सिंधु नहीं तैरता ।
वैसा ही वह नहीं लांघता । कभी किसीको ॥ ५९ ॥

ज्ञानी—अहिंसकका बोलना—

ऐसी है उसकी रीत । कृपा फलसे है फलित ।
उसकी वाणीमें जागृत । दया दर्शनीय ॥ २६० ॥

स्व-शन उसका सु-कुमार । मानो मुख है प्रेमका घर ।
माधुर्यमें आये हैं अंकुर । ऐसे वे दांत ॥ ६१ ॥

आगे आगे चूता स्नेह-निर्झर । पीछे पीछे चलते हैं अक्षर ।
तब होता शब्दोंका अवतार । पहले आती कृपा ॥ ६२ ॥

उसका बोलना ही नहीं । बोलना चाहता जो कहीं ।
तो बोलना किसीको नहीं । चुभेगा कभी ॥ ६३ ॥

बोलनेमें होता क्या अधिक । चुभता क्या कोई बोल एक ।
होता क्या कोई सुन साशंका । रहता सावधान ॥ ६४ ॥

प्रतिपादित बात टूटेगी । किसीमें भीति उदित होगी ।
अन्य-बात उपेक्षित होगी । यही मनमें ॥ ६५ ॥

किसीका मन नहीं दुखाना । किसीकी भृकुटी न ऊठना ।
मनमें ही सोचता रहना । स्वस्थतासे ॥ ६६ ॥

कोई उनसे विनय करता । तब जो वह बोलने लगता ।
सुननेवाला है अनुभवता । यह है माय-बाप ॥ ६७ ॥

मानो नाद-ब्रह्मने लिया आकार । अथवा है गंगा-जलके तुषार ।
पतिव्रताका निर्मल मनोहर । वार्धक्य आया ॥ ६८ ॥

वैसा सत्य और कोमल । हित-मित किंतु सरल ।
मानो बोल होते कल्लोल । अमृतके हैं ॥ ६९ ॥

उपरोध विवाद बल । प्राणि-तापदायक बोल ।
उपहास शब्दका शूल । तथा मर्म-स्पर्श ॥ २७० ॥

हठ आवेश कपट छल । आशा शंका प्रथारणा-बोल ।
ये अवगुण तज सरल । बोलता वह ॥ ७१ ॥

ज्ञानी-अहिंसकका देखना—

वैसे ही उसकी पार्थ । होती है दृष्टि सतत ।
भृकुटिसे होती मुक्त । सर्वत्र ही ॥ ७२ ॥

प्राणिमात्र है ब्रह्मका स्थान । उसे होगी दृष्टिकी चुभन ।
इसीलिये है वह अर्जुन । न देखता कभी ॥ ७३ ॥

कहीं कभी किसी समय । हृदयसे हो कृपामय ।
खुले नयन सुखमय । तभी देखा ॥ ७४ ॥

चंद्र-बिंबसे स्रवती धार । न होती यदि वह गोचर ।
किंतु उससे होते चकोर । परिपुष्ट ॥ ७५ ॥

प्राणिमात्रका ऐसा होता । जब किसीको है देखता ।
ऐसी अवलोकन-प्रथा । न जाने कूर्मी-भी ॥ ७६ ॥

उसकी दृष्टि ऐसी है । सब भूतोंके प्रति है ।
उसके हाथ कैसे हैं । कहता अब ॥ ७७ ॥

ज्ञानी-अहिंसककी कार्य—प्रणाली—

होकर सदैव कृतार्थ । रहे सिद्धके मनोरथ ।
वैसे उसके होते हाथ । निर्व्यापार ॥ ७८ ॥

जैसे अंधेने छोडा देखना । निरिंधन अग्निका बुझना ।
अथवा गूंगेका मौन लेना । वैसे उसका ॥ ७९ ॥

इस भांति कुछ कहीं । उसको करना नहीं ।
आते हैं सब ही वहीं । बैठने हेतु ॥ २८० ॥

लगेगा झटका पवनको । या नख लगेंगे आकाशको ।
इस भावसे वह हाथको । हिलाता ही नहीं ॥ ८१ ॥

शरीरसे प्राणियोंको हटाना । या आंखोंसे धुर धुरे उडाना ।
या पशु पक्षियोंको देखना । इसी भावसे ॥ ८२ ॥

ऐसी है जिसकी बात । न लेता दंड या बेंत ।
कैसा लेगा वह पार्थ । हाथमें शस्त्र ॥ ८३ ॥

लीलासे कमलसे खेलना । सुमन-मालाको भी झेलना ।
उसको भी गोफिया मानना । स्वभाव उसका ॥ ८४ ॥

अपने शरीरके रोम हिलेंगे । इसलिये हाथ न सहलायेंगे ।
नखोंके लपट लिपट जायेंगे । उंगुलियों पर ॥ ८५ ॥

करनेको है जहां अभाव । बन गया है ऐसा स्वभाव ।
हाथोंका है तब निज-भाव । जुड़ जाते वे ॥ ८६ ॥

या उठते हैं अभय देने । आर्त दीनकी सेवा करने ।
गिरनेवालोंको संभालने । कभी कभी ॥ ८७ ॥

यह भी वह बलसे करता । आर्तका भय दुख हरता ।
उस हस्त-स्पर्शकी शीतलता । न जाने चंद्रमा भी ॥ ८८ ॥

उसका वह स्पर्श पाकर । लगे मलयानिलय कठोर ।
सहलाता हो प्रेम विभोर । पशुको भी ॥ ८९ ॥

हाथ जो रीता सदा खुला । चंदनांग जैसे निर्मल ।
न फलनेपे भी निष्फल । कह सकते नहीं ॥ २९० ॥

रहने दो यह वाग्जाल । जाने उसके करतल ।
जैसे है सज्जनोंका शील । स्वभाव वैसे ॥ ९१ ॥

ज्ञानीके अहिंसक मनका स्वरूप—

अब कहूंगा मनका लक्षण । यह कहना भी है विलक्षण ।
अब तक किया जो निरूपण । किसका विलास ॥ ९२ ॥

शाखा नहीं हैं क्या तरुवर । जल बिन होता क्या सागर ।
या तेज बिन क्या तेजाकार । संभव है क्या ॥ ९३ ॥

अवयव और शरीर । नहीं क्या एक ही आधार ।
अथवा रस और नीर । भिन्न है क्या ॥ ९४ ॥

इसीलिये यहां सर्व । कहे हैं जो बाह्य भाव ।
मन ही वे सावयव । ऐसे जानना ॥ ९५ ॥

जिस बीजका किया रोपन । फैला वही शाखा रूप बन ।
वैसे इंद्रियोंसे प्रसरण । होता मनका ही ॥ ९६ ॥

अजी! मनमें ही जो नहीं । अहिंसाका नाम भी कहीं ।
बाहर प्रगटे भी वही । कहो कैसे ॥ ९७ ॥

होती है जिसकी चाह पार्थ । वृत्ति वह मनमें उदित ।
होती वह फिर प्रकाशित । वाचादि इंद्रियोंसे ॥ ९८ ॥

मनमें जो है ही नहीं । वाचादिसे क्या कभी कहीं ।
बीज बिन अंकुर कहीं । उगता है क्या ॥ ९९ ॥

उगम ही जहां सूख जाता । प्रवाह कहो कैसे बहता ।
जीव जाने पर भी क्या होता । कहीं उद्योग ॥ ३०० ॥

मनका जब ममत्व टूटता । इंद्रियोंका व्यापार ही मिटता ।
सूत्रधार बिना नहीं चलता । गुडियाका खेल ॥ १ ॥

मन है वैसे पांडव । उसका मूल इंद्रिय भाव ।
व्यापार करता यही सर्व । इंद्रियों द्वारा ॥ २ ॥

किंतु जो समयके अनुसार । वासना रूप बनके अंदर ।
कार्य था वह रूपसे बाहर । आता इंद्रियोंसे ॥ ३ ॥

इसीलिये मनमें यथार्थ । होती है अहिंसा विकसित ।
पक्व सुगंध हो उल्लसित । फैलता वैसे ॥ ४ ॥

इन्द्रियां ही मनकी संपदा । बेचती हैं सर्वत्र सर्वदा ।
और है जो अहिंसाका धंदा । करती रहती हैं ॥ ५ ॥

जब आता समुद्रमें उभार । भरते हैं आखात चहूं ओर ।
स्व-संपत्तिसे चित्त बार बार । भरता इन्द्रियोंको ॥ ६ ॥

अजी! जैसे सदा पंडित । बालकका पकड हाथ ।
अक्षर करता है व्यक्त । अपने आप ॥ ७ ॥

वैसे अपना दयालूपन । हाथ पैरमें लाता है मन ।
करता फिर वहां उत्पन्न । अहिंसाके ॥ ८ ॥

इससे किया मैंने अर्जुन । इन्द्रियोंका अहिंसा-वर्णन ।
इससे है मनका दर्शन । होता स्पष्ट ॥ ९ ॥

इस भांति तन मन वचन । करता है दंड-त्याग अर्जुन ।
इसका ही होगा वहां दर्शन । सदा सर्वत्र ॥ ३१० ॥

ऐसा पुरुष है चर । ज्ञानका ही है मंदिर ।
यह है वह धनुर्धर । स्वयं ज्ञान-मूर्ति ॥ ११ ॥

करते जो अहिंसाका श्रवण । या ग्रंथोंमें होता है निरूपण ।
करना हो तो उसका दर्शन । इसीमें होगा ॥ १२ ॥

अहिंसा विवेचनमें वाग्विस्तारकी क्षमायाचना

कहना था देवका एक वचन । किया मैंने सुविस्तृत विवेचन ।
इसलिये करता क्षमा-याचन । आपसे मैं ॥ १३ ॥

हराभरा चारा देख जानवर । भूल जाता है लौट आना जो घर ।
पवन-गतिमें उड़ता अंबर । इससे दूर जाता पंछी ॥ १४ ॥

वैसे है प्रेमकी स्फूर्ति । खिलाती है रस-वृत्ति ।
बहते जाती है मति । स्वैर भावसे ॥ १५ ॥

वैसे भी नहीं अवधार । स-कारण किया विस्तार ।
वैसे शब्दके हैं अक्षर । केवल तीन ॥ १६ ॥

अजी ! शब्द हैं अहिंसा साधारण । उसपे पड़ा मतोंका आवरण ।
करनेसे उन मतोंका खंडन । स्पष्ट होता भाव ॥ १७ ॥

वैसे प्राप्त जो मत-मतांतर । उसका निरसन नहीं कर ।
अपनी भी बात कही दो-चार । न चलेगा वहां ॥ १८ ॥

अजी ! रत्न-पारखियोंके गांवमें । गांठसे गंडकी खोले बेचनेमें ।
अधुरा मान स्तवन करनेमें । न करें क्या स्तुति शारदाकी ॥ १९ ॥

सुगंध मंद है कर्पूरमें । कहते हैं जिस समाजमें ।
आटेको कपूर कहनेमें । धैर्य हो कसे ॥ ३२० ॥

इसीलिए सभामें ऐसे । मात्र बातूनी बननेसे ।
मिले आपका प्रेम कैसे । तभी बोला प्रभु ॥ २१ ॥

सामान्य और विशेष एक । मिलाया हुवा जो आप देख ।
उसको कानसे मुख तक । न ले जायेंगे ॥ २२ ॥

ग्रसता संदेहका खल-मल । जब शुध्द्-प्रमेय जो निर्मल ।
पैरोंकी स्फूर्ति आती उसी पल । पीछे भागनेकी ॥ २३ ॥

अजी ! जल-कुंभीसे । ढके हुए नीरसे ।
कभी न करे जैसे । क्रीडा हंस ॥ २४ ॥

चांदनी जो बादल पारसे । उसको नहीं देखता जैसे ।
आंख उठाकर कौतुकसे । चकोर पक्षी कभी ॥ २५ ॥

वैसे आप नहीं लेंगे पास । इस ग्रंथको इच्छासे खास ।
करेंगे सक्रोध उपहास । सा-शंक निरूपणपे ॥ २६ ॥

न कर संदेह निवारण । किया हो तो मैंने निरूपण ।
उससे कभी आपका मन । मिलेगा क्या मुझको ? ॥ २७ ॥

तथा मेरा जो यह संपूर्ण । कहनेका है सब कारण ।
आपका प्रसाद प्रति-क्षण । सदा सन्मुख हो ॥ २८ ॥

गीतार्थ आपको प्रिय मान । गीताको किया आश्रय-स्थान ।
तथा मान मैं प्राण-समान । बोलता हूं आपसे ॥ २९ ॥

आप अपना जो सर्वस्व देंगे । अपना स्वत्व यह छुडालेंगे ।
ग्रंथ नहीं यह बंधक मानेंगे । सर्व-भावसे ॥ ३३० ॥

अपने सर्वस्वका लोभ धरेंगे । या बंधकका अनादर करेंगे ।
गीता तथा मेरी भी आप मानेंगे । एक ही गति ॥ ३१ ॥

चाहता हूं मैं केवल । कृपा आपकी निर्मल ।
इसीलिये मैं ये बोल । बोलता हूं ॥ ३२ ॥

बैठे हैं आप रसिक जन । आपके योग्य देना व्याख्यान ।
तभी मतांतरका कथन । किया सब ॥ ३३ ॥

इससे कथा-विस्तार भया । श्लोकार्थसे कुछ दूर गया ।
सो मैंने क्षमायाचन किया । आपत्य-भावसे ॥ ३४ ॥

अजी ! कौरमें जब कंकड आता । उसको दूर करना ही पडता ।
उसे निकालनेमें समय जाता । दूषण है क्या यह ? ।। ३५ ।।

बालक जब चोरसे बचकर । आता है अपने घर कर देर ।
माता नहीं बोलती डांट कर । प्रसन्न हो कहती आया ! ।। ३६ ।।

किंतु यह बात ऐसी नहीं है । आपने सहा जो भला किया है ।
भगवानने जो आगे कहा है । वह सुनिये अब ।। ३७ ।।

कहता उन्मेख सुलोचन । सावध हो तू अर्जुन ।
कहूंग अब तुझे ज्ञान । परिपूर्ण जो ।। ३८ ।।

४ ज्ञानका लक्षण, शांति—

बिन आक्रोश जहां । क्षमा होती है कहां ।
ज्ञान होता है वहां । जान निश्चित ।। ३९ ।।

गहरे सरोवरमें जैसे । कमलिनी बढती है वैसे ।
या सुदैवीके घरमें जैसे । बढती संपत्ति ।। ३४० ।।

उसी भांतिसे है पार्थ । बढती क्षमा यथार्थ ।
उसके लक्षण सार्थ । कहते अब ।। ४१ ।।

जैसे प्रिय-भूषण । करते हैं धारण ।
वैसे है जो सहन । करता सर्व ।। ४२ ।।

त्रिविध तापोंका संपूर्ण । हुवा उनपे आक्रमण ।
तो भी उसका चित्त जान । नहीं होता चंचल ।। ४३ ।।

अपेक्षित पाके मन । होता है जैसे प्रसन्न ।
अनपेक्षितका जान । वही आदर ।। ४४ ।।

मानापमानको जो सहता । सुख दुःखको है समा लेता ।
निंदा-स्तुतिको भी मानता । एक समान ।। ४५ ।।

उष्मासे जो न तपता । शीतसे जो न कांपता ।
न किसीसे है डरता । किसी समय ।। ४६ ।।

अपने शिखरोंका जो भार । नहीं जानता है गिरिवर ।
भूमिका बोझ वराहावतार । नहीं जानता जैसे ॥ ४७ ॥

अनेक भूतोंके भारसे । पृथ्वी नहीं दबती वैसे ।
वह भी अनेक द्वंद्वोंसे । दबता नहीं ॥ ४८ ॥

नदी नद अनेक आते । जल-प्रवाह तीव्र लाते ।
समुद्र उसे समा लेते । अपनेमें जैसे ॥ ४९ ॥

वैसे उसके पास कभी कहीं । न सहना ऐसे कुछ भी नहीं ।
सहता जो कुछ है सभी कहीं । स्मरण भी न रखता ॥ ३५० ॥

उसको जो कुछ भी मिलता । उसको अपना कर लेता ।
सहनेका वहां नहीं पता । रहता कहीं ॥ ५१ ॥

यह जो अनाक्रोश क्षमा । जिसके पास प्रियोत्तम ।
जान तू वह है महिमा । ज्ञानका ही ॥ ५२ ॥

ऐसा पुरुष अर्जुन । ज्ञानका मानो जीवन ।
अब करें विवेचन । आर्जवका ॥ ५३ ॥

५ ज्ञानका लक्षण, ऋजुता—

जान तू आर्जव है ऐसे । प्राणका सौजन्य हो जैसे ।
सबपे यह समान-से । रहता जान ॥ ५४ ॥

जैसे मुख देखकर प्रकाश । नहीं देता जिस भांति चंडांश ।
विश्वको एकसा ही अवकाश । जैसे देता गगन ॥ ५५ ॥

ऐसे होता इसका मन । सबसे एक ही समान ।
तथा वैसा होता वर्तन । एकसा ही ॥ ५६ ॥

जगतसे उसका परिचय । निकटका नाता है अतिशय ।
भाषा नहीं वहां आप-पराया । सुननेमें आती ॥ ५७ ॥

मेल मिलाप सबसे । पानीका रहता जैसे ।
चितमें विकल्प ऐसे । रहता नहीं ॥ ५८ ॥

चलता है जैसे पवन । वैसा है उसका मन ।
संदेह लोभ कभी न । करता वह ॥ ५९ ॥

माताके सम्मुख बालक । आता है जैसे निःशंक ।
वैसे ही लोगोंके सम्मुख । उसके विचार ॥ ३६० ॥

कमलिनी जैसे ही सु-विकसित । न करती सुगंध संकुचित ।
वैसे ही नहीं रहता गुपित । अंतःकरण उसका ॥ ६१ ॥

निर्मलता जो रत्नोंकी । रत्नसे भी किरणोंकी ।
आगे होती है मनकी । तथा है कृति ॥ ६२ ॥

सदा वह संकल्प रहित । रहता अत्मानुभव तृप्त ।
नहीं लीपता उसका चित्त । तथा तजता नहीं ॥ ६३ ॥

झेंप कभी दृष्टिमें । संधिग्धता वाणीमें ।
हीन-बुध्दि मनमें । नहीं आती ॥ ६४ ॥

इंद्रियां सभी प्रांजल । निष्प्रपंच औ' निर्मल ।
पंच-प्राण सर्व-काल । रहते मुक्त ॥ ६५ ॥

जैसे अमृतकी धार । वैसे उसका अंतर ।
या इन चिन्होंका घर । होता है वह ॥ ६६ ॥

ऐसा पुरुष धनुर्धर । ऋजुताका है अवतार ।
या ज्ञानने किया घर । उसमें सदैव ॥ ६६ ॥

६ ज्ञानका लक्षण, आचार्योपासना-गुरुभक्ति—

अब मैं इसके अनंतर । कहता गुरु-भक्ति-प्रकार ।
उनको सुन चित्त देकर । धनंजय तू ॥ ६८ ॥

मानो सभी प्रकारके सुदैव । जन्म देती हैं यह गुरु-सेवा ।
तथा पाता शोकाकुल जीव । ब्रह्म-पद परम ॥ ६९ ॥

कहता हूं आचार्योपासना । प्रकट रूपमें मैं अर्जुन ।
चित्त देकर इसे सुनना । निष्ठा-पूर्वक ॥ ३७० ॥

समर्पण भाव—

जैसे सकल जल समृद्धि । लेके घुसती गंगा उदधि ।
या ब्रह्म-पदमें वेद-बुद्धि । करती प्रवेश ॥ ७१ ॥

या लपेटकर संपूर्ण जीवित । सर्वस्व गुण अवगुण सहित ।
करतीं है अपने सह अर्पित । पतिव्रता पतिको ॥ ७२ ॥

वैसे ही सर्वस्व अपना । गुरु-कुलको समर्पना ।
गुरु-भक्ति गृह बनाना । अपनेको ही ॥ ७३ ॥

गुरु-गृह वियोग—

जो है गुरु-गृहका देश । उससे भरता मानस ।
विरहिणीका मानस । प्रियसे जैसे ॥ ७४ ॥

गुरु-गृहसे जो आता पवन । देख उसका करके सम्मान ।
सनम्र कहता कर नमन । घर पधारिये ॥ ७५ ॥

गुरू-गृहका पागलपन । भाता उस ओरका वचन ।
अमानत जो रखता प्राण । गुरु-गृहमें ही ॥ ७६ ॥

गुरु-अज्ञाने मानो पकडा । देहको गावमें है जकड़ा ।
पगहासे गोठेमें बछडा । उसी भांति ॥ ७७ ॥

कब यह बंधन हटेगा । गुरुका दर्शन कब होगा ।
उसको निमिष भी बनेगा । युगसे बडा ॥ ७८ ॥

मानो गुरु-ग्रामसे कोई आया । अथवा गुरुने ही भेज दिया ।
हतायुको आयुष्य मिल गया । ऐसा होता है ॥ ७९ ॥

या सूकता हुवा अंकुर । पा लेता है जलकी धार ।
या अल्पोदकसे सागर । आयी मछली ॥ ३८० ॥

या रंकने पाया निधान । या अंधेने पाये नयन ।
भिक्षुकने पाया महान । इंद्र-पद जैसे ॥ ८१ ॥

नाम सुन ऐसे गुरु-कुलका । महा-सुख बढ़ता उसका ।
मानो आलिंगन गगनका । लिया जैसे ॥ ८२ ॥

गुरुकुलमें ऐसी जिसकी । ममता देखता तू उसकी ।
सेवा करता ज्ञान सदाकी । जान तू पार्थ ॥ ८३ ॥

गुरुकी मानस पूजा—

तथा जो हृदय-मध्यमें । डूबकर गुरु-प्रेममें ।
लीन होना उपासनामें । गुरुकी नित ॥ ८४ ॥

हृदय-शुद्धिका जो मंदिर । आराध्य जो वहां गुरुवर ।
सर्व-भावसे है परिवार । बनता आप ॥ ८५ ॥

अथवा है ज्ञानका मंदिर । उसमें आनंद पीठपर ।
ध्यानामृत-स्नान निरंतर । करता गुरु लिंगका ॥ ८६ ॥

उदय होते ही बोधार्क । बुद्धिके अक्षत सात्विक ।
भरके चढ़ाता त्र्यंबक– । पर लक्षावधि ॥ ८७ ॥

शुद्ध- त्रिकालमें निरंतर । जीव-दशा धूप जलाकर ।
जलाके ज्ञानारती कर्पूर । उतारता है ॥ ८८ ॥

सामरस्यका रस-पूर्ण । नैवेद्य कर समर्पण ।
आप बन पूजा-ब्राह्मण । गुरुको लिंग ॥ ८९ ॥

गुरुकी मधुरा–भक्ति—

अथवा जीवकी शैया पर । गुरु-पतिका आश्रय कर ।
प्रेम-भोग लेता निरंतर । बुद्धिसे जो ॥ ३९० ॥

कभी किसी समयमें ऐसे । अनुराग भरे हृदयसे ।
गुरु-स्मरण होता है जिसे । कहे क्षीर-सागर ॥ ९१ ॥

जहां ध्येय-ध्यान अति सुख । शेष-शैया पर जो निर्दोष ।
पहुडा है जो उसको देख । माना है श्री गुरु ॥ ९२ ॥

गुरुकी सेव्य–सेवक तथा वात्सल्य–भक्ति—

चरण-सेवामें वहां लीन । लक्ष्मीको अपना रूप मान ।
गरुड हो करता नमन । आप ही जो ॥ ९३ ॥

नाभीमें स्वयं जन्म लेता । गुरु-प्रेममें जो रमता ।
ध्यान-सुख अनुभवता । चित्तमें सदा ॥ ९४ ॥

कभी अपने भाव-बलसे । माता मान श्रीगुरुको जैसे ।
स्तन-पानके भावोन्मादसे । लेटता गोदमें ॥ ९५ ॥

या देख चैतन्य-तरुकी छाया । बनाके गुरु-कामधेनु गाय ।
बछडा बन आप पीछे गया । कल्पनामें गुरुके ॥ ९६ ॥

या मान गुरु-कृपा स्नेह-नीर । स्वयं बन उसमें जलचर ।
करता भक्ति-क्रीडा-विहार । कभी कल्पनासे ॥ ९७ ॥

होती गुरु-कृपा अमृत-वृष्टि । आप होता है सेवा-वृत्तिकी सृष्टि ।
इस प्रकारके संकल्पमें तुष्टि । पाता रहता वह ॥ ९८ ॥

बनता कुक्षि पक्ष बिन चेंदुवा । अपने मनमें वह है पांडव ।
उसके अथाह प्रेम-वैभव । इस भांतिके ॥ ९९ ॥

गुरुको पक्षिणी कर । चारा लेता चंचु पर ।
गुरुका जहाज कर । तरता आप ॥ ४०० ॥

गुरु–चिंतन, प्रसाद–सेवन—

जैसा भरा हुवा पूर्ण सागर । प्रसवता लहरपे लहर ।
वैसे ही ध्यानसे ध्यान-विचार । उमडते आते ॥ १ ॥

सदैव वह इस भांति । अंतरमें श्री गुरु-मूर्ति ।
भोगता अब बाह्यावर्ती । कैसे सुन तू ॥ २ ॥

करता मनमें निश्चय एक । करुंगा मैं गुरु-सेवा नेक ।
जिससे कहे गुरु स-कौतुक । कुछ मांग ले तू ॥ ३ ॥

देख ऐसी सच्ची उपासना । कहेंगे श्री गुरु हो प्रसन्न ।
तब करुंगा नम्र प्रार्थना । इस भांति मैं ॥ ४ ॥

कहूंगा श्री गुरुवर । मुझे देना ऐसा वर ।
बनूं सारा परिवार । मैं ही आपका ॥ ५ ॥

तथा उपयोगी वस्तु आपके । उपकरण सभी यहांके ।
मेरे ही रूप बने उसके । आपकी कृपासे ॥ ६ ॥

ऐसा म मांगूंगा वर । हां कहेंगे गुरु वर ।
फिर वह परिवार । बनूंगा मैं ॥ ७ ॥

गुरु–जीवनमें संपूर्ण समरसता—

उपकरण जात सकल । बन जाऊंगा मैं ही केवल ।
शुश्रूशा होगी तब सकल । वैभव-युक्त बन ॥ ८ ॥

गुरुवर माय अनेकोंकी । किंतु कर लूंगा मैं एककी ।
रज बनके पद-तलकी । उनकी कृपासे ॥ ९ ॥

पगलाऊंगा गुरु-अनुराग । लेंगे वे एक पत्नी-योग ।
मुझमें गुरु-अनुराग । लेगा क्षेत्र-संन्यास ॥ ४१० ॥

कितना ही बहे समीर । चार दिशाओंके अंदर ।
वैसे गुरु-कृपा-पंजर । बनूंगा मैं ॥ ११ ॥

अपने गुणोंका कर भूषण । गुरु-सेवा-स्वामिनीके चरण ।
सजाऊंगा बन मैं आच्छादन । भक्ति-पूर्वक ॥ १२ ॥

गुरु-स्नेहकी होगी वृष्टि । तले मैं पृथ्वी बन तुष्टि ।
पावुं ऐसी इच्छाकी सृष्टि । करता रहता ॥ १३ ॥

तथा श्रीगुरुका भवन । आप ही मैं सर्वस्व बन ।
करुंगा दास्य अनु दिन । वहांका सारा ॥ १४ ॥

आने जानेमें दातार । करेंगे देहरी पार ।
बनूंगा उसका द्वार । तथा द्वार-पाल ॥ १५ ॥

मैं गुरु-पादुका बनूंगा । उनको मैं ही चढ़ाऊंगा ।
छत्र-चामर मी बनूंगा । बारिबारिसे ॥ १६ ॥

बनूंगा मैं पथ-दर्शक । चंवर-धर हस्तक ।
औ' हाथमें ले दीपक । चलूंगा मैं ॥ १७ ॥

उनकी झारी बनूंगा । कुल्लेका पानी भी दूंगा ।
कुल्ला-पडगा भी बनूंगा । बनूंगा सर्वस ॥ १८ ॥

बांधूंगा हडप मैं । झेलूंगा थूंक भी मैं ।
करुंगा दासता मैं । स्नानादीकी ॥ १९ ॥

बनूंगा गुरूका आसन । अलंकारिक परिधान ।
उपचारार्थ मैं चंदन । बन जाउंगा ॥ ४२० ॥

बनूंगा रसोईदार । वैसे ही मैं उपहार ।
आरती मैं बनकर । उतारुं श्री गुरुको ॥ २१ ॥

श्री गुरु करेंगे आरोगन । मैं ही बनूंगा पंगत-जन ।
मैं दूंगा भोजनोत्तर पान । आगे बढकर ॥ २२ ॥

उठाऊंगा मैं जूठन । सेज पर बिछावन ।
तथा चरण-सेवन । करूंगा मैं ही ॥ २३ ॥

आप बनूंगा मैं सिंहासन । करेंगे श्री गुरु आरोहण ।
तब होगा पूर्णत्व ही जान । सेवा-धर्मका ॥ २४ ॥

तथा श्री गुरूका मन । करेगा किसीका ध्यान ।
विषय जो विलक्षण । बन जाऊं मैं ॥ २५ ॥

श्रवणांगणमें श्री गुरूके । बनूंगा शब्द लक्षके ।
स्पर्श होगा जहां अंगांगके । बनूंग मैं वह ॥ २६ ॥

तथा श्रीगुरुके नयन । स्नेह-पूर्ण अवलोकन ।
करेंगे जो रूप-दर्शन । बनूंगा मैं आप ॥ २७ ॥

उनकी रसनाको जो रुचेगा । सभी वे रस मैं बन जाऊंगा ।
सुगंध-रूपसे मैं ही करूंगा । घ्राण-सेवा ॥ २८ ॥

ऐसे ब्रह्म-मनोगत । श्रीगुरु-सेवा समस्त ।
बनकर वस्तु जात । करुंगा मैं ॥ २९ ॥

जब तक रहेगा यह शरीर । तब तक होगी सेवा भी सुंदर ।
देहांत पर होगा जो चमत्कार । सुनो बुध्दिका ॥ ४३० ॥

रज कण बनाके मैं तन । एकत्र करूंग उसी स्थान ।
पडेंगे श्री गुरुके चरण । जिस स्थानपे ॥ ३१ ॥

मेरे श्री गुरु स-कौतुक । करेंगे स्पर्श जो उद्क ।
वहां ले जाऊंगा मैं ठीक । प्रवाहमें आप ॥ ३२ ॥

श्री गुरुकी जहां होती आरती । या गुरु-गृहमें जली ज्योति ।
बनाऊंगा उन दीपोंकी दीप्ति । अपने तेजसे ॥ ३३ ॥

झलते हैं जहां उनपे चंवर । लय करूंग वहां मैं प्राण-सार ।
पाऊंगा ऐसा मैं सेवाका आधार । श्रीगुरु चरणका ॥ ३४ ॥

करेंगे जहां जहां श्री गुरु वास । वहां लय करूं शून्यमें आकाश ।
शरीर-गत पंच-तत्व विशेष । ले जाऊं श्री चरणोंमें ॥ ३५ ॥

जीकर या मरकर सतत । करूं ऐसे श्री गुरु-सेवा-व्रत ।
नहीं छोडूंगा औरोंको निश्चित । कल्पांतमें भी ॥ ३६ ॥

ऐसा जो धैर्य-संपन्न । सेवा-निरत है मन ।
होता है सीमा-विहीन । वह अपार ॥ ३७ ॥

रात्र--दिवस न जानता । अल्प बहुत न कहता ।
गुरु--आज्ञासे है खिलता । अधिकाधिक वह ॥ ३८ ॥

कार्य जो उसके निमित्त । होता गगनसे विस्तृत ।
करता अकेला समस्त । एक ही समयमें ॥ ३९ ॥

हृदयसे आगे दौडता । शरीर काजमें लगता ।
मनसे ही दौड़ा करता । काम करनेमें ॥ ४४० ॥

कभी कभी किसी काल । सुन श्री गुरुके बोल ।
करें अपना सकल । न्योच्छावर ॥ ४१ ॥

गुरु-सेवामें जो कृश । गुरु-प्रेममें संतोष ।
गुरु आज्ञामें निवास । करता आप ॥ ४२ ॥

गुरु-कुलमें जो स्व-कुलीन । गुरु-बंधु सौजन्य-सुजन ।
गुरु-सेवा व्यसनमें लीन । निरंतर जो ॥ ४३ ॥

गुरु-संप्रदाय है धर्म । वही उसका वर्णाश्रम ।
गुरु-सेवा ही नित्य-कर्म । उसके लिये ॥ ४४ ॥

गुरु-क्षेत्र गुरु-देवता । गुरु ही माता तथा पिता ।
इसके बिना न जानता । मार्ग अन्य ॥ ४५ ॥

श्री गुरुका ही है द्वार । उसका सर्वस्व-सार ।
गुरु-दास सहोदर । मानता प्रेमसे ॥ ४६ ॥

सदैव जिसका वक्त्र । गाता गुरु-नाम-मंत्र ।
गुरु-वाक्य बिन शास्त्र । न छूता जो ॥ ४७ ॥

श्री गुरुका पादोदक । जैसे भी हो जो उदक ।
सब तीर्थसे अधिक । मानता वह ॥ ४८ ॥

श्री गुरुका वह जूठन । सहसा पाकर प्रसन्न ।
होकर समाधि भी लीन । मानता वह ॥ ४९ ॥

गुरु-चरणके जो रज-कण । उड़ाता ज्यों सहज श्रीचरण ।
तदर्थ कैवल्य-सुख-दान । करता वह लीलासे ॥ ४५० ॥

अजी ! करना कितना विस्तार । गुरु-भक्तिका नहीं ओर-छोर ।
लहराया गुरु-भक्ति-सागर । कहा गया इतना ॥ ५१ ॥

जिसे प्रेम है इस भक्तिका । औत्सुक्य भी इस विषयका ।
रस न आता बिना सेवाका । चित्तमें अन्य ॥ ५२ ॥

तत्व-ज्ञानका वह आधार । ज्ञान लेता उससे आकार ।
ऐसा वह प्रत्यक्ष ईश्वर । ज्ञान उसका भक्त ॥ ५३ ॥

ज्ञान देता वहां साक्षात्कार । प्रत्यक्ष हो ज्ञान मुक्त-द्वार ।
विश्वमें वह अपरंपार । होता इस भांति ॥ ५४ ॥

गुरु-सेवामें मेरा आदर । अंतःकरणमें भर-पूर ।
इसलिये किया है विस्तार । इस विषयका ॥ ५५ ॥

वैसे मैं लूला हूं हाथोंसे । अंधा हूं भजन-ध्यानसे ।
लंगड़ा हूं गुरु-शुश्रूषासे । ऐसा मंद बुध्दि ॥ ५६ ॥

गुरु गुण-गानेमें मैं हूं मूक । आलसी ऐसा उदर पोषक ।
मनमें गुरु-अनुराग नेक । रहा सदैव ।। ५७ ।।

यही है एक कारण । यह शरीर पोषण ।
करना पड़ा रक्षण । कहता ज्ञानदेव ।। ५८ ।।

करके यह विस्तार सहन । दिया सेवा अवसरका दान ।
अब करूंगा सार्थ कथन । केवल-मात्र ।। ५९ ।।

अजी ! सुनो सुनो श्रीकृष्ण । वह भूत-भार-सहिष्णु ।
कहता है वह श्रीविष्णु । सुनता पार्थ ।। ४६० ।।

६ ज्ञानका लक्षण, पावित्र्य—

अजी ! शुचित्व जो है ऐसा । जिसके पास दीखे ऐसा ।
तन मन बना हो जैसा । कर्पूरसे ही ।। ६१।।

अथवा रत्नका है अंकुर । जैसे स्वच्छ अंदर बाहर ।
वैसे ही प्रकाशता भास्कर । अंतरबाह्य ।। ६२ ।।

कर्मसे शरीर निर्मल । ज्ञानसे हृदय उज्वल ।
अंतर्बाह्य ऐसा सोज्वल । परिशुद्ध ।। ६३ ।।

मृत्तिका और जल । होता बाहर मेल ।
निर्मल होते बोल । वेदके जैसे ।। ६४ ।।

चाहे जब बुद्धिका बल । करता दर्पण उज्वल ।
सौंदणी करता उज्वल । कपडेका दाग ।। ६५ ।।

इस भांति उसका शरीर । कर्मसे हुआ शुद्ध बाहर ।
तथा ज्ञान-दीप है अंतर । तभी परिशुद्ध ।। ६६ ।।

वैसे सुन तू पांडु-सुता । अंदर जो शुद्ध न होता ।
बाहर जो कर्म करता । वह है उपहास ।। ६७ ।।

जैसा लाश पर लादा आभूषण । या गर्दभको डाला प्रयाग-स्नान ।
कडुवी तुंबी पर मधु-लेपन । किया वैसे ।। ६८ ।।

या उजाड-घरमें बंधनवार । अन्न लगाया भूखोंके पेट पर ।
अथवा बिंदी लगायी माथे पर । विधवाने जैसे ।। ६९ ।।

कलश चढाया कल्थीका पोला । ऊपर चमकता सोना-सा पीला ।
वैसे क्या कामका है चित्रका फल । अंदर है गोबर ॥ ४७० ॥

वैसे है कर्म बाहरका । हीन-वस्तु नहीं मोलका ।
गंगामें धोनेसे मलका । घडा न होता शुद्ध ॥ ७१ ॥

अजी ! अंतर होता ज्ञानसे उज्वल । तभी बाहर होता है कर्म निर्मल ।
किंतु कहां होता ज्ञान-कर्मका मेल । ऐसे संभव ॥ ७२ ॥

इसीलिये बाह्य-भाग । धोया कर्मसे सर्वांग ।
ज्ञानसे मिटाया जंग । अंतरंगका ॥ ७३ ॥

इससे अंतर बाह्य गया । एक निर्मलत्व ही भया ।
अथवा मात्र रह गया । शुचित्व ही ॥ ७४ ॥

सद्-भाव जो जीवगत । बाहर होता है प्रकटित ।
स्फटिक सदनमें स्थित । दीपक जैसे ॥ ७५ ॥

जिससे विकल्प उपजते । व्यर्थके विकार भी उठते ।
कु-प्रवृत्ति-बीजमें फूटते । अंकुर अनेक ॥ ७६ ॥

बात ऐसी सुन या देखता । चितपे तरंग न उठता ।
जैसे आकाश नहीं मलता । बादलोंसे ॥ ७७ ॥

वैसे इंद्रियां भोग-लिप्त । विषय-रत हो सतत ।
किंतु विकार नहीं स्फूर्त । होते वहां ॥ ७८ ॥

किसी पथ पर किसी दिन । हो भली बुरी स्त्रीका दर्शन ।
नहीं होते विकार उत्पन्न । उसी भांति ॥ ७९ ॥

या पति-पुत्रसे आलिंगन । करे एक ही तरुणांगना ।
पुत्र-भावमें वहां स्फुरण । होता नहीं कामका ॥ ४८० ॥

जिसका हृदय है वैसे निर्मल । संकल्प-विकल्प ज्ञानमें कुशल ।
कृत्य-अकृत्य जानता जो सकल । सभी प्रकारके ॥ ८१ ॥

पानीमें जैसे हीरा नहीं भीगता । उबालनेसे कंकड नहीं गलता ।
वैसे जिसका चित्त नहीं लीपता । विकल्पसे कभी ॥ ८२ ॥

इसका नाम शुचिता । सार्थ है जान तू पार्थ ।
जहां देखो वहां बसता । निःशंक-ज्ञान ॥ ८३ ॥

८ ज्ञानका लक्षण, स्थैर्य—

तथा स्थैर्य जहां बसता । चित्तका घर बना लेता ।
वह पुरुष जान पार्थ । जीवन ज्ञानका ॥ ८४ ॥

लदा देह कार्य-रत । चलता अपना पथ ।
किंतु होता स्थिर-चित्त । अंतरंगमें ॥ ८५ ॥

बछडे परसे गायकी जैसे । न जाती ममता वनमें वैसे ।
सती जानेमें पतिके भोगसे । प्रिय नहीं होते ॥ ८६ ॥

अथवा लोभी जाता है दूर । चित्त रहता गांठ ही पर ।
वैसे चलनेसे भी शरीर । चित्तसे वे अचल ॥ ८७ ॥

चलते रहते हैं बादल । रहता है आकाश निश्चल ।
भ्रमण-चक्रमें अचल । ध्रुव है जैसे ॥ ८८ ॥

पथिकोंका होता अवागमन । साथ पथ न चलता अर्जुन ।
वृक्ष भी नहीं छोडते स्वस्थान । वैसे जान तू ॥ ८९ ॥

वैसे ही चलन-वलनात्मक । शरीर है यह पंच भौतिक ।
पंच-भूतोर्मियोंमें वह एक । रहता है स्थिर ॥ ४९० ॥

जैसे बवंडरका कल्लोल । पृथ्वीको न करते चंचल ।
वैसे उपद्रवोंके उबाल । उसको डिगाते नहीं ॥ ९१ ॥

दैन्य-दुःखमें जो नहीं तपता । भय-शोकमें जो नहीं कांपता ।
शरीरके नाशमें नहीं डलता । भयसे कभी ॥ ९२ ॥

आशा-आसक्तिके भारसे । वार्धक्य-व्याधिके विशेष भयसे ।
आगे औ' पीछे लगे रहनेसे । रहता जो निश्चल ॥ ९३ ॥

निंदा या तेजोवधसे अपमानित । काम-लोभादिकसे भी जो आच्छादित ।
किंतु अंतरंगमें रहता है शांत । रोम भी हिलता नहीं ॥ ९४ ॥

आकाश भी है यदि टूटता । भूमिका मध्य-बिंदु ढलता ।
तो भी परावृत्त नहीं होता । चित्तसे वह ॥ ९५ ॥

हाथी पे किया फूलसे प्रहार । उसको नहीं लगता है मार ।
वैसे तीखे दुर्वचन प्रहार । उसको न करें अशांत ॥ ९६ ॥

जैसे क्षीरार्णव-कल्लोल । न कंपाता मंदराचल ।
या प्रचंड अग्निका ज्वाल । नहीं जलाता आकाश ॥ ९७ ॥

आती जाती है मानो लहर । किंतु चित्त न होता अस्थिर ।
क्षमा-धैर्यका वह आधार । कल्पांतमें भी ॥ ९८ ॥

स्थैर्यकी यह परि-भाषा । कही है मैंने सविशेष ।
देख यह लक्षण-दशा । अति स्पष्ट ॥ ९९ ॥

पराक्रम-पूर्ण यह स्थिरता । अपनेमें जो अंतर्बाह्य पाता ।
ज्ञानका सागर ही बनता । अपने आप ॥ ५०० ॥

९ ज्ञानका लक्षण, इंद्रिय-निग्रह—

सांप जैसे शत्रुका घर । सैनिक अपना हत्यार ।
लोभी अपना भंडार । नहीं भूलते ॥ १ ॥

अथवा इकलौता बालक । माताका सर्वस होता नेक ।
मधुपे जैसे मधु-मक्षिका । लोभिन होती ॥ २ ॥

इस भांति जो अर्जुन । करता स्वचित्त जतन ।
उन्हे न देता कभी स्थान । इन्द्रिय-द्वारमें ॥ ३ ॥

कहता काम-भकाऊ सुनेगी । या आशाकी चुडैल देखेगी ।
अंतःकरणकी स्थिति जानेगी । इससे डरता हूं ॥ ४ ॥

बाहरकी ढीलको जैसे । साहसी पुरुष भी वैसे ।
मुट्ठीमें ही रखता वैसे । अपनी वृत्तिको ॥ ५ ॥

रखता है संयममें नित । अंतरको रखके सचेत ।
रखता तनको नियमित । आजीवन ॥ ६ ॥

मनके महाद्वार पर । प्रत्याहारके थाने पर ।
यम-दमके चौकीदार । बिठाता सदैव ॥ ७ ॥

आधार-नाभि-कंठमें । बंध-त्रयके घरमें ।
चन्द्र-सूर्य संपुटमें । सुलाता नित ॥ ८ ॥

समाधि-शैयाके पास पार्थ । लांघ रखता ध्यान सतत ।
तथा चित्त-चैतन्यमें रत । रखता उमगसे ॥ ९ ॥

यह जो चित्तकी स्थिति है । कहाता चित्त-निग्रह है ।
यही सदैव विजय है । ज्ञानका ही ॥ ५१० ॥

जिसकी आज्ञा सदैव अर्जुन । झेलता रहता अंतःकरण ।
उसको मनुष्याकारमें जान । आज्ञा-स्वयं ॥ ११ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

१० ज्ञानका लक्षण, वैराग्य—

विषयोंके विषयमें । सदा वैराग्य मनमें ।
भर आता उमंगमें । जिसके है ॥ १२ ॥

वमन किया हुवा अन्न । न चाहता रसना-मन ।
न होती इच्छा-अलिंगन । करने की प्रेतसे ॥ १३ ॥

जैसे विष भोजन नहीं भाता । जलते घरमें न जाया जाता ।
व्याघ्र-गव्हरमें नहीं करता । वसति-स्थान ॥ १४ ॥

तप्त लोह-रसमें जैसे । कूदा नहीं जाता है वैसे ।
तकिया न करता जैसे । अजगरका कोई ॥ १५ ॥

इस भांति जिसको अर्जुन । विषय-वार्ता न भाती जान ।
इन्द्रिय-सुखमें विषयान्न । नहीं जाने देता ॥ १६ ॥

चित्तमें निरहंकार विषयोंमें विरक्तता ।
जन्म-मृत्यु-जरा रोग दुःख दोष विवेचना ॥ ८ ॥

विषयोंमें जो आलस्य । शरीरमें सदा कार्ष्य ।
शम दममें स्वारस्य । रहता जिसका ॥ १७ ॥

तप-व्रतोंका सम्मिलन । होता है उसका जीवन ।
मानता युगांत समान । जनमें आनेको ॥ १८ ॥

योगाभ्यासमें आस । विजनोंमें उल्हास ।
जन-संगकी भास । भाती नहीं ॥ १९ ॥

शर-शैयापे शयन । पूय-पंकमें लुंटन ।
वैसे ही भोगता मान । विषय भोग ॥ ५२० ॥

तथा स्वर्ग-प्राप्तिकी बात । सुननेमें भी घृणा पार्थ ।
मानो वह श्वान-पिशित । सडा हुवा जो ॥ २१ ॥

यह है विषय-वैराग्य । आत्म-लाभका जो सौभाग्य ।
इससे ब्रह्मानंद-योग्य । होता जीव ॥ २२ ॥

उभय भोगमें जो त्रास । पाता है जिसका मानस ।
वहां ज्ञान करता वास । ज्ञान सदैव ॥ २३ ॥

११ ज्ञानका लक्षण, अनहंकार—

करता जो निष्ठा पूर्वक । सत्कार्य नित्य नैमित्तिक ।
कर्तृत्व-भावसे अलीक । रहता अलिप्त ॥ २४ ॥

वर्णाश्रमके पोषक । कर्म नित्य-नैमित्तिक ।
करें नियम-पूर्वक । अखंडित ॥ २५ ॥

किंतु यह सब मैंने किया । या यह मुझसे सिध्द भया ।
स्मरणमें भी न रखा गया । कभी किंचित ॥ २६ ॥

सहसा जैसा पांडुकुमार । वायुका होता सर्व-संचार ।
या उदय होता है भास्कर । निराभिमानसे ॥ २७ ॥

या श्रुतिके स्वाभाविक बोल । या गंगाकी निरुद्देश्य चाल ।
उसके व्यवहार सकल । ऐसे अहंकार शून्य ॥ २८ ॥

उचित-समय जैसे वृक्ष फलते । हम फले या नहीं यह न जानते ।
ऐसी वृक्ष-वृत्तिसे जो हैं रहते । कर्म रत सदैव ॥ २९ ॥

ऐसे मन कर्म-वचन । अहंकार रहित जीवन ।
मणि-मालाका खींचा जान । बीचका सूत्र ॥ ५३० ॥

संबंध बिन जैसे बादल । आकाशमें चलते हैं चाल ।
ऐसे कर्म उसके सरल । तनसे होते हैं ॥ ३१ ॥

शराबीके तनपे वस्त्र । या चित्रके हाथमें शस्त्र ।
बैल पर लादा है शास्त्र । वैसे ही अर्जुन ॥ ३२ ॥

उसको जैसे इस शरीरमें । मैं हूं इसका भान न हो मनमें ।
निरंहकारिता है सहजमें । कहते इसको ॥ ३३ ॥

संपूर्ण जहां यह दीखता । वहीं है ज्ञान घर करता ।
नहीं है यहां आवश्यकता । संदेहकी कोई ॥ ३४ ॥

१२ ज्ञानका लक्षण, गुणदोष-दर्शन—

जन्म मृत्यु जरा दुःख । व्याधि वार्धक्य कलुष ।
सावध रहता देख । दूरसे जो ॥ ३५ ॥

मांत्रिक जैसे पिशाचका । तथा योगी उपसर्गका ।
राजा आगे पीछे होनेका । देखता पहलेसे ही ॥ ३६ ॥

जैसे वैर जन्मांतरका । साप न जाने भूलनेका ।
वैसे वह पूर्व जन्मका । धोता दोष ॥ ३७ ॥

आंखमें कंकर न घुलता । घावमें बरछा न सहता ।
वैसा वह दुःख न भूलता । जन्म-जन्मका ॥ ३८ ॥

पूय-गर्तमें मैं गया । मूत्र-रंध्रमें निभाया ।
सहज ही स्वाद लिया । कुच-स्वेदका ॥ ३९ ॥

सदैव वह इस प्रकार । करता है जन्मका विचार ।
जिससे हो जन्म बार बार । ऐसा न करता कुछ ॥ ५४० ॥

जैसे दांव हारा हुवा जुवारी । जीतनेमें करता फुरहरी ।
अथवा जैसे बापका वैरी । मारता पुत्र ॥ ४१ ॥

हत्याके बाद अपनोंका नेक । बदला लेता है अंग-रक्षक ।
ऐसे यह जन्मका है देख । पीछा करता ॥ ४२ ॥

किंतु जनमकी जो लाज । न छोडता अपनी निज ।
संभावित जैसे निस्तेज । सहता नहीं ॥ ४३ ॥

तथा मृत्यु आगे आयेगी । कल्पांतमें जा जकडेगी ।
किंतु उसकी आज होगी । तत्परता जागृत ॥ ४४ ॥

मध्य-प्रवाह अथाह सुनकर । तैरनेवाला जैसे किनारे पर ।
सावधान हो कमर बांधकर । होता है सिद्ध ॥ ४५ ॥

या रणमें जानेसे पूर्व अर्जुन । संभालकर होता है सावधान ।
घाव लगनेसे पूर्व ही ओढन । आगे करता जैसे ॥ ४६ ॥

या जानके आगेका पथ-वध । पथिक होता पहले सावध ।
अथवा मृत्युसे पूर्व औषध । करते जैसे ॥ ४७ ॥

नहीं तो सदैव ऐसा होता । जलते घरमें है फंसता ।
तब कुंआं खोदने जो लगता । व्यर्थ होता जान ॥ ४८ ॥

अथाह गर्तमें डूबे जैसे पत्थर । संसार सागरमें वैसे धनुर्धर ।
डूब गये हैं कई चीख चीखकर । ऐसा करेगा कौन ॥ ४९ ॥

जिसका रहता समर्थसे वैर । तब वह जैसा आठ ही पहर ।
रहता है बांधकर तलवार । सावधान हो ॥ ५५० ॥

बाप मानता कन्या उपवर । या सन्यासी रहता मरने तैयार ।
वैसे वह सदैव मृत्युका विचार । करता रहता है ॥ ५१ ॥

ऐसे जन्मसे जन्म-निवारण । औ' मृत्युसे कर मृत्यु-हरण ।
स्वयं रहता करके धारण । अपना निज-रूप ॥ ५२ ॥

उसके घरमें ज्ञानका । अभाव न रहा जिसका ।
गया दु:ख जन्म-मृत्युका । धनंजय ॥ ५३ ॥

न छूता उसका शरीर । वार्धक्य अभी धनुर्धर ।
तभी करता है विचार । तारुण्यमें वृद्धत्वके ॥ ५४ ॥

कहे आज इस अवसर । बडा हुवा है यह शरीर ।
होगा सूखा पातसा आखर । कल निश्चित ॥ ५५ ॥

जैसे दैव-हीनके व्यवसाय । मंत्री-हीन राजाके राज-कार्य ।
वैसे ही होंगे मेरे हाथ पाय । बल-हीन ॥ ५६ ॥

लेनेमें पुष्पोंकी गंध । नाक बनेगी निर्गंध ।
जैसे बधिर एकाध । ऊन्टकी टांग ॥ ५७ ॥

जैसे वोढर-पशुके खुर । सढते हैं कीचडमें भर ।
वैसे ही होगा मेरा शरीर । वार्धक्यसे ॥ ५८ ॥

ईर्शासे जो पद्म-दलसे । लडते नयन ये जैसे ।
होंगे सडे परवलसे । रूप-हीन ॥ ५९ ॥

भिवयोंके पलक जैसे । झूलेंगे जो गली-छालसे ।
गिरेंगे आंसू भी उनसे । सडेगा उर ॥ ५६० ॥

गिरगिट कीकरपे दौडता । और कर्तारसे गजबजाता ।
उसी भांति है लारसे बनता । मुख मेरा ॥ ६१ ॥

रसोयी-घरकी नालीमें । बुदबुदाते मांड-सांडमें ।
वैसे ही तब नाकमें । लथपतायेगा ॥ ६२ ॥

तांबूलसे होंठ सजाकर । हंस हंस दांत दिखाकर ।
बोलसे मैं सदा स-नागर । दिखाता अकड ॥ ६३ ॥

उन्हीं होंठ पर कल । आयेगी लार उबल ।
दांत दाढ भी निकल । जायेगी सब ॥ ६४ ॥

अथवा ऋणसे डूब जाता कृषक । वर्षा-झडी में पशु लगाते बैठक ।
वैसे उठ नहीं सकेगी यकायक । यही जीभ ॥ ६५ ॥

जैसे सूखे हुये तिनके । हवा में उडते घासके ।
वैसे ही डाढ़ीके बालोंके । होंगे हाल ॥ ६६ ॥

तथा झडीसे आषाढ़की । झरनी खाई पहाडकी ।
वैसे मुखसे लारकी । बहेगी धार ॥ ६७ ॥

बोल तुतला घिघियायेंगे । कान तुतुने बधिरायेंगे ।
पिंड जकड कुम्हलायेगा । मानो वानर-सा ॥ ६८ ॥

खेतोंमें हौवा जैसे घासका । कांपता खाके झोंका हवाका ।
वैसे हाल होगा सर्वांग शरीरका । उस समय ॥ ६९ ॥

पैरमें पैर अटकेंगे । हाथ कांप सकुचायेंगे ।
शरीर-कर्म उपहासेंगे । अपने आपको ॥ ५७० ॥

होंगे मलमूत्रादिके द्वार । जैसे टूटे घडेके खापर ।
और मेरे निधनमें इतर । करेंगे मनौतियां ॥ ७१ ॥

यह देखके कोसेगा जग । होगा तब मृत्युका वियोग ।
आप्त-जन करेंगे उबग । तब मेरा ॥ ७२ ॥

स्त्रियां कहेंगी मुझको भूत । सुन होंगे बालक मूर्छित ।
इससे बनूंगा मैं सतत । घृणा-पात्र ॥ ७३ ॥

रातमें खांसीका उबाल । सोये हुये सुन सकल ।
"कितनोंको खायेगा काल" । कहेंगे "न जाने यह" ॥ ७४ ॥

वार्धक्यका ऐसा विज्ञापन । देख होता वह सावधान ।
तारुण्यमें ही उसका मन । होता उपशम ॥ ७५ ॥

कहता यह कल आयेगा । आजका भोगमें बीतेगा ।
आत्म-हितमें क्या रहेगा । अपने पास ॥ ७६ ॥

आनेसे पहले बधिरता । सुनने-योग्य सब सुनता ।
जब तक पंगु नहीं होता । करता देशाटन ॥ ७७ ॥

जब तक दृष्टि रहती । देखने योग्य देख लेती ।
जब तक वाचा रहती । गाता मंगल-गान ॥ ७८ ॥

हाथ होंगे ये तब बधिर । जान करता अब अधीर ।
सत्कर्मको वह निरंतर । दानादिक ॥ ७९ ॥

ऐसा होगा तब सकल । मन होगा जान पागल ।
ध्यान-मग्न होता निश्चल । आत्म-ज्ञानमें ॥ ५८० ॥

चोर आयेंगे दिनमें जो जानता । तभी संपत्तीकी व्यवस्था करता ।
दीप बुझनेसे पहले लगाता । वस्तु सुचारु रूपसे ॥ ८१ ॥

वैसे वार्धक्य कल आयेगा । यह सब ही व्यर्थ जायेगा ।
तारुण्यमें ही कर रखेगा । सभी व्यवस्था ॥ ८२ ॥

अति दुर्गम-पथ यह जान । संध्याकाल कर अवलोकन ।
आप मात्र निकला जो अर्जुन । क्या करेंगे चोर ॥ ८३ ॥

ऐसी जराकी आहट पाकर । जो व्यर्थ न हो यह जानकर ।
बैठा है शत-वृद्ध बनकर । उसको डरना क्या ? ॥ ८४ ॥

फटकी बालोंको फटकना । उससे न निकलना दाना ।
या राखको ही फिर जलाना । इससे होगा क्या ? ॥ ८५ ॥

करके वार्धक्यका विचार । किया उसका प्रभाव दूर ।
उसके पास ज्ञान अपार । रहता सदैव ॥ ८६ ॥

वैसे ही नहीं जब अनेक रोग । जिसके नहीं व्यापते सभी अंग ।
तभी वह आरोग्यका उपयोग । करता सदैव ॥ ८७ ॥

अजी ! सांपके मुखसे । गिरा हुवा कौर जैसे ।
तज देता सदा वैसे । बुध्दिमान ॥ ८८ ॥

जिसके वियोगसे दुःख । बढ़ते विपत्ति औ' शोक ।
तजके वैसे स्नेह-सुख । रहता उदासीन ॥ ८९ ॥

अजी ! दोष स्पर्शेंगे कैसे । न करता कर्म जो वैसे ।
नियमित कर्मेंद्रियोंसे । रोकके रहता ॥ ५९० ॥

ऐसे अनेक युक्तिसे । रहता है दक्षतासे ।
ज्ञान-संपत्तिका बसे । मानो स्वामी ॥ ९१ ॥

अब और ही एक । लक्षण अलौकिक ।
कहता सुन नेक । धनंजय ॥ ९२ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

१३ ज्ञानके लक्षण, अनासक्ति—

वह अपने शरीर पर । उदास होता इस प्रकार ।
पथिक पराये वस्तु पर । बैठा हो रक्षक ॥ ९३ ॥

या जैसे है साया वृक्षकी । क्षण भर मिली राहकी ।
घर पर नहीं उसकी । ममता उतनी भी ॥ ९४ ॥

सायाकी भांति रहता है जैसे । रह कर भी न जानता वैसे ।
रहता है अलोलुप भावसे । पत्नीमें नित ॥ ९५ ॥

वैसे ही संतानके विषयमें । रहता जैसे पंथी पड़ावमें ।
अथवा गोरु वृक्षकी सायामें । बैठ जाते हैं ॥ ९६ ॥

यदि वह रहता श्रीमंत । ऐसे रहता है पांडुसुत ।
जैसे रहा कोई साक्षीभूत । किसीके धनका ॥९७ ॥

या तोता जैसे पिंजडेमें । रहना स्वामीकी आज्ञामें ।
ऐसे वह वेद- आज्ञामें । रहता हो विधेय ॥ ९८ ॥

वैसे ही गृह-दारा-पुत्र. । बना नहीं रखते मित्र ।
उसको तू जान पवित्र । नींव-ज्ञानकी ॥ ९९ ॥

१४ ज्ञानके लक्षण, अखंड सम-चित्तता—

तथा महा-सिंधु जैसे । ग्रीष्म-वर्षामें एकसे ।
इष्ट अनिष्ट भी वैसे । जानता नहीं ॥ ६०० ॥

या तीन कालमें नहीं होता । तीन प्रकारका सविता ।
वैसे सुखदु:खमें रहता । समचित्त वह ॥ १ ॥

निःसंग वृत्ति कर्मोंमें पुत्रादिमें अलिप्तता ।
प्रिय अप्रिय लाभोंमें अखंड समचित्तता ॥ ९ ॥

जहां आकाशकी भांति । साम्यमें स्वामी न आती ।
जान तू सुभद्रापति । वहां है ज्ञान ॥ २ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

१५ ज्ञानका लक्षण, निष्काम एकनिष्ठ भक्ति—

वैसे ही बिना मेरे कहीं । श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं ।
ऐसा दृढ निश्चय सही । जिसने किया ॥ ३ ॥

काया-वाचा तथा मनसे । कृत-निश्चय किया ऐसे ।
मेरे बिना दूसरा ऐसे । नहीं देखते ॥ ४ ॥

या जिसने अपना मन । किया पूर्ण मुझमें लीन ।
एकत्वमें शय्या-समान । कर लिया है ॥ ५ ॥

चितामें जाते समय सती । अन्य न सोचती बिना-पति ।
ऐसे उसकी केवल गति । एकमात्र मैं हूं ॥ ६ ॥

मिल कर भी जो मिलता रहता । सागरसे नित प्रवाह सरिता ।
मैं बन कर भी मुझको भजता । वैसे वह सदैव ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यके साथ उदय होता । वैसे उसके साथ अस्त होता ।
यह पारतंत्र्य ही जैसे शोभता । प्रभाको सदैव ॥ ८ ॥

पानीकी सतह पर । उठता है पानी सुंदर ।
उसे कहते लहर । वैसे वह पानी ही ॥ ९ ॥

अनन्य जो इस प्रकार । हुवा है नित मुझपर ।
मूर्तिमंत है धनुर्धर । ज्ञान-रूप जो ॥ ६१० ॥

१६ ज्ञानका लक्षण, सदा एकांतमें प्रीति—

होती सदा चाह उसकी । तीर्थ-क्षेत्रोंमें रहनेकी ।
वन-गुहामें एकांतकी । धनंजय ॥ ११ ॥

मुझमें हो अनन्यत्व भक्ति निष्काम निश्चल ।
एकांतमें रहे प्रीति अरुचि जन-संगमें ॥ १० ॥

शैल-कक्षाके गव्हर । जलाशय परिसर ।
किंतु न चाहे शहर । रहनेके लिये ॥ १२ ॥

एकांत पर उसकी प्रीति । जन-संगमें है अ-प्रवृति ।
जान तू मनुष्याकार-मूर्ति । ज्ञानकी वह ॥ १३ ॥

कहता ज्ञानके लक्षण । और भी मैं तुझे अर्जुन ।
तू है अत्यंत बुध्दिमान । सुनो इसे ॥ १४ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

१७-१८ ज्ञानका लक्षण, अध्यात्म-ज्ञान, ज्ञेय-दर्शन—

अजी! परमात्म ऐसे । वस्तु होती है जिससे ।
दर्शन होता है उसे । कहते हैं ज्ञान ॥ १५ ॥

इस एक ज्ञानके बिन । स्वर्ग-दायक आदि ज्ञान ।
मानना है वह अज्ञान । निश्चय-पूर्वक ॥ १६ ॥

स्वर्गकी बात वह छोडता । संसारसे नाता ही छोडता ।
अध्यात्म-ज्ञानमें डूब जाता । सद्भावनासे ॥ १७ ॥

पथिक जैसे चौराहे पर । दूसरे पथोंको तज कर ।
चलता अपने पथ पर । वैसे ही वह ॥ १८ ॥

कर ज्ञान मात्रका निरीक्षण । दूसरे सबका निराकरण ।
स्वीकार करता केवल आत्म-ज्ञान । अपने मन-बुध्दिसे ॥ १९ ॥

कहता है सही यह एक । अन्य सभी है भ्रांति-मूलक ।
ऐसी मति कर स्थिर देख । रहता मेरु-सा ॥ ६२० ॥

ऐसा निश्चय जिसका । आत्म-ज्ञान विषयका ।
ध्रुव जैसा गगनका । वैसा रहता ॥ २१ ॥

अध्यात्म-ज्ञानमें श्रध्दा तत्वत: ज्ञेय-दर्शन ।
कहा है इसको ज्ञान अज्ञान विपरीत जो ॥ ११ ॥

ऐसे ही मनुष्योंमें ज्ञान । रहता निःसंशय जान ।
ऐसा ही मन-ज्ञान-लीन । होता है मद्रूप ॥ २२ ॥

बैठनेके बाद होनेका जो हो जाता । वह सब बैठते ही नहीं होता ।
किंतु ज्ञानमें मन स्थिर हो जाता । बनता ज्ञानी वह ॥ २३ ॥

तथा तत्व-ज्ञान निर्मल । फलता जो एक ही फल ।
ज्ञेय पर ही जो सरल । जम जाती दृष्टि ॥ २४ ॥

वैसे बोध हुवा जो ज्ञान । हुवा नहीं ज्ञेय दर्शन ।
नहीं मिला उसको ज्ञान । ऐसे मानते हम ॥ २५ ॥

अंधेके हाथमें दीप देनेसे । क्या लाभ होगा उसको उससे ।
कुछ न दीखता जिस दीपसे । लाभ ही क्या भला ॥ २६ ॥

अजी ! प्रकाश जब ज्ञानका । न कराता दर्शन ज्ञेयका ।
उससे क्या लाभ है किसका । निरर्थक-बुध्दि ॥ २७ ॥

जिससे-ज्ञेय दर्शन । करता सर्वत्र मन ।
वही शुध्द-बुध्दि जान । धनंजय ॥ २८ ॥

वही है निर्दोष ज्ञान । जिससे ज्ञेय दर्शन ।
वही है ज्ञान-संपन्न । हुवा पार्थ ॥ २९ ॥

जितनी ज्ञानकी वृध्दि । उतनी है उसकी बुध्दि ।
उसको शब्दसे सिध्दि । करना व्यर्थ ॥ ६३० ॥

ज्ञान प्रकाशके साथ । बुध्दि ज्ञेयसे सतत ।
चिपकती वही पार्थ । पाता पर-तत्व ॥ ३१ ॥

ज्ञानेश्वरकी सहज काव्य स्फूर्ति—

उसीको मैं यदि ज्ञान कहता । इसमें विस्मय क्या पांडुसुत ।
अजी ! सविताको कहो सविता । नहीं कहें क्या ॥ ३२ ॥

तब कहते हैं सब श्रोता । विस्तार न कर ज्ञानी-वार्ता ।
ग्रंथार्थमें यह बाधा लाता । क्यों भला व्यर्थकी ॥ ३३ ॥

हमें यह तेरा मधुर । वक्तृत्वका पाहुनाचार ।
ज्ञानका कराया साकार । शब्द-दर्शन ॥ ३४ ॥

रस होना है अति मात्र । लिया है तूने कवि मंत्र ।
बुलाके हमें यह तंत्र । करता क्यों शत्रुताका ॥ ३५ ॥

प्रेमसे भोजनमें बुलाया । सजाके पंगतमें बिठाया ।
और सभी पक्वान्न भगाया । इससे मिला क्या ॥ ३६ ॥

गाय है सुंदर पुष्ट बछडा साथ । काहेमें हाथ लगाते मारती लाथ ।
कौन पालेगा कहो उसे समर्थ । व्यर्थ ही घरमें ॥ ३७ ॥

वैसे ज्ञानमें मति नहीं प्रकाशती । जलपोंमें व्यर्थ स-कौतुक दौडती ।
वैसे तूने अन्य कवि-गणकी भांति । तिहीं किया निरूपण ॥ ३८ ॥

पानेके लिये जो कुछ ज्ञानांश । करता योग-यागादि सायास ।
उस ज्ञानका तूने किया स-उल्हास । योग्य-निरूपण ॥ ३९ ॥

अमृत मिला जैसे सतत । इससे ऊबेगा कोई तात ।
या सुखके दिनका गणित । करेगा क्या कोई ॥ ६४० ॥

या पूर्ण चंद्रकी रात । आयेगी युग-पर्यंत ।
कहेगा उसे क्या व्यर्थ । कभी चकोर ॥ ४१ ॥

वैसे हैं ज्ञानके बोल । वह भी ऐसे रसाल ।
कौन कहेगा अकुशल । हुवा बहु ॥ ४२ ॥

आता जब भाग्यशाली अतिथि । परोसती गृहिणी दैववती ।
रसौयी चुक न जाये चाहती । मती-मनुष्यकी ॥ ४३ ॥

ऐसे ही आया अब प्रसंग । ज्ञानमें हमको अति-राग ।
तेरा भी उसीमें अनुराग । इससे यहां ॥ ४४ ॥

इसीलिये यह प्रवचन । खिला है भक्तिसे शत-गुण ।
तभी ज्ञानमें तू है संपूर्ण । कैसे न कहे हम ॥ ४५ ॥

अब यहां इसपर । ज्ञानकी पिछली ओर ।
पद है वह स्पष्ट कर । निरूपणसे ॥ ४६ ॥

सुनके संत-वचन ऐसे । कहे निवृत्ति-दास सबसे ।
मेरा भी मनोगत था ऐसे । निरूपणका ॥ ४७ ॥

अब तो यहां हैं आप । आज्ञा देते हैं सकृप ।
व्यर्थका शब्द मैं आप । न करुं यहां ॥ ४८ ॥

जैसे आपने सुना । पार्थसे कृष्णका कहना ।
ज्ञानके लक्षण संपूर्ण । अष्टादश ॥ ४९ ॥

फिर कहते हैं हरि अर्जुन । वह है ज्ञानका वसति-स्थान ।
यह मेरा मत है जो संपूर्ण । ज्ञानी भी यही कहते ॥ ६५० ॥

करतल पर है गोल । फिर रहा जैसे आमला ।
ज्ञान तुझको है निर्मल । दिखाया मैंने ॥ ५१ ॥

अज्ञानके लक्षण—

सुन तू महामति पार्थ । अज्ञान जो है कहलाता ।
वह मैं तुझसे कहता । स-लक्षण ॥ ५२ ॥

जब होता है ज्ञानका भान । जानना सहज है अज्ञान ।
अजी ! जो नहीं होता है ज्ञान । अज्ञान ही रहा ॥ ५३ ॥

दिवस होता है जब समाप्त । रहती है केवल-मात्र रात ।
तीसरा अन्य नहीं होता पार्थ । उसी भांतिसे ॥ ५४ ॥

जहां नहीं होता ज्ञान । वहां देख तू अज्ञान ।
तो भी कहता हूं सुन । लक्षण उसके ॥ ५५ ॥

१ अज्ञानका लक्षण, अभिमान—

मौका देखता स्व-प्रतिष्ठाका । प्रतीक्षा करता सन्मानका ।
होता जब सत्कार उसका । खिलता संतोषसे ॥ ५६ ॥

गर्व-पर्वतके शिखर । चढ़ते जाता महत्व पर ।
उसमें तू पांडुकुमार । अज्ञान जान ॥ ५७ ॥

२ अज्ञानका लक्षण, दंभ—

जैसे स्वधर्मका मंगल । बांधता वाचाका पीपल ।
तथा खड़ा किया देवल- । में मानो कूंचा ॥ ५८ ॥

करता अपने ज्ञानका पसारा । तथा पीटता सु-कृतका ढिंढोरा ।
करता सदा प्रतिष्ठा विचार । बढानेका ॥ ५९ ॥

करता है स्नान देहार्चन । प्राणियोंकी पूजासे वंचन ।
वह आज्ञानकी खान जान । सदैव, पार्थ ॥ ६६० ॥

३ अज्ञानका लक्षण, हिंसा—

होता जब वनमें अग्नि-संचार । जलते हैं तब जंगम-स्थावर ।
वैसे ही होते हैं उनके उपचार । जन दु:खके कारण ॥ ६१ ॥

सहज ही करता जो भाषण । होता है सबरीसे भी तीक्ष्ण ।
विषसे भी करता है मारण । अधिक संकल्प ॥ ६२ ॥

उसका अति अज्ञान । अज्ञानका है निधान ।
तथा हिंसाका सदन । जीवन उसका ॥ ६३ ॥

४ अज्ञानका लक्षण, अशांति—

धौंकनी जब है फूंकती । फूलती और सिकुड़ती ।
संयोग-वियोगमें होती । वैसी स्थिति उसकी ॥ ६४ ॥

जिस भांति बवंडरमें धूल । पहुंचती गगनमें सरल ।
फूलता वह स्तुतिसे बहुल । अपनी पार्थ ॥ ६५ ॥

अल्पांश भी निंदा सुनकर । पकडकर बैठता शिर ।
सुखाती हवा गलाता नीर । कीचडको जैसे ॥ ६६ ॥

मानापमानमें वैसे होता । कोई भी उर्मी नहीं सहता ।
जान लेना उसमें तू पार्थ । अज्ञान पूरा ॥ ६७ ॥

५ अज्ञानका लक्षण, कुटिलता—

उसके मनमें होता भिन्न । तथा वाचा बोलती है भिन्न ।
देता किसीको कुछ वचन । सहायता तीसरेको ॥ ६८ ॥

जैसे व्याधका चारा डालना । सरलताका स्वांग रचना ।
सज्जनोंका हृदय जीतना । ऐसे शत्रु-भावसे ॥ ६९ ॥

जैसे कायीसे लीपती शिला । अथवा पका निंबौला पीला ।
वैसे दीखता उसका भला । बाह्य-आचार ॥ ६७० ॥

उसमें भरा है अज्ञान । बसता है जान अर्जुन ।
इस बोलसे नहीं भिन्न । दूसरा सत्य ॥ ७१ ॥

६ अज्ञानका लक्षण, गुरुद्रोह—

गुरु-भक्तिमें मानता लांछन । गुरु-सेवामें माने अपमान ।
गुरुसे मिली है विद्या महान । मानता नहीं यह ॥ ७२ ॥

करना उसका नामोच्चरण । चांडालका अन्न खाना ही मान ।
कहनेमें अज्ञानका लक्षण । बोलना पडा मुझे ॥ ७३ ॥

अब गुरु-सेवकका नाम लेगा । जिससे वाचाका प्रायश्चित्त होगा ।
गुरु-भक्तके नामसे दूर होगा । जैसे तम सूर्यसे ॥ ७४ ॥

इससे ही सब पापका । दूर होगा दोष वाचाका ।
जो आया गुरु-निंदाका । नाम लेनेसे ॥ ७५ ॥

गुरु-भक्तका नामोच्चार । उस बातका भय हर ।
अब सुनो चित्त देकर । अन्य लक्षण ॥ ७६ ॥

७ अज्ञानका लक्षण, अशौच—

स्वयं होता है जो कर्म-विरत । मनमें सदा विकल्प भरित ।
रहता कांटे कीचड सहित । वनका कुवास ॥ ७७ ॥

ऊपर झाड झंकाड । अंदर भरे है हाड ।
अशुचिका भरा आड । अंदर बाहर ॥ ७८ ॥

जिस भांति बुभुक्षित कुत्ता । खुला या ढका नहीं जानता ।
अपना पराया न देखता । वैसे द्रव्यार्थ जो ॥ ७९ ॥

इन ग्राम-सिंहमें जैसे । मिलन निषेध ना वैसे ।
स्त्रियोंके विषयमें वैसे । विचार करते नहीं ॥ ६८० ॥

कर्मका समय वे चुकाते । नित्य-नैमित्तिक है टालते ।
इससे वे नहीं पछताते । मनमें कभी ॥ ८१ ॥

पापके वे सदा संग । पुण्यमें होते असंग ।
जिनके मनमे वेग । सदा विकल्पके ॥ ८२ ॥

जान तू वह संपूर्ण । अज्ञान है मूर्तिमान ।
मूंदता सदा नयन । वित्ताशासे ॥ ८३ ॥

८ अज्ञानका लक्षण, चांचल्य—

अल्प स्वार्थसे होता चंचल । स्थिरतासे होता है विचल ।
जैसे तृणांकुर जाता ढल । चींटीसे भी ॥ ८४ ॥

पैर भी पडनेसे जैसे । डबरे गंदलाते वैसे ।
भयके नाम सुननेसे । घबडाता जो ॥ ८५ ॥

मनोरथके प्रवाहमें । बहता जाता जो मनमें ।
कुम्हडा जैसे प्रवाहमें । बहता जाता ॥ ८६ ॥

जैसे है वायुके साथ । धूम्र फैलता दिगंत ।
होती है दुख:की बात । उसको वैसी ॥ ८७ ॥

जैसे होता बवंडर । होता नहीं कहीं स्थिर ।
तीर्थक्षेत्र और पुर । न करता स्थान ॥ ८८ ॥

जैसे है गिरगिट उन्मत्त । चढने उतरनेमें रत ।
रहता है सदा ही व्यर्थ । उसी प्रकार ॥ ८९ ॥

जैसे बिन पेंदीका जो घडा । बिन गाडे न रहता खडा ।
वैसे नींदमें रहता पडा । नहीं तो भटकता ॥ ६९० ॥

उसमें रहता बहुत । अज्ञान भांडार विस्तृत ।
चांचल्य में लघुभ्रात । मर्कटका जो ॥ ९१ ॥

९ अज्ञनाका लक्षण, स्वैराचार—

और सुन तू धनुर्धर । न छूता उसका अंतर ।
संयमका गंध संस्कार । नाम मात्रको ॥ ९२ ॥

अजी ! जब नालेमें आता पूर । उसे न रोकता बालूका घेरा ।
शास्त्र-निषेधका उसपर । होता नहीं प्रभाव ॥ ९३ ॥

करता व्रतोंका अवहेलन । वैसे ही स्वधर्मका उल्लंघन ।
यम-नियम मर्यादा खंडन । करता वह ॥ ९४ ॥

पापसे वह नहीं उकताता । नहीं उसको पुण्यमें भी आस्था ।
वैसे ही लोक-लाजकी खो देता । सीमा रेखा ॥ ९५ ॥

कुल-धर्म नहीं पहचानता । वेदोंकी आज्ञाको नहीं जानता ।
भला-बुराका ध्यान नहीं देता । कभी वह पार्थ ॥ ९६ ॥

सांडसा वह अनिर्बन्ध । आंधीसा होता अमर्याद ।
टूटा हुवा नदका बांध । निर्जनमें कहीं ॥ ९७ ॥

जैसे अंधा गज मदसे मत्त । या जलता हुवा वन पर्वत ।
वैसे विषयोंमें होता उन्मत्त । चित्त उसका ॥ ९८ ॥

घूरेपर कब कौन क्या न डालते । ग्राम द्वार देहरी कौन न लांघते
राहके सांडको कहो कौन बांधते । पांडुकुमार ॥ ९९ ॥

जैसे अन्न-छत्रमें सभी जाते । या सामान्य अधिकार जताते ।
या सारायीमें कोथी घुसते । वैसे ही सदा ॥ ७०० ॥

रहता जिसका अंतःकरण । उसमें होता संचार संपूर्ण ।
अज्ञानमें वहां है निशिदिन । रहती बुद्धि ॥ १ ॥

१० अज्ञानका लक्षण भोगलिप्सा—

विषयोंकी जो है उसकी आस । जीने मरनेमें न होती नास ।
स्वर्गमें भी उसीके आशापाश । ले चलता वह ॥ २ ॥

करता भोगका अखंड जतन । काम्य-क्रियाका है जिसका व्यसन ।
विरक्तका कर मुखावलोकन । करता शचैल ॥ ३ ॥

विषय है उनसे उकताने । ये न उकताने सावध होते ।
सडे हुये हाथोंसे जैसे खाते । महारोगी ॥ ४ ॥

जैसे गर्दभी नहीं आने देती । लातोंसे खरका नांक तोडती ।
फिर भी गर्दभ है सआसक्ति । न लौटना पीछे ॥ ५ ॥
वैसे ही जो विषयोंमें रत । कूदते स्थानमें ज्वाला-ग्रस्त ।
व्यसनमें होकर वे लिप्त । मानते यह भूषण ॥ ६ ॥

यदि मृग टूट भी गिरता । अपनी दौड बढाता जाता ।
किंतु असत्य नहीं मानता । मृगजलका भ्रम ॥ ७ ॥

वैसे जन्मसे मृत्यु पर्यंत । विषयोंमें हो सदैव त्रस्त ।
फिर भी अधिक हो आसक्त । करता मोह ॥ ८ ॥

पहले होती बालदशा । माता पिता इसीकी आशा ।
फिर स्त्री-शरीरका नशा । भुलाता सब ॥ ९ ॥

स्त्री-भोगमें तब काल हरण । होता है वार्धक्यका आगमन ।
तथा बनते अनुराग-स्थान । अपने बालक ॥ ७१० ॥

जन्मांध जैसे अपना घर । नहीं छोडता जीवन-भर ।
बच्चोंके विषय तिरस्कार । कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

उसमें जान धनुर्धर । अज्ञान रहता अपार ।
सुन अब अन्य प्रकार । अज्ञानके ॥ १२ ॥

११ अज्ञानका लक्षण, देहाभिमान—

यह देह ही है आत्मा । बनाकर मनोधर्म ।
करता रहता कर्म । दिनरात ॥ १३ ॥

कभी कोयी कर्माचरण । होता कम अधिक मान ।
तब वह स-अभिमान । फूलता सूखता ॥ १४ ॥

सिरपर देव-मूर्तिके बोझसे । अकडकर चलता पूजारी जैसे ।
विद्या धन वयादि अभिमानसे । अकड चलता वह ॥ १५ ॥

मैं ही हूं महा धनवान । मेरे घरमें गुण-धन ।
मेरे घरका आचरण । मिलता कहां ? ॥ १६ ॥

कोयी नहीं है मेरे समान । मैं ही धन-गुण विद्यावान ।
ऐसे गर्व-तुष्टी मान लीन । हो फिरता वह ॥ १७ ॥

व्याधिग्रस्त मनुष्य जैसे । नहीं सहता भोग वैसे ।
अन्योंकी भलायी उससे । सही नहीं जाती ॥ १८ ॥

गुण सारा खाता ही जाता। स्नेह सब जला डालता।
रखा वहां काला करता। जैसे दीप ॥ १९ ॥

जीवन स्पर्शता तो तडतडता। हवा लगनसे प्राण ही तजता।
जहां लगता राख कर रखता। सर्वस्वका ही ॥ २० ॥

अल्पस्वल्प प्रकाश देता। वैसा ही वह उष्मा देता।
ऐसे दीपक-भांति होता। वह सुविद्य ॥ २१ ॥

औषध मान दिया भी दूध। नव-ज्वरमें करता बाध।
पीता है जब वह एकाधा। बनता गरल ॥ २२ ॥

वैसे सद्गुणीका मत्सर। व्युत्पत्तिमें जो अहंकार।
तप ज्ञानका है अपार। अकड उसको ॥ २३ ॥

बिठाया पंचमको राज्यपर। या निगला खांबको अजगर।
तब जैसे फूलता स-शरीर। ऐसे वह मानस ॥ २४ ॥

बेलन जैसे नहीं झुकता। पत्थर जैसे नहीं द्रवता।
फुरसे जैसे न उतरता। मदारीके मंत्रसे ॥ २५ ॥

ऐसा जो मनुष्य है जान। उसमें बढता अज्ञान।
यह है निश्चित अर्जुन। कहता हूँ मैं ॥ २६ ॥

१२ अज्ञानका लक्षण, अविचार—

वैसे ही वह पांडुकुमार। नहीं करता कोयी विचार।
गृह-देह-जन्म-मृत्यू पर। अपने कभी ॥ २७ ॥

कृतघ्न पर किया उपकार। या चोरको कर दिया व्यापार।
या निर्लज्जकी की स्तुति अपार। वे भूलते जैसे ॥ २८ ॥

उठल्लू कुत्तेको जैसे। पूंछ काट भगानेसे।
फिर वहीं आता वैसे। गीली पूंछ ले ॥ २९ ॥

मेंढक सापके मुखके अंदर। जाता है अपना सर्वस लेकर।
पकडे रखता मुखमें शिकार। अपनी न सोचता ॥ ७३० ॥

वैसे हैं स्रवते नव-द्वार । त्वचा-रोगसे गला शरीर ।
चित्तमें उसका जो विचार । नहीं करता ॥ ३१ ॥

माताके उदर गव्हरमें । पचके मलके गर्तमें ।
नव माह तक जठरमें । ऊबा था जो ॥ ३२ ॥

गर्भकी थी जो वह व्यथा । जन्मके बाद वही कथा ।
यह सब ही है सर्वथा । भूलके बैठा ॥ ३३ ॥

मल मूत्र लिप्त बालक । गोदमें देख स-कौतुक ।
न धिनता सोचके शोक । करता अपना ॥ ३४ ॥

कलका जन्म जो गया । आजका भी जन्म आया ।
सोच नहीं आया गया । इसका कभी ॥ ३५ ॥

वैसे ही सुन तू अर्जुन । तारुण्यका कर दर्शन ।
न सोचता उसका मन । मृत्युकी बात ॥ ३६ ॥

जीवनका अति विश्वास । मृत्यूके अस्तित्वका भास ।
सदैव उसका मानस । भूलता जाता ॥ ३७ ॥

होते हैं डबरेके मीन जैसे । यह नहीं सूखेगा मान ऐसे ।
उसीमें पडे रहते हैं वैसे । न जाते गहरेमें ॥ ३८ ॥

सुनकर किरातका गान । मृग करते व्याध-दर्शन ।
आमिष लोभसे जैसे मीन । निगलता कांटा ॥ ३९ ॥

जैसे देख ज्योतिका जगमग । जला लेता अपनेको पतंग ।
नहीं जानता है जलेगा अंग । मोहमें वैसे ॥ ७४० ॥

निद्रा-सुखमें जैसे गंवार । नहीं देखता जलता घर ।
नहीं जान अन्नमें जहर । खाता अन्न ॥ ४१ ॥

वैसे जीवनका रूप लेकर । आयी मृत्यू यह न जानकर ।
पडता विषय-सुख भंवर । ग्रस्त हो क्षणिक ॥ ४२ ॥

दिन-रात जो खपता । शरीरको है बढाता ।
सुख वैभव मानता । विषयका सत्य ॥ ४३ ॥

बेचारा यह न जानता । वेश्याकी सर्वस्व-दातृता ।
वही सही कारण होता । सर्व-नाशका ॥ ४४ ॥

मित्रता चोरके साथ । प्राण लेती है निश्चित ।
धोना चित्रको सतत । उसीमें नाश ॥ ४५ ॥

पांडु-रोगीकी देह फूलना । जैसे उसका नाम मिटना ।
वैसे किसीका है भूलना । आहार-निद्रा ॥ ४६ ॥

सन्मुख देखकर शूल । चलता जो पैरसे चपल ।
प्रति पगमें मृत्यु निश्चल । लाना पास ॥ ४७ ॥

जैसे देह बढती जाती । वैसे आयु घटती जाती ।
औ' विषय-भोगकी होती । समृद्धि नित्य ॥ ४८ ॥

तथा आती है अधिकाधिक । मृत्यु जीवनके नजदीक ।
जैसे मिटते जाता नमक । पानीसे सतत ॥ ४९ ॥

ऐसे जीवन गलता जाता । मरण नित समीप आता ।
इस बातको जो न देखता । प्रत्यक्ष रूपसे ॥ ७५० ॥

अथवा जान तू अर्जुन । मृत्यूसे लीपा यह तन ।
न होता उसका दर्शन । विषय-भ्रांतिसे ॥ ५१ ॥

अज्ञान देशका भूप । जान तू उसको आप ।
यह अपनेमें आप । निश्चित बात ॥ ५२ ॥

१३ अज्ञानका लक्षण, वृध्दावस्थासे अनजान —

जीवनके संतोषसे जैसे । नहीं देखता है मृत्यू वैसे ।
तरुणायीके नशामें उसे । न दीखाता वार्धक्य ॥ ५३ ॥

गाडी कगारसे फिसली हुयी । शिला-शिखरसे जो टूटी हुयी ।
आगे न देखते गढा या खायी । वैसे वह वार्धक्य ॥ ५४ ॥

वनके नालेमें पानी चढा । या भैंसेसे जाके भैंसा भिडा ।
वैसे तारुण्यका नशा चढा । जिसको उसे ॥ ५५ ॥

पुष्टि बिगडती । कांति उतरती ।
मान भी कांपती । अस्थिरतासे ॥ ५६ ॥

बाल सब पकते । अंगांग भी कांपते ।
तो भी फंसे रहते । माया-जालमें ॥ ५७ ॥

सामनेका जब नहीं टकराता । तब तक अंधा कुछ न जानता ।
अथवा आंखोंके नशा पर होता । आलसी संतुष्ट ॥ ५८ ॥

भोगता वैसे ही आजका यौवन । तो आ पहुंचता वार्धक्य दारुण ।
नहीं देखता इसको जो अज्ञान । कहलाता पार्थ ॥ ५९ ॥

दुबला कुबडा देखकर । चिढाता है अकडकर ।
कल होगा अपना शरीर । ऐसा यह न जानता ॥ ७६० ॥

शरीरमें वार्धक्य दीखता । जो है मृत्यूका संदेश देता ।
किंतु वह भ्रममें रहता । अपने तारुण्यके ॥ ६१ ॥

वह है अज्ञानका आगर । और भी सुन लक्ष देकर ।
और भी लक्षण धनुर्धर । कहता हूं मैं ॥ ६२ ॥

१४ अज्ञानका लक्षण, रोगसे असावधान—

जैसे कभी व्याघ्र वनसे । चरके लौटा जो दैवसे ।
फिर जाता है ढिटाथीसे । जैसे सांड ॥ ६३ ॥

अथवा घरसे सांपके । द्रव्य अचानक उठाके ।
लाता जो मानता सांपके । नहीं होते दांत ॥ ६४ ॥

वैसे ही कभी अकस्मात । होता है एक दो घटित ।
मानता है वह निश्चित । नहीं है रोग ॥ ६५ ॥

देखकर जो शत्रू सोया । मानता वैर मिट गया ।
उसने सर्वस्व ही खोया । अपना जैसे ॥ ६६ ॥

वैसे आहार निद्राका व्यवस्थित । चलते हैं व्यवहार नियमित ।
तब तक है व्याधिसे निश्चित । रहता जो ॥ ६७ ॥

तथा स्त्री-पुत्रके साथ । भोगता है संपदा पार्थ ।
रजसे होता है उन्मत्त । विषयोंमें जो ॥ ६८ ॥

इसके साथ वियोग भी होगा । वैसे ही कोयी संकट आयेगा ।
इस भांति वह नहीं देखेगा । विचारसे ॥ ६९ ॥

उसीको अज्ञानी जान । तथा वही अर्जुन ।
देता है यथेच्छ अन्न । इंद्रियोंको ॥ ७७० ॥

तारुण्य मदमें न देखता । संपत्तिके साथ ही बहता ।
सेव्य असेव्य नहीं मानता । ऐसा कभी ॥ ७१ ॥

करना नहीं वही करता । असंभाव्य मनमें धरता ।
अ-सोचका चिंतन करता । जिसका मन ॥ ७२ ॥

नहीं घुसना वहीं घुसता । जो न चाहना वही मांगता ।
नहीं छूना उसीसे मिलता । जिसका मन अंग ॥ ७३ ॥

नहीं जाना वही है जाता । न देखना वह देखता ।
नहीं खाना वही खाता । संतोषसे जो ॥ ७४ ॥

न करना उसका संग । नहीं भोगना वही भोग ।
नहीं चलना वही मार्ग । चलता वह ॥ ७५ ॥

नहीं सुनना वही सुनता । नहीं बोलना वही बकता ।
इतने पर भी न देखता । इसमें दोष ॥ ७६ ॥

तन-मनको जो रुचता । कृत्य-अकृत्य न देखता ।
कर्तव्य मानके करता । असंगत सारा ॥ ७७ ॥

इससे पाप भी होगा । नरक-क्लेश भी होगा ।
यह कुछ न देखेगा । भविष्यका जो ॥ ७८ ॥

इसके संगतिसे अज्ञान । होता है इतना बलवान ।
ज्ञानसे जो उतरता जान । संघर्ष रत हो ॥ ७९ ॥

रहने दो अब यह अर्जुन । दिखाता हूं अज्ञान मूर्तिमान ।
इससे मानेगा तू वह पूर्ण । सही रुपसे ॥ ७८० ॥

१५ अज्ञानका लक्षण, सदा विषय-सेवन—

अनुराग जिसका संपूर्ण । उलझा हुवा घरमें जान ।
जिस भांति भ्रमर अर्जुन । नवगंध केसरमें ॥ ८१ ॥

देख जैसा शर्कराका ढेर । न उठे मक्षिका बैठकर ।
वैसे रमणीमें रमकर । न उठे चित्त ॥ ८२ ॥

जैसे पानीमें मेंढक । तथा श्लेष्ममें मशक ।
कीचड़में फंसा देख । चौपाये जैसे ॥ ८३ ॥

वैसे घरसे कभी निकलना । नहीं करता जीव मन प्राण ।
जैसे सांप बेंबीमें दे आसन । बैठा ही रहता ॥ ८४ ॥

जैसे प्रमदा बन कंठहार । पकड़ बैठती है प्रियकर ।
वैसे अपनी कुटियाका द्वार । पकड बैठता वह ॥ ८५ ॥

मधुर रसके उद्देश्यसे । खपता है मधुकर जैसे ।
गृह-संगोपनमें भी वैसे । रहता है वह ॥ ८६ ॥

जब बुढापेमें है होता । दैवसे पुत्र इकलौता ।
उससे जैसे प्रेम होता । माता-पिताका ॥ ८७ ॥

उसी प्रेमसे होती पांर्था । घरमें उसकी जो आस्था ।
बिना स्त्रीके वह सर्वथा । न जाने कुछ ॥ ८८ ॥

जैसे स्त्री-देहमें वह जीव । भजता रहता सर्व-भाव ।
कौन मैं कर्तव्य क्या स्वभाव । भूलता है ॥ ८९ ॥

महा पुरुषका जो चित्त । बनके ऐसा वस्तुगत ।
भूलता व्यवहार-जात । उसी भांति ॥ ८९० ॥

हानि लाज नहीं देखता । परापवाद नहीं सुनता ।
सर्वेंद्रियोंसे जो रमता । स्त्रीमें एकाग्र हो ॥ ९१ ॥

चित्त करता है स्त्री-आराधन । तथा उसकी धुनमें नर्तन ।
जैसे मर्कट हो आज्ञाधीन । मदारीके जैसे ॥ ९२ ॥

जैसे अपनेको थकाता । जो है दूसरोंका दुखाता ।
कवडी कवडी गिनता । लोभी जैसा ॥ ९३ ॥

दान-पुण्यको धता बताता । इष्ट-मित्रोंको सदा फंसाता ।
स्त्रीकी बात है पूरी करता । नहीं करता न्यून ॥ ९४ ॥

देवतोंसे समझौता । गुरुजनोंको छकाता ।
मां-बापको न कहता । सदैव ही ॥ ९५ ॥

किंतु वह स्त्रीके हेतु । लाता सभी भोग-वस्तु ।
भरता उससे वास्तु । जहां जो देखी ॥ ९६ ॥

प्रेमसे जैसे भजता भक्त । सदा अपना कुल-दैवत ।
वैसे हो वह एकाग्र-चित्त । पूजता स्त्रीको ॥ ९७ ॥

स्त्रीके लिये भला पूरा । ला देता है सदा सारा ।
औरोंको सभी प्रकार । छकाता रहता ॥ ९८ ॥

उसको कोयी देखेगा । तथा कोयी बिगडेगा ।
जग ही डूब जायेगा । ऐसा मानता ॥ ९९ ॥

जैसे कभी खसरा होगा । नाग मनौती न तोडेगा ।
वैसे स्त्रीकी पूरी करेगा । सभी मांग ॥ ८०० ॥

स्त्री ही सर्वस्व है जिसका । अन्य कुछ न है उसका ।
आप्तोंसे स्नेह भी उसका । उसीके लिये ॥ १ ॥

जो है अन्य भी समस्त । उसीका संपत्ति-जात ।
जीवसे भी वह आप्त । मानता जो ॥ २ ॥

अज्ञानका है वही मूल । अज्ञानको उसीसे बल ।
रहता है वह केवल । अज्ञान-रूप ॥ ३ ॥

उफान-भरे सागर पर । नाव जैसे बिन-पतवार ।
हिलोरे लेती लहर पर । वैसे चित्त ॥ ४ ॥

जब वह प्रिय-वस्तु पाता । अति-सुखसे गगन छूता ।
तथा अप्रियसे पहुंचता । रसातलको ॥ ५ ॥

ऐसा जिसका चित्त । विषम होता पार्थ ।
होके भी बुध्दिवंत । अज्ञानी वह ।। ६ ।।

फलमें रखके आसक्ति । करता वह मेरी भक्ति ।
जैसे करते हैं धनार्थी । विरक्तिका स्वांग ।। ७ ।।

अथवा पतिके मनमें घुसकर । उसका विश्वास संपूर्ण पाकर ।
यत्न करती जाना जारके घर । स्वैरणी जैसे ।। ८ ।।

जैसे मेरी उपासना । मनमें भोग-कामना ।
करता है वह अर्जुना । विषयार्थी हो ।। ९ ।।

ऐसी भक्ति करने पर । फलको नहीं प्राप्त कर ।
छोड़ता है सब सत्वर । निरर्थक मान ।। ८१० ।।

नित नयी भूमी किसान । बुवायी करता अर्जुन ।
ऐसे वह देवतार्चन । करता सदैव ।। ११ ।।

देख किसी गुरुकी शान-मान । करता उसका मार्गानुगमन ।
तथा अन्योंको अति-क्षुद्र मान । उसका मंत्र लेता ।। १२ ।।

प्राणि-जातसे जो निष्ठुर । पूजता है मूर्ति-स्थावर ।
ऐसी भक्ति तो अपार । निष्ठा कहीं नहीं ।। १३ ।।

मेरी मूर्ति है बनवाता । घरके कोनमें रखता ।
आप यात्रामें है जाता । तीर्थ-क्षेत्रकी ।। १४ ।।

प्रति-दिन मेरा आराधन । कार्यमें कुलदेवतार्चन ।
करता अन्य-देव पूजन । पर्व विशेषमें ।। १५ ।।

घरमें है मेरा अधिष्ठान । अभिष्ठ्यर्थ अन्यका पूजन ।
पित्र-कार्यमें होता तर्पण । पितरोंका भी ।। १६ ।।

जैसे एकादशीका पूजन । होता वैभवसे मेरा जान ।
वैसे नगापंचमीके दिन । नागोंका भी ।। १७ ।।

गणेश-चतुर्थी देवता । गणेशका भक्त बनता ।
चतुर्दशी देख कहता । जै दुर्गे तेरा मैं ।। १८ ।।

नवमीमें है मंडन। नव-चंडीका पूजन।
रविवारमें भोजन। भैरवका॥ १९॥

जब आता है सोमवार। दौड जाता शिव-मंदिर।
करे तुष्ट इस प्रकार। सबको वह॥ ८२०॥

करता अखंड भजन। क्षण भी न रहता मौन।
जैसी है ग्राम-सुहागन। रहती है वैसे॥ २१॥

ऐसा होता यह भगत। सभीके पूजामें है रत।
जान अज्ञान मूर्तिमंत। अवतरा है॥ २२॥

१६–१७ अज्ञानका लक्षण, एकांतमें अरुचि जनसंगमें प्रीति—

शुचि सु-चित एकांत सुंदर। तपोवन या तीर्थ देखकर।
मुरझाता मनमें निरंतर। अज्ञानरूप जो॥ २३॥

जन-संगमें जिसको सुख। भाता है अतिशय लौकिक।
गडबडमें जो स-कौतुक। रहता सदैव॥ २४॥

जिससे आत्मा होती है गोचर। उस विद्याका नाम सुनकर
भाग जाता है गडबडाकर। ऐसा विद्वान वह॥ २५॥

उपनिषद् नहीं पढता। योग-शास्त्र उसे न रुचता।
अध्यात्म-ज्ञानमें न पैठता। चित्त उसका॥ २६॥

आत्म-चर्चाका नाम सुनकर। भागता जैसा रस्सी तोडकर।
चौपाया वैसे वह चौंककर। लांग श्रद्धा-सीमा॥ २७॥

कर्म-कांड वह सब जानता। पुराण सब मुखोद्‍गत गाता।
ज्योतिष्यमें जो प्रवीण बनता। पारंगत जैसे॥ २८॥

शिल्पमें अति निपुण। पाक-कर्ममें प्रवीण।
जानता है अथर्वण। विधि समस्त॥ २९॥

काम-शास्त्रमें मति सिद्ध। भारत पाठ तो प्रसिद्ध।
आगम-शास्त्रमें विशुद्ध। किया अपनासा॥ ८३०॥

जानता है सभी नीति । वैद्यकमें खासी गति ।
काव्यमें है पक्व-मति । तथा न्यायमें भी ॥ ३१ ॥

होता स्मृतियोंका तज्ञ । गारुडी विद्याका मर्मज्ञ ।
शब्दकोशका महा-प्राज्ञ । माना कोश है दास ॥ ३२ ॥

व्याकरण-ज्ञानमें अगाध । तर्क-शास्त्रका है पूर्ण बोध ।
किंतु आत्म-ज्ञानमें जन्मांध । होता है धनंजय ॥ ३३ ॥

इस एकके बिन जो सभी शास्त्र । जानता वह मूल सिद्धांत-सूत्र ।
जलने दो लगा है मूला नक्षत्र । न देखो वह ॥ ३४ ॥

मोर-पंखके शरीर पर । उसपे होती आंख सुंदर ।
दृष्टि नहीं होती एक पर । वैसा है यह ॥ ३५ ॥

अध्यात्म-ज्ञानके बिन सब व्यर्थ—

यदि परमाणु जितना । संजीवनी जड पा जाना ।
अन्य औषध क्या करना । ढेरोंका जो ॥ ३६ ॥

आयुष्य बिन सब लक्षण । अथवा शरीर बिन आभूषण ।
बरात जैसे वैभव-पूर्ण । दूल्हा बिन निंदित ॥ ३७ ॥

सब शास्त्र वैसे ज्ञान. । सर्वथा है अप्रमाण ।
अध्यात्म ज्ञान बिन । स्वयंपूर्ण जो ॥ ३८ ॥

इसीलिये जान तू अर्जुन । जो है अध्यात्म-बोध विहीन ।
उसको कहते प्राज्ञ जान । शास्त्र-मूढ ॥ ३९ ॥

मानो उसका जो शरीर । अज्ञान-बीजका अंकुर ।
उसका हुवा जो विस्तार । अज्ञान-वृक्ष ॥ ८४० ॥

होते हैं उसके सभी बोल । आज्ञानके खिले हुये फूल ।
फले तो उसके पुण्य-फल । अज्ञानके ही ॥ ४१ ॥

अध्यात्ममें जिसे रस नहीं । उसको ज्ञेय दीखता नहीं ।
यह कहना अवश्य नहीं । जान तू यह ॥ ४२ ॥

इस तीरको भी जो न पाता । तीर देखके भी भाग जाता ।
पैल तीरकी वह क्या वार्ता । जानेगा भला ॥ ४३ ॥

या देहरी पर ही उसका सिर । दबाया कंगूरमें जकडकर ।
देखेगा कैसा वह पांडुकुमार । अंतर्गृहकी बात ॥ ४४ ॥

आत्म-ज्ञानकी पहचान । नहीं है उसको अर्जुन ।
जानेगा कैसा सत्य-ज्ञान । विषय भी वह ॥ ४५ ॥

तभी इसमें विशेष । तत्व नहीं है देख ।
कहना तुझे शेष । रहा ही क्या ॥ ४६ ॥

जैसे स-गर्भाको परोसा अन्न । उससे बढता गर्भका तन ।
पिछले पदमें किया वर्णन । वही है सब ॥ ४७ ॥

अंधेको दिया जब निमंत्रण । उसके संग आता स-नयन ।
जाने है अज्ञान लक्षण । ज्ञान भी आया ॥ ४८ ॥

ज्ञेयकी पूर्व–पीठिका—

तभी तो यहां अर्जुन । कहे अज्ञान लक्षण ।
अमानित्वादिके जान । हैं विरुद्ध जो ॥ ४९ ॥

ज्ञानके जो अठराह लक्षण । उसके उलटकर दर्शन ।
करनेसे दीखेगा अज्ञान । सहज भावसे ॥ ८५० ॥

पीछे श्लोकार्धमें एक । कहा है श्रीकृष्णने देख ।
उलटके ज्ञानको देख । वही है अज्ञान ॥ ५१ ॥

तभी इस पद्धतिको स्वीकार । किया है उस अर्थका विस्तार ।
न तो दूधमें मिलाकर नीर । न फैलाता ऐसे ॥ ५२ ॥

वैसे दिखायी नहीं वाचालता । शब्दकी सीमामें हूं मैं स्पष्टता ।
बना मूल-ध्वनिके विस्तारार्थ । निमित्तमात्र ॥ ५३ ॥

तब कहते हैं श्रोता जन । अनावश्यक स्व-समर्थन ।
विस्तार भीति है अकारण । कवि पोषक अपनी ॥ ५४ ॥

आज्ञा देता है धरणीधर । मेरा अभिप्राय स्पष्ट कर ।
छिपा रखा शब्दके भीतर । हमने यहां ॥ ५५ ॥

परमात्माका मनोरथ । हमें दिखाता है तू मूर्त ।
यह कहने पर चित्त । उमड आयेगा ॥ ५६ ॥

इसलिये यह नहीं कहते । किंतु कहनेसे नहीं रहते ।
श्रवण-सुखसे हैं हम पाते । ज्ञान-नौका यहां ॥ ५७ ॥

अब तू इस पर । कहता जो श्रीधर ।
हमें कह सत्वर । जो यथार्थ ॥ ५८ ॥

सुन कर यह संतोंका वचन । बोले निवृत्तिदास मुदित मन ।
करो ध्यानसे चित्त देके श्रवण । कहा जो श्रीहरिने ॥ ५९ ॥

कहते हैं तुझको अर्जुन । यह चिन्ह समुच्चय पूर्ण ।
श्रवण किया वह अज्ञान । मूर्ति रूप था ॥ ८६० ॥

अज्ञानसे मुडकर । ज्ञानमें पांडुकुमार ।
निश्चय कर सत्वर । दृढतासे तू ॥ ६१ ॥

उस ज्ञानसे अर्जुन । होगा ज्ञेयका दर्शन ।
सुन अर्जुनका मन । करता जिज्ञासा ॥ ६२ ॥

तब वह सर्वज्ञ-श्रेष्ठ । जानके यह भाव स्पष्ट ।
अभिप्राय कहके तुष्ट । करेगा ज्ञेयका ॥ ६३ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयका स्वरूप—

जिसको यह ज्ञेय कहना । उसका कारण है इतना ।
वह जो कभी ज्ञानके बिना । जाना नहीं जाता ॥ ६४ ॥

कहूँगा ज्ञेय मैं सारा पानेसे अमृतत्व है ।
अनादि जो पर ब्रह्म है परे अस्तिनास्तिके ॥ १२ ॥

तथा उसको जानने पर । रहता नहीं कर्तव्य फिर ।
उससे मिलती निरंतर । तद्रूपता ॥ ६५ ॥

उस ज्ञान प्राप्तिके नंतर । संसार रहता तट पर ।
डूबा ही रहता निरंतर । नित्यानंदमें ॥ ६६ ॥

ज्ञान होता है ऐसे । आदी न होती जिसे ।
पर-ब्रह्म है ऐसे । कहते उसको ॥ ६७ ॥

इसको यदि नहीं कहते । विश्वाकारसे इसे देखते ।
यदि इसे विश्व ही कहते । विश्व है माया ॥ ६८ ॥

रूप वर्ण तथा व्यक्ति । नहीं दृश्य द्रष्टा स्थिति ।
वह है ऐसी जो मति । होगी किसकी ॥ ६९ ॥

और यदि यह नहीं है । महदादि तत्व कैसे हैं ।
कहांसे स्फुरण होते हैं । यह प्रश्न उठता ॥ ८७० ॥

तभी हैं अस्ति नास्ति ये बोल । देख यह मूक होते फोल ।
विचारकी चहल पहल । रुक जाती है ॥ ७१ ॥

जैसे घटका मटकाकार । बन रहती पृथ्वी साकार ।
वैसे सबमें सब होकर । रहता ज्ञेय ॥ ७२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सभी स्थल-कालमें उनसे । भिन्न नहीं होते स्थल-कालसे ।
होती स्थूल सूक्ष्म क्रिया भूतोंसे । हाथोंसे उनके ॥ ७३ ॥

उसको इसी कारणसे । कहते विश्वबाहू ऐसे ।
जो सर्वत्र सर्व-रूपसे । करता सदैव ॥ ७४ ॥

दीखते पद हस्तादि सर्वत्र उसके शिर ।
मुख आंख तथा कान सबको घेरके रहे ॥ १३ ॥

तथा वह सर्वत्र समस्त । स्थानमें होता है प्राप्त ।
सभी रूपमें पूर्ण-दर्शित । सो विश्वतःपाद ॥ ७५ ॥

सविताको जैसे नहीं नयन । अवयव में दीखते हैं भिन्न ।
किंतु करता सबका दर्शन । वह स्वरूप ॥ ७६ ॥

इसीलिये वह विश्वतचक्षु । वास्तवमें होकर जो अचक्षु ।
कहलाता बोलनेमें जो दक्ष । वेदसे भी ॥ ७७ ॥

जो है सबके शिर पर । रहता है नित्य तत्पर ।
आत्म-सत्तासे होके स्थिर । तभी है विश्वमूर्ध्ने ॥ ७८ ॥

जैसे संपूर्ण मूर्ति ही मुख । हुताशनका वैसे है देख ।
वैसे है सर्व-मुखसे अशेष । है वह भोक्ता ॥ ७९ ॥

इसीलिये सुन पार्था । विश्वतोमुख व्यवस्था ।
चली आयी है वाक्प्रथा । श्रुतिसे ही ॥ ८८० ॥

वस्तु-मात्रमें गगन । जैसे रहता संलग्न ।
वैसे शब्दमें हैं कान । जिसको सर्वत्र ॥ ८१ ॥

इसीलिये हम जिसे । सभी सुनता है वैसे ।
कहते हैं सदा जिसे । विश्व-व्यापक ॥ ८२ ॥

वैसे तो सुन महामती । विश्वतः चक्षु आदि श्रुति ।
दिखाती है उसकी व्याप्ति । मूर्तिरूपसे ॥ ८३ ॥

इसीलिये नेत्र-पाद-हस्त । सभी भाषा है व्यर्थ ।
तथा शून्य भी अयुक्त पार्थ । वर्णनमें यहां ॥ ८४ ॥

कल्लोल निगलता कल्लोल । यही देखते हम सकल ।
ग्रासता ग्राससे जो सलिल । भिन्न है क्या ॥ ८५ ॥

वैसे सत्य ही जो एक । जो है व्याप्त औ' व्यापक ।
किंतु भाषा-हेतु देख । होता है भेद ॥ ८६ ॥

होता है जब शून्य दिखाना । पडता हैं बिंदु ही लिखना ।
वैसे जब अद्वैत कहना । द्वैतकी भाषामें ॥ ८७ ॥

नहीं तो सुन पार्थ । गुरु-शिष्य सत्पथ ।
टूट जाता सर्वथा । शब्द ही रुकेगा ।। ८८ ।।

इसी कारणसे श्रुति । द्वैत भावसे करती ।
स्पष्ट अद्वैतकी स्थिति । परंपरासे ।। ८९ ।।

सुन तू वही अब धनुर्धर । यहां जो नेत्र-गोचर आकार ।
वह सब ज्ञेय इस प्रकार । विश्व-व्यापक है ।। ८९० ।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। १४ ।।

ब्रह्मदर्शनकी कृतार्थता—

अर्जुन वह व्याप्त है ऐसे । अवकाशको आकाश जैसे ।
वस्त्र रूपसे हैं तंतु जैसे । होते हैं व्याप्त ।। ९१ ।।

उदकमें जैसे रसत्व । दीपमें जैसे प्रकाशत्व ।
वैसे व्याप्त है वह तत्व । सदा सर्वत्र ।। ९२ ।।

कर्पूरत्वसे कर्पूरमें जैसे सौरभ । सौरभ भरा रहता है वैसे ।
कर्म-रूपसे शरीरमें वैसे । बसता शरीर ।। ९३ ।।

अथवा जैसे है अर्जुन । स्वर्णमें व्यापता है सुवर्ण ।
वैसे ही सर्वांग-संपूर्ण । बसता है वह ।। ९४ ।।

कण रूपमें रहता सुवर्ण । कहते तब सुवर्णका कण ।
टूटता है कण-रूप सुवर्ण । स्वर्ण कहते तब ।। ९५ ।।

प्रवाह जब टेढा बनता । पानी है तब सीधा रहता ।
आगसे लोहा लाल हो जाता । न होता वह अग्नि ।। ९६

गोल होता जब घटाकार । नभ होता तब गोलाकार ।
होता है जब घर चौकाकार । नभ भी वैसे ही ।। ९७ ।।

वह जो इंद्रियातीत उनके कार्य भासते ।
अ-स्पर्शसे धरे सारे अगुण गुण भोगके ।। १४ ।।

आकाशका नहीं होता आकार । दीखता जैसे वह सर्वाकार ।
अकाशपे नहीं होते विकार । वैसी वह वस्तु ॥ ९८ ॥

मन मुख्य इंद्रियोंसे । तथा सत्वादि गुणसे ।
आकार लेता है वैसे । दीखता यहां ॥ ९९ ॥

जैसे मीठेकी जो मिठास । न होती आकारमें खास ।
नहीं होता वह विशेष । गुणोंद्रियोंमें ॥ १०० ॥

अजी ! है दूधकी स्थितिमें । घृत होता उसी रूपमें ।
तथा दूधके अभावमें । घृत ही घृत ॥ १ ॥

यहां है वह विकारसे । विकृत नहीं होता वैसे ।
गहना आकार नामसे । नहीं तो सोना सोनाही ॥ २ ॥

यहां यदि स्पष्ट रूपसे । कहना हो सरलतासे ।
वह है गुण-इंद्रियोंसे । भिन्न तत्व ॥ ३ ॥

नभ-रूपका संबंध । जाति क्रिया आदि भेद ।
यह आकार प्रवाद । तत्वका नहीं ॥ ४ ॥

अजी ! वह कोई भी गुण नहीं । गुणसे उसका संबंध नहीं ।
किंतु गुणोंको उसके तई । होता भास ॥ ५ ॥

यहां इसी कारणसे । मति संभ्रम होनेसे ।
उसमें विकार ऐसे । देखते हैं ॥ ६ ॥

उन विकारोंका धारण । जैसे बादलोंको गगन ।
या है प्रतिबिंब दर्पण । करते वैसे ॥ ७ ॥

अथवा सूर्य प्रति मंडल । धरता है पृथ्वीपे सलिल ।
या रश्मि-करमें मृगजल । धरता वैसे ॥ ८ ॥

वैसे है संबंधके बिन । सबको धरता निर्गुण ।
किंतु वह है व्यर्थ जान । भ्रांत-दृष्टि ॥ ९ ॥

इस भांति है निर्गुण । भोगता है सब गुण ।
रंकका राज धारण । स्वप्नमें जैसे ॥ ११० ॥

इसीलिये गुणका संग । अथवा होना गुण-भोग ।
वह है निर्गुणमें त्याग । नहीं होता ॥ ११ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥

चराचर भूतोंमें होता । विविध अग्नि पांडुसुत ।
किंतु होती जैसी उष्णता । अभेद रूपसे ॥ १२ ॥

वैसे ही अविनाश भावसे । रहता पूर्ण सूक्ष्म रूपसे ।
व्याप्त होकर जान उसे । यहां तू ज्ञेय ॥ १३ ॥

एक जो बाहर अंदर । वही एक पास औ' दूर ।
उस एकसे धनुर्धर । नहीं अन्य ॥ १४ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

क्षीर-सागरमें जैसा । माधुर्य होता एक-सा ।
तटमें मध्यमें वैसा । पूर्ण है जो ॥ १५ ॥

स्वेदज अंडजादिक । भूतोंमें व्याप्त जो एक ।
न होता उसमें देख । कभी न्यून ॥ १६ ॥

जिस प्रकार अनेक घटोंमें । प्रतिबिंब पडते सहस्रोंमें ।
किंतु भिन्नता नहीं चंद्रिकामें । वैसे ही पार्थ ॥ १७ ॥

या नाना लवण-कण राशिमें । क्षारता एक-सी होती सबमें ।
अथवा अनेक इक्षु-दंडमें । मिठास एक-सी ॥ १८ ॥

एक है जो अंतर्बाह्य जो है एक चराचर ।
जो है दूर तथा पास सूक्ष्मत्वसे अगम्य जो ॥ १५ ॥

अभेद भूत-मात्रोंमें रहा है जो विभक्त-सा ।
जन्म दे पालता भूत लीलता अंतमें स्वयं ॥ १६ ॥

वैसे अनेक भूत-जात । उस एकसे ही व्याप्त ।
विश्व-कार्यका वही पार्थ । कारण एक ॥ १९ ॥

इसीलिये सब भूताकार । जिसका एक-मात्र आधार ।
जैसे तरंगोंका है सागर । आधार एक ॥ ९२० ॥

बाल्यादि स्थितियोंमें जैसे । शरीर है एक ही वैसे ।
सृष्टि-स्थिति-लयमें वैसे । अखंड है वह ॥ २१ ॥

सायं प्रातः माध्यान्ह । चलता दिनमान ।
किंतु जैसे गगन । रहे एक-सा ॥ २२ ॥

सृष्टि-वेलामें प्रियोत्तम । कहते हैं जिसको ब्रह्म ।
व्याप्तिमें है जो विष्णु नाम । पडा उसको ही ॥ २३ ॥

मिटता है जब आकार । रुद्र तब प्रलयंकर ।
रहता तब शून्याकार । मिटते गुणत्रय ॥ २४ ॥

निगलकर नभका शून्य । मिटाकर जो गुणको अन्य ।
रहता है शून्य महाशून्य । श्रुति-वचन ऐसा ॥ २५ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

अग्निका जो दीपन । चंद्रका जो जीवन ।
सूर्यके हैं नयन । देखते जिससे ॥ २६ ॥

सदैव जिसका उजियाला । प्रकाशता तारागण-माला ।
जिससे महा-तेज है खिला । सुखसे सर्वत्र ॥ २७ ॥

जो है आदिका आदि । तथा वृद्धिकी वृद्धि ।
बुद्धिकी भी है बुद्धि । जीवका जीव ॥ २८ ॥

कहाता तेजका तेज तथा तम तमांधका ।
ज्ञानका ज्ञान जो ज्ञेय सबका हृदयस्थ है ॥ १७ ॥

मनका है जो मन । नेत्रका है नयन ।
कानका है जो कान । वाचाकी वाचा ॥ २९ ॥

प्राणका है जो प्राण । गतिके हैं चरण ।
क्रियाका कर्तापन । जिससे है ॥ ९३० ॥

आकारता जिससे आकार । विस्तारता उससे विस्तार ।
संहारता उससे संहार । धनंजय यहां ॥ ३१ ॥

जो है मेदिनीकी मेदिनी । जो पानीको पीकर पानी ।
तेजका प्रकाश-दायिनी । महा-तेजशक्ति ॥ ३२ ॥

वायुका है वह श्वासोच्छ्वास । तथा गगनका अवकाश ।
इन सबका है जो आभास । आभासता जिससे ॥ ३३ ॥

अथवा है यह अर्जुन । सबमें है सर्वस्व पूर्ण ।
वहां नहीं होता दर्शन । द्वैतका कभी ॥ ३४ ॥

होते ही इसका दर्शन । मिटता दृश्य-द्रष्टा पूर्ण ।
हो जाता है जब मिलन । समरस भावसे ॥ ३५ ॥

फिर होता वहीं ज्ञान । ज्ञाता ज्ञेयका दर्शन ।
औ' ज्ञानसे प्राप्ति-स्थान । वह भी यही ॥ ३६ ॥

जैसा समाप्त होते लेख । संख्या सब हो जाती एक ।
वैसे साध्य-साधनादिक । आता एकत्वमें ॥ ३७ ॥

जिस स्थानमें अर्जुन देख । नहीं होता द्वैतका उल्लेख ।
वही होता हृदयमें एक । भूतमात्रके ॥ ३८ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

कहा है अल्पमें क्षेत्र वैसे ही ज्ञान ज्ञेय भी ।
जानके भक्त है मेरा पाता आयुज्य है मम ॥ १८ ॥

आत्माके एकत्वका विवेचन—आत्मानात्म विचार—

इस प्रकारसे पार्थ । पहलेसे ही निश्चित ।
स्पष्ट किया क्या है खेत । विवेचनसे ॥ ३९ ॥

वैसे ही क्षेत्र-दर्शन । करने दिये नयन ।
कहते हैं जिसे ज्ञान । कहा वह भी ॥ ९४० ॥

वैसे ही अज्ञान लक्षण । किये सविस्तर वर्णन ।
जिसे सुनकर अर्जुन । थका होगा तू ॥ ४१ ॥

तथा स्पष्टतासे पार्थ । कहा देकर दृष्टांत ।
ज्ञेय-स्वरूप निश्चित । समझाके ॥ ४२ ॥

यह जो विवेचन संपूर्ण । करता है हृदय ग्रहण ।
मतिसिद्धि भावना प्राण । करता सहज ॥ ४३ ॥

तब देहादिका परिग्रह । होता है संन्यास निराग्रह ।
तथा प्राण होता निरीह । सेवक मेरा ॥ ४४ ॥

तब वे मैं ही हूं अर्जुन । अंतिम आसरा है जान ।
कर मुझे चित्त अर्पण । होते मद्रूप ॥ ४५ ॥

मद्रूप होनेका पथ । रचाया सुन तू पार्थ ।
सुलभ और निश्चित । हमने यह ॥ ४६ ॥

चढनेमें जैसे सीढी रचते । अथवा ऊपर मंच बांधते ।
तथा अपनी नांव भी रखते । तैरने पूरमें ॥ ४७ ॥

सब कुछ है यदि यहां आत्मा । ऐसा कहता तो मैं वीरोत्तम ।
ग्रहण न करना मनो-धर्म । यह बात मेरी ॥ ४८ ॥

इसीलिये था जो एकाकार । कर बताये चार प्रकार ।
देखके तेरी पांडुकुमार । मंद बुद्धि ॥ ४९ ॥

शिशुको जब खिलाते । ग्रास बीस कर देते ।
वैसे ही चार कहे थे । हमने एकके ॥ ९५० ॥

एक क्षेत्र औ' एक ज्ञान । एक ज्ञेय एक अज्ञान ।
भाग किये ये तेरी जान । ग्रहण-शक्ति ।। ५१ ।।

किंतु इस भांतिसे भी पार्था । मंतव्य समझमें न आता ।
तब यह दूसरी व्यवस्था । कहता तुझे ।। ५२ ।।

चार भाग यहां नहीं करूंगा । एक ही तत्व नहीं कहूंगा ।
आत्मानात्म विचार कहूंगा । अब तुझसे ।। ५३ ।।

किंतु तुझे इतना करना । ध्यान पूर्वक बात सुनना ।
श्रवणोंका है नाम रखना । अपना ही ।। ५४ ।।

सुनकर कृष्ण वचन पार्थ । प्रसन्न-मन हुवा रोमांचित ।
कृष्ण मानता हुई है अंकित । बात इनपे ।। ५५ ।।

इससे हुवा भावावेग । समेट कहता श्रीरंग ।
प्रकृति-पुरुष विभाभ । कहता हूं सुन ।। ५६

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।। १९ ।।

कहते जिसे योगी-जन । सांख्य-योग इसे अर्जुन ।
जिसको कहनेमें मान । हुवा मैं कपिल ।। ५७ ।।

सुन तू अब निर्दोष । प्रकृति-पुरुष विवेक ।
कहता है आदि पुरुष । अर्जुनसे वहां ।। ५८ ।।

प्रकृति प्रेरित कर्मका भोक्ता—

पुरुष अनादि है साथी । उसकी रही है प्रकृति ।
जैसे है दिवस औ' राति । दोनों अनादि ।। ५९ ।।

रूप नहीं होता व्यर्थ । छाया होती उसके साथ ।
दाने सह भूसा भी पार्थ । बढता जैसे ।। ९६० ।।

प्रकृति-पुरुषकी है जोडी जान अनादि तू ।
होते प्रकृतिके द्वारा विकार गुण है सब ।। १९ ।।

दोनो रहते हैं वैसे साथ । प्रकृति-पुरुष होते व्यक्त ।
परस्पर चिपके हैं पार्थ । अनादि सिध्द ॥ ९६१ ॥

जिसका नाम क्षेत्र । कहा है एक-मात्र ।
जानता है सर्वत्र । प्रकृति उसे ॥ ९६२ ॥

तथा क्षेत्रज्ञ है ऐसे । कहा है जिसको उसे ।
मानता पुरुष उसे । यह है स्पष्ठ ॥ ९६३ ॥

इनके हैं ये नाम भिन्न । किंतु तत्व एक अर्जुन ।
न भूलना यह लक्षण । यहां कभी ॥ ९६४ ॥

रही है यहां जो सत्ता । वही पुरुष है पार्थ ।
प्रकृति नाम समस्त । क्रिया मात्रका ॥ ९६५ ॥

बुध्दि इंद्रिय-अत:करण । इत्यादि है विकार भरण ।
तथा रहे हैं वे तीनों गुण । सत्व रजादिक ॥ ९६६ ॥

इन सबका मिलन । प्रकृतिसे हुवा जान ।
इसीसे होते उत्पन्न । सभी कर्म ॥ ९६७ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

वहां इच्छा बुध्दि सहित । अहंकार सह धाटित ।
उसे चस्का लगाते पार्थ । करणोंका ॥ ९६८ ॥

यही कारण करने संपन्न । जिन उपयोंका सूत्र चालन ।
उसको कहते सुन अर्जुन । कार्य है यह ॥ ९६९ ॥

तथा इच्छा मदके द्वारा । प्रकृतिने मन उभारा ।
औ' इंद्रियोंका व्यवहार । वह है कर्तृत्व ॥ ९७० ॥

कहा प्रकृतिके पास कर्तृत्व देह-इंद्रिका ।
तथा पुरुषके पास भोक्तृत्व सुख दु:खका ॥ २१ ॥

तभी यह तीनों जान। कार्य कर्तृत्व कारण।
प्रकृति मूल श्रीकृष्ण। कहता यहां ॥ ७१ ॥

ऐसे तीनोंके ही समन्वयसे। प्रकृति होती है कर्म-रूपसे।
फिर जो गुण बढ़ाता है जैसे। लेती है वह रूप ॥ ७२ ॥

सत्व-गुणसे जो बनता। वह सत्कर्म कहलाता।
रजसे जो है निपजता। वह है मध्यम ॥ ७३ ॥

जिसका आधार है तम। ऐसे होते हैं सब काम।
कहलाते हैं वे अधम। जान तू यहां ॥ ७४ ॥

ऐसे होते हैं प्रकृतिसे। भले बुरे कर्म जो जैसे।
उत्पन्न होते हैं उनसे। सुख दुःख ॥ ७५ ॥

असत्कर्मसे दुःख उत्पन्न। सत्कर्मसे है सुख अर्जुन।
उन दोनोंको कहते जान। भोग पुरुषका ॥ ७६ ॥

सुख दुःख सब जब तक। सच मानते हैं तब तक।
प्रकृति कर्मरत है देख। औ' पुरुष भोगता ॥ ७७ ॥

प्रकृति पुरुषका संसार। आति असंगत धनुर्धर।
लाती है भार्या जो कमाकर। खाता है भर्ता ॥ ७८ ॥

तथा भर्ता भार्या परस्पर। नहीं करते संग संसार।
और सुनो यह चमत्कार। प्रकृति जनती जग ॥ ७९ ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे होने वाला भास—

यह भर्ता है निराकार। निष्क्रिय निर्गुण है और।
जरा-जीर्ण है धनुर्धर। वृध्दातिवृध्द ॥ ९८० ॥

बंधा है प्रकृतीसे जो उसके गुण भोगता।
शुभाशुभ जन्म पाता प्रकृति-संगसे यह ॥ २१ ॥

वह नाम मात्रका है पुरुष । नहीं नर नारी जो नपूंसक ।
अथवा मानो नहीं जाने एक । क्या है निश्चित ॥ ८१ ॥

वह है अचक्षु अश्रवण । तथा जो अ-हस्त अ-चरण ।
जिसका नहीं रूप औ' वर्ण । नाम भी नहीं ॥ ८२ ॥

जहां कुछ भी नहीं है पार्थ । देखती वहां प्रकृति भर्ता ।
इससे उसे भोगना होता । सुख दुःख ॥ ८३ ॥

वह है जो अकर्ता । उदास औ' अभोक्ता ।
किंतु है पतिव्रता । भोगती है ॥ ८४ ॥

उसके गुण-रूपका मेल । कर दिखाता है बड़ा खेल ।
दिखाती झांकी वह केवल । धनुर्धर ॥ ८५ ॥

इस प्रवृत्तिको यहां अब । गुण-मयी कहते हैं सब ।
अथवा वह गुणोंकी सब । मूर्ति ही है ॥ ८६ ॥

प्रति-पलमें यह नित्य-नूतन । दिखाती है गुणोंका रंग अर्जुन ।
जिससे जड़ भी उन्मादित मन । होते उन्मत्त ॥ ८७ ॥

यही है नामको प्रसिद्ध । करती है स्नेहसे स्निग्ध ।
होती हैं इंद्रियां प्रबुध्द । इससे ही ॥ ८८ ॥

अजी ! कहते हैं मन नपूंसक । किंतु भोगती वह तीनो लोक ।
ऐसे ऐसे हैं इसके अलौकिक । करतूत सारे ॥ ८९ ॥

भ्रमका यह महा-द्वीप । व्याप्तिका है सुंदर रूप ।
विकार इसके अमाप । सभी प्रकारके ॥ ९९० ॥

यह है कामकी मांड़वी । मोह-वनकी जो माधवी ।
इसको कहते हैं "दैवी- । माया" है यह ॥ ९१ ॥

यह है वाङ्मयका विस्तार । नाम-रूप करती साकार ।
प्रपंच जाल जो निरंतर । फैलाती अभंग ॥ ९२ ॥

कलाकी है यही जाया । विद्याको इसने किया ।
इच्छा ज्ञान तथा क्रिया । इसीसे जान ॥ ९३ ॥

यह है नादका टंकसाल । सकल चमत्कारका स्थल ।
अथवा करती सब खेल । अखिल विश्वका ॥ ९४ ॥

उत्पत्ति प्रलय जो पार्थ । इसके सब सायं-प्रात ।
यह सब अति अद्भुत । मोहका सारा ॥ ९५ ॥

अद्वयकी दूसरी मूर्ति । मानो निःसंगकी साथी ।
शून्यके घरमें वसित । धनंजय ॥ ९६ ॥

उसका है पांडुकुमार । सौभाग्य-व्याप्तिका विस्तार ।
अनावृत पुरुष पर । डालती आवरण ॥ ९७ ॥

सदा है वह निर्विकार । बनती उसके विकार ।
वहां यह सब प्रकार । बनती आप ॥ ९८ ॥

उस स्वयंभूकी है उत्पत्ति । उस अमूर्तकी जो है मूर्ति ।
तथा बनती स्थिति-प्रकृति । स्वयं आप ॥ ९९ ॥

उस अनार्तकी यह आर्त । तथा पूर्णत्वकी यह तृप्त ।
उस अकुलकी जात-गोत । बनती यही ॥ १००० ॥

अवर्णनीयका वर्णन । उस अपारका प्रमाण ।
तथा उस अमनस्कका मन । बुद्धि भी बनती ॥ १ ॥

उस निराकारका आकार । तथा निर्व्यापारका व्यापार ।
निरहंकारका अहंकार । बन बैठती है ॥ २ ॥

उस अनामका नाम । तथा अजन्मका जन्म ।
स्वयं होती यह कर्म- । क्रिया उसकी ॥ ३ ॥

उस निर्गुणके गुण । अ-चरणके चरण ।
अ-श्रवणके श्रवण । अ-चक्षुके चक्षु ॥ ४ ॥

उस भावातीतका है भाव । निरवयवके अवयव ।
अथवा बनती है सर्व । उस पुरुषका ॥ ५ ॥

इस भांति यह प्रकृति । बढाकर अपनी व्याप्ति ।
विकृति जालमें फंसाती । अविकारीको ॥ ६ ॥

वहां जो पुरुषत्व होता । प्रकृति कारण बनता ।
अमावास्यमें रहता । चन्द्रमा जैसे ॥ ७ ॥

जैसे अति-स्वच्छ सुवर्ण । मिलकर जस्तके कण ।
बनता जाता है जो हीन । उसी भांति ॥ ८ ॥

या बनता जैसे सज्जन । पिशाच-संगसे है हीन ।
बादल व्याप्त हो गगन । दुर्दिन करता ॥ ९ ॥

या पय होता पशुके स्तनमें । अथवा अग्नि होता लकडीमें ।
तथा लपेट लिया है वस्त्रमें । नंदादीप ॥ १०१० ॥

जब होता राजा पराधीन । तथा सिंह रोगके आधीन ।
वैसे पुरुषत्व तेज-हीन । होता प्रकृतिमें ॥ ११ ॥

जगता हुवा मनुष्य जैसे । यकायक निद्रित होनेसे ।
स्वप्नमें दुःख भोगता वैसे । यहां वह ॥ १२ ॥

वैसे प्रकृतिके आधीन । भोगता है पुरुष गुण ।
जैसे विरक्त स्त्री-आधीन । उखडता है ॥ १३ ॥

वैसे ही अज नित्यका जो होता । जन्म-मृत्यु सहना पडता ।
प्रकृति-गुण संगसे होता । सभी यह ॥ १४ ॥

किंतु यह जैसे पांडुसुत । तप्त लोहपे होता आघात ।
तब अग्निको होते हैं घात । मानते वैसे ॥ १५ ॥

या आंदोलनसे उदक । प्रतिमा होती है अनेक ।
उसे कहे नानात्व लोक । चंद्रका जैसे ॥ १६ ॥

या पास होनेसे दर्पण । एकके दो दीखते आनन ।
या कुंकुमसे रक्त-वर्ण । आता स्फटिकमें ॥ १७ ॥

गुण संगसे ऐसा होता । अजन्मा है जनम लेता ।
ऐसा वह आभास होता । अन्यथा नहीं ॥ १८ ॥

अधमोत्तम योनि वैसे । मानते हैं इसको ऐसे ।
संन्यासी स्वप्नमें ही जैसे । बनता अंत्यज ॥ १९ ॥

इसीलिये केवल पुरुष । नहीं भोगता है कुछ देख ।
यहां गुण-संग ही अशेष । लगता मूलमें ॥ १०२० ॥

उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

अजी ! यह खड़ा है प्रकृतिमें । आधार-स्तंबसा लता बीचमें ।
अंतर जो है धरणी नभमें । वही इनमें है ॥ २१ ॥

तीरमें प्रकृति सरिताके । खड़ा मेरु-सा बन करके ।
प्रवाहमें स्थिर है इसके । प्रतिबिंब मात्र ॥ २२ ॥

प्रकृति होती है प्रवाहित । स्थिर रहता यह सतत ।
तभी इसमें होता शासित । ब्रह्मांड सारा ॥ २३ ॥

प्रकृति है इससे ही जीवित । इसकी सत्तासे ही वस्तुजात ।
प्रसवती तभी है यह कांत । होता प्रकृतिका ॥ २४ ॥

अनंत-कालसे अर्जुन । सृष्टि होती यह उत्पन्न ।
तथा होती इसीमें लीन । कल्पांतमें ॥ २५ ॥

तभी है यह प्रकृतिका ईश । ब्रह्मांडका सूत्रधार विशेष ।
इसे तोलता रहता अशेष । पांडुकुमार ॥ २६ ॥

अजी ! सुन इस शरीरमें । परमात्म है ऐसे बोलनेमें ।
आता है जो इसीके विषयमें । जान ले तू ॥ २७ ॥

प्रकृतिके उस पार एक । कोई है कहते सभी देख ।
वह यही परम पूरुष । जान तत्वत: ॥ २८ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

सर्व-साक्षी अनु-ज्ञाता भर्ता भोक्ता महेश्वर ।
कहते परमात्मा है देहमें पर- पूरुष ॥ २२ ॥
ऐसा पुरुषका रूप प्रकृतिका गुणात्मक
जानता जो यह ऐसा न कभी जन्मता फिर ॥ २३ ॥

जिसने यह जान लिया वह मुक्त है—

पुरुषका जो शुद्ध-रूप । संपूर्ण जानता है आप ।
प्रकृतिके क्रिया कलाप । गुण हैं सारे ॥ २९ ॥

यह रूप तथा यह छाया । यह जल तथा यह माया ।
करना निर्णय धनंजय । ऐसा सभी ॥ १०३० ॥

इस प्रकारसे अर्जुन । प्रकृति पुरुष विवेचन ।
स्पष्ट करता जिसका मन । सदा सर्वत्र ॥ ३१ ॥

शरीरसे रखके मेल । करता है कर्म सकल ।
रहता नभसा निर्मल । असंग हो ॥ ३२ ॥

देहमें वह ऐसा रहता । देह-मोहसे नहीं भ्रमता ।
देह-पातपे नहीं जन्मता । फिरसे वह ॥ ३३ ॥

होता है जब यह एक । प्रकृति पुरुष विवेक ।
तब करता अलौकिक । महदुपकार ॥ ३४ ॥

यह विवेक-भानुके समान । उजलायेगा अंतःकरण ।
उसके उपाय अनेक सुन । कहता हूं मैं ॥ ३५ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

आत्मानात्म विवेक-साधनका उपाय—

सुन तू अर्जुन कई एक । विचार-रूपी अग्निमें रख ।
हीन कसका जो सुवर्णक । पुट देकर ॥ ३६ ॥

जलाते सभी सैंतीस । अनात्म-भेद सर्वस ।
चुनते हैं शुद्ध-शेष । आत्म-तत्व ॥ ३७ ॥

अपने ही हियमें उसे । देखते अपनी दृष्टिसे ।
आप ही सदा अपनेसे । पांडुकुमार ॥ ३८ ॥

ध्यानसे देखता कोई आत्माको हियमें स्वयं ।
सांख्य-योग तथा कोई पाते हैं कर्म-योगसे ॥ २४ ॥

और कुछ दैव-योगसे । चित्त देते सांख्य-योगसे ।
और कुछ कर्माचरणसे । देखते वह तत्व ॥ ३९ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

ऐसे सुन पांडुकुमार । तर जाते भव-भंवर ।
पाके कुछ अन्य प्रकार । भली भांतिसे ॥ १०४० ॥

तब वह ऐसा करते । अभिमान सभी तजते ।
गुरुपे विश्वास रखते । पूर्ण-रूपसे ॥ ४१ ॥

हित अहित सब देखते । हानि देख दयासे भरते ।
जानकर दुःख भी हरते । तथा देते हैं सुख ॥ ४२ ॥

उनके मुखसे जो शब्द निकलते । सब वे अति-आदरसे सुनते ।
तथा तन मनसे वैसे ही बनते । पांडुकुमार ॥ ४३ ॥

सुननेके लिये ही केवल । करते हैं कर्तव्य सकल ।
शब्द पर निष्ठासे अचल । होते निछावर ॥ ४४ ॥

सुन तू यह धनंजय । मरणार्णवसे निर्भय ।
निकलते हो अमृतमय । भली भांति ॥ ४५ ॥

जाननेके हैं अनेक । उपाय यहां हैं देख ।
उससे जानना एक । परम तत्व ॥ ४६ ॥

कोई भाग्यवान ही विश्वकी विविधतामें एकता देख सकता है—

अब हुवा यह बहुत । किंतु सर्वार्थका मथित ।
सिद्धांत तत्व-नवनीत । देता हूं तुझे ॥ ४७ ॥

स्वयं न जानके कोई बडोंसे सुनके सब ।
तरते मृत्युको वे भी श्रद्धासे कर वर्तन ॥ २५ ॥

इससे होगा सहज । अनुभव तुझे आज ।
यह होने पर तुझ । न होगा सायास ॥ ४८ ॥

इसीलिये शुद्ध-प्रज्ञासे कर । सिद्धांतकी रचना सुंदर ।
पाखंडकी पूरी खंडना कर । कहता फलितार्थ ॥ ४९ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

क्षेत्रज्ञ क्या यह समझाया । अपना रूप तुझे दिखाया ।
तथा क्षेत्र भी सब समझाया । संपूर्ण रूपसे ॥ १०५० ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका यह मिलन । करता भूत-मात्रको उत्पन्न ।
जैसे सलिल अनिल मिलन । रचते तरंग ॥ ५१ ॥

अथवा जब दिनकरके किरण । करते ऊसर भूमिका आलिंगन ।
होता है मृगजल-पूर-सा दर्शन । धनंजय ॥ ५२ ॥

अथवा वर्षाकी धारासे । भीगी हुयी धरणीमेंसे ।
अंकुर नाना प्रकारसे । निकलते अनेक ॥ ५३ ॥

वैसे चराचर संपूर्ण । जीव-जगतका निर्माण ।
करता उभय मिलन । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ॥ ५४ ॥

इसीलिये हे अर्जुन । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसे भिन्न ।
नहीं है कोई जान । साकार वस्तु ॥ ५५ ॥

समं सर्वेषुभूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

विश्वमें उत्पन्न जो जो होते स्थावर जंगम ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोग यही कारण जान तू ॥ २६ ॥

समान सब भूतोंमें रहा है परमेश्वर ।
अनाशी नाशवंतोंमें जो देखे वह देखता ॥ २७ ॥

जैसे पटत्व नहीं है तंतु । किंतु पटका आधार तंतु ।
यह प्रज्ञा-दृष्टिसे जान तू । ऐक्य भाव ॥ ५६ ॥

सब भूतोंका आधार । एक ही है तत्व-सार ।
दीखते भिन्न आकार । देखनेमें ॥ ५७ ॥

इनके नाम अनेक । व्यवहार भी अनेक ।
तथा रूप भी अनेक । दीखते हैं ॥ ५८ ॥

देख कर यह अर्जुन । करेगा द्वैत-भाव मन ।
मुक्त होना अवश्य जान । जन्म-मरणसे ॥ ५९ ॥

जैसे अनेक कारणसे । लगते नाना आकारसे ।
लतामें अगणित जैसे । फल कुमडेके ॥ १०६० ॥

अथवा बेरकी जो लकडी । सरल हो अथवा हो टेढी ।
वस्तु एक है खडी या पडी । वैसे वह तत्व ॥ ६१ ॥

जैसे अग्नि कण अनेक । उसकी दाहकता एक ।
वैसे जीव-राशि अनेक । एक परतत्व ॥ ६२ ॥

वर्षाधार गगन भर । उसमें एक ही है नीर ।
वैसे है नाना भूताकार । सबमें ईश एक ॥ ६३ ॥

भूतग्राम सब विषम । सबमें वस्तु एक सम ।
घर घरमें होता व्योम । एकसा जैसे ॥ ६४ ॥

नाश होने पर भूताभास । आत्मा होता एक अविनाश ।
जैसे अलंकार है विशेष । उसमें एक स्वर्ण ॥ ६५ ॥

जैसे जीव-धर्म हीन । तथा जीवसे अभिन्न ।
देखता जो सु-नयन । ज्ञानियोंमें ॥ ६६ ॥

ज्ञान-दृष्टिमें अर्जुन । होता है जो सु-नयन ।
वही बडा भाग्यवान । नहीं यह बडा ॥ ६७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

गुणोंद्रियोंकी जो धोकटी । देह-धातुओंकी त्रिपुटी ।
पंच मेलकी यह पटी । दारुण है सब ॥ ६८ ॥

पांच डंकोंका है यह वृश्चिक । अथवा पंचाग्नि ताप-दायक ।
अथवा मृगकी मांद है एक । मिली वन-राजको ॥ ६९ ॥

शरीरमें रहकर ऐसे । नित्य-भावकी तलवारसे ।
अनित्यताका उदर कैसे । नहीं फाडता ॥ १०७० ॥

ज्ञानीका गंतव्य, जहां मोक्ष भी विश्रांति लेता है—

किंतु इस देहमें रहकर । न करता अपने प्रहार ।
तथा अवसानपे धनुर्धर । मिलता मुझमें ॥ ७१ ॥

अनेक जन्मोंको पार कर । योग-ज्ञानका सहारा लेकर ।
योगी जन डुबकी लगाकर । बैठते यहां ॥ ७२ ॥

आकारका जो पैल तीर । नादका जो उस पार ।
तुर्यावस्थाका मध्य घर । पर-ब्रह्म जो ॥ ७३ ॥

मोक्ष सह सभी गति । लेती है यहां विश्रांति ।
गंगादि नदीकी गति । जैसे समुद्र ॥ ७४ ॥

वह सुख इसी देहमें । मिलता है विपुलतामें ।
न होती भूत-वैषम्यमें । विषय-बुध्दि ॥ ७५ ॥

सभी दीप-ज्योतिमें जैसे । रहता तेज एक जैसे ।
रहता है सर्वत्र वैसे । ईश एक ॥ ७६ ॥

ऐसी सम-दृष्टिसे पार्था । सदा सर्वत्र जो देखता ।
कभी आधीन नहीं होता । जन्म मरणके ॥ ७७ ॥

जो देखे प्रभु सर्वत्र भरा है सम जो स्वयं ।
आत्माकी न करे हिंसा पाता है गति उत्तम ॥ २८ ॥

इसीलिये वह भाग्यवान । ऐसे करते हम वर्णन ।
साम्य-सेज पर है नयन । लगे हैं उसके ॥ ७८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
यःपश्यति तथात्मानमकर्तारं सपश्यति ॥ २९ ॥

मन बुद्धि जिसमें प्रमुख । ज्ञान औ' कर्मेंद्रिय अशेष ।
करती है जो प्रकृति देख । जानता वह सत्व ॥ ७९ ॥

गृह-निवासी सभी करता । घर कुछ भी नहीं करता ।
बादल आकाशमें दौडता । आकाश रहता स्थिर ॥ १०८० ॥

वैसी ही प्रकृति आत्म-प्रभा । गुण-क्रीडासे विविधारंभ ।
आत्मा रहता है जैसे स्तंभ । यह न जानते ॥ ८१ ॥

ऐसा जो यह निर्णय । जिसमें हुवा उदय ।
उसने जाना निश्चय । अकर्तापन ॥ ८२ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

वैसे सहज अर्जुन । होगा ब्रह्मत्व संपन्न ।
भूताकृति है जो भिन्न । दीखेगी एकमें ॥ ८३ ॥

लहर जैसे सलील पर । परमाणु-कण स्थल पर ।
किरण-जाल आकाश पर । भास्करका ॥ ८४ ॥

या देहमें अवयव । मनमें संपूर्ण भाव ।
विस्फुलिंग सावयव । एक अग्निके ॥ ८५ ॥

करनेसे प्रकृतीके होते हैं कर्म जो सब ।
अकर्ता है स्वयं आत्मा यथार्थ यह देखना ॥ २९ ।
जुदा एकत्वमें देखे भूतोंकी भिन्नता सब ।
उसीसे जान विस्तार पाता ब्रह्मत्व है तभी ॥ ३० ॥

वैसे एकके भूताकार । दृष्टिगत होंगे साकार ।
ब्रह्म-संपत्ति भांडार । लगेगा हाथ ॥ ८६ ॥

सर्वत्र तब तुझे अर्जुन । होगा पर-ब्रह्मका दर्शन ।
तथा अभयादि समाधान । मिलेगा तब ॥ ८७ ॥

इस भांति यह जो पार्थ । प्रकृति-पुरुष व्यवस्था ।
करलें प्रतीति सतत । चाहे वैसे वे ॥ ८८ ॥

अब तू कर वह प्रतीति । चितमें स्थिरकर निश्चिति ।
अब नहीं तो सुभद्रापति । तो नंतर कुछ ॥ ८९ ॥

मिला है कुल्ला करने अमृत । अथवा भांडार हुवा लक्षित ।
ऐसा मिला यह लाभ निश्चित । ज्ञान-रहस्य ॥ १०९० ॥

कहूंगा अब दो बोल । अति-गूढ अनमोल ।
चित्त देकर सकल । सुन तू वे ॥ ९१ ॥

श्रीकृष्णका यह बोल । सुनता पार्थ निश्चल ।
इंद्रियां तब केवल । करके कान ॥ ९२ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

आत्मा और शरीरकी तुलना तथा संबंध—

अजी ! परमात्मा जो कहलाता । जलमें बिंबित हो न भीगता ।
जैसा सूर्य वैसा वह रहता । प्रकृतिमें निर्लेप ॥ ९३ ॥

जलके आदि और अंत । रहता है सूर्य सतत ।
केवल है वह बिंबित । अन्योंकी दृष्टिसे ॥ ९४ ॥

आत्मा वैसे देहमें होता कहां । रहता है वह जहांका तहां ।
कहा जाता है देहमें रहता वहां । नहीं है सत्य ॥ ९५ ॥

अव्ययी परमात्मा है तथा अनादि निर्गुण ।
देहमें रहके पार्थ करता लीपता नहीं ॥ ३१ ॥

दर्पणमें मुख जैसे । बिंबित है यह वैसे ।
रहता देहमें वैसे । आत्म-तत्व ॥ ९६ ॥

संबंध जो देह-आत्मका । सर्वथा निर्जीव बातका ।
होता क्या बात औ' रेतिका । संबंध पार्थ ॥ ९७ ॥

आग तथा पंखमें जैसे । नत्थी करना कहो कैसे ।
या पत्थरको आकाशसे । कैसे जोडना ॥ ९८ ॥

एक जाता पूर्वकी ओर । दूसरा पश्चिमकी ओर ।
भेंट होती कैसी आखर । दोनोंकी पार्थ ॥ ९९ ॥

प्रकाश और अंधार । निर्जीव सजीव नर ।
तथा आत्मा औ' शरीर । एक समान ॥ ११०० ॥

रात्र और दिवस । कनक औ' कपास ।
नाता कैसा है वैसा । इन दोनोंका ॥ १ ॥

देह यह है पांचोंका जाल । गुण-कर्मकी गांठ केवल ।
जन्म-मृत्यु चक्र पर डाल । घुमाई जाती है ॥ २ ॥

कुंडमें जैसे कालानलके । गोले पडे हैं नवनीतके ।
हिलनेमें ही पांव माखिके । जाते पिघल ॥ ३ ॥

पडनेसे यह आगमें । भस्म हो उडता क्षणमें ।
जानेसे श्वान उदरमें । होता है मल ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे यदि चूकता । कृमियोंका पुंज बनता ।
इसका परिणाम है पार्थ । कल्मष ही है ॥ ५ ॥

इस देहकी यह दशा । तथा आत्मा है वह ऐसा ।
नित्य-शुद्ध-सिद्ध एकसा । अनादित्वसे ॥ ६ ॥

सकल नहीं है या यह निश्कल । न अक्रिय या यह क्रिया-शील ।
नहीं यह कृश अथवा स्थूल । निर्गुणत्वसे ॥ ७ ॥

आभास नहीं या निराभास । प्रकाश नहीं या अप्रकाश ।
न अल्प अथवा बहुवस । अरूपतासे ॥ ८ ॥

जो न रीता या भरित । न रहित या सहित ।
मूर्त नहीं या अमूर्त । शून्यत्वसे ॥ ९ ॥

जो न आनंद या निरानंद । न है एक अथवा विविध ।
न है जो मुक्त अथवा बद्ध । आत्मत्वसे ॥ १११० ॥

न वह इतना या उतना । न स्वत सिद्ध या न है बना ।
न है वक्ता अथवा मौन । अलक्षत्वसे ॥ ११ ॥

सृष्टि-साथ यह नहीं बनता । या प्रलयके साथ न नाशता ।
होने न होनेसे परे रहता । लय स्थान जो ॥ १२ ॥

अगणित अथवा अचर्चित । मिटता न होता वृध्दिगत ।
न घटता न होता विकृत । अव्ययत्वसे ॥ १३ ॥

इस भांति है यह आत्मा । देहमें कहते प्रियोत्तम ।
भवाकाशमें जैसे व्योम । नाम जिसका ॥ १४ ॥

ऐसे उस अखंड पर । बनते देहके आकार ।
वह न ले या तजकर । रहता सहज ॥ १५ ॥

आत्मा शरीरमें रहकर भी न कुछ करता न लीपता—

जैसे प्रकाश और अंधकार । आते जाते आकाशपर ।
शरीर है आत्म-तत्व 'पर । इसी भांति ॥ १६ ॥

इस देहमें न कुछ करता । अथवा वह न कुछ कराता ।
सहज व्यापारमें न गूंथता । कर्ता पनसे ॥ १७ ॥

इसीलिये वह स्वरूपसे । अल्पता अथवा पूर्णतासे ।
न लीपता है कभी देहसे । देहमें भी ॥ १८ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

आकाश ज्यों सर्व-व्यापी न लीपे सूक्ष्म होकर ।
व्याप्त सर्वत्र त्यों आत्मा देहमें लीपता नहीं ॥ ३२ ॥

यह आकाश नहीं कहां। कब वह न घुसता कहां।
सर्वत्र रहता जहां तहां । किंतु निर्लिप्त ॥ १९ ॥

वैसा सदैव वह शरीरगत। रहता है आत्मा सर्वत्र सतत।
किंतु नहीं होता वह कभी लिप्त । क्षेत्र दोषसे॥ ११२० ॥

लक्षण यह पुनः पुन । जानना सदा सत्य मान।
सर्वगत क्षेत्र-विहीन। क्षेत्रज्ञका तू॥ २१ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

लोहेको चुंबक हिलात । लोहा चुंबक नहीं होता।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञका होता । इस भांतिसे ॥ २२ ॥

दीप-ज्योति निरंतर । चलाती घरका व्यापार।
इन दोनोंका है अंतर । अमर्याद ॥ २३ ॥

काठमें रहती है आग । किंतु काठ न होता आग।
ऐसे दोनों होते अलग । देह और आत्मा॥ २४ ॥

आकाश और बादल । सूर्य तथा मृगजल।
ऐसा भेद तू निश्चल। यदि देखेगा॥ २५ ॥

जैसा आकाशमें एक । रहता है वह अर्क।
प्रकाशता तीन लोक । नित्य नित्य ॥ २६ ॥

ऐसा क्षेत्रज्ञ है एक । क्षेत्र पूर्ण प्रकाशक।
न यह संदेह-जनक । न प्रक्षेपार्थ भी ॥ २७॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥ ३४ ॥

जैसे है एक ही सूर्य उजलाता भुवनत्रय।
वैसे प्रकाशता क्षेत्र क्षेत्रज्ञ पूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञका भेद देखते ज्ञान-दृष्टिसे।
पाते वे मोक्षका धाम भूत-प्रकृति लांघके ॥ ३४ ॥

आत्मानात्म-व्यवस्थाके राजहंस—

शब्द-तत्व सारज्ञ । दीखता है जो प्राज्ञ ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ । इनमें भेद ॥ २८ ॥

इन दोनोंका जो अंतर । देखता है वही चतुर ।
वे ज्ञानियोंका महा-द्वार । रहते नित्य ॥ २९ ॥

इसीलिये जो सुमति । जोड़ते शांति-संपत्ति ।
शास्त्रोंकी सदा दुमति । पालते घरमें ॥ ११३० ॥

भोगके आकाश पर । साहस युत संचार ।
करते जो धनुर्धर । इसी आशासे ॥ ३१ ॥

शरीरादि जो समस्त । मानकर तृणवत ।
लेते संत-सेवा व्रत । जीव-भावसे ॥ ३२ ॥

करके ऐसे प्रकार । अनेक सायास कर ।
होते हैं चितमें स्थिर । ज्ञान-भावसे ॥ ३३ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो अंतर । देखते रहते निरंतर ।
करते हैं हम न्योच्छावर । अपना ज्ञान उनपे ॥ ३४ ॥

तथा महा-भूतादिक । प्रभेद लेके अनेक ।
फैली है अवास्तविक । प्रकृति है जो ॥ ३५ ॥

वह शुक-नलिकान्यायसे । न चिपके ही चिपकी वैसे ।
मानता है जो जैसेको वैसे । यह धनुर्धर ॥ ३६ ॥

जैसे माला ही है माल । देखती आंखें निर्मल ।
सर्प-भ्रमको चंचल । दूर करके ॥ ३७ ॥

अथवा शुक्तिको शुक्ति । करता है सही प्रतीति ।
छोडकर रजत-भ्रांति । सहज भावसे ॥ ३८ ॥

आत्म-प्रकृतिकी जो है भिन्नता । उसको हृदयसे जो जानना ।
उसे मैं पर-ब्रह्म ही कहता । पांडुकुमार ॥ ३९ ॥

आकाशसे भी जो महान । अव्यक्तका पैल-तीर मान ।
पाके उसे साम्या-साम्य-भान । नहीं रहता ।। ११४० ।।

आकार वहां मिटता । जीवत्व सभी घुलता ।
द्वैत-नाम भी खो जाता । वह है अद्वय ।। ४१ ।।

परम-तत्व वे पार्थ । होते हैं वहां सर्वथा ।
आत्म-अनात्म-व्यवस्था । उसके वे राजहंस ।। ४२ ।।

तेरहवे अध्यायका उपसंहार—

इस भांति यह संपूर्ण । पांडवको वह श्रीकृष्ण ।
देता ज्ञान हो स-करुण । जीवनका सब ।। ४३ ।।

एक कलशमें रहता जो जल । दूसरेमें डालते जैसे सकल ।
वैसे श्रीकृष्णने दिया सकल । ज्ञान पार्थको ।। ४४ ।।

तथा किसको देगा कौन । वह है नर-नारायण ।
फिर अर्जुनको श्रीकृष्ण । कहाता मैं यह ।। ४५ ।।

रहने दो यह सकल । बिना प्रश्नके बोल ।
अपना सर्वस सकल । दिया श्रीहरिने ।। ४६ ।।

अगले अध्यायकी भूमिका—

किंतु मनमें वह अर्जुन । अब तक तृप्ति नहीं मान ।
अधिकाधिक इच्छा महान । बढाते रहा ।। ४७ ।।

स्नेहसे भरी ज्योति । जैसे बढते जाती ।
ऐसे श्रवण-भक्ति । बढी पार्थकी ।। ४८ ।।

जहां सु-ग्रहिणी उदार । रसज्ञ औ' भोजनहार ।
मिले जब बढता कर । उसी भांति ।। ४९ ।।

उभर आया श्रीकृष्णका मन । देखकर उल्हसित अर्जुन ।
उमड अया तब प्रवचन । छलकता हुवा ।। ११५० ।।

सु-वायुसे मेघ उमड़ता । चंद्रमासे सिंधु उमड़ता ।
वक्तृतामें रस भर आता । श्रोताके आदरसे ।। ५१ ।।

आनंदमय अब संपूर्ण । करेगा जगतको श्रीकृष्ण ।
राजन् ! करें उसको श्रवण । कहता संजय ॥ ५२ ॥

महाभारतमें इस प्रकार । श्रीव्यासने जो प्रतिभा-सागर ।
शांति-कथा गायी है जो अमर । भीष्म-पर्वमें ॥ ५३ ॥

वह कृष्णार्जुन संवाद । देश-भाषामें मैं विशद ।
कह दिखाऊंगा प्रबंध । ओवी छंदमें ॥ ५४ ॥

केवल वह शांति-कथा । चलेगी शब्दका वाक्पथ ।
पग रख श्रृंगार माथा– । पर अविरल ॥ ५५ ॥

देशीके बोल सुंदर । सजायेंगे अलंकार ।
लजायेंगे जो मधुर । अमृतको यहां ॥ ५६ ॥

उन शब्दोंका जो शांति-गुण । दिखाएगा चंद्रमा है उष्ण ।
करेगा रसना लुबुधन । नादका लोप ॥ ५७ ॥

इससे पिशाचका भी मन । बनेगा सात्विकताकी खान ।
श्रवण-मात्रसे है सुमन । पायेगा समाधि ॥ ५८ ॥

वाग्विलास विस्तार कर । गीतार्थसे विश्वको भर ।
बांधेंगे विशाल मंदिर । इस जगतका ॥ ५९ ॥

मिटेगी न्यूनता विवेककी । सार्थकता हो कान-मनकी ।
खुलेगी खान ब्रह्म-विद्याकी । चाहे जिसको ॥ ११६० ॥

पर-तत्व देखें नयन । पाये सुख-वसंतोद्यान ।
आकंठ ब्रह्म रस पान । करे विश्व ॥ ६१ ॥

होगा सब यह साकार । ऐसा बोलूंगा मैं सुंदर ।
कृपासे किया है स्वीकार । मेरा श्रीगुरुने ॥ ६२ ॥

स्पष्ट शब्दार्थसे तब ऐसे । उपमादिके अधिकतासे ।
समझाऊं प्रति-पदमेंसे । भावार्थ-सार ॥ ६३ ॥

मेरे गुरुवर श्रीमंत । पूर्ण-बोधसे विद्यावंत ।
किया मुझे हो कृपायुत । श्रीगुरुने ॥ ६४ ॥

अबतक उस कृपासे । निकला जो मेरे मुखसे ।
मान्य हुवा आप सबसे । यहां गीतार्थ ।। ६५ ।।

फिर आप संत चरण । देते हैं मुझको शरण ।
न रही है इसी कारण । कोई न्यूनता ।। ६६ ।।

कभी क्या सरस्वतिका मूक । सहज भी होता है बालक ।
तथा न्यूनता क्या सामुद्रिक । महा-लक्ष्मीको ।। ६७ ।।

ऐसे आप संतोंके पास । अज्ञानका कैसे वास ।
तभी मैं अब नव-रस । वर्षा करूंगा ।। ६८ ।।

क्या कहूं अब गुरुवर । मुझे दे इक अवसर ।
ज्ञानदेव कहे सुंदर । कहूंगा गीतार्थ ।। ६९ ।।

गीता श्लोक ३४

ज्ञानेश्वरी ओवी ११६९.



१४

गुणोत्कर्ष-गुण-निस्तारयोग

आचार्य वंदना—

जय जय आचार्य । समस्त गुरुवर्य ।
प्रज्ञा-प्रभात सूर्य । सुखोदय ॥ १ ॥

जय जय सर्व-विश्राम-स्थान । सोऽहं-भाव बोध-दाता महान ।
अनेक लोक-तरंग निदान । महा-समुद्र तू ॥ २ ॥

सुनिये आर्त-बंधू । सदा कारुण्य-सिंधू ।
विशद-विद्या- वधू । वल्लभाजी ॥ ३ ॥

जिनसे तू अदृश्य होता । उनको तू विश्व दिखाता ।
जिनसे तू प्रकट होता । तू ही सर्वस्व ॥ ४ ॥

कोई अन्योंकी दृष्टि चुराता । किंतु अपनेको है दीखता ।
तेरे लाघवकी कौतुकता । आपही अदृष्य ॥ ५ ॥

विश्वका सर्वस्व तू महान । किसें ज्ञान औ' किसे अज्ञान ।
ऐसा सहज लाघव-स्थान । नमन तुझको ॥ ६ ॥

विश्वमें जो सलिल द्रवित । तेरे द्रवसे है प्रवाहित ।
तुझसे ही सहन समर्थ । हुई पृथ्वी ॥ ७ ॥

रवि-चंद्रादि सिकता-कण । विश्वको दे प्रकाश-दान ।
तेरी ही दीप्तिके कारण । तेजका तेज तू ॥ ८ ॥

अनिलकी जो हल चल । उसकी नींव तेरा बल ।
गगनका जो चला खेल । तुझमें ही देव ॥ ९ ॥

अथवा जो अन्यथा ज्ञान । उसकी ज्योति आप जान ।
करना आपका वर्णन । श्रुतिको भी असाध्य ॥ १० ॥

जब तक न होता तेरा दर्शन । तब तक ही है वेदका वर्णन ।
दर्शन होने पर होते हैं मौन । हम और वेद ॥ ११ ॥

अजी ! एकार्णव-सिंधू । न जानता एक बिंदु ।
तभी नदी जाने गंध- । उसका कैसे ॥ १२ ॥

या उदय होते ही भास्वत । बन जाता है चंद्र खद्योत ।
वैसे ही हम श्रुति-सहित । बनते हैं मौन ॥ १४ ॥

अथवा मिट जाता जहां द्वैत । होता है परा पश्यंतिका अंत ।
तब होगा किस भांति वर्णित । किस भाषासे ॥ १४ ॥

इसीलिए छोड स्तवन । नम्रतासे होकर मौन ।
चरणमें करें नमन । यही भला है ॥ १५ ॥

जैसे हैं वैसे श्री गुरुवर । चरणमें करूं नमस्कार ।
सफल होनेमें दे आधार । ग्रंथ निरूपणमें ॥ १६ ॥

खोलकर अब कृपा-भांडार । मेरी बुध्दिकी झोली भरकर ।
मुझको काव्य-ज्ञान भी देकर । करें कृतार्थ ॥ १७ ॥

तब मैं विवेक-कर्ण-भूषण । चढाऊंगा संतोंको सुलक्षण ।
संभाल कर मैं अपने प्राण । तव प्रसादसे ॥ १८ ॥

गीतार्थका जो विधान । निकालेगा मेरा मन ।
उसे गुरु-कृपांजन । देना स्वामी ॥ १९ ॥

यह शब्द-सृष्टि सकल । दृष्टि देखेगी एक काल ।
वैसे उदय हो निर्मल । गुरु-कारुण्य बिंब ॥ २० ॥

मेरी प्रज्ञा-लतामें विशाल । लगे सरस काव्य-सु-फल ।
वैसे वसंत बन स्नेहल- । शिरोमणि देव ॥ २१ ॥

मति-गंगा-प्रवाह गंभीर । लेकर बहे प्रमेय-पूर ।
ऐसे उदार बरसा कर । मेरे स्वामी ॥ २२ ॥

अजी ! हे विश्वैक धाम । तेरा प्रसाद चंद्रमा ।
करें मुझको पूर्णिमा । उदय होके ॥ २३ ॥

करेंगे आप यदि अवलोकन । उन्मेष-सागरमें नित-नवीन ।
आयेगा रस-वृत्तिमें उफान । स्फूर्तिमय जो ॥ २४ ॥

श्री गुरु तब हो मुदित । तूने किया है स्तवनार्थ ।
विनीत भावसे है द्वैत । बोले ऐसे ॥ २५ ॥

छोड दे यह व्यर्थके बोल । गीतार्थ कह तू अनमोल ।
श्रोताओंकी इच्छा जो निर्मल । न कर व्यर्थ ॥ २६ ॥

अजी ! हां श्रीगुरुदेव । मेरा भी यही था भाव ।
श्रीमुखसे कहे देव । कहो ग्रंथ ॥ २७ ॥

दूर्वांकुरकी मूलिका । अमर जो स्वाभाविक ।
उस पर पीयूषका । आया पूर ॥ २८ ॥

अजी ! श्रीगुरु-प्रसादसे । वर्णूंगा अभी विस्तारसे ।
मूल शास्त्रको चातुर्यसे । आपके समक्ष ॥ २९ ॥

जिससे जीवके अंतर्गत । नांव जो है संशय-भरित ।
डूबकर वह सुनिश्चित । बढेगी श्रवणेच्छा ॥ ३० ॥

वाणीमें उतरे माधुर्य । गुरु-गृहका भिक्षा-चर्य ।
वास्तविक जो है सौंदर्य । गुरु-कृपासे ॥ ३१ ॥

त्रयोदशमें श्रीकृष्ण । बोले हैं यह वचन ।
सुन तू वह अर्जुन । ध्यान देकर ॥ ३२ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोगसे । बनता है जगत जैसे ।
औ' होता है गुण-संगसे । आत्मा संसारी ॥ ३३ ॥

तथा यह प्रकृतिगत । सुखदु:ख भोगके हित ।
अथवा रहा गुणातीत । होकर केवल ॥ ३४ ॥

हुवा है कैसे असंगको संग । कैसे यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग ।
अथवा कैसे सुख-दुख भोग । होता है उसे ॥ ३५ ॥

गुण हैं कितने औ' कैसे। बांधते हैं उनको कैसे।
या वह गुणातीत कैसे। उसके लक्षण क्या ?॥ ३६॥

करने इसका स्पष्टीकरण। इस चतुर्दशका है कथन।
कहता है सविस्तर श्रीकृष्ण। अर्जुनसे यहां॥ ३७॥

अब यहां यह ऐसा। प्रस्तुत करेग कैसा।
साभिप्राय जो विश्वेश। वैकुंठका॥ ३८॥

कहता है वह अर्जुन। अवधानकी सर्व सेना।
लाकर है अब मिड़ाना। ज्ञानसे यहां॥ ३९॥

कहा तुझे कई प्रकारसे। करके युक्ति-वाद जिससे।
किंतु तू उस प्रतीतिसे। भरा नहीं॥ ४०॥

भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वामुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः॥ १॥

इस समयमें अर्जुन। तुझसे कहता हूं सुन।
कहा है जो महान-ज्ञान। श्रुतिने सर्वत्र॥ ४१॥

ज्ञान मनुष्यके हृदयमें ही होता है—

वैसे ज्ञान है रूप अपना। पर उसका है जो फैलना।
भव स्वर्गादिक जब जाना। इससे हुवा पराया॥ ४२॥

अजी! केवल इसी कारण। अन्य ज्ञान सब मानो तृण।
शेष है यह अग्नि-समान। कहता हूं मैं॥ ४३॥

भव स्वर्गको जो जानते। यज्ञको ही भला कहते।
तथा द्वैतको है मानते। भली भांति॥ ४४॥

श्री भगवानने कहा

जो सभी ज्ञानमें श्रेष्ठ ज्ञान मैं कहता तुझे।
इसको जानके मोक्ष पाये हैं सब ही मुनि॥ १॥

इससे वे सभी ज्ञान । किये हैं स्वप्न–समान ।
वातोर्मियोंको गगन । निगलता जैसे ॥ ४५ ॥

अथवा उदित रश्मि-राज । छिपाता है चंद्रादिका तेज ।
अथवा नाना प्रलयांबुज । नदी नदादिको ॥ ४५ ॥

वैसे इसके होते ही उदय । अन्य सभी ज्ञान होते हैं लय ।
इसीलिये कहा है धनंजय । मैंने यह उत्तम ॥ ४७ ॥

अनादिसे जो मुक्त । स्थिति है पांडुसुत ।
होती है हस्तगत । इसी ज्ञानसे ॥ ४८ ॥

अंतर्मुख दृष्टिसे वह ज्ञान प्राप्त होता है—

जिसको कर प्रतीत । विचार-वीर समस्त ।
संसारको हैं सतत । दबाते जो ॥ ४९ ॥

मनसे पीछे हटाके मन । लेता है जहां विश्रांति तन ।
तब अनुभवता तन । तन-भाव ऐसा ॥ ५० ॥

फिर कर वे देह पार । दोनों ही जो एक ही बार ।
वे तोलमें पांडुकुमार । होते मेरे सम ॥ ५१ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानसे मेरे समान होते हैं—

जो है मेरी नित्यता । उसीको वह पाता ।
परि-पूर्ण पूर्णता । मेरी उसको ॥ ५२ ॥

जैसे मैं आनंदानंद । सत्य-सिंधु हूं अगाध ।
नहीं है हममें भेद । रहा कोई ॥ ५३ ॥

हुए वे मुझ जैसे ही इसी ज्ञान-प्रतीतिसे ।
आना जाना उन्हे एक वे अभंग सदा सम ॥ २ ॥

क्योंकि मैं हूं जैसा जितना । वह भी है वैसा उतना ।
घट-संगसे है गगन । होता घटाकाश जैसे ॥ ५४ ॥

नहीं हो तो दीप-मूल है एक । उसमें मिली शाखायें अनेक ।
किंतु वास्तवमें है वह एक । इसी प्रकार ॥ ५५ ॥

इसी प्रकार है अर्जुन । द्वैत अनुभवके बिन ।
नामार्थ रूपमें हो लीन । हुए एक ॥ ५६ ॥

यही है जो एक कारण । होती जब सृष्टि निर्माण ।
तब भी है जन्म-धारण । नहीं उसको ॥ ५७ ॥

होती है जब सृष्टि निर्माण । तब न जिसे देह-धारण ।
आया उसको कहां मरण । प्रलय-कालमें ॥ ५८ ॥

इसीलिये जन्म-क्षय । अतीत है वे धनंजय ।
मद्रूप हुये निश्चय । मेरे ज्ञानसे ॥ ५९ ॥

ऐसा जो महत्व ज्ञानका । प्रिय विषय श्रीकृष्णका ।
बढाने रस अर्जुनका । बखानता है ॥ ६० ॥

स्वरूप-विस्मरण ही अज्ञान है—

तब मानो वह अर्जुन । बना लेता सर्वांग कान ।
अथवा होता अवधान- । मूर्ति केवल ॥ ६१ ॥

तब श्रीकृष्णका व्याख्यान । कर सका है आकलन ।
तथा वह हुवा निरूपण । गगनसे विशाल ॥ ६२ ॥

तब कहता है हे प्रज्ञा-कांत । उजली है आज जो वक्तृता
उसके समान ही जो श्रोता । मिला आज ॥ ६४ ॥

अजी ! यदि मैं हूं एक । देह-पाशमें अनेक ।
पकडा जाता हूं देख । गुणोंसे कैसे ॥ ६४ ॥

कैसा क्षेत्रका संग करता । कैसे जगतको मैं प्रसवता ।
इसीको मैं तुझसे कहता । सुन तू अब ॥ ६५ ॥

तभी यह क्षेत्र कहलाता । इसमें मत्संगसे पकता ।
नाना प्राणि लेके विचित्रता । पांडुकुमार ॥ ६६ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

वैसे है यह महद्ब्रह्म । तभी यह इसका नाम ।
महदादिका जो विश्राम- । धाम है यह ॥ ६७ ॥

बढाता है यह बहु विचार । इसीलिये है पांडुकुमार ।
कहते हैं इसे सरासर । महद्ब्रह्म ॥ ६८ ॥

अव्यक्त वादका मत । कहता इसे अव्यक्त ।
सांख्य करते प्रतीत । प्रकृति है यह ॥ ६९ ॥

वेदांति इसको भाया । कहते हैं प्रज्ञा-राया ।
वैसे ही इसे बताया । यह है अज्ञान ॥ ७० ॥

अपनेको है अपना । रहता है विस्मरण ।
यही रूप है अर्जुन । इस अज्ञानका ॥ ७१ ॥

अज्ञानका रूप विवेचन—

इसका होता है एक ऐसा । विचारमें न दीखता जैसा ।
दीपकके प्रकाशमें जैसा । रहता अंधःकार ॥ ७२ ॥

अथवा हिलता है जब क्षीर । न दीखती मलाई किसी ओर ।
किंतु जब होता है दूध स्थिर । तब वह दीखती ॥ ७३ ॥

अथवा न जागृति न स्वप्न । नहीं है स्वरूप अवस्थान ।
अथवा सुषुप्ति है जो घन । वैसी होती ॥ ७४ ॥

जब वायुको न प्रसवता । आकाश बांझ होता है रीता ।
वैसी होती है वह अवस्था । अज्ञानकी ॥ ७५ ॥

प्रकृति क्षेत्र है मेरा देता हू बीज मैं उसे ।
उसमेंसे सभी भूत होते उत्पन्न भारत ॥ ३ ॥

यह खंबा है या मनुष्य । नहीं होता एक निश्चय ।
होता एक भास अवश्य । वैसे ही पार्थ ॥ ७६ ॥

ऐसी वस्तु होती है वैसे । वैसी नहीं दीखती जैसे ।
किंतु विपरीत भी वैसे । नहीं दीखती ॥ ७७ ॥

न होती रात या तेज । वह संधि जैसे सांज ।
वैसे विरुध्द ना निज । है यह अज्ञान-रूप ॥ ७८ ॥

अज्ञानावृत्त प्रकाश ही क्षेत्रज्ञ है—

ऐसी वस्तु होती है एक दशा । उसको कहते अज्ञान ऐसा ।
उससे लपेट लिया प्रकाश । वह है क्षेत्रज्ञ ॥ ७९ ॥

अज्ञानको महत्व देना । अपनेको ही न जानना ।
उसी रूपको है जानना । क्षेत्रज्ञका ही ॥ ८० ॥

यह है दोनोंका संयोग । जान तू इसको चांग ।
यह है सत्ता निसर्ग- । स्वभाव जान ॥ ८१ ॥

आप ही अज्ञानत्वसे । वस्तु दीखती है वैसे ।
किंतु अनेक रूपसे । जानते नहीं ॥ ८२ ॥

जैसा कोई भ्रमता एक । हुवा अब मैं राजा देख ।
या कहे पाया-स्वर्ग-लोक । कोई भ्रमिष्ठ ॥ ८३ ॥

जब दृष्टि है हट जाती । तब जो जो कुछ देखती ।
तभी हुई है कहलाती । सृष्टि-प्रसूती मुझसे ॥ ८४ ॥

मनुष्य जैसे स्वप्न मोहमें । अपनेको देख नग्न-रूपमें ।
वैसे आत्म-स्फुरण अभावमें । दीखता सर्व ॥ ८५ ॥

यही मैं दूसरा प्रकार । कहता सुन धनुर्धर ।
स्वप्न-सा मिथ्या मानकर । दृढ अनुभवसे ॥ ८६ ॥

मेरी यह गृहिणी । अनादि है तरुणी ।
अनिर्वचन गुणी । है अविद्या ॥ ८७ ॥

न होना इसका रूप । व्याप्ति है इसकी अमाप ।
निद्रस्तके यह समीप । जगते ही दूर ॥ ८८ ॥

मैं सोता तब यह जगती । ब्रह्मांड उदरमें रखती ।
सत्ता-संभोगसे है बनती । गर्भवती यह ॥ ८९ ॥

प्रकृतिके आठ विकारोंकी सहायतासे अनेक ब्रह्मांड उत्पन्न होते हैं—

इसी महद्ब्रह्मका उदर । प्रकृतिके आठ ही विकार ।
गर्भ अभिवृध्दि धनुर्धर । करता जगद्रूप ॥ ९० ॥

उभय संगसे प्रथम । बुध्दि तत्वका हुवा जन्म ।
रजस वह भरा सम । बनता मन ॥ ९१ ॥

ममता तरुणी तब मनकी । रचना करती अहंकारकी ।
उसने की पंच-महाभूतोंकी । अभिव्यक्ति ॥ ९२ ॥

विषयेंद्रिय जो स्वभावता । रहती भूतोंके अंतर्गत ।
जिससे वे भी भूतोंके साथ । लेते आकार ॥ ९३ ॥

बने हुए विचार-क्षोभसे । पीछे त्रिगुण खडे होनेसे ।
तब जीव वासना गर्भसे । जाता स्थान स्थानपे ॥ ९४ ॥

जैसे बीजका एक कण । पानीसे कर संघटण ।
वृक्षका रूप सुलक्षण । लेता अपनेमें ॥ ९५ ॥

वैसे मेरे ही संग । अविद्या नाना जग ।
नित ले आता उग । अंकुर रूप ॥ ९६ ॥

अजी ! फिर वह गर्भ-गोल । जैसे रूप ले आता सकल ।
वह तू सुन अब निर्मल । चित्त देकर ॥ ९७ ॥

मणिज स्वेदज । उद्बिज जारज ।
उगते सहज । अवयव ॥ ९८ ॥

व्योम वायु-वश । बढा गर्भ-रस ।
मणिज ले खास । अवयव ॥ ९९ ॥

पेटमें सोते तम-रज । उसमें आया आप-तेज
उससे सहज स्वेदज । उत्पन्न होते ॥ १०० ॥

आप पृथ्वी उत्कट । तम-मात्र निकृष्ट ।
स्थिर होता प्रकट । उद्बीज रूप ॥ १ ॥

पांच ही जब एकत्र होते । मन-बुध्दि साथ पाते ।
जारजका हेतु बनते । तब ये पार्थ ॥ २ ॥

ब्रह्मांडका पूर्ण रूप—

ऐसे ये चार सरल । कर चरण तल ।
महा-प्रकृति मूल । बनता शिर ॥ ३ ॥

प्रवृत्ति उसका पेट । निवृत्ति सरल पीट ।
सुर-योनि अंग आठ । उर्ध्व भागके ॥ ४ ॥

कंठ उल्हसित स्वर्ग । मृत्यु-लोक मध्य-अंग ।
पाताल है अधो-भाग । त्रिलोकका ॥ ५ ॥

ऐसा बालक एक । जन्म दिया है देख ।
जिसके तीनों लोक । है विकास ॥ ६ ॥

चौरासी लक्ष जो योनी । इसके जोडोंके मणी ।
बढता है क्षण-क्षण । यह बालक ॥ ७ ॥

शरीरके सभी अंग पर । डालती नामके अलंकार ।
बढाती मोह-स्तन्य देकर । नित्य-नवीन ॥ ८ ॥

नाना सृष्टि इस बालककी । उंगलियां कर-चरणकी ।
भिन्नाभिमान उंगुलियोंकी । मुंदरियां अनेक ॥ ९ ॥

इकलौता यह चराचर । अविचारित अति सुंदर ।
बालकको जो जन्म-देकर । बनी महान ॥ ११० ॥

ब्रह्मा इसका प्रातःकाल । विष्णु रहा मध्यान्ह काल ।
सदाशिव है सायंकाल । इस बालकका ॥ ११ ॥

महा-प्रलय शैय्यापर सोता । जब यह खेल करके आता ।
कल्पोदयमें यह है उठता । विषम-ज्ञानसे ॥ १२ ॥

इस प्रकार अर्जुन । मिथ्या दृष्टिका सदन ।
युगानुवृत्ति चरण । रखता स-कौतुक ॥ १३ ॥

संकल्प है इसका इष्ट । अहंकार साथी विनट ।
इसका अंत है निकट । आता ज्ञानसे ॥ १४ ॥

रहने दो बखान बहुत । यह विश्व है मायासे जात ।
मेरी सत्ता है आधारभूत । इस कार्यमें ॥ १५ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

इस दृष्यमान विश्वमें भी मैं ओतप्रोत भरा हूं—

इसीलिये मैं पिता । महद्ब्रह्म है माता ।
आपत्य पांडुसुता । जगडंबर ॥ १६ ॥

शरीर है सो अब बहुत । देखके चित्तमें न हो द्वैत ।
मन बुध्दि आदि जो हैं भूत । एक ही यहां ॥ १७ ॥

जैसे शरीरमें एक । अवयव होते अनेक ।
कैसे विचित्र विश्व देख । एक ही यहां ॥ १८ ॥

ऊंची नीची विविध प्रकार । होती डालियां विविध आकार ।
होता है उसका जों आधार । बीज एक ॥ १९ ॥

संबंध है वह भी कैसा । घट माटीका पुत्र जैसा ।
या कपासका पुत्र जैसा । वस्त्रत्व होता है ॥ १२० ॥

अनेक लहरोंकी परंपरा । सिंधु-संतति जिस प्रकार ।
सब चराचरका औ' हमारा । संबंध भी ऐसा ॥ २१ ॥

किसी भी योनिमें मूर्ति जन्मती है कहीं कभी ।
उन्हे प्रकृति है माता पिता मैं बीज रोपता ॥ ४ ॥

तभी है अग्नि और ज्वाल । दोनों ही हैं अग्नि केवल ।
उसी भांति मेरा है सकल । संबंध वैसा ॥ २२ ॥

निर्मित जगसे यदि मैं छिपता । तब जगत्वसे है कौन दीखता ।
मानव-तेजसे क्या छिपता । कभी माणिक्य ॥ २३ ॥

जब अलंकारका रूप लिया । तब क्या उसका स्वर्णत्व गया ।
या मानो कमल खिल गया । मिटा क्या कमलत्व ॥ २४ ॥

अभी कह यह तू पार्थ । अवयवसे आच्छादित ।
या उसीसे है प्रकटित । अवयवी यहां ॥ २५ ॥

अदिमें बोया गया एक दाना । बढ़कर होता है बहुगुना ।
या व्यर्थ गया है वह अर्जुन । उसी प्रकार ॥ २६ ॥

तभी विश्वके उस पार । देखना पट कर दूर ।
तब सर्वत्र धनुर्धर । केवल मैं हूं ॥ २७ ॥

तू यह साक्षात्कार । सदा हृदयमें भर ।
दृढ़तासे तू आदर । जीवनमें इसे ॥ २८ ॥

जब मैं मुझमें प्रकाशता । देहमें भिन्न दीखता ।
तब मैं गुणोंसे बंधा जाता । दीखता ऐसे ॥ २९ ॥

स्वप्नमें आप ही कल्पनासे । आत्म-मरण जगाते वैसे ।
तथा आप ही भोगते जैसे । पांडुकुमार ॥ १३० ॥

कामलमें जैसे नयन । करके पीला प्रकाशन ।
देते हैं कामलका ज्ञान । उनको ही ॥ ३१ ॥

अथवा सूर्यका प्रकाश । कराता बादलका भास ।
लोपसे देता है प्रकाश । सूर्य ही तब ॥ ३२ ॥

आनेसे ही जन्म जिसका । छाया होती कारण भयका ।
किंतु अपनेसे है छायाका । सदा अभिन्नत्व ॥ ३३ ॥

वैसे करके प्रकाशन । अनेक देहमें समान ।
दिखाता गुणका बंधन । वह मैं ही ॥ ३४ ॥

बंध क्यों नहीं बांधता । मुझे मैं सही जानता ।
अज्ञान कारण होता । बंधका वहां ॥ ३५ ॥

मुझको ये बंधन ऐसे । किन गुणसे दीखे वैसे ।
कहता हूं शांत चित्तसे । सुन तू इसको ॥ ३६ ॥

सत्व रज तम इन तीन गुणोंके कारण पुनर्जन्म होता है—

कितने गुण है या धर्म । उसका क्या रूप औ' नाम ।
कहां हुए इसका मर्म । कहता हूं सुन ॥ ३७ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सुन सत्व रज तम । यहां तीनोंके ये नाम ।
तथा प्रकृतिसे जन्म । पाते हैं ये ॥ ३८ ॥

यहां है सत्व उत्तम । तथा रज है मध्यम ।
तीनोंमें है यह तम । कनिष्ट सहज ॥ ३९ ॥

जैसे एक ही शरीरमें तीन । अवस्थायें होती हैं भासमान ।
एक अंतःकरणमें त्रिगुण । होते हैं भास ॥ १४० ॥

जैसे जैसे कस-हीन । होता सोनेमें मिलन ।
बढ़ स्वर्णका वजन । होता अवमूल्य ॥ ४१ ॥

सावधानता जैसे जैसे । दूर होती है आलससे ।
जकडती है निद्रा वैसे । दृढ मूल हो ॥ ४२ ॥

अज्ञान अंगीकार कर । उठती है वृत्ति ऊपर ।
वह है सत्व रज द्वारा । तममें भी जाती ॥ ४३ ॥

यह तू जान अर्जुन । इनका नाम है गुण ।
अब करना दर्शन । बद्धताका ॥ ४४ ॥

प्रकृतिसे बने हैं ये गुण सत्व रजस्तम ।
वे निर्विकार आत्माको जोतते मान देहमें ॥ ५ ॥

जब क्षेत्रज्ञ-दशा । आत्मा छू लेता जैसा ।
यह देह मैं ऐसा । कहने लगता ॥ ४५ ॥

जन्मसे मरण पर्यंत । देहके धर्ममें समस्त ।
यह जो ममत्वका है सूत । पिरोता है ॥ ४६ ॥

मीनके मुखमें जैसे । अमिष पहुंचनेसे ।
झटका देता कांटेसे । जल पारधी ॥ ४७ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

गुणोंके लक्षण, सत्व गुण—

तभी है जो लुब्धक । सुख-ज्ञानका पाश फेंक ।
खींचता है मृग-शावक । सुख-ज्ञानमें ॥ ४८ ॥

ज्ञानसे फिर तडपता । विद्वताके पैर झाडता ।
आत्म-सुखको है गंवाता । अपने ही हाथसे ॥ ४९ ॥

विद्या-मानसे तब तोषता । किसी लाभ-मात्रसे हर्षाता ।
स्व-संतोषमें धन्य मानता । अपने आप ॥ १५० ॥

कहता भाग्य है मेरा । नहीं है ऐसा दूसरा ।
विकाराष्टकसे भरा । फूलता वह ॥ ५१ ॥

मानो इतना नहीं पूरा । बंधन लगे दूसरा ।
विद्वत्ताका भूत संचार । चढता सिरपे ॥ ५२ ॥

मैं हूं स्वयं ज्ञान-स्वरूप । खोनेका दुःख ना अमाप ।
विषय-ज्ञान-लीन आप । चढा गगन ॥ ५३ ॥

जैसे राजा स्वप्नमें । रंक बन भिक्षामें ।
दाना पाके सुखमें । मानता इंद्र ॥ ५४ ॥

इनमें शुचि जो सत्व ज्ञान आरोग्य दायक ।
सुखी मैं और मैं ज्ञानी इससे बांधता नित ॥ ६ ॥

वैसे वह देहातीत । बनकर देहवंत ।
बहलता पांडुसुत । बाह्य-ज्ञानसे ॥ ५५ ॥

प्रवृत्ति-शास्त्र सूझता । यज्ञ-ज्ञान बूझता ।
स्वर्ग भी है दीखता । और क्या रहा ॥ ५६ ॥

मैं हूं महा-ज्ञानवान । मुझसे नहीं विद्वान ।
मेरा चित्त है गगन । या सूर्य-चंद्रका ॥ ५७ ॥

ऐसे ही सत्व-सुख-ज्ञानका । जीवमें लगे बागडोरका ।
बलसे देता जाता झटका । जुते हुये बैलकासा ॥ ५८ ॥

ऐसे ही यह रजो गुणसे । शरीरमें बंधा जाता कैसे ।
कहता हूं मैं तू सुन इसे । पांडुकुमार ॥ ५९ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजोगुणके लक्षण—

तभी यह रज कहलाता । जीवनका रंजन जानता ।
यौवन नित बना रहता । अभिलाषाका ॥ १६० ॥

रजका जब स्पर्श होता । जीव काम-मदमें आता ।
हवा पर सवार होता । चिंतनके यह ॥ ६१ ॥

अग्नि-कुंडमें घृत सिंचन किया । विद्युताग्निने उसका साथ दिया
कहो अधिक कम क्या रह गया । कहेंगे तब ॥ ६२ ॥

इच्छा दाह तब भडकता । क्लेश-सह मधुर लगता ।
इंद्रैश्वर्य भी ओछा लगता । ऐसे समय ॥ ६३ ॥

इच्छा दाह अब बढता । मेरु भी हाथमें लगता ।
फिर भी वह है चाहता । और भी बडा ॥ ६४ ॥

रज है वासना-रूप तृष्णा आसक्ति-वर्धक ।
आत्माको कर्मके साथ बांधता बल-पूर्वक ॥ ७ ॥

खर्च किया आज ऐसा । कलका चलेगा कैसा ।
इससे बहु बडा-सा । करेगा उद्यम ॥ ६५ ॥

कवडी पर जीवन । दे करके बलिदान ।
कमाकर एक तृण । मानता धन्य ॥ ६६ ॥

कहता स्वर्गपे जाना । सोचता कहां क्या खाना ।
यज्ञानुष्ठान करना । इसीलिये ॥ ६७ ॥

सदा व्रत पर व्रत । करता इष्ट प्राप्त्यर्थ ।
कभी कामना रहित । न करता कुछ ॥ ६८ ॥

जैसा है ग्रीष्मका पवन । न ही जानता शांति-क्षण ।
रहता वह निशिदिन । ऊधमग्रस्त ॥ ६९ ॥

होता है चंचल मीन । या कामिनी कटाक्ष समान ।
या बिजलीकी गति मान । रहता प्रवृत्तिमें ॥ १७० ॥

चाहता इसी वेगसे । संसार स्वर्ग भी वैसे ।
क्रियाकी आगमें वैसे । घुसता वह ॥ ७१ ॥

देहमें या देहसे भिन्न । तृष्णा श्रृंखलाके बंधन ।
सदा उपद्व्याप विभिन्न । गलेमें व्यापारके ॥ ७२ ॥

रजो गुणका यह दारुण । देहमें देहीके है बंधन ।
सुन तू अब कथा अर्जुन । तमो गुणकी ॥ ७३ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तमोगुणके लक्षण—

व्यवहारके जो नयन । बंद होते जिससे जान ।
मोह-रात्रीके हैं जो घन । काले अतिशय ॥ ७४ ॥

मोहता तम देहीको अज्ञानको बढाकर ।
निद्रा प्रमाद आलस्य इससे घेर बांधता ॥ ८ ॥

उसकी प्रीति अज्ञानसे । केवल इसी कारणसे ।
भ्रमग्रस्त होकर जैसे । नाचता जीव ॥ ७५ ॥

अविवेक महा-मंत्र । मूढता मद्य-पात्र ।
इसका है मोहनास्त्र । जीवोंके लिये ॥ ७६ ॥

अर्जुन यह है तम । इसका है यह मर्म ।
बांधता देह ही आत्म । इस अज्ञानसे ॥ ७७ ॥

ऐसा ही है सब शरीर । मानता सब चराचर ।
तम बिन अन्य विचार । नहीं है जान ॥ ७८ ॥

सब इंद्रियोंमें जाड्य । मनमें भरा है मौढ्य ।
दोनोंमें हुवा है धाढ्‌र्य । आलस्यका ॥ ७९ ॥

अंगांग मोडता रहता । किसी काममें नहीं आता ।
उबासियां लेता रहता । प्रति क्षण ॥ १८० ॥

खुले रख भी नयन । नहीं देखता अर्जुन ।
कोई बात भी न सुन । जी! कह उठता ॥ ८१ ॥

पत्थरसा पडा ही रहता । हिलनेकी बात न करता ।
सदा कुंडली मार बैठता । उठता नहीं ॥ ८२ ॥

धरणी धंसती है पाताल । गगन गिरता धरातल ।
किंतु उठना भी है केवल । उसको नहीं भाता ॥ ८३ ॥

यह उचित या अनुचित । प्रश्न नहीं करता है चित्त ।
पडा रहना मात्र सतत । जानती बुद्धि ॥ ८४ ॥

उठाके अपने करतल । उससे पकडकर गाल ।
घुटनोंमें सिकुड सकल । बैठा रहता ॥ ८५ ॥

सोनेमें करता है मन । नींदको स्वर्ग सुख मान ।
अन्य सब तुच्छ अर्जुन । कहता आप ॥ ८६ ॥

करके ब्रह्मायु प्राप्त । सोया रहता सतत ।
दूसरी कुछ भी बात । नहीं मनमें ॥ ८७ ॥

राह चलते भी यदि गिरता । वहींपे खुर्राटे भरता ।
अमृत मिला तो भी नहीं पीता । जब आती नींद ॥ ८८ ॥

वैसे भी कभी आक्रोशावेशमें । निकले कभी किसी व्यापारमें ।
निकलता जैसे अंधा क्रोधमें । उसी भांति ॥ ८९ ॥

कब कैसे बरतना । किससे कैसे बोलना ।
साध्य असाध्यका ज्ञान । न होता उसे ॥ १९० ॥

संपूर्ण अग्नि-तेज जैसे । पोंछने अपने पंखसे ।
उड़ता है पतंग वैसे । पांडुकुमार ॥ ९१ ॥

ऐसे ही काम उसे रुचता । जो न करना वही है भाता ।
ऐसे वह करता रहता । प्रमाद-साहस ॥ ९२ ॥

एवं निद्रा-आलस्य-प्रमाद । तमके रूप हैं त्रिविध ।
निरुपाधिकके होते बंध । धनंजय ॥ ९३ ॥

आगसे जब घिरता काठ । तब दीखता आगसा काठ ।
या आकाशको घिरता घट । कहलाता घटाकाश ॥ ९४ ॥

पानीसे जब ताल भरता । चन्द्र-बिंब उसमें भासता ।
वैसे गुणमें भी भास होता । आत्म-तत्वका ॥ ९५ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सुखमें जोड़ता सत्व कर्ममें जोड़ता रज ।
ढकके ज्ञान संपूर्ण भ्रममें डालता तम ॥ ९ ॥
जीतके अन्य दोनोंको तीसरा करता बल ।
ऐसा कभी बढ़े सत्व कभी रज कभी तम ॥ १० ॥

तीनों गुण समय समय पर बदलते रहते हैं—

पीछे कर कफ वात । आगे आता जब पित्थ ।
होता है तब संतप्त । जिस भांति ॥ ९६ ॥

आतप वर्षाको जीतकर । प्रकट होता शीत-लहर ।
आकाश तब जिस प्रकर । होता है शीत ॥ ९७ ॥

अथवा नाना स्वप्न-जागृति । मिटके आती सुषुप्ति ।
क्षण भर चित्त-वृत्ति । होती जैसे ॥ ९८ ॥

वैसे रज-तमको पराजित । करके सत्व होता प्रकाशित ।
जीव कहता है हो प्रमुदित । सुखी हूं मैं ॥ ९९ ॥

वैसे ही जब सत्व और रज । मिटाकर होता तमका राज ।
प्रवृत्ति होती है तब सहज । प्रमादकी ॥ २०० ॥

उसी भांति पांडुकुमार । सत्व-तमको हटाकर ।
उठाता है अपना शिर । रजोगुण ॥ १ ॥

कर्मके बिन अन्य कहीं । सुंदर कुछ भी है नहीं ।
इस भांति मानता देही । शरीरस्थ ॥ २ ॥

त्रिगुण वृद्धिका निरूपण । किया हैं श्लोकोंमें यहां तीन ।
सत्वादि गुण-वृद्धि लक्षण । सुनो अब ॥ ३ ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

प्रज्ञाका इंद्रियों-द्वारा प्रकाश सब ओर जो ।
देहमें फैलता सारा जानना सत्व है बढा ॥ ११ ॥

प्रवृत्ति लालसा लोभ कर्मारंभ अशांतता ।
फैलाव देहमें होता जानना तम है बढा ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

सत्वस्थके स्वभाव-धर्म—

रज-तम पर पा विजय । सत्व करता देहपे राज्य ।
तब जो लक्षण धनंजय । दीखते वह सुन ॥ ४ ॥

प्रतिभा मानो शरीरके अंदर । न समानेसे छलकती बाहर ।
सुगंध जैसे महकती बाहर । वसंतमें कमलसे ॥ ५ ॥

जैसे सभी इन्द्रियोंके अंगनमें । खडा होता विवेक दास रूपमें ।
उगती हैं आंखें कर-चरणमें । उसके पार्थ ॥ ६ ॥

राजहंसके सम्मुख । रखनेसे क्षीरोदक ।
उसकी चोंचकी नोक । करता न्याय ॥ ७ ॥

वैसे दोषादोष विवेक । करती हैं इन्द्रियां देख ।
बनके रहता सेवक । निग्रह वहां ॥ ८ ॥

सुनते नहीं अश्रव्य कान । न देखते कु-दृश्य नयन ।
न बोलती अवाच्य वचन । वाणी जैसे ॥ ९ ॥

प्रमाद मोह अंधार आलस्य सब ओरसे ।
फैलाव देहमें होता जानना तम है बढ़ा ॥ १३ ॥

तजता देहको देही बढता सत्व है जब ।
जन्मता शुभ लोगोंमें सज्जनोंके समाजमें ॥ १४ ॥

रजमें लीन होता जो जन्मता कर्म-लिप्तमें ।
डूबता तममें सारा जन्मता मूढ-योनिमें ॥ १५ ॥

दीपकके सम्मुख अंधार । भागते जाता जैसे सत्वर ।
नहीं आते निषिद्ध आचार । इन्द्रियोंके सम्मुख ॥ २१० ॥

अजी ! वर्षा-ऋतुमें जैसे । नदियां उमडती वैसे ।
फैल जाती है बुद्धि वैसे । सब शास्त्रोंमें ॥ ११ ॥

जैसे पूर्णमासीका दिवस । चांदनीसे भरता आकाश ।
शास्त्रमें फैलती तत्सदृश । वृत्ति सदैव ॥ १२ ॥

एकत्र होती वासना । प्रवृत्तिका संयमन ।
विषयों परसे मन । हठ जाता है ॥ १३ ॥

जब सत्व बढता । यह चिन्ह दीखता ।
यदि निधन होता । ऐसे समय ॥ १४ ॥

जैसे है घरकी संपत्ति । वैसे औदार्य धैर्य-वृत्ति ।
तब इह परमें कीर्ति । क्यों न फैलेगी ॥ १५ ॥

अथवा आया है अति सुकाल । चला संतर्पण अति-मंगल ।
अतिथि आप्त आया उसी पल । कहना क्या तब ॥ १६ ॥

इससे क्या है तब सुंदर । वैसे सत्वमें जाना शरीर ।
सत्व-स्वभावको छोड और । जायेगा कहां ॥ १७ ॥

सत्व-गुणमें जो उद्‌भट । तज सत्व-गुण श्रेष्ठ ।
चलता है छोडके कोपट । भोग-क्षम जो ॥ १८ ॥

अकस्मात जो ऐसा मरता । सत्वका ही नया बनता ।
या ज्ञानियोंमें जन्म लेता । यह निश्चय ॥ १९ ॥

कह तू यह धनुर्धर । राजा राजत्वमें डोंगर ।
चढता है तब अपूरा । होता है क्या ॥ २२० ॥

अथवा यहांका जो दिया । पडोसके गांवमें गया ।
वहां पर क्या धनंजय । न रहता दीप ॥ २१ ॥

वैसी यह सत्व-शुध्दि । होती ज्ञान सह वृध्दि ।
तैरने लगती बुध्दि । विवेक पर ॥ २२ ॥

महद्रादिककी परंपरा । विचार कर तदनंतर ।
विलीन हो जाते स-विचार । उसके उदरमें ॥ २३ ॥

छत्तीसमें सैंतीसवां । चोबीसमें पच्चीसवां ।
तीनों पर स्वभाव । चौदह जिसका ॥ २४ ॥

ऐसा सर्व जो सर्वोत्तम । होता है जिसको सुगम ।
ऐसे कुलमें निरुपम । मिलता है देह ॥ २५ ॥

रजोगुणीका स्वभाव-धर्म—

इसी भांति है तू देख । सत्व तम अधोमुख ।
तथा होता ऊर्ध्व-मुख । जब रजोगुण ॥ २६ ॥

तब वह अपने कार्यका पार्थ । शरीर-ग्राममें है धूम मचाता ।
देहमें तब लक्षणोंका करता । उदय ऐसा ॥ २७ ॥

अजी ! फैला हुवा बवंडर । करता है वस्तुओंका ढेर ।
वैसे होता विषयोंका ठौर । वह देह ॥ २८ ॥

प्रसंग जैसे पर-दारादिकका । न सोचता शास्त्र-विरुद्ध होनेका ।
इंद्रियोंको देता चारा विषयोंका । भेडोंके समान ॥ २९ ॥

यहां तक होता इनका लोभ । स्वैर वृत्तिका रहता सदा रोब ।
लूटनेमें अशक्य जो अलाभ । इन लोगोंका ॥ २३० ॥

आता जब उद्यमका प्रसंग । नहीं लेता है कभी पीछे पग ।
बढाती है प्रवृत्ति पग-पग । अपनी सदैव ॥ ३१ ॥

या खडा करना कोई प्रासाद । या करना है यज्ञ-अश्वमेध ।
ऐसे होते मनमें बडे छंद । उसके सदैव ॥ ३२ ॥

नगरोंको रचाना । जलाशय बांधना ।
महावन लगाना । नानाविध ॥ ३३ ॥

ऐसे ऐसे महान कर्म । समारोहोंका उपक्रम ।
इस परके सभी काम— । भोग करना मेरे ॥ ३४ ॥

महा-सागर भी खायेगा मात । अग्नि भी होगा पूरा पराजित ।
बढती है इतनी असीमित । अभिलाषा उसकी ॥ ३५ ॥

आशा जो बढती जाती । मनके आगे दौडती ।
विश्वको भी जो गिनती । पद-तलमें ॥ ३६ ॥

बढता है रज जब । दीखते ये चिन्ह सब ।
शरीर पडता तब । यदि इसका ॥ ३७ ॥

यह सब होते जहां । वह जन्मता है वहां ।
किंतु होती योनि वहां । मनुष्यकी ही ॥ ३८ ॥

यदि कोई एक भिक्षुक । राज-गृहमें बैठा देख ।
उससे वह राजा एक । बनेगा क्या ॥ ३९ ॥

बैलको जोतकर गाडीमें । ले गये धनीके बारातमें ।
इससे चूकेगा क्या गोठेमें । खाना घास ॥ २४० ॥

इसीलिये व्यापारमें दिन रात । जुते रहते जो अविश्रांत ।
ऐसे कुलमें उसे निश्चित । मिलता जन्म ॥ ४१ ॥

जन्मता है कर्म-जडोंमें । अथवा ऐसे ही देहमें ।
जहां रजोत्कर्ष-गर्तमें । डूबता वह ॥ ४२ ॥

तमो-गुणीका स्वभाव-धर्म—

और अर्जुन उसी भांति । जहां रज-सत्वकी वृत्ति ।
निगलकर हो उन्नति । तमोगुणकी ॥ ४३ ॥

कहते हम लक्षण । अंतर्बाह्य तन-मन ।
कहता सुन अर्जुन । ध्यान देकर ॥ ४४ ॥

उसका होता ऐसा मन । जैसे सूर्य-चन्द्र विहीन ।
होता है रातका गगन । अमावसका ॥ ४५ ॥

ऐसा उसका अंतःकरण । सदैव स्फूर्ति-हीन विरान ।
विचारका स्पर्श भी अर्जुन । नहीं होता ॥ ४६ ॥

पत्थरको हराती जड़ता । मृदुता वह नहीं जानता ।
स्मरण-शक्तिका अता-पता । नहीं होता उसको ।। ४७ ।।

अविवेक उसका साज । अंतर्बाह्य मौढ्यका बाज ।
लेन-देन होता सहज । मूर्खताका ।। ४८ ।।

आचार-हीनता अमंगल । दबोचती उसको प्रबल ।
मृत्यु-तक उसका चंगुल । कसता जाता ।। ४९ ।।

कहता हूं और एक लक्षण । दुष्टतामें चित्त विलक्षण ।
जैसे काली रातमें सुलक्षण । देखता उल्लू ।। २५० ।।

निषिद्ध-कर्मके नामसे । खिल जाता तन-मनसे ।
दौड़ती अनिर्बंध जैसे । इंद्रियां सारी ।। ५१ ।।

बिन मदिराके वह झूमता । बिन सन्निपातके बकता ।
बिन प्रेमके वह भूलता । पागल जैसे ।। ५२ ।।

रहता नहीं उसका चित्त । किंतु उन्नति नहीं निश्चित ।
भ्रम-वश हुवा है उन्मत्त । तमो-गुणी वह ।। ५३ ।।

या इन गुणोंकी होती । जहां संपूर्ण प्रतीति ।
जानो तमकी उन्नति । हुई सांग ।। ५४ ।।

और ऐसे ही प्रसंग । तजता है यदि अंग ।
लेके यही गुण संग । जन्मता वह ।। ५५ ।।

राईपन अपने बीजमें । छोड़ जाती है राई अंतमें ।
अंकुरेगा राईके रूपमें । राईपन जैसे ।। ५६ ।।

तज कर अग्नि जब दीप । बुझता यदि अपने आप ।
जैसे जहां लगा वह दीप । आग ही आग ।। ५७ ।।

ऐसे तमो गुणके साथ । संकल्प बांधकर पार्थ ।
बुझती है जीवन जोत । जन्मती तम-रूप ।। ५८ ।।

इससे अधिक क्या कहना । तम-वृद्धिमें देह तजना ।
पशु-पक्षी कृमि हो जन्मना । या उगना हो पेड़ ।। ५९ ।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

तीनों गुणोंका परिणाम—

श्रुतिका यह निरूपण । बन जाता है सत्व-गुण ।
सुकृत-कर्मका कारण । धनुर्धर ॥ २६० ॥

इसीलिये है निर्मल । सुकृतका जो सरल ।
देता सुख ज्ञान फल । सात्विक ॥ ६१ ॥

फिर है जो रजकी प्रक्रिया । इंद्रवणिका फल पकाया ।
सुख चितार अंतमें दिया । दुःख अपार ॥ ६२ ॥

अथवा जैसे निंबोणीका फल । बाहर मृदु अंदर गरल ।
वैसे होते राजस-क्रिया-फल । यहां अर्जुन ॥ ६३ ॥

जैसे है विषका अंकुर । देता विष फल आखर ।
वैसे है रूप भयंकर । फलता तम ॥ ६४ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

इसीलिये हे अर्जुन । सत्वका हेतु है ज्ञान ।
जैसे मानो दिनमान । होता सूर्यका ॥ ६५ ॥

तथा वैसे ही यह जान । लोभका है रज कारण ।
जैसे स्वरूप विस्तरण । जीव-दशाका ॥ ६६ ॥

मोह अज्ञान प्रमाद । यहां है ये दोष-वृन्द ।
आगे जो बढता प्रबुद्ध । तमका मूल ॥ ६७ ॥

फल सात्विक कर्मोंका पुण्य निर्मल है कहा ।
रजका फल है दुःख तमका ज्ञान-शून्यता ॥ १६ ॥
सत्वसे फैलता ज्ञान रजसे जान लालसा ।
प्रमाद मोह अज्ञान होते हैं तमके गुण ॥ १७ ॥

ऐसे विचारोंके नयन । तीनों गुण करके भिन्न ।
दिखाते हैं जान अर्जुन । करतलामलकसा ॥ ६८ ॥

रज-तम हैं ये दोनों गुण । होते हैं पतनके कारण ।
सत्व बिन अन्य नहीं जान । पहुंचाते ज्ञानके पास ॥ ६९ ॥

इसीलिये सात्विक-वृत्ति । स्वीकार व्रत जन्म-वृत्ति ।
सर्व त्याग करके भक्ति । करते जान ॥ २७० ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

गुण-बद्धोंके स्थान—

जिनमें होता सत्वका उत्कर्ष । जीते मरते उसीमें सहर्ष ।
तन त्याग वे पाते सत्पुरुष । स्वर्गका राज ॥ ७१ ॥

ऐसे ही रजमें जो रहते । उसीमें जीते तथा मरते ।
वे मनुष्य होके जन्मते । मृत्यु-लोकमें ॥ ७२ ॥

सुख दुःखकी खिचडी जिसमें । खानी पडती एक ही थालीमें ।
फंसते हैं जो मरण-चक्रमें । कभी नहीं छूटते ॥ ७३ ॥

तथा तनमें जो उसी भांति । जीते मरते हैं उसी स्थिति ।
पाते हैं नरक अधोगति । प्राप्ति-पत्र ॥ ७४ ॥

इस भांति जो वस्तु-सत्ता । त्रिगुणको कैसे प्रभावित ।
करती है कारण सहित । कहा मैंने ॥ ७५ ॥

वस्तु होती है वस्तुत्वमें । किंतु आप गुण-रूपमें ।
देख गुणके स्वभावमें । बरतती है ॥ ७६ ॥

राजा देखता जैसे स्वप्नमें । घिरा है राज-पर-चक्रमें ।
जीतता हारता अपनेमें । आप ही एक ॥ ७७ ॥

सत्वस्थ चढते ऊंच मध्यमें व्यक्ति राजस ।
अधःपतित होते हैं तामसी हीन वृत्तिके ॥ १८ ॥

वैसे मध्य ऊर्ध्व अध । ये जो गुण-वृत्ति भेद ।
दृष्टि तज दी तो शुद्ध । वस्तु आप ॥ ७८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुण-निस्तारका विवेचन—

रहने दे अब यह विषय । कहने दे पीछेका जो विषय ।
इसे विषयांतर धनंजय । नहीं मान तू ॥ ७९ ॥

मानो यह तीन जो गुण । अपने सामर्थ्यसे जान ।
होते जैसे देह अर्जुन । गुण ही आप ॥ २८० ॥

जैसे ईंधनका आधार । अग्नि होता है धनुर्धर ।
या उगता है तरुवर । भूमिका रस ॥ ८१ ॥

या दधि-घृतके रूपमें जैसे । होता है केवल दूध ही वैसे ।
या लेता है ईखका रस जैसे । गूडका रूप ॥ ८२ ॥

ऐसे हैं ये सांतःकरण । देह बनते तीन गुण ।
तभी होते बंध-कारण । धनंजय ॥ ८३ ॥

किंतु आश्चर्य धनुर्धर । यह बंधका जो गुब्बार ।
मुक्त दशामें संसार । कभी नहीं ॥ ८४ ॥

यदि गुण ये अपने धर्मानुसार । होते हैं शरीरके आगे पीछे स्वैर ।
आत्माके गुणातीतावस्थामें अंतर । नहीं आता ॥ ८५ ॥

ऐसी मुक्ति होती है सहज । तुझको कहता हूं मैं आज ।
स्वभावसे तू ज्ञान-पुंज । भ्रमर अर्जुन ॥ ८६ ॥

चैतन्य होता है गुणमें । न होता गुणके पाशमे ।
कहा यह त्रयोदशमें । मैंने तुझको ॥ ८७ ॥

गुणोंको तजके कर्ता आत्मा जो उस पार है ।
देखता जानता ऐसा होता मेरा स्वरूप सो ॥ १९ ॥

जिस समय अंत:करणमें । प्रतीत हो ज्ञान बोध-रूपमें ।
तब जैसे जागृत अवस्थामें । होता स्वप्न-भंग ॥ ८८ ॥

या जब तरंग उठते । उसे तटसे हैं देखते ।
बिंबके अंग-भंग होते । उसी प्रकार ॥ ८९ ॥

नट जैसे नहीं फंसता । अपने स्वांगको जानता ।
वैसे ही गुणोंको देखता । साक्षी-रूप ॥ २९० ॥

अथवा ऋतु-त्रयमें आकाश । ऋतुओंको देकर अवकाश ।
अलिप्तता रखता अविनाश । अपनी जैसे ॥ ९१ ॥

वैसे गुणमें गुणसे पर । अपने मूल-रूपमें स्थिर ।
होता अहंतापे अहंकार । उस समय ॥ ९२ ॥

वहांसे जब वह देखता । कहता मैं हूं साक्षी अकर्ता ।
क्रियाओंका नियोजन कर्ता । केवल हैं गुण ॥ ९३ ॥

तीन गुणोंका है जो प्रकार । दीखता कर्मका हो विस्तार ।
वह है गुणोंका विकार । धनंजय ॥ ९४ ॥

इसमें रहता हूं मैं ऐसा । वनमें वसंत ऋतु जैसा ।
वन-लक्ष्मीका विलास जैसा । कारण-रूप ॥ ९५ ॥

अथवा तारागणका लोपना । सूर्यकांतका उद्दीपन होना ।
तथा कमलोंका खिलना । या जाना तनका ॥ ९६ ॥

यहां किसी भी काममें कहीं । सविता उलझता नहीं ।
वैसे अकर्ता होता है देही । सत्ता-रूप ॥ ९७ ॥

गुण-प्रकाश कर गुण-दर्शन । होता है मुझमें गुणत्वका पोषण ।
गुणत्रयका होकर जो निरसन । रहता वह मैं हूं ॥ ९८ ॥

ऐसे विवेकका जो उदय । होता है जिसका धनंजय ।
उसे मिलता पथ विजय । गुणातीतका ॥ ९९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुण-निस्तारसे मोक्ष प्राप्त होता है—

निर्गुण ऐसा और जो पार्थ । रहता है उसको निश्चित।
जानता वह उसमें नित । बसता ज्ञान ॥ ३०० ॥

अथवा मानो पांडुसुता । पाता है वह मेरी सत्ता।
जिस भांति पाती सरिता । सिंधुत्व जैसे ॥ १ ॥

नलिका परसे उड़कर । बसता है शुक डालपर।
वैसे वह मूल अहंकार । ओढता है सो ॥ २ ॥

अज्ञानकी नींद जो सोया था । जोरसे खुर्राटे भरता था।
पाकर वह स्वरूपावस्था। उठता अर्जुन ॥ ३ ॥

बुध्दि-भेदका जब दर्पण । हाथसे छूटके गिरा जान।
तब स्व-मुखाभास दर्शन । होगा कैसे ॥ ४ ॥

देहाभिमानका पवन जब रुकता । चित्तासिंधु पर तरंग नहीं उठता।
तरंग-सिंधुका तब जैसे ऐक्य होता । वैसे जीवेशका ॥ ५ ॥

वर्षांतमें गगनमें जैसे । लय होते हैं बादल वैसे।
पूर्ण होता वह मद्भावसे । पांडुकुमार ॥ ६ ॥

ऐसे वह मद्रूप कर प्राप्त । शरीरमें रहता है सतत।
नहीं होता है त्रिगुणमें लिप्त । देह-संभूत जो ॥ ७ ॥

अजी! कांचका घर जो होता । प्रकाशको रोक न सकता।
या वड्वानल न बुझता । सिंधु-जलसे ॥ ८ ॥

वैसे ही अवागमन जो गुणोंका । बोध नहीं मिटा सकता उसका।
जैसे चंद्र होता जलमें व्योमका । वैसे देहमें रहता वह ॥ ९ ॥

देह कारण ये तीन गुण जो तरता इन्हे ।
जन्म-मृत्यु जरा दुःख तरके मोक्ष जीतता ॥ २० ॥

शरीरमें करते हैं तीनों गुण । अपने सामर्थ्यका घोर नर्तन
न भेजता वह करने दर्शन । अपनी अहंताको ॥ ३१० ॥

हृदयमें ऐसा वह धनंजय । रहता है करके दृढ निश्चय ।
शरीरमें करते क्या गुण-त्रय । यह न जानता वह ॥ ११ ॥

तज कर अंगका खोल । सर्प घुस बैठा पाताल ।
त्वचाका करेगा संभाल । कौन बाहर ॥ १२ ॥

अथवा पक्व सौरभ जैसा । लय होता आकाशमें वैसा ।
न आता कभी कमल-कोश । लौटकर जो ॥ १३ ॥

हुवा स्व-रूप समरससे । उसकी जीव-दशा भी वैसे ।
रहा शरीर-धर्म भी कैसे । जानता नहीं ॥ १४ ॥

तभी जन्म जरा मरण । इत्यादि जो छ हैं लक्षण ।
रहे ये देहके कारण । इसकी वार्ता नहीं ॥ १५ ॥

घट ही जब टूट गया । खपरा भी है फेंका गया ।
महदाकाशमें हो लिया । घटाकाश ॥ १६ ॥

देहका भाव जब मिटता । निजका ही स्मरण रहता ।
तब कहो अन्य क्या रहता । उसके बिन ॥ १७ ॥

ऐसा जो श्रेष्ठ बोध-युक्त । देहमें रहता सतत ।
तभी मैं उसे गुणातीत । कहता अर्जुन ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णके सुन ये बोल । तुष्ट हुवा पार्थ निर्मल ।
गरजने पर बादल । मोर होता जैसे ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा
त्रिगुणातीतके देव कह लक्षण तू मुझे ।
आचार उसके कैसे कैसे निस्तारता गुण ॥ २१ ॥

अर्जुनकी जिज्ञासा, गुणातीत कैसे होता है?—

उसी तोषसे पूछता अर्जुन । दीखते उसके क्या लक्षण ।
जिसमें बसता है ऐसा ज्ञान । कह तू श्रीहरि ॥ ३२० ॥

उसका होता कैसा आचरण । करता कैसे गुण-निस्तरण ।
कृपाका तू नैहर श्री कृष्ण । यह कह कृपाकर ॥ २१ ॥

अर्जुनका सुन यह प्रश्न । षड्गुणैश्वर्य-युत श्रीकृष्ण ।
उत्तर देता है कृपा-पूर्ण । सुनिये अब ॥ २२ ॥

विचित्र है तेरी यह बात । पूछता तू प्रश्न विसंगत ।
यह सत्य कैसे असत् पार्थ । ऐसा यह प्रश्न ॥ २३ ॥

जिसका नाम गुणातीत । नहीं होता गुण-संयुत ।
होता भी यदि गुण-युत । मुक्त रहता वह ॥ २४ ॥

कृष्ण प्रश्नका वास्तविक रूप समझाता है —

किंतु गुणमें है उलझता । तब गुणाधीन वह होता ।
अथवा गुण-मुक्त रहता । जानना कैसे ॥ २५ ॥

ऐसा है यदि तेरा प्रश्न । पूछ तू सुखसे अर्जुन ।
करता हूं समाधान । तेरे संदेहका ॥ २६ ॥

भगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

गुणोंके कल्लोलमें वह निर्लिप्त रहता है—

जब रजोगुणका मद । देहमें लाता कर्म साध ।
प्रवृत्ति लेती है उसे बांध । कर्मांकुरसे ॥ २७ ॥

श्री भगवानने कहा

प्रकाश मोह उद्योग गुण-कार्य स्वभाविक ।
पानेसे न करे खेद न धरे चाह लोपसे ॥ २२ ॥

तब कर्म-जन्य अभिमान । नहीं आता उसमें अर्जुन ।
या कर्म रह जानेसे मन । खिन्न नहीं होता ॥ २८ ॥

या सत्व होता है जब अधिक । इंद्रियां होती हैं ज्ञान प्रकाशक ।
तब न होता सु-विधाका तोष । या अविधाका खेद ॥ २९ ॥

अथवा बढ़ता है जब तम । तब न ग्रासता मोह या भ्रम ।
या नहीं होता अज्ञानका श्रम । या न करे स्वीकार ॥ ३३० ॥

आता जब मोहका अवसर । नहीं चाहता ज्ञान धनुर्धर ।
या ज्ञानसे कर्म-स्वीकार कर । न होता दुःखी ॥ ३१ ॥

प्रातः माध्यान्ह सायंकाल । गणना करके त्रिकाल ।
न तपता सूर्य निर्मल । वैसे वह रहता ॥ ३२ ॥

उसको भिन्न क्या प्रकाश । ज्ञानसे मिलाता है शेष ।
नहीं सुखाती अनावर्षा । जैसे सागरको ॥ ३३ ॥

या करनेसे कर्म-प्रवर्तन । नहीं होगा कर्मका अभिमान ।
कहो कहींसे होगा क्या कंपन । हिमालयको ॥ ३४ ॥

होनेसे मोहका आगमन । भूल जायेगा क्या वह ज्ञान ।
घामसे जलेगा क्या अर्जुन । प्रलयाग्नि कभी ॥ ३५ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

गुणोंके जालमें निर्लिप्त और निष्कंप रहता है—

गुण और गुणका कार्य । आप है पूर्ण धनंजय ।
तभी है एकेकका कार्य । न डिगाता उसे ॥ ३६ ॥

करके ऐसी प्रतीति । देहमें मैंने की वसति ।
जैसे राहमें कोई पंथी । मान लेके ॥ ३७ ॥

रहे जैसे उदासीन गुणोंसे जो न कांपता ।
जानके उनका खेल न डिगे लेश-मात्र भी ॥ २३ ॥

न जिताता या न हराता । स्वयं जीतता या हारता ।
न गुण होता या कराता । जैसा रण-रंग ॥ ३८ ॥

अथवा शरीर-गत प्राण । घरमें आतिथ्यका ब्राह्मण ।
या चौराहेपे खड़ा जो स्थाणु । वैसा उदास ॥ ३९ ॥

तथा गुणोंका आवागमन । उसको नहीं कंपाता जान ।
मृग-जलोर्मियोंसे अर्जुन । नहीं कांपता मेरू ॥ ३४० ॥

इससे अधिक क्या बोलना । वायूसे गगनका हिलना ।
तमका सूर्यको निगलना । इसी भांति ॥ ४१ ॥

स्वप्न जैसा नहीं मोहता । जगता जो उसको पार्थ ।
वैसे उसे नहीं बांधता । गुणका जाल ॥ ४२ ॥

गुणमें वह नहीं फंसता । दूरसे वह है देखता ।
गुण-दोषकी नृत्य-कथा । साक्षी जैसा ॥ ४३ ॥

सात्विक करता सत्कर्म । रज करता रजो कर्म ।
भ्रम-आलस्यादिमें तम । करता कार्य ॥ ४४ ॥

सुन तू उसकी है सत्ता । होती गुण-क्रिया समस्त ।
जैसे सम्मुख हो सविता । लौकिकका ॥ ४५ ॥

समुद्र जैसे उमड आता । सोमकांत मणि पसीजता ।
अथवा है कुमुद खिलता । चंद्रिकासे ॥ ४६ ॥

या पवन बहता रुकता । गगन जैसे निश्चल रहता ।
वैसे गुणोंका हलचल होता । वह होता निश्चल ॥ ४७ ॥

ये हैं उसके लक्षण । गुणातीतके तू जान ।
कहता हूं आचरण । उसका मैं ॥ ४८ ॥

समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

शांत जो स्तुति निंदामें धीर जो सुख दुःखमें ।
प्रियाप्रिय जिसे तुल्य स्वर्ण पाषाण मृत्तिका ॥ २४ ॥

गुणातीतकी सम-वृत्ति—

कपडेके अंदर बाहर । होता है तंतू ही धनुर्धर ।
वैसे देखता है चराचर । विश्वमें मद्रूप ॥ ४९ ॥

रिपु भक्तमें जैसे समान । रहता है परमात्मा जान ।
वैसे ही सुख दुःख अर्जुन । एकसे उसको ॥ ३५० ॥

वैसे भी स्वाभाविक । भोगना सुख दुःख ।
देह-रूप उदक । पाता मीन ॥ ५१ ॥

अब उसने वह छोड़ दिया । अपना स्व-स्वरूप जान लिया ।
जैसे भूसेसे दाना चुन लिया । खेतीहरने ॥ ५२ ॥

अथवा ओघ छोडकर गांग । बन गया समुद्रका ही अंग ।
भूलकर अपना लगबग । कलकल ध्वनि ॥ ५३ ॥

हो गयी जब उसकी निश्चित । आत्म-रूपमें वसति सतत ।
देहमें तब उसको समस्त । एकसे सुख दुःख ॥ ५४ ॥

रात-दिवस समान । मानता स्तंब अर्जुन ।
आत्म रत होता तन । द्वंद्व वैसे ॥ ५५ ॥

जैसे नींदमें रत शरीर । अप्सरा अथवा अजगर ।
एक मानता है धनुर्धर । वैसे देहके द्वंद्व ॥ ५६ ॥

देखता उसका मन । सुवर्ण रत्न पाषाण ।
सदैव एक समान । बिना भेदके ॥ ५७ ॥

घरमें उतर आता स्वर्ग । अथवा ऊपर आता बाघ ।
न होता आत्म-बुध्दिका भंग । उसका कभी ॥ ५८ ॥

जैसे मृत न होता जागृत । या भूना बीज न अंकुरित ।
वैसी होती है बुध्दि आत्मस्थ । सदा अभंग ॥ ५९ ॥

ब्रह्म है तू ऐसा स्तवन । या निंदा करो नीच मान ।
जलने बुझनेका ज्ञान । नहीं जानती राख ॥ ३६० ॥

वैसे निंदा अथवा स्तवन । जानता नहीं वह अर्जुन ।
तम और प्रकाशका ज्ञान । न होता सूर्यको ॥ ६१ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

ईश्वर-बुध्दिसे किया पूजन । या चोर मानके किया ताडन ।
वृष-गजसे किया दलन । या दिया राज ॥ ६२ ॥

जैसे पास आये आप्त-मित्र । या घिर आये शत्रु-सर्वत्र ।
किंतु न जानता सूर्य रात्र । अथवा दिवस ॥ ६३ ॥

सभी ऋतुमें जैसे गगन । निर्लिप्त रहता है अर्जुन ।
ऐसा वैषम्य रहित मन । होता उसका ॥ ६४ ॥

वैसे ही उसका एक आचार । कहता हूं तुझे पांडुकुमार ।
नहीं होता कभी कोई व्यापार । वहां प्रारंभ ॥ ६५ ॥

सर्वारंभ वहां समाप्त । प्रवृत्तिका होता है अस्त ।
जले हैं कर्म—फल पार्थ । सभी वहां ॥ ६६ ॥

दृष्यादृष्य भोगकी पार्थ । नहीं होती चाह जागृत ।
प्रारब्धसे होता जो प्राप्त । पाता वह सहज ॥ ६७ ॥

सुख या दुखमें जैसे । पाषाण रहता वैसे ।
त्याग-स्वीकार मनसे । मिट गया है ॥ ६८ ॥

कितना करना विस्तार । जिसका है ऐसा आचार ।
उसे मान तू धनुर्धर । गुणातीत ॥ ६९ ॥

गुणोंका अतिक्रमण । करनेका क्या साधन ।
कहता वह श्रीकृष्ण । सुनिये अब ॥ ३७० ॥

मानापमानमें जैसे समान शत्रु-मित्रमें ।
गुणातीत वही मान आरंभ जिसने तजा ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

गुण-निस्तारका साधन—

ऐसे जो अव्यभिचार चित्त । भक्ति-योग-रत हो सतत ।
मेरा सेवन करता पार्थ । लांघता गुण ॥ ७१ ॥

अव्यभिचारी भक्तिका विवेचन—

तब कौन हूं मैं कैसी भक्ति । अव्यभिचारकी अभिव्यक्ति ।
होना उसकी पूर्ण निश्चिति । अत्यावश्यक ॥ ७२ ॥

तब तू सुन अर्जुन । यहां है मेरा क्या स्थान ।
रत्नमें तेज जो रत्न । वैसा हूं मैं ॥ ७३ ॥

या द्रवणवत है नीर । या अवकाश है अंबर ।
या मिठास ही है शक्कर । नहीं भिन्न ॥ ७४ ॥

या अग्नि ही है ज्वाल । दल ही है कमल ।
वृक्ष जो वही डाल । फलादिक ॥ ७५ ॥

हिम होता जो संघटित । कहलाता वह हिमवंत ।
या जामन लगा दूध पार्थ । कहलाता दही ॥ ७६ ॥

यहां विश्व है जो अर्जुन । स्वयं मैं हूं वह संपूर्ण ।
चंद्र-बिंबका तरासना । न होता वैसे ॥ ७७ ॥

अजी ! जमा हुवा घृत । जमकर भी रहता घृत ।
या कंकण रूपमें भी पार्थ । होता सोना ही ॥ ७८ ॥

न उधड कर भी वस्त्र । स्पष्ट ही रहता सूत्र ।
जैसे न तोडके भी पात्र । रहती मृत्तिका ॥ ७९ ॥

जो एक-निष्ठ भक्तीसे करता मम सेवन ।
लांघके गुणको सारे पाता ब्रह्मत्व है वह ॥ २६ ॥

इसलिये विश्वत्वका निवारण । कर फिर करना मेरा ग्रहण ।
ऐसा नहीं जान तू यह संपूर्ण । विश्व-सह मैं हूं ॥ ३८० ॥

इस प्रकार जो मुझको जानना । उसको अव्यभिचारी भक्ति कहना ।
विश्वमें औ' मुझमें भेद देखना । व्यभिचारी भक्ति ॥ ८१ ॥

इसलिये भेद तज पार्थ । तथा करके अभेद-चित्त ।
जानना है अपने सहित । मुझको सदैव ॥ ८२ ॥

सोनेपे जैसे सुवर्ण । जडा जाता है अर्जुन ।
वैसे अपनेसे भिन्न । न मानना मुझे ॥ ८३ ॥

तेजसे जो होता उत्पन्न । तेजोमय होता किरण ।
तेजसे होता है अभिन्न । ऐसा होना बोध ॥ ८४ ॥

भूतलमें जैसे परमाणु । हिमाचलमें है हिम-कण ।
वैसे मुझमें कर अर्पण । अपनेको तू ॥ ८५ ॥

तरंग होता छोटा अर्जुन । किंतु न होता सिंधुसे भिन्न ।
वैसे ईश्वरसे नहीं भिन्न । कुछ भी यहां ॥ ८६ ॥

इसी भांति समरस । दृष्टि रख स-उल्लास ।
भक्तिका वह निवास । कहते हम ॥ ८७ ॥

ज्ञान और योगका समन्वय, अद्वय—दृष्टि—

तथा ज्ञानकी भी अर्जुन । सही दृष्टि यह है जान ।
तथा योगका है संपूर्ण । सार भी यही ॥ ८८ ॥

सिंधुसे जैसे जल-धर । लेते हैं अखंड जो धार ।
वैसी वृत्ति पांडुकुमार । बनती तन्मय ॥ ८९ ॥

जैसे कूप मुखका आकाश । सांधा न जाता महाकाश ।
होता है वैसे परम-रस । ऐक्य-रूप ॥ ३९० ॥

प्रति-बिंब तक बिंबसे । प्रभा-ज्योति होती है जैसे ।
सोऽहम् वृत्ति होती है वैसे । धनंजय ॥ ९१ ॥

ऐसे ही फिर परस्पर । सोऽहम् वृत्तिका अवतार ।
वह भी मिटती फिर । अपने आप ॥ ९२ ॥

जैसे नूनका एक कण । समुद्रमें पिघला जान ।
गलना भी फिर अर्जुन । भूलता जैसे ॥ ९३ ॥

अथवा जलाकर तृण । बुझ जाता है अग्नि-कण ।
भेद-नाशका वैसे ज्ञान । मिटता आप ॥ ९४ ॥

रहता हूं मैं उस पार । भक्त रहता इस पार ।
यह दोनों ही मिटकर । रहता अनादि ऐक्य ॥ ९५ ॥

गुणोंको है वह लांघता । यह भी अब न रहता ।
न रहती एक वाक्यता । एकत्वकी भी ॥ ९६ ॥

इसीको ब्रह्मत्व कहते हैं जो मेरी एक-निष्ठ भक्तिसे मिलता है—

यह जो है ऐसी स्थिति । ब्रह्मत्व है कहलाती ।
मेरी अव्यभिचारी भक्ति । देती है यह ॥ ९७ ॥

तथा ऐसे लक्षण-युक्त । जगतमें मेरा जो भक्त ।
ब्रह्मत्व उससे संयुक्त । पतिव्रता जैसे ॥ ९८ ॥

पानी जो गंगामें बहता । सिंधुसे निश्चित मिलता ।
इसमें नहीं है अन्यथा । उसी भांति ॥ ९९ ॥

ज्ञान-दृष्टिसे जो अर्जुन । करता है मेरा सेवन ।
होता है वह जुडा रत्न । ब्रह्म-पदका ॥ ४०० ॥

ऐसे ब्रह्म-पदका पार्थ । सायुज्य ऐसी व्यवस्था ।
उसीका नाम है चौथा । पुरुषार्थ जो ॥ १ ॥

किंतु मेरा यह आराधन । होता है ब्रह्मत्वका सोपान ।
इससे मैं इसका साधन । मानेगा तू ॥ २ ॥

यदि एसा है तेरा मन । करता कल्पना अर्जुन ।
नहीं है अन्य मेरे बिन । कोई ब्रह्म ॥ ३ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

सबका मूल आधार मैं हूं—

ब्रह्म नामका आधार । मैं हूं यहां धनुर्धर ।
औ' अन्य शब्दका सार । वह भी मैं हूं ॥ ४ ॥

जैसा मंडल औ' चंद्रमा । अभेद होते हैं जान मर्म ।
वैसे ही मैं और है ब्रह्म । एक-रूप ॥ ५ ॥

तथा नित्य जो निष्कंप । अनावृत्त धर्मरूप ।
सुख-रूप जो अमाप । अद्वितीय ॥ ६ ॥

विवेक अपना काम । करके मिलता धाम ।
निष्कर्षका है निःसीम । वह भी मैं हूं ॥ ७ ॥

विजय गया अब दूर—

अजी ! कीजीये यह श्रवण । अनन्य भक्त-प्रिय श्रीकृष्ण ।
करता है पार्थसे कथन । कहता संजय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र कहता यह सुन । तुझसे यह पूछता है कौन ।
बिन पूछे ही व्यर्थका भाषण । करता क्यों तू ? ॥ ९ ॥

विजयकी वार्ता तू कहकर । हमारी व्यग्रता दूर कर ।
कहता है "विजय गया दूर" । संजय मनमें ॥ ४१० ॥

संजय है मनमें विस्मित । वैसे ही है अतिशय त्रस्त ।
किस भांति यह द्वेश-रत । श्रीकृष्णसे है ॥ ११ ॥

फिर भी वह कृपालु हो तुष्ट । इन्हे करें आत्म-विवेक पुष्ट ।
जिससे हो इनका रोग नष्ट । महा-मोहका ॥ १२ ॥

आधार ब्रह्मका मैं हूं वैसे ही अमृतत्वका ।
शाश्वत धर्मका भी मैं तथा निस्सीम सुखका ॥ २७ ॥

करता है संजय ऐसा चिंतन । तथा करता संवादका श्रवण ।
जिससे उमडकर आता मन । हर्षातिरेकसे ।। १३ ।।

ऐसा हो वह उत्साहित । अब श्रीकृष्णार्जुनकी बात ।
कहेगा तो देकर चित्त । सुनियेगा ।। १४ ।।

उन अक्षरोंका जो है भाव । पहुंचाऊंगा आपके ठांव ।
कहता सुनिये ज्ञानदेव । निवृत्तिका दास ।। १५ ।।

गीता श्लोक २७

ज्ञानेश्वरी ओवी ४१५



१५

पुरुषोत्तम—दर्शनयोग

श्रीसद्गुरुकी मानस-पूजा—

अपना यह अंतःकरण । बना करके श्रीसिंहासन ।
उस पर रखेंगे चरण । श्रीगुरुके ॥ १ ॥
ऐक्य भावकी अंजली । इंद्रिय-कमल-कली ।
भरकर पुष्पांजली । देंगे अर्घ्य ॥ २ ॥
अनन्यता-उदक शुद्ध । संस्कार निष्ठाका सु-सिद्ध ।
लगावें अनामिका गंध । चंदन-तिलक ॥ ३ ॥
स्वर्णिम प्रेमके नूपुर । श्रीचरणमें सुकुमार
चढायें समर्पित कर । विशुद्धतासे ॥ ४ ॥
अनन्यतासे जो है दृढ । अव्यभिचारका निचोड़ ।
बनाके चरणोंके जोड़ । चढ़ायेंगे ॥ ५ ॥
आनंद-मोद बहुल । सात्विकताके मुकुल ।
खिले हुए अष्ट-दल । चढायें पदपे ॥ ६ ॥
जलायें अहंका धूप । उतारें नाहंका दीप ।
समरस होके आप । मिले निरंतर ॥ ७ ॥
बनाके मेरे तन औ' प्राण । चढाऊं पादुका श्रीचरण ।
करूं भोग-मोक्षका निंब-लोण । उन चरणों पर ॥ ८ ॥
इन गुरु-चरणोंकी सेवा । देती सकल पुरुषार्थ मेवा ।
प्राप्त हो हम वह सुदैव । ऐसा करें हम ॥ ९ ॥

देता अंतिम-विश्रांति-स्थान । यहां तक खिलता जो ज्ञान ।
बनाता सुधा-सिंधु महान । वाचाका वह ॥ १० ॥
असंख्य पूर्ण-सुधाकर । करें जिसपे न्योच्छावर ।
होता है वक्तृत्व मधुर । जिस दैवसे ॥ ११ ॥
सूर्य उदय जो पूर्व-दिशा । देती है जगतको प्रकाश ।
करती दीवाली ज्ञान-दशा । वैसे श्रोताओंकी ॥ १२ ॥
जिससे स्फुरता है व्याख्यान । लगता नाद-ब्रह्म भी बौना ।
मोक्ष-धाम भी है शोभा-हीन । उसके सम्मुख ॥ १३ ॥
मंडपमें श्रवण सुखके । जगतको वसंत ऋतुके ।
सुख मिले व्याख्यान-वल्लीके । ऐसा बहार आता ॥ १४ ॥
नहीं लगनेसे जिसकी थाह । लौटती है वाचा मनके सह ।
उसके शब्दमें आता है वह । कितना आश्चर्य ॥ १५ ॥
ज्ञान जिसे नहीं जानता । ध्यानमें भी जो नहीं आता ।
वह है अगोचर रमता । उसकी गोष्ठियोंमें ॥ १६ ॥
इतना बड़ा जो सौभग । बनता है वाचाका अंग ।
गुरु-पद-पद्म-पराग । प्राप्त होता ॥ १७ ॥
ऐसा यह भाग्य है नहीं । मेरे बिन अन्यको कहीं ।
कहता है आपसे यहीं । ज्ञानदेव ॥ १८ ॥
रहा हूं अबोध बालक । श्रीगुरुका इकलौता एक ।
इसी लिए कृपा स्वाभाविक । मिली मुझको मात्र ॥ १९ ॥
मेघमाला जैसे संपूर्ण । देती है चातकको प्राण ।
मेरे लिए गुरु-चरण । बने वैसे ॥ २० ॥
तभी मेरा रीता ही मुख । करने लगा बकबक ।
किंतु निकला स्वाभाविक । गीता तत्व मधुर ॥ २१ ॥
होता है जब दैव अनुकूल । रेती बनते मोति अनमोल ।
शत्रु भी बन जाते हैं सकल । ऐश्वर्य सह मित्र ॥ २२ ॥

चुल्हेपे चढाये हुए हरल । पक जाते अक्षतसे चावल ।
भूखेका रखना यदि काल । जगन्नाथको ॥ २३ ॥

ऐसे ही जिसे श्रीगुरुवर । करते हैं जब अंगीकार ।
बन जाता है सारा संसार । मोक्षधाम ॥ २४ ॥

देखो कैसे नारायण । पांडवोंके अवगुण ।
बना देते हैं पुराण । विश्व-वंद्य ॥ २५ ॥

ऐसे श्री निवृत्तिराज । मुझ अज्ञानिमें आज ।
लाते हैं ज्ञानका ओज । स्व-कृपासे ॥ २६ ॥

रहने दे यह गुरु-गुण वर्णन । वर्णनसे होती है महिमा मलीन ।
गुरुवर्णनका मुझमें कहां ज्ञान । इसीलिए ॥ २७ ॥

उनकी कृपासे सदय । कहते गीता साभिप्राय ।
धोता हूं मैं आपके पूज्य । अब श्री चरण ॥ २८ ॥

करता चौदहका अंत । कह कर यह सिद्धांत ।
अर्जुनसे श्री भगवंत । कैवल्य पति जो ॥ २९ ॥

ज्ञानी ज्ञानसे मोक्ष पाता है—

करता जो ज्ञान हस्तगत । मोक्ष पाता है वही समर्थ ।
होता इंद्रपद हस्तगत । जैसे शत-मखसे ॥ ३० ॥

अथवा लेकर शत जन्म । करता सतत ब्रह्म-कर्म ।
वही बनता अंतमें ब्रह्म । अन्य नहीं कोई ॥ ३१ ॥

या करता है सूर्य दर्शन । केवल मात्र एक नयन ।
वैसे केवल ज्ञानसे मान । मोक्ष प्राप्त ॥ ३२ ॥

ऐसे ज्ञान के लिए कौन । होता यहां सामर्थ्यवान ।
खो जानेसे हुवा दर्शन । अकेलेका ॥ ३३ ॥

पातालमें भी जो है निधान । दिखाएगा लगाके अंजन ।
इसके लिए होना लोचन । पादजके ही ॥ ३४ ॥

वैसे ही मोक्ष देगा ज्ञान । यहां बात नहीं भिन्न ।
इसके लिए होना मन । परम-शुद्ध ॥ ३५ ॥

ज्ञानके लिए वैराग्य आवश्यक—

तब विरक्तिके बिन । टिकता नहीं ज्ञान ।
निर्णय है यह जान । हरि चित्तका ।। ३६ ।।

विरक्तिका कौनसा प्रकार । करेगा मनका अंगीकार ।
कर रखा यह भी विचार । सर्वज्ञ हरिने ।। ३७ ।।

यह है विष मिश्रित अन्न । अतिथिको हो इसका ज्ञान ।
छोड़ उठता वह भोजन । इसी भांति ।। ३८ ।।

अनित्य यह सब संसार । जानता है जो इसका सार ।
वह करता विरक्ति दूर । तो भी वह चिपकती ।। ३९ ।।

पंद्रहवे अध्यायकी भूमिका—

अनिश्चितताका रूप निश्चित । वृक्ष-रूपकसे है जगन्नाथ ।
सुनायेंगे सुने सब यथार्थ । पंद्रहवेंमें ।। ४० ।।

सहज पडा जो हो उन्मूलन । डाली जड़ उलट कर जान ।
सूखेगा वह जैसे क्षण क्षण । वैसे नहीं यह ।। ४१ ।।

मिटाते हैं ऐसा दिखाकर । रूपकका भला चमत्कार ।
जन्म-मरणका जो चक्कर । संसारका ।। ४२ ।।

दिखाके संसारका अनित्यत्व । स्वरूपमें अहंताका लयत्व ।
कहा जायेगा अब सार-तत्व । पंद्रहवेंमें ।। ४३ ।।

अब यहीं ग्रंथ हृदुगत । कहेंगे सिद्धांत विस्तृत ।
सुने आप देकर चित्त । श्रोतृ-वृंद ।। ४४ ।।

वह ब्रह्मानंद समुद्र । जो पूर्ण-पूर्णिमाका चंद्र ।
तथा द्वारकाका नरेंद्र । कहता ऐसा ।। ४५ ।।

अजी ! सुन तू पांडुकुमार । आते हुए स्वरूपके घर ।
रुकावट करता समीर । विश्वाभासका ।। ४६ ।।

वह जो जगडंबर । नहीं है यहां संसार ।
जान महा तरुवर । पड़ा है यहां ।। ४७ ।।

किंतु अन्य वृक्ष सरीखा । नीचे मूल ऊपर शाखा ।
ऐस नहीं जान इसका । अंत न लगता ।। ४८ ।।

आग अथवा यदि कुठार । पड़ती जिसके मूल पर ।
वह पड़ता है टूटकर । कितना ही बड़ा हो ।। ४९ ।।

मूल सब जब वृक्ष टूटता । शाखाओं सह वह है गिरता ।
किंतु इसका ऐसा नहीं होता । यह न है सहज ।। ५० ।।

संसार वृक्षकी कल्पना—

इसका है अर्जुन ! कौतुक । कहनेमें यह अलौकिक ।
बढ़ता जाता है अधोमुख । यह वृक्ष ।। ५१ ।।

जैसे सूर्यकी ऊंची नहीं जानता । उसका रश्मि-जाल नीचे फैलता ।
वैसे ही यह है आश्चर्य दिखाता । संसार-वृक्ष ।। ५२ ।।

जैसे कल्पांतका उदक । फैलता है आकाश तक ।
वैसे यह संसार रूख । घेरता सर्वस्व ।। ५३ ।।

अथवा होता रविका अस्त । तमसे घिरती सारी रात ।
यह वृक्ष ऐसा होता व्याप्त । आकाश सारा ।। ५४ ।।

खाना चाहे तो नहीं फलता । सूंघना चाहे तो नहीं फूलता ।
जैसे हो यह वृक्ष रहता । केवल वृक्ष ।। ५५ ।।

मूल जमा है इसका ऊपर । शाखयें फैली हैं नीचेकी ओर ।
किंतु नहीं पड़ा टूटकर । रहता खिला हुवा ।। ५६ ।।

तथा ऊर्ध्व-मूल ऐसे । कहा है स्पष्ठ रूपसे ।
किंतु फैलते नीचेसे । इसकी जड़ ।। ५७ ।।

बढनेमें है जैसे शेवाल । ऊपर वट हो या पीपल ।
अंकुरमें फूटते हैं डाल । इसके सब ।। ५८ ।।

इस भांति सुनो पार्थ । संसार-वृक्षके साथ ।
नीचे ही है डाल पात । ऐसे भी नहीं ।। ५९ ।।

वैसे ही ऊर्ध्वकी ओर। शाखाओंके ढेर ढेर।
दिखाई देते अपार। फैले हुए॥ ६० ॥

या फैला हो वृक्ष रूपसे गगन। या वृक्ष रूपसे वायु-प्रसरण।
या अवस्था-त्रयका विस्तार मान। हुवा वृक्ष रूपसे॥ ६१ ॥

ऐसा है यह ऊर्ध्व-मूल। फैला है सर्वत्र बहुल।
विश्वाकार लेके सकल। जान तू यह॥ ६२ ॥

अब है इसका ऊर्ध्व-भाग कौन। इसके ऊर्ध्व-मूलके क्या कारण।
इसके अधो-वृध्दिके क्या लक्षण। औ' डालियां हैं कैसी॥ ६३ ॥

अथवा इस वृक्षकी। जड कैसी है नीचेकी।
डालियाँ कैसी ऊर्ध्वकी। सुनो आब॥ ६४ ॥

तथा यह अश्वत्थ है ऐसे। प्रसिध्दिके कारण क्या कैसे।
आत्म-विद्या-विदोंने है ऐसे। किया क्यों निर्णय॥ ६५ ॥

यह सब तू अर्जुन। अनुभवेगा जो ज्ञान।
ऐसे करूंगा कथन। सुन तू अब॥ ६६ ॥

तेरा ही यह है सौभाग्य। इसके लिए है तू योग्य।
आया है सुन यह भाग्य। सर्वांगके कान कर॥ ६७ ॥

प्रेम-रसका ऐसे हो स्फुरण। यदु-पति बोला जब श्रीकृष्ण।
प्रकट हुवा तब अवधान। अर्जुनके रूपमें॥ ६८ ॥

अति व्यापक जो कृष्ण-कथन। किंतु फैला पार्थका अवधान।
जैसे घेरती दिशायें महान। आकाशको जैसे॥ ६९ ॥

अजी! श्रीकृष्ण वचन सागर। प्राशन करता है धनुर्धर।
मानो है अगस्ति ऋषि दूसरा। एक घोंटमें॥ ७० ॥

फूट पडी ऐसी श्रवणाशा निर्मल। पार्थमें प्रतीत कर कृष्ण सरल।
करता है देव वह सुख सकल। न्योच्छावर पार्थपे॥ ७१ ॥

भगवान उवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसियस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्व-मूल ब्रह्मका वर्णन—

फिर कहता है पांडव । इस तरुका है जो ऊर्ध्व ।
वृक्षके कारण सदैव । दीखता सहज ॥ ७२ ॥

वैसे मध्य ऊर्ध्व अध । ऐसा नहीं जहां भेद ।
कहते हो एकवद । उस अद्वयका ॥ ७३ ॥

वह है अश्रवणीय नाद । तथा असौरभ्य मकरंद ।
तथा जो निरालंब आनंद । बिना रतिका ॥ ७४ ॥

जिसको जो आर-पार । तथा आगे-पीछेकी ओर ।
दृश्यादृश्यसे अगोचर । देखना है ॥ ७५ ॥

उपाधिका जो दूसरा । फैलानेसे है पसारा ।
नाम-रूपका संसार । होता जहां ॥ ७६ ॥

ज्ञाता ज्ञेयसे विहीन । केवल मात्र जो ज्ञान ।
सुखसे भरे गगन- । से चूता है ॥ ७७ ॥

नहीं है जो कार्य अथवा कारण । या अन्यसे आया जो अकेलापन ।
जिसको अपनेमें ही आप जान । भली भांति ॥ ७८ ॥

संसार-वृक्षका बीज और जड़—

ऐसी सत्य-वस्तु जिसकी । जड़ है ऊपर इसकी ।
वहांसे निकली इसकी । कोंपल ऐसे ॥ ७९ ॥

श्री भगवानने कहा

ऊंचे मूल तले शाख नित्य अश्वत्थ है कहा ।
उसके दलमें वेद पढे जो वेद जानता ॥ १ ॥

अजी ! माया ऐसी ख्याति । चलती है जो है नास्ति ।
जैसे वंध्याकी संतति । बातोंमें ही ॥ ८० ॥

वह होती अथवा नहीं होती । विचारका नाम नहीं सहती ।
यहां वह अनादि कहलाती । इस प्रकारकी ॥ ८१ ॥

यह है भव-द्रुम बीजिका । या प्रपंचकी भूमिका ।
औ, विपरीतज्ञान-दीपिका । प्रज्वलित है जो ॥ ८२ ॥

अनेक शक्तियोंकी पेटिका । आकाश मानो विश्वदभ्रका ।
बना है जो आकार मात्रका । तह किया हुवा ॥ ८३ ॥

माया साथ ही है ब्रह्मके । होकर भी जैसे नहींके ।
प्रकट होती है वस्तुके । प्रकाश रूप जो ॥ ८४ ॥

अपनेको आती है जब नींद । करती तब अपनेको मुग्ध ।
कजली करती प्रकाश मंद । दीपकका जैसे ॥ ८५ ॥

प्रियके साथ तरुणांगी स्वप्नमें । सोई हुई उठकर शीघ्रातमें ।
आलिंगनके बिना आलिंगनमें । करती सकाम ॥ ८६ ॥

ऐसे स्वरूपमें हुई जो माया । स्वाश्रयमें अज्ञान धनंजय ।
वही इस भव-तरुका भया । पहला मूल ॥ ८७ ॥

वस्तुका अपना जो अबोध । ऊपर वह बांधता कंद ।
वेदांतमें भी यही प्रसिद्ध । कहा बीज-भाव ॥ ८८ ॥

घना अज्ञान भाव जो सुषुप्ति । बीजांकुर-भाव सुभद्रापति ।
अन्य दो जो स्वप्न और जागृति । उसका फल भाव ॥ ८९ ॥

ऐसा वेदांत प्रतिपादन । संज्ञा है ये प्रसिद्ध तू जान ।
रहने दो यहां है अर्जुन । अज्ञान मूल ॥ ९० ॥

उस अतीत आत्माको निर्मल । अधोर्ध्व सूचित करके मूल ।
तथा चारों ओर बना वर्तुल । माया—योगका ॥ ९१ ॥

फिर हो अनेक देहांतर । छूटते हैं उसके अपार ।
सभी ओरसे बना अंकुर । गहरे उतरते ॥ ९२ ॥

ऐसा भव-द्रुमका मूल । ऊपर पाकरके बल ।
उसके हैं दलके दल । उतरते नीचे ॥ ९३ ॥

संसार-वृक्षका पहला पल्लव—

वहां चिद्‌वृत्तिके पहला । महतत्व कोंपल खिला ।
पल्लव जो हरा निकला । कोंपल एक ॥ ९४ ॥

फिर सत्व-रज-तमात्मक । त्रिविध अहंकार जो एक ।
वह तिगुना हो अधोमुख । फूटी डाल ॥ ९५ ॥

बुध्दिका लेकर अंकुर । बढ़ाता भेदको अपार ।
तन मनकी डाल सुंदर । बढ़ने लगती ॥ ९६ ॥

ऐसे ले कर मूलकी दृढता । विकल्प रसकी जो कोमलता ।
चित्त-चतुष्टयकी विविधता । फूटते पल्लव ॥ ९७ ॥

भवद्रुमका विस्तार—

आकाश वायु द्योतक । और है पृथ्वी उदक ।
फूटती ये पांच शाख । उसमें जोरसे ॥ ९८ ॥

वैसे ही श्रोत्रादि तन्मात्रा । उसके अंगभूत पत्र ।
जो हैं अति चित्र विचित्र । फूटते रहते ॥ ९९ ॥

तब शब्दांकुर पर्यंत । होते हैं श्रोत्र विकसित ।
आकांक्षाके नूतन पार्थ । चढती डालियां ॥ १०० ॥

अंग-त्वचाका जो लता पल्लव । स्पर्शांकुर तक होते फैलाव ।
वहां बढते हैं नित नव । विकार विविध ॥ १ ॥

तब रूप-पत्रके दलके दल । दूर तक फैलाती हैं आंखें सरल ।
फैलता है तब बड़ा भ्रम-जाल । सविस्तृत ॥ २ ॥

और रसनाका शाखा खंड । वेगसे बढता है उद्दंड ।
जिव्हा चापल्यके जो प्रचंड । फूटते शाख ॥ ३ ॥

वैसे ही गंधकी जो कोंपल । घ्राणेंद्रियको करती प्रबल ।
तब गंध-लोभ फैलाता विपुल । आनंद पल्लव ॥ ४ ॥

ऐसी जो महदहं-बुध्दि । मन महाभूत संसृध्दि ।
इस संसारकी अवधि । बना लेते हैं ॥ ५ ॥

भव-द्रुमका स्वरूप —

अजी ! यह इन्ही आठ अंगसे । फैलता जाता है अति वेगसे ।
किंतु है रजत-रूपसे जैसे । दीखती सीप ॥ ६ ॥

या सागरका जितना विस्तार । उतना ही तरंगत्व संचार ।
वैसे है ब्रह्म ही वृक्ष-आकार । अज्ञान मूल ॥ ७ ॥

यही अब इसका विस्तार । और इसका है यही प्रसार ।
स्वप्नमें अपना परिवार । होता जैसे एकका ही ॥ ८ ॥

रहने दो अब यह वर्णन । इस भांति यह बढ़ता जान ।
महदादि बोझसे है अर्जुन । अधोशाख ॥ ९ ॥

इसको अश्वत्थ क्यों कहते हैं—

इसको अश्वत्थ ऐसे । कहते हैं जो क्यों कैसे ।
वह भी सुन तू इसे । कहता हूं मैं ॥ ११० ॥

अजी ! श्वः कहा तो कल । तब तक प्रति पल ।
रहना नहीं निश्चल । इसका कभी ॥ ११ ॥

जैसे है बीतता है क्षण । मेघ बदलता नाना वर्ण ।
या बिजली न होती संपूर्ण । निमिष एक ॥ १२ ॥

या कांपता हुवा पद्म-दल । उस पर पड़ा हुवा जल ।
या चित्त जैसे होता व्याकुल । मनुष्यका ॥ १३ ॥

वैसे ही है इसकी स्थिति । नासता जाता क्षण प्रति ।
इसीलिये है शुद्ध-मति । कहते अश्वत्थ ॥ १४ ॥

तथा अश्वत्थ ऐसी संज्ञा । पीपलको पड़ी सुविज्ञा ।
नहीं वह भाव सर्वज्ञ - । श्रीहरिका यहां ॥ १५ ॥

वैसे पीपल कहा तो एक । मैंने मान लिया होता देख ।
किंतु रहने दे जो लौकिक । इसमें क्या अर्थ ॥ १६ ॥

इसीलिये यहां प्रस्तुत । यह है अलौकिक ग्रंथ ।
यहां क्षणिकत्वको अश्वत्थ । कहा गया है ॥ १७ ॥

यह और ही है एक विध । अव्ययत्वमें अति प्रसिद्ध ।
इसका प्रकार अंतर्सिद्ध । है इस भांति ॥ १८ ॥

जैसे मेघ-मुख एक ओर । सुखाते रहते हैं सागर ।
तथा नदियां दूसरी ओर । भरती रहती ॥ १९ ॥

जिससे न चढता न उतरता । सदा एकसा भरा पूरा रहता ।
किंतु जब तक सम योग होता । मेघ-नदियोंका ॥ १२० ॥

वैसे इस वृक्षका होता जान । उस गतिका तर्क नहीं होना ।
तभी लोगोंका अव्यय कहना । इसको यथार्थ ॥ २१ ॥

जैसे दान-शील मनुष्य । करता दानसे संचय ।
वैसे व्ययसे है अव्यय । यह वृक्ष ॥ २२ ॥

अथवा रथका चक्र जैसे । चलता अतिशय वेगसे ।
दीखता भूमिमें धंसा ऐसे । उसी प्रकार ॥ २३ ॥

वैसे ही तीव्र गतिसे कालकी । गिरती भूत शाखामें जिसकी ।
वहां फूटती असंख्य इसकी । कोंपल नित्य ॥ २४ ॥

ऐसे गलते जाते कितने । नये फूटते जाते कितने ।
न जाने आते जाते कितने । सावनके बादलसे ॥ २५ ॥

कल्पांतमें होते नष्ट भ्रष्ट । कल्पारंभमें होते हैं जो सृष्ट ।
और होते हैं अनेक विश्व-दृष्ट । धनंजय ॥ २६ ॥

प्रचंड संहार-वातसे प्रलयके । झड़ते छिलके जब इस वृक्षके ।
फूटते नव-अंकुर कर्मारंभके । करोडोंमें ॥ २७ ॥

मन्वंतर सरकता मनुके नंतर । बढते जाते अनेक वंश वंश पर ।
मानो बढता है ईख कांड कांड कर । वैसे ही यह वृक्ष ॥ २८ ॥

कलियुगांतमें सूखा छिलका । चार युगोंका झड़ता इसका ।
तब चढ़ता है कृत-युगका । नूतन मोटा ॥ २९ ॥

जैसे वर्ष पर वर्ष बीतता । एक दूसरेका मूल बनता ।
वैसे दिवस आता और जाता । जानते नहीं ॥ १३० ॥

जैसे वायुकी लहर आना । उसका जोड़ नहीं समझना ।
वैसे डालोंका झड़ना बढना । समझता नहीं ॥ ३१ ॥

गिरता जब एक देहांकुर । फूटते सहस्र शरीरांकुर ।
तब दीखता भव तरुवर । अव्यय ऐसा ॥ ३२ ॥

पानी बहता जब तीव्र गतिसे । वैसे ही आता है अधिक पीछेसे ।
तभी उस स्रोतको अनंत ऐसे । मानते लोग ॥ ३३ ॥

या जितनेमें पलक झपकती । करोडो लहरें उठ गिरती ।
जिससे है दृष्टि अनुभवती । तरंग है नित्य ॥ ३४ ॥

या एक ही दृष्टि काग दोनों ओर । फिराता चातुर्यसे स अवसर ।
जिससे होता है भ्रम धनुर्धर । कागकी हैं दो आंखें ॥ ३५ ॥

लट्टू घूमता है तीव्र गतिसे । लगता है चिपक बैठा भूमिसे ।
इसका वेगातिशय होता वैसे । भ्रमका कारण ॥ ३६ ॥

अंधारमें अति वेगसे । अग्नि-काष्टको घुमानेसे ।
सहज ही दीखता जैसे । चक्राकार ॥ ३७ ॥

यह संसार-वृक्ष ऐसा । नासता बढता सहसा ।
न देख लोक पागल-सा । मानता अव्यय ॥ ३८ ॥

किंतु जो इसका वेग देखता । इसके क्षणिकत्वको देखता ।
करोडों बार यह होता जाता । क्षण भरमें जो ॥ ३९ ॥

अज्ञानके बिन नहीं मूल । इसका अस्तित्व नकल ।
यह वृक्ष अति क्षीण-छाल । देखा जिसने ॥ १४० ॥

उसे मानता मैं सर्वज्ञ । वह है वंदनीय प्राज्ञ ।
ब्रह्म-सिद्धांतका है सूज्ञ । धनुर्धर ॥ ४१ ॥

योग-मात्र जो सकल । मिला है उसको ही फल ।
उसके बलसे केवल । जीता ज्ञान ॥ ४२ ॥

कौन करें उसका वर्णन । भव-द्रुमको अनित्य मान ।
चलता है पुरुष अर्जुन । इस भांति ॥ ४३ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

इस भव-द्रुमका फैलाव—

फिर यह प्रपंच रूप । अधः शाखा जो पादप ।
बढता जाता परंतप । ऊर्ध्वशाख हो ॥ ४४ ॥

तथा नीचे फैले जो डाल । उसमें फूटते हैं मूल ।
उस मूलमें फूटे बेल । पल्लवादिक ॥ ४५ ॥

अजी ! हमने पीछे ऐसे । उपक्रममें कहा जैसे ।
उसीको सहज रूपसे । कहते अब ॥ ४६ ॥

बद्धमूल है जो अज्ञानसे । महदादिकके शासनसे ।
बडे वेद-पर्ण फूटनेसे । फैला है अपार ॥ ४७ ॥

पहले इससे स्वेदज । जारज उद्भिज मणिज ।
मूलसे ही जो महाभुज । उठते चार ॥ ४८ ॥

इस एकेकसे अंकुर । फूटके अनेक प्रकार ।
जीवोंकी शाख बढ़ाकर । होते चौरासी लाख ॥ ४९ ॥

बढ़ते हैं खंड सरल । नाना सृष्टिकी डाल डाल ।
टेढी मेढी फूटती डाल । अनेक जातिकी ॥ १५० ॥

ऊंचे तले शाख विस्तार होता
औ' भोग पत्ते गुण-पुष्ट होते ।
नये नये मूल फूले तले जो
नृलोकमें कर्म-निबन्ध कारी ॥ २ ॥

स्त्री पुरुष नपूंसक । आकारसे भेदात्मक ।
टकराते हैं आंगिक । विकार भारसे ॥ ५१ ॥

वर्षाकाल है जैसे गगनमें । फैलता नव मेघके रूपमें ।
वैसे आकार-मात्र अज्ञानमें । फैलता जाता ॥ ५२ ॥

शाखाओंका है फिर अंगभार । झुकके उलझता परस्पर ।
और-गुण क्षोभका है समीर । छूटता तब ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वमूलका फट जाना—

आता है तब भयंकर । गुण क्षोभका बवंडर ।
जिससे तीन स्थान पर । फटता ऊर्ध्वमूल ॥ ५४ ॥

जब ऐसा रजका समीर । बहता है जब धनुर्धर ।
मनुष्य जाति शाखा अपार । बढती हैं ॥ ५५ ॥

न ऊर्ध्व या अधमें उसके । मध्यमें लगती हैं तनेके ।
टेडी शाख फूटते उसके । वर्णकी चार ॥ ५६ ॥

विधि-निषेधके सपल्लव । वेद-वाक्यके जो अभिनव ।
डुलकर उसके पल्लव । करते शोभा ॥ ५७ ॥

ऐहिक भोगके नामवंत । अर्थ-काम कर प्रसारित ।
बढ़ते हैं तीव्र विकसित । नव अंकुरोंसे ॥ ५८ ॥

संसारका जो वृद्धि लोभ । खडा करता शुभाशुभ ।
अनेकानेक कर्म-स्तंब । न जाने कितने ॥ ५९ ॥

पहलेका भोग-क्षय जब होता । साथ ही शुष्क देह जब गिरता ।
तथा विस्तारका प्रारंभ होता । नव देहका तब ॥ १६० ॥

तथा सुशोभित शब्दादिक । सहज रंगके आकर्षक ।
फूटते नित नये मोहक । विषय पल्लव ॥ ६१ ॥

वैसे रजो-वातसे प्रचंड । मनुष्य शाखाओंके झुंड ।
बढते, कहते जिसे रूढ़ । मानव लोक ॥ ६२ ॥

वैसे रजका समीर । रुकते ही बहता घोर ।
तमोगुणका बवंडर । उसी समय ॥ ६३ ॥

तभी यही मनुष्य शाख । नीचे नीचे वासना देख ।
फैलती है शाखोपशाख । कुकर्मकी जो ॥ ६४ ॥

अप्रवृत्तिसे जो चिन्हित । निकलते डंटल पार्थ ।
उसमें लगते हैं सार्थ । प्रमादके ॥ ६५ ॥

बोलते निषेध-नियम । मंत्र जो हैं ऋक्-यजु-साम ।
गाते वही पात अकर्म । सम्मुख आके ॥ ६६ ॥

प्रतिपादन अभिचार । मंत्र-तंत्र जो पर-भार ।
करते उसका प्रसार । वासना लता ॥ ६७ ॥

तब तब होते बलिष्ठ । अकर्मादि जड़ अनिष्ट ।
तथा बढ़ते शाख पुष्ट । जन्मकी आगे ॥ ६८ ॥

चांडालादि वहां निकृष्ट । दोष-योनिके दंड पुष्ट ।
फैलाता जन कर्म-भ्रष्ट । जाल भ्रमका ॥ ६९ ॥

उसे पशु-पक्षी सूकर । व्याघ्र वृश्चिकादि विषार ।
टेडे शाखाओंका विस्तार । होता है जैसे ॥ १७० ॥

ऐसी जो शाखायें पांडव । सर्वांगमें नित्य ही नव नव ।
देती हैं नरकानुभव । फलका तो ॥ ७१ ॥

हिंसा रति वहां प्रमुख । कुकर्म-संघ ही है सुख ।
निषिद्ध कर्मांकुर चोख । बढते जन्मोंसे ॥ ७२ ॥

ऐसे होते हैं तरु-तृण । लोह लोष्ट औ' पाषाण ।
इस शाखके ऐसे जान । लगते फल ॥ ७३ ॥

अर्जुन ! यह तू सुन । मनुष्यसे जो है निम्न ।
वृद्धि स्थिर तक जान । शाखाओंकी ॥ ७४ ॥

तभी मनुष्य-रूपी डाल । तलेकी शाखाओंका मूल ।
आगे फैलता वही मूल । संसार-तरुका ॥ ७५ ॥

वैसे ऊर्ध्वका जो पार्थ । आदि मूल देखा जाता ।
आदिसे ये हैं मध्यस्थ । शाखायें सब ॥ ७६ ॥

किंतु तामस सात्विक । सुकृत दुष्कृतात्मक ।
फैल जाती हैं जो शाख । अध-ऊर्ध्वकी ॥ ७७ ॥

तथा वेद-त्रयके हैं पान । अन्यत्र न लगते अर्जुन ।
मनुष्य बिन अन्य विधान । नहीं उसका ॥ ७८ ॥

इसलिये मनुष्यका तन । ऊर्ध्व-मूलकी शाखा है मान ।
इस कर्म-वृद्धिके कारण । वही मूल ॥ ७९ ॥

फैलती शाखायें जब वृक्षोंमें । जड़ जाती हैं गहरी पृथ्वीमें ।
जड़ गडी जाती हैं जैसे पृथ्वीमें । वृक्ष फैलता ऊपर ॥ १८० ॥

उसी भांति है यह शरीर । कर्मके साथ देह संसार ।
देह है तब तक व्यापर । चलता रहता ॥ ८१ ॥

तब है मनुष्य देह पार्थ । इसकी जड़ कहना सार्थ ।
यहां यह बोलना यथार्थ । श्रीकृष्णका जो ॥ ८२ ॥

फिर है तमका दारुण । रुक जाता जब तूफान ।
सत्वका छूटता सत्राण । चंड मारुत ॥ ८३ ॥

उस समय यह मनुष्याकार । जड़में छूटता सुगंध· अंकुर ।
उसमें फूटते मुकुल अपार । नव नव कोंपल ॥ ८४ ॥

विकसित ज्ञानके कारण । प्रज्ञा-कुशलताके जो तीक्ष्ण ।
अंकुर फूटते प्रति-क्षण । फैलते हुए ॥ ८५ ॥

बुध्दिके शाखोपशाख । स्फूर्तिसे बलसे नेक ।
प्रकाशसे सविवेक । खिलते हैं ॥ ८६ ॥

मेधा-रससे वहां भरपूर । आस्था-पल्लवसे खिले सुंदर ।
सरल निकलते हैं अंकुर । सद्वृत्तिके ॥ ८७ ॥

सदाचारके तब अनेक । कोमल कोंपल सुवासिक ।
गूंजते हैं सदा वेद घोष । उन पल्लवोंसे ॥ ८८ ॥

शिष्ट आगम विधान । विविध याग वितान ।
ऐसे पल्लव अर्जुन । बढ़ते जाते ॥ ८९ ॥

अनेक गुच्छ ऐसे यम-दमके । लगते हैं जब तप टहनीके ।
तथा आलिंगन करते उसके । वैराग्यकी टहनियां ॥ १९० ॥

विशिष्ट व्रतोंकी जो शाख । तीक्ष्ण धैर्यांकुरमें देख ।
जन्म-वेगसे ऊर्ध्वमुख । उठते जाते ॥ ९१ ॥

करते पल्लव वेद–गर्जन । सद्विद्याओंका घोष महान ।
जब बहता है वायु अर्जुन । सात्विकताका ॥ ९२ ॥

अन्य अनेक ऊर्ध्व शाखाओंका विवेचन—

वहां धर्म-शाखाओंमें विस्तृत । जन्म-शाखा जो सरल दर्शित ।
उसमें स्वर्गादिक फलयुक्त । शाखा फैलती अनेक ॥ ९३ ॥

फिर उपरति रक्त-वर्ण । उसमें शाखा नित नवीन ।
बढती लहराके अर्जुन । धर्म मोक्षकी ॥ ९४ ॥

फिर रवि-चंद्रादि ग्रह-वर । पितर ऋषि आदि विद्याधर ।
फूटती नाना शाखा चहूं ओर । विस्तार पूर्वक ॥ ९५ ॥

इससे भी ऊंचाई पर । इंद्रादि शाख श्रेष्ठतर ।
फलादिसे जो भर कर । बढती अनेक ॥ ९६ ॥

इसके ऊपर भी है शाख । तप-ज्ञानसे बढी है देख ।
अत्रि मरीचि कश्यपादिक । ऊर्ध्व हैं अति ॥ ९७ ॥

उत्तरोत्तर उस प्रकार । ऊर्ध्व-शखाओंका है प्रसार ।
छोटे मूलमें बड़ा अपार । फलता जाता ॥ ९८ ॥

ऊर्ध्व-शाखाओंके अग्रपर । आता फल भार धनुर्धर ।
ब्रह्मेश जैसे महा अंकुर । फूटते नुकीले ॥ ९९ ॥

फूलोंके अति भारसे । झुकता है ऊपरसे ।
तथा लगता मूलसे । जैसे हो मूलमें ॥ २०० ॥

वैसे भी प्रकृत जो रूख । फल भारसे लदी शाख ।
झुककर आती है देख । जड़के पास ॥ १ ॥

जहांसे इसका विस्तार । प्रारंभ हुवा धनुर्धर ।
मिलता है वही आकार । ज्ञान-योगसे ॥ २ ॥

इसीलिये सुन ब्रह्मेशके । बाद बढ़ना नहीं जीवके ।
वहांसे ऊपर है जिसके । ब्रह्मही केवल ॥ ३ ॥

इस भांति धनंजया । ब्रह्मादिक टहनियां ।
अर्ध्व-मूल जो है माया । उससे नहीं तुलती ॥ ४ ॥

और भी ऊपर जो शाख । जिसके नाम सनकादिक ।
फल-मूलमें न आती देख । भरी है ब्रह्ममें ॥ ५ ॥

ऐसे मनुष्यसे जानना पार्थ । ऊर्ध्वमें हैं जो ब्रह्मादिक पात ।
बढ़ जाती इसकी शाखा-जात । सविस्तर ऊंची ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वके हैं जो ब्रह्मादि । मनुष्य उसके आदि ।
इसीलिये कहा आदि । मूल इसके ॥ ७ ॥

ऐसा तुझे अलौकिक । दिखाया है ऊर्ध्व शाख ।
कह यह भव रूख । ऊर्ध्वमूल ॥ ८ ॥

संसार वृक्ष उन्मूलन कैसे करना—

तथा आदिका भी है जो मूल । उत्पत्ति सह कहा सकल ।
अब सुनो करना उन्मूल । कैसे यह ॥ ९ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

न रूप इसका दीखे किसीको
न मूल है था न तना न शाखा ।
विरक्तिका ले कर तीव्र शस्त्र
काटें इसे जो दृढ-मूल वृक्ष ॥ ३ ॥

किंतु यहां अर्जुन । सोचेगा तेरा मन ।
काटनेका साधन । क्या है इसका ॥ २१० ॥

अंत तक है ब्रह्मका । ऊर्ध्व शाखायें उसका ।
औ' अरूपमें जिसका । ऊर्ध्व मूल ॥ ११ ॥

स्थावरादिसे इसका तल । फैलाता जाता अनेक डाल ।
फिर दौड़ते दूसरे मूल । मनुष्य रूपमें ॥ १२ ॥

ऐसा गहरा और विस्तृत । कौन करेगा इसका अंत ।
ऐसा नहीं लाना क्षुद्र बात । अपने मनमें ॥ १३ ॥

इसको उखाडना कौनसी बात । इसमें आयास नहीं किंचित ।
बच्चोंको करने क्या भय मुक्त । दूर भगाना क्या हौवेको ॥ १४ ॥

गंधर्व नगरोंको क्या गिराना । खरहेके सींगोंको क्या तोडना ।
यदि होता है उसे तोड़ना । आकाश पुष्प ॥ १५ ॥

ऐसे है यह रूख । सत्य नहीं है देख ।
रहा क्या है जो निःशेष । करना उसे ॥ १६ ॥

हमने कहा जो इसका प्रकार । करते समय मूलका विस्तार ।
वंध्या संतति खेलती घरभर । वैसे ही है यह ॥ १७ ॥

होते ही जब जागृत । क्या रही स्वप्नकी बात ।
वैसे ही है वह पार्थ । पोला वृक्ष ॥ १८ ॥

अजी ! जैसे अब मैंने कहा था । इसका दृढ मूल यदि होता ।
तथा वैसा ही यदि यह होता । वास्तविक वृक्ष ॥ १९ ॥

तथा किस मायका संतान । कर सकते हैं उन्मूलन ।
अजी ! फूंकनेसे क्या गगन । उड़जायेगा ॥ २२० ॥

इसीलिये यहां धनंजया । यहां जिसका बखान किया ।
जैसे कूर्मिके घृतसे किया । आथित्य राजाका ॥ २१ ॥

अजी ! मृगजलका सरोहर । दूरसे ही दीखता सुन्दर ।
होता क्या मृग-जल सींचकर । फलोंका बाग ॥ २२ ॥

मूल अज्ञान ही अस्तित्व हीन । उसका कार्य हो कैसे महान ।
तब संसार-वृक्षकी अर्जुन । कथा कैसी ॥ २३ ॥

इसका नहीं है अंत । यह कहना भी पार्थ ।
यह है यहां यथार्थ । एक रूपसे ॥ २४ ॥

जब तक नहीं जगता । निद्राका अंत नहीं होता ।
तब तक नहीं प्रकाशता । अंत न हो रातका ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जान तू पार्थ । विवेक उठाता माथ ।
तब रहता अश्वत्थ । भव रूप ॥ २६ ॥

जब तक वायु शांत । रहता नहीं निश्चित ।
तब तक है अनंत । कहाता तरंग ॥ २७ ॥

जैसे होता सूर्यका अस्त । मृग-जल भास समाप्त ।
या बुझती है दीप-ज्योत । मिटता प्रकाश ॥ २८ ॥

वैसे मूल अविद्याको निगलता । ज्ञान जब है वह प्रकट होता ।
तभी संसार-वृक्षका अंत होता । अन्यथा नहीं ॥ २९ ॥

अनादि है इसका अर्थ । केवल शाब्दिक नहीं पार्थ ।
उपरोक्त दृष्टिसे यथार्थ । जानना यहां ॥ ३३० ॥

संसार-वृक्षका नहीं । स्वरूपका पता कहीं ।
तब आरंभ भी कहीं । होगा कैसे ॥ ३१ ॥

होता जो जहांसे उत्पन्न । वहां उसका आदि जान ।
नहीं जिसका जन्म-स्थान । कहां मूल ॥ ३२ ॥

अजी ! जिसका जन्म है नहीं । अस्तित्वका कहीं पता नहीं ।
तभी यह अनित्यत्वसे ही । है अनादि ॥ ३३ ॥

अजी ! जो है बांझिनीका पुत्र । उसका कहां है जन्म-पत्र ।
नभमें नीली माटी सर्वत्र । कहना कैसे ॥ ३४ ॥

अकाश-कुसुमका अर्जुन । डंटल तोडेगा कहो कौन ।
तभी यह भवद्रुम जान । कहना अनादि ॥ ३५ ॥

जैसे घटका अनास्तित्व । किये बिना ही अस्तित्व ।
जैसे जान तू अनादित्व । इस वृक्षका ॥ ३६ ॥

अर्जुन देख तू यही । इसका आद्यंत नहीं ।
मध्यका भास जो वही । मात्र है भास ॥ ३७ ॥

ब्रह्म-गिरिसे निकलता । तथा समुद्रसे न मिलता ।
किंतु मध्यमें है भास होता । मृगांबुका जैसा ॥ ३८ ॥

अजी ! आद्यंतकी नहीं बात । तथा कहो नहीं होता पार्थ ।
किंतु अनस्तित्वसे प्रतीत । होते है यह ॥ ३९ ॥

जैसे अनेक रंगोंसे मुक्त । इंद्र–धनुष होता दर्शित ।
वैसे होता है यह प्रतीत । अज्ञानीको ॥ २४० ॥

स्थिति कालमें यह फंसाता । ज्ञानीकी आंखोंमें भरता ।
कफनी पहन कर आता । बहुरूपी जैसे ॥ ४१ ॥

नहीं होते हुए अर्जुन । नीलिमा दिखाता गगन ।
वह भी क्षणभर मान । वैसे ही ॥ ४२ ॥

स्वप्नके वस्तु अनसक्त । यदि मान लिये वे सत्त ।
वैसे आभास यहां पार्थ । मिलता क्षणिक ॥ ४३ ॥

देखनेमें दीखता है सुंदर । पकडने जाता जब वानर ।
नहीं मिलता जैसे धनुर्धर । जलका बिंब ॥ ४४ ॥

तरंग-भंग होता न्यून । विद्युत्गति अल्प अर्जुन ।
इससे तीव्र-गति जान । इसके भासकी ॥ ४५ ॥

मारुत जैसे ग्रीष्मांतका । न जानते आगे पीछेका ।
इसी भांति इस वृक्षका । नहीं स्थैर्य ॥ ४६ ॥

नहीं इसका सृष्टि स्थिति लय । वैसे ही रूप नहीं धनंजय ।
तब इसका उन्मूलन कार्य । कठिन कैसे ॥ ४७ ॥

आत्म-ज्ञानका ले करवाल—

अपना ही अज्ञानका बल । लेके हुवा यह दृढ-मूल ।
आत्म-ज्ञानका ले करवाल । तोडना इसे ॥ ४८ ॥

ज्ञान छोड करके एक । करनेसे उपाय देख ।
उलझेगा तू अधिक । इसी वृक्षमें ॥ ४९ ॥

फिर कितने शाखसे शाखको । उछलेगा अध और ऊर्ध्वको ।
तभी काट तू अज्ञान मूलको । सम्यक्- ज्ञानसे ॥ २५० ॥

वैसे ही डोरका विषधर । मारने किया लाठियोंका ढेर ।
उससे होगा केवल भार । व्यर्थका जो ॥ ५१ ॥

तैरने गंगा मृग–जलकी । दौड-धूप की नांव लानेकी ।
औ' लगाई नालेमें डुबकी । जो था यथार्थ ॥ ५२ ॥

अस्तित्व हीन जो संसार । नाशने किये श्रम घोर ।
तथा उसीमें धनुर्धर । गया आप ॥ ५३ ॥

जैसे नाशने स्वप्नका भय । जगना उपाय धनंजय ।
अज्ञान मूलका है उपाय । ज्ञान खड्ग ॥ ५४ ॥

लीलासे यदि उसको चलाना । तब वैराग्यका नित्य-नूतन ।
करना अभंग बल-साधना । बुद्धिको पार्थ ॥ ५५ ॥

होता वैराग्यका उत्थान । तब त्रिवर्ग है जान ।
मानो श्वानका वमन । लगता वह ॥ ५६ ॥

यहां तक है अर्जुन । वस्तु-जातमें संपूर्ण ।
अरुचि उभार मान । वैराग्यका हो ॥ ५७ ॥

फिर देहाहंताका म्यान । उतार करके तत्क्षण ।
प्रत्यग्बुद्धि करमें जान । धरना वह ॥ ५८ ॥

फिर वह विवेक सानपे धरना । 'ब्रह्म हूं' यह बोध तीव्र करना ।
फिर उसी एक बोधसे है घिसना । पूर्ण रूपसे ॥ ५९ ॥

फिर निश्चयका मुष्टि-बल । देखना एक दो बार तौल।
तब उसे धरना निश्चल । मनन तक ॥ २६० ॥

अपनेसे जब हथियार । निज-अभ्याससे एक होकर।
न रहेगा दौडने दूसरा । अपनेसे आगे ॥ ६१ ॥

आत्म-ज्ञानकी जो तलवार । अद्वयानुभव फैलाकर।
न रहेगा भव-तरुवर । कहीं भी कभी ॥ ६२ ॥

शरदागमनका समीर । करता जैसे स्वच्छ अंबर।
या उदित हो रवि अंधार । निगलता जैसे ॥ ६३ ॥

अथवा होते ही जागृत । होता जैसे स्वप्नका अंत।
स्वबोध धारसे अश्वत्थ । कहीं रहता नहीं ॥ ६४ ॥

तब ऊर्ध्व या अधका मूल । नीचेका भी तब शाखा-जाल।
न दीखता जैसे मृगजल । चांदनीमें वैसे ॥ ६५ ॥

इस प्रकार तू धनुर्धर । आत्म-ज्ञानकी ले तलवार।
तोडकर यह तरुवर । ऊर्ध्वमूलका ॥ ६६ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

फिर अपनेमें अपना रूप आप देखना-

फिर "इदं"का संबंध नहीं होता । "अहंत्व"के बिन जो प्रसिद्ध होता।
यह अपना ही रूप है देखता । आप ही आप ॥ ६७ ॥

ढूंढे वही जो पद है महान
पीछे जहांसे मुडना न होता ।
विलीन होना उस रूपमें ही
प्रवृत्ति निकली जहां अनादि ॥ ४ ॥

किंतु दर्पणका ले आधार । तथा एकका दूसरा कर।
रूप देखते हैं जो गंवार । वैसा नहीं यह ॥ ६८ ॥

यह ऐसे देखना है अर्जुन । कूआ खोदनेसे पूर्व झरना।
रहता है आप भरा हो पूर्ण । अपनेमें जैसे ॥ ६९ ॥

अथवा सूखने पर अंभ । निज-बिंबमें ही प्रतिबिंब।
अथवा मिल जाता है नभ । घटाभावमें ॥ २७० ॥

अग्निका इंधनांश समाप्त होत । अग्नि जैसेमूल रूपमें लौटता।
वैसे ही अपनेको देखना होता । आप ही स्वयं ॥ ७१ ॥

जिव्हाको अपना ही रस चखना । दृष्टिको अपना ही रूप देखना।
वैसे उसका निरीक्षण करना । अपनेको ही ॥ ७२ ॥

या प्रकाशसे प्रकाशका मिलना । गगनमें गगनका है चढ़ना।
अथवा पानीसे पानीकी भरना । अपनी गोद ॥ ७३ ॥

अपनेको आप लक्षित । करता है जब अद्वैत।
वह ऐसे होता है पार्थ । कहता हूं मैं ॥ ७४ ॥

न देखते ही जो देखना । कुछ न जानते ही जानना।
महापद जो है अर्जुन । आदि पुरुषका ॥ ७५ ॥

वहां भी उपाधिका ले आधार । होती वर्णनमें श्रुति तैयार।
नाम रूपका गडबड फिर । करती है व्यर्थकी ॥ ७६ ॥

संसार स्वर्गसे जो उकता कर । मुमुक्षुके ज्ञान योगका आधार।
जहां जाने निकले पांडुकुमार । प्रतिज्ञा-पूर्वक ॥ ७७ ॥

करते हैं संसारके आगे दौड़ । वे वीत-राग पुरुष कर होड।
पीछे डालते ब्रह्म-लोकको गाड । अतिक्रमण कर ॥ ७८ ॥

अहंकार आदि जो भाव । तज कर अपना सर्व।
आज्ञा-पत्र लेते पांडव । मूल गृहका ॥ ७९ ॥

आत्म विषयमें जो अज्ञान । लाया बड़ा संसारका ज्ञान।
न था जो उसने दिया स्थान । मैं तू पनको ॥ २८० ॥

जहांसे इतना धनुर्धर । होता विश्व-क्रमका विस्तार ।
व्यर्थ अभिष्ठ जिस प्रकार । होता निर्दैवीका ॥ ८१ ॥

कैसे वह रूप देखना । अपनेमें आप अपना ।
हिमसे है हिम जमना । हिम-रूपमें ॥ ८२ ॥

और एक जो उसका । लक्षण है जाननेका ।
उससे पुनर्जन्मका । होता है अंत ॥ ८३ ॥

किंतु उससे मिलते जैसे । भरकर सर्वत्र ज्ञानसे ।
महा-प्रलयमें नीर जैसे । भरा रहता है ॥ ८४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

वही प्राज्ञ इस परमात्म-पदको प्राप्त करते हैं—

जिस पुरुषका मन । छोड गये मोह मान ।
वर्षांतमें जैसे घन । आकाशको ॥ ८५ ॥

जो है अकिंचन निष्ठुर । उससे ऊबता है घर ।
वैसे ही उसको विकार । तज जाते हैं ॥ ८६ ॥

उखडता फला हुवा केल । वैसे आत्म-लाभसे प्रबल ।
क्रिया कलाप होते उन्मूल । अपने आप ॥ ८७ ॥

वृक्ष है जब जलता । पक्षी-गण उड जाता ।
वैसे उसको तजता । विकल्प सारा ॥ ८८ ॥

जो मान मोहासह संग-दोष
उखाड निष्काम अध्यात्म निष्ठ ।
निर्द्वंद्व जो हो सुख दुःख मुक्त
वे प्राज्ञ पाते वह नित्य धाम ॥ ५ ॥

जैसे सकल दोष व्रण । अंकुरती पृथ्वी अर्जुन ।
उस भेद बुद्धिका भान । नहीं होता उसे ॥ ८९ ॥

जब सूर्यका उदय होता । रातका अस्तित्व न रहता ।
वैसे देहाहंकार भागता । अविद्या सह ॥ २९० ॥

जैसे जीवको आयुष्य हीन । छोडता शरीर उसी क्षण ।
वैसे तजता द्वैत अर्जुन । उस पुरुषको ॥ ९१ ॥

पारसको लोहेका अकाल होता । रविसे कभी अंधार न मिलता ।
द्वैत-बुद्धिका दर्शन नहीं होता । उसको कभी ॥ ९२ ॥

अजी ! सुख दु:खका आकार । द्वंद्व होते देहमें गोचर ।
उसके सन्मुख धनुर्धर । नहीं होते कभी ॥ ९३ ॥

स्वप्नका राज्य या मरण । हर्ष या शोकका कारण ।
न होता जागृतिमें जान । उसी भांति ॥ ९४ ॥

वैसै सुख दु:ख रूप । द्वंद्व जो पुण्य औ' पाप ।
न घेरते उसे साप । गरुड़को जैसे ॥ ९५ ॥

तथा अनात्म-वर्ग नीर । छोड़ आत्म-रसका क्षीर ।
करता है जो स-विचार । राज हंस-सा ॥ ९६ ॥

वर्षा कर जैसे पृथ्वीपर । अपने ही रसको भास्कर ।
खींचता रश्मियां फैलाकर । अपने ही बिंबमें ॥ ९७ ॥

आत्म-भ्रांतिके लिये ही वैसे । बिखुरे वस्तु सभी ओरसे ।
एकत्र किये ज्ञान दृष्टिसे । अखंड जो ॥ ९८ ॥

तथा निर्णयमें आत्माका । विवेक डूबता उनका ।
प्रवाह डूबता गंगाका । सिंधुमें जैसे ॥ ९९ ॥

या होनेसे आप संपूर्ण । न रहा आशाका कारण ।
न करता इच्छा गगन । परे जानेकी ॥ ३०० ॥

जैसे है अग्निका डोंगर । न लेता बीज अंकुर ।
उसके मनमें विकार । न आते वैसे ॥ १ ॥

निकलते ही मंदराचल । हुवा क्षीर-सागर निश्चल ।
उसमें कामोर्मियोंका उबाल । नहीं होता ॥ २ ॥

षोडश कलायुत चंद्र-पूर्ण । न दीखे किसी ओरसे अपूर्ण ।
वैसे अपेक्षाका न्यून उत्पन्न । न होता उसमें ॥ ३ ॥

निरूपका कैसे करूं वर्णन । आंधीमें नहीं टिकता रजकण ।
वैसे नहीं आते विषय अर्जुन । उसके सम्मुख ॥ ४ ॥

एवं जिन्होंने किये ऐसे । यज्ञ ज्ञानाख्य हुताशसे ।
वहां वे मिलते हैं वैसे । मानो स्वर्णमें स्वर्ण ॥ ५ ॥

मेरा वह परम पद—

वहां कहा तो कहां । पूछेगा यदि यहां ।
न पहुंचता जहां । नाशका नाम ॥ ६ ॥

दृश्यत्वसे जो देखा जाता । या ज्ञेयत्वसे जाना जाता ।
अमुक ऐसे कहा जाता । ऐसा नहीं जो ॥ ७ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

किंतु जो दीपके प्रकाशसे । या चन्द्राग्निके प्रकाशनेसे ।
अधिक क्या कहूं मैं इससे । न प्रकाशता सूर्यसे भी ॥ ८ ॥

ऐसे प्रकाशसे जो दीखता । उससे वह नहीं दीखता ।
जिससे विश्व दर्शित होता । उससे वह लोप ॥ ९ ॥

खोता जब शुक्तापन । भासता रजतपन ।
या लोपसे सर्पपन । दीखता डोरा ॥ ३१० ॥

श्रेष्ठ जो चंद्र-सूर्यादिक । बडे हैं प्रकाश दायक ।
उसके अंधारमें देख । प्रकाशते हैं ॥ ११ ॥

प्रकाशता नहीं सूर्य उसको अग्नि चंद्र भी ।
न लौटता वहां जाके मेरा उत्तम धाम जो ॥ ६ ॥

तेजकी वह महा-रास । सर्व-भूतात्मक निवास ।
चंद्र-सूर्यका भी मानस । उजलाता है ॥ १२ ॥

तभी चंद्र सूर्य हैं स्फुलिंग । उस प्रकाशके हैं अंग ।
सभी तेज हैं उसके भाग । जो है तेजस्वी ॥ १३ ॥

तथा होते ही जिसका उदय । लोपता विश्व सह चंद्र-सूर्य ।
जैसे होते ही सूर्यका उदय । लोपते चंद्र तारा ॥ १४ ॥

अथवा आते ही जागृति काल । मिटता है स्वप्न-राज्य विशाल ।
तथा नहीं रहता मृग-जल । सूर्यास्तमें जैसे ॥ १५ ॥

उस तत्वके पास । नहीं कोई आभास ।
परम धाम खास । मेरा वह ॥ १६ ॥

जो जो कोई वहां गये । लौट कर नहीं आये ।
सागरमें मिल गये । स्रोत जैसे ॥ १७ ॥

अथवा नमकका कुंजर । डूब गया लवण सागर ।
कभी न आयेगा लौटकर । उसी भांति ॥ १८ ॥

या पहुंची जो अंतराल । नहीं लौटती अग्नि-ज्वाल ।
तप्त लोहेपे पडा जल । न लौटता जैसे ॥ १९ ॥

वैसे मुझसे हुवा मिलन । ज्ञानाग्निमें शुध्द जो अर्जुन ।
नहीं होगा पुनरागमन । उसका कभी ॥ ३२० ॥

ब्रह्म लीन हो कर जो नहीं लौटते वे मूलतः अभिन्न है या भिन्न ?—

कहता प्रज्ञा-भूमि-पति पार्थ । जी जी प्रसाद किंतु एक बात ।
विनय करता हूं देना चित्त । कृपा पूर्वक ॥ २१ ॥

प्रभुसे जो स्वयं एक होते । तथा लौटकर नहीं आते ।
वे प्रभुसे हैं अभिन्न होते । अथवा भिन्न ॥ २२ ॥

यदि भिन्न ही है अनादि सिध्द । तो नहीं आते यह असंबध्द ।
सुमनमें जाकर ही षट्पद । सुमन होगा कैसे ? ॥ २३ ॥

अजी ! लक्ष्यसे जो भिन्न ऐसे । बाण लक्ष्य स्पर्श कर जैसे ।
लौटकर आते ही हैं जैसे । आएंगे ही ॥ २४ ॥

या वे तू ही है स्वभावसे । किसको मिलना किससे ।
अपनेको आप शस्त्रोंसे । कैसे चितेरें ॥ २५ ॥

यदि हैं तुझसे अभिन्न जीव । तेरा ही संयोग वियोग देव ।
नहीं कहा जाता है अवयव । शरीरसे जैसे ॥ २६ ॥

तथा जो सदा भिन्न हैं तुझसे । नहीं मिल सकते कभी वैसे ।
फिर लौटते हैं या नहीं वहांसे । यह बात है व्यर्थ ॥ २७ ॥

तब तेरा रूप देख कर । नहीं आते हैं जो लौट कर ।
वह कौन कह कृपा कर । विश्वतोमुख देव ॥ २८ ॥

वह संदेह जो अर्जुनका । सुन शिरोमणि सर्वज्ञका ।
तुष्ट हुवा अपने शिष्यका । बोध देख कर ॥ २९ ॥

कहते हैं तब महामते । मुझे पाकर जो न लौटते ।
उनमें दोनों भांतिके होते । भिन्न औ' अभिन्न ॥ ३३० ॥

जीव मुझसे अभिन्न भिन्न हैं—

देखा तो यदि गहराईसे । मैं हूं वे समरसैक्यसे ।
तथा देखे तो ऐसे या वैसे । मुझसे भिन्न ॥ ३१ ॥

जैसे पानीसे भिन्न सकल । दीखते हैं उठते कल्लोल ।
नहीं तो तरंग केवल । पानी ही पानी ॥ ३२ ॥

अथवा स्वर्णसे हैं भिन्न । दीखते हैं सब भूषण ।
किंतु वह स्वर्ण ही स्वर्ण । संपूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥

वैसे ही ज्ञानकी दृष्टिसे । अभिन्न सदा हैं मुझसे ।
भिन्नता दीखती जिससे । वह है अज्ञान ॥ ३४ ॥

देखें यदि आत्म-दृष्टिसे । मुझे छोड़ दूसरा कैसे ।
भिन्नाभिन्न व्यवहारसे । जानेगा जो ॥ ३५ ॥

सारा ही आकाश निगलकर । व्याप्त होता ब्रह्मांड भास्कर ।
तब कहां प्रति-बिंब और । कहां रश्मि-जाल ॥ ३६ ॥

अथवा कल्पांतमें भरा नीर । उसमें कैसे ओघ धनुर्धर ।
कैसे होंगे मुझमें अविकार । अंशादि तब ॥ ३७ ॥

किंतु जैसे ओघके कारण । ऋजु नीर दीखे वक्र बन ।
रविको भिन्न पन अर्जुन । आता नीरमें ॥ ३८ ॥

गगन वर्तुल या चौकोर । कैसे मिलेगा पांडुकुमार ।
घट मटसे घिर आकार । दीखेगा वैसे ॥ ३९ ॥

अजी ! निद्राका ले आधार । स्वप्नमें राजा बनकर ।
अकेलेसे ही जग भर । होता राज्य ॥ ३४० ॥

या मिलनेसे कस हीन । शुध्द स्वर्ण जैसे अर्जुन ।
कसमें उतरता निम्न । वैसे मैं स्वमायामें ॥ ४१ ॥

उससे फैलता है अज्ञान । कोऽहं भावका उठता प्रश्न ।
विचारके कहता मन । मैं देह हूं ऐसे ॥ ४२ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीर है जितना आत्मज्ञान भी है अपना—

ऐसे शरीर है जितना । आत्म-ज्ञान भी आपना ।
जिससे है अनुभवना । मेरा अल्पांश ॥ ४३ ॥

वायु संयोगसे है सागर । उमडता ले तरंगाकार ।
वह समुद्रांश धनुर्धर । दीखता अल्प ॥ ४४ ॥

वैसे जडको चेतना देता । देहाहंता प्रकट करता ।
मैं जीव हूं ऐसा भास होता । जीव लोकका ॥ ४५ ॥

जगमें अंश मेरा ही हुआ जीव सनातन ।
खींचता है प्रकृतीसे मन औ' पांच इंद्रियां ॥ ७ ॥

किंतु जो जीवका बोध देता । हलचल प्रकट करता ।
तभी वह शब्द अर्थ देता । लोकमें जीव ॥ ४६ ॥

जन्मना तथा मरना । इसको सच मानना ।
मेरा संसार कहना । यह जीवलोक ॥ ४७ ॥

ऐसे जीवलोकमें अर्जुन । करता मेरा अवलोकन ।
जैसे चन्द्रमा नीरमें जान । जो उदकातीत ॥ ४८ ॥

जैसे कभी कोई स्फटिक । केशर पर पड देख ।
प्रकट होता लाल देख । किंतु न होता लाल ॥ ४९ ॥

वैसे अनादिपन नहीं टूटता । अकर्तापन मेरा नहीं भंगता ।
किंतु कर्ता भोक्ता ऐसा भासता । यह भ्रम है जान ॥ ३५० ॥

या आत्मा है जो निर्विकार । प्रकृतिसे हो एकाकार ।
प्रकृतिके धर्मानुसार । देखता अपनेमें ॥ ५१ ॥

मन सह सभी इंद्रिय । करते प्रकृतिका कार्य ।
उन्हें अपना धनंजय । होना प्रवृत्त ॥ ५२ ॥

स्वप्नमें जैसे कोई परिव्राजक । आप अपना कुटुंब होके देख ।
भागदौड़ करता मोह मूलक । जैसे वैसे भी ॥ ५३ ॥

वैसे है अपनी ही विस्मृति । आत्मा आप ही होता प्रकृति ।
उसीको मान सुभद्रापति । भजता उसीको ॥ ५४ ॥

मन रथ पर चढ़कर । श्रवण द्वारसे हो बाहर ।
शब्द-काननमें भयंकर । घुसता है वह ॥ ५५ ॥

वैसे ही प्रकृतिकी रास । त्वचाके हाथमें दे खास ।
स्पर्श-द्वारसे है प्रवास । करता वनमें ॥ ५६ ॥

अजी ! कभी किसी अवसर । नेत्र-द्वारसे पड़ बाहर ।
चढ़ता है रूपका डोंगर । स्वैर-भावसे ॥ ५७ ॥

वैसे ही रसनाका पथ । चलकरके वह पार्थ ।
रस भरने उदरार्थ । लगता वह ॥ ५८ ॥

अथवा पथ कर घ्राण । देहेश करता गमन ।
फिर जो गंधके दारुण । अरण्य लांघता ॥ ५९ ॥

ऐसे वह इंद्रिय नायक । करके मनको सहायक ।
शोधते जाता है शब्दादिक । विषय सारे ॥ ३६० ॥

शरीरं यद्वाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जाते समय जीव इंद्रियोंके साथ जाता है—

किंतु ऐसे कर्ता भोक्ता । जिवन-रूप दीखता ।
जैसे तनमें करता । यह प्रवेश ॥ ६१ ॥

अजी! कोई विलासी तथा धनिक । जाना जाता है उसी समय देख ।
बसता है जब वह हो स्थाइक । राजधानीमें ॥ ६२ ॥

वैसे बढ़ता कर्तृत्व अहंकार । विषयेंद्रिय-तांडव धनुर्धर ।
जाना जाता है तभी पाता शरीर । जब यह जीव ॥ ६३ ॥

अथवा छोड़ता है शरीर । तब इंद्रियां निकाल कर ।
अपने ही साथ धनुर्धर । ले जाता है ॥ ६४ ॥

जैसे अपमानित अथिति । ले जाता है सुकृत-संपत्ति ।
या ले जाता है गुड्डेकी गति । सूत्र-तंतू ॥ ६५ ॥

अथवा प्रकाश अस्तमान । ले जाता है सबका दर्शन ।
अथवा है सुगंध पवन । ले जाता जैसे ॥ ६६ ॥

वैसे मन सह इंद्रियां । देह-राज है धनंजय ।
शरीर तजते समय । ले जाता है ॥ ६७ ॥

जैसे पुष्पादिसे वायु ले जाता गंध खींचके ।
वैसे लेकर ये ईश छोडता धरता तन ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यहां अथवा स्वर्गमें फिर । लेता जिस देहका आधार ।
करता है वैसा ही विस्तार । मन-इंद्रियोंका ॥ ६८ ॥

जैसे बुझते ही ज्योति । ले जाती अपनी दीप्ति ।
फिर जब है जलती । वैसा ही प्रकाश ॥ ६९ ॥

किंतु ऐसे है जो परिवर्तन । करते अविवेकीके नयन ।
जानते इतना तो अर्जुन । समान्य बात ॥ ३७० ॥

आत्मा है जो शरीरमें आया । उसीने विषय भोग किया ।
या वही शरीर छोड गया । इतना जानते ॥ ७१ ॥

वैसे आना तथा जाना । करना है या भोगना ।
देहका कार्य है माना । उसने आत्माका ॥ ७२ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्तिज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

योगी आत्म-धर्म आत्मामें तथा देह-धर्म देहमें देखता है—

किंतु छोटासा देह उत्पन्न । तथा देख उसमें चेतन ।
या उसमें देख आंदोलन । कहते वह आया ॥ ७३ ॥

श्रोत्र जिह्वा त्वचा चक्षु घ्राण औ' साथ ही मन ।
आधार इनका लेके सारे विषय भोगता ॥ ९ ॥
तजता धरता देह भोगता गुण-मुक्त जो ।
न देखते इसे मूढ देखते ज्ञान चक्षु ही ॥ १० ॥
यत्नसे देखते योगी इसको हियमें बसे ।
चित्त-हीन अशुद्धात्मा यत्नसे भी न देखतें ॥ ११ ॥

वैसे ही इंद्रियां उसके साथ । करती अपना व्यापार पार्थ ।
उसको कहते लोग यथार्थ । भोगना ऐसे ॥ ७४ ॥

भोग-क्षीणसे पीछे स्वाभाविक । शरीर गिरता है यह देख ।
वह गयारे गया ऐसे चीख-। कहते हैं बसे ॥ ७५ ॥

जैसे देखके वृक्ष हिलता । कहते हैं पवन बहता ।
किंतु जहां वृक्ष नहीं होता । नहीं क्या पवन ॥ ७६ ॥

या रखकर सम्मुख दर्पण । उसमें कर अपना दर्शन ।
भासता आप हुवा है उत्पन्न । उससे पूर्व नहीं क्या ॥ ७७ ॥

या परे हठाके दर्पण । अपना लोप हुवा मान ।
आप नहीं ऐसे अर्जुन । ऐसा मानना क्या ॥ ७८ ॥

शब्द है जैसे आकाशका । किंतु माना जाता मेघका ।
या चंद्रके वेग अभ्रका । करता आरोप ॥ ७९ ॥

वैसे शरीरका आवगमन । निर्विकार आत्मापे आरोपण ।
करते हैं वे भ्रमसे अर्जुन । निश्चय-पूर्वक ॥ ३८० ॥

आत्मामें यहां आत्म-धर्म । तथा देहमें देह-धर्म ।
जानते जो इसका मर्म । वे हैं दूसरे ही ॥ ८१ ॥

ज्ञानसे हैं जिसके नयन । देखते हैं आत्म भेदके तन ।
मेघ-भेदमें सूर्य-कीरण । ग्रीष्ममें जैसे ॥ ८२ ॥

वैसे ही कर विवेक विस्तार । ज्ञानियोंकी बुद्धि होती है स्थिर ।
देखते आत्माको वैसे ही धीर । इस भांतिसे ॥ ८३ ॥

जैसे तारागणसे भरा गगन । जलमें पडा है दीखता अर्जुन ।
किंतु नहीं पडा टूटके गगन । यह जानते वैसे ॥ ८४ ॥

गगनके स्थानपे है गगन । यह केवल है आभास जान ।
वैसे हैं आत्म-शरीर भिन्न । मानते हैं वे ॥ ८५ ॥

कलकल बहते पानीमें चंचल । दिखती है चांदनीकी जो हलचल ।
चांदनी होती चंद्रके साथ निश्चल । जानके देखते है ॥ ८६ ॥

या डबरा ही भरता सूखता । सूर्य जैसेका वैसा है रहता ।
वैसे ही शरीर आता औ' जाता । देखते हैं ऐसे ॥ ८७ ॥

घट मट बनाये । वैसे ही तोड़ दिये ।
आकाश रह गये । सदा अखंड ॥ ८८ ॥

वैसे अखंड आत्म-सत्ता । तन है जो आता जाता ।
अज्ञान-दृष्टिसे कल्पित । जानते हैं ज्ञानी ॥ ८९ ॥

चैतन्य न बढता न घटता । वह कर्म न करता कराता ।
ऐसे आत्म ज्ञानसे है जानता । शुद्ध-रूपसे ॥ ३९० ॥

तथा स्वाधीन होगा संपूर्ण ज्ञान । प्रज्ञा परमाणुका अंतदर्शन ।
सकल शास्त्रोंका रहस्य अर्जुन । किसी समय ॥ ९१ ॥

किंतु है ऐसी इसकी उत्पत्ति । मनमें न रही यदि विरक्ति ।
होती कभी सर्वात्मकी प्राप्ति । विद्वत्तासे ॥ ९२ ॥

मुखमें भरा है सदैव ज्ञान । अंतःकरणमें विषयोंका स्थान ।
इससे न होगी प्राप्ति अर्जुन । मेरी कभी ॥ ९३ ॥

करनेसे ग्रंथ पठन । टूटेगा भव-बंधन ।
करनेसे ग्रंथ स्पर्शन । होगा क्या पाठ ? ॥ ९४ ॥

आंखमें पट्टी बांधकर । नाकसे मोति सूंधकर ।
समझेगा क्या धनुर्धर । उसका मूल्य ॥ ९५ ॥

वैसे चित्तमें अंहताका स्थान । जिव्हा पर शास्त्र संपूर्ण ।
इससे नहीं होगा मेरा ज्ञान । करोडों जन्मोंमें ॥ ९६ ॥

मैं अकेला सबमें भरा हुवा हूं—

एक हूं मैं सबमें व्याप्त । भूतमात्रमें हूं समस्त ।
कहता हूं मैं यही बात । स्पष्ट रूपसे ॥ ९७ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

वैसे सूर्य सह जो संपूर्ण । विश्वकी रचना है अर्जुन ।
प्रकाश वह मेरा ही जान । आद्यंत है जो ॥ ९८ ॥

जल सोखकर लेता सविता । जलांश जो बादमें है रहता ।
चंद्रमें रहती है जो पांडुसुता । जोत्स्ना वह मेरी ॥ ९९ ॥

तथा दहन पचन सिध्दि । करता रहता निरवधि ।
हुतामें वह तेजोवृद्धि । जान मेरी ही ॥ ४०० ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

प्रवेश किया मैंने भूतलमें । तभी यह महासिंधु जलमें ।
नहीं पिघला है युग-युगमें । मृत्तिका पिंड ॥ १ ॥

तथा भूत ही स-चराचर । धरा है धरतीने अपार ।
पृथ्वी-तलमें प्रवेश कर । उसको धरा मैंने ॥ २ ॥

गगनमें मैं पांडुसुत । चंद्रके रूपसे अमृत ।
भरा हुवा मैं स्वचलित । बना सरोवर ॥ ३ ॥

वहांसे निकलते रश्मिकर । उनको धरकर मैं अपार ।
सभी वनस्पतियोंका आगर । भरता रहता मैं ॥ ४ ॥

इससे सस्यादिक सकल । करते धान्यादिका सुकाल ।
तथा अन्नादिसे प्रतिपाल । करता सबका ॥ ५ ॥

सकल जन जीवनका जीवन 'वैश्वानर' मैं हूं—

ऐसे उत्पन्न किया हुवा अन्न । जिस भांति करके मैं दीपन ।
जिससे जीवका हो समाधान । करता हूं ऐसे ॥ ६ ॥

सूर्यमें जलता तेज विश्वको है प्रकाशता ।
चंद्रमें अग्निमें वैसे मेरा ही तेज जान तू ॥ १२ ॥
धृतिके बलसे भूत धरता मैं धरा बना ।
पोसता वनस्पतीको रससे भर सोम मैं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

प्राणिमात्रके नाभि-कंदपर । अंगीठी बनके पांडुकुमार ।
जलता हूं मैं दीप्ति बनकर । जठरमें सदैव ॥ ७ ॥

धौंकनी बनाकर प्राणापान । फूंकता रहता हूं रात दिन ।
पचा डालता मैं कितना अन्न । इसी उदरमें ॥ ८ ॥

शुष्क अथवा स्निग्ध । सुपक्व या विदग्ध ।
किंतु मैं चतुर्विध । पचाता अन्न ॥ ९ ॥

ऐसे मैं ही हूं सकल जन । जीवनका हूं सार-जीवन ।
औ' जीवनका मुख्य-साधन । वैश्वानर मैं हूं ॥ ४१० ॥

कहूं क्या इससे अधिक पार्था । मेरी सर्व-व्यापककी कथा ।
विश्वमें दूसरा नहीं सर्वथा । मेरे बिन कुछ भी ॥ ११ ॥

संसारमें कुछ सुखी और कुछ दुखी क्यों ?—

किंतु इसका कारण । सदा सुखी हैं कुछ जन ।
तथा कुछ दुःख मगन । दीखते यहां ॥ १२ ॥

अजी ! संपूर्ण नगरमें जैसे । दीप जलते एक ही दीपसे ।
किंतु कुछ जलते उसमेंसे । कुछ बुझते क्यों ? ॥ १३ ॥

यहां करता ऐसा संशय । तेरा मन यदि धनंजय ।
अबका है उत्तम समय । संदेह निवृत्तिका ॥ १४ ॥

मैं भर रहा यहां संपूर्ण । इसमें अन्यथा नहीं जान ।
जिसका जैसा अंतःकरण । दीखता वैसे ॥ १५ ॥

जैसे आकाशध्वनि है जो एक । गूंजता नाद बन अनेक ।
भिन्न भिन्न वाद्योंमेंसे तू देख । धनंजय ॥ १६ ॥

वैश्वानर बना मैं ही जीवोंके तन में बसा ।
पचाता अन्न चारो ही प्राण अपान फूंकके ॥ १४ ॥

या एक सूर्य जैसे अर्जुन । लोक चेष्टासे होकर भिन्न।
उपयोग होता अनुदिन । देखता है तू ।। १७ ।।

नाना बीज धर्मानुरूप । वृक्ष रस बनता आप ।
वैसे बदलता स्वरूप । जीवमें मेरा ।। १८ ।।

जैसे नीलमणिका हार । सर्पत्व लेता भयंकर ।
सुखद होता निरंतर । जब दूसरेको ।। १९ ।।

अथवा जैसे स्वातीका उदक । सींपमें मोति औ, व्यालमें विष ।
वैसे सु ज्ञानियोंको मैं हूं सुख । दुख अज्ञानियोंको ।। ४२० ।।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।। १५ ।।

सबके हृदयमें जो आत्म-स्फुरण है वह मैं हूं—

वैसे ही होती हृदय मध्यमें । अमुक हू ऐसी उर्मी सबमें ।
वह स्फुरण जो दिन रातमें । होता मैं हूँ ।। २१ ।।

किंतु संत संगमें होता । या योग-ज्ञानमें बैठता ।
गुरु-चरण उपासता । वैराग्यसे ।। २२ ।।

ऐसे ही सत्कर्ममें नित । अज्ञान नष्ट होता पार्थ ।
उसका होता अहं स्थित । आत्म-रूपमें ।। २३ ।।

वे अपने आपको देख । पाते मुझ आत्मामें सुख ।
मेरे बिन भिन्न न देख । कभी कहीं ।। २४ ।।

सर्वांतरोंमें करता निवास
देता स्मृति ज्ञान विवेक मैं ही ।
मैं ही अकेला चिर वेद-वेद्य
वेदज्ञ मैं वेद रहस्य कर्ता ।। १५ ।।

अजी ! होता है जब सूर्योदय । देखता जैसे सूर्यको ही सूर्य ।
वैसे मेरे ज्ञानका धनंजय । कारण मैं ही ॥ २५ ॥

सबके अज्ञानका कारण भी मैं—

या शरीर सेवामें हो तत्पर । संसार गौरवको सुनकर ।
अहंकार देहमें डूबकर । रहा है जिनका ॥ २६ ॥

वे हैं स्वर्ग संसारार्थ । दौडते कर्ममें पार्थ ।
तथा होते हैं दुःखार्थ । मेरे ही कारण ॥ २७ ॥

यह होता भी है अर्जुन । मेरे कारण है अज्ञान ।
जागृत ही देखता स्वप्न । या निद्रा लेता ॥ २८ ॥

जिन बादलोंने सूर्यको छिपाया । उसी सूर्यसे बादल देखा गया ।
मेरे अज्ञानसे वैसे देख लिया । विषय जीवोंने ॥ २९ ॥

जैसे निद्रा या जागृतिका । प्रबोध कारण मूलका ।
वैसे ज्ञानाज्ञान जीवोंका । कारण मैं हूं ॥ ४३० ॥

जैसे सर्पत्वका कारण डोर । वह डोर ही मूल धनुर्धर ।
वैसे ज्ञानाज्ञानका व्यवहार । मुझसे होता ॥ ३१ ॥

तभी मैं जैसे हूं वैसे । मुझको न जाननेसे ।
वेदके न जाननेसे । उसकी हुई शाखाएं ॥ ३२ ॥

तो भी वेदोंके शाखा-भेदसे । मैं ही एक जाना जाता वैसे ।
सभी ओरकी नदियां जैसे । मिलती सिंधुमें ॥ ३३ ॥

वैसे महा-सिद्धांतके पास पार्थ । श्रुतियां खो जाती हैं शब्द सहित ।
अथवा आकाशमें गंध सहित । वायु-लहरियां ॥ ३४ ॥

वैसे हैं समस्त श्रुतिजात । होते लजाकर जैसे शांत ।
उसका मैं करता यथार्थ । अर्थ प्रकट ॥ ३५ ॥

फिर श्रुति सह जो अशेष । विश्व खो जाता यहां निःशेष ।
वह निज ज्ञान भी विशेष । जानता मैं ही ॥ ३६ ॥

जैसे निद्रितको कर जागृत । तब न जानता स्वप्नका द्वैत ।
किंतु करना एकत्व प्रतीत । अपना ही जो ॥ ३७ ॥

वैसे अपना अद्वयपन । जानता हूं मैं द्वैतके बिन ।
उसका भी हूं बोध कारण । जाननेका मैं ही ॥ ३८ ॥

आगसे मिला कपूर । न राख न वैश्वानर ।
न रखता धनुर्धर । उसी भांति ॥ ३९ ॥

वैसे समूल अविद्या खाता । वह ज्ञान भी जो डूब जाता ।
जब नहीं ऐसा न रहता । तब है भी कैसे ॥ ४४०॥

मार्ग सह विश्व ले गया जो अर्जुन । उस चोरको पकडेगा कैसे कौन ।
ऐसी व्यवस्था है जो विशुध्द तू जान । वह मैं हूँ ॥ ४१ ॥

ऐसी जो जड़ाजड़ व्याप्ति । कहता है कैवल्यपति ।
अपने रूपकी पूर्ति । निरुपाधिक मैं ॥ ४२ ॥

वह बोध है ऐसा संपूर्ण । बिंबित हुवा पार्थमें जान ।
नभके पूर्ण-चंद्रसमान । क्षीरार्णवमें ॥ ४३ ॥

या जैसे दर्पणमें बिंबत होता । उसके सम्मुख जो चित्र रहता ।
वैसे कृष्ण औ' पार्थ अनुभावता । एक ही बोध ॥ ४४ ॥

फिर भी है वह वस्तु-स्वभाव । बढ़ता जाता प्रिय अनुभव ।
तभी वह अनुभवका राव । कहता अर्जुन ॥ ४५ ॥

कहनेमें अब व्यापकत्व । कहगया निरुपाधिकत्व ।
प्रसंगवश स्वस्वरूपत्व । कहनेमें देव ॥ ४६ ॥

कहना वह एक बार । पूर्णरूपसे कृपाकर ।
श्रीकृष्ण यह सुनकर । कहता भला ॥ ४७ ॥

हमको भी पांडुसुता । इसको कहना भाता ।
किंतु ऐसा प्रश्न कर्ता । मिलता नहीं ॥ ४८ ॥

आज मनोरथका फल । मिला है तू यहां केवल ।
खुलकर यह सकल । पूछनेको ॥ ४९ ॥

द्वैत-गुरु-शिष्यसंवाद्-से अद्वैतके पारका अनुभव—

अद्वैतके पारका जो भोगना । वह भोग-सुख अनुभवना ।
पूछ कर देता है तू अर्जुन । मुझको मेरा ॥ ४५० ॥

सम्मुख होता है जब दर्पण । आप करता अपना दर्शन ।
वैसे शुध्द संवादमें अर्जुन । शिरोमणि है तू ॥ ५१ ॥

तेरा अजानसे पूछना । हमको कहते बैठना ।
ऐसा नहीं इसे जानना । सखा मेरे ॥ ५२ ॥

ऐसा कह दिया आलिंगन । कृपा-दृष्टिसे अवलोकन ।
फिर किया हरिने कथन । अर्जुनसे क्या ॥ ५३ ॥

जैसे दो होंठोंसे एक बोलना । दो ही चरणसे एक चलना ।
वैसे दोनोंका पूछना कहना । तेरा मेरा ॥ ५४ ॥

ऐसे हम तुम यहां । देखना एक ही जहां ।
पूछना कहना यहां । दोनों एक ॥ ५५ ॥

लुब्ध हुये देव मोहसे । अर्जुनके अलिंगनसे ।
फिर कहते संकोचसे । यह नहीं उचित ॥ ५६ ॥

इक्षुदंड रसकी भेली । नासती लवणसे भली ।
संवाद-सुख क्रीडा भली । नासेगी जैसे ॥ ५७ ॥

अजी पहलेसे हममें नहीं । नर-नारयणमें द्वैत कहीं ।
लीन हो अब मेरा मुझमें ही । यह आयेगा ॥ ५८ ॥

इस सोचसे अकस्मात । श्रीकृष्ण कहता है पार्थ ।
तूने प्रश्न किया उचित । वह कैसा ॥ ५९ ॥

अर्जुन या कृष्णमें लीन । लौट कर आया वह सुन ।
अपना ही किया हुवा प्रश्न । अब सम्मुख ॥ ४६० ॥

यहां गद्गद हो बोलता । अर्जुन जी ! जी ! कहता ।
निरुपाधिक जो होता । अपना कह ॥ ६१ ॥

शार्गंधर सुन बोला तब । वही कहने लिये अब ।
कहने लगा जो दोनों भाग । अपनी उपाधिके ॥ ६२ ॥

भगवानकी उपाधिकता—

पूछा था निरुपाधिक । कहता है उपाधिक ।
एसा प्रश्न स्वाभाविक । उठेगा यहां ॥ ६३ ॥

अजी ! छासको अलग करना । कहा जाता मक्खन निकालना ।
हीन कस धातु सब जलना । स्वर्ण-शुद्धि ॥ ६४ ॥

या काईको दूर करना । विशुध्द जलको पा लेना ।
तथा बादलोंका हटना । आकाश शुध्द ॥ ६५ ॥

ऊपरसे ढका चोकर । फटकके किया तो दूर ।
शुध्द अनाजका स्वीकार । होता आप ॥ ६६ ॥

वैसे उपाधि उपाहित । विचारनेसे व्यवस्थित ।
किसीसे न पूछते ज्ञात । होता निरूपाधिक ॥ ६७ ॥

जिस भांति मौन रहकर । बाला प्यारसे सकुचाकर ।
पति नाम शब्द मारकर । कहती वैसे ॥ ६८ ॥

जो है न कहने जैसा । कहना पडा है ऐसा ।
तभी उपाधिसे वैसा । कहता श्रीहरी ॥ ६९ ॥

प्रतिपदाकी चंद्ररेखा । दिखाना हो तो वृक्ष-शाखा ।
दिखाते वैसे उपाधिका । करते वर्णन ॥ ४७० ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

पुरुष लोकमें है दो क्षर तथैव अक्षर ।
क्षर हैं सब ये भूत अक्षर स्थिर है वह ॥ १६ ॥

क्षराक्षर पुरुष विचार—

श्री कृष्णने फिर बात की । इस संसार नगरकी ।
वसति है दो पुरुषोंकी । केवल मात्र ॥ ७१ ॥

गगनमें जैसे संपूर्ण । बसते हैं रात औ, दिन ।
संसार नगरमें मान । वैसे ये दो हैं ॥ ७२ ॥

तीसरा भी एक पुरूष रहता । वह इनका नाम नहीं सहता
गांव सह वह इन्हे निगलता । होता जब प्रकट ॥ ७३ ॥

रहने दो तीसरेकी वार्ता । सुनो अब इन दोकी कथा ।
इस संसार ग्राममें पार्था । बसने आये जो ॥ ७४ ॥

एक है अंधा पगला लूला । दूजा सर्वांग पूर्ण है भला ।
ग्राम-गुणोंसे संग केवल । हुवा उनका ॥ ७५ ॥

उनमें है एक क्षर । दूसरा जो है अक्षर ।
दोनोंसे यह संसार । भरा है ठसाठस ॥ ७६ ॥

सुन अब क्षर है कौन । अक्षरका क्या लक्षण ।
अभिप्राय यह संपूर्ण । कहूंगा तुझको ॥ ७७ ॥

जहां है महदकार । वहांसे है धनुर्धर ।
यहां है जों तृणांकुर । वहां तक ॥ ७८ ॥

जो है बड़ा या थोर । चलता या है स्थिर ।
या जो होता गोचर । मन-बुद्धिसे ॥ ७९ ॥

जो कुछ पंच-भूतसे बनता । नाम-रूपमें आकर फंसता ।
तथा टकसालसे निकलता । गुणत्रयोंकी ॥ ४८० ॥

शिक्का जो है भूताकृतिका । बनाया जाता जो स्वर्णका ।
बनता है वह कालका । द्यूत-बीज ॥ ८१ ॥

जानना ही जो विपरीत । तथा जो कुछ होता ज्ञान ।
वह प्रति-क्षण समाप्त । होता बनके ॥ ८२ ॥

निकाल कर भ्रांतिका नग । खड़ा किया है सृष्टिका अंग ।
पहचाना जाता है जो जग । इस नामसे ॥ ८३ ॥

जो अष्टधा भिन्न ऐसे । दिखाया सातमें जैसे ।
क्षेत्र-द्वारा छत्तीससे । दिखाया है जो ॥ ८४ ॥

पिछला कहना कितना । इसीमें कहा है अर्जुन ।
वृक्षाकार रूप कारण । प्रस्तुत यहां ॥ ८५ ॥

यह सब है जो साकार । देह-कल्पनासे नगर ।
बन गया तदनुसार । चैतन्य आप ॥ ८६ ॥

जैसे कूपमें बन आप ही बिंब । सिंह करता प्रतिबिंबसे क्षोभ ।
फिर उसी क्षेत्रसे है समारंभ । करता कूदनेका ॥ ८७ ॥

या सलिलमें पूर्वका जो होता । व्योम पर व्योम प्रतिबिंबता ।
वैसे अद्वैत होकर भोगता । द्वैत आप ॥ ८८ ॥

अर्जुन ! जो इस प्रकार । पुर कल्पनासे साकार ।
करता आत्मा निद्रा घोर । विस्मृतिकी वहां ॥ ८९ ॥

स्वप्नमें शय्या देख जैसे । स्वप्नमें सो जाते हैं वैसे ।
नगरमें शयन ऐसे । होता आत्माका ॥ ४९० ॥

फिर वह निद्रा मदमें । सुखी या दुखी माननेमें ।
अहंकारकी सभाधिमें । बकता जाता ॥ ९१ ॥

यह जनक या यह माता । यह पुत्र वित्त तथा कांता ।
मैं काला गोरा हीन या शास्ता । मेरा है यह सब ॥ ९२ ॥

ऐसे स्वप्नाश्व पर हो सवार । दौड़ता जो स्वर्ग और संसार ।
उस जीवका नाम धनुर्धर । है क्षर पुरुष ॥ ९३ ॥

अब तू सुन यह पार्था । क्षेत्रज्ञ है जो कहलाता ।
या जिसको जीव कहता । सारा विश्व ॥ ९४ ॥

अपना रूप जो भूल जाता । सर्व-भूतत्व अनुसरता ।
वह चैतन्य है कहलाता । क्षर पुरूष ॥ ९५ ॥

वहां है अत्म-रूपसे पूर्णता । इसीलिये है पुरुषता ।
फिर वह देह-पुरमें सोता । पुरुष-नाम ॥ ९६ ॥

तथा क्षरत्वका जो व्यर्थ । उसपे आक्षेप है पार्थ ।
वह है उपाधि-ग्रथित । इसीलिये ॥ ९७ ॥

बहते पानीके साथ जैसे । चंद्रबिंब उछलता वैसे ।
उपाधिके विकारमें ऐसे । दीखता वह ॥ ९८ ॥

या बहता पानी जब सूखता । बिंबित चंद्रमा भी है लोपता ।
वैसे उपाधि-नाशमें लोपता । उपाधि-धारी ॥ ९९ ॥

ऐसे उपाधिके ही कारण । क्षणिकत्व जुडता है जान ।
उपाधि नाशके ही कारण । क्षर यह नाम ॥ ५०० ॥

ऐसे जीव चैतन्य संपूर्ण । है यह क्षर-पुरुष जान ।
अब मैं अक्षरका वर्णन । करूंगा स्पष्ठ ॥ १ ॥

अक्षर पुरुषका वर्णन—

अक्षर यह दूसरा । पुरुष है धनुर्धर ।
मध्यस्थ है गिरिवर । मेरू सामान ॥ २ ॥

यह पृथ्वी पाताल स्वर्गमें । न होता विभाजित तीनोमें ।
वैसे यह ज्ञान अज्ञानमें । पड़ता नहीं ॥ ३ ॥

यहां न यथार्थ ज्ञानमें एकत्व । या विपरीत ज्ञानमें अनेकत्व ।
ऐसे केवल अज्ञान ही जो तत्व । वही यह रूप ॥ ४ ॥

धूलत्व संपूर्ण मिटता । किंतु घटादि नहीं होता ।
जैसा मृत्तिका पिंड होता । ऐसा मध्यस्थ जो ॥ ५ ॥

सूख जानेपे सागर । नहीं तरंग नहीं नीर ।
ऐसी यह अनाकार- । दशा जान ॥ ६ ॥

जागृति नहीं जहां अर्जुन । तथा प्रारंभ न होता स्वप्न ।
इस भांति तम-घन जान । इसका रूप ॥ ७ ॥

विश्वका होता है संपूर्ण अस्त । न होता आत्म-बोध प्रकाशित ।
ऐसी अज्ञान दशा मात्र पार्थ । अक्षर नामकी ॥ ८ ॥

* "अजा" कहनेसे जन्म नहीं । अजन्माको मृत्यु कैसी कहीं ।
इसीलिये अक्षर सही । अज्ञान घन ॥ ९ ॥

जैसे सर्व कला रहित । चन्द्रमा जो मूल रूपित ।
दीखे अमावासके रात । वैसे ही यह ॥ ५१० ॥

होते ही सर्वोपाधि विनाश । लीन होती जहां जीव-दशा ।
फल पाकरके वृक्ष-दशा । बीजमें जैसे ॥ ११ ॥

वैसे उपाधि उपाहित । ये दोनों होते हैं विलुप्त ।
उसको कहते अव्यक्त । पांडुकुमार ॥ १२ ॥

जिसको है बीज भाव । वेदांतमें दिया नांव ।
उस पुरुषका ठाव । अक्षरका ॥ १३ ॥

जहांसे है अन्यथा ज्ञान । फैलकर जागृति स्वप्न ।
नानात्व-बुद्धिमें अर्जुन । घुसे हैं सब ॥ १४ ॥

जहांसे उठता जीवत्व । तथा उठाकर जो शिवत्व ।
इन दोनोंका जहां लयत्व । वह अक्षर पुरुष ॥ १५ ॥

तथा अक्षर पुरुष जनमें । खेलता है जागृति-स्वप्नमें ।
या दोनो अवस्थायें उनमें- । से प्रसवती हैं ॥ १६ ॥

जो है आज्ञनघन सुषुप्ति । ऐसी है उसकी प्रख्याति ।
इसे कहते ब्रह्म-प्राप्ति । यदि न्यून न होता ॥ १७ ॥

वास्तवमें यदि यह पार्था । स्वप्न-जागृतिमें नहीं आता ।
ब्रह्म-भाव ही कहा जाता । इसको ही ॥ १८ ॥

किंतु प्रकृति पुरुष ये दोनों । मेघ बन आये नभमें मानो ।
क्षेत्र-क्षत्रज्ञ ये स्वप्नमें दोनों । दीखते निद्रामें ॥ १९ ॥

---

* अजामेकम् श्रुतिवचन—

रहने दो यह अधो शाख । संसार रूप जो वह रूख ।
उसका यह मूल-पुरुष । जो है अक्षर ॥ ५२० ॥

यह पुरुष क्यों कहलाता । अपने पूर्णत्वमें होता ।
तथा मायापुरीमें है सोता । इससे ही ॥ २१ ॥

और है विश्वका आना जाना । विपरीत ज्ञानका रूप माना ।
इसने है जिसको नहीं जाना । यह है सुषुप्ति ॥ २२ ॥

तभी यह स्वभावता । क्षरना नहीं जानता ।
तथा नाश नहीं होता । ज्ञानके बिन ॥ २३ ॥

इसीलिये यह अक्षर । वेदोंमें पांडुकुमार ।
वेदांत प्रसिध्द डोंगर । हुवा सिध्दांत ॥ २४ ॥

ऐसे जीव कार्य कारण । जिसे माया संग लक्षण ।
अक्षर पुरुष है जान । चैतन्य जो ॥ २५ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

तीसरे पुरुषोत्तमका विवेचन—

अब जो अन्यथा ज्ञानकी । अवस्थायें हैं दो-जनकी ।
खो जाती है वह निद्राकी । अज्ञान-स्थितिमें ॥ २६ ॥

वह अज्ञान जब ज्ञानमें डूबता । तथा वह ज्ञान भी कीर्तिमुख होता ।
जैसे काष्ठ जलाकर स्वयं जलता । वन्ही आप ॥ २७ ॥

ऐसे वह अज्ञान ले गया ज्ञान । पर-तत्व दे गया आप अर्जुन ।
जाननेके बिना रहा ऐसे ज्ञान । केवल मात्र ॥ २८ ॥

कहाता परमात्मा जो तीजा पुरुष उत्तम ।
विश्व-पोषक विश्वात्मा है विश्वेश्वर अव्यय ॥ १७ ॥

वही है जो उत्तम पुरुष । तीसरा क्यों इसका निष्कर्ष ।
उन दोनोंसे भिन्न है देख । यह अंतिम ॥ २९ ॥

सुषुप्ति और स्वप्न । उससे भिन्न अर्जुन ।
जागृति जैसे जान । बोधकी जो ॥ ५३० ॥

किरण अथवा होता मृगजल । उससे भिन्न जैसे सूर्य-मंडल ।
वैसे ही भिन्न यह अति बहुल । उत्तम पुरुष ॥ ३१ ॥

जैसे काष्ठमें काष्ठसे भिन्न । भरा रहता अग्नि अर्जुन ।
वैसे क्षर-अक्षरसे भिन्न । रहता है यह ॥ ३२ ॥

अपनी सीमाओंको निगलकर । नदी नदोंको एक करता नीर ।
पूर्णत्वमें उठता एक होकर । कल्पांतका उदधि ॥ ३३ ॥

वैसे स्वप्न या नहीं सुषुप्ति । नहीं रहती वहां जागृति ।
जैसे निगलता दिन-राति । कल्पांतका तेज ॥ ३४ ॥

फिर नहीं एकत्व या द्वैत । है या नहीं जानता है पार्थ ।
प्रतीति लोप हुई हो दीप्त । रहा नहीं कुछ ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो कुछ है । वही उत्तम-पुरुष है ।
इसीको सब कहते हैं । परमात्मा ॥ ३६ ॥

वह भी यहां लय नहीं होके । बोलना जीवत्वमें ही रहके ।
बोलना किनारेमें ही बैठके । डूबे हुएकी बातें ॥ ३७ ॥

वैसे विवेक तट पर । कहते खडा रहकर ।
पैल तीरकी धनुर्धर । बातें वेद ॥ ३८ ॥

तभी पुरुष क्षराक्षर । दोनों देखके इस और ।
इसके कहते हैं पर- । आत्म-रूप ॥ ३९ ॥

यहां है इस प्रकार । परमात्म शब्द पर ।
सुनाते हैं धनुर्धर । पुरुषोत्तम ॥ ५४० ॥

वैसे है मौनसे ही बोलना । न जाननेसे वहां जानना ।
तथा न होनेसे ही है होना । वह तत्व ॥ ४१ ॥

सोऽहम् भाव है अस्त होता । कहनेवाला कोई न होता ।
द्रष्टत्व सह जाना है पार्थ । जाना दृष्य भी ॥ ४२ ॥

बिंब तथा है प्रतिबिंबकी । न ले सकते प्रभा बीचकी ।
कहना नहीं प्रभा कहांकी । ऐसे कभी ॥ ४३ ॥

घ्राण तथा पुष्पके मध्य । सुवास रहता है हृद्य ।
आंखोंसे दीखना असाध्य । उसे ना कहना ॥ ४४ ॥

वैसे दृष्यादृष्य दोनों मिटता । फिर क्या है यह कौन कहता ।
इसी अनुभवसे है देखता । वह जो रूप ॥ ४५ ॥

वह है प्रकाश बिन प्रकाश । ईशितव्यके बिना है जो ईश ।
अपनेसे भरता अवकाश । आप ही सारा ॥ ४६ ॥

नादसे जो सुनना नाद । स्वादसे है चखना स्वाद ।
अनुभवना जो आनंद । आनंदसे ही ॥ ४७ ॥

सुख ही जहां सुख पाता । तेजसे है तेज मिलता ।
शून्य भी जहां डूब जाता । महाशून्यमें ॥ ४८ ॥

पूर्णताका जो परिणाम । पुरुष वह सर्वोत्तम ।
विश्रांतिका भी है विश्राम । जहां लेता विश्रांति ॥ ४९ ॥

विकार पर भी जो रहता । ग्रासको ग्रासकर पूर्णता ।
बहुतसे जो बहुत होता । बहुत गुना ॥ ५५० ॥

चैतन्य विश्वाकार कैसे दीखता है ?—

जो अज्ञानीके प्रति । रजतकी प्रतीति ।
चांदी न होके शुक्ति । करती जैसे ॥ ५१ ॥

अथवा जो अलंकार रूपमें । न छिपके सोना छिपता उसमें ।
विश्व न होकर भी वैसे विश्वमें । वह है विश्वाधार ॥ ५२ ॥

अथवा जैसे जल तरंग । पानीसे रहता है अभंग ।
वैसे प्रतीत करता जग । वह है प्रकाश ॥ ५३ ॥

अपने संकोच विकास । आप ही कारण वीरेश ।
जलमें चन्द्र होता जैसा । स्वयं आप ॥ ५४ ॥

वैसे विश्वात्ममें जो कुछ होता । विश्व-लोपसे कहीं नहीं जाता ।
जैसे रात दिनमें नहीं होता । दो प्रकारका सूर्य ॥ ५५ ॥

वैसे कहीं किसी ओरसे । कम नहीं होता किसीसे ।
सदैव रहता है वैसे । अपना-सा वह ॥ ५६ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

पुरुषोत्तमका विवेचन—

अपनेसे ही जो अर्जुन । प्रकाशता आप है जान ।
क्या कहूँ उसके समान । नहीं अन्य ॥ ५७ ॥

वह हूँ मैं निरुपाधिक । क्षराक्षरोत्तम हूँ एक ।
इसीलिये वेद और लोक । कहते पुरुषोत्तम ॥ ५८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

ऐसा जो मैं पुरुषोत्तम । जानना मुझे प्रियोत्तम ।
उदय होते ही उत्तम । ज्ञान सूर्य ॥ ५९ ॥

होते ही जागृतिका ज्ञान । मिट जाता है जैसे स्वप्न ।
स्फुरता उसे त्रिभुवन । सारा व्यर्थ ॥ ५६० ॥

मैं क्षराक्षरसे भी जो भिन्न हूं और उत्तम ।
इससे देव लोगोंने कहा है पुरुषोत्तम ॥ १८ ॥
हठाके मोहको दूर जाने मैं पुरुषोत्तम ।
मुझको भजते हैं वे सर्वज्ञ सर्व-भावसे ॥ १९ ॥

अथवा माला हाथमें लेनेसे । सर्पाभास भय मिटता जैसे ।
मेरे पुरुषोत्तमत्व-बोधसे । जगाभाससे छूटता ॥ ६१ ॥

अलंकार सोनेका है जो जानता । अलंकारके मोहमें नहीं आता ।
उसी भांति मुझको जो है जानता । छूटता भिन्नत्व ॥ ६२ ॥

फिर सर्वत्र सच्चियदानंद । कहता मैं एक स्वयं सिध्द ।
अपनेमें अन्य कोई भेद । नहीं जानता ॥ ६३ ॥

उसीसे है सब जाना । अल्प है यह कहना ।
उसके लिये तू जान । नहीं रहा द्वैत ॥ ६४ ॥

इसलिये मेरा भजन । वही एक योग्य है जान ।
गगन जैसा अलिंगन । करता गगनका ॥ ६५ ॥

जैसे क्षीर-सागरको भोजन । दे सकता क्षीर-सागर बन ।
या अमृत होकर ही मिलन । अमृतसे जैसे ॥ ६६ ॥

मिलानेसे सुवर्ण शुध्द । मिलता है सुवर्ण शुध्द ।
वैसे मैं बनकर सिध्द । मेरी भक्ति ॥ ६७ ॥

अजी ! सिंधु रूप यह नहीं होती । गंगा सिंधुसे कहो कैसे मिलती ।
इसीलिये मैं न बनकर भक्ति- । में कैसा प्रवेश ॥ ६८ ॥

इसीलिये है सभी प्रकार । कल्लोल अनन्य है सागर ।
ऐसे मुझसे है धनुर्धर । भजता है जो ॥ ६९ ॥

जैसे सूर्य और प्रभा । एक रूप और लोभ ।
वैसे ही योग्यता लाभ । उस भजनका ॥ ६७० ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

ऐसा गूढ कहा शास्त्र निष्पाप तुझसे यह ।
इसको जानके धीर होते हैं कृत कृत्य ही ॥ २० ॥

यह शब्द-ब्रह्मका नवनीत है—

जबसे किया कहना प्रारंभ । अब तक सब शास्त्रावलंब ।
कहा है उपनिषद सौरभ । कमलका मान ॥ ७१ ॥

यह शब्द-ब्रह्मका मथित । तथा व्यास प्रज्ञाके है हाथ ।
मंथन कर जो नवनीत । सार लिया हमने ॥ ७२ ॥

ज्ञानामृतकी है जो जान्हवी । आनंद-चंद्रकी सत्रहवी ।
विचार क्षीरार्णवकी नवी । लक्ष्मी है यह ॥ ७३ ॥

तभी अपनी पद-वर्णसे । अर्थके यह जीव प्राणसे ।
मुझे छोड़ न जानती जैसे । महालक्ष्मी जो ॥ ७४ ॥

सम्मुख आया जब क्षराक्षरत्व । न कहा तब उनका पुरुषत्व ।
तथा समर्पण किया है सर्वस्व । मुझ पुरुषोत्तममें ॥ ७५ ॥

इसीलिये विश्वमें गीता । मुझ आत्मकी पतिव्रता ।
यह जो अब तू सुनता । इस समय ॥ ७६ ॥

सच बोलना तो यह नहीं शास्त्र । संसार जीतनेका है महाशस्त्र ।
तथा है आत्म अवतारका मंत्र । इन अक्षरोंमें ॥ ७७ ॥

तुझसे यह है कहा गया । यह ऐसा हुवा धनंजय ।
यह गौप्य धन निकलाया । मुझसे आज ॥ ७८ ॥

मुझ चैतन्य शंभुका माथा । जो गीता तत्व था वह पार्थ ।
उसका गौतम बन आस्था- । निधि तू आया ॥ ७९ ॥

अपनी निर्मलतासे अर्जुन । करते सम्मुख अवलोकन ।
बन कर तू आया दर्पण । हमारे लिये ॥ ५८० ॥

अथवा भरा हुवा चंद्र तारागण । नभ सिंधुमें होता अवतरण ।
वैसे ही मैं गीता सह अंतःकरण- । में डूबा तेरे ॥ ८१ ॥

यह गीता आत्म-ज्ञानकी लता है—

त्रिविध मल निश्चित । छोड़ गया तुझे पार्थ ।
तभी तू गीता सहित । बना मम स्थान ॥ ८२ ॥

किंतु क्या बोलूं यह गीता । मेरी ज्ञानकी है जो लता ।
जानता जो इसे समस्त । होता मुक्त मोहसे ॥ ८३ ॥

सेवन की अमृत सरिता । रोग गंवाकर पांडुसुत ।
अमरपन यह उचित । देती जैसे ॥ ८४ ॥

वैसे ही जाननेसे यह गीता । निर्मोह होना विस्मय क्या पार्थ ।
अपने आत्म-ज्ञानमें होना रत । होता सरल ॥ ८५ ॥

जिस आत्म-ज्ञानके स्थान । कर्म जो अपना जीवन ।
लय कर होगा अर्जुन । ऋण-मुक्त ॥ ८६ ॥

खोया हुआ दिखा कर जैसा । मार्ग जाता है वीर-विलास ।
ज्ञान बनता कलश वैसा । कर्म-प्रासादका ॥ ८७ ॥

इसीलिये ज्ञानी पुरुष । कर्म करता है निःशेष ।
बोलता अनाथोंका सखा । इस प्रकार ॥ ८८ ॥

इस गीता-ज्ञानकी परंपरा—

यह श्रीकृष्ण वचन-अमृत । न समानेसे छलकाता पार्थ ।
तब हुई है व्यास कृपा प्राप्त । संजयको यहां ॥ ८९ ॥

उसने धृतराष्ट्रको दिया । धृतराष्ट्रसे पान कराया ।
इसीलिये जीवांत भया । उसका सरल ॥ ५९० ॥

आया गीता श्रवण अवसर । लगा उसको नहीं अधिकार ।
किंतु जीवनांत समय पर । उससे मिला प्रकाश ॥ ९१ ॥

द्राक्षा-लतामें दूध डाला जाता । व्यर्थ गया यह ऐसा दीखता ।
फल पाकमें वह दूना होता । जिस प्रकार ॥ ९२ ॥

वैसे हरिमुखके अक्षर । संजयने कहे स-आदर ।
उससे अंध स-अवसर । हुवा दुखी ॥ ९३ ॥

उसकी कर देश-भाषा रचना । उसको ऐसी वैसी कर सज्जना ।
सुना दिया उसे मैंने जैसे वह जाना । श्रीचरणोंमें ॥ ९४ ॥

सेवंती जब अरसिक देखते । उसमें विशेष कुछ भी न पाते ।
किंतु सौरभसे सब कुछ लाते । भ्रमर सार ॥ ९५ ॥

ज्ञानेश्वर महाराजका विनय—

वैसे तत्वका करना स्वीकार । स्वामी देना मुझको लौटाकर ।
कुछ न जानना स्वभाव सार । अबोध शिशुका ॥ ९६ ॥

यद्यपि यह अनजान होता । उसको देख कर माता पिता ।
आनंद विभोर होके सतत । होते हैं प्रसन्न ॥ ९७ ॥

वैसे मेरे सर्वस हैं संत । उनसे करना लाड नित ।
वैसे ही लाड है यह ग्रंथ । मानेंगे आप ॥ ९८ ॥

कब विश्वात्मक यह माझा । स्वामी है निवृत्ति राजा ।
स्वीकार करें यह वाक्पूजा । कहता ज्ञानदेव ॥ ९९ ॥

गीता श्लोक २०

ज्ञानेश्वरी ओवी ५९९.



१६

देवासुर-संपद्‌विभाग-योग

चित्सूर्य श्रीगुरु वंदन—

मिटाते हुये विश्वका आभास । उदित हुआ विस्मित चंडांश ।
अद्वय-कमलिनीका विकास । नमन करें अब ॥ १ ॥

अविद्या-तम जो दूर करता । ज्ञानाज्ञान तारोंको निगलता ।
ज्ञानियोंका है सुदिन करता । स्वबोधका ॥ २ ॥

जिससे उदित होते ही दिन । खुलके आत्म-ज्ञानके नयन ।
तजता है जीव-पक्षी अर्जुन । देहभावका घोंसला ॥ ३ ॥

लिंग-देह कमल मध्यमें । फंसा चिद्‌भ्रमर बद्धतामें ।
बंध-मोक्ष होता है प्रकाशमें । उसके उदयसे ॥ ४ ॥

सिकुडे पथमें शब्द-शब्दोंके । दोनों किनारोंमें भेद-नदीके ।
चीखते हैं पागल विरहके । बुद्धि औ' बोध ॥ ५ ॥

उन चक्रवाकोंका मिथुन । समरसका जो समाधान ।
प्रतीत करता चिद्‌गगन । भुवनका दीप ॥ ६ ॥

जिसके उदयका प्रातःकाल । मिटाता है भेद-चोरका काल ।
आत्मानुभव-पथिक सकल । चलते योगी ॥ ७ ॥

जिसके विवेक-किरण संग । उन्मेष-सूर्यकांतके स्फुलिंग ।
जला देता है अरण्य-विभाग । संसारके ॥ ८ ॥

रश्मि-पुंज जिसका अति प्रखर । होते ही स्वरूप ऊसरमें स्थिर ।
आता वहां महा सिद्धियोंका पूर । मृगजलका ॥ ९ ॥

अजी प्रबोधके माथे पर । सोऽहंताका मध्यान्ह आकर ।
आत्म-भ्रांति छाया जो सत्वर । छिपती पदतलमें ॥ १० ॥

तब विश्व-स्वप्न सहित । अन्यथा मति जो निद्रित ।
न रहती जब माया रात । सम्हालेगा कौन ॥ ११ ॥

तभी अद्वय-बोध-पुरमें अति । महदानंदकी भीडभाड होती ।
फिर सुखानुभूतिकी उतरती । बात लेनदेनकी ॥ १२ ॥

अथवा माना सदा ऐसा । मुक्त-कैवल्य सुदिवस ।
देता है सदैव प्रकाश । उदयसे उसके ॥ १३ ॥

निज-धाम-व्योमका राव । उदित रहता सदैव ।
उदयास्त दिशाका ठाव । मिटाता है वह ॥ १४ ॥

न दीखना दीखने सह मिटाता । दोनोंसे ढका हुवा जो उजलाता ।
उसका प्रातःकाल ही भिन्न होता । अवर्णनीय ॥ १५ ॥

दिन-रातके जो उस पार । प्रकाश रूप ज्ञान-भास्कर ।
दीप्ति बिन दीप्ति है अपार । देखता कौन ॥ १६ ॥

मौन छोडकर गुरु-गुण-वर्णनके लिये क्षमा याचना—

श्रीनिवृत्ति वह चित्सूर्य । नमन उसे स-विनय ।
बाधक है स्तवन-कार्य । शाब्दिक जो यहां ॥ १७ ॥

गुरु-देवकी महिमा देखकर । स्तवन करना हो यदि सुंदर ।
गुरु-चरणमें लीन हो तत्पर । स्तव्य-बुद्धिसे ॥ १८ ॥

न जानते जो सब जानते । मौन निगल बखाने जाते ।
कुछ भी न होनेसे हैं आते । अपने यहां जो ॥ १९ ॥

तेरी स्तुतिमें होना जिसे तत्पर । पश्यंति मध्यमाको निगलकर ।
होती है परा सह वैखरी फिर । जहां विलय ॥ २० ॥

एसे तुझमें सेवकपनमें । शब्द-स्तोत्र-भूषण चढानेमें ।
यह सहनकर कहनेमें— । भी न्यून अद्वयानंद ॥ २१ ॥

किंतु रंकने देखा अमृत सागर । तब जो उचितानुचित भूलकर ।
दौडा करने उसका पाहुनाचार । लेकर साग-पात ॥ २२ ॥

यहां साग-पात ही बहुत कहना । उसके हर्ष-वेगपर ध्यान देना ।
दीपसे सूर्यकी आरती उतारना । यहां देखना भक्ति ॥ २३ ॥

बालक यदि उचित जानता । उसका बालपन क्या रहता ।
किंतु होती है जो उसकी माता । तोषती बहू ॥ २४ ॥

गांवकी गंदगीसे भरा जो नीर । आता है सिर पर पैर देकर ।
तब कहती क्या गंगा हटो दूर । उससे कभी ॥ २५ ॥

अजी ! कैसा था भृगुका अपाचार । उसको मानकर प्रियोपचार ।
तब की हरिने संतुष्ट होकर । गुरुकी पाद्य-पूजा ॥ २६ ॥

आता जब गगन तमसे भर । सूर्यके सम्मुख तब देखकर ।
कहता है क्या भास्कर "तू हो दूर ।" कभी ऐसे ॥ २७ ॥

वैसे भेद-बुद्धिकी तुला पर । सूर्योपमाके शब्द डालकर ।
तोला है जो मैंने श्रीगुरुवर । सहन करें स्वामी ॥ २८ ॥

देखा जिन्होंने ध्यान-चक्षुसे । वर्णन किया है वेद-काव्यसे ।
वह सब क्षमा किया जैसे । मुझे भी क्षमा कर ॥ २९ ॥

किंतु आज मैं तेरे गुणगानमें । ललचाया दोष न मान मनमें ।
न उठूंगा कभी मैं अर्ध-तृप्तिमें । कुछ भी हो फिर ॥ ३० ॥

जन्म-जन्मांतरके सत्य-वचन-तपका फल है यह गीतार्थ —

गीताके नामसे तेरा सतत । सेवन करता प्रसादामृत ।
तभी वर्णन किया है ईप्सित । दैवसे मिला दूना ॥ ३१ ॥

किया सत्य-वचनका तप । मेरी वाणीने अनेक कल्प ।
उस फलका है महा-दीप । मिला यह स्वामी ॥ ३२ ॥

पुण्य-पोषण किया असाधारण । उससे ही हुवा तेरा गुण-वर्णन ।
यह फल देकर हुए उऋण । आज वे स्वामी ॥ ३३ ॥

मैं जीव-दशाके अरण्यमें । जा फंसा था मृत्युके गांवमें ।
वह दुर्दशा इस क्षणमें । मिटाई आपने ॥ ३४ ॥

गीता नामसे जो है यह विख्यात । अविद्याको जीत हुवा दृढ गात ।
वह तेरी कीर्ति हुई है वर्णित । हृदयसे सहज ॥ ३५ ॥

जो था अकिंचनका निवास-स्थान । वहां लगाया आ लक्ष्मीने आसन ।
तब कह सकते हैं क्या निर्धन । उसको कभी ॥ ३६ ॥

अथवा देख अंधकारका स्थान । वहां आया दैवसे चंडांशु मान ।
वह अंधःकार ही प्रकाश महान । होता है जैसे ॥ ३७ ॥

देखनेसे जिस देवकी श्रेष्ठता । विश्वको न आती अणुकी योग्यता ।
भक्तके भाव-सम न हो सकता । क्या वह देव ॥ ३८ ॥

वैसे मेरा गीताका व्याख्यान । सूंघ लेता गगनका सुमन ।
पूर्ण करते जो अरमान । आप समर्थ ॥ ३९ ॥

तब तेरे ही प्रसादसे । गीता—पद अगाध ऐसे ।
स्पष्ट करूं निरूपणसे । कहता ज्ञानदेव ॥ ४० ॥

ज्ञान प्राप्तिके बाद और कुछ पाना नहीं रहता—

पंद्रहवे अध्यायमें । कहा कृष्णने अल्पमें ।
पार्थको पूर्ण रूपमें । शास्त्र सिद्धांत ॥ ४१ ॥

जो है वृक्ष रूपक परिभाषा । कहती उपाधि रूप अशेष ।
सद् वैद्य दिखाता है सभी दोष । शरीरगत जैसे ॥ ४२ ॥

तथा जो कूटस्थ अक्षर । दिखाया पुरुष प्रकार ।
जिससे उपहिताकार । चैतन्य सह ॥ ४३ ॥

फिर उत्तम पुरुष । करके शब्दका मिष ।
दिखाता है हृषीकेश । आत्मतत्त्व ॥ ४४ ॥

तथा कहा आत्म प्राप्त्यर्थ । साधन जो अति समर्थ ।
वह ज्ञान भी यथार्थ । कहा स्पष्ट ॥ ४५ ॥

तभी है इस अध्यायमें । न रहा कुछ कहनेमें ।
अब रहा गुरु-शिष्योंमें । स्नेहाचार ॥ ४६ ॥

ऐसे इस विषयकी बात । हो गयी है ज्ञानियोंको ज्ञात ।
किंतु हुए अन्य आकांक्षित । मुमुक्षुजन ॥ ४७ ॥

ऐसे जो मैं पुरुषोत्तम । ज्ञानसे मिलता सुवर्म ।
वह सर्वज्ञ मैं औ' सीमा । वही भक्तिकी ॥ ४८ ॥

इस भांति यह त्रिलोक नायक । बोला उस अध्यायका एक श्लोक ।
तब वहां तोषसे वर्णन एक । किया विज्ञानका ही ॥ ४९ ॥

संसारका एक कौर कर । जीवको एक दृष्टिसे देखकर ।
आनंद साम्राज्य सिंहासन पर । बिठाया है यह ॥ ५० ॥

उपाय नहीं इतना समर्थ । कहता है देव अन्य यथार्थ ।
यही एक सम्यक् ज्ञानका नाथ । सभी उपायोंमें है ॥ ५१ ॥

ज्ञान प्राप्तिका उपाय—

होते जो आत्म-जिज्ञासु ऐसे । सादर तथा प्रसन्नतासे ।
उतारते हैं ज्ञान परसे । अपना जीव ॥ ५२ ॥

जिस पर जब प्रेम होता । वही वही सम्मुख है आता ।
अन्य सबको पीछे हठाता । ऐसे है प्रेमका ॥ ५३ ॥

इसी लिये मुमुक्षु जिज्ञासुओंमें । नहीं करते ज्ञानानुभव अपनेमें ।
करेंगे योग-क्षेम ज्ञानके विषयमें । स्वाभाविक रूपसे ॥ ५४ ॥

तब है जो वह सम्यक्ज्ञान । कैसे होगा अपने स्वाधीन ।
या मिला उसका वृद्धि-यत्न । होगा कैसे ॥ ५५ ॥

या न होने देता जो ज्ञान उत्पन्न । तथा उदित ज्ञानका अप्रयोजन ।
ऐसे ज्ञान विरुद्धका होना भान । यह आवश्यक ॥ ५६ ॥

फिर ज्ञानका जो प्रतिकूल । दूर करना वह सकल ।
तथा ज्ञानका जो अनुकूल । करें स्वीकार ॥ ५७ ॥

जिज्ञासु-जन आप समस्त । सोचते ऐसे अपने चित्त ।
यह पूर्ण करने यथार्थ । बोलेंगे श्रीहरि ॥ ५८ ॥

जिससे होगा ज्ञान उत्पन्न । आप होंगे विश्रांतिसे पूर्ण ।
ऐसे दैवी-गुणोंका वर्णन । करेंगे श्रीहरि ॥ ५९ ॥

ज्ञानका कर अनादर । राग-द्वेषको दे आधार ।
वे आसुरी गुण भी घोर । कहेंगे स्पष्ट ॥ ६० ॥

इष्टानिष्ट दोनों स्वाभाविक । करता है जिनका कौतुक ।
उनका कथन किया देख । पहले नवममें ॥ ६१ ॥

वहां करना था इसका विस्तार । वहां अन्य विषय हुवा गोचर ।
तब यहां किया प्रसंगानुसार । उसका निरूपण ॥ ६२ ॥

इसका अब निरूपण । सोलहवेमें करेंगे पूर्ण ।
क्रमानुगत संख्या जान । पहलेसे जो ॥ ६३ ॥

रहने दो यहां है जो प्रस्तुत । जाननेमें ज्ञानका हिताहित ।
देवासुर संपदा है समर्थ । कहेंगे अब ॥ ६४ ॥

जो है मुमुक्षुओंका पथ दर्शक । तथा मोह-रात्रिका तम नाशक ।
कहती दैवी संपदा अलौकिक । सुनो वह प्रथम ॥ ६५ ॥

जहां परस्पर पोषक । ऐसे पदार्थ जो अनेक ।
एकत्र करते हैं लोक । कहते हैं संपदा ॥ ६६ ॥

सुख संभावना जो दैवी । तथा दैवी गुणोपजीवी ।
होती है इसीलिये दैवी । संपत्ति है वह ॥ ६७ ॥

भगवान उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्री भगवानने कहा

निर्भयत्व मनःशुद्धि व्यवस्था ज्ञानयोगमें ।
यज्ञ निग्रह दातृत्व स्वाध्याय ऋजुता तप ॥ १ ॥

१ दैवी-गुण, अभय—

अब जो दैवी गुणके श्रेष्ठ । आसन पर बैठता ज्येष्ठ ।
गुण कहलाता है वरिष्ठ । अभय ऐसे ॥ ६८ ॥

कूदा ही नहीं महा-पूरमें । तब डूबना कहो किसमें ।
या रोग नहीं आता घरमें । पथ्यके कमी ॥ ६९ ॥

वैसे कर्माकर्मका अहंकार । उठने नहीं देता धनुर्धर ।
तथा संसार भय तजकर । रहना सदैव ॥ ७० ॥

अथवा ऐक्य भावसे भरकर । अपनेसे अन्य नहीं मानकर ।
भय-वार्ताको करता सीमा पार । पूर्ण रूपसे ॥ ७१ ॥

जब लवणको पानी डुबाता । तब लवण ही पानी बनता ।
वैसे आप ही अद्वय बनता । नाशता भय ॥ ७२ ॥

जिसको कहते हैं अभय । वह समझनेसे अद्वय ।
चलता रहता धनंजय । सदा सर्वत्र ॥ ७३ ॥

२ दैवी-गुण, सत्त्वसंशुद्धि—

तथा सत्त्वशुद्धि जो कहलाता । एसे लक्षणोंसे है जाना जाता ।
जो न जलता या नहीं बुझता । राखके जैसे ॥ ७४ ॥

या शुक्लमें जो न बढ़ता । या कृष्णमें जो न घटता ।
वैसे सूक्ष्म होके रहता । चंद्रमा जैसे ॥ ७५ ॥

या वर्षाका उतरा महापूर । ग्रीष्मका शुरू न हुवा उतार ।
वैसे निज रूपमें हो सुंदर । गंगा प्रवाहसा ॥ ७६ ॥

वैसे संकल्प विकल्पका खींचाव । रज तमका तज बोझ दबाव ।
अनुभवता निज-धर्म स्वभाव । बुद्धिमात्र ॥ ७७ ॥

इन्द्रिय-समूहसे जो दर्शित । उचित अथवा हो अनुचित ।
देख चित्त नहीं होता स्पंदित । किंचितमात्र ॥ ७८ ॥

घरसे दूर गया वल्लभ । पतिव्रताका विरह क्षोभ ।
भुला देता अन्य हानि लाभ । मनमें न डसता वैसे ॥ ७९ ॥

वैसे ही सत्स्वरूपमें पार्थ । अनन्य हो रहना सतत ।
सत्त्व-शुद्धि कहता श्रीनाथ । असुरारी जो ॥ ८० ॥

३ दैवी—गुण, योगज्ञान व्यवस्थित—

तथा जो आत्म-लाभके विषयमें । ज्ञान या योग दोनोंमेंसे एकमें ।
रखना अचल निष्ठा हृदयमें । योग्यतानुरूप ॥ ८१ ॥

अपनी सभी चित्त वृत्ति । तजना वहां इस भांति ।
निष्काम देता पूर्णाहुति । यज्ञमें जैसे ॥ ८२ ॥

या कुलीन कन्यादान । दिया सत्कुलमें ही मान ।
या लक्ष्मी स्थिर हुई जान । नारायणमें ॥ ८३ ॥

ऐसे अनन्य होकर । योग-ज्ञानमें स्थिर ।
होना जो गुण तीसरा । जाण तू पार्थ ॥ ८४ ॥

४ दैवी—गुण, दान—

तथा तन मन वचनसे । संपन्नतानुसार वित्तसे ।
आर्त शत्रुको भी ऋजुतासे । पांडुकुमार ॥ ८५ ॥

पत्र पुष्प तथा छाया । फल फूल धनंजया ।
पथिक जो पास आया । देता वृक्ष जैसे ॥ ८६ ॥

वैसे मनसे धन तक सब । जब जैसे आवश्यक हो तब ।
काममें लाना आता श्रांत जब । विश्रामार्थ ॥ ८७ ॥

इसको कहते हैं दान । जो मोक्ष निधान अंजन ।
रहने दे अब अर्जुन । सुन तू दम ॥ ८८ ॥

५ दैवी—गुण, दम—

अजी ! जो विषयेंद्रियोंका मिलन । उसको भंग कर देता भिन्न ।
जैसे खडु गंदला पानी अर्जुन । करता शुद्ध ॥ ८९ ॥

विषय स्पर्श न होने देता । इंद्रियोंको बचाके रखता ।
नियम बद्ध कर सौंपता । प्रत्याहारके ॥ ९० ॥

चित्त तक सब तज अंदर । प्रवृत्ति चली जाती है बाहर ।
तब सजाता है इंद्रिय द्वार । वैराग्याग्निसे ॥ ९१ ॥

श्वासोच्छ्‌वाससे भी जो कठिन । व्रत आचरता निशिदिन ।
उसमें न मिलता है क्षण । विश्रांति उसको ॥ ९२ ॥

दम कहते हैं जिसे । उसके लक्षण ऐसे ।
यागार्थको संक्षेपसे । कहता हूं सुन ॥ ९३ ॥

६ दैवी–गुण, यज्ञ—

ब्राह्मणोंसे स्त्रियों तक । सबका विधिपूर्वक ।
अपना कर्तव्य नेक । करना सब ॥ ९४ ॥

जिसका है जो सर्वोत्तम । भजनीय देवता-धर्म ।
वह उसका यथागम– । पूर्वक करना ॥ ९५ ॥

द्विज जैसे षट्कर्म करता । वैसे शूद्र नमन करता ।
उन दोनोंका समान होता । यह यज्ञकर्म ॥ ९६ ॥

अधिकारानुसार अपना । सबका ऐसे यज्ञ करना ।
उससे फलाशा न करना । विष रूप जो ॥ ९७ ॥

तथा मैं करता ऐसा भाव । न लें देह कार्यका पांडव ।
किंतु वेदकी आज्ञाका ठाव । होकर रहना ॥ ९८ ॥

अर्जुन ! यह है संज्ञा । सर्वत्र जान तू यज्ञ ।
कैवल्य-मार्गका विज्ञ । कहता यह ॥ ९९ ॥

७ दैवी-गुण, स्वाध्याय—

गेंदसे जैसे भूमिको जो मारना । मारना नहीं गेंद हाथमें लाना ।
अथवा खेतमें बीजको फेंकना । उपजके लिये ॥ १०० ॥

या रखी वस्तू देखनेके लिये । आदरसे जाते हैं दिया लिये ।
शाखामें फल फलनेके लिये । सींचते हैं मूल ॥ १ ॥

जाने दे यह जैसे है शीसा । आप देखनेके लिये ऐसा ।
पोंछ पोंछ रखते हैं स्वच्छ-सा । प्रीतिसे नित ॥ २ ॥

वैसे प्रतिपाद्य जो ईश्वर । होनेके लिये वह गोचर ।
करना श्रुतिका निरंतर । अभ्यास पार्थ ॥ ३ ॥

द्विजोंको देखना ब्रह्मसूत्र । अन्योंको स्तोत्र या नाममंत्र ।
आवर्तन करना पवित्र । देखने तत्व ॥ ४ ॥

कहलाता है यह स्वाध्याय । सुन तू यह धनंजय ।
तप शब्दका अभिप्राय । कहता हूं अब ॥ ५ ॥

८ दैवी–गुण, तप—

दानका अर्थ है सर्वस्व देना । व्ययको संपूर्ण व्यर्थ करना ।
फलकर जैसे स्वयं सूखना । वनस्पतिका धर्म ॥ ६ ॥

अन्यान्य धूपका जैसे अग्नि-प्रवेश । कनकमें जैसे मलका नाश ।
या बढ़ते पित्र-पक्षमें ह्रास । जैसे चंद्रमाका ॥ ७ ॥

वैसे स्वरूप प्राप्तिके कारण । गलाना तन मन प्राण ।
दक्ष रह करके प्रतिक्षण । कहलाता तप ॥ ८ ॥

अथवा तपका रूप भिन्न । अन्य कोई है तो तू जान ।
दूधमें डाली जैसे चोंच अर्जुन । हंसकी जो ॥ ९ ॥

वैसे देह जीवका मिलन । उसमें पानी करता भिन्न ।
वह विवेक अंतःकरण । जगाये रखना ॥ ११० ॥

देखते मानो आत्माकी ओर । बुद्धि संकोच होता सत्वर ।
निद्रा स्वप्न जैसे धनुर्धर । जागृतिमें डूबते ॥ ११ ॥

वैसे आत्म - आलोचन । होता सही प्रवर्तन ।
तपका सही अर्जुन । होता अर्थ ॥ १२ ॥

९ दैवी–गुण, आर्जव = ऋजुता—

बालकके लिये जैसे स्तन्य । होता भूतमात्रमें चैतन्य ।
वैसे जीवमात्रमें सौजन्य । कहलाता आर्जव ॥ १३ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

१० दैवी–गुण, अहिंसा—

विश्व-हित उद्देश्यसे । तन वचन मनसे ।
रहना जो दक्षतासे । अहिंसा जान ॥ १४ ॥

११ दैवी–गुण, सत्य—

तीक्ष्ण होकर भी मृदुल । जैसे स्वभावसे मुकुल ।
तेज होकर भी शीतल । शशांकका ॥ १५ ॥

दिखाते ही करे रोग निवारण । किंतु न लगे जिव्हामें जान ।
ऐसी औषधी न होनेके कारण । उपमा दूं कैसे ॥ १६ ॥

मृदुतामें जैसे आखोंकी पूतली । किंतु है रगडने पर भी भली ।
वैसे फोडती पत्थरकी भी शिली । उदक जैसे ॥ १७ ॥

वैसे संदेह करनेमें दूर । मानो अति तीक्ष्ण तलवार ।
किंतु है सुननेमें मधुर । मधुसे भी ॥ १८ ॥

सुननेमें कौतुक । कानोंको होता सुख ।
सत्यतामें है देख । भेदता ब्रह्मको ॥ १९ ॥

अथवा जो कभी प्रियत्वमें । न आता किसीके झांसेमें ।
पूर्ण होकर भी सत्यमें । किसीको चुभता नहीं ॥ १२० ॥

वैसे तो व्याध-ध्वनि कर्ण-मधुर । अंत लाती है अतीव भयंकर ।
अग्नि जलाता है वैसे खुलकर । जले वह सत्य ॥ २१ ॥

रहता है अति कर्ण-मधुर । किंतु छीलता हृदय गव्हर ।
ऐसी भाषा भाषा नहीं सुंदर । होती है बला ॥ २३ ॥

अहितमें जैसे हो क्रोधानल । लालनमें सुमनसे कोमल ।
माताका रूप है यह सरल । वाचाका भी ॥ २४ ॥

अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शांति अपैशुन ।
निर्लोभ स्थैर्य माधुर्य मर्यादा जीवमें दया ॥ २ ॥

वैसे ही हो सुननेमें सुखमय । परिणाममें सत्य मंगलमय ।
बोलनेमें अविकार औ' सदय । सत्य है वह ॥ २५ ॥

१२ दैवी–गुण, अक्रोध—

जैसे कितना ही पानी डालकर । शिलामें नहीं फूटता है अंकुर ।
अथवा छासको बहु मथकर । आता क्या नवनीत ॥ २६ ॥

केंचुलीके सिर पर पैर । मारा तो क्या उठाता है सिर ।
तथा वसंतमें भी अंबर । नहीं देता फूल ॥ २७ ॥

जैसे रंभाके भी अनेक रूप । न जगा सका शुकमें कंदर्प ।
या राखमें न होती है उद्दीप । घृतसे भी आग ॥ २८ ॥

शिशु भी क्रोधित हो वैसे । कुवाचाके बीजाक्षरोंसे ।
अथवा अन्य उपायोंसे । किसी समय ॥ २९ ॥

ब्रह्मको भी नमन कर पार्थ । गतायु कभी न होता जागृत ।
वैसे उसमें कभी न जागृत । होता क्रोध तरंग ॥ १३० ॥

१३ दैवी–गुण, त्याग—

मृत्तिका त्यागसे घट । तंतुके त्यागसे पट ।
बीजके त्यागसे वट । त्याग जैसे ॥ ३१ ॥

या तजकर भित्तिमात्र । तजता है संपूर्ण चित्र ।
या निद्रा-त्यागसे विचित्र । स्वप्न जाल ॥ ३२ ॥

तथा जल त्यागसे तरंग । वर्षा त्यागसे अनेक मेघ ।
वैसे झडते हैं समस्त भोग । धन-त्यागसे ॥ ३३ ॥

वैसे ही जो बुद्धिमंत । तजते हैं देहाहंता ।
जिससे संसार जात । छूटते हैं ॥ ३४ ॥

इसका नाम है त्याग । कहता वह यज्ञांग ।
यह मानके सुभग । पूछता पार्थ ॥ ३५ ॥

१४ दैवी–गुण, शांति—

अब शांतिका लक्षण । कह तू मुझे श्रीकृष्ण ।
कृष्ण कहता अर्जुन । सुन तू अब ॥ ३६ ॥

निगलकर जब ज्ञेय । ज्ञाता ज्ञान भी धनंजय ।
मिट जाता जिस समय । मिलती जो शांति ॥ ३७ ॥

जैसे प्रलयांबुका उभार । डुबाकर विश्वका प्रसार ।
अपनेमें ही रहता नीर । भरके आप ॥ ३८ ॥

उगम ओघ तथा सागर । न रहता यह व्यवहार ।
सर्वत्र अनुभवता नीर । वह भी कौन ॥ ३९ ॥

वैसे ज्ञेयका होते ही आलिंगन । ज्ञातृत्व भी होता उसमें लीन ।
फिर रहता जो कुछ अर्जुन । वह है शांति ॥ १४० ॥

१५ दैवी–गुण, अनिंदा—

जैसे रोगको दूर कर । पुष्ट करनेमें शरीर ।
न देखता है आप पर । कभी सद्वैद्य ॥ ४१ ॥

या कीचमें फंसी गाय देखकर । नहीं देखा जाता सूखी या दुधार ।
उसकी जीवन व्यथा देख कर । चित्त होता व्याकुल ॥ ४२ ॥

डूबतेको देखकर सकरुणं । न पूछता तू अंत्यज या ब्राह्मण ।
जानता उसके बचाना है प्राण । इतना मात्र ॥ ४३ ॥

महावनमें पापीसे नग्न । की हुई स्त्रीको कोई सज्जन ।
उसको वस्त्र पहने बिन । न देखता जैसे ॥ ४४ ॥

वैसे अज्ञान या प्रमादमें । अथवा दुर्दैव या दोषमें ।
सभी प्रकारके निंद्यत्वमें । जकडे गये जो ॥ ४५ ॥

उन्हे अपने अंगके । भले गुण दे करके ।
भुलाते हैं चुभनेके । सभी शल्य ॥ ४६ ॥

अजी ! दूसरोंके सभी दोष । अपनी दृष्टिसे कर चोख ।
उनकी ओर वे फिर नेक । दृष्टिसे देखते ॥ ४७ ॥

पूज कर जैसे देव देखना । बुवाई करके खेतमें जाना ।
संतुष्ट करके प्रसाद लेना । अतिथिका जैसे ॥ ४८ ॥

ऐसे लगाकर अपने गुण । दूर कर औरके अवगुण ।
देखा करता है जो अर्जुन । सबकी ओर ॥ ४९ ॥

न करना मर्माघात । न उलझाना पापमें पार्थ ।
सदोष नामसे उल्लिखित । न करना कभी ॥ १५० ॥

तथा करके कोई उपाय । पतित खडा हो धनंजय ।
ऐसे ही करना सभी कार्य । न हो मर्माघात ॥ ५१ ॥

अधमको भी मान । उत्तम ही अर्जुन ।
कभी इसके बिन । न देखें दोष ॥ ५२ ॥

अनिंदाका यह लक्षण । जान तू होता है अर्जुन ।
मोक्ष-मार्गका सुखासन । मुमुक्षुओंका ॥ ५३ ॥

१६ दैवी-गुण, दया—

अब दया है ऐसी । पूर्ण चंद्रिका जैसी ।
शीतलता एकसी । देती सबको ॥ ५४ ॥

वैसे दुखितोंका कष्ट । दूर करना है इष्ट ।
उसमें श्रेष्ठ कनिष्ठ । देखता नहीं ॥ ५५ ॥

जगतमें जीवन जैसे । नाश होता है अंगसे ।
किंतु बचाना अपनेसे । तृणजात ॥ ५६ ॥

वैसे अन्योंका देख ताप । चटपटाता हो सकृप ।
सर्वस्व देकर भी आप । कुछ भी मानता नहीं ॥ ५७ ॥

जैसे गढ़ा देखकर अपूर्ण । पानी आगे नहीं बहता जान ।
वैसे श्रांतको तोष दिये बिन । आगे नहीं जाता ॥ ५८ ॥

पैरोंमें जब कांटा चुभता । उससे हृदय तडपता ।
वैसे कष्टोंसे चटपटाता । अन्योंके वह ॥ ५९ ॥

या पैरोंकी होती शीतलता । आंखोंको मिलती है शांतता ।
वैसे पर सुखसे हर्षाता । सदैव आप ॥ १६० ॥

या प्यासोंके लिये जैसे । पानीका जन्म है वैसे ।
दुखितोंके लिये वैसे । जीवन उसका ॥ ६१ ॥

ऐसे पुरुष धनंजया । मूर्तिमंत जान तू दया ।
उसके जन्मसे ही भया । ऋणी मैं उसका ॥ ६२ ॥

१७ दैवी–गुण, अलोभ—

जीव-भावसे अनुसरता । सूर्य पुष्प सूर्यको सतत ।
किंतु सूर्य कभी नहीं लेता । सौरभ उसका ॥ ६३ ॥

अथवा वसंतमें आते अनंत । वनमें बहार वैभवके नित ।
किंतु उनको तजकर वसंत । चलता जैसे ॥ ६४ ॥

जाने दो महासिद्धियोंके साथ । लक्ष्मी आयी पास कहके नाथ ।
किंतु महा-विष्णु न देखता पार्थ । उसकी ओर ॥ ६५ ॥

वैसे लौकिक या पारलौकिक । आते भोग बनकर सेवक ।
किंतु तरंग न उठते देख । भोगके मनमें ॥ ६६ ॥

इससे कहना क्या अधिक । मनमें न उठे सकौतुक ।
अभिलाषा विषयकी देख । वह अलोलुप्य ॥ ६७ ॥

१८ दैवी–गुण, मार्दव—

मदमाखियोंको छत्ता सुखकर । जलमें ही जैसे सुखी जलचर ।
या पक्षियोंको गगन धनुर्धर । होता है मुक्त ॥ ६८ ॥

या बालकके हितमें जैसे । माताका स्नेह होता है वैसे ।
वसंतमें छूता है हौलेसे । मलयानिल ॥ ६९ ॥

या आखोंको प्रियका दर्शन । पिल्लोंको कूर्मिका दृष्टि जान ।
वैसे है उसका आचरण । जीव-मात्रसे ॥ १७० ॥

स्पर्शमें जो है अति मृदु । मुखमें लिया तो सुस्वादु ।
घ्राणमें वैसे ही सुगंधु । अंगोंसे उज्ज्वल ॥ ७१ ॥

यदि चाहे जितना भी लेता । कोई नुकसान नहीं होता ।
उसको तब है कहा जाता । कर्पूरसा वह ॥ ७२ ॥

महाभूत अपनेमें समालेता । तथा परमाणुमें भी जो समाता ।
जैसे विश्व है वैसे ही बन जाता । आकाश जैसा ॥ ७३ ॥

क्या कहूं मैं ऐसोंका जीवन । विश्वके लिये जीव धारण ।
उसको कहता हूं अर्जुन । मार्दव मैं ॥ ७४ ॥

१९ दैवी–गुण, मर्यादा : लज्जा—

तथा पराजयसे राजा । हीन दशामें जो सलज्ज ।
स्वाभिमानी होता निस्तेज । निकृष्टतामें ॥ ७५ ॥

या आया चंडालका सदन । अकस्मातही संन्यासी जान ।
होता है जैसे सलज्जमन । उत्तम जो ॥ ७६ ॥

क्षत्रियको रणसे भागना । कैसे सहना निर्लज्ज जीना ।
विधवा नामसे पुकारना । महासतिको जैसे ॥ ७७ ॥

सुरूपको महारोग भया । या शिष्टको कलंकित किया ।
प्राण संकटमें लजा गया । उसी भांति ॥ ७८ ॥

साडे तीन हाथका देह बना । तथा शवसा बनकर जीना ।
जनम ले लेकर मरना । पुनः पुनः जो ॥ ७९ ॥

गर्भके मेद सांचेमें । रक्त मूत्रके रसमें ।
पुतला बन जीनेमें । आती लज्जा ॥ १८० ॥

लेकर यह देहपन । नाम रूपका धारण ।
रहनेसे न कुछ भिन्न । लज्जा जनक ॥ ८१ ॥

ऐसेमें देहसे उकताकर । रहते हैं सूज्ञ पांडुकुमार ।
तथा मानते निर्लज्ज अपार । उसीमें सुख ॥ ८२ ॥

२० दैवी–गुण, स्थैर्य—

सूत्र तंतु जब टूट जाता । गुडियाका थै थै रुक जाता ।
वैसे प्राण-जयसे टूटता । कर्मेंद्रियोंका खेल ॥ ८३ ॥

या अस्त होते ही दिनकर । रुकता किरणोंका प्रसार ।
वैसे मनो-जयसे व्यापार । ज्ञानेंद्रियोंका ॥ ८४ ॥

ऐसे मन-प्राणका संयम । करता है इंद्रियां अक्षम ।
यह है अचांचल्यका मर्म । जानना यहां ॥ ८५ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

२१ दैवी–गुण, तेज—

संकट है मरनेका-सा । वह है अग्नि-प्रवेश-सा ।
प्राणेश्वरके लिये ऐसा । नहीं गणती सती ॥ ८६ ॥

वैसे आत्म-नाथके ध्यानमें भर । विषय विषकी बाधा दूर कर ।
जाता शून्यकी कांटेली राह पर । दौड़ना है उसको ॥ ८७ ॥

निषेधकी बाधा तब नहीं आती । विधिकी भीड़ भी उसे न रोकती ।
हृदयमें चाह कभी नहीं होती । महासिद्धियोंकी ॥ ८८ ॥

ईश्वराभिमुख हो ऐसे निज । दौड़ता अपने आप सहज ।
उसको कहते हैं सूक्ष्म तेज । अध्यात्मिक जो ॥ ८९ ॥

२२ दैवी–गुण, क्षमा—

तथा रहता है सभी गरिमा । गर्व नहीं आता है वही क्षमा ।
जैसे ढोता है शरीर जो रोम । जानता न ढोता ॥ १९० ॥

पवित्रता क्षमा तेज धैर्य अद्रोह नम्रता ।
जिसके गुण ये आया दैवी संपत्ति लेकर ॥ ३ ॥

२३ दैवी–गुण, धैर्य—

तथा उभर आया इंद्रिय-वेग । या भड़क उठे हैं पुराने रोग ।
अथवा हुये नाता योग-वियोग । प्रियाप्रियोंके ॥ ९१ ॥

इन सबका आया बवंडर । या साथ मिलकर आया पूर ।
तब अगस्ति बनकर धीर । खडा होता है ॥ ९२ ॥

नभमें धूम्रका वलय । जोरसे उठा धनंजय ।
क्षणमें करता विलय । वायु जैसे ॥ ९३ ॥

वैसे अधिभूताधिदैव । अध्यात्मिकादि उपद्रव ।
होते हैं उनको पांडव । निगलता जो ॥ ९४ ॥

जब ईश्वरकी प्राप्तिमें । प्रवर्तता ज्ञान-योगमें ।
धीरजका न्यून उसमें । नहीं होता ॥ ९५ ॥

आता ऐसा चित्त-क्षोभका समय । सहके पराक्रम करता धैर्य ।
धृति कहते हैं जिसे धनंजय । वह है यही ॥ ९६ ॥

२४ दैवी–गुण, शौच=पवित्रता—

जैसे शुद्ध कनक-कलश । उसमें भरा गंगा पीयूष ।
जैसे है अंतर्बाह्य कलश । वैसे पावित्र्य ॥ ९७ ॥

शरीरसे निष्काम आचार । हृदयमें विवेक साकार ।
अंतर्बाह्य बना है आकार । शुचित्वका जो ॥ ९८ ॥

२५ दैवी–गुण, अद्रोह—

हरते हरते पाप ताप । पोसते किनारेके पादप ।
समुद्र तक जाता है आप । गंगाका जैसे ॥ ९९ ॥

या विश्वका तम हरते । श्रियाका सदन खोलते ।
चला परिक्रमा करते । भास्कर जैसे ॥ २०० ॥

वैसे बद्धको मुक्त करते । डूबेहुओंको जो उभारते ।
कठिनाईको दूर करते । अंतरतमकी ॥ १ ॥

वैसे वह दिवस-राति । करते सबकी उन्नति ।
चलता आत्म-हित-रति । धनुर्धर ॥ २ ॥

केवल अपने हितार्थ । प्राणियोंका अहित पार्थ ।
मनमें भी लाना किंचित । नहीं कभी ॥ ३ ॥

अद्रोहत्वकी ऐसी गोष्ठी । कही मैंने तुझे किरीटी ।
मानो वह प्रत्यक्ष दृष्टी । देखती है ॥ ४ ॥

२६ दैवी-गुण, अमानित्व—

गंगा जैसे चढके शंभुके माथ । आप हुई अपनेमें संकुचित ।
वैसे सन्मानसे भी करें प्रतीत । लज्जा आप ॥ ५ ॥

वह अमानित्व कहलाता । तुझसे पहले जो कहा था ।
वही वही कहना क्या पार्थ । बार बार ॥ ६ ॥

दैवी-गुणोंकी महानता—

ऐसे ये गुण है जो छब्बीस । ब्रह्मैश्वर्य करता निवास ।
मोक्ष-चक्रवर्तिका है खास । अग्रहार ॥ ७ ॥

ऐसी नाना संपदा दैवी । गुण-तीर्थकी नित्य-नवी ।
निरिच्छ सगरोंकी दैवी- । गंगा वह आयी ॥ ८ ॥

या गुण-पुष्पकी वरमाला । लेकर आयी है मुक्ता बाला ।
निरिच्छ विरक्तका है गला । खोजती है ॥ ९ ॥

अथवा छब्बीस गुणोंकी ज्योती । उजलाकर ले यह आरती ।
उतारने आयी गीता खोजती । पति आत्माको ॥ २१० ॥

उगलते है जो निर्मल । इन गुणोंके मुक्ता-फल ।
दैवी श्रियाके शुक्तावल । गीतार्णवमें जो ॥ ११ ॥

कितना करूं इसका वर्णन । कहे हैं स्पष्ट होंगे ऐसे गुण ।
इन गुण-राशिका है दर्शन । दैवी श्रियाका रूप ॥ १२ ॥

आसुरी-गुणोंकी ओर संकेत—

दुःख क्लेशकी जो पुष्ट लता । दोष-कांटोंसे भरी है पार्था ।
वह अपनी व्याख्यामें लाता । आसुरी जो ॥ १३ ॥

त्याज्यको तजनेके हित । जान लेता है उपयुक्त ।
इसीलिये दे तू स्व-चित्त । सुननेमें यह ॥ १४ ॥

यह है नरक-व्यथा घोर । लाये दोष अति भयंकर ।
एकत्र किये हैं ये असुर- । संपदा रूप ॥ १५ ॥

नाना विष वर्गका कर गठन । बनाया जाता कालकूट महान ।
वैसे सभी दोषोंका कर मिलन । बनी आसुरी संपदा ॥ १६ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानंचाभिमानस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

१ आसुरी-गुण, दंभ—

आसुरी दोषमें ख्यात । गर्जके जिसका पार्थ ।
नाम चलता सतत । दंभ ऐसा ॥ १७ ॥

अपनी जननी है पावन । रहती जो तीर्थके समान ।
किंतु जनमें करना नग्न । पतन कारण होता ॥ १८ ॥

या विद्या गुरूपदेशमें प्राप्त । चौरास्ते पर किया प्रदर्शित ।
इष्टदा भी होती अनिष्ट हेत । वैसे ही जो ॥ १९ ॥

डूबनेको महा-पूरमें । पहुंचाती पैल तीरमें ।
वह नाव बांधे शिरमें । डुबो देती है ॥ २२० ॥

जीवनका जो साधन । अधिक खाया तो अन्न ।
वही जीवनीय अन्न । होता है विष ॥ २१ ॥

वैसे ही दृश्य-अदृश्यका मित्र । तारक होता है धर्म सर्वत्र ।
प्रसिद्ध करनेसे जो सर्वत्र । शत्रु बन जाता ॥ २२ ॥

अहंता दंभ अज्ञान क्रोध दर्प कठोरता ।
आया जो गुण ये लेके आसुरी संपदा वह ॥ ४ ॥

तमी वाचाके चौरास्ते पर । फलाया तो धर्मका विस्तार ।
कहलाता दंभ धनुर्धर । अधर्म-रूप ॥ २३ ॥

२ आसुरी–गुण, दर्प—

किंतु मूर्खकी जिव्हा पर । फैलाया तो धर्मका विस्तार ।
कहलाता दंभ धनुर्धर । वह ब्रह्म सभाको ॥ २४ ॥

या घोड़ा जो भादुरी लोगोंका । ओछा मानता गज इंद्रका ।
गिरगिट जो कांटों परका । स्वर्ग भी बौना ॥ २५ ॥

या तृणका जो ईंधन । भडकता है गगन ।
डबरे बसा मीन । माने सिंधु तुच्छ ॥ २६ ॥

फूलता है वह स्त्रीधन । विद्या स्तुति पाकर मान ।
एक दिनका ही परान्न । फुलाता अल्पको जैसे ॥ २७ ॥

जैसे मेघ छाया देख तोड़ता । दुर्दैवी घरका आसरा पार्थो ।
मृग-जल देखकर तोड़ता । पानीका डबरा ॥ २८ ॥

और कहूं मैं कितना । संपत्ति-योगसे नाना ।
मदमें उन्मत्त होना । कहलाता दर्प ॥ २९ ॥

३ आसुरी–गुण, अभिमान—

तथा वेदमें जिसका विश्वास । विश्वका पूजनीय ईश ।
विश्वमें एक ही महा तेजस । सूर्य मात्र ॥ २३० ॥

विश्वमें जो है स्पर्धास्पद । एक ही सार्वभौम पद ।
न मरना है निर्विवाद । विश्वको भाता ॥ ३१ ॥

इसीलिये यदि उत्साहसे । इसका वर्णन करनेसे
फूलता वह अभिमानसे । तथा रखता डाह ॥ ३२ ॥

कहता निकालूंगा ईशको । गरल पिलाऊंगा वेदको ।
खपाता है अपने बलको । स्व-गौरवार्थ ॥ ३३ ॥

पतंगको दीप नहीं भाता । जुगनूको सूर्य क्लेश देता ।
तथा पंखेरु द्वेष करता । महासागरका ॥ ३४ ॥

वैसा अहं नामका मोह । ईश्वरसे करता द्रोह ।
वेदसे माने ऐसा डाह । मानो है सौत ॥ ३५ ॥

स्वयं मान्यताका दुष्ट भाव । अभिमानसे बनता देव ।
रौरवका पथ है पांडव । जो चलता आया ॥ ३६ ॥

४ आसुरी–गुण, क्रोध—

वैसे ही दूसरोंका सुख । जलता है सदा देख ।
चढे जैसे क्रोधका विष । मनोदशा यह ॥ ३७ ॥

तपा तेल जल पा कर शीतल । भड़क उठता जैसे महाज्वाल ।
या चंद्रमाको देखकर उदर-ज्वाल । उठती सियारके ॥ ३८ ॥

विश्वका जीवन जिससे उजलता । वह सूर्योदय देख विश्व खिलता ।
किंतु है उल्लूकका नयन फूटता । पापीके जैसे ॥ ३९ ॥

प्रातःकाल सुख है विश्वका । किंतु मृत्युसा दुःख है चोरका ।
कालकूट बनता दूधका । सांपमें जैसे ॥ २४० ॥

अगाध सागर जल । पीकर वड़वानल ।
भड़कता बन ज्वाल । न पाता शांति ॥ ४१ ॥

वैसे विद्या विनोद विभव । देखकर अन्योंका सुदैव ।
भड़कता जाता शेष भाव । वह है क्रोध ॥ ४२ ॥

५ आसुरी–भाव, कठोरता—

तथा मन जिसका व्याल-विवर । आंखें मानो विष-बाणके अंकुर ।
बोलना जैसे बरसते अंगार । जलते हुए ॥ ४३ ॥

ऐसे जिसके क्रिया जात । तीखे जैसे आरेके दांत ।
सबाह्य खरोंचता नित । पारुष सबको ॥ ४४ ॥

मानवोंमें उसको अधम जान । कठोरताका ही जो अवतरण ।
सुन तू अब कहता हूं लक्षण । अज्ञानका मैं ॥ ४५ ॥

६ आसुरी–भाव, अज्ञान—

शीत उष्णादि स्पर्श जैसे । न जानता पाषाण वैसे ।
या रात्र और दिवससे । अनभिज्ञ जात्यंध ॥ ४६ ॥

उठता अग्नि जैसे खाता । खाद्याखाद्य नहीं जानता ।
या पारस नहीं जानता । लोह या सोना ॥ ४७ ॥

या नाना रसोंमें जैसे । डूबती कडची जैसे ।
किंतु रसास्वाद ऐसे । जानती नहीं ॥ ४८ ॥

अथवा जैसे वायु होता । मार्गामार्ग नहीं जानता ।
वैसे कृत्याकृत्यमें होता । वह अंधा ॥ ४९ ॥

जैसे यह स्वच्छ है मैला । यह नहीं जानता बाल ।
जिसे देखता वह केवल । डालता मुखमें ॥ २५० ॥

खिचडी कर वैसे पाप-पुण्यकी । खाते हुए नहीं बुद्धिमें उसकी ।
भला बुरा यह नहीं जाननेकी । ऐसी जो दशा ॥ ५१ ॥

उसका नाम है अज्ञान । इस बोलसे नहीं भिन्न ।
ऐसे छ दोषोंका लक्षण । कहे सब ॥ ५२ ॥

आसुरी संपदा जीवन विनाशक होती है—

ऐसे छ दोषोंसे भरकर पूर्ण । आसुरी संपदा हुई बलवान ।
छोटीसी शुभांगीमें जैसे अर्जुन । हो विषय अतिशय ॥ ५३ ॥

अथवा तीन अग्निकी पंक्ती । देखनेमें छोटीसी लगती ।
किंतु है विश्वकी प्राणाहुती । ओछी उसको ॥ ५४ ॥

या विधाताको जाकर शरण । त्रिदोषसे न चुकता मरण ।
उन तीनोंके ये दूने हैं जान । छह दोष ॥ ५५ ॥

इन छह दोषोंसे संपूर्ण । बनाया है आसुरी भवन ।
इसलिये अल्प न अर्जुन । आसुरी संपदा ॥ ५६ ॥

या क्रूर ग्रहोंका मिलन । होता एक राशिमें जान ।
या निंदकके पास पूर्ण । आते सब पाप ॥ ५७ ॥

या मरनेवालेके अंग । ग्रासते जैसे सभी रोग ।
या कुसमयमें दुर्योग । होते एकत्र ॥ ५८ ॥

या जीवन समाप्तिकी आती बेला । बकरीको डसता बिच्छू काला ।
वैसे ये छ ही दोष जिसे सकल । घेरते हैं ॥ ५९ ॥

विश्वासु जैसे चोरसे पकड़वाता । या थका हुवा महापूरमें फंसता ।
वैसे ही इन दोषोंसे अनिष्ट होता । मनुष्यका सदैव ॥ २६० ॥

यदि किसी मोक्ष-पथिक पर । इनका पडा इक छींटा भर ।
डुबाएगा उसे भव-सागर । न उठेगा वह ॥ ६१ ॥

उतरके अधम योनिकी । सीढी परसे जो अंतिमकी ।
स्थावर तक गति उसकी । पहुंचेगी ही ॥ ६२ ॥

छ दोष ये जिनमें । पाये जाते उनमें ।
बढ़ती संपदामें । आसुरी जो ॥ ६३ ॥

ऐसे हैं ये भिन्न । संपदा तू जान ।
कही स-लक्षण । तुझसे अब ॥ ६४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

तू दैवी संपत्तिका स्वामी है—

इन दोनोंमें पहली । दैवी संपदा जो भली ।
मोक्ष-सूर्यसे उजली । प्रभात जान ॥ ६५ ॥

मुक्तता करती दैवी आसुरी बांधती जहां ।
पायी है संपदा तूने दैवी न कर सोच तू ॥ ५ ॥

तथा ये जो दूसरी । संपदा है आसुरी ।
मोह-लोहकी खरी । सांखली है ॥ ६६ ॥

यह सुन कर तू अर्जुन । भय खायेगा अपने मन ।
किंतु कभी रातसे क्या दिन । भय खाता है ॥ ६७ ॥

जो है यह आसुरी संपत्ति । उसीका बंधन हो सकती ।
आश्रित होती जिनकी मति । इन दोषोंकी ॥ ६८ ॥

किंतु यहां तू अर्जुन । उपरोक्त दैवी गुण ।
लेकर आया निधान । जन्मसे ही ॥ ६९ ॥

इसीलिये तू यहांका । स्वामी दैवी-संपदाका ।
बन, पायेगा मोक्षका । सुख शाश्वत ॥ २७० ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अनादिसे ये दो मार्ग चले आये हैं—

ऐसे देव और असुर । संपदाके स्वामी जो नर ।
अनादिसे हैं चलकर । आये दो मार्ग ॥ ७१ ॥

जैसे है रातका अवसर । करते निशाचर व्यापार ।
तथा दिनमें सुव्यवहार । मनुष्यादिक ॥ ७२ ॥

वैसे ही अपना आचरण । करती है दोनों सृष्टि जान ।
दैवी तथा आसुरी अर्जुन । जन्म लेकर ॥ ७३ ॥

वैसे भी दैवी सविस्तृत । ज्ञान कथनमें पार्थ ।
कहा है मैंने यथावत । पीछे ही सब ॥ ७४ ॥

जीवोंकी सृष्टि दो भांति दैवी तथैव आसुरी ।
सविस्तार कही दैवी आसुरी कहता सुन ॥ ६ ॥

आसुरी संपदाका वर्णन—

अब जो मैं आसुरी सृष्टि । तथा वहांकी सभी गोष्ठी ।
कहता हूं दे पूर्ण दृष्टि । अवधानकी ॥ ७५ ॥

जैसे है बिन वाद्यका नाद । नहीं आता कोई भी साद ।
या बिन पुष्पका सुगंध । नहीं आता वैसे ॥ ७६ ॥

वैसे ही प्रकृति यह असुर । अकेली नहीं होती है गोचर ।
जब मिलता एकाधा शरीर । दीखती वह ॥ ७७ ॥

करनेसे जैसे घर्षण । देती लकडी अग्नि कण ।
प्राणि देहसे निर्माण । होता है इसका ॥ ७८ ॥

बढता है जैसे ऊस । वैसे ही बढता है रस ।
देहाकार होता वैसा । प्राणियोंका ॥ ७९ ॥

अब जैसे जिनका तन । रूप लेता जाता अर्जुन ।
होती है दोष वृद्धि जान । आसुरी जो ॥ २८० ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

कृत्याकृत्यका अज्ञान—

तथा पुण्यके लिये हो प्रवृत्ति । या पापके विषयमें निवृत्ति ।
जाननेमें इसको है विरक्ति । होती मनमें ॥ ८१ ॥

अजी ! आने जाने में रखना भी द्वार । घर बांधनेके नशेमें भूल कर ।
मर जाता है घरमें ही फंस कर । कोशकीट जैसे ॥ ८२ ॥

दी हुई पूंजी आयेगी या नहीं । यह भी जो कभी देखता नहीं ।
और देता है चोरको वैसी ही । पूंजी मूर्ख ॥ ८३ ॥

तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति । नहीं जानती आसुरी-वृत्ति ।
स्वप्नमें भी शुचिताकी रीति । जानते नहीं ॥ ८४ ॥

कृत्य अकृत्य क्या कैसे न जाने आसुरी जन ।
न स्वच्छता न आचार जानते वे न सत्य भी ॥ ७ ॥

कालिमा छोडेगा कभी कोयला । तथा होगा कभी काग उजला ।
राक्षस विरत होगा निर्मला । मांसाहारसे ॥ ८५ ॥

किंतु आसुरी जीवमें मात्र । शुचित्व न होता तिल-मात्र ।
जैसे न होता कभी पवित्र । पात्र मद्यका ॥ ८६ ॥

पूर्ण करना शास्त्र-विधिकी आस । या पूर्वजोंकी परंपरा विशेष ।
वैसे ही धर्माचरणकी वे भाष । जानते ही नहीं ॥ ८७ ॥

जैसे बकरीका चरना । अथवा वायुका दौड़ना ।
तथा आगका है जलाना । जो मिला सो ॥ ८८ ॥

वैसे चलते सदा स्वैर । आगे बढ़ कर असुर ।
सत्यसे रख कर वैर । बरतते वे ॥ ८९ ॥

वृश्चिक अपने डंकसे । यदि गुदगुदा सकनेसे ।
बोला जायगा असुरोंसे । शायद सत्य ॥ २९० ॥

अपान—द्वारसे जब । सुगंध ले सके तब ।
सत्य पा सकेंगे सब । असुर लोग ॥ ९१ ॥

बिन कारणके जन । स्वभावसे ही है दुर्जन ।
उनके बोल विलक्षण । कहता हूं मैं ॥ ९२ ॥

अजी ! ऊंटका होना हैं चांग । कहो कौनसा रहता अंग ।
वैसे हैं असुरोंका प्रसंग । कहता ओघसे ॥ ९३ ॥

मुख जैसे रहता धुंवारा । धुंवा उगलता दिन सारा ।
इस भांति रहती वाग्धारा । उनकी सदा ॥ ९४ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

कहते जग झूठा है निराधार निरीश्वर ।
काम-मुलक है सारा बना संयोगसे यह ॥ ८ ॥

जीवन भोगके लिये है और सारा झूट है—

विश्व अनादि चलता आता। ईश्वर है इसका नियंता।
उसके आगे निर्णय होता। न्याय अन्यायका ॥ ९५ ॥

वेद जिसको अन्यायी कहता। उसे नरक भोगना पड़ता।
उसकी दृष्टिसे जो न्यायी होता। भोगता वह स्वर्ग ॥ ९६ ॥

एसी है जो विश्व-व्यवस्था। अनादि कालसे ही पार्थो।
यह सब पूर्ण है वृथा। कहते ये लोग ॥ ९७ ॥

यज्ञ-मूढ जो यागमें फंसे। मूर्ति—लिंगमें पागल वैसे।
फंसाये हैं योगी गेरुवेसे। समाधि-भ्रममें ॥ ९८ ॥

यहां अपने ही सामर्थ्यसे। भोगता है जो मिलता है उसे।
इसके बिन कौन क्या कैसे। पुण्य है दूजा ॥ ९९ ॥

अनेक भोग जुटा न सकनेसे। अपनी शरीरकी दुर्बलतासे।
त्रस्त होना बिन विषय-सुखसे। यह है पाप ॥ ३०० ॥

संपन्नोंकी जो हत्या करना। इसको यदि पाप मानना।
संपदा सब हाथमें आना। यह नहीं क्या पुण्य ॥ १ ॥

सबलका निर्बलको खाना। इसको यदि अन्याय माना।
क्यों न हुवा कहो निःसंतान। मत्स्य जात ॥ २ ॥

तथा दोनों कुलोंको देख कर। कौमार्यमें ही शुभ लग्नपर।
ब्याहना उचित तो धनुर्धर। प्रजा-हेतुसे ॥ ३ ॥

तब पशु—पक्षादि जो है जाति। उनकी अपरमित संतति।
उनको किसने है प्रतिपत्ति। किये हैं विवाह ॥ ४ ॥

चोरीसे जो धन है आया। किसको कहां विष भया।
पर-दारासे बल किया। हुआ है कौन कोढी ॥ ५ ॥

तथा ईश्वर स्वामी होता। धर्माधर्मका भोग देता।
जो करता वह भोगता। पर लोकमें ॥ ६ ॥

किंतु परत्र औ' देव न दीखता । इसीलिये वह सब होता वृथा ।
तथा कर्ता जब है मर जाता । भोगेगा कहां कौन ॥ ७ ॥

सुखी है इंद्र उर्वशीके संगमें । रहता है जैसे अमरावतीमें ।
वैसे मानता है कीडा कीचडमें । अपनेको मी ॥ ८ ॥

इसलिये है नरक स्वर्ग । नहीं है पाप-पुण्यका भाग ।
दोनों स्थानमें है सुख—भोग । कामका ही ॥ ९ ॥

इसी कारणसे काम । रत स्त्री-पुरुष युग्म ।
मिलने लेता है जन्म । जग संपूर्ण ॥ ३१० ॥

तथा जो जो अभिलाषा करता । स्वार्थके लिये उसको पोसता ।
जिससे परस्पर द्वेष होता । काम करता नाश ॥ ११ ॥

तभी काम बिन कुछ भी नही । जगके मूलमें कुछ भी कहीं ।
इसभांति बोलते हैं जो यही । आसुरी लोग ॥ १२ ॥

रहने दो यह व्यर्थ भाषण । बढाता नहीं इसका व्याख्यान ।
होती है इससे निष्फल जान । वाचा-शक्ति ॥ १३ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

लोक-क्षयके लिये ही आसुरी लोगोंका जन्म होता है—

तथा ईश्वरका तिरस्कार । यही होता इनका विचार ।
विश्वमें नहीं कोई ईश्वर । यह निश्चय उनका ॥ १४ ॥

अथवा खुलकर बाहर । देहमें पाखंड भरकर ।
नास्तिकताकी अस्थि अंदर । रोपते हैं ॥ १५ ॥

लेकर दृष्टिको ऐसी नष्टात्मा ज्ञान-हीन जो ।
नाशार्थ विश्वके सारे निकले रिपु हिंसक ॥ ९ ॥

स्वर्गके लिये नहीं आदर । न नरकका तिरस्कार ।
जला है यह वासनांकुर । उनके मनमें ॥ १६ ॥

केवल खोडा-रूप यह शरीर । गंदे पानीका बुल्ला-सा बनकर ।
विषय-कीचमें उठ फूटकर । मिट जायेगा ॥ १७ ॥

नासने होते जब जल चर । वहां पहुंचते तब धीवर ।
या गिरना होता जब शरीर । उदय होते रोग ॥ १८ ॥

उदय होना धूमकेतुके जैसे । जगके अहित हेतु होना वैसे ।
जनमते ये असुर-लोग वैसे । लोक-क्षय हेतु ॥ १९ ॥

उदय होने पर अशुभ । उसमें फूटते जैसे कोंभ ।
वैसे पापका ये कीर्ति-स्तंभ । चलते फिरते हैं ॥ ३२० ॥

जो मिलता वह सब जलाना । आगका अन्य कुछ भी न जानना ।
वैसे सबका विरोध ही करना । इनका स्वभाव ॥ २१ ॥

इसका कारण यही है अर्जुन । आरंभ करते उत्साहसे जान ।
कहता इस उत्साहका कारण । सुन तू अब ॥ २२ ॥

कामामाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

आसुरी-वृत्ति धर्म-धेनूका आहार तोडती है —

पानीसे न भरता धीवरका जाल । इंधन पर्याप्त न माने अग्नि ज्वाल ।
वैसे अतृप्त रहता काम कराल । सदैव भूखा ही ॥ २३ ॥

ऐसे कामका ले आश्रय । जीव भावसे धनंजय ।
दंभ मानका समुदाय । जुटाता है ॥ २४ ॥

काम दुर्भर जो सेके मानी दांभिक मत्त हो ।
हठके बलसे मूढ करते पाप निर्घृण ॥ १० ॥

वैसे ही मद-भरा कुंजर । उसीमें चढ़ा मद्यका ज्वर ।
तब बढ़ जाता मद-भार । बुढ़ापेका ॥ २५ ॥

बनता तब हठका स्थान । करता मूढ़ताका वरण ।
फिर क्या करना है वर्णन । उसके निश्चयका ॥ २६ ॥

पर-ताप जिससे घड़ता । दूसरोंका जीव कुचलता ।
उन्हीं कामोंमें गढ़ जाता । जीव-भावसे ॥ २७ ॥

अपने कियेका फिर बखान । तथा जगको दें धिःकार दान ।
दश दिशामें करें प्रसारण । आशा-जाल ॥ २८ ॥

ऐसे विकारसे भर । पाप-कर्म कर घोर ।
धर्म-धेनुका आहार । तोडते हैं ॥ २९ ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

काम-प्रचोदनसे कर्म-प्रवृत्ति—

इसी सामग्रिपे चलती । उनकी जो कर्मकी गती ।
मृत्युसे भी नहीं खूटती । चिंता उनकी ॥ ३३० ॥

पातालसे भी होती जो निम्न । ऊंचाईमें छोटा है गगन ।
विशालतामें है त्रिभुवन । अणुसा लगता ॥ ३१ ॥

योग-पटका जैसे स्मरण । जीवमें असीम विवंचन ।
साथ देता मृत्यु तक जान । पतिव्रता जैसे ॥ ३२ ॥

चिंता वह ऐसी अपार । बढ़ाता जाता निरंतर ।
हृदयमें भर असार । विषयादिक ॥ ३३ ॥

स्त्रियोंका गाना सुनना । उन्हें आंखोंसे देखना ।
सर्वेंद्रिय आलिंगना । स्त्रियोंके ही ॥ ३४ ॥

असीम करते चिंता मृत्युसे भी न खूटती ।
कामोपभोगमें चूर मानो सर्वस्व है वह ॥ ११ ॥

अमृत भी निछावर करना । ऐसा रस सुनहीं है स्त्रीके बिना ।
करता है ऐसा उसका मन । निश्चय पार्थ ॥ ३५ ॥

फिर स्त्री भोगके कारण । दौडते हैं तीनों भवन ।
दस दिशाओंमें अर्जुन । उसके परे भी ॥ ३६ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सुख-भोगके लिये पापसे धन-संचय—

आमिष कौरकी बडी आशासे । न सोच निगलता मीन जैसे ।
होती है विषयाशा उन्हे वैसे । पांडुकुमार ॥ ३७ ॥

नहीं होती कभी वांछित प्राप्ति । किंतु करोडोंकी आशा-संतति ।
बढ़ते बढ़ते है वह होती । कोश-कीटक ॥ ३८ ॥

तथा फैलाते जो अभिलाश । पूर्ण न होता बनता द्वेष ।
ऐसा काम-क्रोध ही विशेष । बनता पुरुषार्थ ॥ ३९ ॥

दिनमें चलना रातमें जागना । जैसे होता चौकीदारका जीना ।
दिन-राति विश्रांति नहीं जाना । उसी भांति ॥ ३४० ॥

ऊंची चोटीसे काम है ढकेलता । नीचे क्रोध पत्थरपे पटकता ।
फिर भी राग-द्वेष नहीं छूटता । विषयोंसे उसका ॥ ४१ ॥

हृदयमें ऐसे विषयोंकी भूख । जुटाये विषय-साधन अनेक ।
भोगके लिये जो अति आवश्यक । किंतु द्रव्य है कहां ॥ ४२ ॥
तभी भोग-पूर्तिमें हो आसक्त । जुट जाते हैं धन-संचयार्थ ।
तथा लूटते हैं विश्वको नित । मनमाने जो ॥ ४३ ॥
एकको मारते समय साधकर । तो दूसरेका सर्वस्व ही छीनकर ।
तीसरेके लिये बनाते हैं आखर । अपाय तंत्र ॥ ४४ ॥

आशाके कसके पाश डूबे हैं काम-क्रोधमें ।
चाहते सुख-भोगार्थ पापसे धन-संचय ॥ १२ ॥

जाल पाश तीर कुकर । भाला बाज छुरा लेकर ।
चला मानो चिडियामार । शिकार करने ॥ ४५ ॥

पालनेके लिये एक पेट । चिडियों पर ढाते संकट ।
ऐसा ही आचरण निकृष्ट । करते ये लोग ॥ ४६ ॥

कर पर-प्राण घात । कमाकर लाते वित्त ।
उससे हो कैसे चित्त । संतुष्ट किसका ॥ ४७ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

भोगार्थ असीम आशा और वैर—

कहता है आज अर्जुन । कर लिया सबका धन ।
सहज अपने स्वाधीन । धन्य हूं मैं ॥ ४८ ॥

आत्म-श्लाघा भाव यह उत्पन्न । होनेसे बहता उसका मन ।
लूटूंगा कल औरोंका भी धन । कहता ऐसे ॥ ४९ ॥

ऐसे यह जुटाया मैंने इतना । इसका आधार बनाके अपना ।
लाभमें पाऊंगा रही सही नाना । संपदा विश्वकी ॥ ३५० ॥

ऐसा विश्वका सब धन । करूंगा अपने स्वाधीन ।
फिर जिसके हो नयन । मिटा दूंगा ॥ ५१ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलान्सुखी ॥ १४ ॥

मारे मैंने शत्रु जो कुछ । मारूंगा कल बचे जो तुच्छ ।
करूंगा शासन बन उच्च । अकेला ही मैं ॥ ५२ ॥

जुटाये आज ये लाभ जुटेंगे और भी कल ।
यह है वह भी होगा मेरी ही सब संपदा ॥ १३ ॥

मैंने वह शत्रु मारा मारूंगा दूसरा फिर ।
स्वामी मैं और मैं भोक्ता सुखी मैं सिद्ध मैं बली ॥ १४ ॥

बनके रहेंगे यदि मेरे दास । नहीं तो करूंगा मैं उनका नाश ।
अथवा मानो विश्वमें मैं हूं ईश । चराचरका सब ॥ ५३ ॥
इस भोग-भूमिका मैं प्रधान । सब सुख-भोगका मैं हूं स्थान ।
इंद्र भी देखके मनही मन । करेगा ईर्षा ॥ ५४ ॥
चाहूंगा मैं काया वाचा मन । होगा वह निश्चित संपन्न ।
मेरे बिना नहीं कोई जान । ऐसा आज्ञा-सिद्ध ॥ ५५ ॥
न देखा जब तक मेरा बल । तब तक बली है वह काल ।
मैं हूं सुखका सदन निश्चल । एक ही एक ॥ ५६ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

आसुरी लोगोंके अभिमानका रूप —

होगा कुबेर महा संपन्न । किंतु नहीं है मेरे समान ।
संपन्नतामें मेरे समान । लक्ष्मीपति भी नहीं ॥ ५७ ॥
मेरे कुलकी उज्ज्वलता । जाति-गोतमें जो श्रेष्ठता ।
उसके सन्मुख अल्पता । दीखती ब्रह्माकी भी ॥ ५८ ॥
अपनी बढाई वे इस प्रकार । ईश्वरादिको भी व्यर्थ मानकर ।
अपनेको सर्व-श्रेष्ठ बताकर । करते रहते हैं ॥ ५९ ॥
लोप हुवा अब अभिचार । करूंगा उसका जीर्णोद्धार ।
प्रतिष्ठा करूंगा पर-मार । यज्ञकी अब ॥ ३६० ॥
मेरे गुण-गीत जो गायेंगे । नाट्यादिसे मुझे रिझायेंगे ।
जो मांगेंगे उसे वह देंगे । सभी वस्तु ॥ ६१ ॥
मादक अन्न पेय पानमें । प्रमदाओंके आलिंगनमें ।
बनूंगा मैं तीनों भुवनमें । आनंद-रूप ॥ ६२ ॥

मैं हूं कुलीन संपन्न कौन है मुझसा कहां ।
यज्ञ-दान-विलासी मैं मानते अज्ञ मोहसे ॥ १५ ॥

कहूं मैं कितना तुझे अर्जुन । आसुरीके ऐसे पागलपन ।
सूंघा करते गगन-सुमन । ऐसे ही वे ॥ ६३ ॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मोह-आंधीमें फंसकर तमांधमें चक्कर काटते रहते हैं—

ज्वरमें भरके जैसे । भ्रमता है रोगी वैसे ।
बांधता है संकल्पसे । मनोरथ सारे ॥ ६४ ॥

अज्ञान-धूलमें भरकर । आशाकी आंधीमें उडकर ।
नभमें घूमते गरगर । मनोरथोंके ॥ ६५ ॥

अनियमित आकाशके मेघ । या सागरके तरंग अभंग ।
वैसे कामना कामके तरंग । उठते अखंड ॥ ६६ ॥

ऐसी ही जो कामनायें अती । हृदयमें लगायें रहती ।
उसी परसे खींची जाती । कमल-कलियां ॥ ६७ ॥

या पाषाणके सिरपर । पड फूटते हैं गागर ।
जीवन वैसे निरंतर । होता है फूटा ॥ ६८ ॥

बढती जाती जैसे रात । बढता है तम सतत ।
जीवमें ऐसे मोह नित । बंढता जाता है ॥ ६९ ॥

तथा बढता जैसे मोह । बनता विषयोंका गृह ।
विषयोंके लेते हैं थाह । पातक सारे ॥ ३७० ॥

अपने बलसे जब पाप । आते जहां एकत्र समीप ।
सभी नरक आते हैं आप । जीवनमें ही ॥ ७१ ॥

इसीलिये जान तू पार्थ । पालते जो कु-मनोरथ ।
बसते नरकमें नित । असुरलोग ॥ ७२ ॥

भ्रममें भरके ऐसे जकडे मोह-जालमें ।
गिरते विषयासक्त नरकमें अमंगळ ॥ १६ ॥

वहां आसि-पत्रके तरुवर । पलते अंगारके डोंगर ।
तपे हुए तेलके सागर । उछलते हैं ॥ ७३ ॥

यातनाके जो नित नये प्रकार । समझानेके वहां यही आधार ।
मिलते हैं जो सदैव भयंकर । नरक-लोकमें ॥ ७४ ॥

ऐसे नरकके लिये भयंकर । जनम लिये जो लेके अधिकार ।
करते हैं वे भ्रममे पड़कर । यज्ञ याग ॥ ७५ ॥

वैसे यज्ञादिककी है जो क्रिया । देती अपना फल धनंजया ।
किंतु नाटकका-सा स्वांग लिया । पाया कुफल ॥ ७६ ॥

पतिका करके जो आश्रय । प्रियकरकी होकर प्रिय ।
मनमें मानती धनंजय । सौभाग्यवती आप ॥ ७७ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

उपहार लूटनेके लिये यज्ञ करते हैं—

अपने आपको मन ही मन । पूजके अपना महंतपन ।
फूलता जाता है असाधारण । अहंमन्यतामें ॥ ७८ ॥

नहीं जानते झुकना कैसे । लोहेके ढले हुये स्तंब जैसे ।
या गगन-चुंबी शिखर जैसे । खडे हैं पाषाणके ॥ ७९ ॥

अपनी ही सज्जनतासे आप । मनमें ही संतुष्ट हो अमाप ।
तिनकासा मानते परंतप । सारे विश्वको ॥ ३८० ॥

धनकी मदिरा फिर । पीनेसे मस्त हो कर ।
कृत्याकृत्य भूलकर । सबसे होते भिन्न ॥ ८१ ॥

जहां जुटी संपदा इस भांति । वहां यज्ञकी बात कैसे आती ।
किंतु पगलेको क्या न सूझती । किस समय ॥ ८२ ॥

स्वयं-पूजित गर्विष्ठ मदांध धन-मानमें ।
नामके करते यज्ञ दंभसे अव्यवस्थित ॥ १७ ॥

जैसे वे कभी किसी समय । मद्य मौढ्यमें आ धनंजय ।
करते यज्ञका दंभमय । सारा स्वांग ॥ ८३ ॥

न कुंड न मंडप न वेदी । न उचित साधन समृद्धी ।
तथा उसकी न कुछ विधी । जिससे द्वेष ही सदा ॥ ८४ ॥

देव ब्राह्मणोंके नामका मान । गंध भी उसे न होता सहन ।
तब वहां आयेगा कैसे कौन । अपने मनसे ॥ ८५ ॥

बछियाका बनाकर भूत । गायके सम्मुख रख नित ।
चूस लेते हैं दूध सतत । धूर्त जैसे ॥ ८६ ॥

वैसे यज्ञका लेकर नाम । जगको दिखाकर धरम ।
लोगोंके चूस लेते हैं दाम । उपहार रूप ॥ ८७ ॥

सोचके अपना उत्कर्ष । होममें जो कुछ विशेष ।
उससे वे सर्व-नाश । चाहते औरोंका ॥ ८८ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

आसुरी बर्तावसे अंतरात्माको दुःख होता है—

आगे आगे भेरी फिर निशान । लगाके अपना दीक्षितपन ।
जगमें करते आप घोषण । भले रे हम भले ॥ ८९ ॥

ऐसे महत्वसे तब ये अधम । अहंतासे बनते महा-महिम ।
मानो काले पुटसे बनता तम । घोर अमावस काली ॥ ३९० ॥

इससे होती मूढता दृढ । बढती उद्दंडता उद्दंड ।
चढते अहंकारपे गाढ । पुट अविवेकके ॥ ९१ ॥

फिर दूसरोंकी भाष । करनेमें पूर्ण नाश ।
बल चढता विशेष । सामर्थ्यका ॥ ९२ ॥

भरके काम औ' क्रोध अहंता बल दर्पसे ।
मेरा स्व-पर देहोंमें करते द्वेष मत्सर ॥ १८ ॥

ऐसे अहंकार बल । मिलकरके सकल ।
दर्प सागर उछल— । आता असीम ॥ ९३ ॥

ऐसे उछलता हुवा दर्प । बढ़ाता काम-पित्त-प्रकोप ।
पाकर उसका फिर ताप । भड़कता क्रोधाग्नि ॥ ९४ ॥

तब मानो जेठका जलाता आतप । तथा तेल घीका साथ ले हो प्रकोप ।
होता अग्नि-वायुका तांडव-प्रताप । उसी भांति ॥ ९५ ॥

अहंकारके साथ बल । दर्प काम-क्रोधसे मिल ।
प्रकट हुवा जिस स्थल । पांडुकुमार ॥ ९६ ॥

ले अपना वे आदेश । रखेंगे क्या रीता शेष ।
करनेमें सर्व-नाश । कौनसा कहां ॥ ९७ ॥

पहले वे धनुर्धर । अपना मांस रुधिर ।
देंगे सब परमार । अभिचारार्थ ॥ ९८ ॥

जहां जलते हैं सब तन । उसमें जो "मैं" होता अर्जुन ।
उस "मैं" आत्मापे आक्रमण । होता है वह ॥ ९९ ॥

तथा ऐसा अभिचार होता कहां । उपद्रव उसके हो जहां तहां ।
मैं रूप चैतन्य होता वहां वहां । उसे होती पीड़ा ॥ ४०० ॥

रहते हैं जो अभिचारसे भिन्न । उनपे दोष-दृष्टिके पाषाण ।
फेंकते रहते हैं जो अर्जुन । सदा सर्वत्र ॥ १ ॥

तभी मैं उनको दंड देता हूँ—

सती तथा जो है सज्जन । दानशील याज्ञिक जन ।
तपस्वी अद्भुत महान । संन्यासी भी ॥ २ ॥

भक्त या होते हैं महात्मा । होते जो मेरा निज-धाम ।
आधार लेता नित धर्म । उनके सदनका ॥ ३ ॥

द्वेषसे भर ऐसों पर । कालकूटसे भरकर ।
अपशब्दोंके तीखे तीर । चलाते रहते हैं ॥ ४ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

इसभांति सभी प्रकारसे । बरतते हैं मेरे शत्रुसे ।
सुन तू मैं उन पापियोंसे । कैसे निपटता हूं ॥ ५ ॥

मानव-देहका ले आश्रय । करते हैं जगतका क्षय ।
वह पदवी मैं धनंजय । छीन लेता हूं ॥ ६ ॥

तथा फेंकता क्लेश-ग्रामके घूरे पर । अथवा भव-पुरके पन-घाट पर ।
उस तम-योनिमें ऐसे मूढोंको फिर । देता हूं जन्म ॥ ७ ॥

फिर आहारके नामसे जहां । घास भी नहीं उगता है वहां ।
व्याघ्र वृश्चिक सब आते कहां । वहां डालता ॥ ८ ॥

भूखके दुःखसे तडपते । अपने आपको तोड खाते ।
जनमते मरते रहते । उस स्थानपे ॥ ९ ॥

अपने ही विषसे जिनके । चर्म हैं जलते शरीरके ।
बिलमें रहते सिकुडके । सांप बन वह ॥ ४१० ॥

श्वास लेनेमें है जाता । जिनका समय पार्था ।
आराम नहीं मिलता । उन दुर्जनोंको ॥ ११ ॥

ऐसे करोडों कल्प । गिननेमें है अल्प ।
उतना काल खप- । जाता उनका ॥ १२ ॥

उनको जिस स्थानपे है जाना । पहला पडाव है यह स्थान ।
आगेके होते हैं अति दारुण । दुःख उनके ॥ १३ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

द्वेषी क्रूर तथा पापी जगमें हीन जो जन ।
उन्हें मैं फेंकता नित्य आसुरी योनिमें फिर ॥ १९ ॥

आसुरी योनियां पाके अनेक जन्म जन्ममें ।
मुझसे न मिले ही वे पाते जाते अधोगति ॥ २० ॥

सुन उन्होंने इस भांति । कमाके आसुरी संपत्ति ।
पायी है ऐसी अधोगति । उसके बदलेमें ॥ १४ ॥

फिर व्याघ्रादि तामस । योनियोंमें है अल्पसा ।
देहधारण ढारस । मिलता है ॥ १५ ॥

वह भी मैं फिर छीन लेता । तब तमका ढेर बनाता ।
अंधारभी काला हो जाता । वहां पहुंचके ॥ १६ ॥

आसुरी लोगोंके लिये ज्ञानेश्वरकी करुणा—

तब उससे पाप भी घिनाता । नरक भी उससे भय खाता ।
थकान श्रमसे मूर्छित होता । थककर जो ॥ १७ ॥

इनसे मल भी मलता । ताप भी इनसे तपता ।
इनके नामसे डरता । महा भय भी ॥ १८ ॥

पाप भी इनसे उकताता । अशुभ इनसे है अशोभता ।
भ्रष्टत्व भी इनसे है डरता । भ्रष्टाचारसे ॥ १९ ॥

विश्वमें जो अति हीन । अधम तम अर्जुन ।
भोगते वे सब स्थान । तामस योनिके ॥ ४२० ॥

रोती है वाचा कहनेमें कथा । स्मरणसे मन पीछे हठता ।
मूर्खोंने कितना जोडा है पार्था । यह पाप सारा ॥ २१ ॥

किसलिये कह ये असुर । संपत्ति पोसते भयंकर ।
होती ऐसी अधोगति घोर । केवल मात्र ॥ २२ ॥

इसलिये तुझे धनुर्धर । जहां संपदा होती आसुर ।
मुडना भी कभी उस ओर । है अनुचित ॥ २३ ॥

तथा दंभादि छ दोष । करते हैं जहां वास ।
तजना है सहवास । उनका सदैव ॥ २४ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम क्रोध तथा लोभ करते आत्म-नाश जो ।
तीन ये नरक-द्वार टालना इनको नित ॥ २१ ॥

काम-क्रोधसे सदा-सर्वत्र दूर रहना चाहिये—

काम-क्रोध तथा लोभ । फूटते तीनोंमें क्षोभ ।
फलता वहां अशुभ । जान तू यह ॥ २५ ॥

समस्त दुःखोंका अर्जुन । करानेके लिये दर्शन ।
नियुक्त किये हैं ये तीन । पथ-दर्शक ॥ २६ ॥

या पापियोंको नरक-भोगमें । पहुँचानेके लिये जगतमें ।
पातकोंकी वीर परिषद्‌में । श्रेष्ठ ये तीन ॥ २७ ॥

रौरवादि नरक महान । सुनाते नहीं कभी पुराण ।
जब तक न उठते तीन । हृदयमें ये ॥ २८ ॥

अपाय होते इससे सुलभ । होता है यातनाओंका लाभ ।
"हानी" हानी नहीं होती अशुभ । हानी ये तीन ॥ २९ ॥

क्या कहू मैं धनुर्धर । कहे ये निकृष्ट चोर ।
तथा नरकका द्वार । खुला हुवा ॥ ४३० ॥

काम-क्रोध लोभमें जीव । पोसता है जो निज-भाव ।
सम्मान पाता है पांडव । नरक-सभामें ॥ ३१ ॥

इसीलिये तू पुनःपुन । काम-क्रोध लोभ ये तीन ।
दक्ष रहके निशिदिन । तजना पार्थ ॥ ३२ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

पहले छोड इनका साथ । फिर है धर्मादि पुरुषार्थ ।
करनेकी बात है पार्थ । सोचना सारी ॥ ३३ ॥

हृदयमें ये तीन हैं जागृत । तबतक भलाई होगी प्राप्त ।
ऐसी नहीं सुनी गयी है बात । देवोंसे भी ॥ ३४ ॥

तमके द्वार ये तीन टालके छूटता जब ।
कल्याणमार्गसे जाके पाता है गति उत्तम ॥ २२ ॥

अपनेसे है जिसकी प्रीति । तथा है आत्म-नाशकी भीति ।
न करना उसको संगति । इन तीनोंकी ॥ ३५ ॥

गलेमें बांधा कर पाषाण । करें सिंधुका अतिक्रमण ।
या जीनेके लिये है भोजन । करना कालकूट ॥ ३६ ॥

इन काम-क्रोध लोभका साथ । कार्य सिद्धिमें ऐसा है सतत ।
इसीलिये जड़-मूलसे पार्थ । मिटाना इसे ॥ ३७ ॥

इन तीनोंकी जब । कडी टूटेगी तब ।
अपनी राह सब । होगी प्राप्त ॥ ३८ ॥

त्रिदोषके छोडनेसे शरीर । त्रिकूटिका मिटनेसे नगर ।
त्रिदाह मिटनेसे है अंतर । शांत होता वैसे ॥ ३९ ॥

वैसे कामादिक जो ये तीन । तजते वे सुख पाते जान ।
मोक्ष-मार्गमें वे ही सज्जन- । संग पाते हैं ॥ ४४० ॥

सत्संगसे फिर प्रबल । तथा ले सत्शास्त्रका बल ।
पार होते वन सकल । जन्म-मृत्युके ॥ ४१ ॥

जिसमें आत्मानंद पूर्ण । बसता है वह सदन ।
तथा पाता है वह पट्टन । गुरु-कृपाका ॥ ४२ ॥

प्रिय-वस्तुओंकी जो परिसीमा । मिलती है वहां माऊली आत्मा ।
तथा नहीं बजता है डिंडिम । संसारका वहां ॥ ४३ ॥

ऐसे जो काम-क्रोध लोभ । झाड़कर खड़ा है तब ।
स्वामी बन पाता है लाभ । इतने सारे ॥ ४४ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥ २३ ॥

नहीं भाता जिसे यह कुछ । कामादिक ही है सब कुछ ।
इसीमें जाता है स्वपच । आत्मघाती वह ॥ ४५ ॥

छोड जो शास्त्रका मार्ग करता स्वैर-वर्तन ।
न पाता सिद्धिका मार्ग तथा सुख न सद्गति ॥ २३ ॥

जगमें जो समान सकृप । हिताहित दिखाता है दीप ।
वह अमान्य करता बाप— । वेदको जो ॥ ४६ ॥

आसुरी स्वैराचारी इह-परमें सुख शांति नहीं पा सकता—

नहीं करता विधिका पालन । न है जिसको आत्म-हित भान ।
बढ़ाता जाता है भूख नित अर्जुन । इंद्रियोंकी जो ॥ ४७ ॥

कामादिकका आश्रय नहीं छोड़ूंगा । अपने वचनका पालन करूंगा ।
कहकर स्वेच्छाचार रत रहेगा । कुमार्गी जो ॥ ४८ ॥

मुक्ति-प्रवाहका नीर । नहीं पा सकेगा वह नर ।
स्वप्नमें भी यह धनुर्धर । असंभव जान ॥ ४९ ॥

गया ही उसका पर-लोक । किंतु सुख भी वह ऐहिक ।
भोग नहीं सकता तू देख । भली भांति ॥ ४५० ॥

मछलीकी आशासे ब्राह्मण । बन गया जो धीवर मान ।
वहां भी उसे नास्तिक जान । न लेंगे अपनेमें ॥ ५१ ॥

विषयका लोभ धरकर । खोता पारलौकिक जो नर ।
उसको यहांसे भी सत्वर । ले जाती मृत्यु ॥ ५२ ॥

ऐसे पर-लोकमें ना स्वर्ग । यहां भी नहीं सुखोपभोग ।
तब आयेगा कैसा प्रसंग । मोक्षका वहां ॥ ५३ ॥

तभी करके कामका बल । सुख-भोग चाहते सकल ।
वे दोनोंमें होते हैं विफल । न होता उद्धार ॥ ५४ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

वेद आज्ञाके अनुसार कर्तव्य करते जा—

इस कारणसे अर्जुन । चाहता जो अपना कल्याण ।
वेदकी आज्ञाका उल्लंघन । न करें कभी ॥ ५५ ॥

व्यवस्था जान लेनेमें यहां कार्य अकार्यकी ।
जानके शास्त्रकी आज्ञा कर तू सब कर्मको ॥ २४ ॥

जान कर पतिका मत । उसपे चलके सतत ।
सहज पाती आत्म-हित । पतिव्रता जैसे ॥ ५६ ॥

अथवा श्रीगुरुका वचन । करके नित परिपालन ।
कर लेना है आत्म-भवन । अपना वैसे ॥ ५७ ॥

अंधेरेमें रखा कोई सामान । प्राप्त करलेना हो तो अर्जुन ।
सदा दीप करते हैं जान । आगे वैसे ॥ ५८ ॥

पुरुषार्थोंका संपूर्ण । स्वामी होना तो अर्जुन ।
श्रुति स्मृतिके वचन । मानना वंद्य ॥ ५९ ॥

शास्त्र कहता यदि कुछ तजना । राज्य सुख भोग भी तृण मानना ।
विष लेने कहता तो ना कहना । शब्द भी विरुद्ध ॥ ४६० ॥

ऐसी जिसकी वेदकी निष्ठा । स्थिर हुई तो देख सुभटा ।
होगी कैसी आहितकी भेट । कहां किसको ॥ ६१ ॥

अहितसे जो निकालती । हित करके जो बढाती ।
ऐसी दूसरी न दीखती । श्रुति-मातासी ॥ ६२ ॥

कराती यह ब्रह्मसे मिलन । न करना कभी अवहेलन ।
कर तू इसका सदा अर्जुन । विशेष आश्रय ॥ ६३ ॥

आज तू यहां है पार्थ । शास्त्रोंको सुनले सार्थ ।
जन्म लिया है हितार्थ । धर्म-कार्यके ॥ ६४ ॥

तथा धर्मानुज नामसे । बोध होता सहजतासे ।
इससे भिन्न कुछ ऐसे । करना नहीं ॥ ६५ ॥

कार्याकार्यका विवेक । करना शास्त्रोंको देख ।
अकृत्य जो कुछ देख । तजना उसे ॥ ६६ ॥

तथा जो कुछ है करणीय । दृढतासे उसका आश्रय ।
करके संपन्न धनंजय । करना उसको ॥ ६७ ॥

विश्व-प्रामाण्यकी जो है मुद्री । आज तेरे हाथमें सुबुद्धी ।
लोक-संग्रहार्थ तू त्रिशुद्धी । योग्य है इससे ॥ ६८ ॥

सोलहवे अध्यायका ज्ञानेश्वर कृत समालोचन—

ऐसे आसुरी भाव संपूर्ण । तथा उसके सब लक्षण ।
कहे मुक्त होनेके साधन । कृष्णने पार्थसे ॥ ६९ ॥

इस पर वह पुत्र पांडुका । पूछेगा भाव अपने जीवका ।
सुनो वह सब दे चैतन्यका । कान बनाकर ॥ ४७० ॥

व्यास कृपासे संजय सुनाता । तथा इसे कुरु-नृप सुनता ।
श्रीगुरु कृपासे मैं सुनाता । इसको यहां ॥ ७१ ॥

आप संत-जन मेरी ओर । कृपा-वर्षा करें यहां पर ।
मैं आपकी मान्यतानुसार । बनूंगा स्वामी ॥ ७२ ॥

इसीलिये निज अवधान । मुझको देना पसायदान ।
जिससे बनुं सामर्थ्यवान । कहता ज्ञानदेव ॥ ७३ ॥

गीता श्लोक २४

ज्ञानेश्वरी ओवी ४७३



श्रद्धा - निरूपण - योग

गणेशरूप गुरुवंदन—

विश्व - विकसित - मुद्रा । छोड तेरी योग - निद्रा ।
नमन जीव - गणेंद्रा । सद्गुरु तुझे ॥ १ ॥

त्रिगुण - पुरमें जो घिरा गया । जीवत्व दुर्गमें अटका गया ।
वह आत्मा - शत्रुने छुडालिया । तेरे स्मरणसे ॥ २ ॥

तमी शिवसे करके तुलना । जान लिया तू है अति महान ।
मुमुक्षु - जीव करता तारण । तभी तू है हलका ॥ ३ ॥

तेरे विषयमें जो मूढ । उनको है तू वक्र - तुंड ।
ज्ञानियोंके लिये अखंड । सन्मुख ही तू ॥ ४ ॥

देखनेमें छोटी देवकी दृष्टि । किंतु मिलनोन्मिलनमें सृष्टि ।
करती सृष्टि लय दोनों गोष्टि । सहज लीलासे ॥ ५ ॥

प्रवृत्ति कर्णकी हलचलसे । छूटे मद गंधानिलसे ।
पूजा करते नील कमलसे । जीव - भ्रमरोंके ॥ ६ ॥

निवृत्ति कर्णके हिलनेसे फिर । पूजा वह सहज व्यर्थ होकर ।
दिखाता तब अपना अलंकार । खुले शरीरका ॥ ७ ॥

मानो वामांगीका लास्य विलास । जो है वही जगद्रूप आभास ।
तांडव नृत्य - कलाका विलास । दिखाता है तू ॥ ८ ॥

देख होता है यह चकित । होता है तू जिसका भी आप्त ।
आप्त व्यवहारसे विरत । होता है वह ॥ ९ ॥

मिटाता तू बंधनका ठाव । तभी तू जगद्‌बंधु यह भाव ।
तेरे लिये योग्य यह वैभव– । युत नाम ॥ १० ॥

द्वैतके नामसे जिसको । देह भी न रहे उसको ।
अपनासा किये तुमको । देवराय ॥ ११ ॥

पानेके लिये तुझको । दौड़ते जाते उनको ।
रखता सदा दूरको । अपनेसे तू ॥ १२ ॥

ध्यानसे लाता है जो मनमें । न होता तू उसके गांवमें ।
तुझे भूलता तो स्व-बोधमें । उसका होता तू ॥ १३ ॥

तू सिद्ध है जो न जानता । दिखाता वह सर्वज्ञता ।
वेदोंकी भी ऐसी जो वार्ता । नहीं सुनता तू ॥ १४ ॥

तेरा राशि-नाम है मौन । तब कैसे करूं स्तवन ।
देखना सब मिथ्या जान । नमन वैसे कैसे ॥ १५ ॥

यदि मैं सेवक बनना चाहता । भेद करनेसे मैं द्रोही बनता ।
इसलिये कुछ भी नहीं हो पाता । आपका मैं ॥ १६ ॥

सर्वथा कुछ भी नहीं होना । तुझ अद्वयकी प्राप्ति होना ।
तेरा यह मार्ग मैंने जाना । आराध्य-लिंग ॥ १७ ॥

अपनेको पूर्ण विलीन । करके रसमें लवण ।
भजना है वैसे नमन । मौनसे मेरा ॥ १८ ॥

रीता कुंभ जैसे सिंधुमें जाता । तथा पूर्ण भरके निकलता ।
अथवा दीप संगसे है बनता । बात भी दीप ॥ १९ ॥

करके तुझे मैं प्रणिपात । पूर्ण हुवा श्रीनिवृत्तिनाथ ।
करूंगा अब वह गीतार्थ । प्रकट मैं देव ॥ २० ॥

सोलवे अध्यायका समारोप और सत्रहवीकी भूमिका—

सोलहवे अध्यायके अंतमें । उसके समाप्तिके श्लोकमें ।
ऐसा कहा निश्चितपनमें । परमात्माने ॥ २१ ॥

कार्याकार्यकी है जो व्यवस्था । आचरण करनेमें पार्था ।
मानना तुझे शास्त्र सर्वथा । प्रमाण एक ॥ २२ ॥

तब अर्जुनका मानस । कहता यह ऐसा कैसा ।
शास्त्रके बिना नहीं ऐसा । कर्मसे मुक्ति ॥ २३ ॥

तक्षकके फन परसे । निकाल लेना मणि कैसे ।
अथवा तोडें बाल कैसे । सिंहकी नाकका ॥ २४ ॥

मणि तब उसमें पिरोना । तथा अलंकारसे सजना ।
नहीं तो क्या वैसे ही रहना । खुले गलेसे ॥ २५ ॥

शास्त्रोंकी जो मत-भिन्नता । उसे कहो कौन जानता ।
होगी कैसी एक-वाक्यता । फलदायी उसकी ॥ २६ ॥

होने पर भी एक-वाक्यता । होगी क्या आचरण शक्यता ।
तथा जीवन होगा विस्तृत । इतना कैसे ॥ २७ ॥

तथा शास्त्र अर्थ देश काल । इन चारोंका जो एक फल ।
मिलेगा ऐसा योग सकल । किसको कब ॥ २८ ॥

तभी शास्त्रोचित घड़ना । असंभव है यह जान ।
अज्ञानी जो मुमुक्षु जन । उसकी गति क्या? ॥ २९ ॥

पूछनेमें यह अर्जुन । करता है प्रस्ताव जान ।
आरंभ कहांसे कथन । करनेका ॥ ३० ॥

सबके विषयमें जो वितृष्ण । तथा सकल कलामें प्रवीण ।
कृष्णको आश्चर्य है जो कृष्ण । अर्जुनत्वमें ॥ ३१ ॥

शौर्यसे जुड़ा हुवा आधार । तथा सोम-वंशका शृंगार ।
सुखादिके लिये उपकार । जिसकी लीला ॥ ३२ ॥

प्रज्ञाका है जो प्रियतम । ब्रह्म विद्याका है विश्राम ।
सहचर औ' मनोधर्म । देवका है जो ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा
शास्त्रकी विधिको छोड श्रद्धासे पूजते जन ।
कौन सी उनकी निष्ठा सत्व या रज या तम ॥ १ ॥

शास्त्ररहित श्रद्धापूर्वक पूजनेवालोंकी क्या गति होती है?—

अर्जुन कहे तमाल-श्याम । इंद्रियोंसे गोचर तू ब्रह्म ।
करते हैं तेरे शब्द-ग्राम । साशंक हमको ॥ ३४ ॥

अन्य नहीं शास्त्रके बिन । जीवका स्व-मोक्ष साधन ।
ऐसे कहता तू श्रीकृष्ण । किसभांति ॥ ३५ ॥

यदि न मिलता ऐसा देश । तथा नहीं काल अवकाश ।
करना ऐसा शास्त्राभ्यास । वह भी दूर ॥ ३६ ॥

तथा अभ्यासके जो साधन । वह भी प्राप्त नहीं है जान ।
ऐसेमें करें क्या कैसे कौन । अभ्यास उसका ॥ ३७ ॥

अनुकूल नहीं प्राचीन । प्रज्ञाका साथ जिसे जान ।
दूर है शास्त्र-संपादन । उसके लिये ॥ ३८ ॥

अजी ! मानते शास्त्रका विषय । नहीं मिलता एक भी आश्रय ।
इसीलिये जिन्होंने छोड दिया । शास्त्रका विचार ॥ ३९ ॥

किंतु निर्धार कर शास्त्र । अर्थानुष्ठानसे पवित्र ।
वास करते जो पात्र । सुख पूर्वक ॥ ४० ॥

उनका-सा हमको होना । ऐसे सोच चित्तमें जान ।
करते हैं आलंबन । उस मार्गका ॥ ४१ ॥

देखके पाठके अक्षर । करे बालक अनुसर ।
अंधा चलता आगे कर । भलेको जैसे ॥ ४२ ॥

वैसे सर्व शास्त्र निपुण । उनका देख आचरण ।
चलते हैं जान प्रमाण । श्रद्धासे आप ॥ ४३ ॥

फिर शिवादिक पूजन । तथा भूम्यादि महादान ।
अग्नि-होत्रादि जो यजन । करते श्रद्धासे ॥ ४४ ॥

उन्हे कह सत्व रज तम । किसमें गिनता पुरुषोत्तम ।
मिले उनको कौन गति हम । जाने कैसे ॥ ४५ ॥

वैकुंठ पीठका तव लिंग । निगम-पद्मका जो पराग ।
जिसकी अंग छाया है जग । जीवित जान ॥ ४६ ॥

कालसे सहज प्रचंड । तथा जो लोकोत्तर प्रौढ़ ।
अद्वितीय परम गूढ़ । आनंद-घन जो ॥ ४७ ॥

इन गुणोंसे कीर्तिमान । जहां यह सामर्थ्य पूर्ण
बोलता ऐसे जो श्रीकृष्ण । स्वमुखसे यहां ॥ ४८ ॥

भगवान उवाच

त्रिविधा भवति श्रध्दा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तमसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रध्दा भी तीन प्रकारकी होती है—

कहता है श्रीहरि पार्थ ! तेरा भाव है मुझे ज्ञात ।
बाधक होती है बात । शास्त्राभ्यासकी ॥ ४९ ॥

केवल साधन मान श्रद्धा । पाना चाहो तो परम-पद ।
नहीं वह वैसे प्रबुद्ध । अज्ञात बात ॥ ५० ॥

श्रद्धा कहनेसे ही पार्थ । नहीं पायेगा सकलार्थ ।
द्विज क्या अत्यंजके साथ । न होगा अंत्यज ॥ ५१ ॥

हुवा भी यदि गंगोदक । मद्यके मटकेमें रख ।
लायेगा तो हो सके देख । पी सकता क्या ? ॥ ५२ ॥

चंदन होता है शीतल । किंतु अग्नि-ज्वालसे मिल ।
पकडा हुवा हाथ जल- । जायेगा न ? ॥ ५३ ॥

हीन कस सोनेके साथ । पुट दिया तो वह पार्थ ।
देगा शुद्ध सोनेका अर्थ । कभी वह ? ॥ ५४ ॥

ऐसे है श्रद्धाका जो स्वरूप । होता शुद्ध अपनेमें आप ।
किंतु मिलता है परंतप । जीवको जब ॥ ५५ ॥

श्रीभगवानने कहा

पाता स्वभावसे प्राणि श्रद्धा तीन प्रकारकी ।
सुन सात्विक है होती तथा राजस तामस ॥ २ ॥

स्वभावसे ही प्राणि जात । अनादि पापके पड हाथ ।
बन गये त्रिगुणके साथ । एक रूपसे ॥ ५६ ॥

उसमें पाते वे अवनति । तथा चाहते हैं वे उन्नति ।
होती है तब वैसी ही वृत्ति । जीवोंकी सब ॥ ५७ ॥

वृत्ति-सा तब संकल्प करते । संकल्प-सा सब कर्म करते ।
तथा कर्मानुसार ही करते । शरीर-धारण ॥ ५८ ॥

बीज मिटकर वृक्ष होता । फिर वृक्ष बीजमें समाता ।
कल्पोंसे ऐसे चलता आता । किंतु न नाशता वृक्ष ॥ ५९ ॥

उसी भांति है यहां अपार । होता रहता है जन्मांतर ।
त्रिगुणत्व अव्यभिचार । प्राणियोंके साथ ॥ ६० ॥

इसीलिये प्राणियोंके साथ । रहती है श्रद्धा जो सतत ।
जैसे होते गुण वैसे पार्थ । यह जान तू ॥ ६१ ॥

बढता कभी सत्वशुद्ध । ज्ञानकी चाह होती सिद्ध ।
किंतु दोनों होते विरुद्ध । यहां तब ॥ ६२ ॥

होती तब सत्य विषयक । श्रद्धा जो मोक्ष-फल दायक ।
किंतु रज तम सहायक । होंगे क्या कभी ॥ ६३ ॥

सत्वके बलको तोड कर । चढता रज आकाश पर ।
होती तब श्रद्धा कूडा घर । कर्म-उसका झाडू ॥ ६४ ॥

फिर उठती तमकी आग । करती है वह श्रद्धा भंग ।
तब चाहता विषय-भोग । भोगनेमें निषिद्ध ॥ ६५ ॥

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३

ऐसे है सत्व रज तम । श्रद्धा-रूप जान सुवर्म ।
नहीं रखता जीव ग्राम । इससे कुछ भिन्न ॥ ६६ ॥

स्वभाव जिसका जैसे श्रद्धा वैसे मिले उसे ।
श्रद्धासे ही बना जीव श्रद्धा-सा वह भी रहा ॥ ३

इसीलिये श्रद्धा स्वाभाविक । रहती सदा त्रिगुणात्मक ।
रज तम तथा है सात्विक । भेद यहां जो ॥ ६७ ॥

जिस भांति है जीवन उदक । किंतु होता है विषमें मारक ।
अथवा होता है मिर्चमें तीख । ईखमें मधुर ॥ ६८ ॥

ऐसे पाता है जो जनम । या मरण साथ ले तम ।
उसका होता परिणाम । उसीका रूप ॥ ६९ ॥

जैसे काजल या हो मसी । उसमें न भिन्नता ऐसी ।
वैसे ही श्रद्धा जो तामसी । या तममें नहीं ॥ ७० ॥

वैसे श्रद्धा तमोगुणीमें । होती है तमके रूपमें ।
पूर्ण रूपसे सात्विकीमें । होती है सात्विक ॥ ७१ ॥

ऐसे है यह सकल । बसा है ब्रह्मांड गोल ।
श्रद्धा-मात्रसे केवल । ढाल करके ॥ ७२ ॥

किंतु गुणत्रयके कारण । किया त्रिविध-रूप धारण ।
श्रद्धाने भी यह साधारण । जान तू पांडव ॥ ७३ ॥

फूलसे जैसे वृक्ष जाना जाता । या बोलसे मानस जाना जाता ।
या सुख दुःखसे जाना-जाता । पूर्व-संचित ॥ ७४ ॥

वैसे अब पांडुकुमार । जानना श्रद्धाके प्रकार ।
कहता हूं लक्ष्य दे कर । सुन तू सब ॥ ७५ ॥

यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

श्रद्धाका त्रिविध रूप—

जिनकी सात्विक श्रद्धा । लेकर बनता बांधा ।
सदैव उनकी मेधा । रहती स्वर्गपे ॥ ७६ ॥

सत्वस्थ पूजते देव यक्ष राक्षस राजस ।
भूत प्रेतादि जो सारे पूजते लोग तामस ॥ ४ ॥

विद्या सभी वे पढ़ते । यज्ञ-क्रियायें करते ।
ऐसे वे जाके रहते । देव-लोकमें ॥ ७७ ॥

तथा श्रद्धा जो राजस । लेकर बने वीरेश ।
भजते हैं वे राक्षस । यक्षादिक सब ॥ ७८ ॥

श्रद्धा लेकर जो तामस । आये कहूंगा तेरे पास ।
केवल वे अति कर्कश । बने पापका ढेर ॥ ७९ ॥

जीव-वध कर अमंगल । बलि देके भूत-प्रेत कुल ।
स्मशानमें जाके संध्याकाल । पूजते जो ॥ ८० ॥

तमो-गुणका लेकर सार । बनाये जाते हैं जो नर ।
जान वे तमोगुणका घर । श्रद्धाका जो ॥ ८१ ॥

ऐसे हैं ये तीन लक्षण । जगमें दीखते हैं जान ।
यह मैं कहता अर्जुन । इसीलिये तुझे ॥ ८२ ॥

सात्विक श्रद्धावाला मनुष्य शास्त्रोंका अनुकरण करता है—

यह जो है सात्विक श्रद्धा । जतन करना प्रबुद्धा ।
तथा है दोनोंके विरुद्ध । खडी करना ॥ ८३ ॥

यह सात्विक मति जिसकी । जोपासना करता उसकी ।
उसको नहीं मोक्ष-सिद्धिकी । कभी भीति ॥ ८४ ॥

नहीं सीखा वह ब्रह्म-सूत्र । तथा नहीं पढा कोई शास्त्र ।
सिद्धांत नहीं होता स्वतंत्र । उनके पास ॥ ८५ ॥

किंतु श्रुति-स्मृतिका अर्थ । बनते हैं वे स्वयं मूर्त ।
अनुष्ठानसे वे यथार्थ । देते हैं जगतको ॥ ८६ ॥

उनके आचरणके जो चरण । देख सात्विकी श्रद्धा अनुकरण ।
करके पाते फल असाधारण । निश्चित रूपसे ॥ ८७ ॥

दीप जलाता कोई कष्टसे जैसे । दूसरा दीप जला लेता उससे ।
दीप करेगा क्या कभी प्रकाशसे । उसको वंचित ॥ ८८ ॥

तथा किसीने धन अपार । व्यय कर बांधा अच्छा घर ।
अतिथि उसमें रह कर । सुख नहीं पाता क्या ? ॥ ८९ ॥

जाने दो कोई बांधता सरोवर । उसीकी तृषा हरता है क्या नीर ।
रसोई पाकानेवालेको ही घर । मिलता क्या अन्न ॥ ९० ॥

इससे अधिक क्या कहूंगा । गौतमकी लाई हुई गंगा ।
उससे वंचित है क्या जग । कह तू मुझसे ॥ ९१ ॥

तभी अपना अधिकार जान । करता जो शास्त्रोंका अनुष्ठान ।
श्रद्धासे उसका अनुकरण । कर तरता मूर्ख ॥ ९२ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

अशास्त्रीय तामसिक श्रध्दा-तप—

शास्त्रके नामसे भी जो पार्थ । न जानते आरंभकी बात ।
शास्त्रज्ञोंको रखते सतत । गांवके बाहर ॥ ९३ ॥

देख कर बडोंकी बात । करते हैं ठठोली तात ।
तथा देखके वे पंडित । बताजे चुटकियां ॥ ९४ ॥

करके बड़ा अभिमान । आचरते तपाचरण ।
दंभसे भरकर पूर्ण । पाखंड रचते ॥ ९५ ॥

दूसरोंके शरीरमें शस्त्र । चुभाके छील उसके गात्र ।
रक्तसे लेते प्रणित-पात्र । भर भर कर ॥ ९६ ॥

वह रक्त आगमें गिराते । भूतके मुखमें भी लगाते ।
तथा बालकोंका बलि देते । उन भूतोंको ॥ ९७ ॥

आग्रहके बलपर । क्षुद्र देवताको वर ।
करते हैं सत्र घोर । अपाचारका ॥ ९८ ॥

अजी ! करके स्वपर पीडन । तम क्षेत्रमें बीज बोते जान ।
आगे पाते हैं वही वे अर्जुन । फलके रूपसे ॥ ९९ ॥

शास्त्र-निषिद्ध जो घोर दंभसे करते तप ।
अहंतासे भरे सारे काम राग बली जन ॥ ५ ॥

पडा है समुद्रमें पार्थ । तैरने नहीं जो समर्थ ।
तथा नहीं उसके हाथ । और पांव भी ॥ १०० ॥

या वैद्यका द्वेष कर । औषध ठुकरा कर ।
होगा कैसे रोग दूर । किसीका कभी ॥ १ ॥

करके आंखोंसे विरोध । उन्हे फोडले प्रतिशोध ।
पड़ा रहता बन अंध । कोनेमें कहीं ॥ २ ॥

इसी प्रकार ये असुर । शास्त्रोंका करके धिःकार ।
करते हैं वन-संचार । अविवेकसे ॥ ३ ॥

काम जो कराता वह करते । क्रोध मरवाते उसे मारते ।
मुझे दुःखके गढेमें गाढ़ते । सभी ये लोग ॥ ४ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अपने या पराये देहको । देते हैं वे दुःख जो उसको ।
भोगना होता मुझ आत्माको । पांडुकुमार ॥ ५ ॥

वाचाके भी अंचलसे । स्पर्श न करता जिसे ।
तजनेके लिये उसे । कहना पडा ॥ ६ ॥

स्पर्शसे जैसे प्रेत हठाते । शब्दसे चांडालको तजते ।
हाथ लगाकर जैसे धोते । मलको वैसे ॥ ७ ॥

वहां शुद्धिके ही हेतुसे । लेप नहीं मानते वैसे ।
उन्हे तजनेके हेतुसे । कहा यह यहां ॥ ८ ॥

होगा तुझे जब दर्शन । असुरोंका तब अर्जुन ।
करना मेरा ही स्मरण । प्रायश्चित्त रूप ॥ ९ ॥

तभी श्रद्धा जो सात्विक । जीव-भावसे हो एक ।
जतन करना नेक । सर्वतोपरी ॥ ११० ॥

गलाते मुझ आत्माको सोखके देह-धातुको ।
ऐसे विवेक-हीनोंकी निष्ठा है जान आसुरी ॥ ६ ॥

करना सदैव ऐसा संग । सत्व-पोषणका हो अंग ।
तथा सत्व-वृद्धिका हो भाग । लेना ऐसा अन्न ॥ ११ ॥

साधकके लिये आहारका महत्व—

जो है अति-स्वाभाविक । स्वभाव वृद्धि कारक ।
आहारसे नहीं नेक । साधन शक्त ॥ १२ ॥

प्रत्यक्ष देख तू यहां वीर । भला मनुष्य सुरा पीकर ।
करता कैसे मत्त होकर । उसी क्षणमें ॥ १३ ॥

अथवा जो मनमाने अन्न-सेवन । करता तब वात-पित्थके कारण ।
या नव-ज्वरमें दूध होता अर्जुन । दुःख-दायक ॥ १४ ॥

अथवा अमृत जैसे । टालता मरण वैसे ।
तथा है विष लेनेसे । आती मृत्यू ॥ १५ ॥

वैसे ही लेनेसे जो आहार । लेता है धातु वही आकार ।
धातु जैसे वैसे ही अंतर । करता भाव पुष्ठ ॥ १६ ॥

या तपनेसे जैसे बर्तन । तपता अंदर जल जान ।
वैसे धातु वश है अर्जुन । चित्त-वृत्ति ॥ १७ ॥

इसीलिये सात्विक सेवन । करनेसे होगा वृद्धि सत्व-गुण ।
तथा रज तम रसका सेवन । बढाता है वही ॥ १८ ॥

तभी कौन सात्विक आहार । रज तमका क्या क्या आकार ।
कहता हूं यह धनुर्धर । आदरसे सुन ॥ १९ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहारका त्रिविध रूप—

उसी भांतिसे है आहार । हुए कैसे तीन प्रकार ।
तुझसे यह धनुर्धर । कहूंगा सुन ॥ १२० ॥

आहार भी सभीका है तीन भांति यथा रुचि ।
यज्ञ दान तपमें भी कहता भेद तू सुन ॥ ७ ॥

रुचि है कैसे खानेवालेकी । निष्पत्ति होती वैसे अन्नकी ।
तथा रुचि होती है गुणोंकी । दासी जान ॥ २१ ॥

जीव जो है कर्ता औ, भोक्ता । गुणोंसे वह स्वभावता ।
प्राप्त करके त्रिविधता । बरतता है ॥ २२ ॥

इसीलिये त्रिविध आहार । यज्ञ करता तीन प्रकार ।
तप दान आदि भी व्यापार । त्रिविध जान ॥ २३ ॥

पहले आहार लक्षण । कहता हूं सुन अर्जुन ।
स्पष्टतासे कर वर्णन । इस समय ॥ २४ ॥

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

सात्विक आहारका विवेचन—

सात्विक गुणकी ओर जब । दैवसे भोक्ता पढ़ता तब ।
उसका रस बढ़ता सब । मधुर रसमें ॥ २५ ॥

होते हैं जो रस-भरित । मधुर रसके पदार्थ ।
तथा मधुर स्निग्ध पार्थ । परिपक्व सहज ॥ २६ ॥

आकारमें होते सुंदर । स्पर्शमें भी होते मधुर ।
जीभको कोहल मधुर ।· उसका स्पर्श ॥ २७ ॥

रससे जो भरित । द्रव-भावसे युक्त ।
अग्नि-स्पर्शसे मुक्त । ढीली छालका ॥ २८ ॥

अल्प-गात्र परिणाम महत्तर । होता जैसे गुरु-मुखका अक्षर ।
वैसे दीखता अल्प होता अपार । तृप्ति देनेमें ॥ २९ ॥

रुचिमें होता जैसे मधुर । स्वास्थ्यमें भी होता हितकर ।
ऐसा अन्न होता प्रियकर । सात्विकोंको ॥ १३० ॥

सत्व प्रीति सुख स्वास्थ्य आयुष्य बल-वर्धक ।
रसाल मधुर स्निग्ध स्थिर आहार सात्विक ॥ ८ ॥

ऐसे गुण लक्षण पूर्ण । होता है सात्विक भोजन ।
आयुष्यको देता है त्राण । नित्य-नया जो ॥ ३१ ॥
इस भांति है वह सात्विक रस । देहमें बरसता रात दिवस ।
जिससे आयुष्य नदी स-उल्लास । बढ़ती देहमें ॥ ३२ ॥
उनके सत्वका है पोषण । होता इसी अन्नके कारण ।
दिनके उन्नतिका साधन । भानु होता जैसे ॥ ३३ ॥
तथा शरीर और मन । समर्थ करता है अन्न ।
तब रोगका क्या कारण । रहता यहां ॥ ३४ ॥
होता जब सात्विक भोग्य । तब भोगते हैं आरोग्य ।
शरीरको मिला सौभाग्य । उदय होकर ॥ ३५ ॥
लेन देन होता सुखका । तथा उत्कर्ष भलाईका ।
बढ़ता स्नेह आनंदका । इससे सदैव ॥ ३६ ॥
ऐसा है सात्विक आहार । परिणाममें है मधुर ।
करता महा उपकार । अंतर्बाह्य ॥ ३७ ॥

राजसिक आहारका विवेचन—

राजसकी जिसमें है प्रीति । जिस रसमें उसकी रति ।
करूंगा उसकी अभिव्यक्ति । प्रसंगसे अब ॥ ३८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कालकूट मृत्यु बिन । इतना कटु है मान ।
या चूनेसे भी अर्जुन । अधिक आम्ल ॥ ३९ ॥
आटेमें पानीके समान । कर नमकका मिलान ।
इसी भांति रसमें मान । डालते नमक ॥ १४० ॥

खारा सूखा कटू तीखा खट्टा अत्युष्ण दाहक ।
दुःख शोक तथा रोग देता आहार राजस ॥ ९ ॥

होता जो ऐसे नमकीन । राजसका प्रिय भोजन ।
निगलता अग्नि समान । उष्ण अतिशय ॥ ४१ ॥

भाफके छोर पर जैसे । रसके बात लगानेसे ।
बल पायेंगे दीप वैसे । भोजन उष्ण ॥ ४२ ॥

आंधीको पीछे ढकलेगा । या साबल चुभ जायेगा ।
ऐसा तीता वह खायेगा । घावके बिन चुभता जो ॥ ४३ ॥

राखसा जो होता रूक्ष । व्यंजन होता है रूक्ष ।
जिव्हा दंशसा जो रूक्ष । भाता है उसे ॥ ४४ ॥

परस्परमें दांत । टकरायेंगे साथ ।
ऐसे वस्तुसे पार्थ । तोषता वह ॥ ४५ ॥

पहले ही जो चटपटा होता । उसमें सरसों आदि पड़ता ।
जब उसको मुखमें डालता । नाकमें जाती बाफ ॥ ४६ ॥

आगको भी जो चुप करता । ऐसे बनता जो रायता ।
राजसको प्राणसे भी भाता । ऐसे व्यंजन ॥ ४७ ॥

कम मान जीभकी चुभन । जीभका वह पागल बन ।
भरता वह आगसा अन्न । अपने उदरमें ॥ ४८ ॥

भडकती इससे आग अंदर । चैन न आता भूमि या सेज पर ।
पानीका पात्र नहीं होता. है दूर । मुखसे कभी ॥ ४९ ॥

नहीं खाया था वह आहार । सोया हुवा व्याधि अजगर ।
चेतानेमें डाला मद्यसार । उदरमें अपने ॥ १५० ॥

होडमें उभडता परस्पर । एक साथ रोगोंको दे आधार ।
फलता ऐसे राजस आहार । दुःख रूप केवल ॥ ५१ ॥

ऐसे राजस आहार । दिखाया है धनुर्धर ।
परिणामका विचार । सविस्तृत ॥ ५२ ॥

तामसिक आहारका विवेचन—

अब तामस जिसे खाता । उसे कैसा आहार भाता ।
उसको अब मैं कहता । न कर तू घृणा ॥ ५३ ॥

सड़ा गला तथा झूठन । उसमें न अहित मान ।
चरती जैसे भैंस जान । वैसे खाता ॥ ५४ ॥

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

सबेरेका पका हुवा अन्न । दुपहरका दूसरे दिन ।
ऐसे लेता है वह भोजन । प्रेमसे तामस ॥ ५५ ॥
या आधा ही पका हुवा । या संपूर्ण जला हुवा ।
रस हीन बना हुवा । ऐसा वह खाता ॥ ५६ ॥
हुई जब रस-निष्पत्ति । मिठासकी हो अभिव्यक्ति ।
वह अन्न ऐसी प्रतीति । नहीं करता तामस ॥ ५७ ॥
कभी किसी प्रसंगसे । अच्छा अन्न मिलनेसे ।
बैठता है व्याघ्र जैसे । सडने तक ॥ ५८ ॥
पक कर हुवा बहु दिन । हुवा है वह स्वादसे हीन ।
सूखा या सडा हुवा अन्न । खाता वह प्रीतिसे ॥ ५९ ॥
ऐसे सड़ा हुवा अन्न । कीचड़सा करता सान ।
सबके साथही भोजन । करता एकत्र ॥ १६० ॥
ऐसे घिनौना वह जो खाता । उसे सुख भोजन मानता ।
इससे भी संतुष्ट नहीं होता । वह पापी ॥ ६१ ॥
देख तू यह चमत्कार । शास्त्र-निषिद्ध देखकर ।
निषिद्ध ही एकेक कर । लेता कुपथ्य ॥ ६२ ॥
अपेयका वह पान । अभोज्यका भोजन ।
करनेमें है अर्जुन । होता उतावला ॥ ६३ ॥
ऐसे तामस अन्न युक्त । होता है ऐसी आशा-युक्त ।
इसका फल भी तुरंत । मिलता उसको ॥ ६४ ॥

रस हीन तथा थंडा बासी दुर्गंध-युक्त जो
निषिद्ध और उच्छिष्ट आहार तामस-प्रिय ॥ १० ॥

जभी छूता अपवित्र । अन्नको उसका वक्त्र ।
तभी वह पाप-पात्र । बनता है ॥ ६५ ॥

फिर इसके उपरांत । खानेकी उसकी रीत ।
उदर-पूर्तिकी सतत । यातना मान ॥ ६६ ॥

शिर छेदनेसे क्या मिलता । अग्नि-प्रवेशसे जो बनता ।
उसको वह नित सहता । धनुर्धर ॥ ६७ ॥

इसीलिये जो तामस अन्न । उसके फलका क्या कथन ।
उसको खाना ही दुःख जान । कहता देव ॥ ६८ ॥

यज्ञके भी तीन प्रकार हैं—

जैसे तामस आहार । वैसे हैं यज्ञके प्रकार ।
वे भी होते तीन प्रकार । कहता हूं सुन ॥ ६९ ॥

इन तीनोंमें प्रथम । सात्विक यज्ञका मर्म ।
सुन यह सुमहिम । शिरोमणि तू ॥ १७० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११ ॥

सात्विक यज्ञका विवेचन—

जैसे है एक प्रियोत्तम । उसके बिन न हो काम ।
ऐसे जिसका मनोधर्म । पतिव्रताका ॥ ७१ ॥

गंगा सिंधुको छोड़कर । नहीं जाती है किसी ओर ।
तथा आत्माको देखकर । वेद होते मौन ॥ ७२ ॥

तथा स्व-हितमें जो होती । सदा निरत चित्त-वृत्ति ।
नहीं रहती अहंकृति । फल हेतु वहां ॥ ७३ ॥

पहुंच कर वृक्षका मूल । लौटना न चाहता जल ।
सूख जाता है वहीं केवल । उसी मूलमें ॥ ७४ ॥

तजके फलकी आशा मानके करणीय है ।
विधिसे मनसे जो है करते यज्ञ सात्विक ॥ ११ ॥

वैसे ही मन और तन । यजन निश्चयके स्थान ।
होकर सदैव विलीन । न चाहते कुछ ॥ ७५ ॥

फल अभिलाषा तजकर नित । स्वधर्म बिन अन्यमें हो विरक्त ।
करता है यज्ञ-कार्य अलंकृत । सर्वांग पूर्ण ॥ ७६ ॥

देखते हैं दर्पणमें जैसे । अपनी ही आंखोंकी ओरसे ।
या हथेली पर रत्न जैसे । दीपसे देखते ॥ ७७ ॥

या उदित होते ही दिवाकर । दीखते नाना पथ चहूं ओर ।
वैसे देखके वेदका निर्धार । चलता वह ॥ ७८ ॥

वह कुंड मंडप वेदी । अन्य भी साधन समृद्धि ।
पाता जैसी कहती विधि । वैसे वह सकल ॥ ७९ ॥

जैसे सब अलंकार यथा स्थान । शरीर पर करते हैं धारण ।
वैसे रखता वह स्वस्थान । योजन पूर्वक ॥ १८० ॥

करना क्या इसका वर्णन । देती यज्ञ विद्याही दर्शन ।
मूर्तिमंत हो आयी स्वस्थान । यज्ञ-हेतुसे ॥ ८१ ॥

वैसे सांगोपांग । होता है जो याग ।
अहंकृति भाग । डुबाकर ॥ ८२ ॥

कहते हैं उत्तम लक्षण । तुलसी वृक्षका क्षण क्षण ।
न रख कोई आशा अर्जुन । फल पुष्प छायाकी ॥ ८३ ॥

या होता है जो फलाशा बिन । योजना पूर्ण यज्ञ निर्माण ।
ऐसे यज्ञ करना जान । यज्ञ सात्विक ॥ ८४ ॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

राजसिक यज्ञका विवेचन—

कहना यह भी अर्जुन । यज्ञ वैसे ही सुलक्षण ।
जैसे राजाको निमंत्रण । श्राद्धमें जैसे ॥ ८५ ॥

फलका अनुसंधान रखके दंभपूर्वक ।
होता यजन लोगोंमें जान तू यज्ञ राजस ॥ १२ ॥

राजा यदि घरमें आता । अन्य भी जो कार्य साधता ।
तथा है यश भी मिलता । होता है श्राद्ध ॥ ८६ ॥

करके ऐसा पूर्ण विचार । स्वर्ग मिलेगा मरने पर ।
तथा कीर्ति होगी यहां पर । यज्ञ दीक्षासे ॥ ८७ ॥

ऐसा फलाशासे केवल । किया यज्ञ-कर्म सकल ।
यश-कीर्ति जिसका मूल । यज्ञ है राजस ॥ ८८ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

तामसिक यज्ञका विवेचन—

पशु-पक्षियोंके व्याहमें कमी कहीं । कामके बिना ज्योतिषीका काम नहीं ।
वैसे तामसीके यज्ञमें सर्वत्र ही । आग्रहही मूल ॥ ८९ ॥

पवन राह नहीं चाहता । मरण मुहूर्त देखता ।
निषिद्धसे नहीं है रुकता । अग्नि जैसे ॥ १९० ॥

वैसे हैं तामसके आचार । न मानता विधि-व्यवहार ।
इसीलिये वह धनुर्धर । होता उच्छृंखल ॥ ९१ ॥

विधि-विधान वहां नहीं होता । मंत्र-तंत्रका स्पर्श न रहता ।
अन्न मात्र भी वह नहीं देता । भैंस भी जो खाये ॥ ९२ ॥

शत्रु-बोध है जहां ब्राह्मण । वहां आयेगी कैसे दक्षिणा ।
आंधीमें आग साथ अर्जुन । ऐसे है वहां ॥ ९३ ॥

ऐसे वहां सभी व्यर्थ होता । श्रद्धाका मुख नहीं दीखता ।
वह घर जैसे लूटा जाता । निपुत्रिकका ॥ ९४ ॥

इस भांति होता यज्ञाभास । उसका नाम यज्ञ तामस ।
कहता है यह श्रीनिवास । धनुर्धरसे यहां ॥ ९५ ॥

न है विधि न है मंत्र अन्नोत्पत्ति नहीं जहां ।
नहीं श्रद्धा नहीं त्याग वह है यज्ञ तामस ॥ १३ ॥

जैसे गंगाका ही उदक । ले जाते भिन्न मार्गसे देख ।
तब मल एक शुद्धि एक । लाता जैसे ॥ ९६ ॥

तपका स्वरूप—

तथा तीन गुणोंसे तप । हुवा है यहां तीन रूप ।
करनेसे एक है पाप । उद्धरता दूजा ॥ ९७ ॥

तपके यहां तीन प्रकार । हुए हैं जैसे पांडुकुमार ।
यह जाननेमें ही सुकर । जान तू तप क्या है ॥ ९८ ॥

कहते हैं यहां तप किसको । समझाता हूं मैं यह तुझको ।
फिर उसके तीन प्रकारको । कहूंगा मैं ॥ ९९ ॥

तप है यहां जो सम्यक । वह भी त्रिविध रूपक ।
शारीरिक औ' मानसिक । तथा वाचिक भी ॥ २०० ॥

अब त्रिविध-तपमें सुन । शारीरिक तपका लक्षण ।
जिसे जो प्रिय हो उसे मान । शंभु या श्रीहरि ॥ १ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

शारीरिक तप सात्विक—

जिसको प्रिय देवालय । यात्रादि करनेमें समय ।
आठौ प्रहर जैसे हैं पाय । चले काल-चक्रसे ॥ २ ॥

देवांगणकी रखने स्वच्छता । पूजोपचारमें नित रहता ।
तत्पर हो वह सब करता । हाथकी शोभा जान ॥ ३ ॥

लिंग या मूर्ति है देखता । अष्टांग प्रणाम करता ।
जैसे स्वाभाविक गिरता । कोई वस्तु ॥ ४ ॥

तथा विधि-विधानसे सतत । रहते जो वृद्ध गुणी निरत ।
प्राज्ञ ब्राह्मण आदिकी जो नित । करता सेवा ॥ ५ ॥

गुरु-देवादिकी पूजा स्वच्छता वीर्य-संग्रह ।
अहिंसा ऋजुता जान देहका तप है कहा ॥ १४ ॥

तथा प्रवास या पीडासे । थका मांदा जो मिला उसे ।
देता है वह शुश्रूषासे । सुख और शांति ॥ ६ ॥
सभी तीर्थका जो आधार । माता पिताका है शरीर ।
उनपर है निछावर । होता सेवामें ॥ ७ ॥
वैसे ही संसार जैसा दारुण । मिलते ही जो हरता थकान ।
ज्ञान-दानमें वह सकरुण । भजता गुरु ॥ ८ ॥
तथा अग्निमें जो स्वधर्मकी । मलिनता देह-अहंताकी ।
मिटाना पुट देके आवृत्तिकी । पुनः पुनः पार्थ ॥ ९ ॥
भूतजातमें वह वस्तुको जान । करता परोपकार औ' नमन ।
स्त्री-विषयमें करता क्षण क्षण । निग्रह मनका ॥ २१० ॥
जन्मके ही प्रसंग । स्पर्श हुवा स्त्री अंग ।
आगे है जन्म सांग । रखना शुद्ध ॥ ११ ॥
भूतजातमें एक । वस्तुको वह देख ।
नहीं जो तृण तक । करता भंग ॥ १२ ॥
इस भांतिका जब आचरण । करता रहता जिसका तन ।
तब उसमें खिला यह जान । शारीरिक तप ॥ १३ ॥
करना यह सब पार्था । देहसे ही है विशेषता ।
तभी मैं उसको कहता । तप शारीरिक ॥ १४ ॥
एवं शारीरिक जो तप । दिखाया है उसका रूप ।
कहता हूं सुन निष्पाप । तप वाङ्मय ॥ १५ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५॥

वाणीका तप सात्विक—

लोहेका आकार तूक । न घटाकर कनक ।
करता कैसे है देख । पारस वैसे ॥ १६ ॥

हितार्थ बोलना सत्य प्रेमसे न खले कभी ।
स्वाध्याय करना नित्य वाणीका तप है कहा ॥ १५ ॥

ऐसे जो नहीं दुखाता । जो सुनता सुख पाता ।
ऐसा ही वह बोलता । साधुतासे ॥ १७ ॥

पानी तो वृक्षको दिया जाता । किंतु पासका घास उगता ।
ऐसे है एकसे कहा जाता । होता सबका सुख ॥ १८ ॥

जैसे अमृतकी गंगा बहकर । करती है वह प्राणोंको अमर ।
स्नानसे पाप ताप विनाश कर । देती है शांति ॥ १९ ॥

वैसे है अविवेकको मिटाता । अपना अनादित्व दिलाता ।
पीयूषसा रुचि न विघडाता । सुननेवालेकी ॥ २२० ॥

जब कोई है पूछता । तब है ऐसा बोलता ।
या आवर्तन करता । नाम या निगम ॥ २१ ॥

ऋग्वेदादि जो है तीन । जा बसते वाग्भुवन ।
बनता जैसे वदन । ब्रह्मशाला ॥ २२ ॥

नहीं तो कोई भी नांव । शैव अथवा वैष्णव ।
बनाता वाचा वाग्भव । तप मानके ॥ २३ ॥

मानसिक तप, सात्विक—

अब तप जो मानसिक । यह भी कहता हूं देख ।
कहे लोक-नाथ नायक । इस समय ॥ २४ ॥

मनःप्रसादःसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

सरोवरको यदि तरंग । तजते हैं आकाशको मेघ ।
या चंदन-वनको आग । उसी भांति ॥ २५ ॥

नाना कला-वैषम्य चंद्र । तजती चिंतायें नरेंद्र ।
अथवा है क्षीर समुद्र । मंदराचल ॥ २६ ॥

प्रसन्न वृत्ति सौम्यत्व आत्म-चिंतन संयम ।
भावना रखना शुद्ध मनका तप है कहा ॥ १६ ॥

वैसे नाना विकल्प-जाल । छोड़कर जाते सकल ।
मन रहता है केवल । स्वरूपावस्थामें ॥ २७ ॥

उष्णताके बिन प्रकाश । जाड्य बिन अन्नमें रस ।
रिक्तता बिन अवकाश । होता जैसे ॥ २८ ॥

देखकर अपना विश्रांति-स्थान । अपना स्वभाव छोड़ता है मन ।
शीतसे कांपने न देता है तन । अपने ही शीतसे ॥ २९ ॥

जैसे अचल कलंक बिन । चंद्र-बिंब होता परिपूर्ण ।
वैसे सुशोभित स्वच्छ मन । होता है जो ॥ २३० ॥

मिट गये हैं वैराग्यके आघात । तथा पचा मनका अस्वास्थ्य पार्थ ।
बन गया है वहां उत्तम खेत । निज-बोधका ॥ ३१ ॥

तभी विचार करने शास्त्र । चलना चाहते जो एकत्र ।
वह है कभी वाचाका सूत्र । नहीं पकड़ता ॥ ३२ ॥

स्व-लाभका लाभ होते ही जब । मनका मनत्व मिटता तब ।
नीर-स्पर्शसे पिघलता सब । लवण जैसे ॥ ३३ ॥

जब वहां भाव ही नहीं उठता । इंद्रियोंके पीछे वह कैसे दौडता ।
तब यह कैसे कह तू पहुंचता । विषय-ग्राममें ॥ ३४ ॥

इसीलिये है मनमें ऐसे । भाव-शुद्धि होती है आपसे ।
रोम-शुद्धि हथेलीपे जैसे । होती है आप ॥ ३५ ॥

अधिक क्या कहें अर्जुन । यह दशा पाता है मन ।
तब मन-तपाभिधान । प्राप्त करता ॥ ३६ ॥

किंतु अब तू यह जान । मानस तपका लक्षण ।
श्रीकृष्ण कहता संपूर्ण । कहा मैने ॥ ३७ ॥

इसीलिये देह वाचा चित्त । करता जो विविधत्व प्राप्त ।
वह है सामान्य तप पार्थ । जाना तूने ॥ ३८ ॥
अब गुण-त्रयके संगसे । यही त्रिविध रूप लेनेसे ।
क्या होता यह प्रज्ञा बलसे । सुन तू अब ॥ ३९ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

सात्विक तप—

तभी यह तप है त्रिविध । कहा है तुझसे प्रबुद्ध ।
वह करें हो पूर्ण श्रद्ध । छोडके फलाशा ॥ २४० ॥

वह संपूर्ण सत्व-शुद्धि । करता हो आस्तिक बुद्धि ।
तब उसको है सुबुद्धि । कहते तप सात्विक ॥ ४१ ॥

राजसिक तप—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

या करने तपका स्थापन । जगमें द्वैत कर उत्पन्न ।
प्राप्त करने सर्वोच्च स्थान । लोगोंमें तब ॥ ४२ ॥

तथा त्रिभुवनका सन्मान । नहीं पाये कोई अन्य जन ।
पंगतमें सर्वोच्च आसन । पाने भोजनमें ॥ ४३ ॥

अथवा विश्वके स्तोत्र । बनना है आप मात्र ।
विश्व ही अपनी यात्रा । करने आये ॥ ४४ ॥

तथा लोगोंसे ले पूजा विविध । आश्रय बने आप यह साध ।
इससे भोग भोगें सर्व-विध । इस आशासे ॥ ४५ ॥

करके अंगांगका शृंगार । सजाता है तपसे शरीर ।
तडपती बेचने शरीर । वेश्या जैसे ॥ ४६ ॥

रखके धन-मानमें आस । तपते हैं करके आयास ।
तब ऐसा ही तप राजस । कहलाता है ॥ ४७ ॥

त्रिविध तप जो सारा श्रद्धा उत्कट जोडके ।
तजके फलकी आशा होता है वह सात्विक ॥ १७ ॥
चाहके मान सत्कार करते दंभ-पूर्वक ।
वह चंचल तू जान तप राजस अस्थिर ॥ १८ ॥

पहुरणी जब थन चूसता । गायके पास दूध न रहता ।
या जानवर खेतको चरता । न मिलती उपज ॥ ४८ ॥

तपका ऐसे प्रदर्शन । करनेसे वह अर्जुन ।
होता है फलसे विहीन । कष्टसे जो किया था ॥ ४९ ॥

देख कर ऐसे विफल । छोड़ता है तप सकल ।
तभी होता वह चंचल । तप राजस ॥ २५० ॥

जैसे अकालके बादल । भर देते नभ-मंडल ।
नहीं टिकते क्षण-काल । गरज कर भी ॥ ५१ ॥

राजस तप ऐसा होता । फलते निष्फल बनता ।
आचरणमें न टिकता । सिद्धि तक ॥ ५२ ॥

देख तू अब वही तप । किया जाता तामस रूप ।
इह-परमें परंतप । होता व्यर्थ ॥ ५३ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

तामसिक तप-

केवल मूर्खताका संचार । जीवमें होकर धनुर्धर ।
माना जाता अपना शरीर । शत्रुरूप ॥ ५४ ॥

जहां पंचाग्निकी ज्वाल । जलाती देह सकल ।
मानो तन मन बल । बनाके समिधा ॥ ५५ ॥

मस्तकपे जलाते गुग्गूल । या पेटमें चुभाते हैं कील ।
या जलाते हैं अंग सकल । आगसे अपना ॥ ५६ ॥

तथा रोककर श्वासोच्छ्वास । करते व्यर्थ ही उपवास ।
या करते धूममें वास । हो अधोमुख ॥ ५७ ॥

हठसे जो किया जाता करके आत्म-पीडन ।
तथा जो पर-घातार्थ कहाता तप तामस ॥ १९ ॥

तथा हिमोदकमें आकंठ । नदीमें या पाषाणपे बैठ ।
जीते मांसके टुकडे काट । डालते हैं ॥ ५८ ॥

ऐसे भांति भांतिसे काया । जला घुलाके धनंजया ।
नाशार्थ तप कहलाया । दूसरोंके ॥ ५९ ॥

अंग-भारसे छूटा पाषाण । गिरके टूटता आप जान ।
आता है जो उसका हनन । करता राहमें ॥ २६० ॥

अपनेको देकर दुःख । पाते रहते हैं जो सुख ।
करने उन्हे अधोमुख । तप जो करते ॥ ६१ ॥

ऐसे दुःखका कर स्वीकार । करते हैं तप धनुर्धर ।
स्व-पर घातक हैं जो घोर । तप तामस ॥ ६२ ॥

ऐसे सत्वादिके कारण । होते तपके प्रकार तीन ।
उसको व्यक्त किया है जान । स्पष्ट रूपसे ॥ ६३ ॥

करनेमें अब कथन । सहज प्रसंग है जान ।
कहता दानका लक्षण । तीन प्रकारके ॥ ६४ ॥

इन्ही गुणके कारण । दान भी त्रिविध जान ।
वही तू पहले सुन । सात्विक कैसे ॥ ६५ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

सात्विक दान—

करते स्वधर्माचरण । पाया है आप जो धन ।
उसको देना स-संमान । किसी समय ॥ ६६ ॥

मिलता सु-बीज प्रसंग । नहीं मिलता खेत चांग ।
ऐसा यह दानका योग । दीखता मुझे ॥ ६७ ॥

अनर्घ्य रत्न चढ़ता हाथ । तब स्वर्ण न मिलता पार्थ ।
दोनो मिलते हैं एक साथ । न आता ऐसा योग ॥ ६८ ॥

धर्मके भावसे देना उपकार न चाहके ।
देश काल तथा पात्र देखके दान सात्विक ॥ २० ॥

किंतु पर्व सुहृद संपत्ति । इन तीनोंकी होती है युति ।
जब करता भाग्य उन्नति । अपना तब ॥ ६९ ॥

इस भांति होता हो तो दान । बने जो सत्वका संघटन ।
वहां है देश-काल भाजन । सब उगते हैं ॥ २७० ॥

करना पहला ऐसा प्रयास । होना कुरुक्षेत्र या काशीवास ।
नहीं हो तो ऐसा कोई देश । धनुर्धर ॥ ७१ ॥

तब हो रवि-चंद्र राहु मेल । होने पाये ऐसा ही पुण्य-काल ।
अथवा हो ऐसा कोई निर्मल । काल दूसर ॥ ७२ ॥

ऐसे ही स्थल-काल हो एकत्र । मिले ऐसे ही संपत्ति पात्र ।
जैसे मूर्त-रूप ही पवित्र । आया हो वहां ॥ ७३ ॥

सदाचारका हो सदन । चलता हो वहां वेद-दान ।
ऐसे द्विज-रत्न पावन । आया हो वहां ॥ ७४ ॥

उनके पद-तलमें पार्था । उत्सर्ग करना वित्त सत्ता ।
जैसे पतिके सम्मुख कांता । आती जैसे ॥ ७५ ॥

या पराई धरोहर । सांस लेते लौटाकर ।
या राजाको जो किंकर । देता है पान ॥ ७६ ॥

ऐसे हो निष्काम अंतःकरण । करना भूमि धनादि अर्पण ।
तथा उठने न देना अर्जुन । फलेच्छा कभी ॥ ७७ ॥

और जिसको देना है दान । पात्र वह ऐसे हो अर्जुन ।
न करे कभी उसका मन । लौटानेका नाम ॥ ७८ ॥

यदि कोई आकाशको पुकारता । आकाश उसका उत्तर न देता ।
या उलटे देखनेसे न दीखता । दर्पणमें जैसे ॥ ७९ ॥

गेंद जैसे पानी पर । मारनेसे भी दे जोर ।
न आता उछलकर । अपने हाथमें ॥ २८० ॥

अथवा सांडको दिया चारा । तथा कृतघ्नको माना प्यारा ।
न मानते वे उपकार । उसी भांति ॥ ८१ ॥

करता है जो दानका अंगीकार । न कर सके कभी प्रत्युपकार ।
वैसे रहता दाताको भूलकर । चितमें भी वह ॥ ८२ ॥

ऐसी परिस्थितिमें जो दान । सहज दिया गया अर्जुन ।
जान तू वही सात्विक दान । सबमें श्रेष्ठ ॥ ८३ ॥

वही है स्थल और काल । घटता पात्रका सुमेल ।
दान-भाग भी है निर्मल । होना न्यायगत ॥ ८४ ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

राजसिक दान—

दूधकी आशा मनमें रखकर । लाते हैं नित गायको चराकर ।
तथा उपजकी आशा रखकर । करते खेत जैसे ॥ ८५ ॥

या दृष्टि रख उपहार पर । बुलाते हैं आप्तोंको घर पर ।
या वायन भेजते घर पर । गोद भरनेवालोंके ॥ ८६ ॥

काटकर सूदका धन । देते हैं जैसे आप ऋण ।
या लेकर शुल्कका धन । औषध वैद्य ॥ ८७ ॥

जैसे जिसे दिया जो दान । काम आये वह स-साधन ।
ऐसी भावना रख अर्जुन । दिया जाता जो ॥ ८८ ॥

अथवा कोई राह चलता । जो है किसी काम नहीं आता ।
मिलता है तब पांडुसुत । द्विजोत्तम ऐसा ॥ ८९ ॥

एक भी कवडीके लिये । गोत्रजोंने जो पाप किये ।
सर्व प्रायश्चित्तके लिये । छोडता उदक ॥ २९० ॥

वैसे ही पारलौकिक । वांछना रख अनेक ।
दिया जाता वह एक । ग्रासमें भी न आता ॥ ९१ ॥

उपकार अपेक्षासे अथवा फल चाहके ।
क्लेष-पूर्वक जो देते जान तू दान राजस ॥ २१ ॥

ले जाता ब्राह्मण जब दान । थकता बडी हानि मान ।
लूट लिया सारा ही धन । चोरोंने जैसे ॥ ९२ ॥

सुन इस मनोवृत्तिसे । दिया जाता जो दान उसे ।
कहाता त्रिलोकमें जैसे । राजस दान ॥ ९३ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

तामसिक दान—

म्लेंच्छोंका जो वसति-स्थान । धर्म-हीन स्थान या वन ।
या शिबिर हो या कुस्थान । चौराहेका ॥ ९४ ॥

ऐसे स्थान पर धनंजय । सांझ हो या रातके समय ।
उदारतासे करता व्यय । चोरीका धन ॥ ९५ ॥

पात्र वहां ग्राम या नागारी । सामान्य स्त्रियां हो या जुआरी ।
मूर्तिमंत जो भूलसे पूरी । भूल-मात्र ॥ ९६ ॥

रूप नृत्यका जो प्रदर्शन । होता वहां आंखोंको दर्शन ।
तथा भाटोंका गीत-श्रवण । होता कर्ण जप ॥ ९७ ॥

अल्प-स्वल्प फिर जो मादक । पुष्प चंदनादि सुगंधिक ।
उसमें उतरता भ्रामक । वेताल तामस ॥ ९८ ॥

वहां लूटे हुए अनेक । भूषण स्वर्ण-रत्नादिक ।
डालता अन्न छत्र एक । वधिकोंको जैसे ॥ ९९ ॥

ऐसे जो जो है दिया जाता । उसे मैं तामस कहता ।
उसमें भी दैवसे होता । और सुयोग ॥ ३०० ॥

दैवयोगसे गुणाक्षर घडता । अथवा तालियोंमें काग फंसता ।
वैसे ही देशमें आ जुडता । तामसोंका पर्व ॥ १ ॥

धरके भावना तुच्छ देश काल न देखके ।
बिना आदर जो देते जान तू दान तामस ॥ २२ ॥

जब देख तमोगुणी संपन्न । भाग्यसे आया कोई लेने दान ।
तब वह फूलता साभिमान । नशामें उन्मत्तसा ॥ २ ॥
नहीं होती मन में श्रद्धा पार्थ । न झुकाता वह अपना माथ ।
आप नहीं करता या कराता । अर्घ्यादिक ॥ ३ ॥
नहीं देता अभ्यागतको आसन । वहां गंधाक्षतकी बात ही कौन ।
तामसमें कहां ये सब लक्षण । कह तू होंगे संभव ॥ ४ ॥
कुछ देकर जैसे लौटाते ऋणदाता । वैसे उसके हाथमें वह कुछ देता ।
तू तुकार कर बोलना उसका होता । स्वभाव सदैव ॥ ५ ॥
जिसको जो कुछ जब वह देता । उसीमें करता उसकी योग्यता ।
या उसका अपमान भी करता । कुवचनोंसे ॥ ६ ॥
होता है जो इस प्रकार । धन देता पांडुकुमार ।
उसे कहता चराचर । तामस दान ॥ ७ ॥

सत्वको स्पष्ट करनेके लिये रज तम दिखाया है—

ऐसे हैं जिनके लक्षण । इन लक्षणोंके जो तीन ।
कहे हैं ये दान दे ध्यान । रज तम पर ॥ ८ ॥
यहां मैं यह जानता । मनमें है तू सोचता ।
तेरी यह कल्पकता । है विलक्षण ॥ ९ ॥

जो है भव-बंध मोचक । कहा गया कर्म सात्विक ।
तब क्यों कहता सदोष । कर्मका लक्षण ॥ ३१० ॥
जैसे पिशाचको नहीं हठाते । गढ़ा हुवा धन न पा सकते ।
या यदि धुंएको नहीं सहते । न लगता दीप ॥ ११ ॥
शुद्ध सत्व पर भी वैसे सतत । पट पडता रज-तमका पार्थ ।
उसको भेदनेकी यह जो बात । अस्वाभाविक क्या ? ॥ १२ ॥
श्रद्धा दानादि जो सभी पार्थ । हमने तुझको क्रियाजात ।
कहे हैं अब उसमें व्याप्त । तीनों ही गुण ॥ १३ ॥
वहां कहनेके ये जो तीन । उद्देश्य न रखता था मन ।
बतानेमें सत्वके लक्षण । कहे ये दो भी ॥ १४ ॥

दोनोंमें जब तीसरा होता । दोनोंको तजनेसे मिलता ।
अहोरात्र त्यागसे मिलता । संध्यारूप जैसे ॥ १५ ॥

वैसे रज-तमका विनाश । डालता उत्तम प्रकाश ।
तब दीखता सत्व विशेष । स्पष्टरूपसे ॥ १६ ॥

एवं दिखानेमें सत्व तुझ । दिखाया है तम तथा रज ।
वह छोड़ सत्वसे तू काज । साध ले अपना ॥ १७ ॥

सत्वसे जो ऐसे निर्मल । कर तू यज्ञादि सकल ।
जिससे होगा करतल । सकल सिद्धि ॥ १८ ॥

सूर्य जब प्रकाशित करता । जगमें तब क्या न दीखता ।
वैसे ही सत्वसे नहीं मिलता । फल वह कौन ॥ १९ ॥

अजी ! जो मन भाया फल । प्राप्त करनेमें सकल ।
तथा मोक्षमें भी निश्चल । होता समर्थ ॥ ३२० ॥

इससे भिन्न है बात एक । उसका साथ मिलता नेक ।
तब पैठता वह सात्विक । मोक्ष-ग्राममें ॥ २१ ॥

होता है जब स्वर्ण शुद्ध । तथा राजाक्षरसे सिद्ध ।
चलन कहाता प्रसिद्ध । उसी भांति ॥ २२ ॥

स्वच्छ शीतल सुगंध । जल होता सुख-प्रद ।
किंतु पावित्र्य संबंध । आता तीर्थसे ॥ २३ ॥

नाला हो कितना ही अपार । जब गंगा करती स्वीकार ।
तब होता उसका सागर-। प्रवेश संभव ॥ २४ ॥

वैसा सात्विक कर्म अर्जुन । करने आता मोक्षालिंगन ।
न होता तब अधिक जान । भिन्न जो वह बात ॥ २५ ॥

सुन यह वचन धनुर्धर । कहता हृदय उमड़ कर ।
प्रभो ! कह वह कृपा कर । अति शीघ्र ॥ २६ ॥

तब वह कृपा-गुण-चक्रवर्ती । कहता सुन उसकी अभिव्यक्ती ।
दिखाता जो सात्विक कर्म मुक्ती- । दीप सदैव ॥ २७ ॥

यज्ञादिके आदि लेनेका मंगल-नाम—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ऐसे अनादि परब्रह्म । जगदादि विश्रामधाम ।
उसका है एकही नाम । कहा तीन प्रकारसे ॥ २८ ॥

वास्तविक वह नाम जाति रहित । किंतु पडे जो अविद्यातममें ग्रस्त ।
उनके लिये श्रुतिने किया चिन्हित । जाननेमें उसे ॥ २९ ॥

नव जात शिशुको जैसे । कोई नाम न होता उसे ।
बुलाते तो रखे नामसे । जी कह उठता ॥ ३३० ॥

संसार-दुःखसे जो हैं पीडित । जीव आते उसके पास नित ।
उनको ओ! देता है संकेत । जो यह नाम ॥ ३१ ॥

मिटे पर-ब्रह्मका चिर-मौन । तथा अद्वयत्वसे हो मिलन ।
ऐसा मंत्र दिया हो सकरुण । श्रुति-माताने ॥ ३२ ॥

वेदका दिया हुवा जो नाम । सुनते ही वह पर-ब्रह्म ।
सम्मुख आता वह परम । होता जो पीछे ॥ ३३ ॥

किंतु निगमाचल शिखर पर । बसे जो उपनिषदार्थ नगर ।
करते वहां ब्रह्म सह विहार । वही जानते यह ॥ ३४ ॥

रहने दे वह प्रजापति । रखता सृष्टि कर्तृत्व-शक्ति ।
उसका आधार है आवृत्ति । इस नामकी ॥ ३५ ॥

हुवा जब सृष्टिका उपक्रम । सुन अर्जुन उसके प्रथम ।
पगलाया हुवा-सा यह ब्रह्म । था अकेला ही ॥ ३६ ॥

मुझ ईश्वरको जो न जानता । तथा सृष्टि भी न कर सकता ।
ऐसेको वह महान बनाता । नाम एक ॥ ३७ ॥

ॐ तत्सत् तीन नामोंसे किया निर्देश ब्रह्मका ।
जिससे ये हुए वेद यज्ञ याज्ञिक आदि में ॥ २३ ॥

उस नामका हृदयमें चिंतन । उस वर्ण-त्रयका नित स्मरण ।
करनेसे योग्यता विश्व-सृजन । आयी उसमें ॥ ३८ ॥
रचे तब ब्रह्माने जन । तथा वेद जैसे शासन ।
और यज्ञ सम वर्तन । जीवन रूप ॥ ३९ ॥
ऐसे कितने लोक फिर । सृजन किये हैं अपार ।
ब्रह्म-दत्त दे अग्रहार । बने त्रिभुवन ॥ ३४० ॥
ऐसे नाम-मंत्रसे महान । बना जो ब्रह्मदेव अर्जुन ।
उसका रूप अब तू सुन । कहता श्रीकांत ॥ ४१ ॥

ओं तत्सत्का दर्शन—

यहां सब मंत्रोंका राजा । आदि प्रणव वह दूजा ।
है तत्कार और जो है तीजा । वहां सत्कार ॥ ४२ ॥
एवं जो ओं तत्सदाकार । ब्रह्मनाम त्रि-प्रकार ।
पुष्प सुगंध सुंदर । लेते उपनिषद ॥ ४३ ॥
इनसे होकर जब एक । कर्म चलता है सात्विक ।
बन जाता है नित सेवक । मोक्ष घटमें ॥ ४४ ॥
कर्पूरके भी अलंकार । देगा यदि दैव लाकर ।
उन्हे चढाना देह पर । है कठिनाई ॥ ४५ ॥
वैसे आचरण किया सत्कर्म । उच्चारण किया ब्रह्मका नाम ।
किंतु नहीं जानता यदि मर्म । विनियोगका ॥ ४६ ॥
साधुओंका समुदाय । घर आता धनंजय ।
किंतु होगा पुण्यक्षय । अवज्ञासे ॥ ४७ ॥
अथवा करने अलंकार । स्वर्णकी पोटली बंधकर ।
गलेमें बांधली धनुर्धर । उसी भांति ॥ ४८ ॥
लेता मुखसे ब्रह्म-नाम । हाथमें हैं सात्विक कर्म ।
प्रयोगके बिन जो कर्म । होता व्यर्थ ॥ ४९ ॥
अजी ! अन्न और जो भूख । साथ रखा हुवा भी देख ।
खाना न जानता बालक । घडता उपवास ॥ ३५० ॥

था स्नेह बात इक ठौर । आने पर पांडुकुमार ।
जलाना न जाने पर । प्रकाश कैसे ? ॥ ५१ ॥

आया कृत्य समय अर्जुन । तथा मंगलका हुवा स्मरण ।
किंतु कार्य है वह अपूर्ण । बिना प्रयोगके ॥ ५२ ॥

तभी वर्ण-त्रयात्मक । पर-ब्रह्म नाम एक ।
विनियोग सुन नेक । इस समय ॥ ५३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

नामके हैं जो तीन अक्षर । कर्मके आदि मध्य नंतर ।
प्रयोग करना सविचार । यही तीन ॥ ५४ ॥

ओंका महत्व—

यही हाथ दीप लेकर । करने ब्रह्म साक्षात्कार ।
आये हैं सब धनुर्धर । ब्रह्म-ज्ञनी ॥ ५५ ॥

ब्रह्मसे होनेमें अद्वैत । यज्ञसे न होते वंचित ।
जानते शास्त्रोंको जो पार्थ । किसी समय ॥ ५६ ॥

सर्व-प्रथम वे ओंकार । ध्यानसे करते गोचर ।
फिर करते हैं उच्चार । वाणीसे भी ॥ ५७ ॥

उसके ध्यानसे प्रकट । प्रणवोच्चार होता स्पष्ट ।
तब करते हैं वे श्रेष्ठ । क्रियाचरण ॥ ५८ ॥

अंधेरेमें जैसे दीप अभंग । अरण्यमें समर्थ साथी संग ।
वैसे जानना प्रणवका योग । कार्यारंभमें ॥ ५९ ॥

धर्म-मार्गसे पाया हुवा धन । वेदोक्त देवोद्देश्यसे अर्जुन ।
यज्ञोंमें ब्राह्मणोंद्वारा अर्पण । करते हैं जो ॥ ३६० ॥

सदा प्रथम ओंकार बोल कर उपासक ।
करते हैं अनुष्ठान यज्ञ दान तपादिक ॥ २४ ॥

हवनादि जो अग्निमें । त्यागादिरूप आहुतिमें ।
यज्ञ-विविध विधानोंमें । करते निष्णात ॥ ६१ ॥

ऐसे विविध-रूप याग । निष्पन्न होकर तदंग ।
करते हैं उपाधि त्याग । जो हैं असार ॥ ६२ ॥

या न्यायसे प्राप्त पवित्र । भूमि आदि जो स्वतंत्र ।
देश-कालादि शुद्ध पात्र । देख देते दान ॥ ६३ ॥

अथवा एकांतर कृच्छ्रादिव्रत । चांद्रायण मासोपवास सहित ।
शोषण कर देह-धातुका नित । करते हैं तप ॥ ६४ ॥

एवं यज्ञ दान तप । प्रसिद्ध बंधन-रूप ।
बना लेते परंतप । मोक्ष-साधन ॥ ६५ ॥

स्थल पर जो है महा बोझ । नांव तैराती जलमें तुझ ।
बंधनसे मुक्त जो सहज । करता नाम वैसे ॥ ६६ ॥

ऐसे वे सब धनंजया । यज्ञादिक हैं सभी क्रिया ।
ओंकारके लेके सहाय । चलते हैं ॥ ६७ ॥

तथा होती जब फलाशा स्पर्श । तब सावध साधक सोल्हास ।
उच्चार कर तत्कार विशेष । करते अर्पण ॥ ६८ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

तत्कारसे होनेवाले लाभ—

वस्तु है जो विश्वातीत । तथा जो विश्व-लक्षित ।
ऐसे तत् शब्दसे व्यक्त । होती है वर वस्तु ॥ ६९ ॥

चित्तमें सर्वादिकत्व नित । ध्यान करके तद्रूप पार्थ ।
उच्चार करके अभिव्यक्त । करते स्पष्ट ॥ ३७० ॥

तत् के स्मरणसे सारी टूटती फल-वासना ।
नाना यज्ञ तप दान करते मोक्ष साधक ॥ २५ ॥

यह हो तद्रूप ब्रह्मार्पण । न रहे यहां फल-कारण ।
भोग रूप न रहे स्मरण- । बीजका भी ॥ ७१ ॥

ऐसे तदात्मक जो ब्रह्म । साकार वहां सब कर्म ।
कह कर इदं न मम । झटक देते हैं ॥ ७२ ॥

ओंकारसे ऐसे प्रारंभ कर । तथा तत्कारमें अर्पण कर ।
कर्मको बनाया इस प्रकार । ब्रह्मकर्म ॥ ७३ ॥

हुवा वह कर्म ब्रह्मकार । इससे न होता कार्य भार ।
कर्ता कर्मका रहा विचार । भिन्नत्वका जो ॥ ७४ ॥

रूपसे लवण घुल जाता । किंतु स्वादसे जो रह जाता ।
वैसे द्वैत-भावसे रहता । कर्ता जो भिन्न ॥ ७५ ॥

रहता जब द्वैतका भान । होता भव-भयका कारण ।
ऐसे स्वमुखसे हैं श्रीकृष्ण । बोलते वेद ॥ ७६ ॥

तभी जो परत्वमें ब्रह्म रहता । उसको आत्मत्वमें जानना होता ।
सत् शब्द ऋण दोषार्थ रखता । यहां श्रीकृष्ण ॥ ७७ ॥

तो भी यहां ओंकार तत्कारमें । ब्रह्म-कर्म किया जो शरीरमें ।
वह कर्म प्रशस्तादि शब्दोंमें । किया है बखान ॥ ७८ ॥

उस प्रशस्त कर्ममें है । सत् शब्दका विनियोग है ।
वहीं जो प्रभु कहता है । सुनो अब ॥ ७९ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

सत् भावसे होनेवाले लाभ—

सत् शब्दका यहां सारांश । असत् नास्थका हो निरास ।
दीखते हैं रूप निर्दोष । सत्ताका यहां ॥ ३८० ॥

सत्का स्मरण देता है सत्यता और साधुता ।
वैसे ही कर्म-सौंदर्य कहा सत्कारका फल ॥ २६ ॥

जिस सत्ताका रूप सतत । रहता है स्थल-कालातीत ।
तथा होता है जो अखंडित । अपने आपमें ॥ ८१ ॥
जितना जो है यह दीखता । असत् यह वह नहीं होता ।
रूप जो यह जानता पाता । उसका आश्रय ॥ ८२ ॥
इससे वह प्रशस्त कर्म । हुवा है जो सर्वात्मक ब्रह्म ।
कर देखना उससे सम । ऐक्य बोधसे ॥ ८३ ॥
ओंकार तथा जो तत्कार । दिखाता कर्म ब्रह्माकार ।
होना उसे निगलकर । केवल ब्रह्म ॥ ८४ ॥
ऐसा यह अंतरंग । सत् शब्दका विनियोग ।
कहता यह श्रीरंग । मैं नहीं कहता ॥ ८५ ॥
यदि कहता मैं, मैं यह कहता । श्रीरंगमें द्वैतकी आती हीनता ।
इसीलिये यह वचन है कहता । श्रीहरिका ही ॥ ८६ ॥

सत् शब्दका और एक अर्थ—

अब और ही एक प्रकार । सत् शब्दका सुन तू धनुर्धर ।
करता सात्विक कर्म पर । उपकार जो ॥ ८७ ॥
सत्कर्म चलते हैं सुंदर । अपने अधिकारानुसार ।
जब कोई अंग धनुर्धर । होता हीन कस ॥ ८८ ॥
एक अवयवकी दुर्बलता । शरीर व्यापारको ही रोकता ।
या किसी अंगसे है रुक जाता । रथका वेग ॥ ८९ ॥
वैसे ही एक गुणके बिन । संतमें आता असंतपन ।
तब सत्कर्म बनाता है जान । असत्कर्म ॥ ३९० ॥
तब ओंकार तथा तत्कार । करते हैं कर्मको सुंदर ।
वैसे ही उसका जीर्णोद्धार । करता सत् शब्द ॥ ९१ ॥
कर्मके असत्को यह मिटाता । उसमें सद्भाव रूढ करता ।
निज सत्वकी प्रौढ़ता बढ़ाता । यह सत् शब्द ॥ ९२ ॥
दिव्यौषधिसे रोगीको जैसे । असहायको सहायतासे ।
कर्म-व्यंगमें सत् शब्द वैसे । करता पूर्ण ॥ ९३ ॥

अथवा हो कोई प्रमाद । कर्म छोडकर मर्यादा ।
भूलसे राहपे निषिद्ध । राहपे वहां ॥ ९४ ॥

चलते हुए भी मार्ग भूलता । तज्ञोंकी दृष्टिमें वह आता ।
व्यवहारमें क्या नहीं होता । कह तू मुझे ॥ ९५ ॥

इसीलिये ऐसे जो कर्म होते । अविचारसे सीमाको लांघते ।
असाधुता दुर्नाम पहुंचते । उस समय ॥ ९६ ॥

वहां पर यह सत् शब्द । उन दोनोंसे है प्रबुद्ध ।
नियोजित साधुता-सिद्ध । उस कर्मका ॥ ९७ ॥

जैसे लोह पारसकी धृष्टि । नाला और गंगाकी भेटी ।
अथवा मृत पर हो वृष्टि । अमृतकी जैसे ॥ ९८ ॥

असाधु कर्ममें अर्जुन । सत् शब्द प्रयोग तू जान ।
रहता है जो बड़प्पन । इस शब्दका ॥ ९९ ॥

जान कर यह सब मर्म । विचार करेगा यह नाम ।
यही है केवल पर-ब्रह्म । अनुभवेगा तू ॥ ४०० ॥

यह नाम शुद्ध पर-ब्रह्म है—

देख तू यह औ' तत् सत् ऐसे । वहां पहुंचते बोलनेसे ।
सब प्रकाशता है जहांसे । दृश्य विश्व यह ॥ १ ॥

वह है पूर्ण निर्धर्म । शुद्ध ऐसा पर-ब्रह्म ।
यह अंतरंग नाम । करता व्यक्त ॥ २ ॥

आश्रय आकाशका जैसा । केवल आकाश है वैसा ।
यह नाम सबमें वैसा । है अभेद ॥ ३ ॥

आकाशमें जो उदय होता । सूर्य ही सबको प्रकाशता ।
वैसे है नाम ही प्रकाशता । नामीको यहां ॥ ४ ॥

तभी तीन अक्षरोंका नाम । नाम नहीं है केवल ब्रह्म ।
यह जान कर जो जो कर्म । किया जाता है ॥ ५ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

याग हो अथवा दान । तथा तपादि गहन ।
पूर्ण अथवा अपूर्ण । रहे वह ॥ ६ ॥

पारसकी कसौटी पर जैसे । भले बुरेकी बात न हो वैसे ।
ब्रह्ममें अर्पण करते जिसे । वह है ब्रह्म-रूप ॥ ७ ॥

नहीं रहते पूर्ण या अपूर्ण । किये जाते कर्म जो ब्रह्मार्पण ।
देखी न जाती सिंधुमें अर्जुन । जैसे नदियां ॥ ८ ॥

ऐसे पार्थ तेरे प्रति । ब्रह्म नामकी है शक्ति ।
कही है स-उपपत्ति । बुद्धिमान तू ॥ ९ ॥

तथा एकेक अक्षर । भिन्न भिन्न स्पष्ट कर ।
विनियोग धनुर्धर । कहा तुझसे ॥ ४१० ॥

अब ऐसे सु-महिम । इसीलिये है ब्रह्मनाम ।
जान लिया न यह मर्म । तूने अर्जुन ॥ ११ ॥

तभी इस पर श्रद्धा । बढ़ती रहने दो सदा ।
उसका विनियोग कदा । रुकने न देना ॥ १२ ॥

जिस कर्ममें यह प्रयोग । अनुष्ठान किया सद्विनियोग ।
वहां अनुष्ठान किया सांग । वेदविदित ॥ १३ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

तप यज्ञ तथा दान करता कर्म साधक ।
उसमें बरता जाता उसको सत् कहा गया ॥ २७ ॥

अश्रद्धासे किया कर्म यज्ञ दान तपादिक ।
असत् वह कहा जाता होता सर्वत्र निष्फल ॥ २८ ॥

श्रद्धाहीन कार्य कभी सफल नहीं होता—

अथवा नामको छोड़कर । तोडकर श्रद्धाका आधार ।
दुराग्रह बल बढ़ाकर । धनंजय ॥ १४ ॥

अश्वमेध किये अगणित । रत्नमय पृथ्वी-दान पार्थ ।
एकांगुष्ठ तप भी सतत । किया गया ॥ १५ ॥

जलाशयके नाम पर । बन गये नये सागर ।
किंतु वे सब धनुर्धर । व्यर्थ ही मान ॥ १६ ॥

पत्थर पर मेघ बरसना । या राखमें हवन किया जाना ।
या प्रेमसे आलिंगन करना । अपनी छायाका ॥ १७ ॥

या आकाशको बेंत । मारना जैसे पार्थ ।
वैसे ही सब है व्यर्थ । यह समारोह ॥ १८ ॥

कोल्हूमें कंकडका घान डाला । उससे न खली न तेल मिला ।
किंतु अपना दारिद्र्य सकल । रहा साथ ही ॥ १९ ॥

गांठमें बंधा हुवा ढेला । यहां या वहां नहीं चला ।
जिससे मर गया भला । उपवाससे ॥ ४२० ॥

वैसे कर्म जात सकल । नहीं देते हैं यहां फल ।
तब होंगे वहां विफल । कहना रहा क्या ॥ २१ ॥

ब्रह्म नामकी श्रद्धा तजकर । करनेमें ये सभी व्यवहार ।
व्यर्थ ही जान तू पांडुकुमार । केवल दिखानेके ॥ २२ ॥

जो कलुष-कुल-केसरी । त्रिताप-तिमिर-तमारी ।
वीरवर श्रीनरहरी । बोलते ऐसे ॥ २३ ॥

निजानदमें तद्रूप । हुवा तब परंतप ।
चंद्रमा जैसे तद्रूप । होता चांदनीसे ॥ २४ ॥

अजी ! यह युद्ध ऐसा देखा । वाणी तथा बाणके जो नोक ।
नापते हैं जीव सह एकेक । मांस खंड ॥ २५ ॥

इस भांति कर्कश समय । भोगता है जो स्वानंदराज्य ।
आज जो है यहां भाग्योदय । नहीं अन्यत्र ॥ २६ ॥

संजय कहता है कुरु-श्रेष्ठ । शत्रुके गुणसे होता संतुष्ट ।
यहां वह गुरु भी बना श्रेष्ठ । आत्मसुखकर ॥ २७ ॥

यदि यह प्रश्न नहीं करता । श्रीहरि ऐसे क्यों गांठ खोलता ।
तथा कैसे हमें ज्ञान मिलता । परमार्थका ॥ २८ ॥

अज्ञानके अंधेरेमें होते । जन्म मृत्युकी राह चलते ।
यहां आकर कैसे पहुंचते । आत्म प्रकाश सदनमें ॥ २९ ॥

हमें तुम्हें किया अपार । इसने यह उपकार ।
तभी हैं व्यास-सहोदर । गुरुत्वमें यह ॥ ४३० ॥

संजय कहता मनही मन । बढ गया मेरा यह कथन ।
खटकेगा धृतराष्ट्रको जान । कितना बोला मैं ॥ ३१ ॥

ऐसे अर्जुन गुण-वर्णन । छोडकर वैसे ही अपूर्ण ।
कहता पूछता क्या अर्जुन । श्रीहरिसे तब ॥ ३२ ॥

छोडकर अर्जुनका गुण-वर्णन । संजय कहता श्रीकृष्णका व्याख्यान ।
वैसेही मैं भी करूंगा सुनो व्याख्यान । ज्ञानदेव निवृत्तिका ॥ ३३ ।

. गीता श्लोक २८

ओवी ४३३



१८

सर्व गीतार्थ संग्रह, ईश्वर प्रसाद योग

चित्सूर्यरूपी श्रीगुरु वंदन—

जय जय देव निर्मल । निज-जनाखिल मंगल ।
जन्म-जरा-जलद-जाल । प्रभंजन ॥ १ ॥
जय जय देव प्रबल । विदलित मंगल कुल ।
निगमागमद्रुम-फल । फलप्रद ॥ २ ॥
जय जय देव सकल । विगत विषयवत्सल ।
कलितकालकौतूहल । कालातीत ॥ ३ ॥
जय जय दैव निष्कल । स्फुरदमंदानंद बहुल ।
नित्य निरस्ताखिलमल । मूलभूत ॥ ४ ॥
जय जय देव स्वप्रभ । जगदंबुगदगर्भ नभ ।
भुवनोद्भावारंभ-स्तंभ । भवध्वंस ॥ ५ ॥
जय जय देव निश्चल । चिलित-चित-पान तुंदिल ।
जगदुन्मीलनाविरल- । केलिप्रिय ॥ ६ ॥
जय जय देव विशुद्ध । विदुदयोद्यान-द्विरद ।
शम-दम-मदन-मद-भेद । दयार्णव ॥ ७ ॥
जय जय देवैकरूप । अतिकृत-कंदर्प-सर्प-दर्प ।
भक्त-भाव-भुवन-दीप । तापावह ॥ ८ ॥
जय जय देव अद्वितीय । परिणतोपरमैकप्रिय ।
निज-जन-नित-भजनीय । मायागम्य ॥ ९ ॥

जय जय देव श्रीगुरु । अकल्पनाख्य कल्पतरु ।
स्वसंविद्रुमबीजप्ररु । भूमिरूप ॥ १० ॥

निर्विशेष तेरा स्तवन कैसे करूं?—

यह क्या एकेक कर ऐसे । अनेक परिभाषासे कैसे ।
स्तोत्र करूं तव उद्देश्यसे । निर्विशेष ॥ ११ ॥

जिन विशेषणसे करना वर्णन । वह दृश्य-रूप तेरा न होता जान ।
लज्जित होता हूं करनेमें स्तवन । तेरा मैं श्रीगुरु ॥ १२ ॥

किंतु जो मर्यादाका सागर । ऐसी उसकी ख्याति सादर ।
किंतु न देखता सुधाकर । हुवा उदय ॥ १३ ॥

निज-निर्झरसे वह सोमकांत । चंद्रको अर्घ्य न देता यदि रात ।
तब उससे दिलाता निशा-नाथ । सुनो देव ॥ १४ ॥

न जाने कैसे वसंत आता । सहसा खिलते वृक्ष-लता ।
किंतु आप न रोक सकता । खिलता वृक्ष ॥ १५ ॥

पद्मिनी पाकर रवि-किरण । सिकुडना जानती कहां कौन ।
या जल-स्पर्श होते ही लवण । भूलता अंग ॥ १६ ॥

वैसे मैं करता तेरा स्मरण । होता मैं मेरा यह विस्मरण ।
डकार रोक न सकता जान । तृप्त जैसे ॥ १७ ॥

तूने मुझे किया ही है ऐसे । मेरा मैं-पन मिटा देनेसे ।
स्तवनार्थ पागल-पनसे । नाचती वाचा ॥ १८ ॥

अथवा मैं वैसे ही सचेतन । रहके करूंगा तेरा स्तवन ।
जिससे गुण-गुणीकी तुलना । होगी मुझसे ॥ १९ ॥

तथा तू है एकरस अखंड । कैसे करें गुण-गुणीका खंड ।
मोति भला क्या तोडकर जोड़ । या समूचा वैसेही ॥ २० ॥

और तू है माता तथा पिता । इससे स्तवन नहीं होता ।
लगती उपाधिकी भ्रष्टता । पुत्रत्वकी मात्र ॥ २१ ॥

दूसरेकी करनेसे दासता । आई हुई पराधीन श्रेष्ठता ।
उपाधि उच्छिष्टका है क्या होता । बखाननेसे ॥ २२ ॥

तब तू आत्मा एक समान । ऐसे कहनेसे भी श्रीमान ।
दृश्यादृश्यको बाहर मान । ढकेलता हुवा ॥ २३ ॥

मौन भूषणादिसे गुरु पूजन—

तभी करनेमें तेरा वर्णन । नहीं मिलता योग्य विशेषण ।
तब मौन बिन अन्य भूषण । नहीं चढाता मैं ॥ २४ ॥

स्तवन है कुछ भी न बोलना । पूजा है कुछ भी न करना ।
सन्निधिमें कुछ भी न होना । तेरे पास ॥ २५ ॥

किंतु जैसे कोई भ्रम-ग्रस्त । करता है प्रलाप बहुत ।
वैसे मैं वर्णन गुरु-मात । कहता सहले तू ॥ २६ ॥

अब दे अपना स्वाक्षर । हुवा जो गीतार्थ विस्तार ।
जिससे हो यह स्वीकार । सज्जनोंमें ॥ २७ ॥

कहते हैं श्रीनिवृत्तिनाथ यह । बार बार पूछता क्यों वह ।
कह तू पारसपे घिसते क्यों लोह । बार बार ॥ २८ ॥

ज्ञानदेव तब विनयकर । आपका प्रसाद है गुरुवर ।
सुनना जी अब चित्त देकर । ग्रंथ संवाद ॥ २९ ॥

गीत-रत्न प्रासादका कलशाध्याय—

अजी ! यह गीता-रत्न-प्रासादका । कलशही है अर्थ चिंतामणिका ।
अथवा है सभी गीता-दर्शनका । है पथ-दीप ॥ ३० ॥

लोगोंमें रही है यह मान्यता । जब दूरसे कलश दीखता ।
तब तो सहज दर्शन होता । देवताका भी ॥ ३१ ॥

अजी ! उसी भांति है यहां । एक ही अध्यायमें जहां ।
पूर्ण-दर्शन होता है यहां । गीतागमका ॥ ३२ ॥

कलश है यह इसी कारण । अध्याय यह बादरायण ।
अठारहवा जो सकारण । रचते हैं ॥ ३३ ॥

कलशके बाद कुछ भी कहीं । मंदिरका काम रहता नहीं ।
यह बात अष्टादशमें यहीं । दीखती स्पस्ट ॥ ३४ ॥

व्यास सहज सशक्त सूत्रकार । उसने निगम-रत्नाचल पर ।
उपनिषदार्थके पठार पर । किया खनन ॥ ३५ ॥

वहां जो त्रिवर्गका असार । मिला माटी कंकडादि अपार ।
उससे महा-भारत प्राकार । रचा चतुर्दिक ॥ ३६ ॥

आत्म-ज्ञानका वहां अखंड । मिला जो सुंदर शिला-खंड ।
रची पार्थ-कृष्णकी अखंड । संवाद कलाकृति ॥ ३७ ॥

निवृत्ति-सूत्रका अधिष्ठान । सर्व-शास्त्रार्थका है भरण ।
आकार लाया बादरायण । मोक्ष-रेखाका ॥ ३८ ॥

करनेमें ऐसा यह निर्माण । पंद्रह अध्यायका है सदन ।
हुए हैं पंद्रह अंतस्त मान । इस प्रासादके ॥ ३९ ॥

षड्दश अध्याय ऊपर । ग्रीवा घंटाका जो आकार ।
तथा कलश-पीठाकार । सप्तदश जो ॥ ४० ॥

उस पर यह अष्टादश । अपने आप हुवा कलश ।
ऊपर गीतादिकमें व्यास । लगाता है ध्वज ॥ ४१ ॥

पिछले सभी अध्याय । चढते भूमिका आय ।
पूर्णता दिखाते जाय । अपनेसे ॥ ४२ ॥

हुए कार्यमें रही जो अपूर्णता । कलशमें होगी वह पूर्णता ।
वैसे अष्टादश विचार कहता । साद्यंत गीताका ॥ ४३ ॥

व्यास बडा कारीगर । रचा गीताका मंदिर ।
किया महा उपकार । प्राणि मात्रका ॥ ४४ ॥

कोई है परिक्रमा जपकी । करते बाहरसे इसकी ।
कोई श्रवणार्थ हैं छायाकी । धरते अपेक्षा ॥ ४५ ॥

तथा अवधानका संपूर्ण । देकर कोई दक्षिणा-धन ।
पैठते अंतर्गृहमें तत्क्षण । अर्थ ज्ञानके ॥ ४६ ॥

फिर पाते निज-बोधसे तत्काल । आत्म-रूप हरि-दर्शनका फल ।
ऐसे मोक्ष प्रासादमें है सकल । पाते हैं प्रसाद ॥ ४७ ॥

जैसे समर्थोंका पंक्ति भोजन । देता सबको एकसा पक्वान ।
श्रवण पठन अर्थ-चिंतन । मोक्ष देता इसका ॥ ४८ ॥

गीता यह ऐसा वैष्णव-प्रासाद । अठारहवा कलश है विशद ।
मैंने कहा है जानेका यह भेद । इस स्थान पे ॥ ४९ ॥

सत्रहवे और अठारहवे अध्यायका संबंध—

समाप्त होता है सत्रहवां अध्याय । वहां होता कैसे अठारहवां उदय
कहूंगा यह प्रत्यक्ष-सा दृश्य । आंखमें दीखे वैसे ॥ ५० ॥

न तोडके दोनों आकार । बनाया है एक शरीर ।
है अर्धनारी नटेश्वर— । रूपमें जैसे ॥ ५१ ॥

या गंगा-यमुनाका उदक । प्रवाहमें भिन्न है जो देख ।
तथा पानी रूपसे एक । दीखता सदैव ॥ ५२ ॥

अथवा शुक्ल-पक्षमें जैसे । नाना चंद्रकला दीखती वैसे ।
पूर्णमासीका पूर्ण चंद्र जैसे । दीखता एक ॥ ५३ ॥

जैसे भिन्न होनेसे सब पद । श्लोकके होते हैं श्लोकावच्छेद ।
अध्यायके होते अध्याय भेद । इसी भांति ॥ ५४ ॥

किंतु कहते हैं एक ही प्रमेय । मिलकर ये अष्टादश अध्याय ।
नाना रत्नोंको पिरोती साभिप्राय । जैसे एकही डोरी ॥ ५५ ॥

अनेक मोतियां मिलकर । होता जैसा एकावली हार ।
किंतु शोभा दीखती सुंदर । एकही अखंड ॥ ५६ ॥

गिन सकते हैं वृक्षके सभी फूल । सौरभपे उंगली न पडे सरल ।
अध्यायोंमें श्लोक हैं वैसे ही अचल । जानना यहां ॥ ५७ ॥

यहां है जो सात शत श्लोक । अष्टादश अध्यायमें लेख ।
किंतु देव बोलता है एक । दूसरा नहीं ॥ ५८ ॥

तथा मैंने भी यह तजकर । नहीं किया है ग्रंथका विस्तार ।
यहांपे भी कहता सविस्तर । निरूपणमें एक ॥ ५९ ॥

जहां सत्रहका अध्याय । कहते अंतके समय ।
कहता देव साभिप्राय । इस प्रकार ॥ ६० ॥

ब्रह्म नाममें श्रद्धा रखकर । किये जाते जितने व्यवहार ।
होते वह सब व्यर्थ आखर । निश्चित जान ॥ ६१ ॥

सुनकर यह श्रीहरिका बोल । डुलता है मनमें पार्थ निर्मल ।
कहता कर्म-निष्ठोंका है सकल । बना निम्न रूप ॥ ६२ ॥

अज्ञानसे अंध जो कर्म-जड़ । ईशको न देख सकता मूढ़ ।
उसके नाम श्रद्धादि जो गूढ़ । जानेगा कैसे ॥ ६३ ॥

तथा रज और तमोगुण । नहीं तजता अंतःकरण ।
तब होती है जो श्रद्धा क्षीण । जुडती कैसे ब्रह्मसे ॥ ६४ ॥

फिर शस्त्र-नोकसे गले लगना । तथा खडी डोरीपे दौड़ते जाना ।
अथवा मानो नागिनसे खेलना । होंगे कर्म घातुक ॥ ६५ ॥

कर्म ज्ञान-फलका सुक्षेत्र कैसे होगा ? अठारहवेंका सूत्र—

ऐसे कर्म अति कठिन । देते हैं पुनः पुनः जनन ।
इस भांति कुयोग-पूर्ण । होते हैं जो ॥ ६६ ॥

होता यदि कर्म सांग संपूर्ण । बनता है ज्ञानके ही समान ।
नहीं तो देता नरक महान । यही कर्म ॥ ६७ ॥

कर्ममें हैं इस प्रकार । आते हैं दोष बार बार ।
तब कहां मोक्षका द्वार । खुलेगा कर्मठको ॥ ६८ ॥

मिटाना है यदि कर्म-संग । करके उसका पूर्ण त्याग ।
स्वीकार करना जो अव्यंग । संन्यास यहां ॥ ६९ ॥

कर्म-बाधाकी जो कहीं । भयकी बातही नहीं ।
वह आत्म-ज्ञान यहीं । होता हस्तगत ॥ ७० ॥

ज्ञानका आवाहन-मंत्र । ज्ञान फलनेका सु-क्षेत्र ।
तथा ज्ञानाकर्षक-सूत्र । तंतु ही जो ॥ ७१ ॥

यह दोनों संन्यास और त्याग । आचरनेसे छूटता जग ।
तब इस बातमें हो सजग । पूछना स्पष्ट ॥ ७२ ॥

ऐसे विचार कर अर्जुन । त्याग संन्यासका पक्व ज्ञान ।
जान लेनेमें करता प्रश्न । इस स्थानपे ॥ ७३ ॥

उसके उत्तरमें श्रीकृष्ण । करता है जो यहां कथन ।
उससे व्यक्त हुवा संपूर्ण । अष्टादशाध्याय ॥ ७४ ॥

एवं यहां ले जन्य-जनक भाव । होता अध्यायसे अध्याय प्रसव ।
अब प्रश्न किया वह सावयव । सुनलें सब ॥ ७५ ॥

कृष्णार्जुन-प्रेमका वर्णन—

वहां जो श्रीकृष्णका कथन । समाप्त होता देख अर्जुन ।
अपने मनमें होता खिन्न । जिस समय ॥ ७६ ॥

वैसे आत्म-तत्वमें निश्चित । बन गया था उसका मत ।
श्रीहरिका न करना बात । न भाया उसे ॥ ७७ ॥

बछडा होने पर भी तृप्त । गाय रहती पास सतत ।
अनन्य प्रीतकी यह रीत । चलती आयी है ॥ ७८ ॥

बिन कारण भी उनका बोलना । देख कर भी फिर फिर देखना ।
प्रिय-वस्तुके भोगसे होता दूना । भोग-भाव ॥ ७९ ॥

ऐसी है प्रेमकी यह रीति । तथा पार्थ है उसकी पूर्ति ।
तभी करती उसकी मति । चिंता मौनकी ॥ ८० ॥

तथा है संवादके निमित्तसे । व्यवहारकी जो वस्तु है उसे ।
भोगा जाता है सहज ही जैसे । दर्पण रूप ॥ ८१ ॥
फिर जब संवाद रुकता । तब यह सुख भंग होता ।
इसको फिर कैसे सहता । अभ्यस्त इसका ॥ ८२ ॥

इसलिये वह संन्यास । पूछनेका करके मिस ।
खोलता है पर विशेष । गीता तत्वका ॥ ८३ ॥

अठारहवा अध्याय एकाध्यायी गीता है—

अठारहवा अध्याय यही नहीं । समग्र एकाध्यायी गीता है यही ।
दुहता है जब स्वयं बछडा ही । तब कैसा अकाल ॥ ८४ ॥

संवाद रुकनेका समय आया । पुनरपि गीता प्रारंभ कराया ।
गुरु-शिष्यके संवादमें अशक्य क्या । होता है कब ॥ ८५ ॥

यह सब रहने दें अब । अर्जुन पूछता सुने सब ।
कहता यह विनय अब । सुनले देव ॥ ८६ ॥

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

त्याग और संन्यासका अर्थ भिन्नत्व—

अजी! संन्यास और त्याग । एक ही अर्थके दो अलग ।
जैसे संघात और संग । है समुदायके ॥ ८७ ॥

त्याग तथा संन्याससे । त्याग ही कहना ऐसे ।
जान लिया है मनसे । यहां मैंने ॥ ८८ ॥

इसमें है यदि अर्थ-भेद । करें देव इसको विशद ।
तब कहता वह मुकुंद । ये दोनों हैं भिन्न ॥ ८९ ॥

अर्जुनने कहा

कैसे संन्यासका तत्व तथा है त्यागका कहो ।
जानना चाहता हूं मैं कह तूं भिन्न भिन्न जो ॥ १ ॥

वैसे तेरा जो चिंतन । त्याग संन्यास अर्जुन ।
एक ही ऐसा निदान । वह भी सत्य ॥ ९० ॥

इन दोनोंका एक अर्थ । त्याग कहलाता निश्चित ।
भेदका कारण जो पार्थ । रहता ही है ॥ ९१ ॥

तजना कर्मको जो मूलता । वह है संन्यास कहलाता ।
तथा कर्म-फल जो तजता । वह है त्याग ॥ ९२ ॥

तब है कोई कर्मका फल । तजता कोई कर्म सकल ।
कहता हूँ यह मैं निर्मल । सुन तू चित्त देकर ॥ ९३ ॥

जैसे वनमें या पर्वत पर । वृक्ष उगते सहज अपार ।
वैसे उद्यान खेत धनुर्धर । नहीं उगते ॥ ९४ ॥

घास उगता यदि नहीं भी बोते । वैसे कभी धानादि नहीं उगते
उसमें प्रयत्न करने पडते । उसी भांति ॥ ९५ ॥

या अंगांग सहज होते । भूषण बनाने पडते ।
नदी नाले सहज होते । कूए नहीं ॥ ९६ ॥

वैसे जो नित्य नैमित्तिक । कर्म होते हैं स्वाभाविक ।
किंतु नहीं होते कामिक । निरिच्छासे ॥ ९७ ॥

भगवान उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः ॥ २ ॥

संन्यासकी परिभाषा काम्य-कर्मका त्याग—

कामनाओंके समुदाय । उभारते हैं धनंजय ।
अश्वमेधादि स-समय । काम्य-कर्म ॥ ९८ ॥

श्रीभगवानने कहा

त्यजना काम्य-कर्मोको ज्ञानी संन्यास जानते ।
कहते सब कर्मोंके फलका त्याग त्याग है ॥ २ ॥

कूप सरोवर आराम । अग्रहारादि महाग्राम ।
व्रत समारोहादि कर्म । अन्य अनेक ॥ ९९ ॥

ऐसे इष्ट-पूर्तिके जो सकल । कामना होती है जिसका मूल ।
भोगना पड़ता इसका फल । बंधकर ही ॥ १०० ॥

करते हैं सब देह-धारण । भोगने पड़ते जनन-मरण ।
इसको अ-स्वीकारना अर्जुन । असंभव जैसे ॥ १ ॥

अथवा ललाट लिखित जैसे । कभी नहीं मिटाया जाता वैसे ।
तथा काला गोरापन धोनेसे । मिटता नहीं ॥ २ ॥

वैसे काम्य-कर्म फल पार्थ । भोगना पड़ता है निश्चित ।
धरना दे बैठता है नित । ऋणदाता समान ॥ ३ ॥

या कामना नहीं करते । सहज रूपमें कर्म होते ।
रणभूमिमें बाण लगते । न लड़ते भी जैसे ॥ ४ ॥

अजानपनसे गूड खाता । फिर भी वह मीठा लगता ।
राख मानकर पैर देता । जलाती आग ॥ ५ ॥

काम्य-कर्ममें जो यह एक । सामर्थ्य होता है स्वाभाविक ।
इसीलिये मुमुक्षुको देख । नहीं चाहना उसे ॥ ६ ॥

वास्तवमें पार्थ ऐसे । काम्य कर्म होता उसे ।
तज देना विष जैसे । उगलकर ॥ ७ ॥

देख कर फिर यह त्याग । संन्यास कहता है सारा जग ।
तथा देखता जो अंतरंग । सर्वदृष्टा ॥ ८ ॥

इस काम्य-कर्मको तजना । कामनाको जैसे उखाडना ।
धन-त्याग कर मिटा देना । भयको जैसे ॥ ९ ॥

नित्य-नैमित्तिक कर्मका विवेचन—

चंद्र-सूर्यके जो ग्रहण । बनाते पर्वणी अर्जुन ।
या माता-पिताका मरण । निश्चित दिवस ॥ ११० ॥

अथवा अतिथि जब आता । तब जो जो करना पडता ।
ऐसे कर्मको जानना पार्थ । नैमित्तिक कर्म ॥ ११ ॥

वर्षासे क्षुब्ध होता गगन । वसंतमें खिलता है वन ।
देहको श्रृंगारता यौवन । जिस भांति ॥ १२ ॥

या सोमकांत सोम स्रवता । सूर्यसे है कमल खिलता ।
मूलमें जो था वही विकसता । जैसे यहां ॥ १३ ॥

वैसे नित्यका जो होता कर्म । वही नैमित्तिक यह नियम ।
जब वह दृढ-सा होता नाम । नैमित्तिक ॥ १४ ॥

तथा सायं प्रात और मध्यान्ह । करना होता जो प्रतिदिन ।
जैसी दृष्टि होती है लोचन-। को नहीं भारी ॥ १५ ॥

नहीं आती है जिस भांति गति । चरणोंमें वह सहज होती ।
अथवा दीपमें होती है दीप्ति । पांडुकुमार ॥ १६ ॥

बिन पुटके जैसे चंदन । सुगंध देता है निशिदिन ।
अधिकारका वैसे अर्जुन । वही है रूप ॥ १७ ॥

नित्य-कर्म ऐसे है जन । बोलते हैं वह तू जान ।
नित्य-नैमित्तिक अर्जुन । दिखाये ऐसे ॥ १८ ॥

यही है नित्य नैमित्तिक । करना है जो आवश्यक ।
इसीलिये कहते देख । निष्फल इसको ॥ १९ ॥

किंतु जैसे भोजनमें सतत । भूख मिटकर होता तृप्त ।
वैसे नित्य-नैमित्तिकका पार्थ । अंगभूत है फल ॥ १२० ॥

हीन कस सोना आगमें पड़ता । हीनता तज कर तेज चढ़ता ।
इन कर्मोंका वैसा ही फल होता । जानना यहां ॥ २१ ॥

इससे दोष सब मिटते । स्वाधिकार सतत बढ़ते ।
तथा सद्गति ओर बढ़ते । अहर्निश ॥ २२ ॥

इतना यह सब रसाल । नित्य-नैमित्तिकका है फल ।
किंतु तजते मूलका बल । वैसे तजना इसे ॥ २३ ॥

त्यागवृत्तिका रहस्य, संन्यास और त्यागका फल—

वन सारा खिल उठता । आम्र-वृक्ष भी महकता ।
न छूकर ही छोड़ जाता । वसंत जैसे ॥ २४ ॥

वैसे न कर कर्म-सीमा उल्लंघन । सदा कर नित्य-नैमित्तिकाचरण ।
तजना उसकी फल-आशा संपूर्ण । उच्छिष्ट जैसे ॥ २५ ॥

कर्म-फलका जो यही त्याग । ज्ञानियोंसे कहलाता त्याग ।
वैसे संन्यास और त्याग । कहा है तुझसे ॥ २६ ॥

जब यह संन्यास संभवता । काम्य-कर्म नहीं बांध सकता ।
निषिद्ध स्वभावसे छूट जाता । जो है निषिद्ध ॥ २७ ॥

तथा जो नित्यादिक होता । फल-त्यागसे है नाशता ।
जैसे अवयवोंका होता । सिर काटनेसे ॥ २८ ॥

फल पाकसे सस्य सूखता । वैसे सब कर्म है छूटता ।
आपसे आप खोजता आता । आत्म-ज्ञान ॥ २९ ॥

इस भांति यह दो अर्जुन । त्याग संन्यासका आचरण ।
देते हैं हृदय-सिंहासन । आत्म ज्ञानको ॥ १३० ॥

कर्म-त्यागकी यह कुशलता । छूट कर कर्मका त्याग जब होता ।
उस त्यागसे त्यागी है फंसता । जालमें अधिक ॥ ३१ ॥

नहीं करके रोगका निदान । औषध दिया विष होता जान ।
भूखके समय न खाया अन्न । न मारती क्या भूख ॥ ३२ ॥

त्याग करना जहां नहीं उचित । वहां त्याग करना अनुपयुक्त ।
तथा जिसका त्यागना है उचित । नहीं करना लोभ ॥ ३३ ॥

त्यागका यह मर्म भूलकर । बना लेते हैं त्यागका भी भार ।
नहीं देखते वहां धनुर्धर । कभी वीतराग ॥ ३४ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। ३ ।।

फलाशा जो न छोड सकता । कर्मको वह बद्ध कहता ।
जैसे आप नग्न हो कहता । जग झगडालू ।। ३५ ।।

जिव्हा-लंपट रोगी जैसे । अन्नको दोष देता वैसे ।
या कोढी चिढे मक्खियोंसे । उसी भांति ।। ३६ ।।

जो हैं फल-काम दुर्बल । कहते हैं कर्म ही मल ।
फिर मत देते केवल । कर्म हैं त्याज्य ।। ३७ ।।

कहता कोई यज्ञादिक । करना अति आवश्यक ।
उसके बिना न शोधक । दूसरा कुछ है ।। ३८ ।।

यदि है चित्त-शुद्धिका मार्ग । चलना चाहे कोई सवेग ।
देता है कर्म उसमें वेग । उसे तजना नहीं ।। ३९ ।।

यदि सुवर्णको शुद्ध करना । उसको जैसे आगमें तपाना ।
या लोह-दर्पण स्वच्छ करना । जमाना है रज ।। १४० ।।

या कपडोंको स्वच्छ करना । ऐसी होती है मनोकामना ।
धोबीकी बट्टी गंदी करना । ऐसे होगा ।। ४१ ।।

वैसे दुःख दायक कर्म जात । ऐसे मान उन्हे तजना नित ।
रसोईका क्लेश मान पार्थ । मिलेगा क्या अन्न ।। ४२ ।।

सुन कर ऐसे ऐसे शब्द । कर्म-रत होते हैं सुबुद्ध ।
ऐसे त्याग विषयमें विशुद्ध । हुवा न निर्णय ।। ४३ ।।

तभी न मिटे इसका निर्णय । त्यागके विषयमें हो निर्णय ।
ऐसे कहता हूं मैं धनंजय । ध्यानसे सुन तू ।। ४४ ।।

छोडना कहते कोई कर्म हैं दोष रूप जो ।
न छोड कहते कोई यज्ञ दान तपादिक ।। ३ ।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्रः त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

त्याग भी तीन प्रकारका है—

त्याग जो सो यहां अर्जुन । तीन प्रकारका है जान ।
इन प्रकारका वर्णन । कहूंगा अब ॥ ४५ ॥

त्यागके तीन प्रकार । होते हैं यदि गोचर ।
इनका इत्यर्थ सार । जान तू इतना ॥ ४६ ॥

मुझ सर्वज्ञ बुद्धिको जंचता । वह निश्चित मत मैं कहता ।
उसको जान तू पहले पार्थ । इस स्थान पे ॥ ४७ ॥

चाहता जो संसारसे छुटकार । तथा इसमें सावध धनुर्धर ।
उसके लिये हैं सब ही प्रकार । करणीय हैं ये ॥ ४८ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

आत्म-ज्ञानका निश्चय न होने तक कर्म अनिवार्य है—

जैसे यज्ञ दान तपादिक । कर्म करना है आवश्यक ।
न छोडे कभी उन्हे पथिक । डग भरना जैसे ॥ ४९ ॥

खोया हुवा जब नहीं मिलता । उसका भाग नहीं तजा जाता ।
या जब तक तृप्त नहीं होता । न छोड़ते थाली ॥ १५० ॥

तट पाने तक न तजते नांव । फलने तक केला न काटे पांडव ।
रखा हुवा मिले तब तक सदैव । रखते हैं दीप ॥ ५१ ॥

वैसे आत्म-ज्ञानका विषय । न होता जब तक निश्चय ।
न होना कर्ममें धनंजय । उदासीन ॥ ५२ ॥

तभी तू इसमें मेरा सुन निश्चित निर्णय ।
कहते जिसको त्याग वह भी तीन भांतिका ॥ ४ ॥
तप यज्ञ तथा दान अवश्य करना नित ।
होते पावन ज्ञानीको तजना न इन्हे कभी ॥ ५ ॥

सत्कर्मके तीर्थसे उज्वल होनेसे सत्व-शुद्धि होती है—

किंतु स्वाधिकारानुरूप । करना यज्ञ दान तप ।
अनुष्ठान करें आक्षेप । किये बिना ॥ ५३ ॥

चलनेमें जो वेग बढ़ता । विश्रांतिकाही कारण होता ।
वैसे कर्मातिशयमें आता । नैष्कर्म्य पास ॥ ५४ ॥

पथ्यमें जैसे नियमित । होता जाता है वैसे पार्थ ।
रोगसे हठता निश्चित । उसी प्रकार ॥ ५५ ॥

वैसे कर्म होते जो आवश्यक । करनेसे कुशलतापूर्वक ।
झड़ते हैं रज तम निरर्थक । पूर्ण-रूपसे ॥ ५६ ॥

या क्षारसे जैसे सतत । पुट देते स्वर्णको पार्थ ।
निर्मल हो जाता तुरंत । सुवर्ण जैसे ॥ ५७ ॥

वैसे निष्ठासे किया हुवा कर्म । धोता जाता है सदा रज तम ।
तथा सत्व-शुद्धिका पुण्य-धाम । दृष्टिमें आता ॥ ५८ ॥

इसीलिये जान तू पार्था । सत्व-शुद्धि जो है चाहता ।
उसको कर्म मानो तीर्थ– । समान जान ॥ ५९ ॥

तीर्थसे होता बाह्य मल-क्षालन । कर्मसे अभ्यंतर उजला जान ।
ऐसे निर्मल तीर्थ जान अर्जुन । सत्कर्मको ही ॥ १६० ॥

तृषार्तको जैसे मरु-भूमिके । अमृत-वर्षा साथ तपनेके ।
या नयनमें आ बैठे अंधेके । स्वयं भास्कर ॥ ६१ ॥

डूबनेवालेकी रक्षामें नदी आयी । गिरनेवालेके लिये धरणी आयी ।
मरनेवालेको मृत्यूने ही बढ़ायी । आयू उसकी ॥ ६२ ॥

वैसे है कर्म-बद्धता । मुमुक्षुको छुडाती पांडुसुता ।
विष जैसे रसायन बनता । उपाय बलसे ॥ ६३ ॥

वैसे कर्म-कुशलता । देती बद्धको मुक्तता ।
बद्धको छुडानेमें पार्थ । आती काम ॥ ६४ ॥

तुझे अब वह कुशलता । कहता सुंदरतासे पार्थ ।
कर्मसे कर्मही है मिटता । जिससे यहां ॥ ६५ ॥

एतन्यापि तु कर्माणि संगंत्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

कर्म-नाशकी कर्म-कुशलता—

महा यागादि सब प्रमुख । कर्म-संपन्न होते हैं नेक ।
कर्तापनकी अहंता देख । रहती नहीं ॥ ६६ ॥

जैसे जो मूल्यसे यात्रा करता । उसको यात्राका गर्व न होता ।
उसको हृदयमें नहीं होता । यात्राका आनंद ॥ ६७ ॥

अथवा जो राजाकी आज्ञासे । लड़ता रहता है राजासे ।
अभिमान नहीं होता उसे । जीतता मैं राजाको ॥ ६८ ॥

अन्योंकी सहायतासे जो तरता । उसको तरनेका गर्व न होता ।
अथवा पुरोहित न धरता । दातृत्वका गर्व ॥ ६९ ॥

वैसे कर्तृत्वका अहंकार । नहीं लेते यथा अवसर ।
कर्म-मात्र सभी धनुर्धर । करना पूर्ण ॥ १७० ॥

तथा कर्म किया अर्जुना । इससे है फलका आना ।
ऐसी अपेक्षा न धरना । मनमें कभी ॥ ७१ ॥

फलकी आशा छोड़कर । कर्म करना धनुर्धर ।
पराया बच्चा निरंतर । देखती धात्री जैसे ॥ ७२ ॥

बिना किये ही फलकी आशा । तुलसीमें पानी देते जैसा ।
वैसे ही हो फलमें निराशा । करना कर्म ॥ ७३ ॥

न करके दूधकी आशा ग्वाल । करता गांवके पशु संभाल ।
उसी भांति मान कर्मका फल । करना कर्म ॥ ७४ ॥

किंतु पुण्य-कर्म भी ये ममत्व-फल छोड़के ।
करना योग्य है मेरा जान उत्तम निर्णय ॥ ६ ॥

इस भांति कर्म - कुशलता । साधकर जो कर्म करता ।
अपने आप दर्शन पाता । सहजमें जो ॥ ७५ ॥

तभी फल आशा छोड कर । तथा तज देह अहंकार ।
कर्म करना है धनुर्धर । यह मेरा संदेश ॥ ७६ ॥

जीव जो बंधसे थका हुवा । भक्तिकी चाह करता हुआ ।
उसे मैं कहता हूं पांडव । नहीं अन्य मार्ग ॥ ७७ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यगस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

तामसिक कर्म-त्याग—

अंधारमें नहीं दीखता । इसलिये आंखें फोडता ।
वैसे कर्म - द्वेषसे करता । कर्मका त्याग ॥ ७८ ॥

उसका है जो कर्मका तजना । कहता हूं मैं तामस अर्जुना ।
आधासिसीके क्रोधसे फोड़ना । कपाल जैसे ॥ ७९ ॥

पथ है यह अति कठिण । तो भी पार करेंगे चरण ।
उन्हीका करना क्या खंडण । मार्गापराधसे ॥ १८० ॥

भूखेके सम्मुख आया आहार । उसको अति उष्ण मानकर ।
करके अनशनका विचार । उसे तजना सा ॥ ८१ ॥

वैसे कर्मका बाधक कर्म । निस्तार करना यह मर्म ।
न जानता तामस सभ्रम । मत्त होकर ॥ ८२ ॥

स्वाभाविक जो भागमें आता । उस कर्मको जो तज देता ।
ऐसे तामस त्यागसे पार्थ । रहना दूर ॥ ८३ ॥

राजस कर्म-त्याग—

अथवा स्वाधिकार जो जानता । अपना विहित कर्म सूझता ।
किंतु काया - क्लेश मान तजता । आलस्यसे जो ॥ ८४ ॥

न होता साध्य संन्यास कभी नियत कर्मका ।
करनेसे स - सम्मोह कहाता त्याग तामस ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यारंभका जो उगम । कष्टकर होता प्रथम ।
लगता ढोना भारी काम । पाथेय जैसे ॥ ८५ ॥

कड़ुवा लगता है नीम । कशैला हर्रा प्रथम ।
प्रारंभमें वैसे काम । लगता सदैव ॥ ८६ ॥

गायका दोष है सींग । सेवंतीका कंटकांग ।
भोजन सुख महंगा । पकानेमें ॥ ८७ ॥

होता वैसे प्रारंभमें कर्म । आरंभमें होता है विषम ।
इसीलिये करनेमें श्रम । मानता है वह ॥ ८८ ॥

आरंभता है कर्म समस्त । वैसे यह जो शास्त्र - सम्मत ।
किंतु आंच आते ही व्यथित । हो तजता सब ॥ ८९ ॥

कहता संपत्ति शरीर जैसी । मिली है अतीव भाग्यसे ऐसी ।
कर्मादिकमें यह व्यर्थ वैसी । खपाना है पाप ॥ १९० ॥

किया हुवा कर्म कभी देगा फल । किंतु मिला है यह सुंदर फल ।
इसको अभी भोगनेमें कुशल । नहीं है क्या ? ॥ ९१ ॥

इस भांति शरीर - क्लेशसे । भीत हो तजता कर्म जैसे ।
कहलाता है सुन तू इसे । राजस त्याग ॥ ९२ ॥

इसमें भी होता है कर्म - त्याग । किंतु न मिलता त्यागका योग ।
अपनेसे गिर होता है त्याग । उसी भांति ॥ ९३ ॥

अथवा प्राण गये डूबकर । "अर्धोदकमें समाधि पाकर" ।
ऐसे नहीं कहते धनुर्धर । वह दुर्मरणही ॥ ९४ ॥

ऐसे शरीरका लोभ । तजाता है कर्म जब ।
नहीं मिलता है लाभ । कर्म - त्यागका ॥ ९५ ॥

कष्ट कारण जो कर्म तजता तन चोरके ।
त्याग राजस जो व्यर्थ न देखें अपना फल ॥ ८ ॥

वास्तवमें जब अपना । ज्ञानोदय होता अर्जुन ।
जैसे उदय-काल जान । निगलता है तारे ॥ १६ ॥

वैसे सकारण क्रिया-जात । खो जाते हैं सहजही पार्थ ।
कर्मत्याग तब लाता नित । मोक्षका फल ॥ १७ ॥

मोक्षका फल यह अज्ञान- । त्यागको न मिलता अर्जुन ।
इसीलिये तू त्याग न मान । जो है राजस ॥ १८ ॥

किंतु देता है कैसा त्याग । घरमें मोक्ष-फल-भाग ।
सुन अब यह प्रसंग । कहता हूं मैं ॥ १९ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

सात्विक-त्याग—

तब स्वाधिकारानुसार । आता जो सहज होकर ।
विधि-गौरवसे आचर । भूषण मान ॥ २०० ॥

किंतु यह मैं करता हूं ऐसे । स्मरण भी तज कर मनसे ।
फलाशा तज संपूर्ण-रूपसे । करना है जो ॥ १ ॥

किंतु अवज्ञा और कामना । माताके विषयमें अर्जुन ।
करनेसे होता है पतन । हेतु जो जैसे ॥ २ ॥

सो इन दोनोंको तजना । माता मान कर भजना ।
मुख अशुद्ध सो अर्जुन । तजना क्या गाय ॥ ३ ॥

अपने प्रिय फलमें धनुर्धर । छिलका और बीज जो असार ।
इसलिये तजते क्या फल सारा । कभी कोई ॥ ४ ॥

वैसे ही है कर्तृत्वका मद । तथा कर्म-फलका आस्वाद ।
इन दोनोंका नाम है बंध । कर्मका जो ॥ ५ ॥

कर्तव्य मानके कर्म करना जो नियोजित ।
ममत्व फलको छोड़ त्याग तू मान सात्विक ॥ ९ ॥

इन दोनोंके विषयोंका जब । पिता-पुत्रका संबंध-सा सब ।
कर्तव्य मान निभाते हैं तब । बद्ध न होता कर्म ॥ ६ ॥

अजी ! यह है त्याग तरुवर । मोक्ष फल देता है धनुर्धर ।
सात्विक ऐसे हैं जो मशहूर । विश्वमें सब ॥ ७ ॥

जलकर बीज जैसे । होता है निर्वंश वैसे ।
फल तज कर्म वैसे । तजा मान ॥ ८ ॥

पारसका स्पर्श जब होता । लोहका जंग मल मिटता ।
चित्तका रज-तम मिटता । सत्वसे ऐसे ॥ ९ ॥

फिर वह शुद्ध सत्व-गुण । खोलता आत्म-बोध नयन ।
मृग-जल त्रास जो अर्जुन । मिटता सांझमें जैसे ॥ २१० ॥

बुद्धि आदिके सम्मुख जैसे । रहता है विश्वाभास वैसे ।
न देख सकेंगे कोई जैसे । कभी गगन ॥ ११ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

समदृष्टिसे कर्म करना—

आदि यदि प्रारब्ध बलसे । शुभ अशुभ कर्म जो वैसे ।
लय होते आकाशमें जैसे । बादल सारे ॥ १२ ॥

सदा जैसे उसकी दृष्टिसे । कर्म होते ब्रह्म-रूप वैसे ।
इसी लिये है सुख-दुःखसे । होता अछूता ॥ १३ ॥

जिसे शुभ-कर्म जानता । उसको हर्षसे करता ।
जिसको अशुभ मानता । उससे नहीं द्वेष ॥ १४ ॥

इस विषयमें उसको कहीं । संदेहका कभी काम भी नहीं ।
जैसे स्वप्नका सुख दुःख नहीं । जगने पर ॥ १५ ॥

शुभ अशुभ कर्मोंसे न रखे राग-द्वेष जो ।
सत्वमें जो पगा त्यागी ज्ञानसे छेद संशय ॥ १० ॥

इस लिये कर्म और कर्ता । इस द्वैत-भावकी जो वार्ता ।
न जानता वह पांडुसुता । सात्विक त्याग ॥ १६ ॥
इस भांति वह कर्म-पार्था । तजे तो छूट जाते सर्वथा ।
अधिक बांघते है अन्यथा । तजे तो कर्म ॥ १७ ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

देह-धारीको कर्म अनिवार्य है—

वैसे ही जो पांडुकुमार । देहकी मूर्ति बनकर ।
रहता कर्मसे ऊबकर । वह है अनाडी ॥ १८ ॥
उकताकर मृत्तिकासे । रहेगा कहो घडा कैसे ।
तथा कपडा तंतुओंसे । कैसे रहे दूर ॥ १९ ॥
जैसे अग्नि अपनी उष्णता । त्यजेगा कैसे कह तू पार्थ ।
अथवा कैसे करेगी जोत । प्रकाशसे द्वेष ॥ २२० ॥
द्वेष कर अपनी उग्रतासे । सुगंध लायेगा हींग कहांसे ।
अथवा द्रवत्व छोड़के कैसे । रहेगा पानी ॥ २१ ॥
वैसे लेकर शरीरका आकार । करता रहता है सभी व्यवहार ।
तब कैसे है उन्माद धनुर्धर । कर्म-त्यागका ॥ २२ ॥
अपना लगाया हुवा तिलक । पुनः पुनः पोंछते स-कौतुक ।
किंतु निकालकर क्या मस्तक । लगा सकते हैं ॥ २३ ॥
वैसे विहित जो स्वयं स्वीकृत । सहज तज सकते हैं पार्थ ।
किंतु जो देह बन आया साथ । वह कर्म तजे कैसे ॥ २४ ॥
चलता जो श्वासोच्छ्वास । नींदमें भी रात-दिवस ।
न करना सा अहर्निश । चलता कर्म ॥ २५ ॥

अशक्य देहधारीको सर्वथा कर्म छोडना ।
इसीलिये फल-त्यागी त्यागी वह कहा गया ॥ ११ ॥

इस शरीरके निमित्त । लगा जो कर्म सतत ।
तन हो जीवित या मृत । न छूटेगा कभी ॥ २६ ॥

इस कर्म-त्यागका प्रकार । एक ही है यहां धनुर्धर ।
न बनो फलाशाका आहार । कर्ममें कभी ॥ २७ ॥

कर्म-फल करो ईश्वरार्पण । तत्प्रसादसे बोध उद्दीपन ।
तब हो रज्जु-ज्ञान विलोपन । व्याल-शंका ॥ २८ ॥

इस भांति आत्म-बोधसे पार्था । अविद्या सह कर्म-नाश होता ।
तथा ऐसा त्याग जो कहलाता । कर्म-त्याग ॥ २९ ॥

तभी जो इस प्रकार त्याग करता । उसको मैं सही कर्म-त्यागी मानता ।
रोगमें मूर्छाको विश्रांति कहा जाता । वैसे हैं अन्य त्याग ॥ २३० ॥

ऐसे एक कर्ममें जो थकता । दूसरेमें जा विश्रांति खोजता ।
तथा झांपड पर जो है खाता । सोटोंकी मार ॥ ३१ ॥

रहने दे यह वाग्विस्तार । त्रिलोकमें त्यागी है धनुर्धर ।
फल-त्यागसे है निष्कृती पर । ले जाता कर्म ॥ ३२ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

वैसे तो सुन यह धनंजय । त्रिविध कर्म-फल कहा गया ।
समर्थ वही है जान निश्चिय । न छोडते फलाशा ॥ ३३ ॥

तीन प्रकारके कर्म-फल—

जन्म देकरके आप दुहिता । "इदं न मम" कह माता पिता ।
छूट जाते दान लेके फंसता । दामाद आप ॥ ३४ ॥

बोकर जैसे विषका खेत । सुखसे लाभ लेते हैं पार्थ ।
किंतु खर्च कर होते मृत । उसको खाकर ॥ ३५ ॥

तेहरा फल कर्मोंका मधुर कटु मिश्रित ।
उससे मुक्त संन्यासी पाते हैं त्याग-हीन जो ॥ १२ ॥

वैसे अकर्ता मान कर्म करता । कर्ता मान जो फलाशा न धरता
उन दोनोंको बांध न सकता । केवल कर्म ॥ ३६ ॥

पकता पेड जो राह पर । उसके फलकी आशा कर ।
सदा कर्मका भी धनुर्धर । फल बांधता है ॥ ३७ ॥

किंतु करके फलाशा तजता । जगतके कार्यमें न घुसता ।
त्रिविध विश्व यह जो पूर्णता । कर्म फल है ॥ ३८ ॥

देव मानव और स्थावर । इसका नाम जगडंबर ।
ऐसे ही हैं ये तीन प्रकार । कर्म फलके ॥ ३९ ॥

एक है वही अनिष्ट । एक है जो केवल इष्ट ।
तथा एक है जो इष्टानिष्ट । त्रिविध ऐसे ॥ २४० ॥

किंतु बुद्धि बन विषयासक्त । स्वैराचारमें होकर अभ्यस्त ।
निषिद्ध कर्ममें होते प्रवृत्त । दुर्व्यवहारमें ॥ ४१ ॥

वहां है कृमिकीट लोष्ट । देह पाते हैं जो निकृष्ट ।
उसका नाम है अनिष्ट । कर्मका फल ॥ ४२ ॥

या स्वधर्मको मान देकर । अपने अधिकारानुसार ।
सुकृत करते धनुर्धर । वेदाज्ञासे ॥ ४३ ॥

देवोंके वे इंद्रादिक । देह पाते हैं अति नेक ।
कर्म-फल इष्टमें देख । उसकी प्रसिद्धी ॥ ४४ ॥

किंतु खटा मीठा मिलकर । होता है विशिष्ट रसांतर ।
स्वादमें दोनोंसे रुचिकर । होता भिन्न ही ॥ ४५ ॥

रेचक ही होके योग-वश । करता है स्तंबनका दोष ।
वैसे सत्यासत्य समस्त । जीतता असत्य ॥ ४६ ॥

सम-भागसे है शुभाशुभ । होके खड़ा अनुष्ठान भाग ।
उससे जो मनुष्यत्व-लाभ । मिश्र फल है ॥ ४७ ॥

इस कर्म-फलसे बद्ध और मुक्तता—

ऐसे इसके त्रिविध भागमें । कर्म-फल रचा जगतमें ।
फंसे हैं जो भोगकी आशामें । उससे वे हैं बद्ध ॥ ४८ ॥

जिव्हा-चापल्य जैसे बढ़ता । वैसे भोजन मीठा लगता ।
अंतमें जो फल निकलता । रोगसे मृत्यु ॥ ४९ ॥

चोर-मैत्री तब तक भली । जब न आती एकांत-स्थली ।
वैसे होती है वेश्या भी भली । न होता स्पर्श ॥ २५० ॥

जब तक करता कर्म शरीर । मिलता जाता सन्मान धनुर्धर ।
मृत्यु समयमें घिरते आकर । कर्मके फल ॥ ५१ ॥

समर्थ होता जो महाजन । द्वारपे बैठ ले जाता धन ।
वैसे ही कर्म-फल अर्जुन । भोगने पड़ते ॥ ५२ ॥

भुट्टेसे जैसे धान झड़ता । उसी धानसे भुट्टा लगता ।
फिर भुट्टेसे धान गिरता । उससे फिर भुट्टा ॥ ५३ ॥

वैसे जो भोगसे कर्म होता । उस कर्ममें भोग लगता ।
पैर पैरको जीतता जाता । चलनेमें जैसे ॥ ५४ ॥

नांव रुकती उतार देखकर । होता वह उसका उरला तीर ।
वैसे है कर्म-फलसे धनुर्धर । नहीं है मुक्ति ॥ ५५ ॥

साध्य-साधन प्रकार फिर । करता फल-भोग प्रसार ।
ऐसे ही उलझाता संसार । अत्यागीको ॥ ५६ ॥

चमेली पुष्पका जैसे खिलना । उसका नाम ही है सूख जाना ।
वैसे फलाशासे नहीं करना । किया है ऐसे ॥ ५७ ॥

बीजका धान्य ही जब खाया जाता । किसानीका काम ही है रुकता ।
वैसे फल-त्यागसे है मिटता । कर्मका फल ॥ ५८ ॥

तब सत्व-शुद्धिके सहायसे । गुरु-कृपामृतके तुषारोंसे ।
उतरता खिले हुए बोधसे । द्वैतदैन्य ॥ ५९ ॥

तब है जगदाभासके कारण । मिटता है त्रिविध फल स्फुरण ।
वैसे ही भोक्ता-भोग्य सहज मान । होता है अस्त ॥ २६० ॥

संन्याससे मूल अविद्या रहती ही नहीं—

सधता ज्ञान-प्रधान ऐसा । जिसका संन्यास है वीरेशा ।
फल-भोगके कष्टसे जैसा । होता है मुक्त ॥ ६१ ॥

तथा संन्यासमें है एक बात । आत्म-रूपमें दृष्टि होती रत ।
वहां कर्म दूसरा ऐसे पार्थ । दीखेगा कैसे ॥ ६२ ॥

ढह जाती है सब सारी दीवार । मिटते चित्र माटीमें मिलकर
वैसे ही नहीं रहता है अंधार । उदय होते ही ॥ ६३ ॥

न रही रूपकी काया जब । कहांसे दीखेगी छाया तब ।
कहांसे दिखेगा प्रतिबिंब । दर्पण ही नहीं ॥ ६४ ॥

जहां नहीं निद्राको ही स्थान । आयेगा वहां कहांसे स्वप्न ।
फिर कैसे कहे कहो कौन । स्वप्न मिथ्या या सत्य ॥ ६५ ॥

उसी भांति संन्यासमें यहां । मूल अविद्या न रही जहां ।
उसका व्यापार रहा कहां । तथा करे कौन ॥ ६६ ॥

तभी इस संन्यासमें एक । कर्मकी बात कैसी है देख ।
किंतु अविद्या देहमें एक । रहती है जो ॥ ६७ ॥

कर्तृत्वके बल पर पार्थ । आत्मा होती शुभाशुभमें प्रवृत्त ।
तथा दृष्टि-भेदके स्थानपे स्थित । रहती है वह ॥ ६८ ॥

होता जैसे पूर्व पश्चिम । वैसे है आत्मा और कर्म ।
ऐसी भिन्नता है सुवर्म । जान तू यह ॥ ६९ ॥

अथवा नभ और बादल । तथा सूर्य और मृगजल ।
पृथ्वी और वायुमें निर्मल । होती है भिन्नता ॥ २७० ॥

ओढकर नदीका नीर । बैठता नदीमें पत्थर ।
उन दोनोंमें धनुर्धर । जानता तू भेद ॥ ७१ ॥

जलकुंभी होती जलके पास । किंतु जलसे भिन्न होती खास ।
कालिख रहती दीपके पास । किंतु होती क्या दीप ॥ ७२ ॥

यदि चंद्रमें होता कलंक । किंतु चंद्रसे न होता एक ।
अलग दृष्टि और आंख । अतिशय वैसे ॥ ७३ ॥

जैसे है पथ और पथिक । नदीतल और है उदक ।
दर्पण और जैसे दर्शक । भिन्न है जितने ॥ ७४ ॥

उतना ही भिन्न है मान । आत्मा और कर्म अर्जुन ।
किंतु है अज्ञान कारण । दीखता एक ॥ ७५ ॥

सूर्यसे विकास उपजता । भ्रमरसे सुगंध भोगाता ।
किंतु जलमें स्वस्थ रहता । कमल जैसे ॥ ७६ ॥

बार बार कहता हूं सुन । आत्मामें कर्म - भासका कारण ।
भिन्न ही है पांच जो अर्जुन । कारण रूप ॥ ७७ ॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

कर्मके जो पांचकारण । जानता होगा तू अर्जुन ।
करते हैं सांख्यकथन । मुक्त कंठसे ॥ ७८ ॥

वेद - राजाकी राजधानीमें । सांख्यवेदांतके भुवनमें ।
घोष करते उच्च स्वरमें । गूंजा करके ॥ ७९ ॥

जगतमें है कर्म--सिद्धर्थ । पांच कारण जान ये पार्थ ।
उसमें फंसना अनुचित । आत्मराजको ॥ २८० ॥

कृष्णार्जुन गुरुशिष्य प्रेमका वर्णन—

ऐसा यह शास्त्र - कथन । प्रसिद्ध है जान अर्जुन ।
मुझसे तू इसको सुन । चित्त देकर ॥ ८१ ॥

अन्योंके मुखसे सुनना । ऐसा कष्ट क्या है अर्जुन ।
चिद्रत्न मैं तेरे आधीन । रहते हुए ॥ ८२ ॥

जान तू मुझसे पार्थ प्राज्ञोंका कर्म-निर्णय ।
सीधे ही करते कर्म उसके पांच कारण ॥ १३ ॥

अजी ! सम्मुख है दर्पण । करते अपना रूप दर्शन ।
देखना क्यों दूसरोंके नयन । कह तू पार्थ ॥ ८३ ॥

भक्त जैसे जहां जब देखता । उसको वैसे वहां जो दीखता ।
ऐसा मैं जब सम्मुख रहता । तेरा खिलौना बन ॥ ८४ ॥

ऐसे भावनावेगसे जब । बोलते थे देख वहां तब ।
देहभान भूलकर सब । डुलता है अर्जुन ॥ ८५ ॥

चंद्र-किरणका जब भरमार । पडता चंद्रमणि-पहाडपर ।
पिघलके होता जैसे सरोवर । उसी भांति ॥ ८६ ॥

तब सुख तथा सुखानुभूति । इन भावोंकी तोडकर भित्ति ।
बन गया वह अर्जुनाकृति । सुख केवल ॥ ८७ ॥

श्रीकृष्ण होनेसे अति समर्थ । यथावत हुवा सहज स्थित ।
तब होने सहजस्थित पार्थ । करता प्रयास ॥ ८८ ॥

व्यक्तित्व जहां अर्जुनसा । गया प्रज्ञा सह डूबसा ।
आया ऐसा महा पूरसा । आनंदका तब ॥ ८९ ॥

कहता है देव अजी हे पार्थ । पूर्ण रूपसे हो सहज-स्वस्थ ।
सांस भर डुलाता है पार्थ । अपना मस्तक ॥ २९० ॥

कहता तब जानता तू उदार । तेरे साथमें भिन्न शरीरधर ।
ऊब चुका तब एकत्वमें भर- । जाना चाहता था ॥ ९१ ॥

मेरे प्रेमसे तू ऐसा । पूर्ण करता लालसा ।
रोकती क्या जीव दशा । इस प्रकार ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्ण हंस तब भला कहता । अबतक तू यह नहीं जानता ।
पगले ! चंद्र चंद्रिकामें भिन्नता । रहती क्या कभी ॥ ९३ ॥

तथा कहनेमें यह भाव । डर जाते हैं हम पांडव ।
मन भायेका क्रोध-भाव । बढाता है प्रेम ॥ ९४ ॥

यहां है जो परस्पर भिन्नता । तभी ऐसे जीवनकी शक्यता ।
रहने दे ऐसे ये बोल पार्था । इस विषयके ॥ ९५ ॥

अब कैसा प्रसंग चला था । क्या बोल रहे थे हम पार्था ।
सब कर्मोंकी जहां भिन्नता । आत्मामें है ॥ ९६ ॥

तब कहता हरिसे अर्जुन । कहता तू सहज मेरा मन ।
प्रारंभ किया उचित श्रीकृष्ण । मेरी समस्याका ॥ ९७ ॥

कर्म–सिद्धिके पांच कारण—

जो है सभी कर्मका बीज । कारण पंचक जो तुझ ।
'करूंगा मैं तुझसे आज' । कहा था मैंने ॥ ९८ ॥

तथा है जो कर्म कारणसे । संबंध नहीं है आत्मासे ।
कहा था अब तूने ऐसे । वह भी कहना ॥ ९९ ॥

तब विश्वेश्वर कहता । संतोष-चित्तसे हे पार्थ ।
हमसे जिद्द कर बैठता । ऐसा मिलता कौन ॥ ३०० ॥

करूंगा सरल निरूपण । कहता तब यह श्रीकृष्ण ।
किंतु चुकाना पडेगा ऋण । तुझे इस बातका ॥ १ ॥

तब अर्जुन कहता देव । भूल गया क्या पिछले भाव ।
इस बातमें रखता ठाव । मैं तू पनका ॥ २ ॥

कहता है तब श्रीकृष्ण । कहंगा अब जो वचन ।
मनोयोग पूर्वक सुन । पांडुकुमार ॥ ३ ॥

यह सच है धनुर्धर । कर्म जिस पर है स्थिर ।
वे सब आत्मासे बाहर । कारण हैं पांच ॥ ४ ॥

इन पांचोंके ही कारण । कार्यारंभ होते हैं जान ।
इससे कर्ममें है जान । हेतु भी पांच ॥ ५ ॥

यहां है आत्म-तत्व उदासीन । वह ना हेतु या न उपादान ।
न बनता है आप संवहन । कार्य-सिद्धिका ॥ ६ ॥

शुभाशुभ अंशमें वहां जैसे । उत्पन्न हो जाते हैं कर्म ऐसे ।
रात और दिवस आकाशसे । बनते रहते ॥ ७ ॥

तोय तेज तथा धूम । यहां वायूसे संगम ।
होनेसे है अभ्रागम । न जानता गमन ॥ ८ ॥

अनेक काष्ठोंसे नांव बनती । केवटसे वह चलाई जाती ।
वैसे ही वायूसे वह चलती । उदक है साक्षी ॥ ९ ॥

जैसे एक मृत्तिकाका पिंड । व्यय हो कर बनता भांड ।
जब घुमाता है एक दंड । भ्रमण चक्र ॥ ३१० ॥

यह कर्तृत्व कुलालका । वहां क्या रहा है पृथ्वीका ।
विन आधारके किसीका । कह तू संबंध ॥ ११ ॥

सूर्य-उदयके साथ सदैव । सभी व्यापार चलते पांडव ।
इसमें सविताका क्या कर्तृत्व । रहता है कह तू ॥ १२ ॥

ऐसे पांच हेतुका मिलन । होते हैं यहां पांच कारण ।
उगती कर्म-लता अर्जुन । आत्मा स्वतंत्र ॥ १३ ॥

अब मैं वह सब भिन्न भिन्न । करता हूं पांचोंका विवेचन ।
तुला कर देख लेते हैं जान । मोतियां जैसे ॥ १४ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

१ कर्म–सिद्धिका कारण, देह—

ऐसे हैं ये सब लक्षण । सुन तू जो कर्म कारण ।
देह है पहला कारण । कहता हूं मैं ॥ १५ ॥

देहको कहते हैं अधिष्ठान । कहता सुन इसका कारण ।
स्व-भोग सह जीवका है स्थान । यह शरीर ॥ १६ ॥

बना कर इंद्रियोंके दस हाथ । उससे श्रमकर दिवस रात ।
प्रकृतिसे भोग पाता है पार्थ । इस स्थानपे ॥ १७ ॥

अधिष्ठान अहंकार तथा विविध साधन ।
भिन्न भिन्न क्रिया पार्थ करते दैव पांचवा ॥ १४ ॥

उसके भोगके कारण । शरीर बिन अन्य स्थान ।
नहीं होनेसे अधिष्ठान । कहते शरीरको ॥ १८ ॥

यह चौबीस ही तत्वोंका । कुटुंब गृह है बस्तीका ।
छूटना है बंध मोक्षका । उलझन यहीं ॥ १९ ॥

अथवा जो हैं अवस्थात्रय । अधिष्ठान जान धनंजय ।
इसीलिये जान यह काय । कहलाता अधिष्ठान ॥ ३२० ॥

२ कर्म–सिद्धिका कारण, कर्ता=अहंकार—

तथा कर्ता यह दूसरा । कर्म कारण धनुर्धर ।
प्रतिबिंबसा है अपार । चैतन्यका जो ॥ २१ ॥

आकाशसे बरसता है नीर । उससे जो बनता सरोवर ।
तथा बिंबित होता तदाकार । आकाश जैसे ॥ २२ ॥

अथवा राजा निद्रासे भरकर । स्वयं आप विस्मृतिमें डूबकर ।
स्वप्नमें अनुभवता धनुर्धर । दरिद्री जैसे ॥ २३ ॥

वैसे अपनेको भूलकर । चैतन्य देहाकार लेकर ।
अनुभवता है देहाकार । आत्मस्वरूप ॥ २४ ॥

ऐसे ही विचारोंके कारण । प्रसिद्ध है जीव ऐसा जान ।
बंधकर वह सह तन । संपूर्ण रूपसे ॥ २५ ॥

प्रकृति करती है जो कर्म । कहता है मैंने किया सभ्रम ।
वहां यह कर्ता ऐसा नाम । लेता है जीव ॥ २६ ॥

३ कर्म–सिद्धिका कारण, विविध साधन—

होती है जो एकही वैसी । दीखती है चोरी हुईसी ।
पलकोंमेंसे दृष्टि जैसी । चवरोंके बाल ॥ २७ ॥

यह घरमें रहता एक । दीपका वह अवलोक ।
गवाक्षोंके-भेदसे अनेक । दीखता जैसे ॥ २८ ॥

वैसे बुद्धिका जानना । श्रोत्रादि भेदसे नाना ।
बाहर इंद्रियपन । होता है व्यक्त ॥ २९ ॥

यह पृथग्विध कारण । यहां जो कर्मका कारण ।
तीसरा है जान अर्जुन । इंद्रियां जो ॥ ३३० ॥

४ कर्म-सिद्धिका कारण, भिन्न भिन्न क्रिया—

होता है जैसे एक ही नीर । पूर्व पश्चिममें बहकर ।
कहलाता है पांडुकुमार । नदी नद जैसे ॥ ३१ ॥

तथा जैसे एकही पुरुष । अनुकरणसे नव रस ।
होता जैसे नवविध भास । उसी प्रकार ॥ ३२ ॥

प्राण वायुकी अखंड क्रिया शक्ती । अन्यान्य स्थान पर जो बिखुरती ।
अन्यान्य नामसे पहचानी जाती । शतरूप लेकर ॥ ३३ ॥

जब वह वाणीमें आती । तब वाक्शक्ति कहलाती ।
जब हाथोंमें उतरती । बनती व्यापार ॥ ३४ ॥

तथा चरणोंमें आकर । वही गति कहलाकर ।
उतरती है अधोद्वार । होती क्षरण ॥ ३५ ॥

नाभिकंदसे जो हृदय । करता प्रणव उदय ।
कहलाती है धनंजय । वह प्राण ॥ ३६ ॥

फिर है ऊर्ध्वके अर्जुन । आवागमनके कारण ।
कहलाता वही उदान । उसी प्रकार ॥ ३७ ॥

अधोरंध्रसे वह बहता । अपान नामसे जाना जाता ।
वही जब व्यापक हो जाता । कहलाता व्यान ॥ ३८ ॥

खाया हुवा अन्नका रस । शरीर भरता सरस ।
नहीं छोडता है विशेष । शरीर भाग ॥ ३९ ॥

सभी व्यापार जो ऐसे । होते हैं क्रिया कर्म ऐसे ।
कहते समान ऐसे । धनुर्धर ॥ ३४० ॥

उबासी छींक डकार । ऐसे होते जो व्यापार ।
नाग कूर्मादि कूकर । भिन्न नामसे ॥ ४१ ॥

एवं वायूकी यह चेष्टा । एकही होती है सुभट ।
व्यापार भेदसे पलटा । होता है जो ॥ ४२ ॥

भिन्न भिन्न कार्यास्तव । वायुशक्ति जो पांडव ।
भिन्न होती है सदैव । कारण चौथा ॥ ४३ ॥

५ कर्म-सिद्धिका कारण, दैव—

ऋतुओंमें शरद सुंदर । शरदमें भी है सुधाकर ।
उसमें है योग धनुर्धर । पूर्णिमाका ॥ ४४ ॥

या वसंतमें भला आराम । आराममें भी प्रिय-संगम ।
उसमें भी होता आगम । उपचारोंका ॥ ४५ ॥

नाना कमलमें धनुर्धर । विकसन होता है सुंदर ।
उसमें भी होता है उभार । परागका ॥ ४६ ॥

वाचाका सौंदर्य है कवित्व । तथा कवित्वमें रसिकत्व ।
रसिकत्वमें है परतत्व । स्पर्श जैसे ॥ ४७ ॥

सभी वृत्तियोंका वैभव । बुद्धिही एक है पांडव ।
बुद्धिकी शोभा नित्य नव । सामर्थ्य इंद्रियोंका ॥ ४८ ॥

इंद्रिय मंडलका वैभव । शृंगार एक ही है पांडव ।
वह है जो अधिष्ठात्री दैव- । अनुकूलता ॥ ४९ ॥

तभी चक्षु आदि जो दस इंद्रिय । उन पर अनुग्रह धनंजय ।
सूर्यादि देवताओंका समुदाय । रहता है सदा ॥ ३५० ॥

ऐसा जो देव-वृंद अर्जुन । कहा पांचवा कर्म कारण ।
जानना यहां ऐसा श्रीकृष्ण । कहता है जो ॥ ५१ ॥

ऐसी जो सब कर्म खान । उसकी उत्पत्तिका कारण ।
बुद्धिगम्य हो ऐसा अर्जुन । कहा है यहां ॥ ५२ ॥

अब जिन हेतुके कारण । बढ़ती है जो कर्मकी खान ।
उसका सभी हेतु अर्जुन । कहूंगा मैं पांच ॥ ५३ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

विश्वमें प्रत्येक बातका उद्देश्य होता है—

आता जब जब वसंत । होता नव-पल्लवका हेत ।
नव-पल्लव पुष्प हेत । पुष्प देता है फल ॥ ५४ ॥

या वर्षाको लाते मेघ । मेघसे वृष्टि प्रसंग ।
वृष्टिसे मिलते भोग । सस्य-सुखके ॥ ५५ ॥

या सूर्य अरुणको प्रसवता । अरुणसे सूर्य उदय होता ।
सूर्यसे सब विश्व उजलता । दिवस रूप ॥ ५६ ॥

वैसे ही है हेतु जो मन । संकल्प-भावका अर्जुन ।
संकल्प है वाचाका जान । जलाता दीप ॥ ५७ ॥

फिर वह वाचाकी मशाल । दिखाती कर्म-मार्ग सकल ।
सो खोलता कर्ता टंकसाल । कर्तृत्वकी तब ॥ ५८ ॥

शरीरादि यहां समुदाय । शरीर हेतु है धनंजय ।
होता है जैसे लोहका कार्य । लोहसे ही ॥ ५९ ॥

अथवा तंतुओंका ताना जैसे । मिलकर तंतुओंके बानेसे ।
कहलाता जब कपडा ऐसे । केवल हैं तंतु ॥ ३६० ॥

वैसे ही है मानवके देहका । रचता हेतु कर्म-मनादिका ।
रत्नसे ही बनता है रत्नका । उपहार जैसे ॥ ६१ ॥

यहां जो शरीरादि कारण । हेतु कैसे होता यह ज्ञान ।
जानना चाहता तो अर्जुन । सुन तू अब ॥ ६२ ॥

कारण और हेतुके मिलनसे कर्म-निर्माण होता है—

अथवा सूर्य प्रकाशके जैसा । हेतु कारण सूर्य ही है वैसा ।
या ईखका कांड है ईख जैसा । बढनेका कारण ॥ ६३ ॥

काया वाचा मनसे जो विश्वमें करता नर ।
धर्म या अधर्मका हो उसके पांच हेतु हैं ॥ १५ ॥

वाग्देवताका अनेक वर्णन । वाचा ही करती है ऐसे जान ।
अथवा वेद ही प्रतिष्ठापन । करते वेदोंका ॥ ६४ ॥

वैसे ही कर्मका शरीरादिक । कारण जानते हैं स्वाभाविक ।
किंतु यही हेतु नहीं है चूक । इस स्थानपे ॥ ६५ ॥

तथा देहादिक जो कारण । तथा देहादि हेतु मिलन ।
होनेसे सभी कर्म निर्माण । होते उसके ॥ ६६ ॥

सब जो वह शास्त्र सम्मत । मार्ग अनुसरता है पार्थ ।
तब न्यायसे है न्यायोचित । होता है हेतु ॥ ६७ ॥

जैसे वर्षा नीरका बडा बहाव । सहज शालि-खेतमें जाता पांडव ।
सोखकर होता है वह अतीव । लाभ दायक ॥ ६८ ॥

या निकला रोषसे अकस्मात । द्वारकाकी राहपे चला पार्थ ।
चलना उसका न होता पार्थ । थकने पर भी ॥ ६९ ॥

होनेसे हेतु कारण मिलन । होता जहां अंधा कर्म उत्पन्न ।
उसे मिले शास्त्रोचित नयन । होता है न्याय ॥ ३७० ॥

दूधमें आया बडा उफान । तथा वह गिर गया जान ।
उसे यज्ञ कहना अर्जुन । नहीं उचित ॥ ७१ ॥

वैसे शास्त्र-सम्मतिके बिन । किया हुवा नहीं अकारण ।
तब चुराया हुवा जो धन । दानमें गया क्या ॥ ७२ ॥

बावन वर्णपर कौन । मंत्र है कह तू अर्जुन ।
नहीं उच्चारता बावन । वर्णको कौन यहां ॥ ७३ ॥

किंतु मंत्रकी कुशलता । जब तंक नहीं जानता ।
उच्चार फल नहीं पाता । उसी प्रकार ॥ ७४ ॥

कारण हेतु योगसे । होता जो अचानकसे ।
शास्त्रकी सो कसौटीसे । नहीं उतरता ॥ ७५ ॥

तबभी सब कर्म होता ही है । किंतु वह होना योग्य नहीं है ।
वह जो अन्याय ही अन्याय है । ऐसाही मानना ॥ ७६ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मनं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

आत्मा कभी कर्ता नहीं होता—

एवं कर्मके हैं पांच कारण । वैसेही पांच हेतु है अर्जुन ।
उसमें कहां आत्माका दर्शन । होता है तुझको ॥ ७७ ॥

नहीं होता सूर्य जैसे रूप अर्जुन । चक्षुरूपसे कराता प्रकाशमान ।
वैसे ही आत्मा नहीं होता कर्म जान । कराता वह प्रकट ॥ ७८ ॥

दर्पणमें जो है जैसे देखता । दर्पण औ' प्रतिबिंब न होता ।
किंतु इनको है प्रकाश देता । देखकर जो ॥ ७९ ॥

अथवा अहोरात्र सविता । न होके करता पांडुसुता ।
वैसे आत्मा नहीं कर्म कर्ता । किंतु दिखाता है ॥ ३८० ॥

किंतु देहाहंकारके भ्रमसे । बुद्धिके देह ही मैं माननेसे ।
आत्म-विषयमें उसको जैसे । हुई मध्य रात्री ॥ ८१ ॥

जिसने चैतन्य ईश्वर ब्रह्म । किया हो देह ही सीमा परम ।
उसको आत्मा कर्ता ऐसा भ्रम । होता निश्चित ॥ ८२ ॥

किंतु आत्मा ही है कर्म-कर्ता । ऐसा भी निश्चय नहीं होता ।
शरीर ही मैं हूं कर्म-कर्ता । मानता सत्य ॥ ८३ ॥

आत्मा ही मैं कर्मातीत । सर्व कर्म साक्षीभूत ।
यह जो यथार्थ बात । न सुने कानसे ॥ ८४ ॥

इसीलिये अमाप आत्माको जहां । देहमें ही सीमित करता यहां ।
उल्लूक रातकोही दिवस जहां । मानता है वैसे ॥ ८५ ॥

जिसने आकाशका कहीं । सच्चा सूर्य देखा ही नहीं ।
वह गढेके बिंबकोही । मानके सूर्य ॥ ८६ ॥

वहां जो शुद्ध आत्माको कर्ता मान बसा हुवा ।
संस्कार हीन जो मूढ न जाने तत्त्व दुर्मति ॥ १६ ॥

डबरेका उत्पन्न होना । सूर्यकी उत्पत्ती मानना ।
उसके नाशमें नाशना । कांपनेसे कंप ॥ ८७ ॥

अजी ! सोता जब नहीं जगता । तब स्वप्नको ही सत्य जानता ।
रज्जू न जान सांपसे डरता । इसमें क्या विस्मय ॥ ८८ ॥

जब है आंखोंमें ही कामला । तब चंद्र भी दीखता पीला ।
मृग भी नहीं क्या मृगजल । देख भ्रमते हैं ॥ ८९ ॥

शास्त्र या गुरुका नाम धनुर्धर । रखता है गांवकी सीमाके पार ।
लेकर वह मूर्खताका ही आधार । जीता रहता है ॥ ३९० ॥

उस देहाभ्र-दृष्टिके कारण । आत्मापे पड़ता देहावरण ।
अभ्रवेग चंद्रमें आरोपण । करते हैं जैसे ॥ ९१ ॥

फिर इस मान्यताके कारण । देहकी बंदिशालामें अर्जुन ।
कर्मकी वज्रगांठमें बंधन । भोगता आप ॥ ९२ ॥

सुग्गा जैसे नलिका पर । आप बंधित मानकर ।
वस्तुतः स्वतंत्र होकर । फंसता है जैसे ॥ ९३ ॥

वैसे ही आत्म-स्वरूपपर । प्रकृति-गुणोंको थोप कर ।
कल्पकोटि तक धनुर्धर । कर्ममें फंसता ॥ ९४ ॥

किंतु जो कर्ममें रहता । कर्म उसको नहीं छूता ।
वडवानल जैसे होता । समुद्रोदकमें ॥ ९५ ॥

ऐसे जो कर्ममें भी अलिप्त । रहता कर्म कर सतत ।
जानना उसको कैसे पार्थ । कहता हूं अब ॥ ९६ ॥

करनेसे मुक्तका विचार । खुलता अपना मुक्ति-द्वार ।
दीप-प्रकाशमें देखकर । पाते वस्तु जैसे ॥ ९७ ॥

जैसे जैसे पोंछते हैं दर्पण । अपना आपको होता दर्शन ।
या पानीमें मिलकर लवण । होता पानी जैसे ॥ ९८ ॥

देखता है जब उलटकर । प्रतिबिंब बिंबको धनुर्धर ।
तब देखता सब मिटकर । रहता बिंब मात्र ॥ ९९ ॥

वैसे खोया हुवा आप यदि पाना । संत जनोंमें ही वह देख लेना ।
इसीलिये है सुनना और गाना । संतोंका चरित्र ॥ ४०० ॥
वैसे कर्ममें भी रहके कर्ममें । लिप्त नहीं होता सब विषयमें ।
रहती जैसे चर्म-चक्षु चाममें । अलिप्त दृष्टि ॥ १ ॥
इस प्रकार जो मुक्त है । उसका रूप दिखाना है ।
हाथ उठाके कहना है । उपपत्तिको ॥ २ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान्न हंति न निबद्धते ॥ १७ ।

अविद्या-निद्रामें डूब कर । विश्व-स्वप्नका जो व्यवहार ।
भोगता था प्रबुद्ध धनुर्धर । अनादि जो ॥ ३ ॥
महावाक्यसे तब पुकारकर । गुरु अनुग्रहके सामर्थ्यपर ।
जगाते हाथ रख मस्तक पर । या थपकाते ॥ ४ ॥

आत्मानुभवीका अनहंकारी देह भाव—

तभी विश्व-स्वप्नकी माया । नींद छोडके धनंजया ।
सहसा जगा जो अद्वय । आनंदमें ही ॥ ५ ॥
मृगजलके तब पूर । दीखते थे जो निरंतर ।
खो जाते जैसे चंद्रकर । फैलते ही ॥ ६ ॥
या बालत्व जब बीतता । हौवा कभी नहीं डराता ।
या स्वयंपाक नहीं बनता । आग बुझने पर ॥ ७ ॥
अथवा जगने पर जैसे । सपना नहीं दीखता वैसे ।
न होती अहं ममता उसे । पांडुकुमार ॥ ८ ॥
देखनेके लिये मानो अंधार । घुसता सुरंगमें भी भास्कर ।
फिर भी न दीखता वहां पर । अंधार उसको ॥ ९ ॥

नहीं जिसे अहंभाव बुद्धिमें लिप्तता नहीं ।
मारके विश्वको सारे न मारता न बंधता ॥ १७ ॥

वैसे जो आत्मत्वसे भरित । देखता जो कुछ भी समस्त ।
द्रष्टा - दृश्यत्व परिवर्तित । होता अपनेमें ॥ ४१० ॥

लगती जिसको आग । अग्नि ही बनता अंग ।
दाह्य दाहक विभाग । रहता नहीं ॥ ११ ॥

वैसे ही जो कर्म है भिन्न । लाता आत्मापे कर्तापन ।
जाता है आभास - बंधन । तब जो रहता ॥ १२ ॥

इस आत्म - स्थितिका जो राव । जाने क्या फिर देहका ठाव ।
प्रलयांबुधि पूर पांडव । मानता क्या ओघ ॥ १३ ॥

वैसे ही संपूर्ण अहंता । शरीर कैसे लपेटता ।
सूर्य - प्रभा होगी क्या सीमित । सूर्य बिंबमें ॥ १४ ॥

मथकर निकाला जो नवनीत । फिर छासमें डाला तो पार्थ ।
रहता है जिस भांति अलिप्त । उसी प्रकार ॥ १५ ॥

जैसे जो अग्नि काष्ठमें रहता । जब वह काष्ठसे भिन्न होता ।
फिर क्या काष्ठ-पेटीमें रहता । सिकुड करके ॥ १६ ॥

या जो रात्रीके गर्भसे । निकला भास्कर जैसे ।
बात वह सुने कैसे । रातकी कभी ॥ १७ ॥

तथा जो ज्ञाता ज्ञेयपन । निगल बैठा है अर्जुन ।
उसे देहाहंताका भान । होगा कैसे ॥ १८ ॥

जहां कहींसे गगन । भर रहा है संपूर्ण ।
भर रहना लक्षण । सहज उसका ॥ १९ ॥

ऐसा वह जो करता । वह सब जो स्वयं होता ।
फिर कौन उसे लोपता । कर्तापनसे ॥ ४२० ॥

देहाहंकार आत्म-बोधमें विलय होनेके बाद—

न रहता आकाश बिन ठाव । उसी भांति सागरको प्रवाह ।
तथा ध्रुवका उठना पांडव । रहता कहां ॥ २१ ॥

उसका देहाहंकारका भाव । बोधमें विलय हुवा पांडव ।
फिर भी जो शरीरका स्वभाव । होते हैं कर्म ॥ २२ ॥

चलकर रुकता यदि चंड मारुत । फिर भी वृक्षोंमें रहता कंप भारत ।
तथा संदूकमें होता कर्पूर समाप्त । किंतु रहती सुगंध ॥ २३ ॥

हो जाता है संगीतका कार्यक्रम । किंतु चित्तपे रहता परिणाम ।
बहाव बह जाता है किंतु नम । रहता है भूमिका ॥ २४ ॥

अस्त होने पर भी सूर्यका । रहती है संध्याकी भूमिका ।
तथा ज्योति दीप्ति सकौतुक । दीखती है ॥ २५ ॥

लक्ष-भेद होने पर । दौडता रहता तीर ।
जब तक धनुर्धर । रहती शक्ति ॥ २६ ॥

चक्र पर मटका बन जाता । कुम्हार उसको उठा भी लेता ।
किंतु चक्र जो फिरता रहता । पहली गतिसे ॥ २७ ॥

वैसे ही देहाभिमान मिट जाता । जिस स्वभावसे है देह बनता ।
वही है देहको चेष्टित करता । अपने आप ॥ २८ ॥

संकल्प बिन जैसे स्वप्न दीखता । वनमें न लगता वृक्ष उगता ।
अथवा गंधर्व-नगर बनता । बनाये बिना ही ॥ २९ ॥

वैसे आत्माके उद्यम बिन । देहादि जो है पांच कारण ।
अपने आपही है अर्जुन । करते हैं कर्म ॥ ४३० ॥

विदेहावस्थामें किये गये मुक्त-कर्म—

रहते हैं जो प्राचीन संस्कार । पांच कारण हेतु धनुर्धर ।
कराते कर्म अनेक प्रकार । शरीरादिसे ॥ ३१ ॥

उन कर्ममेंसे फिर । होता है विश्व-संहार ।
या नव-विश्व सुंदर । होता सृजन ॥ ३२ ॥

किंतु कुमुद जैसे सूखता । या कमल कैसे विकसता ।
यह दोनों रवि न देखता । उसी प्रकार ॥ ३३ ॥

या वज्र प्रहार कर गगन । टुकडे करे भूतल अर्जुन ।
या मेघ-वर्षासे नंदनवन । बनाये यह भूमि ॥ ३४ ॥

किंतु इन दोनोंको जैसे । न जानता आकाश वैसे ।
देहमें रहती है वैसे । विदेह दृष्टि ॥ ३५ ॥

देहादिमें चेष्टा न करता । या विश्व बनता या टूटता ।
यह भी वह नहीं देखता । जैसे जगता स्वप्न ॥ ३६ ॥

किंतु जो चर्म-चक्षु देखते । तथा देह-भावसे है देखते ।
वे कर्म करता ऐसे कहते । तथा मानते ऐसे ॥ ३७ ॥

या घाससे बिजूखा बनाते । किसान खेती पर रखते ।
उसे सस्य-रक्षक जानते । पंछी सियार ॥ ३८ ॥

पागल पहना हुवा या नंगा । जैसे दूसरा ही कोई देखेगा ।
युद्धमें वीरके घाव गिनेगा । दूसरा कोई ॥ ३९ ॥

अथवा महासतीके भोग । देखता रहता सदा जग ।
किंतु आगमें जलना अंग । न देखता कोई ॥ ४४० ॥

अजी ! स्वस्वरूपमें जो जागृत । दृश्य सह द्रष्टा हुवा है अस्त ।
वह जाने क्या इंद्रियोंकी बात । क्या करते वह ॥ ४१ ॥

बडे कल्लोलमें जब छोटा कल्लोल । समेटते तब किनारेके सकल ।
मनमें मानते यदि गया निगल । बडा छोटेको ॥ ४२ ॥

किंतु पानीकी दृष्टिसे देख वहां । कौन निगलेगा किसको औ' कहां ।
वैसे पूर्णको अन्य नहीं है जहां । वह मारेगा ॥ ४३ ॥

जैसे सुवर्णकी ही दुर्गा । तथा सुवर्णका ही खड्ग ।
उससे जो है नाश होगा । सुवर्ण महिष ॥ ४४ ॥

पूजारीकी दृष्टिसे व्यवहार । यह सब सही है धनुर्धर ।
किंतु खड्ग दुर्गा महिषासुर । तीनो हैं सुवर्ण ॥ ४५ ॥

जैसे चित्रका पानी हुताश । दृष्टि मात्रका यह आभास ।
चित्रमें आग या आर्द्र अंश । नहीं दोनों ही ॥ ४६ ॥

मुक्तात्माका शरीर वैसा । चलता है संस्कारवश ।
देखके लोक भ्रमवश । कहते हैं कर्ता ॥ ४७ ॥

तथा उसके करनेसे पार्थ । होता यदि तीनों लोकका घात ।
किंतु उसने किया ऐसी बात । कहना नहीं ॥ ४८ ॥

ज्ञानीकी बुद्धि द्वंद्वातीत होती है—

न देख कर सूर्यने कभी अंधार । नाश किया कहना कैसे धनुर्धर ।
जब ज्ञानियोंको नहीं कुछ दुसरा । कहेगा क्या ॥ ४९ ॥

इसीलिये ज्ञानीकी जो बुद्धि । न जाने पाप पुण्य अशुद्धि ।
मिलकर जैसे गंगा नदी । न रहता दोष ॥ ४५० ॥

आगका आगसे स्पर्श होकर । कौन जलेगा कहो धनुर्धर ।
अपने आपको है हथियार । चुभेगा क्या ॥ ५१ ॥

वैसे जो अपनेसे कुछ भिन्न । न मानता कर्म मात्र अर्जुन ।
नहीं होगी उसकी बुद्धि जान । लिप्त कभी किसीसे ॥ ५२ ॥

इसीलिये कार्य कर्ता क्रिया । अपना रूप जिसका भया ।
नहीं देहादिक धनंजया । न रहा कर्म-बंध ॥ ५३ ॥

स्वकर्तृत्वसे जीव कारीगर । पांच ही खाने सब खोद कर ।
दशेंद्रियोंसे करता तैयार । कर्म-मात्र ॥ ५४ ॥

वहां विधि तथा निषेध । साधके आकार द्विविध ।
कर्म-रचनामें विविध । न खोता क्षण भी ॥ ५५ ॥

इतना बडा यह कार्य । न होता आत्माका सहाय ।
प्रारंभमें भी धनंजय । न छूता वह ॥ ५६ ॥

केवल साक्षीभूत चिद्रूप । कर्म-प्रवृत्तिका जो संकल्प ।
उठता उसे प्रेरणा आप । नहीं देता ॥ ५७ ॥

कर्म-प्रवृत्तिका जो भार । न होता वह धनुर्धर ।
उस प्रवृत्तिका जो भार । उठाते अन्य ॥ ५८ ॥

तभी आत्माका जो केवल । रूप ही हुवा है निखिल ।
उसको नहीं बंदिशाल । कर्मकी कभी ॥ ५९ ॥

किंतु जहां अज्ञानके पट पर । अन्यथा ज्ञानका चित्र उठाकर ।
दिखानेमें प्रसिद्ध धनुर्धर । त्रिपुटी जो अन्य ॥ ४६० ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

कर्म–प्रवृत्तिके बीजोंका विस्तृत विवेचन—

जो है ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय । जगके ये बीज त्रय ।
कर्मकी ये निःसंशय । प्रवृत्ति जो ॥ ६१ ॥

अब जो यह है तीन । विषय हैं भिन्न भिन्न ।
उनका करें वर्णन । स्पष्ट रूपसे ॥ ६२ ॥

जैसे जीव सूर्य-बिंबका । रश्मिजाल जो श्रोत्रादिका ।
खिलाते विषय पद्मका । मुकुल-वृंद ॥ ६३ ॥

जीव नृपका घोड़ा खुला हुवा । इंद्रियोंका समूह लिया हुवा ।
विषय देश लूटता पांडवा । सुखदुःखादिक ॥ ६४ ॥

इन इंद्रियोंसे कराता व्यापार । सुखदुःखानुभव देता लाकर ।
सुषुप्ति कालमें जो लीन होकर । रहता है ज्ञान ॥ ६५ ॥

उस जीवको कहते ज्ञाता । इसको मैं अब जो कहता ।
पहले छंदमें जो कहा था । वह है ज्ञान ॥ ६६ ॥

अविद्याके उदरमें । उपजते समयमें ।
कर देता जो आपमें । तीन भाग ॥ ६७ ॥

फिर अपनी दौडके सम्मुख । बांध डालते ज्ञेय विषयक ।
पीछेका भाग जो है ज्ञातृत्वका । उठा देता है ॥ ६८ ॥

ज्ञाता ज्ञेयके मध्यमें फिर । ज्ञानके रहनेका प्रकार ।
जिससे दोनोंका व्यवहार । चलता रहता है ॥ ६९ ॥

ज्ञाता ज्ञेय तथा कर्म तिहरा कर्म-बीज है ।
क्रिया कारण कर्तृत्व तीन कर्मांग है उसे ॥ १८ ॥

आते ही ज्ञेयका सीमा-स्थान । जिसकी दौड सकती जान ।
तभी सभी वस्तुको अर्जुन । देता है नाम ॥ ४७० ॥

कहाता यह सामान्य ज्ञान । इसमें अन्यथा नहीं जान ।
सुन तू ज्ञेयका अब लक्षण । मुझसे अब ॥ ७१ ॥

अजी ! शब्द स्पर्श । रूप गंध रस ।
ये पांच आभास । ज्ञेयके हैं ॥ ७२ ॥

एक ही अमृत फल जैसे । इंद्रियोंको भिन्न रूपसे ।
रस वर्ण गंध स्पर्शसे । मिलता है ॥ ७३ ॥

ऐसे ज्ञेय है एकसर । किंतु ज्ञान इंद्रिय द्वारा ।
लेता तब होते प्रकार । यहां पांच ॥ ७४ ॥

प्रवाहका जैसे समुद्रमें जाना । रुकना पड़ावके आनेपे चलना ।
भुट्टा आने पर बढ़ना रुकना । सस्यका पार्थ ॥ ७५ ॥

इंद्रियोंसे ऐसे जो दौडता । वह ज्ञान जहां है रुकता ।
उसीको है ज्ञेय कहा जाता । धनुर्धर यहां ॥ ७६ ॥

ऐसे हैं ये ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय । तीन रूप हुए धनंजय ।
यह सब है त्रिविध क्रिया । प्रवृत्तिकी जान ॥ ७७ ॥

जो है शब्दादि विषय । यह पंचविध ज्ञेय ।
वही है प्रिय अप्रिय । एक प्रकारसे ॥ ७८ ॥

ज्ञाताको जिस समय ज्ञान । करता है अल्पसा दर्शन ।
स्वीकार या तजनेमें अर्जुन । होता प्रवृत्त ॥ ७९ ॥

किंतु जैसे मीन देख बक । तथा निदान देखके रंक ।
अथवा स्त्रीको देख कामुक । होता प्रवृत्त ॥ ४८० ॥

अथवा उतार पर नीर । परिमल पर है भ्रमर ।
या गायके पास धनुर्धर । दौडता बछडा ॥ ८१ ॥

स्वर्गकी उर्वशीका विषय । सुनकर जैसे धनंजय ।
नभमें सीढी लगाता मनुष्य । यज्ञ यागकी ॥ ८२ ॥

आकाशमें उड़ता कबूतर । कबूतरीको वहां देखकर ।
छोड़ता अपना सारा शरीर । उसपे जैसे ॥ ८३ ॥

अथवा सुनकर मेघ गर्जन । मयूर उडना चाहता गगन ।
वैसे ही ज्ञेय देखकर अर्जुन । दौडता ज्ञाता ॥ ८४ ॥

इसीलिये ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता । विविध हैं जो पांडुसुता ।
होते हैं यहां कर्मको समस्त । प्रवृत्त सदैव ॥ ८५ ॥

होता है यदि ज्ञेय प्रिय । ज्ञाताको वह धनंजय ।
भोगमें न खोता समय । क्षणका भी वह ॥ ८६ ॥

तथा होता यदि अप्रिय । तजता सबका समय ।
आया जैसे जग-प्रलय । मानता वह ॥ ८७ ॥

व्याल है अथवा हार । इस संशयमें नर ।
हर्षसे डालता कर । औ' कांप उठता ॥ ८८ ॥

ऐसे है ज्ञेयका प्रियाप्रिय । देख होता ज्ञाता धनंजय ।
स्वीकार या तजते समय । होता है प्रवृत्त ॥ ८९ ॥

अनुरागी जो प्रतिमल्लका । सेनापति संपूर्ण सैन्यका ।
आता है त्याग कर रथका । भूमि पर जैसे ॥ ४९० ॥

वैसे ज्ञातापनसे जो होता । वह कर्तापनमें है आता ।
नितही जो अनायास खाता । बैठता रसोईमें ॥ ९१ ॥

या भ्रमका ऐसे बाग लगाता । स्वर्णकारही कसौटी बनता ।
या भगवंत ही है राज बनता । घड़ने मंदिर ॥ ९२ ॥

ज्ञेयकी लालसा धर ऐसे । ज्ञाता कराता है इंद्रियोंसे ।
व्यवहार सभी प्रकारसे । होकर कर्ता ॥ ९३ ॥

तथा स्वयं आप होकर कर्ता । ज्ञानमें लाता जब सधनता ।
वहां ज्ञेयही होता स्वभावता । कार्य धनंजय ॥ ९४ ॥
ज्ञानकी ऐसी निजगति । पलटती जो इस भांति ।
रात्रिमें जैसे नेत्र-कांति । पलटती है ॥ ९५ ॥

अथवा होता जब दैव उदास । उतरता है श्रीमंतका विलास ।
पूर्णिमाके नंतर जैसे चंद्रांश । उतरता आता ॥ ९६ ॥

वैसे इस चेष्टाके कारण । ज्ञाताको घिरता कर्तापन ।
वहांके जो उसके लक्षण । सुन तू अब ॥ ९७ ॥

अंतःकरणका विवेचन—

यहां बुद्धि और मन । चित्त अहंकार जान ।
ये हैं चतुर्विध चिन्ह । अंतःकरणके ॥ ९८ ॥

बाहर त्वचा और श्रवण । नयन रसना और घ्राण ।
ये हैं जो पंच-विध अर्जुन । ज्ञानकी इंद्रिया ॥ ९९ ॥

तब जो कर्ता जीव अर्जुन । ले अंतःकरणके साधन ।
करके कर्मका विचारण । यदि वह सुख हो ॥ ५०० ॥

जगा करके तब बाह्य । चक्षुरादि दस इंद्रिय ।
कर्ममें वह धनंजय । लगता त्वरित ॥ १ ॥

फिर वह इंद्रिय कदंब । लगा देता है कर्ममें सब ।
जब तक कर्म-फल लाभ । हाथ न आता ॥ २ ॥

या किसी कर्तव्यमें सुख । फलेगा वह नहीं देख ।
कर देता है पराङ्मुख । इंद्रियोंको वह ॥ ३ ॥

जब तक लगान नहीं मिलता । राजा किसानको काममें जुताता ।
वैसे दुखका नाम भी न मिटता । जोतता इंद्रियोंको ॥ ४ ॥

कर्ता कारण और कर्म—

ऐसे त्याग और स्वीकार । इंद्रियोंकी धुराको धर ।
करता उसे धनुर्धर । कहते हैं कर्ता ॥ ५ ॥

तथा कर्ताके सभी काम । करते जो स-परिश्रम ।
उन इंद्रियोंको हम । कहते हैं कारण ॥ ६ ॥

इन्ही कारणों पर जो कर्ता । सभी क्रियाओंको उभारता ।
उन क्रियाओंसे जो घिरता । वह है कर्म ॥ ७ ॥

सुनारकी बुद्धिसे जैसे आभूषण । घिरते चंद्रको जैसे चंद्रकिरण ।
तथा विलासतासे लता वृक्षगण । घेरते जैसे ॥ ८ ॥

या नाना प्रभा जैसे प्रकाश । या मधुरतासे इक्षु-रस ।
या आकाश जैसे अवकाश । घिरा रहता है ॥ ९ ॥
वैसे कर्ताकी सभी क्रिया । व्याप लेती है धनंजया ।
उसको कर्म नाम दिया । अन्यको नहीं ॥ ५१० ॥
ऐसे कर्ता कर्म कारण । इन तीनोंके जो लक्षण ।
कहे हैं तुझसे अर्जुन । चातुर्यनिधि ॥ ११ ॥
यहां ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय । ये हैं कर्मके प्रवृत्तित्रय ।
वैसे ही कर्ता कारण कार्य । कर्म संचय यह ॥ १२ ॥
अग्निमें रखा जैसे धूम । तथा बीजमें जैसे द्रुम ।
वैसे मनसे जुडा काम । सदैवही ॥ १३ ॥
वैसे कर्म क्रिया कारण । कर्मका रहा है जीवन ।
जैसे सुवर्ण ही जीवन । स्वर्णमात्रका ॥ १४ ॥
इसीलिये यह कार्य मैं कर्ता । ऐसे भाव यहां है पांडुसुता ।
वहां भी आत्मा दूरही रहता । सभी क्रियाओंसे ॥ १५ ॥
इसीलिये जान तू अर्जुन । आत्मा रहता कर्मसे भिन्न ।
जाने दे अब यह कथन । सुनेगा कितना तू ॥ १६ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान कर्म कर्ता भी त्रिगुणसे घिरे हैं—

किंतु कहा जो ज्ञान । कर्म कर्ता ये तीन ।
इनमें गुण तीन । भिन्न हैं जो ॥ १७ ॥
इसलिये ज्ञान कर्म कर्ता । इसी पर न भूलना पार्था ।
एक है जो छुटकारा देता । और दो बंधन ॥ १८ ॥

ज्ञान औ' कर्म कर्तामें तीन भेद त्रिगुणसे ।
रचे हैं सुन तू कैसे गुण तत्वज्ञने कहे ॥ १९ ॥

वह सात्विक तुझसे ज्ञात । इसलिये त्रिगुणकी बात ।
सांख्य शास्त्रमें जो है कथित । कहता हूं तुझे ॥ १९ ॥

वह विचार क्षीर समुद्र । स्वबोध कुमुदिनीका चंद्र ।
ज्ञान - जागृतोंका जो नरेंद्र । शास्त्रोंका है ॥ ५२० ॥

अथवा प्रकृति पुरुष ये दोन । घुल गये जैसे रात और दिन ।
त्रिभुवनमें उसे दिखाता कर भिन्न । मार्तंड जैसे ॥ २१ ॥

जहां मोहरात्री है अपार । चोवीस तत्त्वोंसे गिनकर ।
निरास करके धनुर्धर । रहे सुखसे ॥ २२ ॥

अर्जुन! यह सांख्यशास्त्र । पढते हैं जिसके स्तोत्र ।
वह गुण भेद चरित्र । है इस भांति ॥ २३ ॥

अपने ही गुण भेदसे । त्रिविधपनकी मुद्रासे ।
विश्वमें जो दृश्य है उसे । किया मुद्रित ॥ २४ ॥

सत्व रज तम हैं ऐसे । तीनोंकी महिमा भी ऐसे ।
विविध जो आदि ब्रह्मासे । अंतमें है कृमितक ॥ २५ ॥

किंतु है विश्वके सभी समुदाय । जिसके भेदसे भेदते समय ।
उस ज्ञानका कैसे हुवा उदय । पहले उसे कहता ॥ २६ ॥

दृष्टिको जब शुद्ध किया जाता । तब सभी है शुद्ध ही दीखता ।
वैसे ही जब ज्ञान शुद्ध होता । सब है शुद्ध ॥ २७ ॥

इसीलिये वह सात्विक ज्ञान । कहता हूं उसको अब सुन ।
ऐसे हैं कैवल्य गुण निधान । श्रीकृष्ण कहता ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

अब कहता मैं तुझसे अर्जुन । शुद्ध जो वास्तविक सात्विक ज्ञान ।
उदयसे नाश करता है जान । ज्ञेय सह ज्ञानको ॥ २९ ॥

जो देखे भूत मात्रोंमें भाव एक सनातन ।
अभिन्न भेदमें देख जान जो ज्ञान सात्विक ॥ २० ॥

सात्त्विक ज्ञानका विवेचन—

न देखता जैसे सूर्य अंधार । सरिता नहीं जानती सागर ।
आत्म-छाया न आती धनुर्धर । आलिंगनमें कभी ॥ ५३० ॥

इस भांति है जो ज्ञान । शिवादि गणावसान ।
इसे भूत व्यक्ति भिन्न । नहीं दीखता ॥ ३१ ॥

हाथसे चित्र देखनेसे । या नून पानीमें धोनेसे ।
या स्वप्न जैसे जगनेसे । नहीं दीखता ॥ ३२ ॥

इस प्रकार है जिस ज्ञानसे । ज्ञातव्य जाननेके प्रयाससे ।
ज्ञाता जानना या जानता ऐसे । नहीं रहता कुछ ॥ ३३ ॥

जैसे भूषण गलाके स्वर्ण । नहीं निकालते बुद्धिमान ।
तथा तरंग छान अर्जुन । नहीं लेते नीर ॥ ३४ ॥

जैसे ज्ञानके हाथमें पार्था । नहीं लगती है दृश्य-कथा ।
वह ज्ञान जान तू सर्वथा । सात्विक ज्ञान ॥ ३५ ॥

सहज देखनेसे जैसे दर्पण । आप देता प्रतिबिंब हो दर्शन ।
वैसे ज्ञेय दूर हो ज्ञाता अर्जुन । देता अनुभव ॥ ३६ ॥

ऐसा है जो सात्त्विक ज्ञान । मोक्ष-लक्ष्मीका है सदन ।
अब तू राजसका सुन । लक्षण पार्थ ॥ ३७ ॥

पृथक्त्वेन[1] तु तज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विधि राजसम् ॥ २१ ॥

राजस ज्ञानका विवेचन—

तभी यह जो ज्ञान अर्जुन । घूमता विधि-वस्रसे हीन ।
श्रुतिने उसे मानके नग्न । किया अनादर ॥ ३८ ॥

भूतोंकी विचित्रताके कारण । स्वयं आप होकर छिन्न भिन्न ।
उस भेदसे ज्ञानीको अर्जुन । किया भ्रमिष्ट ॥ ३९ ॥

---

[1] पोसके भेद बुद्धीको देखता भूतमात्रमें ।
विभिन्न भाव जो ज्ञान वह राजस जान तू ॥ २१ ॥

जैसे है सच्चे रूप पर । लगाके विस्मयका द्वार ।
फिर वह स्वप्नका भार । होता निद्रामें ॥ ५४० ॥

वैसे स्व-ज्ञान सीमाके बाहर । असार संसार पंजर पर ।
तीन अवस्थाओंके धनुर्धर । दिखाता खेल ॥ ४१ ॥

अलंकार रूपमें ढका स्वर्ण । बालक नहीं समझता स्वर्ण ।
नाम-रूपसे दूर गया मान । अद्वैत जिससे ॥ ४२ ॥

भांडोंके रूपमें आकर । मृत्तिका गयी छिपकर ।
अथवा दीप बनकर । अग्नि हुवा दुर्बोध ॥ ४३ ॥

अथवा वस्त्रके रूपमें जैसे । मूर्खको तंतु खो जाते वैसे ।
अथवा चित्रका रूप लेनेसे । खो जाता वस्त्र ॥ ४४ ॥

उसी प्रकार है जो ज्ञान । जानता भूतमात्र भिन्न ।
तथा ऐसा बोध कल्पना । भूलही गया ॥ ४५ ॥

इंधनसे भेदा गया अनल । तथा फूलोंसे मानो परिमल ।
अथवा जलभेदमें सकल । भिन्न हुवा चंद्र ॥ ४६ ॥

तथा वस्तुके नाना प्रकार । देखके छोटे बडे आकार ।
अनेकत्व देखता अंतर । राजस ज्ञान ॥ ४७ ॥

कहता अब तमका लक्षण । कराता हूं उसकी पहचान ।
तम जैसे चांडालका स्थान । दिखा रखता ॥ ४८ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

तामसिक ज्ञानका विवेचन—

तब है जो ज्ञान अर्जुन । घूमता विधि-वस्त्र हीन ।
श्रुति पराङ्मुख है नग्न । इसी लिये उसे ॥ ४९ ॥

देहको मान सर्वस्व व्यर्थ ही उलझा रहा ।
भावार्थ हीन जो क्षुद्र ज्ञान है जान तामस ॥ २२ ॥

अन्य शास्त्र जो श्रुत्यागम रत । तामस ज्ञानको मानके निंदित ।
भगा दिया है पर्वत पर पार्थ । म्लेंछ-धर्मके ॥ ५५० ॥

अजी ! जो ज्ञान है ऐसा । गुण ग्रहण तामस ।
पागल होकर जैसा । भटकता है ॥ ५१ ॥

नात-गोतकी बाधा न जानता । किसीको निषिद्ध नहीं मानता ।
मानो खंडहरमें बसा कुत्ता । रहता जैसे ॥ ५२ ॥

उसके मुखमें जो नहीं आता । अथवा खानेसे मुख जलता ।
ऐसे वस्तुमात्र वह तजता । खाता है सब और ॥ ५३ ॥

सोना चुराते हुए चूवा । भला बुरा न कहता पांडव ।
न कहता मांसाहारमें जीव । काला या गोरा ॥ ५४ ॥

या जलती जब आग वनमें । भला बुरा न सोचती मनमें ।
न सोचे माखी जैसे बैठनेमें । मरा या जिया है ॥ ५५ ॥

परोसा हुवा है या वमन । अथवा ताजा या बासी अन्न ।
जैसे यह भी कागका मन । नहीं जानता वैसे ॥ ५६ ॥

निशिद्धको है तजना । विधिको सदा पालना ।
इस विषयका ज्ञान । न रहता उसे ॥ ५७ ॥

आंखोंके सामने जो जो आता । वह भोग्य हेतु ही मानता ।
जो कुछ स्त्री द्रव्य है मिलता । देता शिश्न देवको ॥ ५८ ॥

न तीर्थातीर्थका कुछ ज्ञान । पानीकी न कोई पहचान ।
प्यासका मुख इसके बिन । न जानता कुछ ॥ ५९ ॥

वैसे ही वह खाद्याखाद्य । न जानता निंद्य-अनिंद्य ।
जीभको भाता वही योग्य । वह मानता है ॥ ५६० ॥

मानता स्त्री-जात सकल । भोग्य वस्तु ही है केवल ।
इस विषयमें केवल । यही बोध ॥ ६१ ॥

स्वार्थमें जो जब काम आता । वही उसका आप्त बनता ।
अन्य संबंध नहीं जानता । वह कभी कोई ॥ ६२ ॥

सभी होता है मृत्युका अन्न । तथा होता आगका ईंधन ।
वैसे ही होता विश्वका धन । तामस ज्ञानीको ॥ ६३ ॥

वैसे ही विश्व सकल । विषय जाना केवल ।
इसका एक ही फल । देह-पूजन ॥ ६४ ॥

आकाशसे गिरा हुआ नीर । समुद्रही उसका आधार ।
वैसे है सभी काज उदर- । पूर्तिके लिये ॥ ६५ ॥

इसे छोड स्वर्ग नर्ककी बात । तथा क्या विहित या अविहित ।
इस विषयमें है काली रात । जिसको सदैव ॥ ६६ ॥

जिसे देह-खंडका नाम आत्मा । ईश्वर है पाषाणकी प्रतिमा ।
न उसे इसके परेकी प्रमा । छूती भी कभी ॥ ६७ ॥

इसलिये जब शरीर गिरता । कर्म सह आत्मा भी है मिटता ।
तब भोगनेके लिये रहता । किस रूपसे कौन ॥ ६८ ॥

यदि कोई ईश्वर है कहता । वह कर्मका फल भी है देता ।
तब वह ईश्वरको खा जाता । बेच करके ॥ ६९ ॥

गावोंके जो ये देवालयेश्वर । सब्बे नियामक तो धनुर्धर ।
तब देशके ये बडे डोंगर । चुप क्यों रहते हैं ॥ ५७० ॥

यदि वह ईश्वरको मानता । इस भांति पाषाण ही मानता ।
आत्माको वह केवल जानता । शरीर मात्र ॥ ७१ ॥

अन्य जो पाप-पुण्यादिक । मानता भ्रम-मात्र एक ।
मिले सो भोगनेमें सुख । मानता अग्निसा ॥ ७२ ॥

चर्म-चक्षु जो कुछ दिखाता । इंद्रियां दिखाती मधुरता ।
उसीको सब कुछ मानता । सत्य अनुभव ॥ ७३ ॥

अथवा जहां ऐसी प्रथा । बढती देखता तू पार्था ।
बढ़ती गगनमें वृथा । धूम-लता जैसे ॥ ७४ ॥

गीला अथवा सूखा हुवा । व्यर्थ ही जाता है पांडवा ।
बढ़कर टूटता हुवा । गजदंड जैसा ॥ ७५ ॥

जैसे ईखका बुट्टा होता । या जैसे हिजड़ा रहता ।
या जैसे वन है लगाता । सेमलका जो ॥ ७६ ॥

अथवा बालकका मन । या चोरके घरका धन ।
अथवा जैसे गल-स्तन । बकरेके जैसे ॥ ७७ ॥

ऐसे जो अर्थ हीन । तथा स्वैर अर्जुन ।
उसे तामस ज्ञान । कहता हूं मैं ॥ ७८ ॥

ऐसे तामस ज्ञानको भी ज्ञान । कहते इसका भाव अर्जुन ।
कहते हैं जन्मांधके नयन । बडे विशाल जैसे ॥ ७९ ॥

अथवा बहरेके खडे कान । या अपेयको कहते हैं पान ।
वैसे कुल नाम उसका ज्ञान । इतना ही ॥ ५८० ॥

जाने दे कितना बोलना । ऐसी बातको कभी ज्ञान ।
न कहना उसे जानना । तामस मात्र ॥ ८१ ॥

गुणमें कहे ऐसे तीन । भेद कर यथा लक्षण ।
ऐसा श्रोता श्रेष्ठ अर्जुन । कहां है तुझसे ॥ ८२ ॥

ऐसे तीन प्रकार । ज्ञानके जो धनुर्धर ।
दीप्तिमें होगी गोचर । कर्ताकी क्रियाकी ॥ ८३ ॥

जैसे है बहता हुवा नीर । लेके जाता पात्रका आधार ।
उसी प्रकार लेता आकार । उसी भांतिका ॥ ८४ ॥

ज्ञान-त्रयके कारण । त्रिविध कर्म अर्जुन ।
होता है सात्विक सुन । कहता पहले ॥ ८५ ॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

सात्विक कर्मका लक्षण—

स्वाधिकारानुसार जो आता । उसीमें वह संतोष पाता ।
पति-व्रतालिंगनसे पाता । पति जैसे ॥ ८६ ॥

जैसे सांवले रंगमें चंदन । प्रमदाकी आंखोंमें अंजन ।
वैसे स्वाधिकारका भूषण । नित्यकर्म ॥ ८७ ॥

निर्दिष्ट और निष्काम तजके राग-द्वेषको ।
किया असंग वृत्तीसे वह है कर्म सात्विक ॥ २३ ॥

नित्य-कर्म जो है भला भला । नैमित्तिकका जोड़ भी मिला ।
मानो सोनेसे सुहाग मिला । ऐसी है शोभा ॥ ८८ ॥

तन मनका सार सर्वस । दे कर बढाती स-संतोष ।
माता बालकको पाल पोस । बिन उकताये ॥ ८९ ॥

जीव भावसे ऐसे कर्मानुष्ठान । कर भी न जाते फलपे नयन ।
करता है उस कर्मका अर्पण । केवल ब्रह्ममें ॥ ५९० ॥

प्रियाराधनमें जैसे सहज भाव । नहीं रहता कम अधिकका भाव ।
ऐसे सत्प्रसंगमें रहता पांडव । नित्य-कर्म ॥ ९१ ॥

तब न होता अकारण खेद । उद्वेगसे जीवको न दें बांध ।
अथवा होनेसे मान आनंद । उछलता कभी ॥ ९२ ॥

ऐसे कुशलता पूर्वक । किया जाता है कर्म नेक ।
कहते हैं उसे सात्विक । कर्म पांडव ॥ ९३ ॥

इस पर राजसका सुन । कहता हूं मैं सही लक्षण ।
अपना चित्त देके अर्जुन । सुन तू यह ॥ ९४ ॥

यत् तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

राजस कर्मका लक्षण—

धनमें जैसे कोई माता पितासे । न बोलता व्यवहारमें ठीकसे ।
किंतु चलता विश्वमें आदरसे । महामूर्ख ॥ ९५ ॥

या जड़में न दें तुलसीके । दूरसे देता बूंद पानीके ।
किंतु सींचता नित द्राक्षके । मूलमें दूध ॥ ९६ ॥

वैसे हैं जो नित्य नैमित्तिक । कर्म करना जो आवश्यक ।
उसके विषयमें जो देख । उठता भी नहीं ॥ ९७ ॥

सकाम और सायास साहंकारेण वा पुनः ।
किया जाता वही सारा कहाता कर्म राजस । २४ ॥

अब कार्यक्रममें तन मन । दानादि देकर भी संपूर्ण ।
न जानता है कुछ भी अर्जुन । दिया अधिक ॥ ९८ ॥

ड्योढे सूदमें जब लगाता । तब देनेमें तृप्त न होता ।
या खेतमें जब बीज बोता । न कहता रुको अब ॥ ९९ ॥

पारस हाथमें आता अर्जुन । तब जैसे लोह लेनेमें धन ।
खर्च करनमें सोत्साह मन । उछलता जैसे ॥ ६०० ॥

वैसे फल देखकर सम्मुख । कर्म करता उत्साह पूर्वक ।
करता सो कम मान अधिक- । अधिक करता जाता ॥ १ ॥

ऐसे फल कामुकसे । होते हैं यथाविधिसे ।
काम्य-कर्म अधिकसे । होते अधिक ॥ २ ॥

तथा उस काम्य-कर्मका । पीटता ढिंढोरा सदाका ।
नाम-पाठसे है कर्मका । करता भोज्य ॥ ३ ॥

इससे बढ़ता कर्माहंकार । न जानता पिता या गुरु फिर ।
जैसे नहीं मानता काल-ज्वर । कोई औषध ॥ ४ ॥

ऐसे है स-अहंकार । फलाभिलाषासे नर ।
करता है स-आदर । जो जो कुछ ॥ ५ ॥

तथा इस करनेमें भी जैसा । मदारीका व्यवसाय हो ऐसा ।
करता है जो अतीव सांयास । जीविकाही जान ॥ ६ ॥

एक दानेके लिये उंदुर । खोदता जाता सभी डोंगर ।
या सेवारके लिये दुर्दर । मथता समुद्र ॥ ७ ॥

भीखके परे कुछ न मिलता । फिर भी सपेरा साप ढोता ।
किसीको कष्ट भी अच्छा लगता । इसको करें क्या ॥ ८ ॥

देखके परमाणुका भी लाभ । दीमक खोदती पृथ्वीका गर्भ ।
वैसे धर स्वर्ग-सुखका लोभ । करते कष्ट ॥ ९ ॥

यह काम्य-कर्म सक्लेस । जानना है यहां राजस ।
कहता लक्षण तामस । सुन तू अब ॥ ६१० ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

तामस कर्मका लक्षण—

वह जो तामस कर्म । निंदाका है काला धाम ।
निषिद्ध कर्मका जन्म । हुवा हो सफल ॥ ११ ॥

वह जब संपन्न होता । दृष्टिमें कुछ भी न आता ।
जैसे पानीपे लिया जाता । रेखा चित्र ॥ १२ ॥

किया हो जैसे छासका मंथन । अग्निके लिये राख फूंकी मान ।
या कोल्हूमें रेती पेरी अर्जुन । उसी प्रकार ॥ १३ ॥

पवनपे भूसा धरना । तीरसे गगन छेदना ।
पवनको फांस डालना । बांधानेके लिये ॥ १४ ॥

जैसे यह सकल । नासता है निष्फल ।
वैसे होता सकल । तामस कर्म ॥ १५ ॥

वैसे नरदेहके समान । व्यय होता है व्यर्थ ही धन ।
नासता कार्यके साथ जान । विश्वका सुख ॥ १६ ॥

कमल वनपे कांटेका फांस । खींचनेसे होता घिसके नाश ।
तथा करना वनका विध्वंस । पांडु कुमार ॥ १७ ॥

जैसे अपना तन जलाता । लोगोंको अंधेरेमें डालता ।
द्वेषसे दीपपे झंप लेता । जैसे पतंग ॥ १८ ॥

वैसे सर्वस्व हो व्यर्थ । देह पर हो आघात ।
तथा होते अन्य त्रस्त । जिस कार्यसे ॥ १९ ॥

माखी अपनेको निगलाती । दूसरोंको वमन कराती ।
स्मरण दिलाती ऐसी कृति । तामस कर्म ॥ ६२० ॥

विनाश व्यय निष्पत्ति सामर्थ्य भी न देखके ।
मोहसे जो किया जाता कर्म तामस जान तू ॥ २५ ॥

अपना सामर्थ्य न देखता । आगेका विचार न करता ।
मनमें जो आता सो करता । न देखता कुछ ॥ २१ ॥

मेरा सामर्थ्य कितना । कर्मकी कैसी है घटना ।
करने पर है क्या होना । सोचता नहीं ॥ २२ ॥

इस भांतिसे सब जो विचार । अविवेक पगसे पोंछकर ।
उद्यत होता है स-अहंकार । कर्ममें वह ॥ २३ ॥

अपना ही आसरा जलाकर । भड़कता है अग्नि भयंकर ।
या मर्यादा भंग कर सागर । उमड पड़ता ॥ २४ ॥

तब कम अधिक न जानता । आगे पीछे कुछ भी न देखता ।
पथ कुपथ भी एक करता । तामस कर्म ॥ २५ ॥

कृत्याकृत्य ऐसा कुछ लेकर । आप पर विचार भी न कर ।
होता है जो कर्म धनुर्धर । निश्चय ही तामस ॥ २६ ॥

ऐसे गुणत्रय भिन्न । कर्मकी स्थिति अर्जुन ।
यह किया विवेचन । कारणों सह ॥ २७ ॥

अब इन कर्मोंको जो करता । कर्मोंके अभिमानसे जो कर्ता ।
वह जीव भी कैसे त्रिविधता । पाता है देख ॥ २८ ॥

जैसे होके चतुर्थाश्रमवश. । चतुर्धा दीखता एक पुरुष ।
कर्ता दीखता कर्मभेद वश । तीन प्रकारका ॥ २९ ॥

तीनमें अब मैं पार्थ । सात्विक तुझे प्रस्तुत ।
करता हो दत्त चित्त । सुन तू इसे ॥ ६३० ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिध्यसिध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥ २६ ॥

निःसंग निरहंकारी उत्साही धैर्यसे भरा ।
फले जले अविकारी कर्ता सात्विक है कहा ॥ २६ ॥

सात्विक कर्ताके लक्षण—

छोडकर फलोद्देश । जैसे बढ़ जाती शाख ।
चंदनका जो विशेष । कहाता बावनी ॥ ३१ ॥

या फल बिना ही जो सार्थक । होती है जैसे नाग लतिका ।
वैसे करता है नित्यादिक । कर्म सदैव ॥ ३२ ॥

उनमें नहीं फल-शून्यता । अथवा नहीं है विफलता ।
फलके भी फल पांडुसुता । होते हैं क्या ॥ ३३ ॥

आदर-पूर्वक सब करता । किंतु किया ऐसा न कहता ।
वर्षाकालमें नहीं गर्जता । बादल जैसे ॥ ३४ ॥

वैसे परमात्म-प्रीत्यर्थ । समर्पणमें जो उचित ।
कर्म-समुदाय है पार्थ । करनेमें उत्पन्न ॥ ३५ ॥

कालका उल्लंघन नहीं करता । शुद्ध स्थलका विचार भी रखता ।
तथा शास्त्र-दृष्टिसे भी देखता । कार्य निर्णय ॥ ३६ ॥

वृत्तिको सदा एकाग्र रखता । चित्तको फलसे दूर रखता ।
नियमोंका बंधन भी पालता । शास्त्रोक्त जो ॥ ३७ ॥

इस निरोधको सहनेमें । सर्वोत्कृष्ट धैर्यको मनमें ।
रखनेका सद् चिंतनमें । रहता है नित ॥ ३८ ॥

तथा आत्म-प्रेमसे विहित । कर्म करनेमें जो सतत ।
देह-सुखकी चिंता किंचित । करता नहीं ॥ ३९ ॥

निद्रासे सदा दूर रहता । भूखको भी नहीं जानता ।
देह-सुख नहीं मिलता । उसको कभी ॥ ६४० ॥

सोना जैसे आगमें तपता । भार घट कसमें चढ़ता ।
वैसे उत्साह बढ़ता जाता । कर्ममें उसका ॥ ४१ ॥

पति पर प्रेम हो तो सच । सतीको जीनेमें हो संकोच ।
चितामें जलनेमें रोमांच । होते पतीसह ॥ ४२ ॥

प्रिय हो आत्माके समान । उसके लिये क्या अर्जुन ।
देहको दुःख होता मान । होगा क्या क्लेश ॥ ४३ ॥

विषय-सुख जैसे टूटता जाता । देह तथा बुद्धिका लय हो जाता ।
कर्ममें ही आनंद बढ़ता जाता । उसको सदैव ॥ ४४ ॥

ऐसा जब कर्म करता । कोई समय ऐसा आता ।
कर्म करना भी रुकता । उस समय ॥ ४५ ॥

कगार परसे जब गिरता रथ । टूटेगा मान सकुचाता नहीं पार्थ ।
वैसे मनमें नहीं होता संकुचित । किंचित भी वह ॥ ४६ ॥

अथवा मैंने जो कर्म किया । संपूर्ण रूपसे सिद्ध भया ।
ऐसे मैंने बडा जय पाया । यह भी नहीं मानता ॥ ४७ ॥

ऐसे जो कर्म करता । जहां कहीं देखा जाता ।
उसे कहना तत्वता । कर्ता सात्विक ॥ ४८ ॥

राजसका अब अर्जुन । कहता सुन पहचान ।
आकांक्षाका आश्रय-स्थान । बनता विश्वका ॥ ४९ ॥

राागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्विताः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

राजस कर्ताके लक्षण—

गांवका सब कल्मश जैसे । धूरेपे एक होता है वैसे ।
या स्मशानपे आता गांवसे । सारा अमंगल ॥ ६५० ॥

उसी भांति है जो अशेष । विश्वका सभी अभिलाष ।
पद प्रक्षालन विशेष । हुवा है स्थान ॥ ५१ ॥

इसीलिये फल लाभ । होता है जहां सुलभ ।
हो जाता है वहां लोभ । ऐसे कार्यमें ॥ ५२ ॥

फल कामुक आसक्त लोभी अस्वच्छ हिंसक ।
हर्ष औ' शोकसे मारा कर्ता राजस है कहा ॥ २७ ॥

तथा आप कमाया हुवा धन । व्यय न करता कवडी जान ।
उस पर करता क्षण क्षण । निछावर जीव ॥ ५३ ॥

सावध रहता जैसा कृपण । बक रखता मीनपे नयन ।
वैसे देख वह पराया धन । रहता दक्ष ॥ ५४ ॥

पास जानेसे जो उलझाता । लगनेसे देह ही फाडता ।
फल मानो जीभको जलाता । खट्टा बेर ॥ ५५ ॥

वैसे वह जो काया वाचा मन । दुखाता रहता सबका मन ।
करनेमें वह स्वार्थ-साधन । न देखता परहित ॥ ५६ ॥

वैसे ही करनेमें जो कर्म । होता है यदि वह अक्षम ।
किंतु नहीं होता मनोधर्म । अरोचक उसका ॥ ५७ ॥

कनक फल सबाह्य जैसे । भरा रहता विष कांटोंसे ।
रहता वह दुर्बल वैसे । सदा शुचित्वमें ॥ ५८ ॥

जब वह कर्म फल पाता । फूलकर कुप्पा बन जाता ।
विश्वको अंगूठा भी दिखाता । चिढाकरके ॥ ५९ ॥

या कर्म होता जब निष्फल । शोकमें डूब जाता पाताल ।
तथा धिक्कारता है सकल । कर्म जात ॥ ६६० ॥

देख ऐसा कर्माचरण । जान तू काया बाचा मन ।
कर्ता है राजस अर्जुन । निःसंशय वह ॥ ६१ ॥

अब कहता धनुर्धर । जो है कुकर्मका आगर ।
होता है जो ऐसा गोचर । कर्ता तामस ॥ ६२ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

स्वच्छंदी क्षुद्र गर्विष्ठ घातकी शठ आलसी ।
दीर्घ-सूत्री सदा खिन्न कर्ता तामस है कहा ॥ २८ ॥

तामस कर्ताके लक्षण—

लगाने पर मैं जैसे । आगेका जलता कैसे ।
यह न जानता वैसे । अग्निस्फुलिंग ॥ ६३ ॥

होता मैं कैसे वधका कारण । यह न जानता शस्त्र अर्जुन ।
कालकूटको नहीं होता ज्ञान । अपने परिणामका ॥ ६४ ॥

ऐसे वह घातुक क्रिया । करता रहता धनंजया ।
उससे अपना पराया । होता घात ॥ ६५ ॥

उसको जब जो कुछ करना । क्या होता है यह नहीं देखना ।
जिसभांति बवंडरका आना । ऐसी क्रिया उसकी ॥ ६६ ॥

उसका और जिस कार्यका । संबंध नहीं होता किसीका ।
पागलसे है जैसे कर्मका । नहीं होता वैसे ॥ ६७ ॥

बैलोंके गलेमें जैसे किलहर । इंद्रियोंमें विषय है धनुर्धर ।
लगते हैं तब उन्हें भोगकर । बिताता जीवन ॥ ६८ ॥

हंसने या रोनेका काल । नहीं जानता जैसे बाल ।
वैसे ही सदा उच्छृंखल । रहता है वह ॥ ६९ ॥

होनेसे सदा प्रकृतिके आधीन । कृत्याकृत्य स्वादसे होता उलझन ।
अपने कृत्योंसे फूलता अर्जुन । कूडेके घरसा ॥ ६७० ॥

तथा कभी किसीको देनेमें मान । ईश्वरको भी न करता नमन ।
स्तब्धतामें पर्वतको भी अर्जुन । हराता वह ॥ ७१ ॥

अति कुटिल उसका मन । छुपाये हुए सभी वर्तन ।
पण्यांगना सम जो नयन । छल-मदसे भरे ॥ ७२ ॥

अथवा मानो कपटका । बनाया ही तन उसका ।
जीना मानो द्यूत-कर्मका । घर ही रहता है ॥ ७३ ॥

यह जो उसका प्रादुर्भाव । साभिलाष भिल्लका है गांव ।
उस राह पे कभी पांडव । जाना भी नहीं ॥ ७४ ॥

दूसरोंका सुख देख कर । मानता कष्ट अपने पर ।
जैसे लवण दूधमें गिर । करता अपेय ॥ ७५ ॥

अथवा जैसे ठंडे पदार्थ । आगमें पड़ कर पार्थ ।
भड़कते मानो वही मूर्त । अग्नि ही है ॥ ७६ ॥

जैसे अच्छा भला आहार । पहुंच पेटके अंदर ।
बनता मल धनुर्धर । उसी भांति ॥ ७७ ॥

बना है कभी किसीका कुशल । देखके वह जानता है शूल ।
तथा उस बताके प्रतिकूल । आता बाहर ॥ ७८ ॥

गुण लेकर जो देता दोष । अमृतका करता है विष ।
दूध पिलाता उसको विष । देता जैसे सर्प ॥ ७९ ॥

सुख मिलेगा इस लोकमें । गति मिलेगी परलोकमें ।
कर्म आता ऐसे समयमें । ऐसे समय ॥ ६८० ॥

आती है उसको अपने आप । निद्रा रखी है जैसे सुखरूप ।
दुर्व्यवहारमें अपने आप । भागती है वह ॥ ८१ ॥

जैसे द्राक्षारस या आम्र-रस । खानेमें मुख चुराता वायस ।
तथा अंधा बनाता है दिवस । जैसे उलूकको ॥ ८२ ॥

वैसे कल्याण-काल जब देखता । तब उसको है आलस आता ।
प्रमादमें है स्फुरण चढ़ता । चाहता वैसे ॥ ८३ ॥

जैसे सदैव समुद्रका उदर । वडवाग्नि रखता है भरकर ।
वैसे है वह विषाद निरंतर । रखता अपनेमें ॥ ८४ ॥

लेंडूककी आगमें धूमावधि । या अपानमें होती है दुर्गंधि ।
इसी भांति वह जीवनावधि । विषाद करता ॥ ८५ ॥

वैसे कल्पांतके भी पार । फल प्राप्ति हो धनुर्धर ।
ऐसे रखता है व्यापार— । अभिलाषा ॥ ८६ ॥

विश्वके उस पारकी चिंता । चित्तमें ही करता रहता ।
किंतु हाथमें नहीं लगता । तृण भी उसके ॥ ८७ ॥
ऐसे वह लोगोंमें पार्थ । पाप-पुंज ही होता मूर्त ।
देखना ऐसे अव्याहत । कर्ता तामस ॥ ८८ ॥

ऐसा कर्म कर्ता ज्ञान । इनके हैं चिन्ह तीन ।
दिखाये तुझे सुजन- । चक्रवर्ती ॥ ८९ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

बुद्धिके तीन प्रकार—

जब अविद्याके ग्राममें । बढ़कर मोह बस्तिमें ।
तथा संदेह भूषणमें । सजके जो आती ॥ ६९० ॥
आत्म-निश्चयके जो दर्शन । करनेमें सुंदर दर्पण ।
ऐसी बुद्धिका भी तुझे तीन । कहता प्रकार ॥ ९१ ॥
इन सत्वादि गुणोंने तीन । न किये इस विश्वमें कौन ।
विषयके प्रकार अर्जुन । कह तू मुझे ॥ ९२ ॥
बिना अग्निके कोई काष्ठ । हुवा है क्या विश्वमें सृष्ट ।
वैसे दृश्य-कोटिमें स्पष्ट । नहीं है जो त्रिधा ॥ ९३ ॥
इसीलिये ये तीनों गुण । करते बुद्धिको त्रिगुण ।
वैसे धृतिको भी अर्जुन । त्रिधा किया है ॥ ९४ ॥
एक जो ऐसे दुष्ट तीन । लेकर भिन्न भिन्न लक्षण ।
इनको कहेंगे स-लक्षण. । यहीं आब ॥ ९५ ॥
बुद्धि और धृतिके जहां । भाग दो किये गये यहां ।
प्रथम बुद्धिके ही यहां । कहूँगा प्रकार ॥ ९६ ॥
उत्तम मध्यम निकृष्ट । संसारमें आता जो सुभट ।
उस प्राणीकी तीन बाट । होती है यहां ॥ ९७ ॥
अकरण काम्य जो निषिद्ध । उसके मार्ग हैं ये प्रसिद्ध ।
ये हैं जो संसारमें सबाध । जीवोंको यहां ॥ ९८ ॥

बुद्धिके भेद ये तीन वैसे ही धृतिके कहे ।
गुणानुसार जो सारे कहता भिन्न भिन्न मैं ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

सात्त्विक बुद्धिके लक्षण—

तभी अधिकारसे मान लिया । तथा विधि प्रवाहसे जो आया ।
वह एक ही भला कहलाया । नित्यकर्म ॥ ९९ ॥

वही आत्म-प्राप्ति फल । दृष्टि रखके केवल ।
प्यासमें जैसा है जल । सेवन योग्य ॥ ७०० ॥

इतनेसे ही वह जो कर्म । छुडाता जन्म-भय विषम ।
तथा कर देता है सुगम । मोक्ष-सिद्धि ॥ १ ॥

ऐसे कर्मको है करता । संसार भयसे छूटता ।
करणीयत्वमें बढता । मुमुक्षु पदमें ॥ २ ॥

वहां जो बुद्धि ऐसा । बंधाती है भरोसा ।
मोक्ष रखा हुवासा । मिलेगा ही ॥ ३ ॥

इसीलिये रची जैसे निवृत्ति । तलमें आधार डाल प्रवृत्ति ।
इस कर्ममें डुबकी लगाती । इतनेमें ही ॥ ४ ॥

तृषार्थ जैसे पानीसे जीता । पूरमें नांव है तरता ।
या अंधार कूपसे छूटता । सूर्य प्रकाशसे ॥ ५ ॥

नाना पथ्यसे औषध लेता । ऐसे रोग-ग्रस्त भी बचता ।
या मछलीको पानी मिलता । तब जैसे वह ॥ ६ ॥

निश्चय-पूर्वक बचता । उसमें न होता अन्यथा ।
वैसे कर्म-प्रवृत्त होता । मिलता मोक्ष ॥ ७ ॥

कर्म रहता जो करणीय । वहां पूर्ण ज्ञान धनंजय ।
तथा रहता अकरणीय । कहा है आगे ॥ ८ ॥

क्या कर्तव्य अकर्तव्य बंध मोक्ष भयाभय ।
धरना तजना जाने वह है बुद्धि सात्त्विक ॥ ३० ॥

वह जो कर्म काम्यादिक । है संसार भय-दायक ।
अकरणीय है तू देख । कहा गया है ॥ ९ ॥

उस अकार्य कर्ममें । जन्म मरण कालमें ।
प्रवृत्ति सदा पीछेमें । भागती है ॥ ७१० ॥

जैसे आगमें नहीं घुसता । अथाह पानीमें न कूदता ।
प्रज्वलित शूल न धरता । उसी प्रकार ॥ ११ ॥

या काला नाग जो फूत्करता । उसे देख पकडा न जाता ।
व्याघ्र गुहामें घुसा न जाता । उसी प्रकार ॥ १२ ॥

वैसे कर्म अकरणीय । देखके होता महाभय ।
उपजाती जो असंशय । बुद्धि सात्विक ॥ १३ ॥

जैसे विष मिश्रित अन्न । देख होता मृत्युका ज्ञान ।
निषिद्ध कर्ममें भान । होता कर्मका वैसे ॥ १४ ॥

फिर जो बंध भय भरित । होता है निषिद्ध कर्म प्राप्त ।
निर्विकार जानता निवृत्त । होनेका वह ॥ १५ ॥

ऐसे ही कार्याकार्य विवेक । या प्रवृत्ति-निवृत्तिमापक ।
जैसे रत्न-पारखी परख । करता जौहरी ॥ १६ ॥

वैसे कार्याकार्य शुद्धि । जानती जो निरवधि ।
कहाती सात्त्विक बुद्धि । यह तू जान ॥ १७ ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

राजसिक बुद्धिका लक्षण—

बगुलोंके गांवमें जैसे । चलता नीरक्षीर वैसे ।
या अंधा न जानता जैसे । दिवस रात्र ॥ १८ ॥

कार्य अकार्य कैसे क्या क्या है धर्म अधर्म जो ।
न जान सकती स्वच्छ जान तू बुद्धि राजस ॥ ३१ ॥

या जिसे फूलोंका मकरंद भाता । अथवा काठ कुरेदना सुहाता ।
न होती दोनोंमें कोई विसंगतता । भ्रमरके लिये ॥ १९ ॥

वैसे यहां कार्याकार्य । धर्माधर्मका विषय ।
न होते कोई निर्णय । आचरणसे ॥ ७२० ॥

अजी ! आंखके बिन लेते मोती । उसमें फंसनेकी सदा भीती ।
कभी सफलता भी मिलती । आश्चर्यसे ही ॥ २१ ॥

वैसे जो अकरणीय होता । सम्मुख आनेसे रह जाता ।
तभी तो करनेसे छूटता । नहीं तो दोनों एक ॥ २२ ॥

बुद्धि वह उचित अनुचित । नहीं जानती कुछ भी पार्थ ।
विवाहमें जिस भांति अक्षत । डालते हैं लोग ॥ २३ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

तामसिक बुद्धिके लक्षण—

होता जो राजाका राज पथ । चोरोंको होता है विपरीत ।
उदय होते ही माने रात । राक्षस जैसे ॥ २४ ॥

पुरुष होता है जो भाग्यहीन । उसे कोयला होता गढा धन ।
ऐसे होकर भी न होता धन । उस जीवको ॥ २५ ॥

वैसे धर्ममात्र जो है केवल । उसकी बुद्धि जो है पाप मल ।
सत्यको मानती असत्य मूल । तामस बुद्धि ॥ २६ ॥

मानते सब जिसे अर्थ । उसको संपूर्ण अनर्थ ।
जो जो गुण है व्यवस्थित । उसे मानता दोष ॥ २७ ॥

अथवा मानो श्रुति जात । अनुकरण करते पार्थ ।
वह सबही विपरीत । मानती वह ॥ २८ ॥

तमसे भरके जो है धर्म माने अधर्मको
देखती उलटा अर्थ वह है बुद्धि तामसी ॥ ३२ ॥

इसे किसीसे न पूछकर । तामस मानना धनुर्धर ।
जिस बुद्धिको धर्मार्थ वैर । क्या करना वह ॥ २९ ॥

ऐसे ये बुद्धिके भेद । किये तुझसे विशद ।
स्वबोध कुमुद चंद्र । कहे तुझसे ॥ ७३० ॥

अब इसकी जो बुद्धि वृत्ति । सभी कर्मको आधार होती ।
कैसी वह त्रिविध धृति । कहता हूं तुझे ॥ ३१ ॥

उस धृतिके जो विभाग । तीन होते हैं यदा लिंग ।
कहता हूं उसे सुभग । सुन तू अब ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

सात्त्विक धृतिके लक्षण—

उदय होते ही दिनकर । मिटता चौर्य सह अंधार ।
अथवा रजाज्ञा अव्यापार । रोकती जैसे ॥ ३३ ॥

अथवा पवनका जो वेग । चलता रहता है सवेग ।
मिटते गर्जन सह मेघ । अपने आप ॥ ३४ ॥

या अगस्तके होते दर्शन । सिंधु धारण करता मौन ।
चंद्रोदयमें कमल-वन । सिमिटते हैं ॥ ३५ ॥

जैसे मदोन्मत्त कुंजर । चलनेमें उठाके पैर ।
न रखता है भूमिपर । देखके सिंह ॥ ३६ ॥

ऐसे होते हैं जो धीर । उपजते ही अंतर ।
मनादिकके व्यापार । तजते वहीं ॥ ३७ ॥

इंद्रिय विषयक जो गांठ । आप ही छूटती है सुभट ।
घुसते मन-मायके पेट- । में दसो जन ॥ ३८ ॥

चलाती जो क्रिया सारी मन इन्द्रिय प्राणकी ।
समता स्थिरतासे जो वह है धृति सात्त्विक ॥ ३३ ॥

अधोर्ध्वकी मर्यादा तोड़कर । प्राण नवोंकी गांठ बांधकर ।
बैठा रहता है डूब कर । सुषुम्नामें ॥ ३९ ॥

संकल्प विकल्प पट । खोल होता मन प्रकट ।
बुद्धिके पीछे जा सुभट । बैठता वह ॥ ७४० ॥

इस धृतिके कारण । मन प्राण और करण ।
स्वचेष्टाका संभाषण । छोड देते हैं ॥ ४१ ॥

मन प्राणादि फिर संपूर्ण । ध्यानके अंतर्ग्रहमें जान ।
बंद कर रखता अर्जुन । योगसे वह ॥ ४२ ॥

फिर जो परमात्मचक्रवर्ती । स्वाधीन होनेकी होती निश्चिती ।
तब तक छूट न होके धृती । बांध रखती उन्हे ॥ ४३ ॥

यहां जो वही धृती । सात्विक कहलाती ।
ऐसे जो लक्ष्मी-पति । कहता पार्थसे ॥ ४४ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

राजसी धृतिके लक्षण—

शरीर ही आप मान कर । स्वर्ग संसारके दोनों घर ।
भोगना चाहता पेट भर । त्रिवर्गोपायसे ॥ ४५ ॥

मनोरथके समुद्र पर । धर्मार्थकामके नांव पर ।
धैर्य-बलसे क्रिया व्यापार । करता है जो ॥ ४६ ॥

कर्मकी पूंजी जो डालना । उसका चौगुना चाहना ।
इतना सायास करना । जिसका धैर्य ॥ ४७ ॥

वह धृति है राजस । सुन तू पार्थ विशेष ।
तीसरी है जो तामस । कहता हूं अब ॥ ४८ ॥

धर्मार्थ काम सारे ही चलाती लाभ देखके ।
डुबाती फल-आशामें वह है धृति राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

तामसी धृतिके लक्षण—

सभी अधम गुणोंसे । आ जाता है रूप जिसे ।
कोयला जो कालिमासे । बनता है ॥ ४९ ॥

अजी ! प्राकृत तथा हीन । उसको भी गुणका मान ।
नाम होता है पुण्यजन । दैत्यका जैसे ॥ ७५० ॥

नवग्रहमें जो है पिंगल । उसको कहते हैं मंगल ।
वैसे तममें गुण केवल । अविचार मात्र ॥ ५१ ॥

सब दोषोंका आश्रय स्थान । तमसे सान कर अर्जुन ।
अंगांग जिस नरका मान । बनाये गये हैं ॥ ५२ ॥

आलसको पकड़ बैठता । निद्राका मानो घर ही बनता ।
पापसे जो सगा ही रहता । छूटे दुःखसे कैसे ॥ ५३ ॥

तन धनके मोहसे अर्जुन । नहीं छूटता भयका कारण ।
पत्थर न छोड़ता कडापन । उसी प्रकार ॥ ५४ ॥

पदार्थ जातमें आस रखता । इससे शोकका घर बनता ।
पापसे कभी छूट न सकता । कृतघ्न जैसे ॥ ५५ ॥

जीव-भावसे असंतोष । धरके रखा अहर्निश ।
इससे मैत्री है विशेष । विषादसे नित ॥ ५६ ॥

लहसुन छोडती नहीं दुर्गंधी । तथा कुपथ्यको न छोडती व्याधी ।
इसी भांति इसको मरणावधी । विषाद न छूटता ॥ ५७ ॥

तथा तारुण्य वित्त काम । इससे बढ़ता संभ्रम ।
तभी है भयका आश्रम । बनता वह ॥ ५८ ॥

निद्रा भय न जो छोडे शोक खेद तथा मद ।
ओढती बुद्धिपे तंद्रा वह है धृति तामस ॥ ३५ ॥

आगको न छोड़ता ताप । तथा वैरको नहीं सांप ।
विश्वका वैरी है वासिप । अखंडित ॥ ५९ ॥

अथवा शरीरको काल । न भूलता कभी निर्मल ।
वैसे ही तममें अचल । रहता मद ॥ ७६० ॥

ऐसे ये पांच निद्रादिक । तामसके रहते दोष ।
इसका आधार जो एक । धृति तामस ॥ ६१ ॥

कर्म बुद्धि तथा धृतिका संबंध—

कहलाती है ऐसी धृति । जानना तामस सुमति ।
ऐसा कहता विश्व-पति । धनुर्धरसे ॥ ६२ ॥

इस प्रकार त्रिविध बुद्धि । करती कर्म निश्चय आदि ।
धृति बनाती उसकी सिद्धि । तदनंतर ॥ ६३ ॥

सूर्यादिसे दीखता पथ । चलना होता पैरोंको नित ।
किंतु चलना धैर्यसे पार्थ । होता निरंतर ॥ ६४ ॥

वैसे बुद्धि कर्मको दिखाती । इंद्रियां उसको हैं करतीं ।
करनेमें जो अपेक्षा होती । धैर्यकी सदा ॥ ६५ ॥

तब यह सब तेरे प्रति । कहा है मैंने त्रिविध धृति ।
इससे होती कर्म निष्पत्ति । होने पर तब ॥ ६६ ॥

त्रिविध कर्मके फल उत्पन्न । होने पर उसे सुख कहते जान ।
वह भी त्रिविध होता अर्जुन । कर्म परसे ॥ ६७ ॥

फल रूप यह सुख । त्रिगुणसे भिदा देख ।
मीमांसा इसकी नेक । करूंगा शुद्ध ॥ ६८ ॥

किंतु शुद्ध है वह कैसे कहूंगा । कानोंसे ग्रहण करना चाहेगा ।
कान तथा हाथका मल लगेगा । इस शुद्धताको ॥ ६९ ॥

इससे करके तू अनादर । श्रवण होता है जो बाहर ।
सुन अंतःकरण देकर । जीवभावसे ॥ ७७० ॥

ऐसे कह करके देव । त्रिविध सुखका प्रस्ताव ।
निरूपते हैं सावयव । इस प्रकारके ॥ ७१ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

तीन प्रकारके सुखका विवेचन—

कहूंगा सुखत्रय संज्ञा । ऐसी की है मैंने प्रतिज्ञा ।
कहता हूं सुन तू प्राज्ञ । इस समय ॥ ७२ ॥

जीव करता जब आत्मालिंगन । तब अनुभव करता अर्जुन ।
उस प्रकारका कराता मैं दर्शन । तुझको अब ॥ ७३ ॥

किंतु मात्राके नापसे जैसे । दिव्यौषधियां लेते हैं वैसे ।
या रांगेको रस भावनासे । बनाते हैं चांदी ॥ ७४ ॥

अथवा जैसे नूनका नीर । करना हो तो दो चार बार ।
देने पड़ते उसको मार । पानीके जैसे ॥ ७५ ॥

वैसे प्राप्त सुख लेशसे । जीवको भावना देनेसे ।
नासता है भावाभ्याससे । जीवका दुःख ॥ ७६ ॥

ऐसा जो आत्म-सुख । हुआ यहां त्रिगुणात्मक ।
वह भी कहता हूं देख । उसका रूप ॥ ७७ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

सात्विक सुखका लक्षण—

जैसे चंदनकी जड़ । सर्पसे रहता अड़ ।
या निधानका किवाड । पिशाचके हाथमें ॥ ७८ ॥

कहता सुन तू पार्थ सुख तीन प्रकारके ।
अभ्याससे रमाता जो दिखाता अंत दुःखका ॥ ३६ ॥
आदि जो विषसा तीता अंतमें अमृतोपम ।
आत्मामें शुद्ध बुद्धीको मिलता सुख सात्विक ॥ ३७ ॥

या स्वर्गके सुंदर भोग । रोक रखते हैं जो याग ।
अथवा दुःखके प्रसंग । बालत्वमें जैसे ॥ ७९ ॥

होनेमें जैसे दीपकी सिद्धि । कठिनाई धूमकी है आदि ।
अथवा होती है दिव्यौषधि । जीभको दुःखद ॥ ७८० ॥

इस प्रकार सुन अर्जुन । जिस सुखका उगम-स्थान ।
यम दम आदिके कारण । होता है विषम ॥ ८१ ॥

करना सभी स्नेहका दमन । वैराग्य उत्पन्न होता अर्जुन ।
स्वर्ग संसार सीमाका बंधन । रहता है दूर ॥ ८२ ॥

विवेक श्रवणका अति त्रास । तथा व्रताचरण है कर्केश ।
करते हैं बुद्धि आदिका नाश । रात्रिदिवस ॥ ८३ ॥

मुखसे सुषुम्नाके । ढेर प्राणायामके ।
पडते हैं ढेर ढेरके । निगलना तब ॥ ८४ ॥

जैसे चक्रवाकके विरहमें होता । या शिशुको स्तनसे छुडानेमें होता ।
भूखेको थालीसे उठानेमें जो होता । उससे अधिक दुःख ॥ ८५ ॥

माताके सामनेसे बालक । छीनता है काल जब एक ।
अथवा छूटता है उदक । मीनसे जब ॥ ८६ ॥

वैसे विषयोंका घर है पार्थ । तजनेमें इंद्रियोंको युगांत ।
होता तब धीर सहता नित । वैराग्यशाली ॥ ८७ ॥

ऐसे जिस सुखका प्रारंभ । दिखाता है काठिण्यका क्षोभ ।
फिर होता क्षीराब्धिमें लाभ । अमृतसा अंतमें ॥ ८८ ॥

प्रथम आया वैराग्यका गरल । उसको दिया धैर्य शंभुने गला ।
तभी होता ज्ञानामृतका निर्मल । महदानंद ॥ ८९ ॥

चुभता आगसे भी तीखा । कच्चापन हरे द्राक्षका ।
पकतामें जैसे उसका । माधुर्य रहता ॥ ७९० ॥

इस वैराग्यादिका भी वैसा । सुपक आत्म-प्रकाशमें वैसा ।
वैराग्य सह होता है नाशसा । अविद्याजातका ॥ ९१ ॥

तब जैसे गंगा सागरमें । बुद्धि विलीन होती आत्मामें ।
अद्वयानंदकी अपनेमें । खुलती खान ॥ ९२ ॥

ऐसे स्वानुभव विश्राम । वैराग्य-मूलका परिणाम ।
उस सुखको सात्विक नाम । दिया गया है ॥ ९३ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

राजस सुखके लक्षण—

मिलती जब विषय इंद्रियां । छूता है जो सुख उस समय ।
दोनों किनारोंको है धनंजय । उफानमें आकर ॥ ९४ ॥

अधिकारी आते जब गांव । होता है जब जैसा उत्सव ।
अथवा ऋण लेके विवाह । विस्तार होता ॥ ९५ ॥

या रोगीकी जीभमें जैसे । केला-बूरा भाता है वैसे ।
बचनाग पहले जैसे । लगता मीठा ॥ ९६ ॥

प्रवास-चौर्यके पहले मित्र । या हाट बाटका कलत्र ।
होते उनके विनोद विचित्र । उसी प्रकार ॥ ९७ ॥

वैसे जो विषयेंद्रियोंका मिलन । करता जीवके सुखमें पोषण ।
फिर जैसे चट्टानको रत्न मान । मरता हंस जैसे ॥ ९८ ॥

वैसे खर्चके सारा उत्पन्न । मिटता जीवन संपन्न ।
क्षीण होता सुकृतका धन. । जीवका सारा ॥ ९९ ॥

तथा जब सब भोग मिटता । तब वह मात्र स्वप्नसा होता ।
फिर केवल मात्र जो रहता । हानिका मार ॥ ८०० ॥

विपत्ति है ऐसे जो सुख । ऐहिक परिणाम देख ।
परमें बनके जो विख । उलटता है ॥ १ ॥

करनेसे लाड़ विषयोंके । जला करके खेत धर्मके ।
भोग किये नाना उत्सवके । विषयोंसे वहां ॥ २ ॥

पहला लगता मीठा अंतमें विष मारक ।
विषय योगसे पाती इंद्रियां सुख राजस ॥ ३८ ॥

पातकोंमें तब आता बल । नरकमें देते हैं वे स्थल ।
उस सुखने किया है छल । अंतमें ऐसे ॥ ३ ॥

बछनाग विष है मधुर । किंतु अंतमें मारक क्रूर ।
वैसे पहले होता मधुर । अंतमें कटु ॥ ४ ॥

यह सुख निःसंदेह पार्थ । रजो गुणसे बना है सार्थ ।
इसीलिये न छूना सुखार्थ । इसका अंग ॥ ५ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

तामसिक सुखके लक्षण—

करके अपेयका पान । तथा अखाद्यका भोजन ।
और पर-स्त्री-सन्निधान । देता है जो सुख ॥ ६ ॥

या दूसरोंका कर संहार । और कर परस्वापहार ।
होता है सुखका अवतार । भाटोंके मुखसे ॥ ७ ॥

आलस्यमें होता जिसका पोषण । या निद्रामें होते हैं अनुभव जान ।
जिसका आद्यंत भुलाता अर्जुन । अपने पथको ॥ ८ ॥

जो कुछ है वह पार्थ । तामस मान यथार्थ ।
इसमें सुखकी बात । असंभाव्य ॥ ९ ॥

मूलमें कर्मके तीन प्रकार। इससे सुख भी तीन प्रकार ।
यह सब तुझे शास्त्रानुसार । कह दिया मैंने ॥ ८१० ॥

कर्ता कर्म तथा कर्म-फल । यह त्रिपुटि एक केवल ।
इसके बिना न सूक्ष्म-स्थूल । कुछ भी यहां ॥ ११ ॥

तथा यह जो त्रिपुटि । तीनों गुणोंमें किरीटी ।
बुनी गयी है जो पटीं । तंतु समान ॥ १२ ॥

निद्रा प्रमाद आलस्य आत्माको घेरके सदा ।
आदि औ' अंतमें जो है भुलाता सुख तामस ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

प्रकृतिके ये गुण सर्वव्यापी और सबको बंधनकारक हैं—

तभी जो प्रकृतिसे प्रकट होता । तथा सत्वादिकसे नहीं बंधता ।
स्वर्ग या मृत्यु लोकमें नहीं होता । ऐसा कुछ भी कहीं ॥ १३ ॥

ऊनके बिना कहीं कंबल । मृत्तिका बिन कर्दम गोल ।
अथवा जल बिन कल्लोल । होता है क्या ॥ १४ ॥

वैसे कहीं गुणके बिन । नहीं है सृष्टिकी रचना ।
ऐसे नहीं हुवा अर्जुन । प्राणिजातमें ॥ १५ ॥

इसीलिये यह सकल । तीन गुणोंसे है केवल ।
बनाया गया है अखिल । ऐसे जान ॥ १६ ॥

गुणोंसे देवोंके तीन प्रकार । तथा लोकके भी तीन आकार ।
गुणोंसे समाजको दिये चार । व्यापार वर्णके ॥ १७ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

वर्ण-व्यवस्थाका आधार भी तीन गुण ही है—

वही जो चार वर्ण । पूछेगा तू कौन कौन ।
वहां जो मुख्य ब्राह्मण । आधार ही है ॥ १८ ॥

यहां जो क्षत्रिय वैश्य दोन । मानमें ब्राह्मणोंके समान ।
योग्य हैं वे वैदिक विधान । करनेमें जो ॥ १९ ॥

शूद्रका है चतुर्थ वर्ण । वेदसे नाता नहीं जान ।
तभी त्रिवर्णके आधीन । उसकी वृत्ति ॥ ८२० ॥

पृथ्वी पर यहां या तो देवोंमें स्वर्गमें कहीं ।
प्रकृतिके गुणोंमेंसे कोई भी छूटता नहीं ॥ ४० ॥

ब्राह्मणादिक वर्णोंका किया कर्म विभाजन ।
गुण है जिसके जैसे उनके अनुसारही ॥ ४१ ॥

वृत्तिका निकट संबंध । ब्राह्मणादिसे होता सिद्ध ।
उससे शूद्र जो प्रसिद्ध । हुवा चौथा ॥ २१ ॥

जैसे फूलोंके साथ ही साथ । सूत्रकी गंध लेते श्रीमंत ।
द्विज संग शूद्रको भी पार्थ । स्वीकारते वेद ॥ २२ ॥

ऐसी है अजी पार्था । चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ।
दिखाऊं कर्म पथ । इसका मैं ॥ २३ ॥

जिन गुणोंसे ये वर्ण हैं चार । जन्म-मृत्यू कैंचीसे छूटकर ।
ईश्वरके निकट धनुर्धर । पहुंचेंगे ही ॥ २४ ॥

जिस आत्म-प्रकृतिने यहां । सत्वादिक गुणोंमें है जहां ।
लोगोंको ये चार कर्म यहां । बांट दिये हैं ॥ २५ ॥

पिताने बांटा जैसे जो संचित धन । सूर्यने राहीको पथ दिखाया जान ।
या उनके कर्म सेवकोंको अर्जुन । दिखाये हैं स्वामीने ॥ २६ ॥

इस भांति प्रवृत्तिने गुण । फैलाकर किये चार वर्ण ।
कर्म रूपसे जान अर्जुन । किया विस्तार ॥ २७ ॥

यहां तू सत्व-गुणसे जान । कम अधिक मिश्रण बन ।
हुवा इन दोनोंका नियोजन । ब्राह्मण क्षत्रिय ॥ २८ ॥

तथा है जो रज सात्विक । उससे रचे वैश्य लोक ।
रज तम मिलाके देख । हुए शूद्र ॥ २९ ॥

ऐसा एकही प्राणि वृंद । किया चतुवर्ण भेद ।
सुन वह गुण प्रबुद्ध । पांडुकुमार ॥ ८३० ॥

किया आप रखा जो जैसे । दीप-ज्योत दिखाती जैसे ।
गुण भिन्न कर्म भी वैसे । दिखाते शास्त्र ॥ ३१ ॥

वैसे अब कौन कौन । वर्ण विहित लक्षण ।
कहता कर श्रवण । सौभाग्य निधि तू ॥ ३२ ॥

सर्वेंद्रियोंकी सभी प्रवृत्तियां । अपने हाथमें ले धनंजया ।
बुद्धि मिलती है आत्मासे प्रिया । पतिव्रता जैसे ॥ ३३ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणोंका स्वभाव धर्म—

बुद्धिका जो ऐसे उपराम । इसके साथ जान तू राम ।
यह गुणोंका है उपक्रम । जिन कर्मोंमें ॥ ३४ ॥

बाह्य इंद्रियोंका यह जो झुंड । होता है धर्म-विरुद्ध उद्दंड ।
तब रोक लेता जो विधि-दंड । वही है दम ॥ ३५ ॥

करता जो शममें सहाय । वह गुण दम धनंजय ।
यह दूसरे गुणका कार्य । ब्रह्मकर्ममें ॥ ३६ ॥

जैसे है छटीकी रात । नहीं भूलते हैं ज्योत ।
वैसे ईश्वरकी बात । चितमें रखना ॥ ३७ ॥

इसका नाम है तप । तीसरे गुणका रूप ।
वैसे शौच भी निष्पाप । द्विविध यहां ॥ ३८ ॥

भावशुद्धिसे भरा हुवा मन । विहित कर्मसे भूषित तन ।
ऐसे जिसका सबाह्य जीवन । सजा हुवा है ॥ ३९ ॥

इसका नाम शौच है पार्था । ब्राह्मण-कर्मका गुण चौथा ।
तथा पृथ्वीके भांति सर्वथा । सभी सहना ॥ ८४० ॥

इसका नाम पांडव । गुण है कहा पांचवा ।
स्वरमें जैसे सुहाव । पंचम स्वर ॥ ४१ ॥

तथा टेडेमेडे किनारोंसे । सरल बहती गंगा जैसे ।
अथवा टेडे ईखमें जैसे । रहता रस सरल ॥ ४२ ॥

विश्वमें जीवोंके विषयमें । सरलतासे बरतनेमें ।
दीखता गुण जो कर्ममें । आर्जव है छटा ॥ ४३ ॥

तप शांति क्षमा श्रद्धा ज्ञान विज्ञान निग्रह ।
ऋजुता और पावित्र्य ब्रह्मकर्म स्वभावसे ॥ ४२ ॥

जिस भांति माली संपन्न । जड़को सींचता अर्जुन ।
फलमें उसका दर्शन । करता है फिर ॥ ४४ ॥

वैसे शास्त्रानुसार आचरण । कर करना ईश्वर दर्शन ।
यही एक निश्चय अर्जुन । करना ज्ञान है ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण कर्ममें ज्ञान । सातवा गुण है जान ।
विज्ञानका रूप सुन । कहता अब ॥ ४६ ॥

अंतःकरण शुद्धिके समय । शास्त्रका ध्यान बलसे विलय ।
ईश्वर तत्वमें होना निश्चय । बुद्धिका जान ॥ ४७ ॥

वास्तविक यह विज्ञान । आठवा है जो गुणरत्न ।
तथा आस्तिक्य भी सुन । गुण है नौवा ॥ ४८ ॥

राज-मुद्रा जिसके पास होती । जनता उसीको है मान देती ।
सच्छास्त्रोंसे जो भी स्वीकार होती । उसी राहको ॥ ४९ ॥

अति आदरसे जो मानता । उसीको मैं आस्तिक्य कहता ।
उसे नौवा गुण मैं कहता । इस स्थानपे ॥ ८५० ॥

ऐसे शमदमादिक । गुण हैं नौ निर्दोष ।
कर्म जान स्वाभाविक । ब्राह्मणके ये ॥ ५१ ॥

यह नौ गुण-रत्नाकर । या नवरत्नोंका है हार ।
प्रकाशको जैसे भास्कर । धारण करता ॥ ५२ ॥

या चंपक पुष्पसे चंपा पूजता । या चांदनीसे ही चंद्र उजलता ।
अथवा चंदन निजको चर्चिता । सौरभसे अपने ॥ ५३ ॥

नौ गुणोंका जड़ावू भूषण । धारण करता जो ब्राह्मण ।
कभी न छोड़ता तन मन । ब्राह्मणका उसे ॥ ५४ ॥

अब क्षत्रियको जो उचित । कर्म कहता तुझे निश्चित ।
बुद्धि सह तू देकर चित्त । सुन तू अब ॥ ५५ ॥

क्षत्रियोंका स्वभाव-धर्म—

तेजमें कमी किसीका भानु । सहाय न चाहता अर्जुन ।
शिकारीमें सिंह कमी न- । चाहता सहाय ॥ ५६ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

ऐसे जो स्वाभाविक सशक्त । सहाय बिन उद्भट पार्थ ।
ऐसे श्रेष्ठ शौर्य विकसित । गुण है प्रथम ॥ ५७ ॥

तथा जैसे सूर्यका प्रताप । कोटि नक्षत्र करता लोप ।
किंतु उनसे न होता लोप । चंद्र सह भी वे हो तो ॥ ५८ ॥

ऐसे प्रौढ गुणमें पार्थ । विश्वको करता विस्मित ।
किंतु आप न विचलित । होता है कभी ॥ ५९ ॥

ऐसा प्रगल्भ रूप जो तेज । क्षात्र-धर्मका गुण है दूजा ।
इसी भांति धैर्य है सहज । गुण तीसरा ॥ ८६० ॥

टूट पडा भी यदि आकाश । बुद्धिकी आंखें कभी मानुस ।
मिटता नहीं है स-साहस । वही है धैर्य ॥ ६१ ॥

तथा पानी कितना ही गहरा होता । कमल ऊपर आकर ही खिलता ।
या आकाश किसीसे नहीं हारता । ऊंचाईमें कभी ॥ ६२ ॥

कैसी ही विवश अवस्था । जीवनमें पाकर पार्था ।
न छेदती प्रज्ञा सर्वथा । स्थिर बुद्धिकी ॥ ६३ ॥

ऐसी दक्षता है जो चोख । यह है चौथा गुण देख ।
तथा जूझ जो अलौकिक । गुण पांचवा ॥ ६४ ॥

जैसे सूर्यमुखीका पुष्पक । सदा सूर्यकी ओर उन्मुख ।
वैसे वह शत्रुके सन्मुख । होता है सदा ॥ ६५ ॥

यत्न-पूर्वक गर्भिणी जैसे । टालती हैं पुरुषको वैसे ।
समरमें पीठ दिखानेसे । बचता रहता ॥ ६६ ॥

क्षत्रियोंका यह आचार । पांचवा गुणेंद्र धनुर्धर ।
पुरुषार्थीके सिरपर । भक्ति है जैसे ॥ ६७ ॥

शौर्य धैर्य प्रजा रक्षा युद्धमें अपलायन ।
दातृत्व दक्षता तेज क्षात्र-धर्म स्वभावसे ॥ ४३ ॥

लगे हुए अपने फल फूल । देनेमें वृक्ष उदार सरल ।
अथवा देता जैसा परिमल । कमलवन ॥ ६८ ॥

जितना जो चाहता उतना । चंद्रका उसे चांदनी देना ।
वैसे चाहनेवालेको देना । इच्छानुसार ॥ ६९ ॥

ऐसा अपरमित दान । जहां है छटा गुण रत्न ।
तथा आज्ञाका एक स्थान । होता है सदा ॥ ८७० ॥

करके अवयवोंका पोषण । उनसे सेवा लेता अनुदिन ।
ऐसे करके प्रजानुरंजन । भोगना प्रजासुख ॥ ७१ ॥

उसका नाम है ईश्वर-भाव । सब सामर्थ्यका है वही ठाव ।
सब गुणोंमें यह महाराव । क्षत्रियोंके ॥ ७२ ॥

ऐसे हैं शौर्यादि सात गुण । जिससे हैं विशेष भूषण ।
सप्त ऋषीसे शोभता गगन । वैसे ही है यह ॥ ७३ ॥

सात गुणोंसे जो विचित्र । विश्वमें है कर्म पवित्र ।
यह जान सहज क्षात्र- । धर्म है क्षत्रियोंका ॥ ७४ ॥

ऐसे क्षत्रिय नहीं है नर । स्वत्व-स्वर्णका मेरु डोंगर ।
तभी है स्वर्गके वे आधार । गुण है सात ॥ ७५ ॥

अथवा जो सात गुणार्णव । घेरे हैं पृथ्वि सह वैभव ।
भोगता है क्षत्रिय पांडव । इस प्रकार ॥ ७६ ॥

अथवा है इस गुण-प्रवाहसे । क्रिया-गंगा उसके अंगमें जैसे ।
मिलके जगमें महा सागरसे । शोभती है ॥ ७७ ॥

किंतु यह रहने दे देख । शौर्यादिक जो हैं गुणात्मक ।
सात कर्म हैं जो स्वाभाविक । क्षत्रिय जनके ॥ ७८ ॥

अब जो वैश्यको उचित । गुण कहता जो निश्चित ।
उनको सुन अब पार्थ । ध्यान पूर्वक ॥ ७९ ॥

वैश्य तथा शूद्रोंका कर्म—

भूमि बीज और हल । इसका लेकर बल ।
जोड़ना लाभ अतुल । जिनका काम ॥ ८८० ॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

अथवा कृषिसे है जीना । गोधनकी रक्षा करना ।
अधिक मूल्यमें बेचना । स्वस्त वस्तु ॥ ८१ ॥

इतना ही है धनंजय । वैश्य-कर्मका समुदाय ।
वैश्यका गुण-समुच्चय । इतना जान ॥ ८२ ॥

तथा वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण । द्विजन्मके हैं ये तीनों वर्ण ।
इन सबका जो शुश्रूषण । कर्म है शूद्रका ॥ ८३ ॥

द्विज-सुश्रूषासे पर । शूद्र कर्म ना यहांपर ।
वर्णोचित है धनुर्धर । दिखाये कर्म ॥ ८४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

वर्णानुसार सहज कर्म ही अधिकार है—

भिन्न भिन्न वर्णोंको उचित । कर्म इसी प्रकार हैं पार्थ ।
जैसे इंद्रियोंको है उचित । शब्दादिक विषय ॥ ८५ ॥

अथवा मेघसे जो चूता । पानीको उचित सरिता ।
सरिताको है पांडुसुता.। उचित है सिंधु ॥ ८६ ॥

वर्णाश्रम वश जैसे । करणीय कार्य ऐसे ।
गोरेकी गौरता जैसे । होती स्वाभाविक ॥ ८७ ॥

वह है जो स्वाभाविक कर्म .। शास्त्रानुसार ही वीरोत्तम ।
करनेमें ही उत्कट प्रेम । ऐसे रहता ॥ ८८ ॥

खेती व्यापार गोरक्षा वैश्यकर्म स्वभावसे ।
करना प्राप्त सेवा जो शूद्र-कर्म स्वभावसे ॥ ४४ ॥
जो है स्व-कर्ममें दक्ष पाता है मोक्ष निश्चित ।
मोक्ष कैसा सुनो पाता स्वकर्म दक्ष जो नर ॥ ४५ ॥

होता है यदि अपना ही रत्न । कराता जव्हेरीसे परीक्षण ।
वैसे शास्त्रानुसार निरीक्षण । करना कर्मका ॥ ८९ ॥

जैसे दृष्टि होती है अपने पास । दीपके बिन उपयोग न खास ।
या पथ नहीं जानने पर विशेष । जैसे हैं पैर ॥ ८९० ॥

तभी जो है वर्णानुसार । सहज होता अधिकार ।
आप हो शास्त्रोंसे गोचर । करता आप ॥ ९१ ॥

जो है घरकी ही धरोहर । दीप दिखाता है धनुर्धर ।
उठालेनेमें कह तू फिर । आलस कैसे ॥ ९२ ॥

स्वाभाविक ही जो पाया । शास्त्रोंसे सही कहा गया ।
विहित कर्म अपनाया । आचरणमें जो ॥ ९३ ॥

आलसको छोडकर । फलाशाको तज कर ।
तन मन एक कर । देना आरंभमें ॥ ९४ ॥

प्रवाह-बद्ध होकर बहता । पानी भिन्न दिशामें नहीं जाता ।
वैसे ही शास्त्रोचित आचरता । अपना कर्म ॥ ९५ ॥

इस प्रकारसे जो पार्थ । स्वयं कर्म करता विहित ।
करता है मोक्ष-द्वार प्राप्त । इस ओरका ॥ ९६ ॥

अकरणीय और निषिद्ध । कर्मसे न रखना संबंध ।
तभी तो वह भव-बद्ध । नहीं होता ॥ ९७ ॥

शास्त्रोक्त निष्काम कर्मसे आत्म-ज्ञान मिलता है—

तथा काम्य-कर्मकी ओर । दृष्टिपात भी नहीं कर ।
स्वर्गका भी चंदन-द्वार । रोकता वह ॥ ९८ ॥

वैसे ही अन्य जो है नित्य-कर्म । फल-त्यागसे किये निष्काम ।
इसीलिये है मोक्षकी सीम । पायी उसने ॥ ९९ ॥

ऐसे शुभाशुभ संसार । तज कर जो धनुर्धर ।
वैराग्य मोक्ष-द्वार पर । आ के खडा हुवा ॥ ९०० ॥

सकल भाग्यकी है जो सीमा । तथा है मोक्ष लाभकी प्रमा ।
विविध कर्ममार्गोंका श्रम । शांत होता यहां ॥ १ ॥

मोक्ष-फलका जो दिया हुवा ओल । अथवा सुकृत तरुका है फूल ।
वैराग्य कमल पर अलिकुल । बैठता जैसे ॥ २ ॥

जैसे आत्म-ज्ञान सुदिनका । वार्ता देनेवाले अरुणका ।
उदय होता है वैराग्यका । उस समय ॥ ३ ॥

अथवा मानो वह आत्म-ज्ञान । हाथमें जिससे आता निधान ।
उस वैराग्यका है दिव्यांजन । आता है बुद्धिमें ॥ ४ ॥

ऐसी जो मोक्षकी योग्यता । सिद्ध होती है पांडुसुता ।
विहित कर्म जो करता । उसको सदैव ॥ ५ ॥

यह विहित कर्म जो अर्जुन । अपना मानो अनन्य जीवन ।
गुरु सर्वात्मकका है पूजन । श्रेष्ठ तम जो ॥ ६ ॥

या संपूर्ण भोग सह जैसे । पतिव्रता रमती पतिसे ।
उसी क्रियाको कहते वैसे । किया सभी तप ॥ ७ ॥

या बालकको माताके बिन । दूसरा क्या है अन्य साधन ।
तभी है माताकी गोद मान । उसका धर्म ॥ ८ ॥

केवल पानी ही मान मीन । गंगाको नहीं तजके जान ।
पाता जैसे सभी तीर्थ स्थान । सागर सहज ॥ ९ ॥

वैसे है अपने जो विहित । उपाय स्मरनेसे सतत ।
ऐसे करता कि जगन्नाथ । मानले भार ॥ ९१० ॥

अजी ! जिसको जो विहित । ईश्वरका है मनोगत ।
मान करनेसे निर्भ्रांत । मिलता वह ॥ ११ ॥

अजी ! मनमें जो उतरती । दासी भी है स्वामिनी बनती ।
शीस देकर होती जो प्राप्ति । स्वामीकी कृपा ॥ १२ ॥

वैसे स्वामीका है मनोभाव । न चूकता है परम सेवा ।
यह छोड दूसरा पांडव । केवल वाणिज्य ॥ १३ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६

मोक्षके लिये स्वधर्ममें आस्था अनिवार्य है—

तभी है विहित क्रिया करना । मानो ईश्वरकी आज्ञा पालना ।
जिससे प्राप्त हुवा है अर्जुन । आकार भूतोंको ॥ १४ ॥

टुकडोंसे जो अविद्याके । बनाकर गुड्डे उनके ।
खिलाता है तीन गुणोंके । अहंकार सूत्रसे ॥ १५ ॥

जिससे यह विश्व समस्त । अंतर्बाह्य संपूर्ण भरित ।
रहते हैं जैसे दीप जात । तेजसे वैसे ॥ १६ ॥

वह सर्वात्मक ईश्वर । स्वकर्म कुसुमसे वीर ।
पूजा जाता जब अपार । तोषता वह ॥ १७ ॥

तब है जैसी पूजासे । संतुष्ट आत्म-रामसे ।
मिलता अति प्रेमसे । वैराग्य-प्रसाद ॥ १८ ॥

उस वैराग्य-प्रसादके कारण । होता है सतत ईश-चिंतन ।
नहीं सुहाता अन्य कुछ मान । वमन है सारा ॥ १९ ॥

जैसे प्राणनाथके वियोगमें । वियोगिनी दुःख पाती जीनेमें ।
चुभते सारे सुख भोगनेमें । दुःख रूप ॥ ९२० ॥

उदय न होते सम्यग्ज्ञान । ध्यानसे तन्मयता अर्जुन ।
आती है ऐसी योग्यता जान । बोधसे ही ॥ २१ ॥

इसीलिये जो मोक्ष-लाभार्थ । तनसे आचरता है व्रत ।
उसे स्वधर्ममें आस्था पार्थ । रखनी ही होगी ॥ २२ ॥

स्वधर्मसे नियत-कर्म स्वभावके दोषोंको दूर करता है—

अजी है अपना जो स्वधर्म । आचरणमें यदि विषम ।
तो भी देखना है परिणाम । फलता जो ॥ २३ ॥

विस्तार जिसका विश्व प्रेरता प्राणिमात्र जो ।
उसको पूजके मोक्ष पाता स्वकर्म पुष्पसे ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अपने हितके लिये सब । नीम है सुख दायक जब ।
उसके तीतापनसे तब । उकतायें कैसे ॥ २४ ॥

फलनेसे प्रथम जैसे । आशा भंग होता केलेसे ।
इसीलिये उखाडनेसे । फल मिलेगा क्या ॥ २५ ॥

स्वधर्मका आचरण । करना जान कठिण ।
तजा तो मोक्ष अर्जुन । मिलेगा कहां ? ॥ २६ ॥

तथा अपनी जो माता । कुलटा होनेसे पार्था ।
तो भी होते हैं जीविता । स्नेह न होता टेडा ॥ २७ ॥

अथवा जो है परकीय । रंभासे सुंदर काय ।
उससे मिले क्या स्तन्य । बालकको कभी ॥ २८ ॥

अजी ! पानीसे भी बहुत । गुणमें उत्तम घृत ।
इससे कह मीन पार्थ । रहेगा क्या उसमें ॥ २९ ॥

विश्वको होता है जो विष । जंतुओंका वह पीयूष ।
तथा विश्वका गुड देख । विष है उनको ॥ ९३० ॥

इसीलिये है जो शास्त्र-विहित । कर्मसे खुलता भव अंकित ।
तभी कष्टदायक भी विहित । करना कर्म ॥ ३१ ॥

अपना विहित-कर्म तजकर । दूसरोंका भला जो अपनाकर ।
जैसे पैरोंसे चलना छोडकर । चलना सिरसे ॥ ३२ ॥

इसीलिये जो कर्म अपना । स्वभावसे मिला हुवा मान ।
करनेसे ही कर्म-बंधन । छूटता पार्थ ॥ ३३ ॥

तथा स्वधर्मको पालना । पर-धर्म जान तजना ।
यह नियम न पालना । उस समय ॥ ३४ ॥

हलका अपना धर्म भला है पर धर्मसे ।
जलाता दोष जो कर्म नियुक्त जो स्वभावसे ॥ ४७ ॥

जब न होता आत्मानुभव । कर्म नहीं छूटता पांडव ।
उन्हे भोगना दुःख सदैव । मिलता मात्र ॥ ३५ ॥

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

प्रत्येक कर्म करते समय प्रारंभमें आयास होते हैं—

इसीलिये किसी भी कर्ममें । आयास होते हैं प्रारंभमें ।
तब कह तू क्या स्वधर्ममें । रहा दोष ॥ ३६ ॥

अजी ! सरल मार्ग चलना । पैरोंका यदि है थक जाना ।
तो घने जंगलमें घुसना । तब भी वही ॥ ३७ ॥

शिला या साथ लिया पाथेय । एक ही भार है धनंजय ।
विश्रांतिमें जो सुखका होय । लेना है वही ॥ ३८ ॥

वैसे तो दाना और भूसा । कूटनेमें श्रम एक-सा ।
पकानेमें श्वानका मांस । तथा हविष्यान्न ॥ ३९ ॥

दधि तथा जलका मंथन । व्यापार जैसा एक समान ।
वालू तथा तिलोंका पेरना । एक ही जैसा ॥ ९४० ॥

करनेमें नित्यका होम हवन । जलाके आग करना दहन ।
फूंकके धूम सहना है अर्जुन । एक जैसा ही ॥ ४१ ॥

धर्म-पत्नी या वारांगना । पोसनेमें कष्ट समान ।
वारांगना रख करना । अन्याय क्या दूसरा ॥ ४२ ॥

पीठमें लगके हथियार । आती जब मृत्यु धनुर्धर ।
तब सम्मुख हो लडकर । करना विक्रम ॥ ४३ ॥

अकुल स्त्री मारके भयसे । परगृहमें खाती है वैसे ।
अपने पतिको तजनेसे । मिला ही क्या अपना ॥ ४४ ॥

सहज प्राप्त जो कर्म न छोडना सदोष भी ।
दोष हैं सब कर्मोंमें जैसे हैं धूम आगमें ॥ ४८ ॥

वैसे कमी कोई कर्म । नही होता बिना श्रम ।
तब है विहित कर्म । करना क्या बुरा ॥ ४५ ॥

लेनेसे जब अल्प अमृत । मिलता है अमर जीवित ।
तब सर्वस्व देनेमें पार्थ । जाता क्या अपना ॥ ४६ ॥

अजी! क्यों मूल्य देकर । पीना विष खरीद कर ।
मरना आत्म-दाह कर । पडता है जो ॥ ४७ ॥

वैसे कष्ट देकर इंद्रियोंको । खर्च कर आयुष्यके दिनोंको ।
और क्या इकट्ठा किया पापको । दु:खके लिये ॥ ४८ ॥

इसलिये पालना स्वधर्म । पालनेसे दूर होते श्रम ।
तथा उचित देता परम- । पुरुषार्थ राज ॥ ४९ ॥

यह कारण है अर्जुन । स्वधर्मका ही आचरण ।
संकट समयमें स्मरण । सिद्ध मंत्रका जैसे ॥ ९५० ॥

या नांव जैसे समुद्रमें । दिव्यौषधि महारोगमें ।
तथा स्वधर्म जगतमें । नहीं भूलना ॥ ५१ ॥

फिर करना कपिध्वजा । स्वकर्मसे ही महापूजा ।
तुष्ट हो ईश तम रज । करेगा दूर ॥ ५२ ॥

शुद्ध सत्वकी है बाट । तथा अपनी उत्कंठा ।
भव स्वर्ग कालकूट । दिखाती ऐसे ॥ ५३ ॥

जिस वैराग्यके कहे लक्षण । यही पहले संसिद्धि लक्षण ।
वहां पहुंचना है विलक्षण । जिस स्थान पर ॥ ५४ ॥

इस भूमिकाको प्राप्त कर । साधक वैसे होता है फिर ।
सर्वत्र क्या पाना धनुर्धर । कहता हूं अब ॥ ५५ ॥

निर्मल स्नेह पक्व-फलकी भांति अलिप्त होता है—

देहादिक है संसारमें । तन ही पड़ा है फंदेमें ।
फंस भी न आता जालमें । वायू जैसे ॥ ५६ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जैसे आता है पक्वताका काल । न डांड फल या फल डंटल ।
न धरता वैसे स्नेह निर्मल । होता है सर्वत्र ॥ ५७ ॥

पुत्र संपदा कलत्र । इससे होता स्वतंत्र ।
मेरा न कहता पात्र । विषका जैसे ॥ ५८ ॥

रहने दे यह विषय-मात्रसे । बुद्धि मुडती है पीछे चली जैसे ।
पीछे लौटकर एकांतमें ऐसे । रहती है हृदयमें ॥ ५९ ॥

ऐसे है उसका अंतःकरण । बाहर आनेसे डरता जान ।
राजाकी सौगंधसे लेके प्रण । न आती दासी जैसे ॥ १६० ॥

इस प्रकार जो चित्त । एकाग्र करके पार्थ ।
आत्म-चिंतनमें नित । लगाता है ॥ ६१ ॥

दृष्टादृष्ट कामना तब । जैसे नष्ट हो जाती हैं सब ।
आग राखमें दबती तब । धुंवा नहीं आता ॥ ६२ ॥

मन होता ऐसा अंतर्मुख । इच्छाएं नष्ट होती हैं देख ।
तब प्राप्त करता साधक । भूमिका ऐसी ॥ ६३ ॥

अनासक्त कर्मयोगीकी संन्यस्त अवस्था—

विपरीत ज्ञान संपूर्ण । नष्ट हो करके अर्जुन ।
ज्ञानमें ही अंतःकरण । होता है स्थिर ॥ ६४ ॥

संचित जैसे व्ययसे चुकता । वैसे प्राचीन भोगसे मिटता ।
नया क्रियमाण नहीं होता । किसी कर्मसे ॥ ६५ ॥

ऐसी जो कर्म-समय दशा । वहां बनती है वीरेशा ।
फिर श्रीगुरु आप ऐसा । मिल जाता है ॥ ६६ ॥

न कहीं रख आसक्ति जीतके मन निःस्पृह ।
नैष्कर्मकी महासिद्धि पाता संन्यास साधके ॥ ४९ ॥

रातके जो चार प्रहर । होते ही मिटाके अंधार ।
आंखोंको दीखता भास्कर । उसी भांति ॥ ६७ ॥

अथवा आकर फलकी घौंद । करता केलेका बढ़ना बंद ।
श्रीगुरु मिल साधकको छंद । जगाते हैं मोक्षका ॥ ६८ ॥

चंद्र जो पूर्णिमासे आलिंगित । तजता जैसे सभी व्यंग पार्थ ।
वैसे उसको मिलती सतत । श्रीगुरुकी कृपा ॥ ६९ ॥

अज्ञान मात्र तब जो रहता । उस कृपासे है सभी मिटता ।
रजनी सहित है जैसे जाता । अंधार सारा ॥ ९७० ॥

अज्ञानके गर्भमें जैसे । कर्म कर्ता औ' कार्य ऐसे ।
यह त्रिपुटी रहनेसे । गर्भिणी ही मरी ॥ ७१ ॥

ऐसे अज्ञान नाशके साथ । नष्ट होते हैं सभी क्रिया जात ।
ऐसे समूल संभव पार्थ । होता संन्यास ॥ ७२ ॥

मूल अज्ञान संन्याससे ऐसे । दृश्यका स्थान ही मिट जानेसे ।
वहां जानना रहता है ऐसे । आत्मतत्व ॥ ७३ ॥

जगने पर जैसे अर्जुन । डूबे थे ऐसे स्थान ।
करना पड़ता क्या गमन । बचानेको ॥ ७४ ॥

जो न मैं जानता वह जानूंगा । ऐसा दुष्ट स्वप्न जब मिटेगा ।
ज्ञाता ज्ञान विरहित जो होगा । चिदाकाश केवल ॥ ७५ ॥

मुखाभास सह वह दर्पण । दूर करनेसे अर्जुन ।
रहता देखनेके बिन । देखनेवाला जो ॥ ७६ ॥

वैसे न जानना जो गया । साथ जानना भी ले गया ।
फिर निष्क्रिय रह गया । चिन्मात्रा ही ॥ ७७ ॥

स्वभावसे वहां धनंजया । न रही किसी भांतिकी क्रिया ।
इसीलिये वह कहां गया । नैष्कर्म्य ऐसा ॥ ७८ ॥

होता है जब वायुका लोप । उससे होता तरंग लोप ।
तब जैसे रहता है आप । समुद्र मात्र ॥ ७९ ॥

ऐसे होना जब नहीं घड़ता । वह नैष्कर्म्य सिद्धि है कहाता ।
सभी सिद्धियोंमें यह जो होता । परम श्रेष्ठ ॥ ९८० ॥

मंदिरके कार्यमें कलश । गंगाकी सीमा सिंधु-प्रवेश ।
वैसे सुवर्ण-सिद्धिमें कस । सोलहवा अंतिम ॥ ८१ ॥

ऐसे अपना अज्ञान । मिटा देता जो वह ज्ञान ।
वह भी निगल अर्जुन । रहनेकी दशा ॥ ८२ ॥

इसके पर कुछ नहीं । पाना ऐसे रहता नहीं ।
इसीलिये कहना यही । परम-सिद्धि ॥ ८३ ॥

किंतु यही जो आत्म-सिद्धि । जैसे है कोई भाग्य-निधि ।
श्रीगुरुकृपा-उपलब्धि । होती तब मिलती ॥ ८४ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

ब्रह्मत्व-सिद्धिका विवेचन—

उदय होते ही दिनकर । प्रकाश ही होता है अंधार ।
अथवा दीप सह कर्पूर । होता है दीप ॥ ८५ ॥

अथवा लवण-कणिका । मिलकर जैसे उदका ।
होती है आप भी उदक । उसी प्रकार ॥ ८६ ॥

या निद्रित होता है जागृत । स्वप्न सह नींद होती व्यर्थ ।
तथा अपना रूप जागृत । पाना जैसे ॥ ८७ ॥

जिस किसीके सुदैवसे । श्रीगुरु-वाक्य श्रवणसे ।
द्वैत निगल स्थिरतासे । रहता स्ववृत्तिमें ॥ ८८ ॥

श्रवण वचनका मिलन । होते ही जैसे सुन अर्जुन ।
स्वयं-स्वरूप हो जाना मान । अपने आपमें ॥ ८९ ॥

मिला है सिद्धिमें ब्रह्म कैसे किस प्रकारसे ।
ज्ञानकी श्रेष्ठ जो निष्ठा अल्पमें कहता सुन ॥ ५० ॥

उसको फिर कुछ करना । रहता क्या कहु अर्जुन ।
आकाशको आना तथा जाना । रहता है क्या ॥ ९९० ॥

इसीलिये उसको कहीं । त्रिशुद्धि करना है नहीं ।
न हुवा ऐसे कुछ कहीं । उसके लिये ॥ ९१ ॥

उन्हे स्व-कर्मकी अग्निमें । काम्य निषेध इंधनमें ।
रज तमको जलानेमें । करना प्रारंभ ॥ ९२ ॥

पुत्र वित्त तथा परलोक । इन तीनोंका जो अभिलाष ।
हुवा जैसे अपना सेवक । ऐसे होगा ॥ ९३ ॥

स्वैर इंद्रियोंमें सर्व-स्पर्शसे । आई हुई जिस मलिनतासे ।
मुक्त करनेमें प्रत्याहारसे । किया जाता स्नान ॥ ९४ ॥

तथा स्वधर्मका जो फल । ईश्वरार्पण करके बल ।
लेकर किया है गरल । वैषम्यका वह ॥ ९५ ॥

आत्म-साक्षात्कारमें ऐसे । ज्ञानका उत्कर्ष हो कैसे ।
इसकी सामग्री जो ऐसे । पाता है वह ॥ ९६ ॥

तथा है ऐसे ही समय । सद्गुरु मिले धनंजय ।
उसने ज्ञान-दान कार्य । सही किया तो भी ॥ ९७ ॥

वैराग्यका लाभ और श्रीगुरुके लोभसे अनुभाव-अंकुर फूटता है-

औषध लेते ही तत्क्षण । रोगमें आयेगा क्या गुण ।
या सूर्योदयसे तत्क्षण । मध्यान्ह होगा क्या ॥ ९८ ॥

सुक्षेत्र तथा है जो तर । बोया बीज गला सुंदर ।
किंतु फल आनेमें देर । लगेगा ही ॥ ९९ ॥

चले मार्ग पर जो सरल । वहां मिला सत्संगका मेल ।
पहुंचने तक कुछ काल । लगेगा ही ॥ १००० ॥

ऐसे हुवा वैराग्यका लाभ । तथा मिला श्रीगुरुका लोभ ।
अंतःकरणमें फूटा कोंब । विवेकका ॥ १ ॥

वह ब्रह्म ही एक सत । दूसरा संपूर्ण है भ्रांत ।
इसको जिसने प्रतीत । किया है दृढ ॥ २ ॥

किंतु वह जो परब्रह्म । सर्वात्मक है सर्वोत्तम ।
जिससे मोक्षका भी काम । रहता नहीं ॥ ३ ॥

अपनेमें ही यह जो ज्ञान । पचाता तीनो अवस्था जान ।
उस ज्ञानका भी आलिंगन । करती जो वस्तु ॥ ४ ॥

ऐक्यकी एकता होती समाप्त । आनंद कण भी होता है लुप्त ।
कुछ न करके रहता नित । जो है कुछ ॥ ५ ॥

उस ब्रह्ममें ही लय होकर । रहना है ब्रह्म ही बनकर ।
क्रमसे उसको भी प्राप्त कर । लिया है तब ॥ ६ ॥

जैसे है कोई बुभुक्षित । करता षड्रसान्न प्राप्त ।
तब प्रति ग्राससे तृप्त । होता है वैसे ॥ ७ ॥

मिला वैराग्य-स्नेहका भरण । विवेक दीप कर प्रज्वलन ।
उसमेंसे आत्म-तत्व निधान । पा लेना है ॥ ८ ॥

भोगना है आत्म-ऋद्धि । इतनी योग्यता सिद्धि ।
जिसने है निरवधि । पायी भूषण रूप ॥ ९ ॥

जिस क्रमसे वह ब्रह्म । होता जाता यह सुगम ।
उस क्रमका अब मर्म । कहता हूं सुन ॥ १०१० ॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

द्वंद्व चिंता छोड कर स्व-चिंतन करना शुद्ध-बुद्धि है—

श्रीगुरुके दिखाये मार्ग पर । चारु विवेक-तीर्थ तटपर ।
साधक बुद्धिका मल धोकर । तदुपरांत ॥ ११ ॥

जुडाके सात्विकी बुद्धि धृतिकी डोर खींचके ।
तजके शब्द स्पर्शादि जीतके राग-द्वेषको ॥ ५१ ॥

फिर जो राहुके मुखसे मुक्त । चंद्र-प्रभा चंद्रसे आलिंगित ।
वैसे शुद्ध बुद्धि करती प्राप्त । अपने ही रूपको ॥ १२ ॥

जैसे दोनों कुलको तजकर । प्रिया प्रियमें रत निरंतर ।
वैसे द्वंद्व चिंतन तजकर । करती स्वचिंतन ॥ १३ ॥

वैसेही ज्ञान जैसे जीवन । विषयोंमें ले जा अनुदिन ।
इंद्रियोंसे किये बडे जान । शब्दादिक जो ॥ १४ ॥

दूर होते ही रश्मि जाल । मिट जाता है मृगजल ।
वैसे ही धृतिसे निर्मल । किये पांचोंही ॥ १५ ॥

खाया हुवा जो अधमान्न । करते हैं जैसे वमन ।
इंद्रियोंसे ऐसे वासना । सह किया विजय ॥ १६ ॥

आत्माकार वह वृत्ति फिर । लगाके गंगाके तट पर ।
प्रायश्चित्त किया जो धोकर । शुद्धिकारक ॥ १७ ॥

तब उसने सात्विक दृष्टिसे । विशुद्ध किये हुए इंद्रियोंसे ।
मन सह योग-धारणासे । लगाई वह ॥ १८ ॥

वैसे ही प्राचीन इष्टानिष्ट । होती है भोगोंसे जब भेंट ।
आयी हुई कटुतासे रुष्ट । होते नहीं कभी ॥ १९ ॥

या मिले सुंदर विषय । प्रारब्धवश धनंजय ।
न करते उस समय । अभिलाषा भी ॥ १०२० ॥

ऐसे इष्टानिष्टमें पार्थ । रागद्वेषसे हो रहित ।
वन गिरि-गुहामें नित । करते वास ॥ २१ ॥

साधनावस्थाका विवेचन—

भीड भाड तजकर । वनस्थलमें जाकर ।
अंगों सह धनुर्धर । रहता आप ॥ २२ ॥

शम-दमादिकोंसे खेलना । सदा मौनसे ही है बोलना ।
गुरु-वचनोंमें बिताना । समय सारा ॥ २३ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

शरीरमें बल रहना । अथवा भूखको मिटाना ।
या जीभके पूर्ण करना । मनोरथ सारे ॥ २४ ॥

करनेमें वह भोजन । नहीं जानता है ये तीन ।
संतुष्ट होता है अल्पान्न । खाकर ही वह ॥ २५ ॥

आसनकी उष्णतासे । प्राणकी क्षति होनेसे ।
रहे प्राण जितनेसे । उतनाही खाना ॥ २६ ॥

जैसे पर-पुरुषकी इच्छा मान । न देती कुल-वधु अपना तन ।
वैसे ही निद्रालस्य दायक अन्न । खाता ही नहीं ॥ २७ ॥

दंडवत जब वह करता । तभी तन भूमिस्पर्श करता ।
वैसे ही भूमिपे वह नहीं पड़ता । अविचारसे कभी ॥ २८ ॥

शरीर निर्वाह हो अपना । उतने हाथ पैर हिलाना ।
ऐसे है अंतर्बाह्य अपना । संयम करता ॥ २९ ॥

तथा देख मनका चौखट । वृत्ति नही जाती निकट ।
वहां वाचाकी जो खटपट । रहती ही कहां ॥ १०३० ॥

ऐसे तन वचन मानस । जीतके सब बाह्य प्रदेश ।
आधीन करना है आकाश । ध्यानका उसको ॥ ३१ ॥

गुरु-वाक्यसे होता जो जागृत । उस बोधमें देखता निश्चित ।
दर्पणमें जैसे देखता पार्थ । अपना स्वरूप ॥ ३२ ॥

अपनेको ही है ध्यानस्थ । ध्यान-रूप वृत्तिमें पार्थ ।
ध्येयत्वसे लेता है नित । ध्यान प्रकार वह ॥ ३३ ॥

ध्यान ध्येय और ध्याता । होते हैं एकरूपता ।
तब तक पांडुसुता । करना ध्यान ॥ ३४ ॥

वाक् काय मनको जीत एकांत अल्प सेवन ।
दृढ वैराग्यसे युक्त हुवा जो ध्यान-योगमें ॥ ५२ ॥

इसीलिये जो है मुमुक्षु । आत्म-ज्ञानमें होता दक्ष ।
सदैव वह योग-पक्ष । लेकर रहता ॥ ३५ ॥

अपान रंध्रद्वय । बीचमें धनंजय ।
उसके जो है मध्य । एडीसे दबाके ॥ ३६ ॥

आकुंचन करना अध । करके तीन ही बंध ।
होते हैं जो वायुभेद । करना एक ॥ ३७ ॥

कुंडलिनीको जगाकर । अध्यात्मका विकासकर ।
आधारादिसे भेद कर । सहस्रार तक ॥ ३८ ॥

सहस्रदलका जो मेघ । पीयूष वर्षता सवेग ।
उसके मूल पर ओघ । ला करके ॥ ३९ ॥

नाचता रहता पुण्य गिरिपर । उस चैतन्य भैरवका खापर ।
मन-प्राण खिचडीसे भरकर । तदुपरांत ॥ १०४० ॥

योगाभ्यास दृढ होने पर । यह तीनों बंध आगे कर ।
किया है ध्यान पिछली ओर । ब्रह्म सिद्ध ॥ ४१ ॥

तथा योग और ध्यान । दोनों हो पूर्ण निर्वहन ।
आत्म-ज्ञानमें हो लीन । सो पहले ही ॥ ४२ ॥

वीतराग सरीखा । जोड़ रखा है सखा ।
वह सभी भूमिका । करता पार ॥ ४३ ॥

देखना जो है दीखने तक । साथ देना आंखोंको दीपक ।
तब न दीखेगी कहां तक । वह जो वस्तु ॥ ४४ ॥

ऐसे करता जो मोक्ष प्रवर्तन । ब्रह्ममें चित्त हो जाने तक लीन ।
साथ रहता है वैराग्य अर्जुन । उसका नाश कैसे ॥ ४५ ॥

इसीलिये है वैराग्य । ज्ञानाभ्यासका सौभाग्य ।
करके देता जो योग्य । आत्म-लाभ ॥ ४६ ॥

वैराग्यका कवच पहन कर । उससे जैसे वज्रांग बनकर ।
वह राजयोगके तुरंग पर । होता आरूढ ॥ ४७ ॥

फिर जो दृश्य दृष्टि-पथमें आता । उसमें जो छोटा बड़ा दीखता ।
उसे मिटाने ध्यान खड्ग धरता । विवेक मुष्टिमें ॥ ४८ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्म प्राप्ति पथके ये शत्रु—

ऐसे संसार-रणांगण पर । सूर्यसा जाता चीरता अंधार ।
मोक्षश्रीका बनने भर्तार । निर्भय होके ॥ ४९ ॥

वहां जो रोकने आता । उस वैरीको मारता ।
उसमें पहला होता । देहाहंकार ॥ १०५० ॥

मार कर वह नहीं छोड़ता । जन्म देकर जीने नहीं देता ।
पेंचमें डाल कुंठित करता । अस्थि पंजरके ॥ ५१ ॥

देह दुर्ग उसका सहारा । तोड कर लिया धनुर्धरा ।
तथा बल है यह दूसरा । मारा शत्रू ॥ ५२ ॥

विषयोंका नाम ही सुनकर । बढ़ जाता चौगुनेसे ऊपर ।
मृतावस्थामें यह धनुर्धर । पहुंचाता विश्वको ॥ ५३ ॥

वह है विषय-विषका गर्त । सब दोषोंका चक्रवर्ती पार्थ ।
किंतु कैसे ध्यान-खड्गका घात । सहेगा वह ॥ ५४ ॥

प्रिय विषय जब होते प्राप्त । उस सुखको कर अभिव्यक्त ।
वही आवरण डालके पार्थ । करता है गर्जना ॥ ५५ ॥

सन्मार्गको ही जो भुलाता । अधर्म वनमें फंसाता ।
बाघके मुखमें है देता । नरकादिक ॥ ५६ ॥

विश्वासमे मारता जो रिपु । निर्मम कर देता है दर्प ।
जिसके नामसे आता कंप । तपस्वियोंको ॥ ५७ ॥

बल दर्प अहंकार काम क्रोध परिग्रह ।
छोड़ कर स-ममत्व पाता है ब्रह्म शांतिसे ॥ ५३ ॥

क्रोध जैसा है महादोष । जिसका होता परिपाक ।
भरनेसे होता अधिक । रीता ही जो ॥ ५८ ॥

वह काम जिस स्थान पर । नष्ट होता उस स्थान पर ।
क्रोध भी सहज धनुर्धर । होता है नष्ट ॥ ५९ ॥

जड़ ही तोड़नेसे जैसे । शाखायें नष्ट होती वैसे ।
वैसे ही कामके नाशसे । नासता है क्रोध ॥ १०६० ॥

इसीलिये वैरी है जो काम । उसीका मिटाया जब नाम ।
मिटता जैसे गमनागम । क्रोधका भी ॥ ६१ ॥

जैसे अपना अड़गोड़ा समर्थ । अपराधीके सिरपे होता पार्थ ।
वैसे भोग देकर होता समर्थ । परिग्रह ॥ ६२ ॥

वैसे ही खुगीर सिरपे देता । अंगांगमें अवगुण भरता ।
जीवके हाथमें लकडी देता । ममत्वकी जो ॥ ६३ ॥

शिष्य-शास्त्रादि विलाससे । मठ मुद्रादि बहानेसे ।
डाले हैं जो इसने फांसे । असंगों पर भी ॥ ६४ ॥

घरमें कुटुंब रूपसे रहता । वनमें वन्य बन अवतरता ।
नग्न शरीरको भी चिपकता । पांडुकुमार ॥ ६५ ॥

अपरिग्रह जो ऐसा दुर्जय । उसपे भी पाकर विजय ।
भव विजयका धनंजय । आता उत्साह ॥ ६६ ॥

अमानित्वादि जो संपूर्ण । ज्ञानके होते सभी गुण ।
वैफल्य देशके प्रधान । होते हैं जैसे ॥ ६७ ॥

सम्यग्ज्ञानका राज्य अर्पण । करके वे सभी गुणगण ।
उसके परिवार भूषण । होके रहते हैं ॥ ६८ ॥

तब प्रवृत्तिके राज-पथमें । अवस्था-भेद प्रमदियां आपमें ।
दीठ उतारती प्रति-पगमें । अपने सुखकी ॥ ६९ ॥

बोधके दंडसे विवेक जब । दृश्योंकी भीड हठाता सब ।
योगकी भूमिका आके तब । आरती उतारती ॥ १०७० ॥

तब ऋद्धि सिद्धिके समुदाय । आते रहते समय समय ।
उस पुष्प-वृष्टिसे धनंजय । नहाता रहाता वह ॥ ७१ ॥

इस भांति ब्रह्मैक्यके समान । स्वराज्य आता है समीप जान ।
आनंदसे तीनों लोक अर्जुन । भर देता है ॥ ७२ ॥

शत्रु-मित्रभाव तब अर्जुन । नहीं रहता साम्यके कारण ।
न होता द्वंद्व अणु समान । उस समय ॥ ७३ ॥

यही नहीं किसी कारणसे । कभी कहें यह मेरा ऐसे ।
इतना द्वैत भी प्रतीतिसे । न जानता वह ॥ ७४ ॥

एक मात्र तब अपनी सत्ता । विश्व-व्यापी करके पांडुसुता ।
पास फटकने न देता ममता । इतना भी वह ॥ ७५ ॥

जीतकर ऐसा रिपुवर्ग । आप बन गया सारा जग ।
तब होगया तुरंत योग । वहां सुदृढ ॥ ७६ ॥

अपने पथके शत्रुओंको जीतनेके बाद—

फिर वैराग्यका आवरण । तनपे दृढ था जो अर्जुन ।
करता शिथिल कुछ क्षण । उस समय ॥ ७७ ॥

चलाने ध्यानकी जो तलवार । सम्मुख नहीं द्वैत धनुर्धर ।
तब होता है ध्यानका भी कर । कुछ शिथिल ॥ ७८ ॥

अथवा रसौषधि जैसे । अपना काम हो जानेसे ।
आप ही न रहती वैसे । उसी प्रकार ॥ ७९ ॥

जैसे है जहां पहुंचना होता । वह स्थान देख पैर रुकता ।
वैसे ब्रह्म-दर्शनसे होता । अभ्यास शिथिल ॥ १०८० ॥

जैसे सिंधुसे संपर्क आता । गंगाका वेग भी उतरता ।
या पतिसे मिलके स्थिरता । आती कामिनीमें ॥ ८१ ॥

अथवा आता है जब फल । बढ़ न सकता जब केल ।
या गांव आते जैसे केवल । रुकता मार्ग ॥ ८२ ॥

वैसे ही आत्म-साक्षात्कार । होता है यह देख कर ।
साधनाका जो हथियार । रखता नीचे ॥ ८३ ॥

इसीलिये ब्रह्मसे उसका । समय आने पर ऐक्यका ।
शिथिल होता है साधनोंका । वेग पार्थ ॥ ८४ ॥

वैराग्यका फिर है तिरोधान । नानाभ्यासका वार्धक्य अर्जुन ।
योग फलका परिपाक जान । दशा है जो ॥ ८५ ॥

तब वह शांति मान पांडुसुता । उसके अंगांगमें आती पूर्णता ।
ब्रह्मत्व पाके योग्य है वह होता । पुण्य-पुरुष ॥ ८६ ॥

पूर्णिमासे जैसे चतुर्दशी । अल्पत्वमें रहता है शशी ।
या सोलहवे कससे जैसे । पंद्रह होता अल्प ॥ ८७ ॥

सागरमें जाता पानी वेगसे । वह होता गंगौघका जैसे ।
तथा जो निश्चलतासे । रहता सिंधुका ॥ ८८ ॥

ब्रह्म या ब्रह्मत्वके निकट । व्यक्ति होता उसमें सुभट ।
ऐसा अंतर जो वह काट । पाता ब्रह्मत्व ॥ ८९ ॥

परंतु ऐसे हुए बिन । प्रतीत होता ब्रह्मपन ।
वही ब्रह्म होनेकी जान । योग्यता है वहां ॥ १०९० ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

वह ब्रह्म-भाव योग्यता । पुरुष फिर पांडुसुता ।
आत्म-बोधकी प्रसन्नता । पद पाता है ॥ ९१ ॥

जिस तापसे होता है पाक । वह जाता पकनेपे पाक ।
फिर जैसे आल्हाद कारक । होता है वह ॥ ९२ ॥

अनेक प्रवाह जैसे लगभग । शरत्कालमें तजते है गंग ।
अथवा गीत होनेपे उपांग । रुकते जैसे ॥ ९३ ॥

हुवा ब्रह्म प्रसन्नात्मा कामना शोकके बिन ।
पाता मेरी परा भक्ति देखती साम्य जो कहीं ॥ ५४ ॥

आत्म-बोधमें ऐसा उद्यम । करते हुए होता है श्रम ।
उसका भी हो जाता है शम । जिस स्थानपे ॥ ९४ ॥

आत्म-बोध प्रसन्नता । कहलाती वह पार्था ।
उसका है भोग लेता । योग-साधक ॥ ९५ ॥

ब्रह्म-प्राप्तिके समयका विवेचन—

उस स्थितिमें शोक करना । किसी वस्तुकी इच्छा करना ।
डूबती यह सब भावना । साम्य-पूरमें ॥ ९६ ॥

उदय होते ही गभस्ति । नक्षत्र-मंडलकी व्यक्ति ।
लोपती है उसकी दीप्ति । जिस प्रकार ॥ ९७ ॥

उदय होते ही आत्म-प्रभा । जो सारी भूत भेद व्यवस्था ।
तोड़ते हुए वह देखता । अपनारूप ॥ ९८ ॥

पाटी पे लिखे अक्षर । जैसे पोंछते हैं कर ।
वैसे खोते भेदांतर । उसकी दृष्टिमें ॥ ९९ ॥

वैसे ही जो अन्यथा ज्ञान । दिखाता जागृति स्वप्न ।
वे दोनों क्रियायें हैं लीन । अज्ञानमें ॥ ११०० ॥

फिर वह भी अज्ञान । बोध बढते ही लीन ।
उस बोधमें संपूर्ण । डूबता है ॥ १ ॥

जैसे भोजनके समय । क्षुधा क्षीणती धनंजय ।
वैसे ही तृप्तिके समय । होती है अस्त ॥ २ ॥

जैसे वेग बढ़ता जाता । वैसे मार्ग घटता जाता ।
फिर जब गंतव्य आता । डूबता मार्ग ॥ ३ ॥

या जागृतिका होता उद्दीपन । निद्रा क्षीण होते जाती अर्जुन
वैसे ही पूर्ण जागृतिमें मान । निद्राका अंत ॥ ४ ॥

या अपना पूर्णत्व मिलता । चंद्रका बढ़ना ही मिटता ।
शुक्ल-पक्षका भी अंत आता । तब निःशेष ॥ ५ ॥

जैसे सभी पदार्थ-ज्ञान । निगल जाता मेरा ज्ञान ।
तब वह संपूर्ण ज्ञान । अज्ञान निगलता ॥ ६ ॥

जैसे कल्पांतके समय । नदी सिंधुके समुदाय ।
एक होकर धनंजय । जल होता आब्रह्म ॥ ७ ॥

या मिटकर नाना घटाकाश । एक हो जाता है महदाकाश ।
या काष्ठोंसे जलके काष्ठ शेष । रहता है अग्नि ॥ ८ ॥

अथवा भूषणके आकार । आंचमें सभी पिघलकर ।
सारा नाम रूप मिटाकर । होता है सुवर्ण ॥ ९ ॥

अथवा होते ही जागृत । हो जाता है स्वप्नका अस्त ।
फिर जैसे आपही पार्थ । रह जाता है ॥ १११० ॥

वैसे ही मुझ एकको छोडकर । न उसे अपने सह कुछ और ।
कहाती जो चौथी भक्ति धनुर्धर । पाता है वह ॥ ११ ॥

जहां आर्त जिज्ञासू अर्थार्थी । जिस मार्गसे करते भक्ति ।
इसे देख मैं कहता चौथी । भक्ति इसको ॥ १२ ॥

वैसे नहीं पहली या चौथी । दूसरी तीसरी इस भांति ।
किंतु जो मेरी सहज स्थिति । भक्ति नाम उसका ॥ १३ ॥

मेरे अज्ञानका प्रकाशन । दिखाके मेरा अन्यथा ज्ञान ।
सबको सर्वत्र ही भजन । सुझाती है ॥ १४ ॥

जहां जो जैसे देखता वैसे । उसे वहां रहता है वैसे ।
दीखता मेरे चित्प्रकाशसे । यह अखंड ॥ १५ ॥

स्वप्नका दीखना या न दीखना । अपने अस्तित्वपे होना जाना ।
जिससे विश्वका होना या न होना । प्रकाशना वैसे ॥ १६ ॥

ऐसा यह मेरा सहज । प्रकाश जो है कपिध्वज ।
वह भक्ति नामसे आज । कहा जाता है ॥ १७ ॥

इसीलिये आर्तोंमें जैसे । बनके उत्कट इच्छासे ।
अपेक्षणीय जो है उसे । भाता मैं ही ॥ १८ ॥

जिज्ञासूके सन्मुख वीरेशा । इसी भांति होकर जिज्ञासा ।
मैं ही मानो जिज्ञास्यु है ऐसा । दिखाया गया है ॥ १९ ॥
ऐसे ही बनकर अर्थना । मैं ही मेरे अर्थार्थ अर्जुना ।
करके तब अर्थाभिधाना । लाता मुझको ही ॥ ११२० ॥
ऐसे ही अज्ञानका कर स्वीकार । करते भक्तिमें मेरा व्यवहार ।
दिखाती भक्ति दृश्य-रूप लेकर । मुझ दृष्टाको ही ॥ २१ ॥
मुखको दीखता वहां मुख । इस बोलनेमें नहीं चूक ।
झूठा द्वैत दिखाता है देख । दर्पण यहां ॥ २२ ॥
चंद्रको ही देखते हैं नेत्र । तिमिर करता यही मात्र ।
दिखाता रहता है सर्वत्र । एकका होकर ॥ २३ ॥
सर्वत्र ऐसे मुझको मैं अर्जुन । भक्तिसे होता रहता आकलन ।
किंतु है दृश्यत्व अज्ञान कारण । व्यर्थका यहां ॥ २४ ॥
मिटा अब वह सब अज्ञान । मेरा दृष्टत्व मुझे मिला मान ।
निज-बिंबमें हुवा है विलीन । प्रतिबिंब जैसे ॥ २५ ॥
सोनेमें जब मिला रहता मल । तब भी सोना रहता है अचल ।
किंतु जल करके वह केवल । रहता सोना ही ॥ २६ ॥
अजी! पूर्णमासिके पहले कहीं । चंद्रमा सावयव होता था नहीं ।
पूर्णचंद्र देखने मिलता यहीं । पूर्णमासीको ॥ २७ ॥
वैसे मैं अन्यथा ज्ञानसे । दीखता हूं भिन्न रूपसे ।
वह दृष्टत्वमें खोनेसे । मुझे मैं भेटता ॥ २८ ॥
तभी दृश्यपथातीत । मेरा यह पांडुसुत ।
भक्तियोग है चतुर्थ । कहा मैंने ॥ २९ ॥
ज्ञान-भक्तिसे जो सहजरूप । भक्त मुझमें लीन हुवा आप ।
वह केवल मैं हूं परंतप । जानता तू यह ॥ ११३० ॥

जो मैं हुवा नहीं उसके लिये मैं है ही नहीं—

मैंने ही हाथ उठाकर । ज्ञानी भक्त जो धनुर्धर ।
मेरा आत्मा इस प्रकार । कहा सातवेमें ॥ ३१ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥

भक्ति जो कल्पादिमें मुझसे । उपदेश रूप जो ब्रह्मसे ।
कही गयी है उत्तम ऐसे । भागवतद्वारा ॥ ३२ ॥

ज्ञानी इसको स्व-संवित्ति । शैव कहते इसे शक्ति ।
तथा हम परम-भक्ति । कहते अपनी ॥ ३३ ॥

मुझसे मिलते हुए यह भक्ति । उस क्रमयोगियोंको है फलती ।
फिर समस्त विश्वको ही देखती । मेरे ही रूपमें ॥ ३४ ॥

वहां वैराग्य विवेकके साथ । मिटता है बंध मोक्ष समस्त ।
डूबती वृत्ति ध्यान सह पार्थ । उस समय ॥ ३५ ॥

चारों तत्त्वोंको निगलकर । रहता आकार मात्र धनुर्धर ।
नहीं रहता उसका ओर छोर । कल्पांतमें जैसे ॥ ३६ ॥

उस भांति होकर कूटस्थ । शुद्ध मैं साध्य साधनातीत ।
वह बनकर मुझे पार्थ । भोगता है ॥ ३७ ॥

बनकर सिंधुका अंग । सिंधुपे झलकती गंग ।
ऐसे रूपका उसका भोग । सुन तू यह ॥ ३८ ॥

या दर्पणको ही दर्पण । दिखाया मान तू अर्जुन ।
बढ़ता तब द्रष्टापन । वैसे इस भोगमें ॥ ३९ ॥

जागृतका जब स्वप्न नाशता । अपना ही तब ऐक्य दीखता ।
जैसे जागृतिका ऐक्य भोगता । बिनाद्वैतके ॥ ११४० ॥

जाने दो जब दर्पण खोता । तब मुख-बोध भी ले जाता ।
मुख-सौंदर्य आप भोगता । अकेला जैसे ॥ ४१ ॥

वही होनेसे भोग उसका । न होता यह भाव जिसका ।
शब्दसे कैसे करें शब्दका । कह तू उच्चार ॥ ४२ ॥

भक्तिसे तत्त्वता जान कौन मैं कितना रहा ।
इस भांति मुझे जान मुझमें मिलते फिर ॥ ५५ ॥

किसके गांवमें दीपकसे । सूर्यको उजाला जाता कैसे ।
व्योमके लिये मांडव कैसे । उभारते न जाने ॥ ४३ ॥

अपनेमें नहीं जब राजपन । भोगेगा कैसा जी राजा राजपन ।
या अंधार करेगा आलिंगन । सूर्यसे कैसे ॥ ४४ ॥

अथवा जो नहीं है आकाश । वह जानेगा कैसे आकाश ।
गूंगचीका गहना विशेष । सोहेगा क्या रत्नोमें ॥ ४५ ॥

इसीलिये जो मैं हुवा नहीं । उसके लिये मैं है ही नहीं ।
फिर भजेगा कैसे जो कोई । कह तू मुझसे ॥ ४६ ॥

अद्वैतमें क्रिया कर्म नहीं होता किंतु भक्ति होती है—

इसी लिये है वह क्रमयोगी । मैं बनकर मेरा भोगी ।
तारुण्य भोगती है तरुणांगी । उसी प्रकार ॥ ४७ ॥

तोय करता सर्वांगसे यदि चुंबन । प्रभा सर्वत्र विलसती है बिंब मान ।
नाना आकाश नभमें होकर विलीन । भोगते हैं जैसे ॥ ४८ ॥

वैसे है जो मेरा ही रूप होकर । अक्रिय भजता मुझे निरंतर ।
भोगता रहता जैसे अलंकार । स्वर्णको ही ॥ ४९ ॥

चंदनकी सुगंध जैसे । चंदन भोगती आपसे ।
या स्वाभाविक चंद्र जैसे । चंद्रिकाको ॥ ११५० ॥

ऐसे वह क्रिया नहीं सहता । अद्वैतमें भक्ति होती है पार्था ।
यह अनुभवसे जाना जाता । तोलनेसे नहीं ॥ ५१ ॥

तब पूर्व संस्कारके कारण । जो कुछ होता है यह भाषण ।
वह विनय सुन मैं अर्जुन । बोलता हूं ॥ ५२ ॥

शब्दको शब्द ही जब मिलता । बोलका व्यवहार नहीं होता ।
तब है मौन ही स्तवन होता । सुंदर मेरा ॥ ५३ ॥

इसीलिये जब वह बोलता । बोलने वालेसे मैं हूं मिलता ।
तब मौनसे ही वह तत्वता । स्तवता मुझको ॥ ५४ ॥

वैसे ही बुद्धि हो अथवा दृष्टि । जिसे देखना चाहती किरीटी ।
उस दृष्टिको ही हराके दृष्टि । दिखाती अपनेको ॥ ५५ ॥

दर्पणके पहले अपना मुख । देखनेवाला ही देखता देख ।
उसीको दर्पणमें वही देख- । सकता है जैसे ॥ ५६ ॥

वैसे दृश्य मिटकर द्रष्टा । जैसे मिलता द्रष्टासे द्रष्टा ।
वैसे अकेलेमें नहीं मिटा । द्रष्टापन कभी ॥ ५७ ॥

जैसे स्वप्नकी प्रियाको मान । जगके करना आलिंगन ।
रहता है आपही अर्जुन । प्रियाप्रिय मिलके ॥ ५८ ॥

या दो लकडियोंका घर्षण । उससे उठता अग्निकण ।
दोकी भाषा मिटाके अर्जुन । रहता वह एक ॥ ५९ ॥

क्रमयोगी सदैव मुझे भोगता रहता है—

करमें ले अनेक प्रतिबिंब । लेके चलता जब सूर्यबिंब ।
प्रतिबिंबके साथही बिंब । न होता बिंबत्व ॥ ११६० ॥

वैसा मैं होकर देखता । वह दृश्यको ही ले जाता ।
वहां दृश्य भी नहीं होता । द्रष्टापन भी ॥ ६१ ॥

रवि अंधार प्रकाशता । न होती जैसे प्रकाश्यता ।
वैसे दृश्यमें दृष्टता । मैं होनेसे ॥ ६२ ॥

फिर देखना या न देखना । ऐसी दशाको अनुभवना ।
यह है जो वास्तविक होना । दर्शन मेरा ॥ ६३ ॥

जो कुछ वह देखता । द्रष्टा दृष्यातीत हो पार्था ।
इस दृष्टिसे है भोगता । क्रमयोगी सदा ॥ ६४ ॥

तथा आकाश आकाशसे जैसे । भरकर नहीं हिलता वैसे ।
मैं आत्मासे अपनेमें भी वैसे । होता है उसको ॥ ६५ ॥

कल्पांतमें उदकसे उदक । रोकनेसे सबही जैसे देख ।
रुक जाता वैसे आत्मासे एक । भर जाता वह ॥ ६६ ॥

पैर अपने पर कैसे चढेगा । अग्नि अपनेको कैसे जलायेगा ।
पानी आपही कैसे स्नान करेगा । अपनेसेही ॥ ६७ ॥

सभी मैं होनेसे अर्जुना । रुक जाता है आना जाना ।
यही है यात्रादि करना । मुझ अद्वयको ॥ ६८ ॥

जैसे जल पर तरंग । यदि दौडता है सवेग ।
फिर भी नहीं भूमिभाग । आक्रमता वैसे ॥ ६९ ॥

उसका तजना या धरना । चलना अथवा रूकना ।
वह उदक ही एक पूर्ण । इसी प्रकार ॥ ११७० ॥

तभी वह कहीं भी जाता । उदक परसे ही पार्था ।
आरंभकी एकात्मकता । न टूटती कभी ॥ ७१ ॥

ऐसे वह मैं से भरा रहता । संपूर्ण ही वह मद्रूप होता ।
ऐसे वह सदा यात्रा करता । मेरी ही अर्जुन ॥ ७२ ॥

तथा कभी शरीर स्वभावसे । कहीं कुछ भी कर बैठनेसे ।
तब इस कारण मैं ही उसे । प्राप्त होता हूं ॥ ७३ ॥

वहां है कर्म और कर्ता । यह सब मिटके पार्था ।
मैं आत्मा ही मुझ देखता । अपने आप ॥ ७४ ॥

तब वह न रहनेकासा रहता है न करनेकासा करता है—

दर्पणसे जैसे दर्पण । देखा तो न होता दर्शन ।
सोनेसे ढकता स्वर्ण । न ढकने जैसे ॥ ७५ ॥

दीपको जब दीप प्रकाशता । वह न प्रकाशना ही बनता ।
वैसे ही जब मैं कर्म करता । न करने जैसे ॥ ७६ ॥

कर्म भी वह करता रहता । किंतु कर्तव्य-भाव न रहता ।
वह करना न-करना होता । ऐसे समय ॥ ७७ ॥

कर्म तब जब मद्रूप बनता । तब वह कुछ करना न होता ।
उसका नाम ही पूजन हो जाता । यह है रहस्य ॥ ७८ ॥

ऐसे करके भी सब । न करना होता तब ।
होती महापूजा जब । इस पूजासे ॥ ७९ ॥

तब जो बोलता वह स्तवन । जो कुछ देखता वह दर्शन ।
मेरे अद्वयका होगा गमन । वह जो चलता ॥ ११८० ॥

वह जो करता वही पूजन । सोचता वह है मेरा स्मरण ।
ऐसे वह रहता है अर्जुन । रहना मुझमें ॥ ८१ ॥

जैसे सुवर्णका भूषण । सुवर्णमें होता अभिन्न ।
वैसे भक्ति-योगी अर्जुन । रहता मुझमें ॥ ८२ ॥

उदकमें जैसे कल्लोल । कर्पूरमें है परिमल ।
वैसे ही रत्नमें उजाल । अनन्य जैसे ॥ ८३ ॥

अथवा तंतुसे है पट । या माटीसे रहता घट ।
वैसे समरस सुभट । होता मुझसे ॥ ८४ ॥

यह है जानना सिद्ध भक्ति । अथवा संपूर्ण दृश्य जाति ।
आप जैसे देखना सुमति । आत्मत्वसे जो ॥ ८५ ॥

तीनों अवस्थाओंके द्वारा । उपाधि उपहिताकार ।
भाव अभाव रूप स्फुर । दृश्य जो यह ॥ ८६ ॥

द्रष्टा मैं यह संपूर्ण । ऐसे बोधमें अर्जुन ।
करना वह नर्तन । धेंडा जैसे ॥ ८७ ॥

रज्जूको जब देखकर । आभास होता व्यालाकार ।
वह रज्जू ऐसा निर्धार । होता जैसे ॥ ८८ ॥

वैसे सुवर्णसे परे कहीं । रत्ती भी भूषण होता नहीं ।
यह सब गलाकार नहीं । करना निश्चित ॥ ८९ ॥

उदकके उस पार । नहीं होता है लहर ।
वहां स्वतंत्र आकार । न मानते जैसे ॥ ११९० ॥

या स्वप्नके सभी पदार्थ । जगकर देखा तो पार्थ ।
अपनेसे सभी पदार्थ । दीखते वे भिन्न ॥ ९१ ॥

यह सब जिसका स्फुरण है उस 'मैं' का स्वरूप—

तथा जो भावाभाव रहता । और जो कुछ ज्ञेय स्फुरता ।
उसे मैं अनुभवता ज्ञाता । ऐसे भोगता वह ॥ ९२ ॥

जानता अज मैं अजर । अक्षय तथा मैं अक्षर ।
अपूर्व और मैं अपार । आनंद मैं हूं ॥ ९३ ॥

अचल मैं अच्युत । अनंत मैं अद्वैत ।
आद्य मैं हूं अव्यक्त । व्यक्त भी मैं ॥ ९४ ॥

ईश्य मैं हूं ईश्वर । अनादि मैं अमर ।
अभय मैं आधार । अधेय भी मैं ॥ ९५ ॥

स्वामी मैं सदोदित । सहज मैं सतत ।
सर्व मैं सर्वगत । सर्वातीत भी मैं ॥ ९६ ॥

नवीन मैं पुराण । शून्य और संपूर्ण ।
स्थूल तथा मैं अणु । जो कुछ सबमें ॥ ९७ ॥

अक्रिय मैं हूं एक । असंग मैं अशोक ।
व्याप्त और व्यापक । पुरुषोत्तम मैं ॥ ९८ ॥

अशब्द मैं अश्रोत्र । अरूप मैं अगोत्र ।
सम और स्वतंत्र । ब्रह्म हूं मैं ॥ ९९ ॥

ऐसे आत्मत्वसे मुझे एक । अद्वय भक्तिसे मान ठीक ।
इस बोधको जानना देख । वह भी मैं हूं ॥ १२०० ॥

अजी ! जागृत होने पर जैसे । अपना एकत्व रहता वैसे ।
वही स्फुरता है उसको जैसे । कुछ समय ॥ १ ॥

अथवा प्रकाश कर अर्क । वही रहता है प्रकाशक ।
उसके अभेद्यका द्योतक । वही होता जैसे ॥ २ ॥

वैसे ही वेद्यका होता विलय । वेदक ही रहता धनंजय ।
वही होता है उसको वेद्य । यह भी जानता वह ॥ ३ ॥

ज्ञानका विवेचन—

अपना यह अद्वयपन । जानना है जो ज्ञान अर्जुन ।
वह ईश्वर मैं यह भान । होता है उसको ॥ ४ ॥

फिर द्वैत अद्वैतातीत । आत्मा हूं मैं एक विश्रांत ।
यह मान करके पार्थ । अनुभवना यह ॥ ५ ॥

जगनेपे जैसे अकेलापन । अपने आप जाता है अर्जुन ।
तब क्या होता है इसका ज्ञान । नहीं होता वैसे ॥ ६ ॥

देखते जब स्वर्ण भूषण । तब जान कर यह स्वर्ण ।
न गलाते ही वह भूषण । गलता है जैसे ॥ ७ ॥

लवण पिघल कर होता है नीर । तब रहता उसमें कुछ क्षार ।
वैसे ही फिर मिट जाता है क्षार । रहता उदक मात्र ॥ ८ ॥

समरस भक्तिकी अद्वयावस्थाका विवेचन—

वैसे ही मैं और वह ऐसे जो होता । स्वानंदानुभव समरसमें पार्था ।
सान कर जब एक रूप हो जाता । मुझमें सब ॥ ९ ॥

तब वह यह ऐसा बोल मिटता । कह तू तब मैं किसके लिये होता ।
ऐसे मैं वह यह सब ही मिटता । स्वरूपमें ही ॥ १२१० ॥

कर्पूर जब जल चुकता । अग्नि भी तब समाप्त होता ।
तब उभयातीत रहता । आकाश मात्र ॥ ११ ॥

या एकमेंसे जब एक जाता । केवल शून्य मात्र है रहता ।
तब है नहीं सब ही मिट जाता । शेष रहता मैं ही ॥ १२ ॥

वहां ब्रह्म आत्मा ईश । मिटती है ऐसी भाष ।
अबोलका अवकाश । वह भी नहीं होता ॥ १३ ॥

न बोलना भी है बोलकर । वह भी बोलके मुह भर ।
जानना न जानना भूलकर । जाना जानना जो ॥ १४ ॥

बोधसे जहां बोध जानना । आनंदसे आनंद भोगना ।
सुखसे सुख अनुभवना । होता है केवल ॥ १५ ॥

वहां जुडता लाभ लाभमें । मिलती है प्रभा प्रभामें ।
डूब कर खड़ा विस्मयमें । स्वयं विस्मय ॥ १६ ॥

साम्य हुवा है वहां समसे । विश्राम हुवा है विश्रांतिसे ।
अनुभव पगलाया है जैसे । अनुभूतिमें ही ॥ १७ ॥

अथवा मानो ऐसे निखिल । मैं पनका मिलता है फल ।
सेवन करती लता वेल । क्रमयोगका वह ॥ १८ ॥

क्रमयोगी चक्रवर्तिके मुकुट पर । रहता है चिद्घन मैं ऐसा अलंकार ।
अपनी जीव-दशा मुझे अर्पण कर । पाया उपलक्ष्यमें ॥ १९ ॥

क्रमयोग प्रासादका । कलश जो है मोक्षका ।
उसके अवकाशका । हुवा जो विस्तार ॥ १२२० ॥

इस संसारके अरण्यमें । क्रमयोगकी इस राहमें ।
जुड जाता मदैक्य ग्राममें । चलने पर जो ॥ २१ ॥

अथवा क्रमयोग ओघ । मिलके भक्त-चित्त गंगौघ ।
पाया स्वानंदोदधि सवेग । मद्रूपका ॥ २२ ॥

यहां तक जो सुवर्म । क्रमयोगकी महिमा ।
तुझसे कहते हम । बार बार ॥ २३ ॥

देश काल और पदार्थ । साधके मुझे पाना पार्थ ।
ऐसा नहीं मैं हूं समस्त । सबका हूं सर्वस्व ॥ २४ ॥

इसलिये है मदर्थ । न करना कुछ पार्थ ।
मिलता हूं मैं सतत । इस उपायसे ॥ २५ ॥

गीताकी महत्ताका कथन—

एक शिष्य एक गुरु । रूढ यह व्यवहार ।
यह मत्प्राप्ति प्रकार । जाननेमें ॥ २६ ॥

वसुधाके उदरमें अर्जुन । रखा रहता है सिद्ध निधान ।
या अग्निका काठ दूधका स्तन । स्थान है जैसे ॥ २७ ॥

स्वभाव सिद्ध ही यह होता । किंतु उपायसे ही मिलता ।
सिद्ध जो होता वही मिलता । वैसा ही मैं ॥ २८ ॥

फल कहने पर क्या उपाय । कहता है यहां श्रीकृष्णराय ।
इसको कहनेका अभिप्राय । यहां है ऐसे ॥ २९ ॥

गीतार्थकी है श्रेष्ठता । मोक्षोपायही है पूर्णता ।
न अन्य शास्त्रसा होता । प्रमाणसिद्ध ॥ १२३० ॥

वायु जैसे बादल हठाता । सूर्यको वह नहीं बनाता ।
या हाथ जलकुंबी हठाता । न बनाता नीर ॥ ३१ ॥

आत्म-दर्शनके आड सकल । रहता है जो अविद्याका मल ।
नाशते हैं शास्त्र वह निर्मल । तब मैं प्रकाशता ॥ ३२ ॥

इसीलिये जो सभी शास्त्र । अविद्या नाशके हैं पात्र ।
किंतु नहीं है वे स्वतंत्र । आत्म-बोधमें ॥ ३३ ॥

जहां तक अध्यातम शास्त्रकी बात । उसकी सचाईका प्रश्न निश्चित ।
आता है तब अंतिम यह गीता । शास्त्र है श्रेष्ठ ॥ ३४ ॥

प्राची जैसे सूर्यसे विभूषित । करती दिशा सतेज सतत ।
वैसे शास्त्रेश्वर गीता सनाथ । करती शास्त्रोंको ॥ ३५ ॥

बोले हैं ऐसे ये शास्त्रेश्वर । पीछे ही उपाय सविस्तर ।
जिससे हाथसे ले उठाकर । आत्मतत्व ॥ ३६ ॥

किंतु प्रथम वचनको अर्जुन । न स्वीकारें यदि तत्व अर्जुन ।
इस विचारसे हो सकरुण । कहता है श्रीहरि ॥ ३७ ॥

वही प्रमेय इस अवसर । शिष्यको करनेके लिये स्थिर ।
कह रहा है फिर एक बार । यहां श्रीकृष्ण ॥ ३८ ॥

प्रसंग भी है गीता-ग्रंथ । मुक्तायका आया साथ ।
तभी है दिखाता साद्यंत । एकार्थत्व ॥ ३९ ॥

गीताग्रंथ मध्य-भागमें । नाना अधिकार प्रसंगमें ।
अनेक सिद्धांतके रूपमें । किया निरूपण ॥ १२४० ॥

वहां जो है सब सिद्धांत । इस शास्त्रमें हैं प्रस्तुत ।
परंपरासे हो अज्ञात । मानेगा कोई ॥ ४१ ॥

उस महासिद्धांतके अंतर्गत । आ गये हैं अन्य अनेक सिद्धांत ।
उन सबके साथ ग्रंथ समाप्त । करता है श्रीहरि ॥ ४२ ॥

अविद्या-नाशका है स्थल । जिससे है मोक्ष प्राप्तिका फल ।
इन दोनों विषयोंका केवल । साधन है ज्ञान ॥ ४३ ॥

इतने ही हैं जो नाना प्रकार । कहे हैं ग्रंथ विस्तार कर ।
उसीको अल्पमें चक्रधर । कहता है अब ॥ ४४ ॥

तभी साध्य प्राप्त होने पर । साधनाका विवेचन कर ।
कहता कर ग्रंथ विस्तार । इसी भावसे ॥ ४५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

गीता साधनाका सारांशमें पुनःकथन—

कहता फिर हे सुभट । क्रमयोगी वह स-निष्ठ ।
मैं होके करता प्रविष्ट । मेरे ही रूपमें ॥ ४६ ॥

स्वकर्मोंके सुमनोंसे । मेरी पूजा करनेसे ।
पाता प्रसाद रूपसे । ज्ञान-निष्ठाको ॥ ४७ ॥

ज्ञान जब वह हाथ आता । भक्तिमें है उल्लास भरता ।
इससे फिर है सुख पाता । समरस होके ॥ ४८ ॥

करता जो विश्व-प्रकाशन । आत्मा जो वह मैं हूं अर्जुन ।
वह आत्मा सर्वव्यापी मान । अनुकरण करता ॥ ४९ ॥

तजके अपनी कठोरता । नून जैसे पानीमें घुलता ।
या चलके वायु है समाता । आकाशमें जैसे ॥ १२५० ॥

वैसे ही काया वाचा मनसे । मेरा आश्रय करता उसे ।
निषिद्ध कर्म भी भूलसे । करता तब ॥ ५१ ॥

आनेसे जैसे गंगाका संबंध । गंदा नाला होता है महानद ।
वैसे ही होने पर मेरा बोध । न रहता शुभाशुभ ॥ ५२ ॥

मेरे आश्रयमें नित्य करके सब कर्मको ।
पाता मेरी कृपासे ही मेरा ही पद शाश्वत ॥ ६६ ॥

तथा घूरा अथवा चंदन । नहीं करता अग्नि भक्षण ।
तब तक रहते हैं भिन्न । इस प्रकार ॥ ५३ ॥

पांच अथवा षोडश । तब तक होता कस ।
जब तक है पारस । नहीं छूता ॥ ५४ ॥

ऐसे हैं यह शुभाशुभ । रहता है भरतर्षभ ।
जब तक न होता लाभ । मेरे प्रकाशका ॥ ५५ ॥

अजी ! रात्र और दिव । तब तक द्वैत भाव ।
जब तक है अभाव । सूर्यका जहां ॥ ५६ ॥

इसीलिये होते ही मेरी भेट । उसके सभी कर्म हैं सुभट ।
मिट कर मिल जाता है पाट । मेरे सायुज्यका ॥ ५७ ॥

देश काल तथा स्वभाव । जिसका नाश न संभव ।
ऐसा पद वह पांडव । पाता अविनाशी ॥ ५८ ॥

अथवा मानो पांडुसुता । आत्माकी मेरी प्रसन्नता ।
अलंकार उसे मिलता । इससे बड़ा क्या लाभ ॥ ५९ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

समर्पणका रहस्य—

इसीलिये हे अर्जुन । सभी कर्म समर्पण ।
कर तू अपने जान । मेरे स्वरूपमें ॥ १२६० ॥

वह समर्पण धनुर्धर । कृत्रिम रूपसे तू न कर ।
आत्म-विवेकसे धरकर । कर तू चित्तवृत्तिको ॥ ६१ ॥

फिर वह विवेक बल । सभी कर्ममें जो निराला ।
मेरे रूपमें ही निर्मल । देखेगा तू ॥ ६२ ॥

मुझ मत्पर वृत्तीसे सौंपके कर्म जो सब ।
समत्वमें स्थिरतासे मुझमें चित्त तू रख ॥ ५७ ॥

तथा कर्मका जन्म-स्थान । मेरी प्रकृति जो अर्जुन ।
करेगा उसका दर्शन । अपनेसे दूर ॥ ६३ ॥

अपनेसे प्रकृति भिन्न । नहीं रहती है अर्जुन ।
करेगा उसका दर्शन । अपनेसे दूर ॥ ६४ ॥

इससे प्रकृतिका नाश । होकरके कर्म-संन्यास ।
उत्पन्न होगा अनायास । सकारण ॥ ६५ ॥

मिटकर सब कर्म-जात । आत्मा मात्र मैं रहता पार्थ ।
उसमें बुद्धिको तू व्रतस्थ । करके रख ॥ ६६ ॥

बुद्धि है जो अनन्ययोगसे । मुझमें पैठ जायेगी ऐसे ।
तब अन्य विषय त्यागसे । मुझेही भजेगा चित्त ॥ ६७ ॥

तज कर विषय जात । चित्त हुवा मुझमें रत ।
चिंतन करेगा सतत । मेरा ही वह ॥ ६८ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

इस सेवासे जब अभिन्न । भरेगा चित्त मुझसे जान ।
मेरा प्रसाद हुवा संपूर्ण । जान तू यह ॥ ६९ ॥

वह सकल दुःख धाम । भोगे जाते जो मृत्यु जन्म ।
दुर्गम वे सब सुगम । होंगे तुझे ॥ १२७० ॥

सूर्य- सहायका जो आश्रय । आंखोंको मिलता धनंजय ।
रहा क्या वहां तमका भय । कह तू मुझे ॥ ७१ ॥

वैसे ही है प्रसाद मेरा अर्जुन । करता जीवदशा उपमर्दन ।
उसे कैसे संसारका हौवा जान । डरायेगा कभी ॥ ७२ ॥

इसीलिये हे पार्थ । संसारका जो गर्त ।
तरेगा तू निश्चित । मेरी कृपासे ॥ ७३ ॥

सभी दुःख तभी मेरी कृपासे तर जायगा ।
नाश निश्चित पायगा न मान यह मानसे ॥ ५८ ॥

अथवा तू साभिमान । मेरा सब ये कथन ।
रखेगा सीमापे जान । कान मनकी ॥ ७४ ॥

यदि तू है नित्य मुक्त अव्यय । व्यर्थ होकर वह धनंजय ।
देहाहंकारका आघात भय । होगा तुझको ॥ ७५ ॥

जिस देह संबंधमें पार्थ । प्रति पगमें है आत्मघात ।
भोगनेमें होगा सदा श्रांत । शांति न मिलेगी ॥ ७६ ॥

इस बोलका तू धनुर्धर । नहीं करेगा यदि विचार ।
मृत्यु न होके भी भयंकर । पायेगा मृत्यु ॥ ७७ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

पथ्य-द्वेषी पोसता है ज्वर । या दीप-द्वेषीको अंधःकार ।
विवेक-द्वेषसे अहंकार । पोसता वैसे ॥ ७८ ॥

स्वदेहका नाम अर्जुन । पर देहका नाम स्वजन ।
संग्रामका नाम मलिन । पापाचार ॥ ७९ ॥

ऐसी अपनी मति अर्जुन । तीनोंको नाम देकर तीन ।
मैं न लडूंगा ऐसा वचन । कहती है जो ॥ १२८० ॥
मनमें ऐसा निश्चय एक । करेगा यदि तू आत्यंतिक ।
कार्य करेगा सो नैसर्गिक । स्वभाव तेरा ॥ ८१ ॥

तथा मैं अर्जुन ये आत्मिक । इनको मारना है पातक ।
यह है जान भ्रम-मूलक । है तत्वहीन ॥ ८२ ॥

पहले होता है तू लडाका । तथा फिर शस्त्र उठानेका ।
फिर कहता न लड़नेका । विचार अपना ॥ ८३ ॥

इसीलिये नहीं जूझना । व्यर्थ है तेरा जो कहना ।
लौकिक दृष्टिसे भी जान । तो भी व्यर्थ ॥ ८४ ॥

कहेगा न लडूंगा मैं वश हो अहंकारके ।
यह निश्चय है पार्थ करायेगा स्वभाव जो ॥ ५९ ॥

तब जो तू मैं न लडूंगा । ऐसे ही निश्चय करेगा ।
तो भी वह व्यर्थ करेगा । स्वभाव तेरा ॥ ८५ ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

सभी स्वभावके आधीन हैं—

प्राचीकी ओर जो प्रवाह बहता । उसमें उलटा ही कोई तैरता ।
उसका हठ अवश्य ही रहता । पानी खींचता ओघमेंही ॥ ८६ ॥

या कहेगा चावलका दाना । न उगूंगा मैं चावल बना ।
उसका स्वभाव बदलना । शक्य है क्या ॥ ८७ ॥

वैसे ही क्षात्र-संस्कार सिद्ध । प्रकृतिने बनाया प्रबुद्ध ।
कहता युद्ध मुझे निषिद्ध । करायेगा वही ॥ ८८ ॥

शौर्य तेज और दक्षता । इत्यादिक जो पांडुसुता ।
दिये हैं गुणोंको जन्मता । प्रकृतिने तुझे ॥ ८९ ॥

तब क्षात्र-गुणानुरूप । युद्ध करना मान पाप ।
युद्धसे रहना निर्लेप । तुझे असंभव ॥ १२९० ॥

क्षात्र-गुणोंसे तू अर्जुन । बंधा है स्वभावसे जान ।
क्षात्र-प्रवाहमें पतन । होगा ही तेरा ॥ ९१ ॥

अपना जो यह जन्म-मूल । न विचार कर तू केवल ।
न लडेगा इसपे अचल । व्रत लेगा ॥ ९२ ॥

जैसे बांध कर हाथ पाय । किसीको रथमें डाला जाय ।
न चलके भी वह निश्चय । पहुंचेगा दिगंतमें ॥ ९३ ॥

कुछ भी न करूंगा मैं ऐसे । कह कर अपनी ओरसे ।
रहेगा तू यदि निश्चयसे । लड़ेगा ही ॥ ९४ ॥

अपने ही स्वकर्मोंसे बंधा है तू स्वभाविक ।
टालना चाहता जो है करेगा तू अवश्यश ही ॥ ६० ॥

विराट राज-पुत्र उत्तर । भागा रण-भूमि छोड़कर ।
तब लड़ा तू ही धनुर्धर । इसी स्वभावसे ॥ ९५ ॥

महावीर जो ग्यारह अक्षोहिणी । हराये अकेलेने कोदंडपाणी ।
वही स्वभाव यहां तुझे सेनानी । बनायेगा निश्चित ॥ ९६ ॥

रोगीको कभी क्या रोग भाता । या दरिद्रीको दारिद्र्य भाता ।
किंतु जो प्रारब्ध है भोगाता । अति बलवान ॥ ९७ ॥

वह अदृष्ट जो है भिन्न । कराता है ईश्वराधीन ।
वह ईश भी है अर्जुन । हृदयमें तेरे ॥ ९८ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मयया ॥ ६१ ॥

सबमें व्याप्त ईश्वर अपनी मायासे विश्व चलाता रहता है—

अंतरमें सब भूतोंके । महा नभमें हृदयके ।
सहस्रकर चिद्वृत्तिके । होता है उदय ॥ ९९ ॥

अवस्थात्रय तीनों लोक । प्रकाश करके अशेष ।
अन्यथा दृष्टिके पांथिक । जगाते हैं जो ॥ १३०० ॥

वेद्योदकके सरोवरमें । खिले जो विषय कमलमें ।
जीव षट्पदसे जीवनमें ।. चराता है वह ॥ १ ॥

रहने दे रूपक जो ईश्वर । सकल भूतोंका है अहंकार ।
अपने सिरपे ले निरंतर । प्रकटता है ॥ २ ॥

अपनी मायाका जो आड वस्त्र । लगाके अकेला चलता सूत्र ।
बाद नटते रहते चित्र । चौरासी लाख ॥ ३ ॥

ब्रह्मादिसे कीटांत । अशेष भूतजात ।
देख योग्यता पार्थ । दिलाता देह ॥ ४ ॥

रहा है सब भूतोंके हृदयमें परमेश्वर ।
मायासे ही चलाता जो यंत्रोंपर चढा कर ॥ ६१ ॥

तब जो शरीरका आकार । सम्मुख आया है देखकर ।
तदनुरूप ही ओढ कर । कहता मैं यह ॥ ५ ॥

सूतसे सूत लपेटा जाता । या घाससे घास बांधा जाता ।
जल बिंबको आप मानता । बालक जैसे ॥ ६ ॥

उसी भांति देहका आकार । आप ही दूसरा मानकर ।
देहको आत्मा समझकर । होता प्रकट ॥ ७ ॥

ऐसे हैं ये शरीराकार । यंत्रमें भूत धनुर्धर ।
डालकर हिलाता डोर । प्रारब्धका जो ॥ ८ ॥

उसका वहां जो कर्मसूत्र । बांधकर रखा है स्वतंत्र ।
वह उसके गतिका पात्र । होता है सदा ॥ ९ ॥

क्या कहूं मैं तुझे धनुर्धर । उडाता रहता निरंतर ।
गगनमें तिनके समीर । वैसे भूतोंको है यह ॥ १३१० ॥

जैसे चुंबकके साथ । भ्रमता है लोह नित ।
वैसे चलते हैं भूत । ईश्वराज्ञासे ॥ ११ ॥

जैसे अपनी चेष्टा पार्थ । करते समुद्रादि नित ।
चंद्र-सांनिध्यके साथ । उसी प्रकार ॥ १२ ॥

उससे सागर उछलता । सोमकांतमणि पसीजता ।
कुमुद चकोरका मिटता । सभी संकोच ॥ १३ ॥

वैसे बीज प्रकृति वश । अनेक भूत एक ईश ।
चलता रहता अशेष । तेरे हृदयमें ॥ १४ ॥

अर्जुनपन नहीं लेकर । 'मैं' ऐसे स्फुरता निरंतर ।
वही है तत्वता धनुर्धर । उसका रूप ॥ १५ ॥

इसीलिये करना प्रवृत्त । जान तू प्रवृत्तिको सतत ।
निश्चित ही लड़ायेगी पार्थ । तुझको यह ॥ १६ ॥

इसीलिये स्वामी है यह ईश्वर । उसीकी चलती है प्रकृति पर ।
वह करा लेती सब धनुर्धर । इंद्रियोंसे कार्य ॥ १७ ॥

करना या न करना पार्थ । प्रकृतिके सिरपे दे नित ।
वह प्रकृति है आधीनस्थ । जिस हृदयस्थके ॥ १८ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

ईश्वर शरणता ही शांतिका एकमेव साधन है—

अहं वाचा तन मन । देकर जा तू शरण ।
जाती है गंगा अर्जुन । सागरमें जैसे ॥ १९ ॥

फिर उसके प्रसादसे । सर्वोपशांति-प्रमदासे ।
कांत होकर स्वानंदसे । रमेगा स्वरूपमें ॥ १३२० ॥

उत्पत्ति होती जहांसे उत्पन्न । विश्रांतिका जहां विश्रांति-स्थान ।
अनुभूति बोध लेती अर्जुन । अनुभवका जहां ॥ २१ ॥

उस निजात्मपदका राय । होकर रहेगा तू अव्यय ।
सुनता है यहां धनंजय । कहता श्रीहरि ॥ २२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

गीता नामसे यह विख्यात । सभी वाङ्मयका जो मथित ।
जिससे होता है हस्तगत । आत्म-रत्न ॥ २३ ॥

वेदांतमें इसको ज्ञान । ऐसा नाम दिया महान ।
इससे सदा यशोगान । हुवा वेदांतका ॥ २४ ॥

बुद्ध्यादिक जो ज्ञानवान । इसीसे है प्रकाशमान ।
"मैं" सर्व द्रष्टाका दर्शन । होता है इससे ॥ २५ ॥

उसीकी ओटमें जा तू पायेगा सर्व भावसे ।
कृपासे उसकी श्रेष्ठ शांतिका स्थान शाश्वत ॥ ६२ ॥
ऐसा जो गूढसे गूढ कहा ज्ञान तुझे अब ।
सोचके यह सारा तू स्वेच्छासे योग्य जो कर ॥ ६३ ॥

यह है वह आत्मज्ञान । मेरा गुह्यसे गुह्य धन ।
तुझसे कैसे मैं वंचन । करूं सखासे ॥ २६ ॥

इस कारणसे है अर्जुन । दिया अपना गुप्त निधान ।
तुझसे होकर सकरुण । हमने यहां ॥ २७ ॥

ममतासे भूलकर पार्थ । माता बोलती अ-यथार्थ ।
तुझसे भी हम इस अर्थ । बोलते हैं सदा ॥ २८ ॥

जैसे आकाशको भी छानना । तथा अमृतको भी छीलना ।
अथवा दियासे कराना । दिव्य जैसे ॥ २९ ॥

जिसका शरीर है प्रकाशन । करता पातालका अणु जान ।
उस सूर्यकी आंखोंमें अंजन । लगाना कैसे ॥ १३३० ॥

ऐसे मैं सर्वज्ञ अर्जुन । विचारसे कर मंथन ।
सबसे यह भला जान । कहा तुझसे ॥ ३१ ॥

तू ही अब इस पर । कर अपना निर्धार ।
निर्धारके बाद फिर । कर जो योग्य ॥ ३२ ॥

यह सुनकर धनंजय । स्वस्थ हो रहा उस समय ।
तब कहे देव हो सदय । भला तू अवंचक ॥ ३३ ॥

भोजनमें बैठा क्षुधित । कहकर हुवा मैं तृप्त ।
होता आप क्षुधा पीडित । तथा मिथ्याचारी ॥ ३४ ॥

वैसे मिला सर्वज्ञ श्रीगुरु । करानेमें जो आत्म-निर्धार ।
नहीं पूछता मान आभार । मनमें उसके ॥ ३५ ॥

तब तो अपनेको ही फंसाता । तथा अपनी ही वंचना करता
और अपने आप है दूर जाता । सत्य-स्वरूपसे ॥ ३६ ॥

तेरे मौनमें जो है अर्जुन । भेद जानता है मेरा मन ।
सुनना है फिर वह ज्ञान । अल्पमें एक बार ॥ ३७ ॥

कहता तब वह धनुर्धर । जानता देव तू मेरा अंतर ।
ऐसे कौन है जानेगा दूसरा । मेरा हृदय ॥ ३८ ॥

यह ज्ञेय जो यहां संपूर्ण । इसका ज्ञाता तू एक जान ।
सूर्य ऐसे सबका वर्णन । करना क्या फिर ॥ ३९ ॥

सुनके यह श्रीकृष्ण । बोलता है तू अर्जुन ।
है क्या हमारा वर्णन । यह अल्प ॥ १३४० ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अनन्य भक्तसे कहा गया हृदयका गूढ—

एकाग्र कर संपूर्ण ध्यान । फिरसे यह बात तू सुन ।
मेरा वचन यह अर्जुन । जो अति निर्मल ॥ ४१ ॥

वाच्य है इसीलिये बोलना । या श्रव्य है इसीलिये सुनना ।
ऐसे नहीं तो तेरा अर्जुना । भला है भाग्य ॥ ४२ ॥

नहीं होती है कभी दृष्टि प्रेमार्द्र । पिल्लोंको कूर्माकी दृष्टि है प्रेमार्द्र ।
वैसे ही होता आकाश भी प्रेमार्द्र । चातकके लिये ॥ ४३ ॥

जहां जो व्यवहार नहीं होता । उसका फल भी तब मिलता ।
जब दैव अनुकूल हो जाता । उस समय ॥ ४४ ॥

वैसे जो द्वैतका आना जाना । रोकके ऐक्य-घरमें जाना ।
तथा वहांका सुख भोगना । जो है रहस्य ॥ ४५ ॥

तथा जो निरुपचार प्रेम । विषय होता है प्रियोत्तम ।
दूसरा नहीं होकर आत्म । जानना यह ॥ ४६ ॥

देखनेके लिये दर्पण । पोंछना स्वच्छ जो अर्जुन ।
अपने लिये होता जान । उसके लिये नहीं ॥ ४७ ॥

तेरे लिये अब मैं पार्थ । बोलता अपने ही साथ ।
मैं तू यह भेद यथार्थ । नहीं हममें ॥ ४८ ॥

गूढ जो सब गूढोंका फिरसे वाक्य उत्तम ।
हितार्थ कहता तेरे होगा तू सुन मत्प्रिय ॥ ६४ ॥

इसीलिये यह हृदयका गुह्य । कहता मैं जीवसे ही धनंजय ।
अनन्यगति भक्तसे कैसे सह्य । रखना यह गूढ ॥ ४९ ॥

जलको सर्वस्व देता अपना । नून नहीं रहता तब भिन्न ।
तथा देनेमें सर्वस्व अ न । लजाता भी नहीं ॥ १३५० ॥

वैसे तू मुझमें अपना । न रखता द्वैत अर्जुन ।
तब तुझसे है छिपाना । रहा क्या गूढ ॥ ५१ ॥

इसीलिये गूढ जो संपूर्ण । खुलता है जिससे अर्जुन ।
यह शुद्ध गौप्य जो वचन । सुन तू अब ॥ ५२ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

तब तू बाह्य और अंतर । अपने अन्य सभी व्यापार ।
मुझ व्यापकके धनुर्धर । कर विषय ॥ ५३ ॥

सर्वेंद्रिय मन वचन प्राणसे मुझमें लीन हो—

अथवा सर्वांगसे जैसे । वायु मिला है आकाशसे ।
सब कर्ममें तू भी वैसे । मुझसे मिल ॥ ५४ ॥

मानो तू अपना मन । कर मेरा ही सदन ।
मेरे श्रवणसे कान । भरे निरंतर ॥ ५५ ॥

आत्म-ज्ञानमें शुद्ध सिद्ध । रहते जो संत प्रसिद्ध ।
वहां हो तेरी दृष्टि बद्ध । कामुकोंकी सी ॥ ५६ ॥

सब विश्वका मैं वसतिस्थान । उस मेरे नाम जो अर्जुन ।
उसको अंतःकरणमें स्थान । दे तू वाचासे ॥ ५७ ॥

हाथोंका जो है करना । तथा पैरोंका चलना ।
वह ही मेरे कारण । ऐसे कर तू ॥ ५८ ॥

प्रेमसे करके ध्यान भज तू पूज तू मुझे ।
होगा तू मुझमें लीन प्रिय जो जान सत्य है ॥ ६५ ॥

अपना अथवा पराया । उपकारमें धनंजय ।
कर तू योग्य उपाय । हो मेरा याज्ञिक ॥ ५९ ॥

एकेक क्या है यह सिखाना । अपनेमें पूजा भाव लाना ।
विश्व मद्रूप मान करना । पूजा सुखसे ॥ १३६० ॥

तब सब भूत-द्वेष मिटकर । करेगा मुझ एकको नमस्कार ।
इससे मेरा आश्रय धनुर्धर । पायेगा निश्चित ॥ ६१ ॥

तब इस विश्वमें भी फिर । तीसरेकी बात मिटकर ।
मेरा तेरा एकांत धनुर्धर । रहेगा केवल ॥ ६२ ॥

तब सभी अवस्थामें । मैं तुझमें तू मुझमें ।
भोग करेगा मोदमें । बढेगा सुख ॥ ६३ ॥

तब यहां जो प्रतिबंध करना । तीसरा जग सब मिट ही जाना ।
फिर है मेरा ही अनुभव आना । शेष जो मैं हूं ॥ ६४ ॥

जैसे जलकी जो प्रतिभा । जल नाशके होगी बिंब ।
होनेमें रहता विलंब । किसका वहां ॥ ६५ ॥

पवन तथा अंबर । या कल्लोल औ' सागर ।
मिलनेमें धनुर्धर । रोक है कैसे ॥ ६६ ॥

वैसे तू और मैं हम । दिखाते हैं देह-धर्म ।
फिर इसका विराम । मुझमें ही है ॥ ६७ ॥

इस मेरे बोलनेमें । शंका न कर मनमें ।
अन्यथा नहीं इसमें । तेरी सौगंध ॥ ६८ ॥

जैसे तेरी सौगंध लेना । मानो है अपनी ही लेना ।
प्रीति जातिको है लजाना । आता ही नहीं ॥ ६९ ॥

वेद कहता है निष्प्रपंच । जिससे विश्वाभास है सच ।
उसकी आज्ञाका नट-नाच । कालको जीतना ॥ १३७० ॥

यदि मैं देख सत्य-संकल्प । तथा विश्व-हितकर्ता बाप ।
तब मैं सौगंधका आक्षेप । करता ही क्यों ॥ ७१ ॥

किंतु है तेरे ही कारण । देवत्व छोड़ा है अर्जुन ।
तथा रहा हूं मैं अपूर्ण । और पूर्ण हुवा तू ॥ ७२ ॥

राजा जैसे अपने कार्यार्थ । अपनी सौगंध देता पार्थ ।
वैसे मैं अपनी शपथ । लेता हूं अब ॥ ७३ ॥

इस पर कहता है पार्थ । देव ऐसे न बोल बहुत ।
तेरे नामसे होते समस्त । कार्य हमारे ॥ ७४ ॥

इतने परभी कहने बैठता । कहनेमें सौगंध भी तू दिलाता ।
इसभांति तेरा विनोद अनंता । असीम है देव ॥ ७५ ॥

जैसे कमलका विकास । करना रविका एकांश ।
किंतु देता पूर्ण प्रकाश । नित्य ही वह ॥ ७६ ॥

पृथ्वीको शांत करके सागर । भरते जितना वर्षता नीर ।
किंतु दिखा करके शार्ङ्गधर । बहाना चातकका ॥ ७७ ॥

इसभांति है यह तेरा औदार्य । मुझे निमित्त बनाके देवराय ।
विश्व-हितार्थ देता तू दयामय । यह ज्ञान-दान ॥ ७८ ॥

देव कहते रहने दे अर्जुन । न करना ऐसे हमारा वर्णन ।
इस उपायसे पायेगा तू जान । मत्स्वरूपको ही ॥ ७९ ॥

सैंधव जब सिंधुमें पड़ता । उसी क्षण पिघलने लगता ।
उसको कौन कारण रहता । अलग रहनेका ॥ १३८० ॥

सर्वत्र भजनेसे मुझे ऐसे । तत्वतः सब ही मैं हो जानेसे ।
अहंता सब नष्ट हो जानेसे । होता है मद्रूप ॥ ८१ ॥

इस भांति तुझे कर्मसे । मद्रूप होने तक ऐसे ।
साधना प्रकार जो ऐसे । बताये सारे ॥ ८२ ॥

कर्म सारे मुझको अर्जुन । करनेसे सदा समर्पण ।
मिलेगी मेरी वृत्ति प्रसन्न । तुझको सदैव ॥ ८३ ॥

मिलनेसे मेरा यह प्रसाद । तुझको होगा मेरा ज्ञान सिद्ध ।
तब समरस होगा विशुद्ध । मद्रूपमें तू ॥ ८४ ॥

ऐसी स्थितिमें तुझको तब । न रहेगा साध्य साधनें सब ।
करनेका रहता क्या तब । कह तू मुझको ॥ ८५ ॥

अपने सभी कर्मोंको अर्जुन । करनेसे मुझे सदा अर्पण ।
मिली है तुझे यह प्रसन्न । वृत्ति मेरी ॥ ८६ ॥

इसी लिये यह मेरा प्रसाद । तोडकर युद्धका प्रतिबंध ।
देता है तुझे यहां आत्मबोध । ऐसे पगलाके मैं ॥ ८७ ॥

इससे स-प्रपंच अज्ञान जाता । एक ही एक मैं दीखता रहता ।
विविध रूपसे तुझे यहां पार्था । यह है गीता-तत्व ॥ ८८ ॥

तुझको अब यह मेरा अपना । विविध रूपसे दिया है जो ज्ञान ।
जिससे तजेगा तू सब अज्ञान। मूल जो धर्माधर्मका ॥ ८९ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

शरणागतिका विवेचन—

आशासे जैसे दुःख जन्मता । निंदासे दुरित प्रसवता ।
वैसे जन्म लेती है दीनता । दुर्भाग्यसे ही ॥ १३९० ॥

वैसे स्वर्ग-नरक सूचक । जन्मता अज्ञान धर्मादिक ।
तभी तू वह कर निःशेष । ज्ञानसे सदैव ॥ ९१ ॥

करमें डोर उठाकर । छोड़ दे वह सर्पाकार ।
या निद्रा-त्यागसे संसार-- । स्वप्नका वैसे ॥ ९२ ॥

अथवा जाने पर कामला । जाता है चंद्र प्रकाश पीला ।
व्याधि त्यागसे कडुवा भला । जाता है मुखका ॥ ९३ ॥

अथवा दिवसका त्याग करनेसे । मिटता मृगजल अपने आपसे ।
अथवा है जैसे लकडीके त्यागसे । तजता अग्नि ॥ ९४ ॥

सारे ही छोडके धर्म मेरा आश्रय तू कर ।
जलाऊंगा सभी पाप तेरा मैं शोक ना कर ॥ ६६ ॥

वैसे धर्माधर्म जो सकल । दिखाता है अज्ञान है मूल ।
तजके वह त्यागो सकल । धर्मजात ॥ ९५ ॥

मिट जाता जब अज्ञान । सहज रहता मैं ही जान ।
जानेसे जैसे स-नींद स्वप्न । रहता है आप ॥ ९६ ॥

वैसे मैं एकके बिन नहीं । भिन्नाभिन्न कुछ भी कहीं ।
सोऽहं-बोधसे हो उसमें ही । अनन्य सदैव ॥ ९७ ॥

किंतु है उनसे भेद बिन । मेरा ही जानना एकपन ।
उसका ही नाम है शरण । आना मेरी ॥ ९८ ॥

जैसे घटका होनेसे नाश । गगनमें गगन प्रवेश ।
इस भांति होता समरस । आनेसे शरण ॥ ९९ ॥

स्वर्ण-मणि जैसे स्वर्णमें । या कल्लोल जैसे पानीमें ।
वैसे अर्जुन तू मुझमें । पा ले आश्रय ॥ १४०० ॥

भिन्न अस्तित्व रखकर शरणागतिका विवेचन—

अथवा समुद्रके उदरमें जैसे । वडवानल आश्रय पाता है वैसे ।
सिंधुको वह जलाके सुखाता वैसे । तज दे वह ॥ १ ॥

मेरे ही शरणमें आना । जीवत्वसे भिन्न रहना ।
निर्लज्ज है ऐसे बोलना । ऐसी वह प्रज्ञा ॥ २ ॥

सहज ही करता है धनुर्धर । कोई राजा जब दासीका स्वीकार ।
वह दासी भी समान स्तरपर । आती है वैसे ॥ ३ ॥

अजी ! विश्वेश्वर मैं भेटता । तथा जीव बंध न छूटता ।
ऐसी यह अमंगल वार्ता । न सुनना कभी ॥ ४ ॥

मद्रूप हो मुझसे मिलना । भक्ति मेरी ऐसी ही करना ।
ऐसी भक्ति देता है जो ज्ञान । उसको कर प्राप्त ॥ ५ ॥

जिस मट्ठेसे निकाला नवनीत । फिरसे उसीमें डाला वह पार्थ ।
फिर कभी उसमें नहीं मिलता । उसी प्रकार ॥ ६ ॥

लोहेपे जंग सहज चढ़ता । किंतु उसे जब परिस छूता ।
सुवर्णपे कभी नहीं चढ़ता । जंग अर्जुन ॥ ७ ॥

जाने दे काष्ठोंका कर मंथन । करने पर अग्निको उत्पन्न ।
उसी काष्ठमें कहो अग्नि कण । समाता क्या कभी ॥ ८ ॥

अभिन्न शरणागतिसे सभी मैं हो जाता हूँ—

ऐसे अद्वयत्वमें मुझ । शरण आनेसे है तुझ ।
धर्माधर्म जो है सहज । नहीं छूएंगे ॥ ९ ॥

कभी क्या कह तू दिनकर । देखता है क्या कहीं अंधार ।
जागृतिमें होगा क्या गोचर । कभी स्वप्न ॥ १४१० ॥

वैसे मुझमें होनेसे मिलन । मेरी सर्व-व्यापकतासे भिन्न ।
रहनेका क्या रहा कारण । कह तू मुझे ॥ ११ ॥

इसलिये उसकी नहीं । चिंता व्यर्थ करना कहीं ।
तेरे पाप पुण्यका मैं ही । बनूंगा सारा ॥ १२ ॥

जलमें गिरा हुवा लवण । सब ही जल होता अर्जुन ।
बनूंगा मैं अनन्य शरण । तुझको वैसे ॥ १३ ॥

वहां जो सभी बंधका कारण । पाप है मुझसे रहता भिन्न ।
मेरे बोधमें ही वह विलीन । होगा सारा ॥ १४ ॥

इतनेमें ही तू सहज । मुक्त हुवा है पार्थ आज ।
जान ले भली भांति मुझ । करूंगा मैं मुक्त ॥ १५ ॥

इसीलिये न रहा है अर्जुन । मनमें चिंताका कोई कारण ।
मुझ एकको मान तू शरण । आज ही सुमति ॥ १६ ॥

ऐसे सभी रूपसे जो सुंदर । तथा सभी दृष्टिसे जो चतुर ।
कहता है जो सर्व व्याप कर । रहता श्रीकृष्ण ॥ १७ ॥

फिर शाम-सुंदर स-कंकण । पसार कर स्व-बाहू दक्षिण ।
आलिंगन करता स्व-शरण । भक्त-राजको ॥ १८ ॥

भक्त और भगवानका सामरस्य—

नहीं पा करके जिसको । बगलमें मार बुद्धिको ।
वाचा लौट आई पीछेको । जिस स्थानसे ॥ १९ ॥

ऐसा है जो कुछ एक । वाणी बुद्धिको रोक ।
देनेमें किया है सुख । आलिंगन ॥ १४२० ॥

हृदयसे हुवा हृदय एक । हृदय हृदयमें सना नेक ।
द्वैत न भंगते किया है देख । अपनासा अर्जुनको ॥ २१ ॥

दीपसे दीप जलाया । ऐसा आलिंगन भया ।
द्वैत न तोड़ते किया । अपनासा पार्थ ॥ २२ ॥

तब आया सुखका पूर । पार्थमें वह भरपूर ।
बडे भी यहां डूबकर । गये प्रभु पूर्ण ॥ २३ ॥

सिंधुसे सिंधु मिलने आता । पानी उसमें दूना बढ़ता ।
उफानमें ओछा ही दीखता । तब आकाश ॥ २४ ॥

वैसे उन दोनोंका मिलन । यहां समेटे किसको कौन ।
किंतु यहां तब नारायण । ठूंसता विश्व ॥ २५ ॥

गीता वेदका भी मूल-सूत्र है—

ऐसे जो वेदका मूल-सूत्र । सर्वाधिकार एक पवित्र ।
श्रीकृष्णने तब गीताशास्त्र । किया प्रकट ॥ २६ ॥

वेदोंका मूल है कैसी गीता । ऐसे कोई मुझसे पूछता ।
तब जो मैं संबंध कहता । यह प्रसिद्ध ॥ २७ ॥

अजी बने जिसके निःश्वास । इससे बनी वेदोंकी रास ।
सत्य प्रसिद्ध बोलता खास । स्व-मुखसे यह ॥ २८ ॥

इसीलिये वेदोंका मूलभूत । गीता-तत्त्व कहना है उचित ।
अन्य भी एक यहां यथार्थ । उपपत्ति भिन्न ॥ २९ ॥

स्वरूपसे जो नहीं नाशता । विस्तार आपमें समा लेता ।
उसीको असीम कहा जाता । विश्वमें संपूर्ण ॥ १४३० ॥

वह कांड-त्रयात्मक । शब्दराशि जो अशेष ।
गीतामें है रहा सुख । बीजमें जैसे ॥ ३१ ॥

इसीलिये वेदका बीज । श्रीगीता ही है यह मुझ ।
लगा है वैसे भी सहज । लगता ही है ॥ ३२ ॥

जो है वेदके तीनों भाग । गीतामें उमडे हैं चांग ।
भूषण करनेसे सर्वांग । शोभता जैसे ॥ ३३ ॥

कर्मादिक जो उसके तीन । कांड हैं यहां किस स्थान ।
गीतामें है जो वे संपूर्ण । दिखाऊंगा अब ॥ ३४ ॥

गीता और वेदकी समानता—

गीताका जो पहला पर्व । शास्त्र-प्रवृत्तिका प्रस्ताव ।
दूजा सांख्य-शास्त्र सद्भाव । है प्रदर्शित ॥ ३५ ॥

मोक्ष-दानमें जो स्वतंत्र । ज्ञान प्रधान यह शास्त्र ।
इसीमें है यह सु-सूत्र । लिया हाथमें ॥ ३६ ॥

फिर हैं जो अज्ञानमें बद्ध । मोक्ष-पदमें चढ़ने सिद्ध ।
उन्हे साधनारंभ विशुद्ध । कहा तीसरेमें ॥ ३७ ॥

तथा जो देहाभिमानमें बद्ध । छोडकर काम्य-कर्म निषिद्ध ।
विहित कर्म करें अप्रमाद । कहा है यह ॥ ३८ ॥

सद्भावसे ऐसे कर्म करना । तीसरे अध्यायका है कहना ।
श्रीकृष्णका निर्णय जो जानना । कर्मकांड ॥ ३९ ॥

और वे ही नित्यादिक । अज्ञानका आवश्यक ।
आचरनेसे मोचक । होगा ऐसे ॥ १४४० ॥

ऐसी जब अपेक्षा होती । बद्धमें मुमुक्षुता आती ।
तब ब्रह्मार्पणत्व कृती । करना भी सिखाया ॥ ४१ ॥

जो काया वाचा मनसे । विहित हो सब ऐसे ।
वह ईश्वरोद्देश्यसे । करनेको कहा । ४२ ॥

कर्मयोगसे उपासना । ईश्वर-स्थानमें करना ।
श्रीहरिका यह कहना । चौथेके अंतमें ॥ ४३ ॥

वहांसे जो एकादशाध्याय । पूर्ण होने तक धनंजय ।
कर्मसे ईश-भजन कार्य । कहा है सारा ॥ ४४ ॥

इन आठ अध्यायोंमें है स्पष्ट । देवताकांड किया है निर्दिष्ट ।
शास्त्रोंमें कहे गये सभी पट । खोले हैं यहां ॥ ४५ ॥

तथा यही ईश्वर-प्रसादसे । मिलता श्रीगुरु-संप्रदायसे ।
सच्चा अपरिपक्व ज्ञान जिसे । प्रतीत किया जान ॥ ४६ ॥

वही अद्वेष्टादि श्लोकोंमें । तथा अमानित्वादिकमें ।
परिपक्व किया ज्ञानमें । बारहवाका अंत ॥ ४७ ॥

वह बारहवाका अध्याय प्रथम । तथा पंद्रहवा अध्याय अंतिम ।
ज्ञान-फल-पाक सिद्ध निरुपम । है निरूपण ॥ ४८ ॥

इसीलिये इन चारमें । ऊर्ध्व-मूलांत अध्यायमें ।
ज्ञान-कांड इस स्थानमें । कहा गया है ॥ ४९ ॥

एवं कांडत्रय निरूपण । करता है जो श्रुति-वचन ।
गीता पद रत्नोंके भूषण । पहनते यहां ॥ १४५० ॥

कहने पर ये कांडत्रयात्मक । श्रुति मोक्ष-फल जो है एक ।
प्राप्त करना है यह आवश्यक । कहा गरजकर ॥ ५१ ॥

उसीके साधन ज्ञानसे । वैर करते जो सदासे ।
अज्ञान वर्ग है जो उसे । कहा सोलहवेमें ॥ ५२ ॥

शास्त्रोंके यहां इसी साथीको । साथ ले जीतना है शत्रूको ।
ऐसा वह संदेश सबको । देता सत्रहवां ॥ ५३ ॥

इसभांति है पहलेसे । सत्रहवें तक जो ऐसे ।
बखाने हैं स्पष्ट-रूपसे । स आत्म-विश्वास ॥ ५४ ॥

यह अर्थ जात संपूर्ण । किया तात्पर्य अर्थ-पूर्ण ।
अष्टादशमें निरूपण । कलशाध्याय जो ॥ ५५ ॥

ऐसा वह सकल सांख्य सिंधु । श्रीमद्भगवद्गीताका प्रबंध ।
सर्व-ज्ञान औदार्य-रूप वेद । मूर्तिमान है यह ॥ ५६ ॥

वेदोंकी कृपणता और गीताकी उदारता—

मूलमें हैं वेद अति संपन्न । किंतु हैं जो उतने ही कृपण ।
कानमें लगे मात्र तीन वर्ण । अन्योंसे दूर ॥ ५७ ॥

यहां भव-व्यथामें जो ग्रस्त । स्त्री शूद्र आदि प्राणि हैं व्यस्त ।
उन्हे अवसर न दें स्वस्थ । बैठे हैं वेद ॥ ५८ ॥

पीछेका यह व्यंग देख कर । उसको करनेमें अब दूर ।
प्रकाशमें आया है वेद-सार । गीताके रूपमें ॥ ५९ ॥

अर्थसे मनमें प्रवेश कर । श्रवणसे कानमें भरकर ।
पठनार्थ मुखमें घर कर । रहती है जो ॥ १४६० ॥

गीताका पाठ जो जानता । उसके साथ जो रहता ।
गीता लिखकर उठता । पुस्तक रूपमें ॥ ६१ ॥

ऐसा ऐसा निमित्त कर । संसारके चौराहे पर ।
डालते हैं अपरंपार : अन्न छत्र वेद ॥ ६२ ॥

अंतरिक्षमें करने विहार । तथा बसने आ पृथ्वी पर ।
सर्व-दीप्तिके अन्य व्यवहार । चलते आकाशसे ॥ ६३ ॥

करते हैं जो गीता-तत्व सेवन । उनमें उत्तम अधम न मान ।
सबको कैवल्य-दान दे समान । विश्वको देती शांति ॥ ६४ ॥

पिछली निंदासे डरकर । वेद बैठे गीताके अंदर ।
अब पाते हैं कीर्ति सुंदर । गीतासे दिगंत ॥ ६५ ॥

इसीलिये वेदोंकी सुसेव्यता । वह जो यहां मूर्ति रूप है गीता ।
पार्थसे यहां श्रीकृष्ण कहता । उपदेशरूप ॥ ६६ ॥

बछियाके निमित्त जो क्षीर । मिलता है वह पीता घर ।
वैसे करता जगदुद्धार । पार्थके निमित्त ॥ ६७ ॥

करके चातकका निमित्त । दौडते मेघ पानीके साथ ।
तथा करते विश्वको शांत । उसी प्रकार ॥ ६८ ॥

अथवा अनन्य गति जो कमल । उसके लिये है सूर्य यथा काल ।
उदय होकर देता है सकल । सुख विश्वको ॥ ६९ ॥

वैसे अर्जुनको कर कारण । गीता प्रकाशित कर श्रीकृष्ण ।
दूर किया भार जन्म मरण । इस संसारका ॥ १४७० ॥

शास्त्र-रत्नोंकी दीप्ति सकल । तीनों लोकमें कर उज्ज्वल ।
कृष्ण-मुखाकाशमें निर्मल । शोभता गीता-सूर्य ॥ ७१ ॥

पित्र-कुल किया जो पवित्र । पार्थ इस ज्ञानका हो पात्र ।
जिसने किया गीता स्वतंत्र । विश्वका घर ॥ ७२ ॥

द्वैत स्थितिमें आकर गुरु-शिष्य संवाद—

फिर वह जगद्गुरु श्रीकृष्ण । पार्थका जो अद्वय मिलन ।
समेट लेता है उसी क्षण । द्वैत-स्थितिमें ॥ ७३ ॥

जब कहता है यहां श्रीकृष्ण । जीव करता क्या शास्त्र-ग्रहण ।
तब कहता है पार्थ श्रीकृष्ण । कृपा देवकी ॥ ७४ ॥

अजी ! पानेमें निधान । भाग्य लगता अर्जुन ।
भोगमें वह धन । उससे अधिक ॥ ७५ ॥

जैसे क्षीर-सागरके समान । न जमता जो दूधका बर्तन ।
सुर असुरोंको कैसे मंथन । करना पडा है ॥ ७६ ॥

उस प्रयत्नका भी आया फल । आंखोंसे देखा अमृत निर्मल ।
जतन करनेमें है सकल । गये चूक ॥ ७७ ॥

परोसा जो अमृतत्व पानेमें । कारण हुवा जो मृत्यु लानेमें ।
न जान कर भोग भोगनेमें । होता है ऐसा ॥ ७८ ॥

नहुष हुवा जो स्वर्गाधीश्वर । किंतु भूला वहांका व्यवहार ।
इससे सर्प हुवा पृथ्वीपर । जानता है तू ॥ ७९ ॥

तूने बहुत पुण्य किया । उससे आज धनंजया ।
सुननेमें सुपात्र भया । गीता-तत्व ॥ १४८० ॥

इस शास्त्रके धनुर्धर । संप्रदायको ओढ़कर ।
आचर तू शास्त्रानुसार । भली भांति ॥ ८१ ॥

नहीं तो अमृत-मंथन । वैसे होगा जान अर्जुन ।
यदि होगा अनुष्ठान । संप्रदाय छोड़ ॥ ८२ ॥

गाय मिली है भली भाग्यसे । किंतु दुहना आता है उसे ।
नहीं तो दूध मिलेगा कैसे । मिलकर भी व्यर्थ ॥ ८३ ॥

वैसे गुरु होकर प्रसन्न । शिष्यको देता है विद्या-दान ।
संप्रदाय-युक्त अनुष्ठान । करनेसे फलती है ॥ ८४ ॥

इसीलिये यहां धनंजय । गीता शास्त्रका जो संप्रदाय ।
कहता सुन इस समय । आदरसे तू ॥ ८५ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

यह इससे नहीं कहना चाहिये—

तुझे मिला यह जो पार्था । इसमें रखनेसे आस्था ।
तपोहीनको जो सर्वथा । कहना नहीं ॥ ८६ ॥

या तापस भी हुवा अर्जुन । किंतु है गुरु-भक्तिसे हीन ।
उनको वैसे ही दूर मान । जैसे अंत्यजको वेद ॥ ८७ ॥

अथवा पुरोडासु जैसा । मृगको नहीं देते वैसा ।
न दो गीता वैसे तापसा । गुरु-भक्तिहीन ॥ ८८ ॥

तथा तनसे जो है तपता । गुरु-देवको भी है भजता ।
किंतु जो सुनना न चाहता । उसको न कहना ॥ ८९ ॥

न है जिसे तपोभक्ति उसे न कह तू यह ।
ईर्षा जो करता मेरी न चाहता सुने इसे ॥ ६७ ॥

ऊपरके दोनों गुण । जिसमें है विद्यमान ।
करने गीता श्रवण । नहीं योग्य ॥ १४९० ॥

उत्तम है जैसे मुक्ताफल । उसमें नहीं रंध्र सरल ।
गुण-प्रवेश होंगे निर्मल । उसमें कैसे ॥ ९१ ॥

सागर होता अति गंभीर । कौन करता है अस्वीकार ।
व्यर्थ जाती वर्षा धनुर्धर । उसपे जो होती ॥ ९२ ॥

दिव्यान्न देकर तृप्तको । व्यर्थ करनेसे उसको ।
वही नहीं दें क्यों भूखेको । उदारतासे ॥ ९३ ॥

हो सुयोग्य वह कितना ही । सुननेमें जिसे प्रेम नहीं ।
उसको गीता कहना नहीं । किसी समय ॥ ९४ ॥

रूप-दर्शी है सुजान नयन । किंतु नहीं परिमलमें घ्राण ।
उसको देना सुगंध अर्जुन । उपयोग क्या है ॥ ९५ ॥

इसीलिये तप और भक्ति । यह देखना सुभद्रापति ।
किंतु सुननेमें अनासक्ति । न कहना उसे ॥ ९६ ॥

जिसमें तप और भक्ति । सुननेमें भी अनुरक्ति ।
इतना देखकर भी संगती । धनुर्धर ॥ ९७ ॥

जो है गीता-शास्त्रका निर्माता । वह मैं सकल-लोक-शास्ता ।
उसको जो सामान्य मानता । अपने मनमें भी ॥ ९८ ॥

तथा देव और संतोंकी नित । करता रहता निंदाकी बात ।
उसको गीता सुननेमें पार्थ । नहीं मानो योग्य ॥ ९९ ॥

वैसे उनकी संपूर्ण । सामग्री योग्य है मान ।
किंतु वह दीप बिन । रहता है रातमें ॥ १५०० ॥

अंग गौर और तरुण । ऊपर पहना भूषण ।
किंतु नहीं उसमें प्राण । उपयोग क्या है ॥ १ ॥

सुवर्णका घर सुंदर । निर्माण किया धनुर्धर ।
किंतु है सर्पांगना द्वार । रोक बैठी है ॥ २ ॥

बनाया गया नाना विध पक्वान्न । उसमें मिलाया कालकूट मान ।
अथवा छल भरी मैत्री अर्जुन । रहती है जैसे ॥ ३ ॥

वैसे तप भक्ति मेधा । उसकी जान प्रबुद्धा ।
करता जो मेरी निंदा । तथा मद्भक्तोंकी ॥ ४ ॥

इसी कारण तू पांडुकुमार । भक्त तपी मेधावी होनेपर ।
गीता उसको त्याज्य मान कर । न कह तू बाबा ॥ ५ ॥

क्या कहूं यदि वह निंदक । योग्य है सृष्टिकर्ता सरीखा ।
गीता-ग्रंथ यह सकौतुक । न दे उसको ॥ ६ ॥

तभी है तपका धनुर्धर । पत्थरका बाडा बना कर ।
रचा गुरु-भक्तिका सुंदर । प्रासाद जिसने ॥ ७ ॥

वैसे ही श्रवणेच्छा द्वार । खुला रखना चारों प्रहर ।
फिर रचा कलश सुंदर । अनिंदा रत्नका ॥ ८ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

मेरे भक्तोंसे जो यह गीता कहेगा वह मद्रूप होगा—

देख ऐसा भक्तालय सुंदर । प्रतिष्ठा कर वहां गीतेश्वर ।
तुलेगा तू मेरे समान फिर । इस विश्वमें निश्चित ॥ ९ ॥

क्यों कि जो एकाक्षरपनमें । तीन मात्राओंके उदरमें ।
फंसाथा वहां गर्भ-वासमें । यह प्रणव ॥ १५१० ॥

वह वेद-बीज जो ओंकार । गीता विस्तारसे फैलकर ।
या गायत्री फल-फूलकर । आयी है श्लोकोंमें ॥ ११ ॥

यह जो मंत्र-रहस्य गीता । मेरे भक्तोंसे जो है कहता ।
अनन्य शिशुको जैसे माता । देती है जीव ॥ १२ ॥

कहेगा गूढ जो श्रेष्ठ मेरे भक्त-गणों सह ।
उसी परम भक्ती से मिलेगा मुझमें वह ॥ ६८ ॥

वैसे भक्तोंको जो गीतासे । परिचय कराता ऐसे ।
देह-पातपे है मुझसे । मिलता वह ॥ १३ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उसे मैं अपना हृदय-सिंहासन देता हूं—

अथवा ले शरीरका भूषण । लेकर रहता है भिन्न जान ।
तब भी मेरा यह जीव प्राण । जान तू पार्थ ॥ १४ ॥

ज्ञानी कर्मठ तापस । जो है ये मेरे मानस ।
इनमें वह विशेष । प्रिय है मेरा ॥ १५ ॥

भूतल पर ऐसे संपूर्ण । अन्य कोई नहीं है अर्जुन ।
गीता कहता जो भक्त-जन- । मेलेमें मेरे ॥ १६ ॥

धरके मुझ ईश्वरका लोभ । गीता कहता है जो हो अक्षय ।
वह भूषण होता है सुलभ । संत-समाजका ॥ १७ ॥

नव-पल्लवोंसा रोमांचित । तथा मंदानिलसा कंपित ।
आमोद-जलसा हो द्रवित । पुष्प-नयन जैसे ॥ १८ ॥

कोकिल कल- रव वत । सगद्‌गद करके बात ।
मद्‌भक्तोद्यानमें वसंत । करता प्रवेश ॥ १९ ॥

सफल जन्म माने जैसे चकोर । वैसे उदित होता शशि अंबर ।
या नव-मेघ आते सुन पुकार । मयूरके जैसे ॥ १५२० ॥

वैसे सज्जनोंके मेलेमें जाकर । गीता पद रत्नोंका बरखा कर ।
मेरे स्वरूप प्राप्तिकी हेतु भर । रख अपनेमें ॥ २१ ॥

तब उससे मेरा कोई प्रिय । नहीं दीखता मुझे धनंजय ।
मेरे भक्तोंके सारे समुदाय । मध्यमें और ॥ २२ ॥

कोई मेरा नहीं पार्थ उससे बढके प्रिय ।
वैसे ही न कभी होगा जगमें उससे प्रिय ॥ ६९ ॥

क्या कहूं मैं तुझे अब अर्जुन । संतोंको देता जो गीता भोजन ।
देता हूं मैं उसको सिंहासन । मेरे अंतःकरणका ॥ २३ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

मेरा तेरा यह जो मिलन । जिससे बढ़ा यह कथन ।
खिला मोक्ष-धर्मका जीवन । जिस स्थानपे ॥ २४ ॥

यह जो सकालार्थ प्रद । हम दोनोंका है संवाद ।
नहीं करके पद-भेद । करना आवर्तन ॥ २५ ॥

उस ज्ञानाग्निमें जो है प्रदीप्त । मूल अविद्या-आहुति दे पार्थ ।
किया है मुझको संतोषित । परमात्मा मैं ॥ २६ ॥

करने गीतार्थ विवेचन । ज्ञानियोंमें जो है बुद्धिमान ।
प्राप्त होते हैं कर पठन । ब्रह्म-रूप यह ॥ २७ ॥

गीता पाठकको भी ऐसे । फल अर्थज्ञको है जैसे ।
गीता-मातामें भेद ऐसे । न है छोटे बडेका ॥ २८ ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

तथा सभी मार्गमें निंदा । छोड़कर आस्थामें शुद्ध ।
गीता श्रवणमें ही श्रद्धा । रखता है जो ॥ २९ ॥

करेंगे जब उनके कान । गीताके अक्षरोंका श्रवण ।
करेंगे दुरित पलायन । उसी समय ॥ १५३० ॥

वनमें होते ही अग्निका प्रवेश । वहां करते जो पशु-पक्षी वास ।
छोड दौड़ते हैं दिशाएं दस । मिलती जहां राह ॥ ३१ ॥

यह जो धर्म-संवाद अभ्यासेंगे जहां कहीं ।
मानता पूजतें हैं वे मुझको ज्ञान-यज्ञसे ॥ ७० ॥
सुनेगा यह जो कोई श्रद्धासे द्वेष छोडके ।
पायेगा कर्म-पूतोंकी मुक्त हो वह सद्गती ॥ ७१ ॥

अथवा जैसे उदयाचल पर। झलकते ही रवि-किरणके हार।
खो जाता है अंतरालमें तिमिर। उसी भांति ॥ ३२ ॥

वैसे ही कर्णोंके महाद्वार। सुनते हैं गीताका गजर।
मिटता है सभी पाप भार। सृष्ट्यादिका भी ॥ ३३ ॥

इससे भावी जन्म सर्वत्र। होते जाते हैं अति पवित्र।
इससे अन्य ऐसे हैं अत्र। भारी पुण्य ॥ ३४ ॥

तथा इस गीताके हैं अक्षर। कानोंसे जाके हृदय-गव्हर।
उतने ही करते हैं जो पूर। अश्वमेध याग ॥ ३५ ॥

तभी है श्रवणसे पाप हरता। वैसे ही धर्मको उन्नत करता।
इससे स्वर्गका राज्य है मिलता। अंतमें जो ॥ ३६ ॥

मेरे पास आनेमें अर्जुन। स्वर्ग है पहला ही सदन।
उसको भोग फिर सज्जन। मिलते मुझमें ही ॥ ३७ ॥

इस प्रकार गीता पार्था। जो सुनता और पढ़ता।
उसे ब्रह्मानंद मिलता। मेरे रूपका ॥ ३८ ॥

यह सारा रहने दे पार्थ। किस लिये तुझे कही गीता।
उसका क्या हुवा है स्पष्टता। कह तू मुझे ॥ ३९ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसः।
कच्चिदज्ञानसमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

सुन कर स्व-अज्ञान जन्य मोह दूर हुवा क्या—

तो तू मुझसे कह अर्जुन। यह शास्त्र-सिद्धांत संपूर्ण।
किया न चित्त देके श्रवण। जीवभावसे ॥ १५४० ॥

हमने यहां जैसे जिस भांति। कानोंको दी है गीताकी संपत्ति
कानोंसे वह हृदयमें पूर्ति। रोपी है न? ॥ ४१ ॥

इसे तूने सुना है न पूरा एकाग्र चित्तसे।
अज्ञान रूप जो तेरा मिटा क्या मोह मूलता ॥ ७२ ॥

अथवा वह बीचमें । गिरा फैला है व्यर्थमें ।
या वैसे ही उपेक्षामें । दिया छोड़ ॥ ४२ ॥

या मैंने जैसे कथन किया । हृदयमें वैसे रोपन भया ।
मुझसे कह तू धनंजया । पूछता हूं मैं ॥ ४३ ॥

था जो स्व-अज्ञान जनित । मोहमें हो चित्त भ्रमित ।
कर्माकर्म-मोहकी बात । रही क्या अब ॥ ४४ ॥

यह सब भला मैं क्यों पूछता । यह मैं करता या न करता ।
यह अपने हाथमें मानता । क्या तू अब भी ॥ ४५ ॥

स्वानंदैक्य इसमें पार्थ । गलेगा मान कर द्वैत ।
भावमें लाता लक्ष्मीनाथ । प्रश्न करके ॥ ४६ ॥

अर्जुनका समरसैक्यसे द्वैतमें अवतरण—

पूर्ण-ब्रह्म हुवा है पार्थ । अगला कार्य साधनार्थ ।
नहीं होने देता श्रीकांत । मर्यादा भंग ॥ ४७ ॥

स्वयं वैसे जो करता । सर्वज्ञ क्या नहीं जानता ।
किंतु श्रीकृष्ण है पूछता । सकारण ही ॥ ४८ ॥

ऐसे करके वह प्रश्न । लुप्त-प्राय अर्जुनपन ।
पूर्णत्वसे लाके कथन । कराता है अब ॥ ४९ ॥

वैसे क्षीराब्धि तटपर । नभमें बैठा रश्मिकर ।
अभिन्न हो भिन्न होकर । दीखता पूर्णचंद्र ॥ १५५० ॥

वैसे ब्रह्म मैं यह भूलता । ब्रह्मसे विश्व ही भरता ।
यह भी भूल सहज होता । स्वयं ब्रह्मत्व ॥ ५१ ॥

भूलता सरता ऐसे ब्रह्मत्व । देह दुख सीमापे मान तत्व ।
अर्जुन मैं ऐसा नाम-रूपत्व । लेके खडा रहा ॥ ५२ ॥

फिर वह कंपित करतल । दबाकर कुछ रोमांच-मूल ।
अपने आपमें ही स्वेद जल । पचा करके ॥ ५३ ॥

प्राण-क्षोभसे झुलता हुवा । अंग अंगसे संभाला हुवा ।
हल चल सब भूला हुवा । खडा सूना स्तंबसा ॥ ५४ ॥

नेत्र-युगलसे बहते । आनंदामृतसे झरते ।
आंसुओंको जो संभालते । अति कष्टसे ॥ ५५ ॥

विविध औत्सुक्यका भार । भरा था गलेमें आकर ।
उसको कुछ दबाकर । हृदयमें तब ॥ ५६ ॥

वाचाका द्रवना । प्राण संभालना ।
अक्रम श्वासन । सुचारुकर ॥ ५७ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

तेरा दर्शन सब कुछ देता है—

अर्जुन कहता यह क्या देव । पूछता क्या रहा अब भी मोह ।
गया वह स-कुटुंब छोड ठाव । लेकर सब साथ ॥ ५८ ॥

पास आकरके दिनकर । पूछता आ आंखोंसे अंधार ।
दीखता क्या कहो किसी ओर । दीखेगा क्या वह ॥ ५९ ॥

ऐसा है तू श्रीकृष्ण । हमें देता दर्शन ।
क्या न देगा दर्शन । यही हमको ॥ १५६० ॥

फिर प्रेमसे माताके समान । कहता है बोध पूर्ण वचन ।
किसी उपायसे न होता ज्ञान । उस विषयमें ॥ ६१ ॥

और पूछता मोह है या नहीं । ऐसा यह पूछना रहा कहीं ।
कृतकृत्य हुवा मैं मुझमें ही । तेरे ही रूपसे ॥ ६२ ॥

अर्जुनने कहा

मिटा है मोह तो देव कृपासे बोध भी हुवा ।
हुवा निःशंक मैं आज करुंगा जो कहा मुझे ॥ ७३ ॥

उलझा था मैं अर्जुनपनसे । मुक्त हुवा हूं समरसैक्यसे ।
अब कहना पूछना जो ऐसे । नहीं रहा कुछ ॥ ६३ ॥

अब मैं तेरे ही प्रसादसे । प्राप्त जो इस आत्मबोधसे ।
मोहको सब मूल रूपसे । भूल गया हूं ॥ ६४ ॥

तेरे बिना भिन्न कुछ न होनेसे संदेह भी नहीं रहा—

अब करना या नहीं करना । रहता यह कैसे द्वैत-स्थान ।
वह न रहा तेरे बिन भिन्न । कहीं भी यहां ॥ ६५ ॥

इस विषयमें मुझमें कहीं । संदेहका नाम तक भी नहीं ।
त्रिशुद्धि-पूर्वक कर्म है नहीं । वह मैं हुवा आज ॥ ६६ ॥

तुझसे पाकर स्व-स्वरूप । कर्तव्य मिटा है पूर्ण रूप ।
अब रहा है आज्ञाके रूप । करना सारा ॥ ६७ ॥

क्यों कि जो दृश्य दृश्यको नाशता । तथा जो द्वैत द्वैतको ग्रासता ।
एक ही एक सर्वत्र वसता । सर्वकाल ॥ ६८ ॥

जिस संबंधसे बंधुत्व मिटता । जिसके लोभसे लोभही टूटता ।
मिलनेसे जो सब ही मिल जाता । अपनेमें आप ॥ ६९ ॥

वह जो गुरु-लिंग तू मेरा । एकत्वको जो पोसता है सारा ।
उसके लिये कहते हैं पूरा । अद्वय बोध ॥ १५७० ॥

स्वयं आप ही हो कर ब्रह्म । दूर कर कृत्याकृत्य कर्म ।
फिर करना जो निःसीम । सेवा जिसकी ॥ ७१ ॥

सिंधुसे गंगा मिलने गयी । मिलते ही समुद्र हो गयी ।
वैसे भक्तोंको सेवा हो गयी । जिस पदकी आज ॥ ७२ ॥

वह तू मेरा निरुपचार । श्रीकृष्ण सेव्य जगदीश्वर ।
मानता ब्रह्मत्व उपकार । ऐसा है तो ॥ ७३ ॥

हम दोनोंमें जो आड़ । था जो भेदका किवाड़ ।
दूर कर दिया गोड़ । सेवाके रूपमें ॥ ७४ ॥

तब अब होती जो आज्ञा । सकल देवाधिदेवराज्ञा ।
मान करूंगा हेतु अनुज्ञा । किसी भी बातकी ॥ ७५ ॥

सुन अर्जुनके यह बोल । नाचता देव सुखसे भूल ।
कहता फला विश्वका फल । अर्जुन रूपसे ॥ ७६ ॥

खिला हुवा पूर्ण सुधाकर । देख अपना यह कुमार ।
सीमा भूलके क्षीर सागर । बढ़ता जैसे ॥ ७७ ॥

ऐसे संवादकी वेदी पर । दोनोंका भावैक्य देखकर ।
आया महदानंदसे भर । संजय हृदय ॥ ७८ ॥

ऐसे हृदयानंदातिशयसे । कहता संजय धृतराष्ट्रसे ।
बादरायणकी कृपासे कैसे । उद्धार हुए हम ॥ ७९ ॥

अजी आज आपने जो अवधारा । नहीं चर्म-चक्षुभी जो संसारा
किंतु ज्ञान दृष्टिके हैं व्यवहार । जानलिये जो ॥ १५८० ॥

रथमें लगते हैं जो घोडे । उन्हे लेने हमें रख छोडे ।
किंतु आज हुवा खडे खडे । ज्ञानबोध ॥ ८१ ॥

तथा युद्धका जो निर्वाण । होता है अत्यंत दारुण ।
दोनोंकी हार होगी समान । अपनी ही ॥ ८२ ॥

व्यासकी ऐसी कृपा महान । जहां युद्धसा कष्ट दारुण ।
वहां ब्रह्मानंद निरावरण । देते हैं सहज ॥ ८३ ॥

संजय कहता है यहां ऐसे । राजा कुछ भी न हुवा जैसे ।
तटस्थ रहा पाषाण जैसे । न द्रवता चंदनीमें ॥ ८४ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्‌भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजयने कहा

जो कृष्णार्जुनका ऐसा हुवा संवाद अद्‌भुत ।
सुना मैंने बडोंसे जो खिलाता रोमरोमको ॥ ७४ ॥

देख यह स्थिति राजाकी । वाणी मूक बनी संजयकी ।
फिर भी अनुभूति ले सुखकी । पगलायीसी ॥ ८५ ॥

भूलके हर्षावेगसे । कहता था जो राजासे ।
अयोग्य यह इसे । जान कर भी यह ॥ ८६ ॥

फिर कहता है कुरुनंदन । ऐसे तेरे बंधु-पुत्र अर्जुन ।
बोला तब सुन यह श्रीकृस्ण । कहता अति मधुर ॥ ८७ ॥

कृष्णार्जुनके अद्वय-भावका वर्णन—

पूर्व-पश्चिम सागर । देखनेमें भिन्न पर ।
संपूर्ण एक है नीर । उसी भांति ॥ ८८ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुन हैं ऐसे । भिन्न हैं केवल तनसे ।
किंतु हैं संवादमें जैसे । सदा अभिन्न ॥ ८९ ॥

स्वच्छ होते हैं जो दर्पणसे । आते ही दोनों सम्मुख जैसे ।
देखते हैं परस्पर ऐसे । आपसमें आप ॥ १५९० ॥

वैसे श्रीकृष्णमें पांडुसुत । देखता है अपने सहित ।
वैसे ही अर्जुनमें अनंत । देखता अपनेको ॥ ९१ ॥

भक्तके लिये देव जो अवकाश । देखता था भक्त वही अवकाश ।
अब दोनोंमें एक ही अवकाश । देखता है पार्थ ॥ ९२ ॥

और कुछ भी नहीं । अपने बिन कहीं ।
यह मानके वहीं । रहे वे दोनों ॥ ९३ ॥

यदि द्वैत ही अब न रहा । तब प्रश्नोत्तर कहां रहा ।
अथवा यदि द्वैत भी रहा । कहां संवाद सुख ॥ ९४ ॥

बोलते थे ऐसा दूजापनसे । निगला द्वैतका संवाद ऐसे ।
वह बोलना मैंने सुना ऐसे । दोनोंका कहा ॥ ९५ ॥

स्वच्छ कर दो दर्पण । सम्मुख रखे हैं जान ।
उसमें देखता कौन । कहे कैसे ॥ ९६ ॥

अथवा दीपके सम्मुख । रखके दीप और एक ।
कौन किसका प्रयोजक । कहे कौन ॥ ९७ ॥

अथवा अर्कके सम्मुख अर्क । उदय हुवा मानो और एक ।
कौन कहें उसमें प्रकाशक । तथा प्रकाश्य कौन ॥ ९८ ॥

करनेमें इसका निश्चय । कुंठित हो जाता है निश्चय ।
दोनों हुए हैं इस समय । संवाद रूप ॥ ९९ ॥

मिलते दो ओघ जिस स्थान । उनको कर देनेमें भिन्न ।
रख दिया बीचमें लवण । क्षणमें होगा जैसे ॥ १६०० ॥

कृष्णार्जुनके संवादमें संजयका लय होना—

वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन । संवादते हैं मन ही मन ।
उसे सोचनमें मेरा मन । हुवा है वैसे ॥ १ ॥

ऐसे संजय कहता नहीं । सात्विक भाव इतनेमें ही ।
ले जाते स्मृति न जाने कहीं । संजयपनकी ॥ २ ॥

रोमांचित हुवा बदन । वैसे ही संकुचित तन ।
स्वेद स्तंभको है कंपन । रोकता एक ॥ ३ ॥

अद्वय-आनंदके स्पर्शसे । रसमय हुई दृष्टि जैसे ।
प्रेमका सोता ही बना जैसे । नहीं ये अश्रु ॥ ४ ॥

न जाने उसमें क्या नहीं समाता था । अथवा गलेमें कहां क्या अटका था ।
किंतु सिसकीसे वाणी-मार्ग रुका था । न उमडते शब्द ॥ ५ ॥

अथवा अष्ट सात्विक भाव । बनाते थे संजयको ठाव ।
तब हुवा संजय चौराह । संवाद सुखका ॥ ६ ॥

उस सुखकी ऐसी जाति । अपने आप होती शांति ।
आयी है फिर देह-स्मृति । संजयकी तब ॥ ७ ॥

स्थिर होकर वह आनंद । कहता है जो उपनिषद ।
नहीं जानते व्यास-प्रसाद- । से सुना मैंने ॥ ८ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

वह एकांतकी गोष्टि । ब्रह्मत्वकी पडी मिठी ।
मैं तू पनकी जो दृष्टि । मिट गयी पूरी ॥ ९ ॥

योग जो ये संपूर्ण । आते हैं जिस स्थान ।
सुलभ वे वचन । किये व्यासदेवने ॥ १६१० ॥

दिखाकर अर्जुनका कारण । बता करके अपनेको भिन्न ।
अपने दिये बोल वचन । आप ही देव ॥ ११ ॥

वहां हैं मेरे ये श्रोत्र । सुननेमें हुए पात्र ।
क्या कहें यह स्वतंत्र । सामर्थ्य गुरूका ॥ १२ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

बोलनेमें हुवा वह विस्मित । जिससे हो गया है देह विस्मृत ।
रत्नमें हो रत्नसे प्रकाशित । छिपता है जैसे ॥ १३ ॥

हिमालयके जो सरोवर । होते चंद्रोदयमें काश्मीर ।
सूर्योदयमें पिघल कर । बहते जैसे ॥ १४ ॥

वैसे होते ही शरीरका स्मरण । संजय करता संवाद धारण ।
यही होता देह विस्मृतिके कारण । दूसरी बार ॥ १५ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

योग-गुह्य महाश्रेष्ठ कृपासे व्यासदेवकी ।
सुना प्रत्यक्ष जो मैंने कहा योगेश कृष्णने ॥ ७५ ॥
जो कृष्णार्जुन संवाद राजन् अद्भुत पावन ।
सोचके मनमें भारी हर्षता मैं पुनः पुनः ॥ ७६ ॥
स्मरके वह जो रूप हरिका अति अद्भुत ।
राजन् विस्मित होके मैं नचता हूं पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

फिर खडा हो कहता नृप । श्रीहरिका देख विश्व-रूप ।
देख कर ऐसे बैठा कैसे चुप । किस प्रकार ॥ १६ ॥

न देख कर जो दीखता । न होकर जो है रहता ।
न स्मरकर भी स्मरता । उसे टालता कैसे ॥ १७ ॥

देख कर यह चमत्कार । बैठनेमें भी नहीं विस्तार ।
मुझ सह वह महापूर । ले जाता बहाके ॥ १८ ॥

ऐसा है श्रीकृष्णार्जुन । संवाद संगम स्थान ।
कर देता तिल-दान । अहंताका मैं ॥ १९ ॥

उमड असंवृत्त आनंद । अलौकिक सिसक सद्गद ।
करता श्रीकृष्ण कृष्ण शब्द । अपने आप ॥ १६२० ॥

धृतराष्ट्रकी जडता दर्शन—

ये जो अष्ट-सात्विक भाव । न जाने कौरवका गांव ।
तब कल्पना हो संभव । कैसे राजाको ॥ २१ ॥

उस सुख-लाभकर अनुभव । अपनेमें लाकर स्थिर भाव ।
पचालिये अष्ट सात्विक-भाव । संजयने अपनेमें ॥ २२ ॥

इतनेमें है राजा कहता । युद्धमें कब क्या होता जाता ।
यह सब कहने निमित्त । रखा तुझे व्यासने ॥ २३ ॥

वह छोड़ कर तू यह ऐसे । बिठाया गया किस उद्देश्यसे ।
सब भूलकर क्या ऐसे वैसे । बोलता अप्रासंगिक ॥ २४ ॥

वनका जब प्रासादमें आता । दस दिशा सब सूना मानता ।
या उदयसे पिशाच जानता । रात हुई अब ॥ २५ ॥

जिसका जो गौरव न जानता । उसको विपरीत ही लगता ।
तभी है अप्रासंगिक कहता । इसमें क्या अचंबा ॥ २६ ॥

फिर कहता कह प्रस्तुत । लडाई चली है जो सांप्रत ।
उसमें किसकी हार जीत । होती यह कह तू ॥ २७ ॥

वैसे कहता अपना मन । सहज विचार कर क्षण ।
पराक्रममें है दुर्योधन । अधिक हमारा ॥ २८ ॥

यह छोड़ करभी कहां । सैन्य रहा है ड्योढ़ा जहां ।
विजय निश्चय है वहां । सहज प्राप्त ॥ २९ ॥

हमको अब लगता ऐसे । किंतु तेरा ज्योतिष है कैसे ।
कह संजय जैसे है वैसे । मुझसे तेरी बात ॥ १६३० ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

गीताकी फलश्रुति—

प्रश्न सुन यह संजय कहता । किसका क्या होगा यह न जानता ।
जहां आयुष्य वहां जीवन होता । जानता यह ॥ ३१ ॥

चंद्र जहां चंद्रिका । शंभु जहां अंबिका ।
संत्र जहां विवेका । होता ही है ॥ ३२ ॥

नृपति जहां सैनिक । सौजन्य जहां संपर्क ।
अग्निमें जैसे दाहक । शक्ति है होती ॥ ३३ ॥

दया जहां वहां धर्म । वहां सुखायाम ।
सुखमें पुरुषोत्तम । रहता वैसे ॥ ३४ ॥

वसंत जहां वहां वन । वन जहां वहां सुमन ।
सुमन सह है गूंजन । सदा भ्रमरोंका ॥ ३५ ॥

गुरु जहां वहां ज्ञान । ज्ञानसे आत्म-दर्शन ।
दर्शनमें समाधान । होता नित्य ॥ ३६ ॥

जहां भाग्य वहां विलास । विलासमें रहा उल्हास ।
जहां सूर्य वहां प्रकाश । होता सहज ॥ ३७ ॥

योगेश्वर जहां कृष्ण जहां पार्थ धनुर्धर ।
वहां मैं देखता नित्य धर्म श्री जय वैभव ॥ ७८ ॥

वैसे सकल पुरुषार्थ । होते हैं स्वामी सह नाथ ।
जहां रहता है श्रीनाथ । वहां है श्री ॥ ३८ ॥

जहां अपने पति सहित । जगन्माता रहती है नित ।
अणिमादि सिद्धि दास्य-रत । रहती हैं वहां ॥ ३९ ॥

स-शरीर कृष्ण विजय-रूप । रहता सदा जिसके समीप ।
उसीके साथ जय है आप । चलेगा सदैव ॥ १६४० ॥

विजय नामसे पार्थ विख्यात । विजय स्वरूप श्रीकृष्ण नाथ ।
श्रिया सह विजय है निश्चित । उसी स्थान ॥ ४१ ॥

ज्ञानेश्वरका राष्ट्र-प्रेम—

जिस देशका है वह घास । उसमें माता पिताका है वास ।
कल्पतरुको भी स-उल्हास । जीतेगा वह ॥ ४२ ॥

उस देशका सब पाषाण । क्यों न हो चिंतामणि संपूर्ण ।
उस भूमिमें है क्या कारण । न आये चैतन्य ॥ ४३ ॥

उस देशके जो नदी प्रवाह । बहें न क्यों लें अमृत अथाह ।
अचरण नहीं है राजन् यह । विचार कर देख ॥ ४४ ॥

जिसके सहज शब्द । बनते हैं जहां वेद ।
सदेह सच्चिदानंद । क्यों न कहें उन्हे ॥ ४५ ॥

अर्जुनका भाग्य—

स्वर्गापवर्ग दोनों मान । पद हैं उसके आधीन ।
माता लक्ष्मी और श्रीकृष्ण । पिता जिनके साथ ॥ ४६ ॥

जिसका कहना सदा लोभ । उस लक्ष्मीका जो वल्लभ ।
सर्व सिद्धि सह है स्वयंभु । खडा है जहां ॥ ४७ ॥

बनता है समुद्रसे मेघ । उपयोगमें उससे चांग ।
वैसे पार्थको आया सुयोग । इस समय ॥ ४८ ॥

कनकत्व दीक्षाका जो गुरु । परिस लोहसे श्रेष्ठ तर ।
किंतु है चलाता व्यवहार । वही जगका ॥ ४९ ॥

गुरुत्व होता है यहां निम्न । करेगा ऐसा कोई कथन ।
प्रकाश देता है दीप बन । अग्नि ही श्रेष्ठ ॥ १६५० ॥

परमात्मासे शक्ति ले अर्जुन । हुवा है उससे भी बलवान ।
उपरोक्त स्तुति गौरव सुन । तुष्ट होता देव ॥ ५१ ॥

सभी गुणोंमें पुत्रसे हीन । होना चाहता बापका मन ।
यह इच्छा श्रीकृष्णकी मान । हुई सफल ॥ ५२ ॥

अथवा मानो ऐसे नृप । हुवा है पार्थ कृष्णकृपा ।
जिस ओर वह साक्षेप । जीत है वहीं ॥ ५३ ॥

वही विजयका निश्चित स्थान । इसमें संदेह नहीं है जान ।
वहां जो जय नहीं मिला मान । वह जय ही नहीं ॥ ५४ ॥

इसीलिये जहां श्री श्रीकांत । वहां है तुम्हारा पांडुसुत ।
वहां सदा विजय समस्त । अभ्युदय सारा ॥ ५५ ॥

यदि व्यासके वचन पर । विश्वास सच्चा है नृपवर ।
तब मेरे शब्द मानकर । चलना ध्रुव है ॥ ५६ ॥

जहां वह श्रीवल्लभ । जहां है भक्त-कदंब ।
वहां सुख और लाभ । होगा कल्याणका ॥ ५७ ॥

यदि होंगे ये बोल असत्य । न कहाऊंगा व्यासका शिष्य ।
गर्जन कर यह अवश्य । किया हाथ ऊपर ॥ ५८ ॥

एक श्लोकमें भारतका सार—

एवं भारतका सब सार । एक श्लोकमें ला भरकर ।
देता है संजय नृपवर । धृतराष्ट्रके हाथमें ॥ ५९ ॥

जैसे वन्हि कितना न जानकर । उसे बातिके अग्रपे रखकर ।
लाते सूर्यकी अनुपस्थिति पर । सहायार्थ ॥ १६६० ॥

वैसे शब्द ब्रह्म अनंत । हुवा सव्वा लक्ष भारत ।
भारतके जो शत-सात । गीता सर्वस्व ॥ ६१ ॥

उन्हीं जो सात शतोंका । इत्यर्थ शेष श्लोकका ।
व्यास-शिष्य संजयका । पूर्णोद्‌गार ॥ ६२ ॥

इसी एक श्लोक पर । पूर्ण विरक्त होकर ।
सब इच्छाओंका सार । पायेगा निश्चित ॥ ६३ ॥

गीता महिमा वर्णन—

ऐसे ये श्लोक शत-सात । गीता पद उठाते हैं नित ।
ये शब्द क्या परमामृत । कहें आकाशका ॥ ६४ ॥

या आत्मराजाकी गीता सभा । इसे उठाते हैं ये श्लोक स्तंब ।
अनुभवती ऐसी प्रतिभा । यहां मेरी ॥ ६५ ॥

अथवा यह गीता सप्तशती । जो मंत्र प्रतिपाद्य भगवती ।
मोह-महिषासुरसे दे मुक्ति । आनंदती है ॥ ६६ ॥

इसीलिये काया वाचा मन । करता जो इसका सेवन ।
उसे दे स्वानंद सिंहासन । करती सम्राट ॥ ६७ ॥

अथवा अविद्याका अंधार । जीतने सूर्यसे बाजी मार ।
ऐसे श्लोक गीता कहकर । प्रकट किये देवने ॥ ६८ ॥

या श्लोकाक्षर द्राक्षालता । फैल मांडव बनी गीता ।
संसार पथिक वे जो श्रांत । विश्रांति ले यहां ॥ ६९ ॥

या भाग्यवंत संत-अलि-कुल । बनाकर श्लोक-रूप कमल ।
श्रीकृष्ण तडागमें खिली बेल । गीता-कमलकी ॥ १६७० ॥

अथवा श्लोक नहीं ये जान । लगता गीताका महिमान ।
बखानते हैं बंदी जन । अखंड जैसे ॥ ७१ ॥

या श्लोकोंका किला बनाकर । सप्त-शत करके सुंदर ।
सर्वागम आये गीता पुर । बसानेको यहां ॥ ७२ ॥

या निजकांता आत्मासे । मिलने आयी प्रीतिसे ।
बाहु पासारके ऐसे । श्लोक रूप ॥ ७३ ॥

या गीता कमलका भृंग । या गीता सागर तरंग ।
या हैं श्रीहरिके तुरंग । गीता रथके ॥ ७४ ॥

या श्लोक सर्व तीर्थ समूह । मिले हैं गीता-गंगा प्रवाह ।
अर्जुन सिंहस्थ पर्व यह । आया है मान ॥ ७५ ॥

या नहीं यह श्लोक श्रेणी । किंतु आचिंत्य चिंतामणि ।
या निर्विकल्पमें लागणी । कल्पतरुकी ॥ ७६ ॥

सात शत श्लोक हैं जो ऐसे । बढे चढे हैं एक एकसे ।
किसका वर्णन करें कैसे । चुनाव करके ॥ ७७ ॥

दीप पहला क्या पिछला । छोटा या रवि मोटा भला ।
भेद गहरा या उथला । क्या अमृत सिंधुमें ॥ ७८ ॥

या बछिया और बछौना । कामधेनुमें भेद नाना ।
व्यर्थकी है गोष्टी करना । न करने जैसी ॥ ७९ ॥

आदि है अथवा अंत । गीता श्लोककी है बात ।
जैसे पुष्प पारिजात । नया या पुराना ॥ १६८० ॥

इसमें नहीं न्यून अधिक । समान इसके सभी श्लोक ।
तथा न वाच्य वाचक । भेद भी इसमें ॥ ८१ ॥

इस शास्त्रमें है एक । श्रीकृष्ण वाच्य वाचक ।
जानते हैं सभी लोक । प्रसिद्ध यह ॥ ८२ ॥

इसका अर्थदान और पठन । फल-प्राप्तिमें एकही समान ।
वैसे वाच्य वाचकमें अभिन्न । भाव साधना यह ॥ ८३ ॥

इसीलिये मुझे इस समय । कहना नहीं है कोई विषय ।
मानो सब गीता है वाङ्मय । मूर्ति प्रभुकी ॥ ८४ ॥

शास्त्र-पठनमें अर्थ-फल । देकर जाते हैं ये सकल ।
ऐसे नहीं यह केवल । पर-ब्रह्मही है ॥ ८५ ॥

जगतपे करुणाकर । महानंद सुगम कर ।
अर्जुनको निमित्त कर । किया प्रकट ॥ ८६ ॥

चकोरको कर निमित्त । त्रिभुवनको जो संतप्त ।
शांत करता कलावंत । चंद्रमा जैसे ॥ ८७ ॥

अथवा गौतमको बनाके साधन । मिटाते कलिकाल ज्वरका पीडन ।
नीचे छोड दिया शंकरने महान । गंगा-प्रवाह ॥ ८८ ॥

वैसे गीताका यह पय । बनाके वत्स धनंजय ।
देती श्रीकृष्ण रूप गाय । विश्वको बहु ॥ ८९ ॥

श्रद्धासे यदि यहां डूबेंगे । आप तद्रूप बन जायेंगे ।
पाठसे यदि-जीभ करेंगे । गीली तो भी ॥ १६९० ॥

एक अंशसे यदि पारस । लोहको कर देता है स्पर्श ।
तो भी वह होता है सरस । सुवर्ण जैसे ॥ ९१ ॥

वैसे पाठ रूपसे यह कटोरा । होंठोंको लगायेंगे ये श्लोक सारा ।
ब्रह्म-प्रेमसे होगा शरीर सारा । सतेज पुष्ट ॥ ९२ ॥

उस ओर करके यदि टेढ़ा मुख । लेंगे यदि थोडा श्रवण सुख ।
उससे भी मिलेगा वहां देख । होगी वही प्राप्ति ॥ ९३ ॥

इसका श्रवण पाठ और अर्थ । नहीं देता है मोक्षसे अन्य बात ।
नहीं न कहता है दाता समर्थ । किसीको जैसे ॥ ९४ ॥

पा लेनेमें यों संपूर्ण । पूर्ण है गीताका सेवन ।
अन्य शास्त्रोंका कारण । रहता है फिर ॥ ९५ ॥

कृष्णार्जुनकी खुली । गोष्टी जो ऐसी निराली ।
व्यासने की करतल- । में आए ऐसी ॥ ९६ ॥

शिशुको ले बैठती लाड़से । माता भोजनके निमित्तसे ।
कौर बना देती है वह उसे । जैसे चाहता वह ॥ ९७ ॥

अथवा जो असीम पवन । करनेमें अपना आधीन ।
बनाते हैं पंखासा साधन । शयाने जैसे ॥ ९८ ॥

वैसे शब्दसे न हो लाभ । उसके बनाके अनुष्टुभ ।
सम हो श्री शूद्रकी प्रतिभा । कहा ऐसे ॥ ९९ ॥

जैसे यदि स्वातीका नीर । न बनाता मोति सुंदर ।
तो सुंदर शरीर पर । शोभता कैसे ॥ १७०० ॥

नाद यदि वाद्यमें न आता । तब है कैसे गोचर होता ।
फूल यदि गंध नहीं देता । तो परिमल कैसे ॥ १ ॥

मधुर नहीं होता यदि अन्न । चखती है क्या फिर रसना ।
तथा दर्पण बिन नयन । नयन देखे कैसे ॥ २ ॥

द्रष्टा जो श्रीगुरुमूर्ति । नहीं आते दृश्य-पंक्ति ।
तब कैसे हैं उपास्ति । पाते उनको ॥ ३ ॥

वैसे वस्तु जो असंख्यात । उनको संख्या शत सात ।
न करते वह प्रस्तुत । जान सकते कौन ॥ ४ ॥

मेघ सिंधुका पानी लेता । तो भी विश्व मेघ देखता ।
असीम हाथमें न आता । इसीलिये ॥ ५ ॥

तथा वाचामें जो नहीं आता । वह सुंदर श्लोक बनाता ।
सुखसे कान भोग सकता । ऐसे होता क्या ? ॥ ६ ॥

इसी लिये व्यासका है महान । हुवा विश्वमें उपकार मान ।
आकार दे श्रीकृष्ण कथन । किया ग्रंथ ॥ ७ ॥

कविकी नम्रता—

और वही है जो मैं अब । व्यासके देख पद सब ।
लाया श्रवण पथमें शुभ । देश भाषाके ॥ ८ ॥

व्यासादिकोंके उन्मेख । होते जहां है साशंक ।
वहां पे मैं एक रंक । बोलता बहु ॥ ९ ॥

किंतु गीतेश्वर है भोला । ले व्यासोक्ति सुमनमाला ।
फिर भी मेरे दूर्वादला । ना नहीं कहता ॥ १७१० ॥

जैसे क्षीर-सिंधुके तट पर । पानी पीने आते हैं गज ढेर ।
किंतु रोकता क्या सिंधु धुरधुर । तू न आ कहके ॥ ११ ॥

पंखेरू फूटा हुवा पर । न उडता नभमें स्थिर ।
गगनाक्रमी जो सत्वर । गरूडभी वहीं ॥ १२ ॥

राजहंसका चलना । पृथ्वीपे उत्तम माना ।
तो क्या औरोंका चलना । मानना क्या वर्ज ॥ १३ ॥

अजी ! अपनेमें लेकर आकाश । जल भरलेता बहुत कलश ।
कुल्लेमें होता है अल्पसा आकाश । आता न उतना पानी ? ॥ १४ ॥

मशालका आकार विशेष । देता वह बहुत प्रकाश ।
बाति भी अपना-सा तेजस । देती है न ? ॥ १५ ॥

अजी ! समुद्रका विस्तार है जैसा । उसमें आकाश आभास वैसा ।
छोटेसे डबरेमें पड़ता वैसा । बिंब भी छोटा ॥ १६ ॥

जैसे व्यासादिककी महामती । इस ग्रंथको बखानने आती ।
हमने भी मानके यही युक्ति । कही अपनी भी ॥ १७ ॥

सागरमें जहां जलचर । संचरते हैं पर्वताकार ।
वहां जानता हूं मैं शफर । तरना जानता ॥ १८ ॥

पास ही रहकर अरुण । करता है सूर्यका दर्शन ।
तब भूतलकी चींटी जान । न देखता क्या सूर्य ॥ १९ ॥

इसीलिये हम हैं प्राकृत । देशी आकारमें लाते गीता ।
यह करना है अनुचित । कैसे भला ॥ १७२० ॥

बाप जहां आगे चलता । पुत्र ही वही अनुगमता ।
पुत्र वहां न पहुंचता । नहीं कोई कारण ॥ २१ ॥

वैसे व्यासका कर अनुकार । भाष्यकारोंसे राह पूछ कर ।
अयोग्य वहां न पहुंचकर । जाऊंगा कहां मैं ॥ २२ ॥

श्रीगुरु निवृत्तिनाथकी महिमा—

तथा पृथ्वी है जिसकी क्षमा । न ऊबती स्थावर जंगमा ।
जिसके अमृतसे चंद्रमा । देता विश्वको शांति ॥ २३ ॥

जिसके अंगका अंश भर । तेज लेकर ही जो भास्कर ।
करता है विपत्तियां दूर । अंधारकी ॥ २४ ॥

समुद्रको जिसका तोय । तोयको जिसका माधुर्य ।
माधुर्यमें जो है सौंदर्य । उससे ही ॥ २५ ॥

पवनको जिसका बल । जिससे आकाश विशाल ।
तथा ज्ञान भी उज्ज्वल । उससे सार्वभौम ॥ २६ ॥

जिससे हैं वेद सुभाष । सुख है जिससे सोल्हास ।
रहने दे जो है रूपस । विश्व उससेही ॥ २७ ॥

सर्वोपकारी वह समर्थ । सद्‌गुरु है श्रीनिवृत्तिनाथ ।
बैठ कर मुझमें ही स्थित । है निरंतर ॥ २८ ॥

उसी श्रीगुरुसे है गीता-ज्ञान । मिला मुझे किसी श्रम बिन ।
करना देशीमें वह कथन । इसमें क्या आश्चर्य ॥ २९ ॥

श्रीगुरूके नामसे मृत्तिका- । मूर्ति रख वनमें विद्याका ।
टेव कर डंका श्रेष्ठताका । बताया भिल्लने ॥ १७३० ॥

जो चंदनसे वेष्टित । होते चंदनसे सुगंधित ।
वसिष्ठकी काठी प्रकाशित । हुई सूर्यसी स्पर्धासे ॥ ३१ ॥

और मैं हूं यहां चित्त संपन्न । कृपा-दृष्टिसे होता पदासीन ।
ऐसा श्रीगुरु है सामर्थ्यवान । सिरपे मेरे ॥ ३२ ॥

सहज ही है जो स्वच्छ दृष्टि । उसे मिलती सूर्यकी पुष्टि ।
वह न देखता ऐसी गोष्टि । क्या है विश्वमें ॥ ३३ ॥

इसीलिये है मेरे नित्य-नूतन । श्वासोच्छ्वास करते काव्य कथन ।
गुरुकृपासे सभी संभव जान । कहता ज्ञानदेव ॥ ३४ ॥

ज्ञानेश्वरी ग्रंथके विषयमें—

लाया मैं इसी कारण । गीतार्थ देशीमें जान ।
किया है इसका जन- । दृष्टिका विषय ॥ ३५ ॥

किंतु देशी बोलमें रंगकर । जान लेंगे गीता-पद मधुर ।
न होगा मूल न जानकर । एक पक्षीय ॥ ३६ ॥

और कहेंगे यदि मूल गा कर । बनेगा वह मूलका अलंकार ।
वैसे आएगा देशीमें भी सुंदर । गीतार्थ पूर्ण ॥ ३७ ॥

चार्वांगी पर न चढे भूषण । फिर भी वह शोभती जान ।
सुंदर तनुका बना भूषण । वह अति योग्य ॥ ३८ ॥

या मोतियोंकी ऐसी जाति । सुवर्णमें भी लाती कांति ।
या अपने रूपमें अति । सजते आप ॥ ३९ ॥

या मोतिया वसंतागमनका । खुला हो या गूंथा हुवा हो उसका ।
एकसा परिमल होता जिसका । उसी प्रकार ॥ १७४० ॥

मूल सहित भी जो है सजता । उसके बिना भी जो है शोभा लाता ।
रचा मैंने ऐसा लाभद गाथा । ओवी छंदमें ॥ ४१ ॥

इसमें अबाल सुबोध । ओवीके छंदमें प्रबंध ।
ब्रह्म-रसमें हैं सुस्वाद । गूंथे हैं अक्षर ॥ ४२ ॥

कभी चंदनका तरूवर । सुगंधके लिये फूलकर ।
फलने तक लगाके देर । बैठना पड़ता क्या ॥ ४३ ॥

यह प्रबंध जो सुनता । तत्क्षण समाधिमें जाता ।
कान व्यसन ही लगाता । व्याख्यान सुननेका ॥ ४४ ॥

तथा पाठ करनेसे नित्य । आता है पाठकमें पांडित्य ।
अनुभवनेसे है लालित्य । भूलेगा अमृत ॥ ४५ ॥

कवित्व हुवा ऐसे यह सरल । विश्रांति स्थान हुवा सुख-महल ।
श्रवण मननसे ध्यान निर्मल । जीतेगा यह ॥ ४६ ॥

स्वानंद भोग यह बढिया । देगा किसीको भी हो सदया ।
पोषित होंगी सभी इंद्रियां । सुनने केवल ॥ ४७ ॥

चंद्रामृत करके स्वाधीन । भोगता चकोर बुद्धिमान ।
किंतु पाते हैं चंद्र किरण । सभी लोग ॥ ४८ ॥

वैसे अध्यात्म शास्त्रमें निपुण । अंतरंगके अधिकारी जान ।
किंतु वाक्चातुर्यसे सभी जन । पाएंगे सुख ॥ ४९ ॥

वैसे श्रीनिवृत्तिनाथका । महान गौरव है नीका ।
ग्रंथ नहीं यह उनका । कृपा-गौरव ॥ १७५० ॥

इस ज्ञानकी आदि परंपरा—

क्षीरसागरका परिसर । माता शक्तिका कर्ण कुहर ।
बोला त्रिपुरारी श्रीशंकर । न जाने कब ॥ ५१ ॥

क्षीर कल्लोलमें रत । मकरोदरमें गुप्त ।
था यह उसके हाथ । आया सहज ॥ ५२ ॥

वह श्रीमत्स्येंद्र सप्त-श्रृंगपर । भग्न तन चौरंगीसे मिलकर ।
कृपासे किया उसको सशरीर । पूर्णांग पूर्ण ॥ ५३ ॥

फिर अखंड समाधि भोगना । उनको होनेसे यह वासना ।
दिया श्रीगोरक्षनाथको दान । वह मुद्रा ॥ ५४ ॥

उन्होने योगाब्जिनी सरोवर । विषय विध्वंस एकैक्य वीर ।
उस पदमें वह सर्वेश्वर । किया अभिषेक ॥ ५५ ॥

फिर वह जो शांभव । अद्वयानंद वैभव ।
प्राप्त किया स-प्रभव । श्रीगहनीनाथने ॥ ५६ ॥

फिर वह कलिकाल ग्रस्त । भूतमात्रका करने हित ।
आज्ञा दी जो निवृत्तिनाथ । इस भांति ॥ ५७ ॥

यह जो आदि गुरु शंकर । से चला शिष्य-परंपरा ।
बोध लाभ आया है संसार । हम तक जो ॥ ५८ ॥

वह सब लेकर तू संपूर्ण । कलिसे ग्रस्त जीवोंका जीवन ।
संकटसे करने विमोचन । सहाय कर तू सत्वर ॥ ५९ ॥

पहले ही वह अति कृपालु । फिर है श्रीगुरु आज्ञाका बोल ।
मिला जैसे सहज वर्षाकाल । मेघोंको नित ॥ १७६० ॥

पीडितोंकी करुणाके कारण । वर्षा हुई शांत रसकी मान ।
तभी है यह गीतार्थ प्रथन । हुवा उससे ॥ ६१ ॥

मैं केवल निमित्त मात्र हूं—

इतनेमें मैं आर्त चातक । स्वेच्छासे हुवा गुरु सम्मुख ।
बना यशका कारण एक । इस प्रकार ॥ ६२ ॥

ऐसे है गुरु परंपरागत । अपना समाधि-धन जो प्राप्त ।
दिया रचकर यह ग्रंथ । स्वामीने मुझे ॥ ६३ ॥

वैसे मैं हूं अपढ अशिक्षित । नहीं की स्वामी-सेवा अपेक्षित ।
कैसे हुवा रचनामें समर्थ । ऐसे ग्रंथके ॥ ६४ ॥

किंतु है सच ही श्रीगुरुनाथ । बनाके मुझे इसका निमित्त ।
ग्रंथ-रूपसे करते हैं हित । विश्वका चिरंतन ॥ ६५ ॥

फिर भी मैंने पुरोहित बन । किया हो कम अधिक कथन ।
मातृ-भावसे आप संत जन । सहन करें मुझे ॥ ६६ ॥

कैसे करना शब्दका वचन । या चढ़ते प्रमेयोंका व्याख्यान ।
नहीं मुझे इसका भी ज्ञान । अलंकार क्या है ? ॥ ६७ ॥

श्रीगुरुकी मैं कठपुतली । जैसे वे चलाते वैसे चली ।
मुझे आगे कर स्वयं ही बोली । गुरु-माता मेरी ॥ ६८ ॥

इसलिये मैं कोई गुण-दोष । विषयमें क्षमा बिना विशेष ।
आचार्य-संजात ग्रंथ अशेष । कहता हूं मैं ॥ ६९ ॥

यदि इसमें कोई न्यूनता रही तो इसका दायित्व आप पर है—

तथा आप संत समाजमें । यदि न्यून रहा हो इसमें ।
वह मिटा नहीं तो स्नेहमें । रूठेंगे आपसे ॥ १७७० ॥

होने पर भी पारसका स्पर्श । न मिटिती लोहेकी हीन दशा ।
तब इसका किसका है दोष । कहें आप ही ॥ ७१ ॥

नालेको यही करना । गंगामें जाके डूबना ।
फिर भी गंगा न बना । दोषि किसका ॥ ७२ ॥

इसीलिये मैं अति भाग्यसे । आया संतोंके पगमें ऐसे ।
तभी विश्वमें मुझे इससे । स्वामी है किसकी ॥ ७३ ॥

जीवन कृतार्थ हुवा है आज—

अजी! मेरे स्वामी नाथ । मुझे जोड दिये संत ।
हुवा सबमें कृतार्थ । इससे आज ॥ ७४ ॥

आपके साथ रहकर । फूटे मुझमें सुखांकुर ।
तथा ग्रंथका हठ पूरा । हुवा आज ॥ ७५ ॥

अजी! अब कनकसे अखिल । ढाल सकेंगे यह भूमंडल ।
चिंता रत्नोंसे सप्त-कुलाचल । कर सकेंगे निर्माण ॥ ७६ ॥

अजी! जो सागर सात । उनमें भरना अमृत ।
होगी तारोंसे तारानाथ । रचना सहज ॥ ७७ ॥

तथा कल्पतरुका आराम । लगाना नहीं विषम ।
किंतु है गीतार्थ मर्म । न होगा स्पष्ट ॥ ७८ ॥

एक मैं ऐसा सर्व-मूक । बोल करके देशी भाषा ।
आंखोंसे ही ले सके लोक । ऐसा करता हूं ॥ ७९ ॥

इतना बड़ा ग्रंथ सागर । उतार ले जाना पैलतीर ।
फडकाना यश-ध्वज फिर । वहां पहुंचनेका ॥ १७८० ॥

गीतार्थका बनाकर भवन । कलशका मेरू गिरि महान ।
उसमें मैं गुरुलिंग पूजन । करता हूं यह ॥ ८१ ॥

गीता है जो निष्कपट माता । उसे भूल शिशु भटकता ।
उसका यह मिलन होता । आपके पुण्यसे ॥ ८२ ॥

आप संतोंने जो कुछ दिया । वही सब मैं बोलता भया ।
यह वैसे अल्प कहा जाय । कहता ज्ञानदेव ॥ ८३ ॥

क्या बोलूं मैं अब बोल । पा लिया मैंने सब जन्म-फल ।
ग्रंथ-सिद्धिका यह जो निर्मल । देखा समारोह ॥ ८४ ॥

मैंने जिस जिसकी आशा । की कर आपका भरोसा ।
वह पूर्ण किया बहुतसा । सुखसे आपने ॥ ८५ ॥

यह अनुपम ग्रंथरत्न है—

मुझसे इस ग्रंथका महान । बना लिया नव-सृष्टि निर्माण ।
देखके हसते मन ही मन । विश्वामित्रको हम ॥ ८६ ॥

देख कर भी त्रिशंकुका दोष । विधाताको ओछा बनाके खास ।
बनाई सृष्टि होती है जो नाश । वैसी नहीं है यह ॥ ८७ ॥

शंभुने कर उपमन्युका लोभ । उसको दिया है क्षीराब्धिका लाभ ।
किंतु वह भी रहा है विषगर्भ । नहीं उपमायोग्य ॥ ८८ ॥

अंधकारका जो निशाचर । निगलता जब चराचर ।
तारता भी है यदि भास्कर । देकर ताप ॥ ८९ ॥

संतप्त जगतके कारण । चंद्र देता शीतल किरण ।
उससे भी यह न समान । चंद्र है कलंकित ॥ १७९० ॥

आप संतोंने जो मुझपर । ग्रंथ-रूप किया उपकार ।
मैं कहता हूं कर विचार । विश्वमें अनुपम ॥ ९१ ॥

यह जो आपके कारण । सिद्ध हुवा है धर्म-कीर्तन ।
यहां रहा सेवकपन । मेरा केवल ॥ ९२ ॥

सेवाका मूल्य-रूप प्रसाद-दान—

मुझको दे अब विश्वात्मक देव । इस वाग्यज्ञ यज्ञसे तुष्ट हो सदैव ।
संतुष्ट होकर दें यह वैभव । पसाय दानका ॥ ९३ ॥

मिटे इससे खलोंकी खलता । उनमें बढे सत्कर्म-प्रियता ।
प्राणियोंमें परस्पर मित्रता । हो जीव भावकी ॥ ९४ ॥

मिटे दुरितका तिमिर । विश्व देखे स्वधर्म-भास्कर ।
जो जो चाहे सो पावे वर । प्राणिमात्र ॥ ९५ ॥

बरसत रहे सकल मंगल । बने सदा ईश-निष्ठोंके मंडल ।
अनवरत जीव यह सकल । पाये भूमंडलके ॥ ९६ ॥

कल्पतरुके हो चलते उपवन । गांव हो चैतन्य चिंतामणिके खान ।
सतत अमृत-सिंधु सम वचन । मिले परस्पर ॥ ९७ ॥

चंद्रमा हो यहां अलांछन । तथा मार्तंड हो ताप हीन ।
सदा प्रिय हो सभी सज्जन । सबसे आप्त ॥ ९८ ॥

अथवा पाये सभी सुख । पूर्ण होकर तीनो लोक ।
और भजे आदि पुरुख । अखंडित ॥ ९९ ॥

तथा है इस लोकमें जिसे । यह ग्रंथही जीवन उसे ।
पाये पूर्ण विजय इससे । दृष्ट अदृष्ट पर ॥ १८०० ॥

तब कहे श्रीगुरु महान । मिलेगा यह प्रसाद-दान ।
इससे सुखी मनही मन । हुवा ज्ञानदेव ॥ १ ॥

गीता श्लोक ७८

ओवी १८०१

ज्ञानेश्वरी संपूर्ण



—ःश्रीगुरुका प्रसाद-दान ग्रंथ लेखनका स्थान कालः—

ऐसे यह कलियुगमें । है महाराष्ट्रमंडलमें ।
गोदावरीके किनारेमें । दक्षिणका जो ॥ १ ॥

या त्रिभुवनैक पवित्र । अनादि पंचक्रोश क्षेत्र ।
जगका जहां जीव-सूत्र । है महालया ॥ २ ॥

वहां यदुवंश विलास । जो सकलकलानिवास ।
न्यायसे पोसता क्षितीश । श्रीरामचंद्र ॥ ३ ॥

वहां महेशान्वय संभूत । है जो श्रीनिवृत्तनाथ सुत ।
गाया ज्ञानदेव ये गीत । देशीका भूषण ॥ ४ ॥

एवं श्रीभारतकी गोदमें । प्रसिद्ध भीष्मनाम पर्वमें ।
श्रीकृष्णार्जुनने वैभवमें । गोष्टि जो की है ॥ ५ ॥

उपनिषद्का है सार । सब शास्त्रोंका मातृ-घर ।
परम-हंस सरोवर । करते सेवन ॥ ६ ॥

उस गीताका यह कलश । संपूर्ण हुवा है अष्टादश ।
कहता श्रीनिवृत्तिका दास । ज्ञान देव ॥ ७ ॥

पुनः पुनः आगे भी इससे । इस ग्रंथ पुष्प-संपत्तिसे ।
सर्वभूत सर्वतोमुखसे । होना है संपूर्ण ॥ ८ ॥

श्रीशक बारह शत बारा । टीका बोला यह ज्ञानेश्वर ।
सच्चिदानंद बाबा सादर । हुवा लिपिक ॥ ९ ॥



महाराष्ट्रके दूसरे एक महान संत श्री एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरी ग्रंथका संशोधन करके इस ग्रंथके विषयमें निम्न अभिप्राय लिख रखा है ।

श्रीशक पंद्रह सौ छ उत्तर । आया तारण नाम संवत्सर ।
एका जनार्दनने अत्यादर । की ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध ॥ १ ॥

पहले ही था ग्रंथ अति शुद्ध । पाठांतरसे था शुद्ध अबद्ध ।
शोधित कर वह एवं विध । शुद्ध सिद्ध प्रति ज्ञानेश्वरी ॥ २ ॥

नमो ज्ञानेश्वर निष्कलंक । पढके उनके गीता टीका ।
ज्ञानी होंगे जो ग्रंथार्थि लोक । भाविक अत्यंत ॥ ३ ॥

बहुकाल पर्वणी गोमटी । भाद्रपदकी कपिला षष्टी ।
प्रतिष्ठानमें है गोदा तटी । लेखन संपूर्ण ॥ ४ ॥

ज्ञानेश्वर-स्तुति-सुमन

संत - नामदेव

ज्ञानराज मेरी योगियोंकी माय । उनसे प्रकट हुवा निगमकाय ॥ १ ॥
गीता अलंकार नाम ज्ञानेश्वरी । प्रकट गई है ब्रह्मानंदलहरी ॥ २ ॥
अध्यात्म-विद्याका दिखाया है रूप । उजला दिया है चैतन्य-महादीप ॥ ३ ॥
देशी भांषाओंका किया है गौरव । छोड दी उसने भावार्णवमें नाव ॥ ४ ॥
श्रवण निमित्त बैठना आकर । स्वानंद पीठपे सुखसे निरंतर ॥ ५ ॥
नामा कहे श्रेष्ठ ग्रंथ ज्ञानेश्वरी । प्रतीत करो जी चितमें एक ओवी ॥ ६ ॥



कैवल्यका है पूतला । प्रकट हुवा है भूतला ।
चैतन्यकी जो चित्कला । ज्ञानदेव मेरा ॥

साधकके हैं मायबाप । दर्शनसे हरता पाप ।
सब भूतोंमें सुखरूप । ज्ञानदेव मेरा ॥

ज्ञानियोंका जो मुकुटमणि । चिंतनशीलोंका चिंतामणि ।
पूज्य स्थानमें जो महान ज्ञानी । ज्ञानदेव मेरा ॥

चलाकर दिखायी जड़ भित्ति । हरण की चांगदेवकी भ्रांति ।
मोक्ष-मार्गका है महान साथी । ज्ञानदेव मेरा ॥

भैंसेके मुखसे वेद कहलाया । ब्रह्म वृंदका अभिमान मिटाया ।
शांतिका पुतला बन व्यक्त भया । ज्ञानदेव मेरा ॥

परब्रह्म साम्राज्यकी है दीपिका । कही तूने गीताकी भावार्थ दीपिका ।
पंढरीके विठलका तू प्राणसखा । ज्ञानदेव मेरा ॥

गुरुसेवाके लिये जान । शरण एका जनार्दन ।
त्रिभुवनका जीवन । ज्ञानदेव मेरा ॥



परिशिष्ट पहला

श्रीभगवद्गीताके पहले अध्यायमें जिन महारथियोंके नाम आये हैं उनका अल्प-सा जीवन परिचय ।

परिशिष्ट पहला

अ० १. श्लो० १—धृतराष्ट्र

सत्यवतीकी आज्ञासे व्यास द्वारा उत्पन्न अंबिकाका पुत्र। गर्भाधानके समयमें व्यासका तेज सहन न होनेसे अंबिकाने आंखें मूंद लीं इसलिये यह जन्मांध रहा। भीष्मके निरीक्षणमें इसकी शिक्षा दीक्षा हुई। यह बुद्धिमान् होनेसे शास्त्र संपन्न था। गांधारीसे विवाह। गांधारीके अतिरिक्त सत्यव्रता, सत्यसेना, सुदेष्णा, संहिता, तैजःश्रवा, सुश्रवा, शम्वठा, तोया दशार्णा ये नामभी उनकी स्त्रियोंके रूपमें मिलते हैं। गांधारीके दुर्योधनादि सौ पुत्र तथा दुःशला नामकी एक पुत्री थी। जब कौरवोंने पांडवोंको छलना प्रारंभ किया तब यह बिना कुछ कहे स्वस्थ रहा। लाक्षागृहमें पांडवोंकी मृत्यू हुई यह जान कर इसने "दिखावटी" शोक पर्याप्त किया। तथा द्रौपदी स्वयंवरके बाद-आधा राज्य भी दिया। दुर्योधनके कपट द्यूतके लिये धृतराष्ट्रकी पूर्ण सम्मति थी। दुर्योधनने पांडवोंको जीता यह सुनकर इसने अत्यंत हर्ष प्रकट किया था। द्रौपदीकी मानखंडना करते समय इसने कौरवोंको परावृत्त नहीं किया। इस समय यह स्वस्थ रहा किंतु आगे द्रौपदीके कहनेसे इसने पांडवोंको कौरवोंके दास्यत्वसे मुक्त किया। पांडव-वनवास समाप्त होनेके बाद जब शिष्टाई होने लगी तब इसने युधिष्ठिरको "तू दुर्योधनसे युद्ध करके अपने तेरह वर्षकी तपस्याका नाश मत कर। यदि दुर्योधन राज्य नहीं देता है तो भिक्षान्न पर जीवन कर किंतु दुर्योधनसे युद्ध न कर!" ऐसा उपदेश दिया था। जब थोडे समय बाद भारत युद्ध प्रारंभ हुवा तब यह युद्ध नहीं देख सकता था। इसलिये युद्धकी वार्ता कहनेके लिये संजयकी नियुक्ति की गयी।

युद्धमें जब भीष्म द्रोणादि वीर मारे गये, अन्य भी अनेक योद्धा पडे तब इसको कृष्णका वचन स्मरण हो आया "इस युद्धसे कुरुकुलका संपूर्ण विनाश हो जायगा।" और इसने दुर्योधनको "पांडवोंको उनका योग्य दायभाग देनेको" कहा किंतु इसका कोई उपयोग नहीं हुवा। अंतमें संपूर्ण कुरु सैन्यमें अश्वत्थामा, कृप, तथा कृतवर्मा यही तीन महारथी रहे तब धृतराष्ट्र पुत्रशोकसे अत्यंत विव्हल हुवा। भीमने ही इसके सर्वाधिक पुत्रोंको मारा था इसलिये यह भीमसे बडा ही द्वेष करता था। युद्धके बाद प्रेमालिंगनके बहाने यह भीमको दबा कर मारना चाहता था। किंतु यह कपट जानकर कृष्णने भीमके स्थान पर लोहेकी एक मूर्ति आगे की और इसने उस मूर्तिका चूर्णही बना दिया। जब इसको वस्तुस्थितिका ज्ञान हुवा तब बडा ही लज्जित हुवा। जब युधिष्ठिर हस्तिनापुरके सिंहासन पर बैठा इसने युधिष्ठिरको राजनीतिशास्त्रका उपदेश दिया। अंतमें यह वनवास के लिये गया और वहां तपाचरण करते समय ही वनमें लगी आगमें जल कर मर गया। धृतराष्ट्रकी मृत्यूके समय उसका एक भी पुत्र जीवित नहीं था।

गीता अ. १. श्लो० १—संजय

गावल्गण सूतका पुत्र। धृतराष्ट्रका सारथी और सलाहागार। दुर्योधनने भीष्मादिकी बात नहीं मानी, द्रौपदीका अपमान किया तब इसने दुर्योधनकी निंदा की थी। व्यासने संजयको दिव्य दृष्टि देकर धृतराष्ट्रको युद्ध-वार्ता कहनेके लिये बिठाया। यह रणभूमि पर जाता था। इसको व्यासने श्रम रहित अथक कर्म करनेकी शक्ति दी थी। साथ ही साथ "रणमें तू सदैव अवध्य रहेगा" ऐसा वर दिया था। इसने एक बार धृष्टद्युम्न पर, जब उसने स्वस्थ बैठे हुए निहत्थे द्रोणका वध किया तब, आक्रमण भी किया था किंतु धृष्टद्युम्नने इसे भगा दिया। सात्यकीने भी इसको युद्धभूमिसे मार भगाया था। दुर्योधन इसके साथ धृतराष्ट्रको संदेश भेजता था। इस परसे ऐसा लगता है कि यह स्वयं युद्ध-भूमिपर "वार्ताहर" के रूपमें रहता था और सब बातों पर अपनी दृष्टि रखता था। कृष्णार्जुन संवाद रूप गीता इसीने धृतराष्ट्रको सुनायी है। युद्धके बाद धृतराष्ट्रके साथ यह युधिष्ठिरके पास भी रहा। अंतमें जब धृतराष्ट्र वनमें गया तब विदुरकी सम्मतिसे उसे छोडकर वनमें गया। यह अपने साथीके वियोगसे नारदकी दी हुई जानकारीके बल बूते पर धृतराष्ट्रके पीछे पीछे उनके शोधमें भी गया था।

गीता अ. १. श्लो० २—दुर्योधन

धृतराष्ट्रसे उत्पन्न गांधारीके सौ पुत्रोमें प्रथम पुत्र। उत्तम रथी, शस्त्रविद्या निपुण, उत्तम सारथी, दुर्योधन और भीम एक ही दिन पैदा हुए थे। इसके जन्मके समय बहुत ही असगुन हुए थे। इसके जन्म-कालमें जो अपशकुन हुए वह देखते हुए ब्राह्मणोंने धृतराष्ट्रसे कहा था "यह कुलक्षयका कारण बनेगा। इसलिये इसका त्याग करनेमें ही भला है। यदि कुलका हित चाहते हैं तो इसका त्याग करें। कुल और राज्यकी रक्षा करें।" बचपनमें, हर बातमें पांडव श्रेष्ठ होते थे इससे दुर्योधन उनसे द्वेष करने लगा। इस द्वेषसे दुर्योधन पांडवोंका नाश करनेकी योजनायें बनाने लगा। दुर्योधन भीमको विष खिला कर, उसके साथ खूब जल केली करने लगा और भीमके थककर बेसुध होने पर उसको हाथ पैर बांधकर गंगामें फेंकके घर आया। इस घटनासे दुर्योधनको बडा हर्ष हुवा था किंतु भीम लौट आया और उसने सारी बात अपने भाइयोंसे कही।

कौरव और पांडव दोनों द्रोणके पास शस्त्रविद्या सीखे। विद्याध्ययन पूर्ण हुवा। कुमारोंके रण कौशल्यसे सभी प्रसन्न हुए। द्रोणने द्रुपदको युद्धमें जीतकर लानेकी गुरु दक्षिणा मांगी। तब दुर्योधन अपने भाइयोंके साथ आगे गया और मार खा कर लौटा। फिर अर्जुन उसको जीत कर बंदी बनाकर लाया। दुर्योधन बलरामसे गदायुद्धकी कला सीखा। जब धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरको युवराज पद देनेका निश्चय किया तब यह द्वेषसे बेभान हो गया और इसने पांडवोंको मारनेके लिये लाक्षागृहकी योजना बनाई किंतु विदुरकी पूर्व सूचनाके कारण पांडव इससे बच निकले। यहां भी दुर्योधन हारा और धृतराष्ट्रने पांडवोंको इंद्रप्रस्थमें ला रखा।

काशीराजाकी लडकी भानुमती इसकी पत्नी थी। यह कलिंग देशका राजा चित्रांगदकी पुत्रीको स्वयंवरमें से उडाकर लाया था।

पांडवोंने इंद्रप्रस्थमें राज्य करते हुए राजसूय यज्ञ किया। उस यज्ञमें यह कोशाध्यक्ष था। दुर्योधनने वहां अत्यधिक व्यय किया फिर भी धनकी कोई तंगी नहीं हुई। सारा खर्च करके भी

कोश भरा ही रहा। साथ साथ पांडवोंकी व मयसभा देख कर, दुर्योधनको उस वैभव पर ईर्षा हुई। मय सभामें-वहांके कृत्रिम कला कौशलको सच मान लेनेसे-उसकी जो दुर्गति हुई और वह दुर्गत देख कर अन्य स्त्रियोंके साथ द्रौपदी भी हंसी इससे वह जलने लगा। वह हस्तिनापुर आया। उस समय धृतराष्ट्रने दुर्योधनको शीलका महत्व समझाया था। किंतु पिताका वह उपदेश उसे नहीं भाया। वह पांडवोंकी संपत्ति हरण करनेकी योजना बनाने लगा और उसमेंसे कपट द्यूतकी कल्पना सूझी। शकुनीमामा इस विद्यामें पारंगत था। इस द्यूतमें पांडव अपना सर्वस्व हार गये। दुर्योधनने भरी सभामें द्रौपदीका अपमान किया। इस समय दुर्योधनने भीष्मादिकी बात भी नहीं मानी। पांडवोंको बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भुगतना पडा। पांडवोंके वनवास जानेके बाद दुर्योधनने अत्यंत सुंदरतासे राज्य किया जिससे लोकप्रियता मिले। वनवास कालमें यह पांडवोंके विषयमें गुप्तरूपसे सारी बातें जानता रहा। बार बार उनको तंग करनेका प्रयास किया, लज्जित करना चाहा किंतु स्वयं अपनी दुर्गत करली। एक बार पांडव जब द्वैतवनमें थे तब वहां जा कर अपने वैभवसे उनको लजानेके प्रयासमें चित्ररथ गंधर्वसे युद्ध करना पडा और उस युद्धमें बंदी हुवा। इस युद्धमें दुःशासन और कर्ण हारकर भाग गये। तब अर्जुनने इसकी रक्षा की। इसको बंधनसे मुक्त किया। तब इसको युधिष्ठिरके सम्मुख नतमस्तक हो कर वापिस लौटना पडा। तब दुर्योधनने अपमानसे अनशन करके शरीरत्याग करनेका भी प्रयास किया था किंतु कुछ दैत्योंके और कर्णके समझानेसे वह शांत हुवा। इसी समय भीष्मने उसको पांडवोंसे साम करनेका उपदेश दिया और दुर्योधनने उसका उपहास किया। इस अपमानको धोनेके लिये दुर्योधनने राजसूय यज्ञ करनेका भी विचार किया किंतु ब्राह्मणोंने कहा "अभी इसी कुलमें युधिष्ठिरने यह यज्ञ किया है इसलिये अब यह असंभव है।" तब इसने वैष्णव याग करके पांडवोंको निमंत्रित किया। यह निमंत्रण पाकर युधिष्ठिरने अत्यंत संतोष प्रकट करते हुए "वनवास और अज्ञातवास पूर्ण होनेके प्रथम घर लौटना अनुचित है" कहकर आमंत्रण ले जानेवालेका सम्मान कर लौटा दिया। इस वनवास और अज्ञातवासमें भी यह लगतार पांडवोंके नाशकी योजना बनाता रहा। उनको कष्ट देता रहा और हरबार उनसे पराजित होता रहा।

वनवास और अज्ञातवास पूर्ण करके जब पांडव घर आये तब राज्यके लिये संधान होने लगा। कृष्ण भी संधान करनेके लिये दुर्योधनके पास गया। किंतु इसका कुछ उपयोग नहीं हुवा। दुर्योधनने कृष्णसे इस युद्धमें सहायार्थ यादव सैन्य मांग लिया जिसका सेनानी कृतवर्मा था।

श्री परशुराम, कृष्ण, कण्व, भीष्म, द्रोण कृपाचार्य, अश्वत्थामा, आदि लोगोंने दुर्योधनको इस युद्धसे परावृत्त करनेका प्रयत्न किया किंतु दुर्योधनने सबका उपहास किया। कृष्णके साथ उसने अत्यंत धिटाई करके कृष्णको बंदी बनानेका प्रययास करके अपनी दुर्गत करली। इस भांति वह युगांतका युद्ध आरंभ हुवा। इस युद्धमें कई बार दुर्योधनका पराभव होकर यह युद्धभूमि छोडकर भागा है। युद्धके अंतमें भी जब सभी सेनापति मारे गये तब यह घबडाकर द्वैपायन सरोवरमें छुपकर बैठ गया! युधिष्ठिरके कठोर भाषणसे क्रोधावेशसे बाहर आये दुर्योधनके साथ तब भीमका गदायुद्ध हुवा। उस युद्धमें यह भीमसे मारा गया।

अ० १. श्लो० २–द्रोणाचार्य

आंगिरस गोत्रीय भरद्वाज ऋषिका पुत्र। तपश्चर्यामें रत भरद्वाज ऋषि घृताची नामकी अप्सरासे मोहित होकर जो पुत्र हुवा वही द्रोण है। द्रोणके द्रोणाश्व, रुक्मरथ, भारद्वाज ऐसे भी नाम हैं।

द्रोणाचार्यने अपने पिताके पास ऋग्वेदादिके साथ धनुर्वेदका अध्ययन भी किया था। भरद्वाज महान् विद्वान था। बृहस्पतिने इन्हे आग्नेयास्त्र दिया था। द्रुपदराजा द्रोणाचार्यका सहाध्यायी था। जब द्रोणाचार्य तपश्चर्या कर रहे थे द्रोणाचार्यको यह जानकारी मिली कि जमदग्नि पुत्र परशुराम ब्राह्मणोंको धन बांट रहे हैं। परशुरामके पास गये। परशुरामने सारा धन पहले ही बांट दिया था इसलिये द्रोणाचार्यको अपनी अस्त्र-विद्या दी। इसी समय द्रोणाचार्यको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति हुई।

द्रोणाचार्य अस्त्र विद्या निपुण हो गये किंतु आर्थिक दुरवस्थासे मुक्ति नहीं मिली। आर्थिक दृष्टिसे ये अत्यंत विपन्नावस्था भोग रहे थे। तभी द्रव्यार्जनके लिये द्रुपदराजाके पास गये और द्रुपदराजाने इनको अपमानित किया। इससे अस्वस्थ द्रोणाचार्य हस्तिनापुर गये। भीष्माचार्य द्रोणाचार्यकी विद्वत्तासे संपूर्ण परिचित थे। कौरव पांडवोंको शिक्षार्थ उन्हीके पास भेजना चाहते थे किंतु वे ही चलकर यहां आये थे। तब भीष्माचार्यने बडे ही सन्मानसे द्रोणाचार्यका स्वागत करके उन्हे राज-पुत्रोंका गुरुस्थान दे दिया।

इससे देशके भिन्न भिन्न नगरोंके विद्यार्थी उनके पास अस्त्रविद्या सीखते आने लगे। उस समयके अनेक राज-पुत्र द्रोणाचार्यके शिष्य रहे हैं। एक बार आचार्य अपने विद्यार्थियोंके साथ नदी पर स्नान करने गये थे। एक बडे मगरने द्रोणाचार्यको पकड लिया। यह देख कर अर्जुनके बिना और सब विद्यार्थी डरके मारे भाग गये किंतु अर्जुनने मगरको मार कर गुरुको छुडा लिया तभी द्रोणाचार्यने अकेले अर्जुनको ब्रह्मास्त्रका सप्रयोग ज्ञान दिया।

जब द्रोणाचार्यने देखा अपने सभी विद्यार्थी अस्त्र-विद्या पारंगत हो गये हैं आचार्यने द्रुपदराजको बंदी बना कर अपने सामने ला देने की गुरु-दक्षिणा मांगी तब अर्जुनने वह काम किया। जब द्रुपद बंदी बन कर उनके सामने लाया गया तब द्रोणाचार्यने उसका आधा राज उत्तर पांचाल अपने पास रख कर आधा राज उसको छोड दिया।

पांडव जब बनवास और अज्ञातवास पूरा करके आये और अपना अधिकार मांगने लगे तब द्रोणाचार्यने दुर्योधनको बहुतेरा समझाया तब कर्णने इसे पांडव-पक्षपात मानकर द्रोणाचार्यको भला बुरा कहा। इस समय, कर्ण-द्रोण-वाद तलवारसे निपटनेका प्रसंग आया था किंतु भीष्माचार्यने बीच बचाव किया।

दुर्योधनने किसीकी नहीं मानी और युद्धकी नौबत आयी। जीवन भर जिसके साथ बिताया उसका आपत्कालमें साथ छोडना द्रोणाचार्यने उचित नहीं माना और युद्धमें दुर्योधनका साथ दिया। युद्धके दसवे दिन कौरव सेनापति भीष्मका पतन हुवा तब द्रोणाचार्य सेनापति बनाये गये।

पांच दिन तक ये सेनापति रहे और पांडव सेनाके बडे बडे महारथी इसी कालमें मारे गये। उनमें अभिमन्यु और घटोत्कज मुख्य हैं। इन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक अभिमन्यु वध किया। अभिमन्यु वधसे संतप्त अर्जुनने जयद्रथ-वधकी प्रतिज्ञा की और वह पूर्ण की। द्रोणाचार्यने जयद्रथकी रक्षाके लिये विशिष्ट व्यूह रचना की थी फिर भी अर्जुनने जयद्रथका वध किया इससे संतप्त होकर द्रोणाचार्यने रात्रीके समय भी युद्ध चालू रखा। वह युद्धका पंद्रहवा दिन था। दिन भर लडकर थके हुए वीरोंने बडे आवेशसे रातको भी लडायी की। इसी युद्धमें घटोत्कज और भीमने त्राही मचा दी। रात दिन लडकर थके हुए वीरों पर जब निद्रा देवीने अपना जाल बिछाया भीमने इसका पूरा लाभ लिया। उसने इंद्र वर्माका अश्वत्थामा नामका हाथी मारा! सारी पांडवी सेना "अश्वत्थामा मारा गया!" कह कर चीखने चिल्लाने लगी। यह सुन कर द्रोणाचार्य दुःखी हुए। आचार्यने निर्णयके लिये युधिष्ठिरसे पूछा। कृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरने "अश्वत्थामा मारा गया!" कहते हुए भी धीरेसे "हाथी!" कहा जो द्रोणाचार्य नहीं सुन सके। उन्होंने पुत्रशोकमें शस्त्रसंन्यास लिया। इसी समय भरद्वाज आदि पितरोंने "तू ब्राह्मण होकर भी युद्धमें शस्त्र उठानेका पाप किया!" कहते हुए शस्त्र छोड कर योगमार्गका आसरा लेनेको कहा और धृष्टद्युम्नने "यही ठीक समय!" जान कर द्रोणाचार्यका शिरच्छेद किया। ये मार्गशीर्ष वद्य द्वादशीको दुपहर मारे गये। मृत्यूके समय इनकी आयू ९५ वर्षके आस पास थी।

कृष्णाजिन और कमंडलु इनका ध्वज चिन्ह था।

इन्होंने द्रुपदराजा, विराट, द्रुपदपुत्र शंख, और वसुदानका वध किया है।

गीता अ० १. श्लो. ३—द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न

द्रुपदराजाका पुत्र! अयोनिसंभव! द्रोणाचार्यने अपने शिष्योंसे द्रुपदराजाको बंदी बना कर उसका आधा राज्य छीनकर छोड दिया था। परिणामस्वरूप द्रुपदराजा दुम पर पैर देकर छोडे हुए सांपकी भांति द्रोणाचार्यसे बदला लेनेके लिये पागल हो गया। द्रोणाचार्यसे बदला लेनेके लिये द्रुपदराजाने जो यज्ञ किया उस यज्ञसे धृष्टद्युम्न पैदा हुवा और द्रौपदी भी।

द्रोणाचार्य ही इसके अस्त्र-गुरु थे। यह युद्धमें अत्यंत पराक्रमी था। वैसे ही चतुर भी। जब द्रौपदी स्वयंवरमें ब्राह्मणकी वेष-भूषामें आये पांडवोंने द्रौपदीको जीता तब सारी राज-सभा उद्विग्न हो गयी। "ब्राह्मणोंने क्षत्रिय-कन्या कैसे जीती?" यह उद्विग्नता इतनी तीव्र थी कि उसी समय महा-युद्ध होनेकी नौबत आयी किंतु धृष्टद्युम्नने अत्यंत योग्यता पूर्वक पांडवोंका परिचय देकर प्रसंग निभा लिया।

भारत युद्धमें आदिसे अंत तक यही सेनापति रहा। और अत्यंत कुशलतासे सेना-संचालन करता रहा। युद्धके अंतमें बचे हुए कुछ सेनानियोंमें यह भी एक था।

युद्धके पंद्रहवे दिन दुपहरको भीमने अश्वत्थामा नामका एक हाथी मारा। और सारी पांडव सेनामें भीमने अश्वत्थामाको मारा "कोलाहल मच गया।" द्रोणाचार्यने सोचा "मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया" और शोक-मग्न द्रोणाचार्यने शस्त्र रख दिया। "यही मौका" जान कर धृष्टद्युम्नने गुरु द्रोणाचार्यका शिरच्छेद किया। यह देखकर सात्यकीने "असहाय स्थितिमें निःशस्त्र

शत्रु पर वार किया" कह कर इसकी भर्त्सना की। परिणाम स्वरूप दोनोंमें युद्ध होनेकी स्थिति निर्माण हो गयी तब कृष्णने बीच बचाव करके दोनोंको शांत किया।

युद्ध समाप्तिके बादकी रातको शिबिरमें निद्रस्त धृष्टद्युम्नकी अश्वत्थामाने हत्या की। धृष्टद्युम्नके पांच पुत्र थे। क्षत्रंजय, क्षत्रवर्मन्, क्षत्रधर्मन्, क्षत्रदेव, धृष्टकेतु, सबके सब भारत-युद्धमें द्रोणाचार्यसे मारे गये। इस प्रकार भारत-युद्धमें संपूर्ण पांचाल-वंश ही नष्ट हो गया।

गीता अ० १. श्लो० ४—भीम

पांडुराजा और कुंति पुत्र। द्वितीय पांडव। जब यह पैदा हुआ तब आकाशवाणी हुई कि "यह महाबली है!" बचपनमें ही यह इतना बली था कि एक बार माताके हाथसे छूट कर पत्थर पर गिर पड़ा तो पत्थरके टुकडे टुकडे हो गये! पहले इसने अपने अन्य भाइयोंके साथ ही शर्यातीके शुक्र नामके पुत्रसे शस्त्र विद्या सीखी। सब पांडव तब अपने पिताके साथ हेमवत पर्वतके शतशृंग नामक अरण्यमें थे। जब पांडुकी मृत्यू हुई तब वहांके ऋषियोंने कुंति माद्रीके साथ पांडवोंको हस्तिनापुर पहुंचाया। तबसे पांडव और कौरव साथ साथ पढ़ते बढते और खेलते रहते। भीम खेलमें सबको तंग करता था। इसके सामने कौरवोंकी एक भी नहीं चलती थी। हर बातमें अपनी हेठी होती देख कर ईर्षासे दुर्योधनने कई बार इसको मार डालनेका षडयंत्र किया। एक बार जलक्रीडाके समय जहर देकर जल केलीमें थक कर सोये हुए-विषबाधासे बेसुध-भीमको हाथ पैर बांधकर नदीमें फेंक दिया। जहां इसको फेंका था वहां पानी अत्यंत गहरा था। नीचे अमृत कुंड थे। वासुकीकी सहायतासे पेट भर अमृत पीकर, भीम युद्धमें कभी न थकनेकी शक्तिके साथ वहांसे ऊपर आया। यह गदायुद्धमें निपुण था। अपनी शिक्षा दीक्षाकी परीक्षा देते देते एक बार भीम और दुर्योधन युद्ध-प्रवृत्त हुए तब द्रोणने उनको रोका। इससे धृतराष्ट्रने कौरव और पांडवोंको दूर रखनेका निश्चय किया। उस समय "वाराणावतमें बडा मेला होगा!" ऐसी अफवा उठाकर, पांडवोंको वहां जानेको प्रवृत्त किया और दुर्योधनने वहां पांडवोंको कुंती माताके साथ लाक्षागृहमें जलाकर मार डालनेकी योजना बनाई। किंतु विदुरसे पहले ही इसकी और इस गृहसे बाहर जानेके गुप्त मार्गकी जानकारी मिलनेसे इस समय भी पांडव बच गये। स्वयं भीम ही घरमें आग लगा कर माता तथा भाइयोंको साथ लेकर गुप्त मार्गसे बाहर निकल आया। वहांसे जब ये गंगातीर पर आये वहां विदुरके लोगोंने इन्हे गंगा पार उतार दिया। वहां भीम अपनी माता तथा भाइयोंको उठा कर वनमें चला गया। तब कुंति और युधिष्ठिरको प्यासा देखकर उन्हे वहीं छोड कर यह पानी लाने गया। पानी ले आया तब सभी नींदमें सो गये थे। यह वहीं उनका रक्षण करने बैठ गया। पास ही हिडिंब नामका राक्षस रहता था। उसको मनुष्यकी गंध आने लगी। उसने अपना शिकार देखनेके लिये बहन हिडिंबाको भेज दिया। हिडिंबा भीमको देख कर मोहित हो गयी। वह अपना स्वीकार करके भाग जानेको कहने लगी। भीमने उसकी बात नहीं मानी। गयी हुई बहन इतनी देर होने पर भी क्यों नहीं आयी यह देखनेके लिये हिडिंब वहां आया। भीमसे उसकी बातचीत हुई, तू तू मैं मैं होकर, लडाई प्रारंभ हो गयी। इस द्वंद्व युद्धसे पांडव सब जग गये। भीमने हिडिंबका वध किया। हिडिंबाने कुंतीसे सारी बातें कहीं। वह अपनी माता और भाइयोंको साथ लेकर जाने लगा तो हिडिंबा भी उनके पीछे पीछे आने लगी। भीमने उसको भी मारनेकी बात कही, किंतु कुंति और युधिष्ठिरके कहनेसे उसका पाणिग्रहण किया। तब भीमने केवल

एक संतान होने तक उसके साथ रहनेका वचन दिया था। हिडिंबाने भी इसको मान लिया। इसी समय हिडिंबाको भीमसे घटोत्कच हुवा था। इस घटनाके बाद पांडव कुंतिके साथ एकचक्र नगरमें रहने गये। वहां भीमने बकासुरका वध किया।

कुछ दिनमें पांडवोंको पता लगा कि द्रुपदराजाकी कन्या द्रौपदीका स्वयंवर है। पांडव उस स्वयंवरमें गये। अर्जुनने स्वयंवरमें द्रौपदीको जीत लिया। वहां अन्य राजाओंसे भीम और अर्जुनका युद्ध हुवा। फिर वे द्रौपदीके साथ घर आये। भीमने कहा "मां भिक्षा लाये हैं।" और कुंतीने कहा "पांचो बांटकर खावो!" फिर खूब चर्चा होनेके बाद द्रुपदराजाने द्रौपदीका अलग अलग दिन पांडवोंसे अलग अलग विवाह कर दिया। स्वयंवरमें कृष्ण भी था। उसने पांडवोंको पहचान कर बलरामसे कहा था। फिर कृष्ण और बलराम पांडवोंसे मिलने भी गये थे। इस घटनाके बाद पांडव द्रौपदीके साथ हस्तिनापुर आये। भीष्म धृतराष्ट्र आदि वृद्ध जनोंने खूब विचार विनिमय करके पांडवोंको आधा राज्य दिया। इसी समय युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञ किया। राजसूय-यज्ञके प्रारंभमें युधिष्ठिरने भीम और अर्जुनको कृष्णके साथ जरासंधको मारनेके लिये भेज दिया। वहां ये तीनों ब्राह्मणवेषमें गये थे। वहां कृष्णने युद्ध भिक्षा मांगी। जरासंधने भीमको चुना। दस दिन तक भीम और जरासंधका द्वंद्व युद्ध हुवा। दस दिनके बाद जरासंध थक गया। तब भीमने जरासंधको चीर कर फेंक दिया। उसके बाद भीमको अन्यान्य राजाओंको जीतनेके लिये पूर्व दिशामें भेज दिया। इस दिग्विजयमें भीमके साथ मत्रक राजा थे। भीमने पूर्वमें पांचल, विदेह, गंडक, दशार्ण दक्षिणमें पुलिंद, कुमारका श्रेणिमंत, कोसलका बृहद्दल, अयोध्याका दीर्घयज्ञ, गोपालकक्षदेश, मल्ल, हिमालयकी तराईका जलोद्भव, भल्लाट, शुक्तिमान्-पर्वत, काशिराज, सुबाहु, सुपार्श्व, मत्स्यदेश, अभयदेश, आदि २१ राज्योंको जीता। इस यज्ञमें भीम पाकशालाकी व्यवस्था देखता था। जिस स्थान पर यज्ञ हुवा था वह मय-सभागार अत्यंत कुशलतासे बनाया गया था। उसकी कुशल कलारसिकताके कारण बार बार दुर्योधनकी दुर्गत होती थी तब भीम उसको हंसता था। इसीके परिणाम स्वरूप कपट-द्यूत हुवा। इस द्यूतमें दुर्योधनने पांडवोंका सर्वस्व हरण किया था। युधिष्ठिर द्रौपदी भी हार गया। तब सभामें दुश्यासनने उसके बाल पकडें और भीमने प्रतिज्ञा की "यह तेरा हाथ शरीरसे अलग करके फेंक दूंगा और तेरा खून पीऊंगा!" इसी समय दुर्योधनने अपनी जंघा खुली करके दिखाते हुए द्रौपदीसे कहा "तू मेरी मांड पर बैठ जा!" तब भीमने कहा "वहां मेरी गदा बैठेगी!"

पांडव वनवासमें गये। चौथे दिन जिस बनमें गये वहां एकचक्र नगरके बकासुरका भाई किर्मिर रहता था। उसकी और युधिष्ठिरकी कुछ बोलचाल हुई। इस बोलचालने युद्धका रूप ले लिया और भीमने उसका वध किया। एक दिन हवामें उडता आया हुवा एक सहस्रदल कमल, देखकर भीम द्रौपदीसे "तुझे ऐसे कमल ला दूंगा!" कहता हुवा गंधमादन पर्वत पर गया। वहां उसने रास्ते पर अपनी दुम फैलाकर बैठा हुवा एक वानर देखा। भीमने उस वानरको अपनी दुम हटानेको कहा किंतु वानर नहीं माना! उसने कहा "तू यह दुम हटा दे फिर आगे जा!" वहां इसका मद उतरा। उसको ज्ञात हुवा कि यह हनुमानजी हैं। फिर हनुमानजीने अपना विराट् रूप दिखाया। भीमको आशीर्वाद दिया। और "जब तू युद्ध-भूमिमें सिंहनाद करेगा

तब वैरी गर्जनसे मैं उसे गूंजाऊंगा !" कह कर आगे छोड दिया। वहींसे वह सौगंधिक वनमें गया। वहां सौगंधिक सरोवरमें सहस्रदल कमल थे। इन कमलोंकी रखवालीमें क्रोधवश नामके राक्षस थे। उन्होने भीमको एक भी कमल देनेसे अस्वीकार कर दिया। उन्होने कुबेरकी आज्ञा ले आनेको कहा। इसीमें कहासुनी होकर दोनोंमें द्वंद्वयुद्ध छिड गया और उसमें उन राक्षसोंको मार खाकर भाग जाना पडा। वे राक्षस कुबेरकी ओरसे रखे गये थे। उन्होने कुबेरसे सब बात कही और कुबेरने उनको कमल लेनेकी आज्ञा दी। इसी बीच युधिष्ठिर घटोत्कचकी सहायतासे वहां आया। कुबेरने वहां उनका स्वागत किया। वे कुछ दिन वहां रहकर गंधमादन पर्वत पर जा कर अर्जुनकी प्रतीक्षा करने लगे। वहां भीमने जटासुरको मारा। तब द्रौपदीने भीमसे कहा "यहां का यह सुंदर प्रदेश तू निर्भय कर दे !" भीमने तुरंत कई क्रोधवश राक्षस मार दिये। कुबेरका एक मित्र राक्षस मणिमान्को मार दिया। पांडवोंने वहांसे मेरु-पर्वतका दर्शन किया और गंधमादन पर्वत पर आ कर रहने लगे। वहांसे पांडव द्वैतवनमें रहने गये। पांडव जब मृगयामें गये थे तब आकर जयद्रथ द्रौपदी और धौम्यको भगाकर ले गया। यह सुन कर भीम और अर्जुनने जयद्रथके सैन्यको हराकर उसको बांधकर धर्मराजके सम्मुख खडा किया। भीमने तब जयद्रथके सिर पर लाथ मारी। धर्मराज युधिष्ठिरने उसको क्षमाकरके छोड दिया। वनवासके बाद ये सब अपना वेष बदलकर विराटके घर रहे। तब भीम वहां रसोय्या और मल्ल बनकर रहा। वहां इसका प्रसिद्ध नाम बल्लव था। वैसे यह जयेश भी कहलाता था। इसने तब विराटसे कहा था "मैं युधिष्ठिरके पास रसोया था।" विराट नगरमें जब एक दिन शंकरोत्सव हुवा तब वहां कुश्तियां हुईं। उन कुश्तियोंमें जीमूत नामका एक प्रसिद्ध मल्ल आया था। वह अत्यंत शक्तिमान था। कोई भी उसके साथ लडने के लिये तैयार नहीं थे। फिर भीमसे कहा गया। भीमको डर था कहीं कोई मुझे पहचानेगा। हां ना करते करते वह उठा। फिर उस कुश्तिमें भीमने जीमूतका वध किया। इन्हीं दिनोंमें विराट राजाका सेनापति और श्यालक कीचक द्रौपदी पर मोहित हुवा। वह द्रौपदीको तंग करने लगा। द्रौपदीने भीमसे कहा। भीमने कहा "प्यारसे बातें करके उसको दूसरी प्रहर रातको नृत्यशालामें भेज दे !" कीचक रातको वहां आया। भीम और कीचकका द्वंद्व-युद्ध हुवा। भीमने कीचकको मार डाला। दूसरे दिन प्रातःकालमें कीचकके बंधुओंने कीचकके साथ द्रौपदीको भी जला देनेकी सजा सुना दी। अब द्रौपदीको जलायेंगे इतनेमें भीम अपने मुख पर बाल बिछाकर हाथमें एक बडा वृक्ष उठाकर आ गया। द्रौपदीने अपनेको गंधर्व-पत्नी घोशित कर रखा था। "गंधर्व आया !" कह कर कीचक-बंधु भागने लगे किंतु भीमने उनको पकड कर मसल दिया !

युद्धके पहले भीमने एक बार कृष्णसे शांति-संधान करनेको कहा था। सुनकर कृष्णको आश्चर्य हुवा। तब भीमकी बात सुन कृष्ण चकित हो गया था। युद्ध प्रारंभ होते ही भीमने, दूसरे दिनमें भानुमान कलिंग, उसके चक्र रक्षक सत्य और सत्यदेव, भानुमानका पुत्र शक्रदेव केतुमान्, आदिका वध किया। चौथे दिनमें भीम और दुर्योधनका मुकाबला हुवा। भीमने दुर्योधनकी गजसेनाका धुव्वा उडाया। दुर्योधनकी आज्ञासे उसका सारा सैन्य भीम पर आक्रमण कर उठा तब भीमने उस सेनाका भी धुव्वा उडाया। तब भीष्म बीचमें आये और सात्यकीने भीष्मको रोका। दुर्योधन अपने सभी भाइयोंके साथ खडा है यह देखकर भीम उन पर आक्रमण

करने लगा। तब दुर्योधनके बाणसे वह बेहोश हुवा और उठते ही उसने सेनापति जरासंध, सुषेषेण, उग्र, वीरबाहू और उसका सारथी, भीमरथ और सुलोचन इन लोगोंका वध किया। युद्धके छठे दिनमें भीमने अत्यंत पराक्रम किया। जैसे किसी हथौडेसे मिट्टीके गोले तोडे जाते हैं वैसे भीमने शत्रु सैन्यको नष्ट किया है। आठवे दिन भीष्म क्रुद्ध हो कर इस पर टूट पडा। तब भीमने भीष्मके सारथीको मारा। भीष्मका रथ अस्ताव्यस्त होकर भाग खडा हुवा। फिर भीमने सुनामा, आदित्य, केतु, बह्वासी, कुंडाधार, महोदर, अपराजित, विशालाक्ष इन धृतराष्ट्र पुत्रोंको मारा। इसी दिन मध्यान्हमें भीमने अनाधृष्टि, कुंडली, कांडभेदी, विराज, दीप्तलोचन, दीर्घबाहू, सुबाहु, मकरध्वज आदि कौरवोंका वध किया। नवमें दिन भगदत्त और श्रुतायूके गजदलका भीमने नाश किया। दसवे दिन भीम, भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, अवंत्य, बंधु, जयद्रथ, विकर्ण, दुर्मर्षण, इन दस लोगोंसे लड कर भी पराजित नहीं हुवा। जब अर्जुन शिखंडीको आगे करके भीष्म पर आक्रमण करने जा रहा था तब भीमने इन सबको राहसे हटा दिया। ग्यारहवे दिन अभिमन्यूने शल्यके सारथीको मारा और शल्यने जब अभिमन्युको गदायुद्धके लिये ललकारा तब अभिमन्युको हटा कर भीम शल्यसे गदायुद्ध करने लगा। इस युद्धमें शल्य मूर्च्छित हो गया। चौदहवे दिन जयद्रथ वध हुवा। अर्जुन उस युद्धमें उलझ गया था तब युधिष्ठिरने भीमको भी वहां जानेको कहा। युधिष्ठिरकी आज्ञासे जब भीम उस ओर जा रहा था तब दुःशल, चित्रसेन, कुंडभेदी, विविंशति, दुर्मुख, दुःसह, विकर्ण, शल, विंद, अनुविंद, सुमुख, दीर्घबाहू, सुदर्शन, वृंदारक, सुहस्त, सुषेण, दीर्घलोचन, अभय, रौद्रकर्म, सुवर्मन्, तथा दुर्विमोचन इतने लोगोंने एक साथ भीमपर आक्रमण कर दिया, किंतु भीमने इन सबको हठाकर इनके घेरेका अतिक्रमण कर दिया। स्वयं द्रोणाचार्य आगे आये। मानापमानका प्रश्न लेकर इन दोनोंमें कुछ बातचीत हुई। भीम भडक उठा। उसने द्रोणके रथको तोडकर फेंक दिया। द्रोण पादचारी बने। भीमने दुश्शासनको मार भगाया। द्रोण दूसरे रथमें आये। पादचारी भीमने वह रथ भी तोड कर फेंक दिया। उस दिन भीमने द्रोणके एकके बाद एक ऐसे आठ रथ तोड कर फेंक दिये। साथ ही साथ कुंडभेदी, रौद्रकर्मन्, अभय इन धृतराष्ट्र पुत्रोंका वध किया और अंतमें अर्जुनके पास पहुंच ही गया तब अर्जुनसे मिलनेका संकेत मानकर अपना प्रचंड शंखनाद किया। कर्ण तब भीम पर चढायी कर आया और भीमने कर्णके घोडे मार दिये। कर्ण वृषसेनके रथपर चढ़ कर आगे बढ़ आया तब भीमने कर्णको मूर्च्छित किया और सारथी रथको लेकर भाग गया। होश संभाल कर कर्ण पुनः भीम पर चढाई कर आया। इस बीचमें भीमने दुःशलका वध किया। दुर्मुखका वध किया और कर्णको पुनः रथ-हीन करके भगा दिया। कर्णकी यह पराजय देखकर दुर्मर्षण, दुर्मद, दुर्धरने, भीमपर आक्रमण किया और भीमके प्रहारोंसे मर भी गये। इसके बाद भी कर्ण भीम पर पुनः चढ़ाई कर आया। भीम कर्ण युद्ध हुवा। इस युद्धमें भी कर्णकी पराजय होती है यह देख कर, दुर्योधनने अपने बंधु शत्रुंजय, शत्रुसह, चित्र, चित्रायुध, दृष्ट, चित्रसेन, और विकर्णको भीम पर चढाई करनेको कहा और भीमने उन सबको वहीं मसल दिया। इनके साथ ही साथ चित्राक्ष, चित्रवर्मा तथा शरासनको भी मार गिराया। किंतु विकर्ण भीमका प्रियपात्र था इसलिये उसकी मृत्युपर भीमको शोक हुवा। इसके बाद भी भीम-कर्ण युद्ध हुवा। थोडी ही देरमें कर्णने इसके साथ लडना छोड दिया। इस दिन रातको

भी युद्ध चलता रहा। रातको आनुमान कलिंगका पुत्र बापका बदला लेनेके लिये भीम पर चढाई कर आया किंतु भीमने उसको मुकेसे ही मार डाला ! फिर जयरातके रथ पर चढ कर उसको उसीके रथमें एक झांपड मार कर ही खतम कर दिया। वैसे ही दुष्कर्णको मसल दिया। फिर बाल्हीकोंसे भीमका युद्ध हुवा। उसमें बाल्हीकके पुत्रको मूर्च्छित किया । किंतु बाल्हीकोंसे यह आहत भी हुवा और उससे जरा संभालते ही इसने दढरथ, नागदत्त, विरजा, और सुहस्तका वध किया। तब स्वयं दुर्योधन इस पर आक्रमण करके पराजित होकर हठ गया। फिर कर्णसे युद्ध हुवा। इस युद्धमें दोनों पादचारी हुए। भीम तब नकुलके रथ पर चढा।

युद्धका पंद्रहवा दिन। द्रोणाचार्य कहर बरपा रहे थे। तब कृष्णने भीमको कुछ संदेसा दिया। भीम इंद्रवर्माका हाथी अश्वत्थामाको गदासे मारकर द्रोणके आस पास जा कर "अश्वत्थामा मर गया !"-अश्वत्थामा मर गया !' ऐसे चीखते चिल्लाने उछलते लगा। यह सुनकर द्रोणने शस्त्र नीचे रखे और धृष्टद्युम्नने "यही समय" मानकर द्रोणाचार्यका शिरच्छेद किया। द्रोणाचार्यकी मृत्युसे अर्जुनको बडा दुःख हुवा। वह आत्महत्याका विचार भी करने लगा। भीमने तब उसको डांट फटकारकर परावृत्त किया। सोलवे दिन इसने क्षेमधूर्ति और उसके हाथीको मारा। फिर अश्वत्थामा और भीमका युद्ध हुवा। उसमें दोनों आहत हो गये और साथियोंने रथ पीछे हठाया। सत्रहवे दिन कौरव सेनाका भुर्ता बन गया। अपनी सेना तहस नहस होते देखकर दुर्योधन सेनाको प्रोत्साहित करते हुए स्वयं भीम पर चढाई कर गया किंतु पराजित हुवा। भीमने इसकी गजसेनाका विध्वंस कर डाला। फिर कर्ण इसपर चढाई कर आया। कर्ण भी पराजित हो कर रणभूमि छोडना चाहता था कि दुर्योधनने अपने भाइयोंको भीमपर चढाई करनेको ललकारा। एक साथ श्रुतश्रवा, दुर्धर, क्रोथ, विवित्सु, विकट, सम, निसंगी, कवची, पाशी, नंद, उपनंद, दुष्म, धर्ष, सुभाहु, पातवेग, सुवर्चस, धनुर्गुह, शाल, और सह भीमपर चढाई कर आये। भीमने विवित्सु, विकट, सह, क्रोथ, नंद, उपनंदका वध किया। इतनेमें कर्ण पुनः तैयार हो कर आया। तब भीमने एक बाणसे कर्णको आर पार छेद दिया और उसका रथ चूर चूर कर फेक दिया। फिर इसने दुर्योधनकी सेनाका संहार करना प्रारंभ कर दिया। तब शकुनी भीम पर चढाई कर आया। भीमने शकुनीको रथसे भूमि पर पटककर घसीट दिया और दुर्योधन उसको अपने रथ पर डाल कर ले गया। युद्ध चलही रहा था। भीमकी भीषणता क्षण क्षण बढती जा रही थी तब दुःखासन उस पर चढाई कर आया। भीमने उसके घोडे मारे, सारथी मारा, रथ तोड दिया, फिर उसको पकड कर भूमिपर पटक दिया। उसका दाहिना हाथ जिससे उसने द्रौपदीके बाल खींचे थे शरीरसे उखाड कर फेंक दिया। उसका हृदय फाड कर उसका खून पिया और खूनसे सने हाथोंको उछालता हुवा द्रौपदीकी वेणी बांधने चला गया। इसी समय भीमने अलंबु, कवचिन्, खड्गिन्, दंडधार, धनुर्धर, निसंगी, वातवेग्, सुवार्चा आदि धृतराष्ट्र पुत्रोंका वध किया। अठारहवे दिन इसने कृतवर्मा और शल्यसे युद्ध किया। शल्यने इसको गदायुद्धमें मूर्च्छित किया। इस मूर्च्छासे सचेत होते ही भीमने पुनः कौरव-सेनाका संहार-कार्य प्रारंभ कर दिया। इस युद्धमें भीमने कौरवोंकी गजसेनाके साथ ही साथ दुर्मर्षण, श्रुतांत, जैत्र, भूरिबल, रवि, जयत्सेन, सुजात, दुर्विषह, दुर्विमोचन, दुष्प्रधर्ष, तथा श्रुत-श्रवाका वध किया। इसके बाद सुदर्शनका वध किया। फिर प्रत्यक्ष दुर्योधन और भीमका अंतिम गदायुद्ध हुवा उसमें कृष्णकी सूचनासे भीमने दुर्योधनकी जांघ पर गदा-प्रहार करके उसका वध किया। इस पर बलरामने इसको अधर्म-युद्ध कहा और कृष्णने भीमकी प्रतिज्ञाका स्मरण दिला

कर उसका समाधान किया। अंतमें अश्वत्थामासे लडकर उसका मणि ले आया इस प्रकार भारत युद्धका अंत हुवा।

महाभारतके बाद सिंहासनारोहणके समय युधिष्ठिरने भीमको युवराजाभिषेक किया। युद्धके बाद सभी पांडव धृतराष्ट्र और गांधारीसे प्रेमसे रहे किंतु भीम ही अकेला उनको जली कटी सुनाता रहा। अंतमें इसकी बातोंसे तंग आकर धृतराष्ट्र गांधारीके साथ वनमें गया। आगे अनेक वर्ष राज्य करनेके बाद पांडव शस्त्र-संन्यास करके उत्तर दिशामें स्वर्गारोहण करने गये। तब राहमें जब भीमका पतन हुवा भीमने युधिष्ठिरसे पूछा "मैं क्यों गिरा?" युधिष्ठिरने कहा अपनेको बलवान मानता था। शक्तिका अभिमान करता था तथा तू बडा पेटु था इसलिये तेरा पतन हुवा। इस समय भीमकी एक सौ सात सालकी आयु थी।

इसकी तीन पत्नियां थी। हिडिंबा, द्रौपदी, तीसरी कासीराजाकी कन्या जलंधरा। इनके हिडिंबासे घटोत्कच, द्रौपदीसे श्रुतसोम और जलंदरासे सर्वत्रात ऐसे तीन पुत्र थे। धृतराष्ट्रके सभी सौ पुत्रोंको इसीने मारा था। इसका शंख पौंड्र था।

गीता अ० १. श्लो० ४–अर्जुन—

कुंती पुत्र। तृतीय पांडव। यह फाल्गुन मासमें उत्तराफाल्गुनी सह पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रमें पैदा हुवा था इसलिये इसको फाल्गुन भी कहते हैं। इसका जन्म हिमालयके शतशृंग पर्वत पर हुवा था। यह द्रोणाचार्यका पट्टशिष्य था। यह अत्यंत दक्ष था। एक दिन रातको जब यह भोजन करने बैठा था तब दीप बुझ गया। अंधारमें यह खाता रहा। अंधारमें जरा भी चूक होनेके पहले भोजन होनेसे यह सोचने लगा कि अभ्यासके बलसे जैसे अंधारमें भी न चूकते भोजन हुवा ऐसे अन्य बातें भी हो सकती हैं और इसने अंधारमें ही लक्ष्यवेधी अभ्यास किया। धनुर्विद्यामें यह अत्यंत कुशल था। एक बार द्रोणाचार्यने सबकी परीक्षा लेनेके लिये एक कृत्रिम पक्षी एक पेड पर बिठा कर पूछा "वहां क्या दीखता है!" केवल अर्जुनने ही कहा था "केवल पक्षीकी गर्दन दीखती है!" इतना यह एकाग्र रहता था। एक बार अर्जुनने पांच बाण मार करके मगरके मुखसे द्रोणको मुक्त किया था। इसकी धनुर्विद्या कुशलता पर द्रोणने "ब्रह्मशिर" नामका उत्तम अस्त्र दिया था। एक बार परीक्षा समारोहमें अर्जुनने एकसा दीखने वाले पांच बाण छोडकर, हिलते सींगमें बीस बाण भर कर, अपना चातुर्य दिखाया था और सबसे प्रशस्ति पायी थी। शस्त्र-विद्या समाप्त होने पर गुरु दक्षिणाके रूपमें गुरु द्रोणने द्रुपदराजाको सजीव पकड लानेको कहा तब केवल अर्जुन ही यह काम कर सका, और किसीसे यह नहीं हुवा। अपनी छोटीसी आयूमें ही अर्जुनने सौवीराधिपति दत्तमित्रको जीत लिया था जिसे पांडु भी नहीं जीत सका था। विपुलको भी इसने जीता। पांडवोंका कीर्ति-सौरभ सर्वत्र फैलनेमें अर्जुनके पराक्रमका खूब ही हाथ रहा है। लाक्षागृहसे पार होनेके बाद राहमें अंगारापर्ण गंधर्व अपनी स्त्रियों सह जल-क्रीडा कर रहा था। उसने पांडवों को रोका इसी बात पर अर्जुन और अंगारपर्णका युद्ध हुवा। उसमें अर्जुन जीत गया। अल्पायुमें ही अर्जुनकी शस्त्र-कुशलता देख कर उसने अर्जुनको सूक्ष्मपदार्थ दर्शक चाक्षुविद्या सिखायी। साथ साथ अर्जुनसे अग्निशस्त्र-विद्या सीखली। इसीके कहनेसे पांडवोंने धौम्य ऋषिको पुरोहित बना लिया था। इस घटनाके बाद, अर्जुन द्रौपदी स्वयंवरमें द्रुपदराजाके घर गया। वहां पर द्रौपदी-स्वयंवरका प्रण जीत कर इसने द्रौपदीको जीत लिया। द्रौपदी स्वयंवरमें

अनेक क्षत्रिय राजा आये थे किंतु मत्स्य भेदकी बाजी जीतनेका साहस करनेवाला कोई विरला ही था। इस घटनाके बाद धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पांडवोंको हस्तिनापुर बुला लिया। एक बार वहां एक ब्राह्मणकी यज्ञीय सामग्री चोरी गयी। वह अर्जुनके पास आकर रोने लगा। अर्जुन उस ब्राह्मणको आश्वस्त करके शस्त्र लानेके लिये शस्त्रागारमें गया। वहां युधिष्ठिर और द्रौपदी एकांतमें थे। इसलिये नियमानुसार अर्जुनको एक वर्ष तीर्थयात्राके लिये जाना पडा। तब युधिष्ठिरने कहा था " तू मुझसे छोटा है। छोटोंका बडोंके एकांतमें जाना दोष नहीं है। और तू स्वधर्म पालनके लिये गया था। " किंतु अर्जुनने युधिष्ठिरको समझा बुझाकर तीर्थयात्राके लिये उसकी आज्ञा ली। इस तीर्थाटनमें उसने कौरव नामक नागकी उलूपी नामक कन्यासे गांधर्व-विवाह किया। फिर वह उत्तरमें हिमालयकी ओर गया। वहांसे बिंदुतीर्थ, पूर्वकी ओर मुडकर उत्पालिनी नदी, अपरनंदा, महानदी, गया आदि तीर्थ-स्थानोंको देखकर अंग वंग कलिंगका भ्रमण कर मणिपुर गया। मणिपुरका राजा चित्रवाहन था। उसकी लडकी थी चित्रांगदा। अर्जुनने चित्रांगदाकी मंगनी की। राजाने लडकीका लडका ननिहाल ही रहेगा इस शर्तपर चित्रांगदाका पाणिग्रहण कर दिया। वह मणिपुरमें तीन वर्ष रहा। इस अवधिमें चित्रांगदाको अर्जुनसे एक लडका हुवा। उसका नाम बभ्रुवाहन। यहांसे वह गोकर्ण गया। यहांसे प्रभास क्षेत्रमें जानेके बाद इसने कृष्णकी सहायतासे उसकी बहन सुभद्राको भगा ले जानेका निश्चय किया। इसके लिये युधिष्ठिरकी सम्मति भी ली और रैवतक पर्वत पर जा कर देव-दर्शन करके घर लौटनेवाली सुभद्राको अपने रथमें चढाकर यह हस्तिनापुरकी ओर भागा। कृष्णने अर्जुनका समर्थन करके बलरामका क्रोध शांत किया। बलरामने अर्जुनको द्वारका बुला कर बडे वैभव और समारोहके साथ उससे सुभद्राका विवाह कर दिया। कभी श्वेतकी राजाने शतसंवत्सरादि यागमें सतत हवि डालनेसे अग्नीको मांद्य आया। वह ब्रह्माके पास गया। ब्रह्माने उसको खांडववन खानेको कहा। किंतु जब जब अग्नि खांडववन खाने जाता तब तब इन्द्र प्रचंड वर्षा करके अग्निको परास्त कर देता। अग्नि तब अर्जुनके पास जा कर खांडवनका दान मांगने लगा। अर्जुनने कहा " हममें युद्ध सामाग्रिकी न्यूनता है वह हमें दीजिये, मैं आपको खांडववन देता हूं "। अग्निने कपिध्वजयुक्त दिव्य रथ, जिसे चार श्वेत अश्व जुडे हुए थे, गांडीव धनुष्य, तथा अक्षय्य तूणीरके साथ युद्ध सामग्री दी और अर्जुनने खांडववन। अग्निने खांडववनका ग्रास लिया। इन्द्रने पर्जन्य वर्षा की। कृष्णार्जुनने इन्द्रकी एक भी नही चलने दी पंद्रह दिन तक अग्नि खांडववन चाटता रहा। तब उसका मांद्य गया। उसमेंसे केवल तक्षक पुत्र अश्वसेन, मायासुर, महर्षी मंदपालके चार पुत्र जरितारि, सारिसृक्त, द्रोण तथा स्तंब मित्र और सार्गक पक्षी इतने बचकर निकले। आग्नीने ठीक तीन सप्ताह इस वनका आहार किया। दनुपुत्र मय खांडववनसे बाहर निकला और कृष्ण उसका संहार करेगा इतनेमें वह अर्जुनको शरण गया। अर्जुनने उसकी रक्षा की। तब अर्जुनसे कृतज्ञ मयासुरने राजसूय यज्ञमें मय-सभा बांध दी। इस मय-सभाके लिये आवश्यक सामान वृषपर्वाके भांडारमें था। मयने वहींसे इसको पाया। साथ ही साथ इसने उसी कोषागारसे गदा लाकर भीमको दी थी। अर्जुनको वरुणका देवदत्त नामका शंख इसीने इसी कोषागारसे दिया था। युधिष्ठिरने जब राजसूय यज्ञ किया था तब अर्जुनने अपने दिग्विजयमें प्रथम कुलिंद, आनर्त, कालकूट, तथा सुमंडल जीतकर सुमंडल राजाको साथ लेकर शाकलद्वीप, प्रतिविंध्य इन पर आक्रमण करके इन्हें जीत लिया। तब शाकलद्वीपके सभी राजाओंको इसने जीता था। इनके साथ अर्जुनने

प्राग्ज्योतिष देशको जीत लिया। वहां भगदत्तसे अर्जुनका आठ दिन तक घोर युद्ध हुवा था। भगदत्त भौमासुरका पुत्र था। भगदत्त चीन किरात आदि देशोंका आश्रय-स्थान था। जब भगदत्तने हार मान कर, कर देना स्वीकार किया तब अर्जुनने कुबेरकी आलकावती पर आक्रमण किया। कुबरसे कर लिया। उसके बाद उलूक देशका राजा बृहंत, सेनाबिंदु, मोदापुर, सुदामन, उत्तर-उलूक आदि राजाओंसे करभार लेकर, सेनाबिंदुके देवप्रस्थ नगरमें जा कर वहांसे पौरव विश्वागश्वापर हमला करके उनको जीता। इसके बाद उत्सवसंकेत 'गणों' को जीता। काश्मीरको जीता तथा दस मांडलिकोंके साथ लोहितको जीता। फिर अभिसारी, उरगा नगरी, आदि जीतकर सिंहपूर नगर उध्वस्त किया। सुह्म, चोल आदिको जीतकर इसने बाल्हीक पर आक्रमण करके कांबोजको भी जीत लिया। इन सबमें ऋजिक देशमें भयंकर युद्ध हुवा। अंतमें अनेक देशोंको जीतकर, उन देशोंको मांडलिक बनाकर जब यह मानस-सरोवरकी ओर आगे बढा वहां इसने ऋजिकोंके बनाये हुए नेहर देख लिये। वहांसे यह गंधर्वोंपर आक्रमण करके आगे बढा और वहांसे तित्तिरकल्माष, मंडूक, नामके उत्तम अश्वोंको लेकर हरिवर्षाकी ओर आगे बढा। वहाँ इसको ऋषियोंने रोका क्यों कि आगे सभी अदृश्य है। अर्जुन भी आगे न जाकर वहां तक सबसे युधिष्ठिरकी सत्ता मनवाकर इंद्रप्रस्थकी ओर लौट आया। युधिष्ठिरके राजसूयके बाद बढी हुई दुर्योधनकी ईर्षाग्निमें जब पांडवोंका सर्वस्व स्वाहा हुवा और कपट द्यूतमें सभी हारकर पांडव वनवास गये तब अर्जुन पाशुपतास्त्रकी प्राप्तिके लिये इंद्रकीलपर्वत पर जाकर पशुपति नाथकी तपस्या करने लगा। उस समय शंकरने किरात रूपमें आकर अर्जुनकी परीक्षा ली। अर्जुन उस परीक्षामें उत्तीर्ण हुवा और पशुपति-नाथने इसको विश्व-संहारक पाशुपतास्त्रका "रहस्य-पूर्ण ज्ञान" दिया जो पृथ्वी पर और कोई नहीं जानता था। इसके बाद अर्जुन इंद्रके आमंत्रण पर उसीके भेजे गये विमानसे इंद्रलोक गया। इंद्रने अर्जुनका सन्मान करके उसको अपने अर्धासन पर स्थान दिया। वहां पर भी अर्जुनने अनेक दिव्यास्त्रोंका अध्ययन किया। अर्जुन वहां करीब पांच वर्ष तक रहा। वहां वह वाद्यवादन तथा नृत्यकला सीखा। चित्ररथ गंधर्व जो पहले अंगारपर्ण नामसे विख्यात था यहां अर्जुनके काम आया। उसीने अर्जुनको गांधर्ववेद सिखाया। एक बार उर्वशीने अर्जुनसे प्रेम याचना की और अर्जुनने उसका अस्वीकार किया इस पर उर्वशीने उसको षंढ होनेका शाप दिया। पांडवोंके अज्ञातवासमें अर्जुनको इसका उपयोग हुवा जब वह बृहन्नलाके रूपमें विराट राजाके पास रहा। अर्जुनका यह देवलोक वास समाप्त होते होते अज्ञातवासका काल आया। तब इसीने द्रौपदीको खंदोपर लेकर विराट नगरी जानेका काम किया। अर्जुन अज्ञातवासमें बृहन्नला नामसे षंढ-वेषमें द्रौपदी की "परिचारिका थी" कह कर उत्तराको नृत्यकला सिखानेका काम करता था। आगे विराटादि सभी लोग जब दक्षिण गोग्रहणमें उलझे हुवे थे तब दुर्योधनादिने उत्तर गोग्रहण किया। राजधानीमें तब केवल भूमिजय-उत्तरकुमार-था। बृहन्नला सारथ्य करेगी यह सुन कर यह युद्ध पर चला! किंतु शत्रुको देखते ही भूमिंजय रथ परसे कूद कर भागने लगा। बृहन्नलाने उसको समझा बुझा कर स्वयं युद्ध करनेका निश्चय किया। शमी वृक्ष परसे अपने आयुध उतार कर उसको अपना वास्तविक परिचय दिया और कौरवोंसे अकेला—बिना सारथीके-युद्ध करके गायोंको छुडा ले आया। इस युद्धमें कर्ण था। अर्जुनके सामनेसे कर्ण जी लेकर भाग निकला। इसी समय कर्णके सामने उसका भाई मारा गया !!

विराटने तब पांडवोंका सम्मान किया। अर्जुनने उत्तराको अभिमन्युके लिये स्वीकार किया। भारत युद्धकी तैयारी होने लगी। कृष्णकी सहायता मांगनेके लिये दोनों ओरसे दुर्योधन और अर्जुन कृष्णके पास गये। कृष्ण तब सोये हुए थे। दुर्योधन उनके सिरहाने बैठा और अर्जुन पैरोंके पास। जब कृष्ण उठे तब कृष्णने दोनोंको देखा। अर्जुन दुर्योधनसे छोटा था इसलिये मांगनेका उसका अधिकार पहला था। कृष्णने यादवोंकी नारायणी सेना और स्वयं निःशस्त्र कृष्ण, ऐसे दो भागोंमें विभाजित करके पूछा किसको कौन चाहिए। अर्जुनने निःशस्त्र कृष्णकी मांग की और दुर्योधन तीन अक्षोहिणीकी विशाल नारायणी सेना प्राप्त करनेके उत्साहसे घर गया। भारत युद्धके प्रथम, अर्जुनको युद्धके अनिष्ट परिणामकी कल्पनासे विषाद हुवा। इस मोहमय विषादसे जब अर्जुन कर्तव्य विमुख होने लगा तब कृष्णने जो उपदेश दिया उसीको आज भगवद्गीता कहते हैं। भीष्मार्जुन युद्धसे ही महाभारत युद्धका श्रीगणेश हुवा। युद्धके तीसरे दिन ऐसा लगा कि भीष्म पांडवी सेनाका नामोनिशातही मिटा देंगे। तब कृष्णने अपनी प्रतिज्ञा भंग करके हाथमें चक्र उठा लिया। उस समय अर्जुनने भी अपने युद्ध कौशल्यसे सबको चमत्कृत किया। इसी तीसरे दिनके अंतिम प्रहरमें अर्जुनने कौरवी सेनाकी धज्जियां उडा दीं। नौवे दिनमें सबसे प्रथम अर्जुन और द्रोणका युद्ध हुवा। भीष्मसे भी गहरी झडप हो गयी। संध्या समय युद्ध शांत हुवा। भीष्म पितामहके सम्मुख किसीकी कुछ भी नहीं चलती थी। वे इच्छा मृत्युके स्वामी थे। तब कृष्णकी सलाहसे भीष्मसे ही उनकी मृत्यूकी चर्चा की गयी। भीष्मने स्वयं अपनी पराजय अथवा मृत्यूकी व्यवस्था कही और दसवे दिन शिखंडीको आगे करके अर्जुन भीष्मकी ओर बढा। शिखंडीका अभद्र ध्वज, उसका वह स्त्री-सुलभ हावभावका पौरुष ! यह सब देखकर भीष्मने उस पर शस्त्र न उठानेके अपने नियमका पालन किया और अर्जुनने शिखंडीकी ढाल सामने करके कौरव-सैन्यकी धज्जियां उडायीं। उस दिन कौरव वीरोंने अर्जुनको रोकनेकी पराकाष्ठा की। अर्जुनने भीष्म पर शर-संधान करके उन पर हजारों तीर छोड कर, उनको गिरा दिया। हजारों बाणोंका शरीरमें घुस जानेसे भीष्म वीरोचित शरशैया पर पडे। तब उनका सिर लटकने लगा। भीष्मने सिरहाना मांगा। दुर्योधनादिने नरम नरम सिरहाने ला दिये किंतु अर्जुनने भूमिमें तीन बाण मारकर उस पर भीष्मका सिर टिका दिया। तब भीष्मने पानी मांगा। दुर्योधनादिक पीनेके लिये स्वर्ण-कलशमें शीतल सुगंध जल ले आये। भीष्मने वह अस्वीकार करके अर्जुनकी ओर देखा और अर्जुनने पृथ्वीमें बाण मारकर पृथ्वीके अंदर जो दिव्य जल था उसका झरना बहा दिया; भीष्म उस पानीसे तृप्त हुए। इसके बाद अर्जुनने 'मारेंगे या मरेंगे' इस प्रतिज्ञासे लडने आये हुए त्रिगर्तोंके सत्यरथ, सत्यवर्मा, सत्यव्रत, सत्येषु, तथा सत्यकर्माको युद्ध-भूमिमें परलोक दिखाया। वैसे ही प्रस्थलाधिपति सुशर्माको मारा। मयलोक, मद्रदेश आदिके सबीरोंको मारा। हाथी पर बैठकर लडनेवाले महा-पराक्रमी भगदत्तको मारा। मरते समय अभिमन्यूको जयद्रथने लाथ मारी थी, अभिमन्युको इसकी वेदना थी। इसलिये अर्जुनने सूर्यास्तके अंदर जयद्रथका सिर उडानेकी प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञाके अनुसार जयद्रथका सिर उडाया। भारत-युद्धमें दुर्योधन दुःशासन कर्ण आदि कई बार अर्जुनके सामनेसे भाग गये हैं। इसने अंबष्ट, श्रुतायुस् तथा अश्रुतायुसूका वध किया। अंतमें कर्णार्जुन युद्धका समय आया ही। अर्जुनने कर्णको मूर्च्छित किया। कर्णका सर्पास्त्र, बीचमें ही तोड डाला। जब युद्ध जोरों पर था, दोनों ओरसे घमासान चल रहा था तब कर्णका रथ-चक्र भूमिमें धंस गया। वह ऊपर उठाही नहीं। कर्ण जब उसे उठानेके लिये नीचे उतरा तब अर्जुनने

उसका शिरच्छेद किया। दुर्योधनकी मृत्यू बाद जब सब अपने शिबिरमें आये, अर्जुन रथसे नीचे उतरा, उसके बाद जैसे कृष्ण रथसे उतरे रथ जलकर भस्म हो गया। उसी दिन रातको अश्वत्थामा ब्रह्मवस्त्रका प्रयोग करके सबको जलाने लगा। तब अर्जुनने भी उसको रोकनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया किंतु इससे विश्वका अहित होता हुवा देखकर दोनोंने वह संवारण कर लिया।

भारत महा-युद्धके बाद युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञ किया। उस यज्ञमें अर्जुन ही अश्व-रक्षक था। अश्व-रक्षणमें उत्तरमें इसने छोटी मोटी अनेक लडाइयां लडी हैं। त्रिगर्तोंके राजा सूर्यवर्मा तथा उनका भाई केतुवर्माको इसने पराजित किया। भगदत्तके पुत्र यज्ञदत्तको पराजित किया। वहांसे सिंधुदेशमें गया। सिंधुदेश जयद्रथका देश, अर्जुनने महाभारतमें जयद्रथको मारा था। वहां अर्जुन पर गहरा प्रहार किया गया। तब अर्जुनके हाथसे गांडीव गिर पडा। उसको उठाकर अर्जुनने फिरसे युद्ध किया। अर्जुन आगे बढ रहा है यह सुनकर ही जयद्रथका लडका सुरथ मर गया। तब दुर्योधनकी बहन-अर्जुनकी भी चचेरी बहनने-शरण आ कर अर्जुनको युद्ध-परावृत्त किया। वहांसे यह मणिपूरमें गया। वहां बभ्रुवाहन राज्य करता था। वह अनेक लोगोंको साथ लेकर इसका स्वागत करने आया। किंतु क्षत्रियोचित बर्ताव न करनेके कारण उसको अर्जुनने अपमानित किया। उलूपीने सवतके लडकेको युद्धके लिये भडकाया। बभ्रुवाहनने अर्जुनसे युद्ध किया। पितापुत्रमें घमसान मचा। बभ्रुवाहन अर्जुनको मूर्च्छित कर स्वयं मूर्च्छित हो गया। चित्रांगदाने युद्ध भूमी पर आ कर पति व पुत्रके लिये विलाप किया। सबने उलूपीको भला बुरा कहा। अंतमें उलूपीके प्रयाससे संजीवनी ला कर दोनोंको बचा लिया गया। अर्जुन वहांसे मगध आया। मगधमें जरासंधके पौत्र मेघसंधको जीतकर अर्जुन चेदी देशमें गया। शिशुपालके पुत्रने वहां अर्जुनका सत्कार किया। एकलव्यका लडका निषादराज शरभसे युद्ध करके उसको जीतकर दक्षिणमें आंध्र, रौद्र, महिषक आदि देशोंको जीतकर गोकर्ण, प्रभास, द्वारका, आदि होता हुवा गांधार गया। वहां शकुनि पुत्रसे घनघोर युद्ध हुवा। शकुनिकी पत्नीने-अपने पुत्रकी भी पतिकी-सी दुर्गत होगी इस विचारसे-आगे बढकर अपने पुत्रको युद्धसे परावृत्त किया। घोडा गांधारसे माघ पौर्णिमाके लगभग हस्तिनापुरकी ओर लौट पडा। चैत्र पूर्णिमाको अश्वमेध यज्ञ होनेवाला था। भारतवर्षके अनेक राजाओंको जीतकर अर्जुनने उनको यज्ञमें निमंत्रण दिया था। अर्जुनका यह दूसरा दिग्विजय है! अर्जुनने सभी अतिथि राजाओंका सन्मान किया। विशेष करके उसने बभ्रुवाहनका विशेष सन्मान किया।

आश्वमेध यज्ञके कुछ ही काल बाद कृष्णका सारथि दारुकने हस्तिनापुर आकर सभी यादवोंका संहार होनेकी बात कही। यह सुनकर अर्जुनको सच नहीं लगा। फिर भी वह द्वारका गया। वहां जाकर देखा तो उसका हृदय विदीर्ण हुवा। कृष्णकी स्त्रियोंका वह हृदयभेदी विलाप। वसुदेवका क्रंदन, अर्जुन वसुदेव पैर पकडाकरके रोने लगा। वसुदेव भी "राम-कृष्ण गये और यह देख-नेक लिये मैं रहा" कहकर खूब रोये। वसुदेवने अब कृष्णकी द्वारका जलदी समुद्रमें डूब जायगी तू इन सबको लेकर हस्तिनापुर जा" कहकर देह-त्याग किया। अर्जुनने वसुदेव, बलराम तथा कृष्णकी देहको अग्नि-संस्कार किया और स्त्री, रत्न-भूषणादि लेकर हस्तिनापुरके लिये चला। अकेला अर्जुन इतनी सब स्त्रियां तथा रत्नादि ले जाता है यह देखकर रास्तेपर पंचनद राज्यमें आभीने उस पर हमला किया। उस समय अर्जुन इतना खिन्न था कि उसको अस्त्रोंके मंत्र भी स्मरण नहीं होते थे।

आयू भी खूब हो चुकी थी। उसने तब धनुष्यकी उठाकर लाठीकी भांति उसीसे शत्रुओंको मारना शुरू किया और जो कुछ बचा वह लेकर हस्तिनापुर आया। यदुवंशके जो कुछ अंकुर बचे थे उनकी कुछ व्यवस्था की। कृतवर्माके पुत्रको (?) मृतिकावतकी गादीपर बिठाया गया। अश्वपतिको खांडववनका राज्य दिया। अनिरुद्ध-पुत्र वज्रको इंद्रप्रस्थ दे दिया। इस भांति कुछ व्यवस्था करके अर्जुन उद्विग्न मनःस्थितीमें व्यासाश्रममें गया। व्याससे सारी बातें कहकर वहांसे हस्तिनापुर आया। इसके बाद यह युधिष्ठिरके साथ हिमालयकी ओर गया। हिमालय चढते चढते वह बीचमें ही गिरकर मर गया। तब भीमने युधिष्ठिरसे पूछा इसका पतन क्यों हुवा? "मैं अकेला सभी शत्रुओंका नाश करूंगा ऐसे मानता था। किंतु यह ऐसे नहीं कर सका। वैसेही यह अन्य धनुर्धारियोंका अपमान करता था। इसलिये इसका पतन हुवा।"

द्रौपदीसे इसका एक पुत्र था श्रुतकीर्ति वह भारत युद्धमें मारा गया। सुभद्रासे एक पुत्र था अभिमन्यु, यह चक्रव्यूहमें मारा गया। चित्रांगदासे जो पुत्र था बभ्रुवाहन वह मणिपुरका राजा बना। उलूपि पुत्र इरावान् युद्धमें मारा गया। इरावान्ने भी भारत युद्धमें खूब पराक्रम किया है। इसने शकुनीके छ भाई मारे।

अर्जुनका पौत्र अभिमान्युका पुत्र परीक्षित, हस्तिनापुराका राजा हुवा। मृत्यूके समय अर्जुनकी आयु १०६ वर्ष थी। इसका धनुष्य गांडीव। ध्वज कपिध्वज। शंक देवदत्त। तुणीर अक्षय तुणीर। शक्ति पाशुपतास्त्र।

गीता अ० १. श्लोक० ४—युयुधान—

सोमवंशी वृष्णिकुलके सत्यकका लडका। धनुर्विद्यामें अर्जुनका शिष्य। द्रौपदी स्वयंवरमें यह भी था। पांडवोंका कट्टा अभिमानी। जब पांडव वनवासमें थे तब इसने कृष्ण और बलभद्रसे कहा था "पांडवोंको वनवास पूरा करने दो। हम कौरवोंका वध करके अभिमन्युको सिंहासन पर बिठायें।" किंतु "दूसरोंका जीता हुवा राज्य पांडव स्वीकार नहीं करेंगे!" कहते हुए कृष्णने इसका अस्वीकार कर दिया।

पांडव जब वनवाससे लौट आये, शिष्टाईका विचार होने लगा तब बलरामके इस विचार पर कि शिष्टाईमें जानेवाला " नम्र झुककर चलनेवाला हो।" युयुधानने उनका विरोध किया। पांडवोंकी न्याय मांगका समर्थन किया और सभामें यह भी सिद्ध कर दिया कि पांडव पक्ष ही न्यायका पक्ष है। द्रौपदीने इनके इस व्याख्यानका खूब स्वागत किया था। यह सदैव पांडवोंकी ओरसे कौरवोंसे युद्ध करनेमें उत्सुक रहता था। कृष्ण जब शिष्टाई करने चला तब यही कृष्णका सारथी था। संभवतः यह अतिरथी था। पांडव-पक्षके सात उपसेनापतियोंमें यह एक था।

एकबार युद्धमें गांधारोंने इसका रथ टुकडे टुकडे कर दिया था। तब इसने अभिमन्युके रथ पर चढकर शकुनीकी सेनाको तहस नहस कर दिया। एकबार यह भीमके संरक्षणमें भीष्माचार्य पर भी टूट पडा था। भूरिश्रवाने इसके सभी पुत्र मारे थे। द्रोणाचार्यपर भी इसने एक बार आक्रमण किया था। एक बार द्रोणाचार्यके हाथसे धृष्टद्युम्नकी रक्षा की थी। लगातार इसने १०१ बार द्रोणाचार्यका धनुष्य तोडा था। तब द्रोणाचार्यने इसके युद्ध कौशलकी भूरि भूरि प्रशंसा की थी। जयद्रथ-वधका दिवस था। उसी दिन युद्धभूमिमें अर्जुनको अपनी दृष्टिपथमें न पाकर

युधिष्ठिरको अर्जुनके विषयमें भयसा लगा और युधिष्ठिरने युयुधानसे अर्जुनकी रक्षाके लिये जानेको कहा तब युयुधानने कहा "मेरे यहांसे जाने पर आपके पास कोई नहीं रहेगा!" किंतु युधिष्ठिरकी आज्ञा पर यह अर्जुनके पास गया। इसने प्रथम राहमें कुशलता पूर्वक द्रोणको टाला, कृतवर्माका पराभव किया, आगे द्रोण और कृतवर्माका एक साथ पराभव किया! यवनोंका पराभव किया। दुर्योधनको युद्धभूमिसे खदेड दिया। दुःशासनका पराभव किया। अलुंबर और जलसंघको मारा किंतु भूरिश्रवासे पराजित हुवा, भूरिश्रवाने इसको भूमि पर पटक कर घसीटा तब अर्जुनने भूरिश्रवाका हाथ तोड डाला! इसके बाद युयुधानने भूरिश्रवाका वध किया।

बचपनसे यह दुर्योधनका भी मित्र रहा है किंतु युद्धमें दुर्योधनसे वैसे ही घोर युद्ध भी किया है। जब धृष्टद्युम्नने असहाय अवस्थामें द्रोणाचार्यका वध किया तब इसने धृष्टद्युम्नकी भर्त्सना की थी। धृष्टद्युम्नसे लडाई होने तक प्रसंग आया था किंतु युधिष्ठिर और कृष्णके कहने पर टल गया। इसने कर्ण पुत्र प्रसेनका वध किया। भारत-युद्धमें बचे हुए कुछ वीरोंमें यह भी एक है। यादवी युद्धमें कृष्णकी निंदा किये हुए कृतवर्माका प्रतिज्ञा पूर्वक वध करके यह इतना क्रुद्ध हो गया कि जो सामने आया उसका वध करता हुवा आगे बढा। कृष्णने इसको शांत करनेका प्रयास किया किंतु अन्य यादव इस पर टूट पडे। इसकी रक्षा करनेमें प्रद्युम्न आगे आया और इसकी रक्षा करते करते वह भी मारा गया। यह भी मारा गया!! यह कृष्णार्जुनका परम प्रिय मित्र था, अनुयायी था। इसको सात्यकी भी कहा गया है।

गीता अ० १. श्लो० ४–विराट—

मत्स्य-देशका क्षत्रिय राजा। विराट इसकी राजधानी। इसकी दो पत्नियां थीं। प्रथम पत्नी सुरथा, उससे दो पुत्र श्वेत और शंख। दूसरी पत्नी सुदेष्णा। इसके भी दो संतान भूमिंजय अथवा उत्तरकुमार, कन्या उत्तरा। सुदेष्णा इसकी पट्टराणी। इसके ग्यारह भाई थे। ये सभी कुरु-पांडव युद्धमें पांडवोंकी ओरसे लडे हैं। शंख और उत्तर इन दो पुत्रोंके साथ यह द्रौपदी-स्वयंवरमें गया था। पांडवोंने अपना अज्ञातकाल इसीके घर बिताया था। अपने पास "कंक" इस नामसे रहनेवाले युधिष्ठिरको इसने द्यूतके गुट्टीसे मारा था। तब युधिष्ठिरकी नाकसे खून आया किंतु जब इसको मालूम हुवा कि कंक युधिष्ठिर था इसको अत्यंत पश्चात्ताप भी हुवा था। इस वर्ष भरमें पांडवोंने जो उपकार किये थे उससे यह इतना लीन हो गया था कि इसने अपनी पुत्री उत्तराको अभिमन्यूको देकर विवाह किया। भारत युद्धमें यह स-परिवार-बंधु-पुत्रोंके साथ-पांडवोंकी ओरसे लडा था। जयद्रथ वधके दिवस रात्रि-युद्धमें यह द्रोणाचार्यसे मारा गया। भारत-युद्धमें इसका संपूर्ण वंश नष्ट हुवा।

गीता अ० १. श्लो० ४–द्रुपद राजा—

पृषत् राजाका पुत्र। पांचाल देशका राजा। इसको यज्ञसेन, पांचाल, और पार्षत भी कहा गया है। द्रोणाचार्यका पिता भारद्वाज इसका शस्त्र और शास्त्र गुरु। इसने अपना अध्ययन पूर्ण करके जब गुरु-दक्षिणा दी तब द्रोणाचार्य-अपने गुरु-बंधुसे-कहा था कि जब मैं राजा बनूंगा तब कभी तुम मेरे पास आओगे मैं तुम्हारी सहायता करूंगा।

द्रुपद राजा हुवा। द्रोणाचार्यको आर्थिक सहायताकी आवश्यकता पडी। द्रोणाचार्य द्रुपदके पास गये। द्रुपदने आर्थिक सहायता नहीं दी इतना ही नहीं द्रोणाचार्यका अपमान किया।

परिणाम स्वरूप द्रोणाचार्यने अपने शिष्योंसे इसका बदला लिया। इनका आधा राज छीन लिया गया। इससे क्रुद्ध होकर द्रुपद द्रोणके नाशका विचार करने लगा। इसी विचारसे वह पागलसा घूमने लगा। तब अभिचार विद्या-संपन्न, लोभी, अपायज ब्राह्मणके ऋत्विजत्वमें "द्रोण-शत्रु" पुत्र प्राप्तिके लिये यज्ञ किया। इसी यज्ञके परिणाम स्वरूप धृष्टद्युम्न और द्रौपदीका जन्म हुवा।

द्रौपदी जब विवाह-योग्य बनी उसका स्वयंवर किया गया। इस स्वयंवरमें जो जो क्षत्रिय राजा आये थे उनको पांडवोंकी वेषभूषा देख कर ऐसा भ्रम हुवा कि द्रुपदराजने हम सबको अपमानित करके द्रौपदीको ब्राह्मण-कुमारको दे कर विवाहित किया है। इससे युद्धका प्रसंग भी आया। इस समय पांडवोंने अपने शौर्यसे सबका निवारण किया। आगे जब अपने पुरोहितसे पांडव क्षत्रिय होनेका ज्ञात हुवा, इसने बडे ही उत्साह और आनंदसे पांडवोंसे द्रौपदीका विवाह कर दिया।

पांडवोंका वनवास और अज्ञातवास समाप्त होनेके बाद द्रुपदराजाने शिष्टाईके लिये अपने पुरोहितको धृतराष्ट्रके पास भेजा था। किंतु संधानका सभी प्रयास विफल होकर जब युद्ध अनिवार्य हुवा तब यह पांडवोंकी ओरसे लडनेके लिये आ गया। यह भी, अपने पुत्र और बंधुजनके साथ युद्धमें आया था। युद्धमें भी इसने खूब ही पराक्रम किया। यह भी जयद्रथ-वधके दिनके रातके युद्धमें, मार्गशीर्ष वद्य एकादशीको, अंतिम प्रहरमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारा गया।

द्रुपदको द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्नके साथ शिखंडी, सुमित्र, प्रियदर्शन, चित्रकेतु, सुकेतु, ध्वजकेतु, वीरकेतु, सुरथ और शत्रुंजय ऐसे पुत्र थे। ये सब युद्धमें मारे गये। और यह वंश संपूर्ण रूपसे नष्ट हो गया।

गीता अ० १. श्लो० ५–धृष्टकेतु—

चेदिराजा, शिशुपालका लडका। यह अत्यंत पराक्रमी था। इसके लडके भी बडे शूर थे। बहुत ही कम लोग युद्ध भूमिमें इससे लडनेका साहस कर सकते थे। भारत युद्धमें इसने अत्यंत योग्यताके साथ अर्जुनके चक्र-रक्षकका काम किया। यह अपने रथमें कांबोज-देशके घोडे बांधता था। एक बार जब यह द्रोण पर आक्रमण करके आगे बढ़ रहा था वीरधन्वाने इसे रोककर इसका धनुष्य तोड डाला, तब इसने अपना शक्रायुध इतने जोरसे वीरधन्वापर फेंक दिया कि उसके आघातसे वीरधन्वाका रथ चूर चूर हो गया और वीरधन्वा युद्ध–भूमिपर पटक दिया गया। इसके बाद यह अत्यंत वेगके साथ द्रोण पर आक्रमण करके आगे बढ़ा और द्रोणने इसको तत्काल मार गिराया। इसकी एक कन्या रेणुमति नकुलकी पत्नी थी। वीतिहोत्र इसका पुत्र था।

गीता अ० १. श्लो० ५–चेकितान—

वृष्णिवंशका क्षत्रिय राजा। दुर्योधनने इसका वध किया था। द्रौपदी स्वयंवरमें यह भी गया था।

गीता अ० १. श्लो० ५–पुरुजित—

कुंतिभोज राजाका पुत्र। कुंतीका भाई। पांडवोंका मामा। इसके रथके घोडे इंद्रधनुष्यके रंगके होते थे। युद्धमें द्रोणाचार्यसे यह मारा गया था।

गीता अ० १. श्लो० ५—कुंतिभोज—

प्रथम यह निपुत्रिक था। इसलिये वसुदेवके पिता शूरसेनने अपनी कन्या पृथा-जो कुंती नामसे प्रसिद्ध है-इसको दत्तक दी। यह शूरसेनकी बूआका लडका था। आगे इसका पुरुजित् नामका पुत्र हुवा। इस पुरुजितके अलावा इसके और दस पुत्र भी हुए थे। ये भी सब कुरु-युद्धमें लडने आये थे और इन सबको अश्वत्थामाने मारा। इसका द्रोणाचार्यसे जो युद्ध हुवा उस युद्धमें यह द्रोणाचार्यसे मारा गया। और यह वंश भी कुरु-युद्धमें समाप्त हुवा।

गीता अ० १. श्लो० ६—युधामन्यु—

पांचाल। महारथी। महाधनुर्धर। धनुर्विद्या और गदायुद्धमें प्रवीण। कुरु-युद्धमें इसने द्रोण, दुर्योधन आदिसे युद्ध किया है। कुरु-युद्धमें लडकर जो कुछ थोडेसे वीर अंत तक बचे रहे इसमें यह भी एक था। युद्धके अंतिम दिन रातको नींदमें अश्वत्थामाके द्वेषाग्निमें जो आहुति हुए उनमें यह भी एक है। इस समय भी इसने अश्वत्थामा पर सोये सोये ही गदा-प्रहार किया किंतु इसके उठनेके पहले ही अश्वत्थामाने इसका वध किया। कुरुयुद्धमें यह अत्यंत वीरतासे लडा था।

गीता अ० १. श्लो० ६—उत्तमौजा—

पांचाल देशीय राजपुत्र। यह भी कुरु युद्धके अंतिम दिनको रातके हत्याकांडमें अश्वत्थामासे मारा गया।

गीता अ० १. श्लो० ६—सौभद्र—

अभिमन्यु। अर्जुनका पुत्र। माताका नाम सुभद्रा। जन्मके समय ही यह अत्यंत निर्भय और क्रोधी-सा लगता था। इसीलिये इसे अभिमन्यु कहा गया। यह अर्जुनके नेतृत्वमें धनुर्विद्या सीखा। इसकी शस्त्र-रचना और अस्त्र-कौशल्यसे प्रसन्न होकर बलरामने इसको रौद्र नामका धनुष्य दिया था। अपने पराक्रमके बलपर यह अत्यंत अल्पायुमें ही महारथी कहलाया। कुरु-युद्धमें द्रोणाचार्यने अत्यंत कुशलतासे अर्जुनको दूसरे युद्धमें उलझा कर मुख्य-युद्धमें चक्र-व्यूहकी रचना की। पांडवीसेनामें अर्जुनके बिना चक्रव्यूहका भेदन करनेवाला महारथी दूसरा कोई नहीं था। तब अभिमन्यूने भीमकी सहायतासे चक्रव्यूहका भेदन करनेका निश्चय किया। इसको चक्रव्यूहमें कैसे घुसना चाहिये इसकी जानकारी थी किंतु व्यूह भेदन करके कैसे बाहर आना चाहिये इसकी जानकारी नहीं थी। यह धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर युद्ध-भूमिमें उतरा। द्रोणाचार्य स्वयं व्यूहकी रक्षा कर रहे थे। फिर भी अभिमन्यु व्यूह तोड कर अंदर घुस गया। व्यूहमें घुसते ही इसने अपने शौर्यसे बडे बडे महारथियोंको भी मैदान छोडनेके लिये बाध्य किया। सारी सेना पीछे हटने लगी। यह देखकर स्वयं द्रोणाचार्य इस पर चढ आये। अभिमन्युने कुशलता-पूर्वक उनको टालकर अश्मक राजाका वध किया। शल्यके भाईको मारा। इस पर चढ़ाई करके आये हुए कर्णको जर्जर करके युद्ध भूमि छोड़नेके लिये बाध्य किया।

इस युद्धमें अभिमन्यूका रक्षक भीम इससे दूर फेंका गया। अभिमन्यूको अकेला देख कर दुःशासनने इसपर हमला किया। दुःशासनको युद्ध-भूमिसे भगाकर यह कौरव-सेनाका संहार करते करते इतना दूर निकल गया कि यद्यपि इसने भीमके लिये रास्ता खुला रखा था भीम इसके पास नहीं आ सका। अभिमन्युको अकेला देखकर दुर्योधनका पुत्र लक्ष्मणने इस पर आक्रमण किया किंतु यह अभिमन्यूसे मारा गया। कर्ण पुत्र आक्रमण करके भाग गया। साथ साथ अन्य अनेक वीरोंको इसने स्वर्गकी राह दिखाई। यह देखकर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, बृहद्रथ, बृहद्बल ये सात महारथी एक साथ इससे लड़ने लगे। यह अकेला ही इन सबका निवारण करने लगा। सबने मिलकर अत्यंत कठिनाईसे इसको विरथ किया। तब अभिमन्यु ढाल और तलवार लेकर लड़ने लगा। द्रोणने वह भी तोड दिया। तब इसने गदा हाथमें उठाई। दुःशासनके पुत्रसे इसने गदायुद्ध प्रारंभ किया। यह अत्यंत थका हुवा था। भीम इससे दूर था। वहां जयद्रथने भीमको रोक रखा था। अभिमन्यू अकेला सात महारथियोंसे लड़ रहा था। दुःशासन पुत्रके गदा प्रहारसे वह मूर्च्छित हो गया। इस मूर्च्छासे सावध होनेके पहले ही दुःशासनके पुत्रने इस पर और एक गदा प्रहार किया जिससे अभिमन्यु मर गया।

विराट कन्या उत्तरा इसकी पत्नी थी। जब अभिमन्यूकी मृत्यू हुई तब उत्तरा गर्भवती थी। इसका पुत्र परीक्षित ही कुरु-युद्धमें समाप्त कुरु-कुलका एक मात्र संतान रहा, इसीने कुरु-कुलका प्रतिनिधि बनकर आगे राज्य किया।

गीता अ० १. श्लो. ६ द्रौपदेय—

(१) युधिष्ठिरसे प्रतिविंध्य, (२) भीमसे सुतसोम, (३) अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, (४) नकुलसे शतानीक (५) सहदेवसे श्रुतसेन।

प्रतिविंध्य— भारत युद्धके अंतिम दिन युद्ध समाप्तिके बाद शिबिरमें निद्रित अवस्थामें अश्वत्थामासे मारा गया।

सुतसोम—कोई जानकारी नहीं मिली।

श्रुतकीर्ति—युद्धमें शल्यसे इसका पराभव हुवा था। इसको भी अश्वत्थामाने नींदमें मारा था।

शतानीक— अश्वत्थामासे अंतिम दिन रातको मारा गया।

श्रुतसेन—इसने कांबोज राजा सुदक्षिणसे युद्ध किया था। यह भी अश्वत्थामासे नींदमें मारा गया।

गीता अ० १. श्लोक० ८ भीष्माचार्य—

पिताका नाम शंतनु। माता गंगा। इनका शास्त्र-गुरु वसिष्ठ। बृहस्पति और शुक्रने इन्हे नीतिशास्त्र सिखाया था। परशुरामसे धनुर्वेद, राज-धर्म और अर्थ-शास्त्र सीखे। गंगा-पुत्र होनेसे इन्हे गांगेय भी कहा गया है। आमरण ब्रह्मचर्य और राज्याधिकार त्याग करनेकी घोर प्रतिज्ञा करनेके कारण ये भीष्म या भीष्माचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए किंतु वैसे इनका नाम देवव्रत था। एकके बाद एक तीर छोड कर ये गंगा प्रवाह रोक देते थे। जन्मके बाद ये इतना अधिक गुरुकुलमें रहे कि बाप भी इनको भूल गया था !! प्रथमावस्थामें गंगाने ही

इनका पालन किया था। जब ये हस्तिनापुर आये और इनको युवराज्याभिषेक हुवा तब ये ३६ वर्षके थे। जब देवव्रत राज्य कार्य कर रहे थे तब शंतनु सत्यवती नामकी एक शूद्र कन्यासे मोहित हो गया। शंतनुने सत्यवतीके पितासे मंगनी की किंतु "सत्यवतीके पुत्रोंको राज्य नहीं मिलेगा" इस कारणसे उसने शंतनुकी मांग अस्वीकार कर दी। देवव्रतको जब यह ज्ञात हुवा तब इन्होंने पिताके सुखके लिये राज्याधिकार त्यागने तथा सत्यवतीके पुत्रोंके वंशमें ही राज्य रहे इसलिये आमरण ब्रह्मचर्यसे रहनेकी भी भीषण प्रतिज्ञा की। तबसे देवव्रत भीष्म इस नामसे प्रसिद्ध हुए।

देवव्रतकी इस प्रतिज्ञासे सत्यवतीका शंतनुसे विवाह होकर उससे चित्रांगद और विचित्रवीर्य ऐसे दो पुत्र हुए। इनमेंसे चित्रांगदको गादी पर बिठाकर भीष्म राज्य करने लगे। शंतनुकी मृत्यूके बाद तुरंत उग्रायुधने भीष्मको संदेशा भेजकर विमाता सत्यवतीकी मंगनी की। भीष्मने इससे क्रुद्ध होकर तुरंत सेना सिद्ध करनेकी आज्ञा दी। किंतु पिताकी मृत्यु-दिनोंमें युद्ध प्रारंभ नहीं कर सकते, उग्रायुध अपनी मांग नहीं छोडता तब भीष्मने तीन दिन तक अथक युद्ध करके उसका वध किया।

इसके बाद चित्रांगद किसी गंधर्वसे लडते समय मारा गया। भीष्मने विचित्रवीर्यको गद्दी पर बिठाया। विचित्रवीर्य भीष्मके नेतृत्वमें राज्य-कार्य चलाता था। कुछ काल बाद काशीराजाने अपनी तीन कन्याओंके स्वयंवरकी घोषणा की। भीष्म उस स्वयंवरमें गये और वहां जो राजा उपस्थित थे उन सबको आव्हान देकर तीनों राजकुमारियोंको उठाकर ले आये। हस्तिनापुरमें आकर भीष्मने इन तीनों लडकियोंका विचित्रवीर्यसे विवाह करनेका निश्चय किया, तब जेष्ठ कन्या अंबाने कहा "मनसे मैंने शाल्वका वरण किया है।" यह सुनकर भीष्मने उसकी इच्छानुसार सब व्यवस्था कर दी किंतु शाल्वने उसका अस्वीकार कर दिया। इस पर वह तप करने लगी और भीष्मने अंबाकी अन्य दो बहने अंबिका और अंबालिकाका विचित्रवीर्यसे विवाह कर दिया।

अंबा जहां तपस्या कर रही थी वहां उसको अपने वृद्ध नानाका दर्शन हुवा। नानाने नातीकी राम कहानी सुनकर परशुरामको शरण जानेको कहा और अंबा परशुरामको शरण जाकर भीष्म वधकी प्रार्थना करने लगी। परशुरामने केवल ब्राह्मण-कार्यार्थ ही शस्त्र लेनेका निर्णय करनेके कारण अन्य उपायसे अंबाका कार्य करनेका निश्चय करके गुरुके नाते भीष्मसे अंबाका स्वीकार करनेको कहा किंतु भीष्मने जिसने मनसे दूसरेका वरण किया है, उसके विषयमें भाईसे बात करनेसे अस्वीकार कर दिया। परशुरामने तब भीष्मको युद्धका आवाहन दिया। भीष्मने परशुरामको बहुतेरा समझाया किंतु व्यर्थ। अंतमें भीष्म और परशुरामका द्वंद्व युद्ध हुवा। चार दिन तक यह युद्ध हुवा और अन्तमें परशुराम पराजित हुए। प्रस्वाप अस्त्रके कारण परशुरामका पराजय हुवा। वह अस्त्र भीष्मके अलावा और कोइ नहीं जानता था। फिर अंबा भीष्मके नाशके लिये तप करने लगी। तब महादेवने तेरे ही हाथसे भीष्मका वध होगा ऐसा वर दिया और अंबाने शरीर त्याग दिया।

यहां विचित्रवीर्यको क्षय हुवा। सत्यवतीने भीष्मसे विवाहकी प्रार्थना की। भीष्मने प्रतिज्ञाभंग अस्वीकार कर दिया। तब व्याससे अंबिका अंबालिकामें संतानोत्पादन कराया गया। उसमें धृतराष्ट्र अंधा था इसलिये पांडूको गादीपर बिठाकर भीष्म राज्य देखने लगे। कौरव पांडवोंमें बितुष्ट आकर पांडवोंको वनवास, अज्ञातवास, करना पडा। उनके वनवासके बाद द्रुपदराजाने अपने पुरोहितको संधानके लिये धृतराष्ट्रके पास भेजा। उस समय भीष्मने पांडवोंके अधिकारको स्वीकार

करके दुर्योधनको पांडवोंसे सख्य करनेको कहा। इसका कोई उपयोग नहीं हुवा। कारव पांडव युद्ध अनिवार्य हुवा। भीष्मको तब कौरव-सेनाका सेनापति बनना पडा। सेनापतिका पद स्वीकार करते समय भीष्माचार्यने कहा था "मैं पांडवसेनाका नाश करूंगा किंतु पांडवोंमेंसे किसीका वध नहीं करूंगा! जब मैं सेनापति रहूंगा तब कर्ण युद्धभूमि पर नहीं लडेगा !!" इसने शर्तके साथ भीष्माचार्यने सेनापति पद स्वीकार किया; उसके प्रथम भीष्माचार्यने दुर्योधनको अपनी शक्ति, अशक्ति तथा युद्धनीतिका संपूर्ण परिचय दिया था। इस समय उन्होंने कहा था "एक महीनेमें मैं शत्रुसेनाको छिन्न विछिन्न कर दूंगा!"

अठारह दिनके युद्धमें दस दिन तक वे ही लडते रहे। उसके बादके आठ दिनोंमें तीन सेनापति बने। कृष्णने प्रतिज्ञा की थी "युद्धमें मैं हथियार नहीं उठाऊंगा।" भीष्माचार्यने तब कहा "मैं कृष्णको हथियार उठानेमें बाध्य करूंगा!" युद्धके तीसरे ही दिन भीष्माचार्यने कृष्णको हथियार उठानेमें बाध्य किया! भीष्माचार्यने अर्जुनको हतबल करके मूर्च्छित किया। यह देख कर क्रुद्ध कृष्ण रथ-चक्र उठाकर जब भीष्माचार्य पर चढ दौडे तब भीष्माचार्य अपने हाथके शस्त्र नीचे रख कर "प्रत्यक्ष परमात्मा ही मेरा वध करेगा!" कहकर हाथ जोड कर स्तवन करने लगे। इसी प्रकार नौवे दिन भी हुवा!!

नौवे दिन दुर्योधनके कटु-वाक्योंसे तंग आकर भीष्माचार्यने कहा "कलके युद्धमें मैं या पांडव दोनोंमेंसे एक रहेंगे!" "मैं निष्पांडव पृथ्वी करूंगा!" यह प्रतिज्ञा सुनकर पांडव घबरा उठे; वे कृष्णको साथ लेकर भीष्माचार्यके वधका उपाय पूछनेके लिये भीष्माचार्यके पास गये। युधिष्ठिरने भीष्मकी प्रतिज्ञाका स्मरण दिलाकर उनके वधका उपाय पूछा। भीष्माचार्यने भी अत्यंत प्रेमसे पांडवोंका अदरातिथ्य करके कहा "मैं उससे नहीं लडूंगा जिसका रथ-कलश रथ-ध्वज अमंगल होगा, मैं किसी हीन व्यक्तिसे नहीं लडूंगा, अथवा मैं स्त्रीसे नहीं लडूंगा। तुम्हारी सेनामें द्रुपद-पुत्र जो शिखंडी है, वह जन्मतः स्त्री था, आगे चलकर पुरुष बना! इसलिये शिखंडीका ढालसा उपयोग करके अर्जुन मुझे मार सकता है! तब मैं असहाय बनूंगा। तुम मेरा वध करके विजयी बनोगे!" दूसरे दिन, अर्थात् युद्धके दसवे दिन अर्जुनने शिखंडीको आगे रख कर भीष्मसे लडना प्रारंभ किया। भीष्माचार्यका शरीर बाणोंसे छिदसा गया। यह मार्गशीर्ष वद्य सप्तमीका दिन था। उस दिन फाल्गुनी नक्षत्र था। संध्याका समय था, अर्जुनके बाणोंसे भिदकर भीष्माचार्यका शरीर रथसे बाहर जा पड़ा! वह रथके नीचे शर शैया पर पडा। उनका सिर लटकने लगा। सिरके पास तीन बाण मार करके अर्जुनने सिर उन बाणों पर टिका दिया। तब भीष्मने कहा मुझे बडी प्यास लगी है और अर्जुनने अपने बाणसे पृथ्वी भेद कर गंगा प्रवाह उनके मुखमें पडे ऐसा किया। भीष्माचार्य इससे अत्यंत संतुष्ट हुए। उन्होंने कहा "भीष्म-वधसे कौरव पांडवोंका वैर शांत हो!" किंतु दुर्योधन नहीं माना। उसके बाद, वहां दूसरा कोई नहीं था तब कर्ण भीष्माचार्यका दर्शन करने आया। तब दोनों मुक्त हृदयसे मिले। भीष्माचार्यने कर्णसे कहा "कौरव-पांडवोंका सख्य हो ऐसा कर! अथवा पांडवोंकी ओरसे लड़!!" किंतु उसका अस्वीकार करके कर्णने लड़नेकी आज्ञा मांगी! भीष्मने कर्णको वैसी आज्ञा दी। युद्ध समाप्तिके बाद युधिष्ठिर कुलक्षय देख कर जब अत्यंत दुःखित हो गया था तब भीष्माचार्यका शरीर अत्यंत निःसत्त्व हुवा था। फिर भी, युधिष्ठिरका मन स्वस्थ हो इसलिये भीष्माचार्यने उसको धर्मोपदेश दिया। उसके बाद माघ शुद्ध

अष्टमीके दिन उत्तरायणमें भीष्मने शरीर-त्याग किया। भीष्माचार्य इच्छा-मरणी थे। तभी वे अपना शरीर ऐसे टिका सके।

भीष्मके ध्वज पर तालवृक्षका चिन्ह रहता था। मृत्यूके समय भीष्मकी आयू १८६ वर्षकी थी।

गीता अ० १. श्लो० ८—कर्ण—

कुंतिभोज राजाने जब पृथाको गोद लिया उसको अतिथि सत्कारका काम सौंप दिया था। पृथाने अर्थात् कुंतीने यह काम अत्यंत दक्षतासे किया। एक बार दुर्वासा ऋषि जब कुंतिभोजका अतिथि बने तब कुंतीकी सेवा शुश्रूषासे अत्यंत संतुष्ट होकर कालांतरसे कुंती पर आनेवाले संकटका विचार कर उसे दुर्वासा-ऋषिने एक वशीकरण मंत्र दिया और कहा "इस मंत्रसे तू जिसे बुलायेगी वह देवता आकर तुझे पुत्र देगा!" दुर्वासा ऋषी गये। आगे कुंतीको मंत्र शक्तिकी प्रतीति देखनेकी जिज्ञासा हुई। उसने विधिवत् मंत्रका जाप करके सूर्यको बुलाया और प्रत्यक्ष सूर्यको सम्मुख पाकर चकित हो गयी। सूर्यसे कुंतीको कवच-कुंडलयुक्त पुत्रकी उत्पत्ति हुई। वही कर्ण है। कुंतीने लोक-लज्जाके भयसे कर्णको एक पेटीमें डाल करके अश्व-नदीमें छोडा दिया। यह पेटि बहते बहते यमुना नदीमें आयी और धृतराष्ट्रका सारथी अधिरथने देखी। वह पेटिका लेकर अधिरथ घर आया और उसने वह अपनी पत्नी राधाको दी। यह बालक देखते ही राधाका वात्सल्य फूट पडा। उसके स्तन आर्द्र हो गये। उसने कर्णको छातीसे लगा लिया। इस प्रकार कर्ण राधाकी गोदमें बढकर राधेय कहलाया। किंतु इसकी तेजस्विता देखकर स्वयं राधाने इसको वसुषेण कहा था।

द्रोणाचार्य इसका शस्त्र-गुरु है। कृष्णने इसको वेद शास्त्रज्ञ कहा है। जब कर्ण और दुर्योधनका परिचय हुवा तब कौरव-पांडव विरोधका बीज पड चुका था। दुर्योधनने "यह अर्जुनको भी भारी जायेगा!" ऐसा मानकर इससे मैत्री की।

यद्यपि कर्णने द्रोणसे शस्त्राभ्यास किया द्रोणने इसको ब्रह्मास्त्र नहीं सिखाया। इसी एक कारणसे अर्जुन इससे श्रेष्ठ था। स्वभावसे यह उद्धत और अपनी बढाई कहनेवाला था। कई बार इसने द्रोणसे ब्रह्मास्त्र सिखानेको कहा किंतु द्रोणाचार्यने टाल दिया। मन ही मन यह अर्जुनसे द्वेष करता था, अर्जुनसे बढ कर वीर होनेकी अभिलाषा करता था इसलिये यह ब्रह्मास्त्र प्राप्तिके लिये परशुरामके पास गया। परशुराम क्षत्रियोंको विद्या-दान नहीं करते थे केवल ब्राह्मणोंको ही धनुर्विद्या सिखाते थे। इसलिये कर्णने परशुरामसे असत्य कहा। गुरु-वंचनासे ही इसकी ब्रह्मास्त्र-साधना प्रारंभ हुई। परशुरामने इसको शिष्यके रूपमें स्वीकार किया। कर्ण परशुरामके पास रहने लगा। परशुरामने इसे सप्रयोग ब्रह्मास्त्र सिखाया।

एक दिन व्रतोपवाससे श्रांत परशुराम कर्णकी गोदमें सिर रख कर सो गया। उसी समय किसी कृमिने कर्णकी जांग काट खाई। "गुरुदेव जग जायेंगे!" इस विचारसे कर्ण सारी वेदनाको सहते हुए स्थिर आसनेसे बैठे रहे किंतु कर्णके बहनेवाले रक्तसे परशुराम जग गये। इस घटनासे परशुरामको कर्णके ब्राह्मण होनेमें संदेह हुवा। परशुरामने कर्णसे प्रश्न किया और कर्णने सभी सच्ची बात कह सुनाई। परशुराम इससे संतुष्ट तो हुए किंतु गुरुसे असत्य कहनेके उपलक्ष्यमें समान योद्धासे युद्ध करते समय तथा वध होते समय इस अस्त्रकी स्फूर्ति न होनेका शाप मिला।

साथ ही साथ परशुरामने कर्णको आश्रम छोड कर जानेकी आज्ञा दी और जाते जाते "कोई भी क्षत्रिय तुम्ह जैसा योद्धा नहीं होगा ! " ऐसा आशीर्वाद भी दिया। एक बार इसने मल्ल-युद्धमें जरासंधकी हड्डी-फसली ढीली कर दी थी। इससे खुश होकर जरासंधने इसे मालिनी नगर देकर इससे स्नेह किया था। साथ साथ इनके हाथसे एक ब्राह्मणकी गायका बछडा मारा जानेसे ब्राह्मणने जीवन मरणके युद्धमें पृथ्वी तेरा रथचक्र निगलेगी !! " ऐसा शाप दिया।

एक बार धृतराष्ट्रने कौरव-पांडवोंका शस्त्रास्त्र कौशल्य देखनेके लिये रंगभूमि तैयार की। उस समय कर्णने उद्धततासे केवल द्रोणाचार्य और कृपाचार्यको ही प्रणाम किया। उस प्रणाममें भी नम्रता नहीं थी। वैसे ही, सभी जब, अर्जुनका अस्त्र-कौशल्य देख प्रसन्न होकर उसका गुणवर्णन करने लगे तब कर्णने "मैं उससे भी अधिक कौशल्य दिखा सकता हूं" कहते हुए अर्जुनको द्वंद्व-युद्धके लिये ललकारा ! तब सब लोग आश्चर्य विमूढ होकर कर्णकी ओर देखने लगे। यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि इस समय अर्जुन ब्रह्मास्त्रकी सप्रयोग-प्रक्रिया जानता था और कर्ण उससे पूर्ण रूपसे अनभिज्ञ था। किंतु सुदैवसे (कर्णके ?) कर्णके जन्मके विषयमें तब कोई कुछ नहीं जानते थे। तथा कर्णने अपने पालक पिता अधिरथको देख कर प्रणाम किया था, इसलिये सभी इसको सूतपुत्र तथा राधेय कहने लगे और द्वंद्वयुद्ध टल गया। किंतु कौरव पांडव वैरके साथ बढनेवाला कर्ण-पांडव वैर देख कर, कुंती मन ही मन रोती रही !

दुर्योधनने कर्णको अंग-देशका राजा बना दिया था। "इस उपकारके लिये मैं क्या दूं तुम्हे ?" कर्णने पूछा और दुर्योधनने कहा "चिर मैत्री !" जिसे कर्णने अंतिम क्षण तक निभाया। यह अकृत्रिम मित्रता सहज रूपसे बढती ही गयी। कर्णने अनेक सूत-पुत्रियोंसे विवाह किया। द्रौपदी स्वयंवरमें भी यह गया था। जब यह मत्स्यभेदके लिये आगे बढा द्रौपदीके "मैं सूत-पुत्रका वरण नहीं करूंगी" कहनेसे पीछे हट कर बैठ गया।

पांडव-वनवासके दिनोंमें कौरव जिस घोष-यात्रामें गये थे उसमें कर्ण था। इस यात्रामें कौरव और चित्रसेन गंधर्वका युद्ध हुवा। इस युद्धमें कर्णने प्रथम चित्रसेनका पराभव किया था किंतु चित्रसेनकी सेना अकेले कर्ण पर टूट पडी ! कर्णका रथ तोड दिया। तब इसे विकर्णके रथ पर बैठ कर भाग जाना पडा और चित्रसेनने दुर्योधनको बंदी बना लिया। अर्जुनने जब दुर्योधनको चित्रसेनसे छुडाया तब लज्जित दुर्योधन प्रायोपवेशन करके मरनेकी बात करने लगा। ऐसी स्थितिमें कर्णने कहा था "द्यूतमें तुमने अर्जुनको जीता है। अर्जुन तुम्हारा दास है। अपने स्वामीके लिये लडना सेवकका स्वाभाविक धर्म है। तुम्हारे लिये इसमें दुःखकी क्या बात है ?" वैसे ही अज्ञातवासके उत्तर गोग्रहणमें भी कर्ण दुर्योधनके साथ था। दुर्योधनके साथ तब कर्ण, संसप्तक, सुशर्मा आदि थे इस युद्धमें भी कर्ण अर्जुनसे पराजित होकर भाग गया था। इस युद्धमें कर्णके सामने अर्जुनने उसका प्रिय बंधु शत्रुंतपका वध किया था। जब कभी कर्ण और अर्जुन आमने सामने आये हैं कर्ण पर अर्जुनकी विजय हुई है। कभी कर्ण अर्जुनका पराभव नहीं कर पाया। यद्यपि वह अपनेको अर्जुनसे श्रेष्ठ धनुर्धारी कहता रहा है।

इसी बातको एक बार भीष्माचार्यने कहा था। अर्जुनने चित्ररथ गंधर्वसे दुर्योधनकी रक्षा की तब भीष्माचार्यने दुर्योधनको इसका महत्त्व समझाकर पांडवोंसे सख्य करनेको कहा था। तब दुर्योधन हंसा और कर्ण अपना पराक्रम दिखानेके लिये दिग्विजय करनेके लिये निकला। अंगराज

कर्ण तब एक प्रसिद्ध धनुर्धारी था। महारथी था। उसने सर्व प्रथम पांचाल पर आक्रमण करके द्रुपदराज और उनके अन्य अनुयायियोंसे कर ले लिया। फिर वह उत्तरकी ओर मुडा। उसने भगदत्तको जीता, हिम-पर्वतके राज्योंको जीता, फिर पूर्वकी ओर मुडा। नेपाल, बंग, कलिंग, शुंडिक, मिथिला, मागध, कर्कखंड, आवशीर, अहिक्षत्र, वत्सभूमि, मृत्तिकावती, मोहननगरी, कोसलनगरी, आदि जीतकर उन राजाओंसे कर ले लिया और दक्षिणकी ओर मुडा। दक्षिणमें कुंडिनपुरके रुक्मीको जीता, रुक्मी इसका मित्र बनकर दिग्विजयमें इसका साथी बन गया। इसके बाद, पांड्य, शैल, केवल, नील प्रदेशके राजाओंको जीता, इसके बाद चेदिराजाको जीता, पार्श्व और अवंती राजाको जीता और पश्चिमकी ओर मुडा। पश्चिममें इसने यवन और बर्बर लोगोंको जीता। म्लेच्छ, अरण्यवासी मद्र, रोहितक, आग्नेय, मालव आदि लोगोंका पराजय करके इसने अपना दिग्विजय पूर्ण किया। इससे, दुर्योधन आदि कौरवोंको यह विश्वास हो गया कि कर्ण पांडवोंको जीत सकेगा। कलिंगाधिपति चित्रांगदने जब अपनी कन्याका स्वयंवर रचा और दुर्योधन उस कन्याको उठा ले आया तब कर्णने ही दुर्योधनको चित्रांगदसे बचाया था।

दुर्योधनकी कृपासे कर्ण अंगराज बना। अंगराज्य उस समयके भारतके १८ विभागोंमें एक विभाग था। अंगराज कर्ण, अत्यंत उदार प्रवृत्तिका राजा था। कोई भी ब्राह्मण कर्णके पास आकर रिक्तहस्त नहीं लौट सकता था। वह इच्छा दानी था। सदैव अपना सर्वस्व देनेको तैयार रहता था। कर्णकी इसी उदारताका लाभ लेकर इंद्रने उसके स्वभाविक कवच कुंडल शरीरसे तराश लिये। यह कवच कुंडल अमृतसे बने थे। स्वाभाविक रूपसे शरीरसे चिपके हुए थे। इसी कवचके कारण कर्ण अजेय था। इसी लिये अर्जुनके हितमें इंद्रने ब्राह्मण रूपसे कर्णके कवच कुंडल दानमें मांग लिये और कर्णने भी "यह कवच कुंडल शरीरसे छीलकर निकालने होंगे। ऐसे करनेसे मेरा शरीर विद्रूप न हो" यह वर लेकर वे छील दिये। सूर्यने ऐसे न करनेको कहा था किंतु कर्णने "आयुष्यसे कीर्ति महान है!" कहते हुए सूर्यकी बातको अस्वीकार कर दिया। स्वयं कर्ण जब शांत भावसे अपना कवच-कुंडल छीलने लगा तब यह देख कर इंद्र चकित रह गया। इंद्रने कर्णके कवच कुंडल लेकर इसके उपलक्षमें उसको वासवी शक्ति दी जिस पर यह फेंकी जाय उसका वध हो सके। कर्णने ये कवच कुंडल अपना शरीर छील कर दिये इसलिये कर्णको वैकर्तन भी कहते हैं।

कृष्ण जब शिष्टाईके लिये दुर्योधनके पास गया था तब कृष्णने कर्णको उसका जन्म रहस्य कह कर "पांडव-पक्ष ग्रहण करनेसे तू सम्राट बनेगा और पांडव तेरी सेवा करेंगे!" ऐसे कहा था। "इससे होनेवाला कुल-क्षय भी रुकेगा!" यह भी कहा था किंतु कर्णने कृष्णसे "तू कहता है यह मुझे मान्य है। मैं तेरी बात पर विश्वास करता हूं। कुंती मेरी मां है, पांडव भाई हैं किंतु राधाने मुझे अकृत्रिम स्नेह दिया है। अधिरथने उदार आश्रय दिया है। अनेक सूत-कन्याओंने मुझसे विवाह करके प्रेम दिया है। दुर्योधनको मैंने आजीवन मैत्रीका आश्वासन दिया है! यह सब छोड़कर मैं नहीं आ सकता!" यह कहते हुए उसे लौटा दिया। ये ही बातें उसने कुंतीसे कही थीं। कुंतीको इसने "अर्जुनके अलावा मैं और किसी पांडवका वध नहीं करूंगा" ऐसे वचन भी दिया था। भारत युद्धमें कर्णने यह वचन निभाया।

भारत-युद्धमें भीष्म और द्रोणाचार्यके बाद कर्ण सेनापति हुवा। जब यह सेनापति बनाया गया तो सर्व प्रथम भीष्माचार्यके पास गया जो शर-शैय्या पर पडे थे। भीष्मको प्रणाम करके इसने

सेनापतिके रूपमें लड़नेकी आज्ञा मांगी। तब भीष्मने भी इसे उसका जन्म-वृत्त कह कर युद्ध रोकनेकी सलाह दी थी। किंतु कर्णने इसके प्रथम जब जब भीष्माचार्यकी अवहेलना की थी उन सबके लिये क्षमायाचना करते हुए भी यह बात माननेसे अस्वीकार कर दिया और कर्ण युद्ध-भूमि पर आया।

कर्ण जैसे अद्वितीय धनुर्धरको वैसे ही सारथीकी आवश्यकता थी। उन दिनोंमें कृष्ण और शल्य ये दो ही महान सारथी थे। उसमें कृष्ण तो अर्जुनका सारथी था। शल्य मद्र देशका राजा था। क्षत्रिय था। महारथी था। वह कर्णका सारथ्य क्यों करें ? और कर्णका जन्म भी संदिग्ध था तब !! किंतु दुर्योधनने शल्यसे प्रार्थना की। शल्यने इसको अपना अपमान मान कर भी मित्र प्रेमके लिये "मैं जो उचित समझूंगा उससे कहूंगा !" इस शर्त पर सारथ्य किया और सारथ्य करते समय अर्जुनके शौर्यकी बखान करके कर्णका तेजोवध करने लगा। कर्णने इसको भी सहन करके उसको यथायोग्य उत्तर दे कर चुप किया। फिर शल्य भी कर्णको प्रोत्साहित करने लगा।

इस युद्धमें अर्जुनने इसके पुत्र वृषसेनको मारा। तब इसे बड़ा दुःख हुवा। और वह अत्यंत आवेशमें आकर लड़ने लगा। उसको परशुरामका शाप स्मरण हो आया। अस्त्रोंकी विस्मृति होने लगी। ब्रह्मास्त्र का प्रयोग ही भूल गया। और इंद्रकी दी हुई वासवी शक्ति ! कर्णने वह अर्जुनके लिये संभालकर रखी थी किंतु जब द्रोणाचार्य सेनापति थे, जयद्रथ वध हुवा और रात्रीके समय भी युद्ध होने लगा, उस युद्धमें घटोत्कचने त्राही मचा दिया। कौरव सेनाको उसने घासकी भांति काटा ! वीरोंको वह पिस्सू खटमलोंकी भांति मसलने लगा। दुर्योधनको लगा भारत युद्ध सूर्योदयके पहले ही समाप्त हो जायेगा। कर्णके पास जा कर दुर्योधनने कहा "घटोत्कचपर वासवी शक्तिका प्रयोग करो !" कर्णने कहा "वह अर्जुनके लिये है !" दुर्योधन नहीं माना। अंतमें वह शक्ति उसको अपनी इच्छाके विरुद्ध घटोत्कच पर छोड़नी पड़ी !! अब बार बार प्रयत्न करने पर भी ब्रह्मास्त्र-प्रयोगका स्मरण ही नहीं होता और अरे ! उसका रथचक्र पृथ्वीने निगला ! वह रथपरसे उतरा। रथचक्र उठानेके लिये उसने "कुछ क्षण युद्ध रोकनेको" कहा किंतु कृष्णने उसके सारे कुकर्म उसको सुना कर पूछा "तब तुम्हारी धर्म-बुद्धि कहां गयी थी ?" और अर्जुनको कर्णपर आक्रमण करनेको कहा। ऐसी हालतमें कर्ण मारा गया। इस युद्धमें कर्णके छ पुत्र मारे गये। इनमें से वृषसेन और सुदामाको अर्जुनने मारा। सत्यसेन, चित्रसेन, और सुशर्माको नकुलने मारा और सुषेणको भीमने। वैसे ही कर्णके छ भाई भी मारे गये। इनमेंसे शत्रुंजय, शत्रुंतप, तथा विपाटको अर्जुनने मारा। एकको अभिमन्यूने मारा। द्रुम और वृकरथको भीमने मारा।

गीता अ० १. श्लो० ८—कृपाचार्य—

उत्तर पांचालके राजकुलके गौतम नामक मुनिका पोता। गौतमको शरद्वान नामक एक लड़का था। वह महान् तपस्वी था। उसका तपो-भंग करनेके लिये इंद्रने एक अप्सरा भेज दी; उस समय इनको एक पुत्र और पुत्री हुई। ये दोनों संतान वनमें बढे। आगे उसी वनमें शिकार खेलनेके लिये जब शंतनु आया तब शंतनुने इन बालकोंको देख कर इन्हे घर ले गया। शंतनुकी कृपासे इनका पालन पोषण हुवा। इसलिये इन्हे कृप और कृपी कहा गया। यह कृपी आगे द्रोणाचार्यकी पत्नी हुई।

जब शंतनु इन बालकोंको अपने पास ले गया तब गौतमको इसकी जानकारी हुई। शंतनुको गौतमने कृप-कृपीका जन्म-वृत्तांत सुनाया और उन्हे योग्य शिक्षा दी। कृपाचार्य चार प्रकारके धनुर्वेद तथा अन्य शास्त्रमें पारंगत-आचार्य हो गये। धृतराष्ट्रने अपने सभी लडकोंको विद्याध्ययनके लिये कृपाचार्यके पास ही रखा था। सभी कौरव द्रोणाचार्यके पहले कृपाचार्यके विद्यार्थी थे। भारतीय युद्धमें वह कौरवोंकी ओरसे लडे थे। सदैव ये पांडवोंकी स्तुति और कर्णकी निंदा करते थे। ऐसे ही एक बार कर्णने इन्हे कहा था "हे दुर्मते! फिर यदि तू ऐसा भाषण करेगा तो तेरी जीभ ही काटकर फेंक दूंगा!"

कृपाचार्यने भारतीय युद्धमें महान पराक्रम किया है। पांडव पक्षके कई वीर इनके हाथसे मारे गये हैं। किंतु जयद्रथके वधके बाद जब ये अश्वत्थामाके साथ अर्जुन पर चढ दौडे तब अर्जुनके बाणोंसे जर्जर हो गये। इन्होंने धृष्टद्युम्नको अपने बाणोंसे जर्जर किया था। दुर्योधनका पतन हो कर जब भारतीय युद्ध समाप्त हुवा तब अश्वत्थामा अत्यंत अस्वस्थ हो गया था। अश्वत्थामाने निद्रस्थ पांडव और पांडव-पुत्रोंके वधकी अपनी योजना कृपाचार्यको सुनायी तब कृपाचार्यने कहा था "उद्योग क्षीण होनेके बाद दैव कुछ नहीं कर सकता। किसी भी मनुष्यको अपना उद्योग प्रारंभ करते समय अपने बुजुर्गोंसे सलाह करनी चाहिये। इसलिये हम यह कार्य करनेसे पहले धृतराष्ट्र, गांधारी, विदुर आदिकी राय लें!"

इन्होंने विवाह नहीं किया। कौरवोंकी मृत्यूके बाद इन्होंने धृतराष्ट्र और गांधारीको सांत्वन दिया था। फिर ये घोडेपर बैठ कर अज्ञात स्थान चले गये।

गीता अ० १. श्लो० ८—अश्वत्थामा—

पिताका नाम द्रोणाचार्य, माताका नाम गौतमी कृपी। इनका यह इकलौता पुत्र। जन्मके साथ यह उच्चैःश्रवा घोडेकी भांति हिनहिनाया इसलिये इसे अश्वत्थामा कहा गया। यह अत्यंत तेजस्वी तथा क्रोधी था। अश्वत्थामाने कौरव-पांडवोंके साथ द्रोणाचार्यसे अस्त्र-विद्या सीखी। भारत-युद्धके अंतमें जब सभी सेनापति पडे, भीम-दुर्योधनके युद्धमें दुर्योधन पड़ा तब मृत्यु समयमें दुर्योधनने अश्वत्थामाको सेनापति बनाया। तब अश्वत्थामाने पांडवोंका नाश करनेकी प्रतिज्ञा की। इसी एकने पांडवोंकी एक अक्षोहिणी सेना मारी है! अनेक बार यह भीमार्जुनसे लड़कर पराजित हुवा है। पांडवोंको अश्वत्थामा प्रिय था और अश्वत्थामाको पांडव! इतना होने पर भी, भारत-युद्धमें दुर्योधनकी कटूक्तियोंसे तंग आकर इसने द्रोण-पुत्रको शोभा दे ऐसा पराक्रम किया।

भारत युद्धमें द्रोणाचार्यका वध हुवा। कौरव सेनामें तहलका मच गया। सारी सेना अस्त-व्यस्त हो कर भागने लगी। तब अश्वत्थामाने दुर्योधनसे पूछा "किसके वधसे यह सेना ऐसी भाग रही है?" धृष्टद्युम्नसे अपने पिताका वध हुवा यह सुनते ही अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्नके वधकी प्रतिज्ञा की। पितृवधसे संतप्त अश्वत्थामाने, सात्यकी, धृष्टद्युम्न, तथा भीमसे लड़कर उनको भगा दिया। तब इसने पांडव सेनापर नारायणास्त्रका प्रयोग किया। इससे पांडव सेनामें हाहाकार मच गया। तब कृष्णने सबको निःशस्त्र होनेको कहा। सबके निःशस्त्र होने पर वह नारायणास्त्र शांत हुवा।

सभी कौरव मारे गये। हताश और क्षत-विक्षत दुर्योधन अश्वत्थामाको सेनापति बनाकर रणभूमिपर तड़पता पड़ा रहा। रातका समय। कौरव सेनाके तीन थके हुए सेनानी, कृपाचार्य,

अश्वत्थामा और कृतवर्मा, विचार मग्न हो एक वृक्षके नीचे आये थे। तब एक उल्लू वहीं एक घोंसलेके अनेक कौवोंको मार गिरा रहा था। यह देखकर अश्वत्थामाके मस्तिष्कमें एक नई बात आयी। रातको पांडवोंकी छावनी पर हमला करके ऐसे ही निद्रस्थ सेनाका सफाया किया जा सकता है! इसने अपना यह विचार कृपाचार्य और कृतवर्मासे कहा। उन्होंने इसका अस्वीकार करके अश्वत्थामाको इस विचारसे परावृत्त करनेका प्रयत्न किया परंतु अश्वत्थामाने नहीं माना। वह अकेला हमला करनेके लिये चल पड़ा और अभिचार पूर्ण यज्ञमें अपने मांसकी आहुति देकर रुद्र खड्ग प्राप्त करके इसने निद्रस्थ सेनानियोंका संहार करना प्रारंभ किया। इस हत्याकांडमें द्रौपदीके सभी पुत्र, धृष्टद्युम्न, पांचालकुल, सूत, सोम, शिखंडी, आदि अनेक वीर मारे गये। इतना सब करके, यह खबर देनेके लिये कृपाचार्य और कृतवर्माको साथ लेकर युद्ध भूमिपर क्षत-विक्षत हो पडे हुए दुर्योधनके पास गया। दुर्योधन मृत्यु-पीडासे तडप रहा था। वहां आकर अश्वत्थामाने कहा "दोनो सेनामें अब बस कृष्ण, पांच पांडव और हम तीन ही रहे हैं! और सब मारे गये।" यह सुनकर दुर्योधनके प्राण पखेरु उड गये।

किंतु इससे द्रौपदीको अत्यंत दुःख हुवा। द्रौपदीने "अश्वत्थमाके सिर पर जो मणि है वह युधिष्ठिरके सिर पर देख कर ही जीवित रहूंगी" ऐसी प्रतिज्ञा की और इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये भीम गदा लेकर चल पडा। किंतु अश्वत्थामाके अस्त्र प्रभावके आगे भीमका कुछ भी नहीं चलेगा यह जान कर कृष्णर्जुन भी उसके साथ चले। अश्वत्थामाने पांडवोंके विनाशके लिये ब्रह्मसिरस् नामके अस्त्रका प्रयोग किया और इसका प्रतिकार करनेके लिये अर्जुनने भी उसी अस्त्रका प्रयोग किया, परिणाम स्वरूप पृथ्वी कांप उठी। अश्वत्थामाके अविचारके लिये व्यासादिने उसकी भर्त्सना की और सिरका दिव्य मणि देकर अर्जुनको शरण जानेको कहा। अश्वत्थामाने वह मणि खो दिया किंतु यह अस्त्र पांडव वंशका नाश करके शांत होगा ऐसा कहा। यह सुन कर, कृष्णने अश्वत्थामाको महा-रोगसे पीडित होकर मूक भावमें लंबी आयू भोगनेका शाप दिया और इस अस्त्रसे उत्तराके गर्भमें जो पांडव-वंश बढ रहा था उसकी रक्षा की।

इसे चीरजीवी कहा गया है।

गीता अ० १. श्लो० ८—विकर्ण—

धृतराष्ट्र-पुत्र। द्रौपदी स्वयंवरमें गया था। यह महारथी था। न्यायवान था। जब द्रौपदीको सभामें लाया जा रहा था तब इसने कहा था "यह अन्याय है!" युद्धमें यह नकुलसे पराजित हुवा और भीमसे मारा गया।

गीता अ० १. श्लो० ८—सौमदत्ति—

यह सोमदत्तका पुत्र। इसका वास्तविक नाम भूरिश्रवा। यह अत्यंत पराक्रमी था। महाभारत युद्धमें इसने सात्यकीको पराजित किया था। अर्जुनने सात्यकीको इसके हाथसे बचानेके लिये भूरिश्रवाके हाथ तोडे। तब भूरिश्रवाका कहना था अर्जुनने उसके साथ अन्याय किया। अन्यायके प्रतिकारके लिये इसने टूटा हुवा हाथ अर्जुनकी ओर फेंक दिया और सात्यकीने इसका सिर उडाया। यह अग्निहोत्री था। इसने सात्यकीके दस पुत्र मारे थे संभवतः इसीलिये सात्यकीको इस पर इतना क्रोध था।

कृष्ण। वृष्णि कुलका यादव। बापका नाम वसुदेव। माताका देवकी। माता पिता जब कंसके बंदिगृहमें थे तब इसका जन्म हुवा। कृष्णका पिता वसुदेव उग्रसेनका प्रधान मंत्री था। अत्यंत राजकारण पटु। मुरब्बैद! इसलिये इस पर कंसकी नज़र थी। बापको बंदी बनाकर कंसने राज्य-पद पाते ही इसको भी बंदी बना दिया। कंसके भयसे कृष्ण जन्म होते ही इसे गोकुलमें भेज दिया तथा नंदके घर जनमी हुई लड़की यहां लायी गयी। कंस इस बच्चीको मारने गया किंतु वह उस बच्चीको नहीं मार सका। कंसने बाल्यावस्थामें ही कृष्णको मार डालनेके लिये अनेक प्रयास किये जो व्यर्थ गये। नंद कृष्ण-जन्मसे अत्यंत प्रसन्न था। नंद, कंसका आधीन राजा था। कृष्णने गोकुलके बालकोंमें नया प्राण फूंक दिया। बचपनसे ही या स्वभावसे ही वे चतुर संघटक थे। खेलकूदमें बच्चोंके नेता बनकर उनको प्रोत्साह और प्रेरणा देते रहते थे। वे अतुल बलशाली और धैर्यशाली थे। हर संकटके समय आगे बढ़कर संकटोंसे जूझते थे। संकटोंपर विजय पाते थे। इसलिये सारे गोप गोपियां इनके आधीन रहे।

जब कृष्ण और बलराम-कृष्णके बडे भाई-कौमार्यावस्थासे तारुण्यमें पदार्पण करने लगे तब कंसने धनुर्यागमें उनको निमंत्रित किया और उन्हे लानेके लिये अक्रूरको भेजा। नंद कंसके आधीन होनेसे ना नहीं कह सकते थे। अक्रूरके साथ कृष्ण बलराम मथुरा आये। मथुरामें सबने इन युवकोंका स्वागत किया। इससे कंस संतप्त हुवा। कृष्णने शस्त्रागारके एक भव्य धनुष्यको झुकानेके प्रयासमें तोड दिया। उत्सवमें कंसने कृष्ण बलरामसे चाणूर-मुष्टिकको कुश्ती खेलनेको कहा। कृष्ण बलराम जब मल्लशालाकी ओर बढने लगे तब एक मस्त हाथी भड़काकर उन पर डाला गया। उस हाथीका नाम था कुवलयापीड़। मल्लशालाके दरवाजे पर आते आते हाथी सामने आया और कृष्णने उसका प्रतिकार करके उसको मार डाला। कृष्ण बलरामने चाणूर मुष्टिकको कुश्तीमें ऐसे दबोचा कि बेचारे उठ भी नहीं पाये। इसके बाद, तोषलक कृष्णसे लड़ने आया और एक ही झटकेमें समाप्त हो गया। यह देख कर दूसरे मल्ल भाग गये और कृष्ण कंसकी ओर बढे। कृष्णने कंसके दरबारमें, उसीको सिंहासनपरसे नीचे खींच कर केवल मुष्टि-प्रहारसे ही मार डाला। इस भरे दरबारमें "सुनाम" नामक कंसके एक अंग रक्षकके अलावा और कोई भी उसको बचाने आगे नहीं आया और कृष्णने सुनामको भी कंसके साथ परलोक दिखाया।

इसके बाद बलराम-कृष्णका उपनयन संस्कार हुवा और ये दोनों विद्याध्ययनके लिये अवंतीकाके पास सांदीपनी आश्रममें भेज दिये गये। वहां वे शस्त्र और शास्त्र विद्या सीखे। ये इतने बुद्धि-शाली थे कि जो बात इनके सामने आती तुरंत सीख लेते थे। ये गुरुकुलमें केवल ६४ दिन रहे।

और, यहां कंसवधके बाद कंसकी पत्नियोंसे यह बात जरासंध तक गयी। कंस जरासंधका जामात था। जरासंधने कंसकी शक्ति देख कर अपनी दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति कंसको देकर विवाह कर दिया था। अपने श्वशुरकी प्रेरणासे ही वह राजा बन बैठा था। जरासंध अत्यंत शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी राजा था। अपनी पुत्रियोंसे अपने पतिके वधकी बात सुनते ही अपनी प्रचंड सेनाके साथ मथुरा पर चढ आया। उनके साथ उनके आधीन राजा भी थे। मथुराके चारों दरवाजों पर जरासंधकी सेनाएं जम गयीं। दक्षिणमें दरद, चेदिराज और वह स्वयं

रहा, उत्तरमें पुरुकुलोत्पन्न वेणूदारी, विदर्भाधिपति सोमराज, भोजेश्वर रुक्मि, सूर्याक्ष, अवंतिकाके विंद अनुविंद, दंतवक्त्र, छात्रलि, पुरमित्र, मालव, शतधन्वा, विदूरथ, भूरिश्रवा, त्रिगर्त, बाण, और पंचनदकी व्यवस्था की, पूर्वकी ओर उलूक कैतव, अंशुमान्का पुत्र बृहत्क्षत्र, बृहधर्मन् जयद्रथ, उत्तमौजस शल्य, कैकेय, वैदिश, सितीदेशका राजा सांकृतिकी व्यवस्था की और पश्चिममें मद्रराजा, कहलिंगेश, चेकितान, बाल्हिक, काश्मीर नरेश गोनर्द, करुषेश, द्रुमराज वर्षतीय अनामयको खडा किया।

इस युद्धमें जरासंध २० अक्षौहिणी सेना लाया था। इसके विरुद्ध यादवोंकी सेना छोटी थी। फिर भी यादवोंने इन्हे हराया। बलरामने जरासंधको हराया। जरासंधने कई बार ऐसा आक्रमण किया। कृष्णने सत्रह बार जरासंधका पराभव किया और यह अकारण वैर करता है, बार बार आक्रमण करता है इस लिये इससे बचनेके लिये कृष्णने सौराष्ट्रके पास द्वारका बसाई। सत्रह बार हारनेके बाद भी यह शांत नहीं रहा। इसने यवनराजा कालयवनकी सहायतासे अठारवी बार हमला किया।

कालयवन यादवोंके पुरोहित आर्यका पुत्र! किसी यादवसे अपमानित होकर आर्यने यादवोंका पराजय कर सकनेवाले पुत्रके लिये तपस्या की और शंकरसे ऐसा वर भी पा लिया। इस भांति यह आर्य-पुत्र यवनोंके घर पर पला और यवनोंका राजा भी बन गया। जरासंधने इससे संधि की और इसने उसी रोज मथुरा पर आक्रमण कर दिया। इसकी सेना भी बडी विशाल थी; जरासंधकी थी ही। इसी समय कृष्णने राजधानी बदली। सबको द्वारका पहुंचा कर कृष्ण मथुरा आये। और निःशस्त्र कृष्णको देख कर कालयवनने उनका पीछा किया। कृष्ण भागे, आगे आगे कृष्ण और पीछे पीछे कालयवन। जाते जाते कृष्ण एक गुफाके अंदर जा कर छिप गये। उस गुफामें महा पराक्रमी मुचकुंद राजा सोया था। कालयवनने उसको लाथ मार कर पूछा कृष्ण कहां? देवोंका भी सेनापति बननेवाला मुचुकुंद! मुचुकुंदने कालयवनको वहीं राख बना दिया।

इन्हीं दिनों रुक्मिणी स्वयंवरमें कृष्णने शिशुपालका पराभव करके रुक्मिणीसे विवाह किया। स्यमंतक मणिकी चोरीके आरोपसे मुक्ति पानेके प्रयासमें सत्यभामा और जांबवतीसे विवाह हुवा। उसी स्यमंतक मणिके कारण कृष्णको शतधन्वाका वध करना पडा। इस घटनाके कुछ काल बाद पांडव और कृष्णका संबंध आया। द्रौपदी स्वयंवरके समय कृष्ण वहां थे। कृष्णने द्रौपदीके विवाहके समय पांडवोंको वस्त्राभरण भूषण भेजा था। जिसका पांडवोंने स्वीकार किया। यहींसे पांडव व कृष्णका संबंध प्रारंभ होता है। पांडवोंके साथ कृष्ण हस्तिनापुर भी गये थे। इंद्रप्रस्थ नगर बसानेके बाद वे और बलराम द्वारका आये। सुभद्रा विवाहके बाद भी कृष्ण कुछ काल पांडवोंके साथ रहे थे। आगे खांडवन दहनके बाद वे द्वारका गये। द्वारकामें एक नई समस्या कृष्णकी राह देख रही थी।

जरासंधने २० हजार राज-पुत्रोंको बंदी बना रखा था। गुप्त रूपसे उन राज-पुत्रोंने मुक्तिकी याचना करनेके लिये कृष्णके पास अपना दूत भेजा था। उस दूतने कहा "यदि आप शीघ्रता करेंगे तो हमारे प्राण बचेंगे नहीं तो यज्ञमें हमारी आहुति पडेगी!" इस विषयमें कृष्ण अपने यादव साथियोंसे विचार विनिमय कर ही रहे थे युधिष्ठिरका दूत आया "युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहता है। आपको बुलाया है!!" कृष्ण सोचमें पडे अब किस ओर जाना चाहिए।

उद्धवने कहा "अपने विचारसे प्रथम युधिष्ठिरके पास जाना उचित होगा" और कृष्ण उन दूतोंको साथ लेकर ही इंद्रप्रस्थ गये। कृष्णने इंद्रप्रस्थसे ही उन राजाओंको संदेश भेज दिया। "जरासंधका वध करके तुम्हारी मुक्ति की जायेगी!"

कृष्णको इंद्रप्रस्थमें देख कर पांडवोंको आनंद हुवा। राजसूय यज्ञ करनेके लिये पांडवोंको भी जरासंधको मारना आवश्यक था। इसलिये कृष्ण, अर्जुन और भीमको साथ लेकर मगध गये। भीमसे जरासंधका वध कराया और जरासंधके पुत्रका राज्याभिषेक करके २० हजार राजपुत्रोंको मुक्त किया।

चेद देशमें पौंड्रक वासुदेव जो जरासंधका मित्र था अपनेको पुरुषोत्तम मान कर सत्ताधीश बना था। उसने अपनेको परमात्म रूप घोषित करके कृष्णको शरण आनेका संदेशा भेजा। प्रत्युत्तरमें कृष्ण चेदि देश पर चढाई कर युद्धके लिये चल पडे। वह अपने मित्र काशीराजाके साथ कृष्णका ही स्वांग भरकर युद्ध करने आगे आया और कृष्णसे मारा गया।

युधिष्ठिरने राजसूययज्ञमें भीष्माचार्यकी आज्ञासे कृष्णकी प्रथम पाद्यपूजा की। इससे शिशुपाल संतप्त हुवा। शिशुपाल चेदि प्रदेशका राजा था। इसकी माता श्रुतश्रवा, कृष्णकी बूआ। शिशुपाल अत्यंत शक्तिशाली था। यह जरासंधका सेनापति भी था। भाई होने पर भी सदैव कृष्णका द्वेष करता था और कृष्ण इसे सहन करता था। राजसूयज्ञकी राज-सभामें इसने भीष्मको भला बुरा कहा। युधिष्ठिरको धमकियां दी। "रुक्मिणीने मेरा स्वीकार किया है और यह उसे अपनी पत्नी कहकर भगा कर ले गया है" कहता हुवा राज सभाके दरवाजेसे बाहर पडते समय इसे कृष्णने वहीं वध किया। कृष्णके चक्रसे यह राजसूयके राजदरबारमें ही मारा गया। युधिष्ठिरके यज्ञ-समाप्तिके बाद कृष्ण द्वारका गये।

किंतु जब कृष्ण राजसूय यज्ञमें इंद्रप्रस्थ गये थे तब कृष्णकी अनुपस्थितिमें शाल्वने द्वारका पर आक्रमण कर दिया था। शाल्व दैत्य कुलका राजा था। जरासंधका सखा था। इसीने जरासंध और कालयवनमें संधि करायी थी। रुक्मिणीके विवाहके समय वह कृष्णसे पराजित हुवा था। इसने "निर्यादव पृथ्वी" करनेकी प्रतिज्ञा भी की थी। इसके लिये मायासुरसे सौभ नामक अभेद्य विमान भी बनवा लिया था और जब इसको ज्ञात हुवा कि कृष्ण यज्ञमें इंद्रप्रस्थ गये हैं इसने द्वारका पर आक्रमण किया। वहां प्रद्युम्न और शाल्वका २७ दिन तक भयंकर युद्ध हुवा और शाल्व अपना विमान लेकर सौभ देशको लौट गया किंतु कृष्णने इसका पीछा किया। इसने अनेक प्रकारकी चालें चलीं किंतु कृष्णने अपने चक्रसे इसका विमान तोड फोडकर फेंक दिया और इसका वध किया। इसके बाद शिशुपाल-शाल्वादिक मित्रोंके वधसे संतप्त विदूरथने मित्र-वधका बदला लेनेके लिये कृष्ण पर आक्रमण किया। कृष्णने इसका भी वध किया।

कृष्णने शोणितपुरका राजा बाणासुरको जीतकर अपने पोते अनिरुद्धसे उसकी लडकी उषाका विवाह किया। वैसे ही प्राग्ज्योतिषपुरके नरकासुरको मार कर उसके बंदीगृहसे १६ हजार राजकन्याओंको मुक्त किया। विश्वकी प्रत्येक अच्छी वस्तु अपने पास होनी चाहिए, ऐसी नरकासुरकी इच्छा दीखती है। किंतु यह उन वस्तुओंका भोग नहीं करता था। नरकासुरने विश्वके विविध देशोंसे अनेक प्रकारके रत्न, वस्त्र, आभूषण आदिसे अपना कोश भर दिया था किंतु किसीका भोग नहीं किया। वैसे ही १६ हजार सुंदर कन्याओंको लाकर अपने राज्यमें रखा, पर उनका भी भोग

नहीं किया। इसने इंद्रकी अमरावति भी लूटी थी। नरकासुरके वधके लिये इंद्रने कृष्णसे प्रार्थना की थी। इंद्रको साथ लेकर ही कृष्ण प्रागज्योतिषपुर गया। प्रथम इन्होंने गरुड पर बैठ कर प्रागज्योतिषपुरका अवलोकन किया तब कृष्णने युद्धार्थ शंखनाद किया। शंखध्वनि सुनकर नरकासुर संतप्त हुवा। वह अपने विशाल भव्य रथमें बैठकर युद्धके लिये आ गया। कई घोडे इनका रथ खींचते थे। इसके साथ कृष्णका बडा ही घमासान युद्ध हुवा। अंतमें कृष्णने अपने सुदर्शनसे इसका शिरच्छेद किया। नरकासुरकी माताने तब इसके कवच कुंडल और राज्य कृष्णार्पण किया। इस युद्धसे कृष्णको अपार संपत्ति मिली। कृष्णने नरकासुरका पुत्र भगदत्तको सिंहासन पर बिठाकर उसे प्रागज्योतिष्यपुरका राजा बनाया।

जैसे शिशुपाल कृष्णकी बूआका लड़का था वैसे पांडव भी कृष्णकी बूआके लडके। द्रौपदी स्वयंवरमें सर्व प्रथम कृष्ण और पांडवोंकी भेंट हुई। तब कृष्णने वस्त्राभरण भूषणोंसे पांडवोंका सत्कार किया था और पांडवोंने भी अत्यंत प्रेमसे उसका स्वीकार किया था। तबसे लेकर पांडवोंसे कृष्णका संबंध बढ़ता गया। विशेषतः राजसूय-यज्ञमें युधिष्ठिरके बुलाते ही कृष्णका आना इस संबधका मधुर प्रारंभ है। इसके बाद जरासंघ वध, राजसूय-यज्ञमें कृष्णकी अग्र-पूजा, खांडववन दहन आदिसे वह बढ़ने लगा। पांडव-वनवासमें कृष्ण कई बार उनसे मिलने गये। कभी कभी सपत्नीक भी गये। अभिमन्युके विवाहमें जो राजा महाराजा आये थे उनसे कृष्णनेही पांडवोंके वास्तविक अधिकारकी बात कही थी। कृष्णने ही सामोपचारसे सब मिटानेके लिये धृतराष्ट्रसे शिष्टाई की। किंतु इसका कुछ भी उपयोग नहीं हुवा। कृष्ण शिष्टाईसे प्रथम जब दुर्योधन और अर्जुन युद्धमें कृष्णकी सहायता मांगने आये तब कृष्णने दुर्योधनको अपनी तीन अक्षौहिणी-नारायणी सेना दी और स्वयं पांडवोंकी ओर गये। भारतीय युद्धमें कृष्णने ही धृष्टद्युम्न और सात्यकीकी सहायतासे पांडवोंके मूल शिबिरकी स्थापना की थी। भारत-युद्धके प्रारंभमें ही दोनों ओर युद्धके लिये खडे स्वजनोंको देख कर संभ्रममें पडे अर्जुनको अत्यंत मार्मिक उपदेश दे कर उसे युद्ध सन्नद्ध किया। इसीको आज भगवद्गीता कहते हैं। महाभारतके युद्धमें अर्जुनका सारथ्य करके घोडोंकी भी सेवा की। युद्धमें भगदत्तके वैष्णवास्त्रसे अर्जुनकी रक्षा की। द्रोणवधके लिये कृष्णने ही युधिष्ठिरको असत्य बोलनेकी प्रेरणा दी। जयद्रथ वधमें इसीने अर्जुनकी सहायता की। कर्णके सर्पमुख बाणसे कृष्णने ही अर्जुनकी रक्षा की। कृष्णने ही शल्यवधके लिये युधिष्ठिरको उकसाया। भीमको दुर्योधनके जांघपर गदा मारनेको कृष्णने ही कहा। भारत-युद्धका सूक्ष्म अवलोकन किया जाय तो वहां कृष्णकी मंत्रणा-शक्तिका सुंदर परिचय मिलता है।

इस प्रकार कुरुकुलके महायुद्धमें पांडवोंको विजय दिलाकर कृष्ण द्वारका गये। कृष्णने केवल अर्जुनका ही गीतोपदेश दिया ऐसा नहीं, पुत्रोंकी मृत्यूसे दुःखतप्त गांधारी, धृतराष्ट्र आदिका सांत्वन कृष्णने ही किया। अभिमन्युकी मृत्युके बाद सुभद्रका सांत्वन भी कृष्णने ही किया था। धर्मराजके अश्वमेध यज्ञमें भी कृष्ण आया था। किंतु ऐसा लगता है कि महाभारत युद्धके बाद कृष्ण राजनीतिसे अधिक धर्मनीतीकी ओर झुके। अंतमें राज-सत्तासे मत्त यादव जब आपसमें ही लड पडे तब प्रद्युम्नके वधका दृश्य देख कर कृष्ण इतने क्रोधाविष्ट हो गये कि बचे हुए सभी यादवोंको कृष्णने खतम कर दिया। कृष्णका यह प्रचंड क्रोध देखकर दारुक-कृष्णका सारथी और अक्रूरने कृष्णको प्रणाम करके कहा "भगवन्! आपने सभी यादवोंका संहार कर दिया अब बलरामको ढूंढ लायें?!" तब कृष्ण शांत हुए।

मृत्युके समय कृष्णकी आयू १०१ (?) वर्षकी थी। यह अर्जुनसे तीन महीने बड़े थे। अर्जुनसे पहले इनकी मृत्यु हुई। यादव युद्धके बाद कृष्ण एक पीपलके पेड़के नीचे अपने दाहिने घुटनों पर बायां पैर रख कर जब चिंतन मग्न हो पड़े थे तब जरा नामके व्याधने–एकलव्य-पुत्र? पक्षी मानकर इसी पैरमें बाण मारा। इसी बाणसे कृष्णकी इह लीला समाप्त हुई। इनके इस ब्रह्म निर्वाणके बाद द्वारका डूब गयी।

गीता अ० १. श्लो० १६–युधिष्ठिर—

पांडुराजाका ज्येष्ठ पुत्र। माताका नाम कुंती। मृगयामें हुई एक घटनासे दुःखी हो कर पांडुराजा वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करके कुंती और माद्रीके साथ वनमें रहने लगा। इसी अवस्थामें युधिष्ठिरका जन्म हुवा। इसका जन्मस्थान शतशृंग पर्वतका वन था। इसका पहला शस्त्र गुरु शस्त्र शर्याती पुत्र शुक। प्रथम उसीके पास यह शस्त्र और शास्त्र सीखा। हस्तिनापुरमें आनेके बाद कृप और द्रोण इसके आचार्य बने। यह तोमर-विद्यामें प्रवीण था।

हस्तिनापुर आनेके बाद धृतराष्ट्रने इसको युवराज्याभिषेक कराया। इससे दुर्योधन युधिष्ठिरसे जलने लगा। दुर्योधनने पांडवोंके विरुद्ध षड्यंत्र रचनाप्रारंभ कर दिया। सर्व प्रथम दुर्योधनने पांडव और कुंतीको लाक्षागृहमें जलाकर मार डालनेका प्रयास किया। विदुरकी सहायतासे यह वहांसे मां और भाइयोंके साथ बचकर निकला। लाक्षागृहसे बच निकलनेके बाद ब्राह्मण-वेषमें यह अपने भाइयोंके साथ द्रौपदी स्वयंवरमें प्रकट हुवा। द्रौपदी स्वयंवरके बाद द्रुपद राजाने बडे वैभवके साथ इसे हस्तिनापुर पहुंचाया। वहांकी प्रजाने भी इसका हार्दिक स्वागत किया। यह सब देखकर धृतराष्ट्रने आधा राज देकर इसको अलग कर दिया।

युधिष्ठिरने भी इंद्रप्रस्थको राजधानी बनाकर राज्य करना प्रारंभ किया। नारदने इसको राजनीति शास्त्र सिखाया। इंद्र, वरुण, यम, कुबेर आदिकी राज्यव्यवस्था समझायी। तथा राजसूय-यज्ञ करनेको कहा। इसके राजसूय यज्ञमें स्वयं वेदव्यास ब्रह्मा थे। सुसामन् सामग था। याज्ञवल्क्य अध्वर्यू था। इस यज्ञके ऋत्विजोंमें पैज्य, धौम्य, आदि ऋषियोंकी लंबी सूची मिलती है।

इसी यज्ञमें भीष्मपितामहकी आज्ञासे युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको अग्रपूजाका मान दिया था। यह देखकर कौरवोंने युधिष्ठिरका विरोध किया। दूसरी बात, युधिष्ठिरके इस यज्ञमें दुर्योधन कोषाध्यक्ष था। यज्ञमें दुर्योधनकी ओरसे अनापशनाप खर्च करने पर भी, जब राजकोश रीता नहीं हुवा तब दुर्योधन पांडवोंको दारिद्र्यमें लौटानेका उपाय ढूंढने लगा। एक बार शकुनी मामाने इससे कहा "पांडवोंको दरिद्री बनानेके दोही साधन हैं। एक युद्ध और दूसरा द्यूत।" इसीसे द्यूतक्रीडाकी योजना बनी।

धृतराष्ट्रने विदुरके द्वारा युधिष्ठिरको द्यूतके लिये निमंत्रण भेजा। दुर्योधनकी ओरसे शकुनी युधिष्ठिरसे जूआ खेला। युधिष्ठिर हारता गया। अंतमें सर्वस्व खोनेके बाद इसने दुर्योधनकी प्रेरणासे द्रौपदीको दांवपर लगाया और उसमें भी हार गया। इसके साथ ही पांडवोंको बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भोगना था। इस अज्ञातवासमें पकडे जानेपर "पुनः बारह वर्ष वनवास" ऐसी भी शर्त थी।

युधिष्ठिर जब अपने भाइयोंके साथ वनवासके लिये निकला तब इसकी प्रजा भी शोकाकुल हो कर वनवास जानेके लिये तयार हो गयी थी। बहुत ही समझा बुझा कर उसको राज्यमें रहनेके

लिये तैयार करना पड़ा। फिर भी पुरोहित धौम्य आदि कुछ उसके साथ गये थे। वनवासमें किर्मीर राक्षस इसका रास्ता रोक कर भीमसे मारा गया। द्रौपदी और भीमने प्रल्हाद और बलीका अनुकरण करके दुर्योधनको मारकर राज्य लेनेकी बात कही थी किंतु युधिष्ठिरने इसका अस्वीकार किया। द्वैतवनमें यह व्याससे प्रति-स्मृति विद्या सीखा॥ व्यासने इससे वनमें एक ही स्थान पर न रह कर भ्रमण करनेको कहा। व्यासकी आज्ञासे युधिष्ठिर द्वैतवनसे काम्यकवनमें गया। काम्यकवनमें इसको बृहदश्व ऋषिने नलका इतिहास कहा और अक्ष-विद्या सिखाई। फिर युधिष्ठिर तीर्थ-यात्रा करने लगा। इस तीर्थ यात्रमें बृहदश्वऋषि युधिष्ठिरके साथ रहा। ऋषिने इसे अनेक तीर्थोंका इतिहास कहा। पांडव जब काम्यकवनमें थे तब कृष्ण इनसे मिलने आये थे। यहीं युधिष्ठिर मार्कंडेय ऋषिसे मिला। मार्कंडेय ऋषिने युधिष्ठिरको परलोकके विषयमें जानकारी दी। अज्ञातवासमें यह कंक नामसे विराट राजाके घर रहा। यह विराटराजाके साथ जूआ खेलता था। इस समय युधिष्ठिरका गुप्तनाम "जय" था। जब युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ विराटके राज्यमें था तब विराट पर त्रिगर्तके सुशर्माने आक्रमण कर दिया। लड़ाईमें सुशर्मा जीता और विराट हारा। सुशर्माने विराटको बंदी बनाया। तब युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीम सुशर्माको जीत कर बंदी बनाके ले आया। एक बार क्रोधमें आकर विराटने अपने आश्रित कंककी नाक पर पांसा मारा और नाकसे जो खून बहने लगा वह द्रौपदीने पोंछा। इस घटनाके दो ही दिन बाद पांडव प्रकट हुए। उस समय विराट राजाने पुनः पुनः पांडवोंकी क्षमा मांगी।

पांडवोंके प्रकट होते ही द्रुपदराजाके पुरोहितको संधान के लिये धृतराष्ट्रके पास भेजा गया। द्रुपद-पुरोहितने पांडवोंकी मांग धृतराष्ट्रके सम्मुख रखी। भीष्म, द्रोण, विदुरने उसका समर्थन किया। धृतराष्ट्रने भी "धृतराष्ट्र पांडवोंका सख्य चाहता है।" ऐसा संदेश देकर पुरोहितको लौटा दिया। इसके बाद कृष्ण संधानके लिये आया। कृष्णका प्रयत्न भी व्यर्थ गया। तब कृष्णने कहा "युधिष्ठिरने कहा है आधे राज्यके स्थान पर (१) अविस्थल (२) वृकस्थल (३) माकंदी (४) वारणावत (५) कोई भी एक ग्राम और दें" किंतु दुर्योधनने "बिना युद्धके सुईके नोकके बराबरकी भी भूमि न दूंगा!" कह कर कृष्णको लौटा दिया। इससे संधान व्यर्थ गया और कुरुक्षेत्रपर हिरण्यवती नदीके किनारे खाइयां खोदकर युद्धकी तैयारियां होने लगीं।

युद्धके समय कौरव सेनाको देख कर इसको बड़ा दुःख हुवा। क्यों कि दोनों सेनामें सभी इसके बंधु-जन थे। अज, अभिमन्यु, अर्जुन, उत्तमौजा, उत्तर, काशिक, काश्य, कुंतिभोज, कैकेय-पांचबंधु-क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मन्, घटोत्कच, चंद्रसेन, चित्रायुध, चेकितान, जयंत, अमितौजस, सत्यजित, द्रुपद, द्रौपदीके पांच पुत्र, धृष्टकेतु, धृष्टद्युम्न, नील, पांचाल, पांड्य, पुरुजित्, भोज, मदिराश्व, युधामन्यु, वसुधान, वार्धक्षेमी, विराट, व्याघ्रदत्त, शंख, शिखंडिन्, श्रेणिमत्, सत्यजित्, सात्यकी, सुकुमार, सूर्यदत्त, सेनबिंदु, आदि प्रधान अथीरथी महारथी थे। इसमें विराट और द्रुपद वृद्ध थे। ये दो वृद्ध-द्रुपद और विराट-तथा धृष्टकेतु, धृष्टद्युम्न, शिखंडिन् सहदेव, और सात्यकी ये सात पांडव सेनाके सेनापति थे। इन सेनापतियोंके आधीन एक एक अक्षौहिणी सेना थी।

और कौरवोंमें, अचल, अनुविंद, अलंबुस, अश्वत्थामन्, उग्रायुध, कर्ण, कृतवर्मा, कृप, जयद्रथ, जरासंध, त्रिगर्त, दंडधर, दुर्योधन, दुःशासन, द्रोण, नील, पौरव, बाल्हीक, बृहद्बल, भगदत्त, भीष्म, भूरिश्रवा, लक्ष्मण, विंद, वृषक, शकुनि, शल्य, सत्यश्रवस, सुदक्षिण, दुर्योधनकी

ओरसे लड़नेवाले अतिथिमहारथी थे। इनमें भीष्म, द्रोण, और कृप ये तीन आचार्य सबसे अधिक वृद्ध थे। इनके अक्षौहिणी पति कृप, द्रोण, शल्य, जयद्रथ, सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि, बाल्हीक, ऐसे ग्यारह थे।

युद्धके समय युधिष्ठिरने भीष्म द्रोण आदिसे आशीर्वाद लिये। इस युद्धके कौरवोंके प्रथम सेनापति भीष्म थे, भीष्मके बाद द्रोण, द्रोणके बाद कर्ण, कर्णके बाद शल्य, फिर स्वयं दुर्योधन !! दुर्योधधनने द्रोणसे "युधिष्ठिरको सजीव बंदी बना देनेका" वर मांगा। द्रोणने "अर्जुनकी अनुस्थितिमें" ऐसे करनेका वचन दिया। युधिष्ठिरको पुनः द्यूतका निमंत्रण देकर दुर्योधन पुनः वनवासका शर्त रखना चाहता था। यह सुनते ही अर्जुनने "द्रोणकी यह प्रतिज्ञा निष्फल करूंगा !" ऐसी प्रतिज्ञा की। युद्धमें द्रोणने युधिष्ठिरको विरथ भी किया किंतु युधिष्ठिर द्रोणके हाथ नहीं आया। आगे युधिष्ठिरके "अश्वत्थामा हतः" ऐसे असत्य-वचन कहनेसे द्रोणका वध हुवा। सेनापति बनते ही कर्णने इसको अत्यंत त्रस्त किया। इससे यह बड़ा उद्विग्न हुवा। किंतु, अर्जुनने कर्ण-वधकी प्रतिज्ञा करने पर यह शांत हुवा। अर्जुनने बिना विलंब कर्ण-वध किया भी। कर्णका प्रेत देखकर गांधारीने कहा है " इसके भयसे युधिष्ठिरको नींद नहीं आती थी !! " युद्धकी समाप्तिके बाद रातको अश्वत्थामाने जो महान् हत्याकांड किया इससे यह अत्यंत दुःखी हुवा। तथा सभी कौरवोंकी अंतिम-क्रिया करते समय, जब इसको मालूम हुवा कि कर्ण इसका बड़ा भाई था तब अत्यंत दुःखी हुवा। उसी समय दुःखावेगमें यह अपना राज्यादि सब कुछ छोड़कर चले जानेको तैयार हो गया था किंतु दूसरे भाइयोंके समझा बुझानेपर शांत हुवा। भारत-युद्धमें जो विनाश हुवा इससे यह अत्यंत दुःखी हुवा था। तब इसको मार्कंडेय ऋषिने प्रयाग-यात्राका उपदेश दिया। कृष्णने इसका राज्याभिषेक किया। भीम युवराज बना। अर्जुन सेनापति बना। राज्याभिषेकके तुरंत बाद यह प्रयागराज जाकर आया। भीष्मने इसको राजनीतिका उपदेश दिया। बृहस्पतिसे इसे आध्यात्मिक ज्ञान मिला। बंधुवधके प्रायश्चित्तके रूपमें इसने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस यज्ञमें व्यास आचार्य बने थे। बकदाल्भ्य ब्रह्मा थे। वामदेव, याज्ञवल्क्य, पैल, आदि सोलह ऋषि ऋत्विज थे। इस यज्ञके बाद, धृतराष्ट्र वनवासके लिये चला गया। जाते समय धृतराष्ट्रने इसको धर्मोपदेश दिया। विदुरके निर्वाणके समय यह उसके पास था। अंतमें यह परीक्षितिको राज्याभिषेक करके स्वर्गारोहणके लिये चल दिया। रास्तेमें प्रथम द्रौपदी, फिर सहदेव, नकुल, अर्जुन, भीम इसके सामने गिरे। अंतमें यह जब स्वर्गद्वारमें पहुंचा तब इसके साथ एक कुत्ता था। इसने स्वर्ग-द्वारमें पहुंचनेके बाद " साथके कुत्तेको छोड़कर स्वर्गमें प्रवेश पाना अस्वीकार किया ! " तब कुत्तेके साथ यह स्वर्गमें गया।

इसका धनुष्य महेंद्र। शंख अनंत विजय। नक्षत्रोंसह अर्धचंद्र इसका स्वर्ण-ध्वज। इसके ध्वजपर नंद उपनंद नामके दो यंत्रचालित मृदंग थे।

यह अपनी आयूके सोलहवे सालमें सर्व-प्रथम हस्तिनापुर आया। वहां तेरह साल रहा। इसके बाद छः महीने जतुगृह,-लाक्षागृह-छ महीने एकचक्रपुर, एक वर्ष द्रुपदगृह, पांच वर्ष युवराजके रूपमें दुर्योधनके साथ, तेवीस वर्ष इंद्रप्रस्थका राज्य, तेरह वर्ष वनवास अज्ञातवास, तथा युद्धके बाद इसने छत्तीस वर्ष राज्य किया।

गीता अ० १. श्लो० १६—नकुल—

पांच पांडवोंमें चौथा, माद्रीका पुत्र। नकुल और सहदेव जुडवा भाई थे। इसका जन्म शतशृंग पर्वत पर हुवा। इसकी शिक्षा दीक्षा कृप और द्रोणाचार्यके पास हुई। इसकी दो पत्नियां थीं। एक द्रौपदी और दूसरी शिशुपालकी कन्या रेणुमति। राजसूय यज्ञमें इसने पश्चिम दिशाका विजय किया था। इसने रोहितक पर्वतपर मत्तमयूरोंसे युद्ध करके उनको जीत लिया। इसके बाद मरुभूमि, बहुधान्यक; शैरीषक; तथा महेत्थ ये देश जीत लिये। आक्रोल नामके राजऋषीको पराजित किया। आगे चल कर इसने दशार्ण, शिबि, त्रिगर्त, अंबष्ठ; मालव, कर्पट, मध्यकेकय आदि राज्योंको जीता। फिर, पुष्कर वनजातियां, उत्सवसंकेतगण, सिंधुतीरके ग्रामगण, सरस्वती तीरके मत्स्याहारी, शूद्र, आभीर, पंचनद, अमर पर्वत, दिव्यकटपूर, द्वारपाल, रामठ, राहूगण, मद्रदेशके शाकल गण, यादव आदिसे अपनी सत्ता स्वीकार कराली! फिर समुद्र किनारेकी पल्हव, बर्बक, यवन, शक आदि जातियों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर एक हजार ऊंटो पर इन देशोंसे अनेक प्रकारकी संपत्ति लेकर इंद्रप्रस्थमें आया।

जब यह विराटनगरमें अज्ञातवासमें था तब इसका गुप्तनाम "जयत्सेन" था तथा व्यवहारके लिये ग्रामग्रंथिक कहलाता था। यह अश्व-विद्यामें कुशल था। घोडोंकी बीमारी अच्छी करना, उनकी बूरी आदतें बदलना, उनको अपने काबूमें लाना इन सब बातोंमें यह अत्यंत कुशल था। विराटने इसको अपनी अश्वशालाका प्रमुख बनाया था। जब कृष्ण संधानके लिये कौरवोंके पास जाने लगा तब इसने "संधान होकर युद्ध टलेगा इसकी संभावना मानकर वैसा प्रयत्न करना चाहिए" ऐसा अपना मत दिया था।

युद्ध प्रारंभ होनेके बाद, नकुलने दुर्योधनसे युद्ध किया। युद्धमें दुर्योधनके दाहिने जा कर इसने उस पर सैकडों बाण छोडे। दुर्योधनने इसका असह्य अपमान मानकर नकुलके दाहिने जानेका प्रयास किया। किंतु नकुलने ऐसे होने नहीं दिया। इतना ही नहीं दुर्योधनसे "खडा रहो वहां!" "कहां जाता है!" कहते हुए उसका उपहास किया। किंतु कर्णके सामने इसकी एक भी नहीं चली। कुंतीको दिया गया वचन स्मरकर कर्णने इसे जाने दिया। नहीं तो कर्ण इसे मार सकता था। कर्णसे पराजित हो कर, यह युद्धभूमि छोड चला गया। युधिष्ठिरके अश्वमेधमें भी यह दक्षिण दिग्विजयके लिये गया था। अंतमें स्वर्गारोहणके समय, उत्तरमें हिमालयके बाद, वालुका सागरमें चलते समय थक कर यह मर गया।

नकुलके पतन पर अर्जुनने युधिष्ठिरसे पूछा "नकुल बीचमें क्यों पडा?" युधिष्ठिरने तब कहा था "इसे अपने सौंदर्यका अभिमान था। अपनी मृत्युके समय इसको आयू १०५ वर्ष थी।

इसको द्रौपदीसे शतानीक और रेणुमतीसे निरमित्र ऐसे दो पुत्र थे।

इसका शंख सुघोष।

गीता अ० १. श्लो० १६—सहदेव—

अंतिम पांडव। माद्रीके जुडवे बच्चोंमें छोटा। इसका जन्म भी शतशृंग पर्वत पर हुवा था। द्रोणसे यह शस्त्रविद्या सीखा। इसको चार पत्नियां थीं। द्रौपदी, शल्यकन्या विजया, भानुकी लडकी भानुमती, तथा जरासंधकी पुत्री।

द्रौपदी स्वयंवरके समय जो लडाई हुई उस समय इसने दुःशासनको पराजित किया था। राजसूय-यज्ञके समय यह दक्षिण-विजयके लिये निकला था। इसने प्रथम मत्स्यराजको जीता। कसूळदेशके दंतवक्रको जीत कर उससे उससे राजस्व ले लिया। उसके बाद पश्चिम मल्ल, सुमित्रराज, चोरदेश, निषाद्भूमि, श्रेष्ठगिरि, गोश्रृंग, और श्रेणिमान राजाओंको पराजित करके उनसे राजस्व ले लिया। कुंतिभोजने सहदेवका स्वागत करके युधिष्ठिरकी सत्ता माननेकी घोषणा की क्यों कि उसके मनमें पांडवोंके प्रति प्रेम था। चर्मण्वतीके तीर पर जंबकासुरके पुत्रसे घोर युद्ध करके उसको पराजित किया। यहांसे सहदेवको अगणित संपत्ति मिली। वहांसे नर्मदाके किनारे अवंतिकापति विंद अनुविंदोंसे लडकर उनको पराजित किया। उनसे राजस्व लेकर भोजकट और भीष्मकोंसे युद्ध करके उनको जीता। आगे कोशल, वेण्यातीर, कांतारमें घुसकर कांतारक, प्राकोसल, नारकेय, हेरंबक आदि राजाओंको युद्धमें जीतकर उन सबसे बडा राजस्व ले लिया। दक्षिणमें आगे बढ़ते बढ़ते यह, मारुध, रम्यग्राम, नाचीन, अनर्धुक, बनाधिप, पुलिंद, पांड्य आदि राजाओंको जीतता जीतता यह किष्किंधाकी गुफा तक आया था। वहां मैंद और द्विविद नामके वानर राजाओंसे इनको सात दिन तक युद्ध करना पडा। अंतमें वानर राजाओंने सहदेवको राजस्व देकर युधिष्ठिरके यज्ञमें सहायक होना स्वीकार किया। इस युद्धमें जब नील सहदेवकी सेना जला देने लगा तब इसको अपने पराभवका ज्ञान हुआ। सहदेवने तब अग्नि-स्तवनसे उस अग्निको शांत किया और नीलने युधिष्ठिरको राजस्व देना स्वीकार किया। आगे सहदेवने त्रैपुरको स्वाधीन किया। पौरवेश्वरको जीता। फिर सुराष्ट्रके कौशिकाचार्य आहृति, रुक्मि, भीष्मक, आदि राजाओंसे राजस्व लेकर शूर्पारक, तालाकट, दंडक, म्लेंच्छ, निषाद, पुरुषाद, कर्णप्रावरण, कालमुख, कोलगिरि, सुरभिपट्टण, ताम्रद्वीप, आदि १५-२० देशोंको जीतकर यह इंद्रप्रस्थ आया। इसने दूतके रूपमें घटोत्कचको लंका भेजकर साम द्वारा बिभीषणसे भी युधिष्ठिरके राजसूयके लिये राजस्व-धन प्राप्त किया था।

द्यूतमें हारकर वनवास जाते समय कौरवोंकी ओरसे उपहास किया जानेपर धृतराष्ट्रके सम्मुख इसने शकुनीके वधकी प्रतिज्ञा की थी। यह भी अज्ञातवासमें तंतिपालके नामसे विराटकी अश्वशालामें काम करता था। द्रोणाचार्य पर आक्रमण करते समय यह कर्णसे पराजित हुवा। इसने अपनी प्रतिज्ञानुसार शकुनीका वध किया। स्वर्गारोहणके समय इसकी आयू १०५ की थी।

इसके दो पुत्र थे। द्रौपदीसे श्रुतसेन। विजयासे सुहोत्र। यह उत्तम रथी था। सभी प्रकारकी शस्त्र-विद्यामें दक्ष था। खड्ग-युद्धमें विशेष दक्ष था। इसके ध्वजपर हंसका चिन्ह था। इसके धनुष्यका नाम अश्विन। शंख मणिपुष्पक।



परिशिष्ट दूसरा

गीताके चौथे अध्यायमें कर्म-योगकी परंपरा बताते समय कुछ राजाओंका नाम आया है। इस परिशिष्टमें उनका कुछ जीवन परिचय है।

परिशिष्ट दूसरा

पहले सूर्यसे मैंने कहा था योग अव्यय ।
मनुसे वह बोला था वह इक्ष्वाकुसे फिर ॥

गीता अ० ४. श्लो० १–

विवस्वत—गीतामें सूर्यके लिये विवस्वत शब्द आया है । ऋग्वेदमें इसको अश्विनी तथा यमका पिता कहा गया है । कहीं कहीं सभी देव विवस्वतके संतान होनेकी बात भी कही गयी है । इसके विषयमें कहा गया है "यह आयु बढाता है।" "यह आरोग्य देता है !" "यही विश्व निर्माण करनेवाला है !" "यह देवोंका पुरोहित है !" ऋग्वेदके अनेक वर्णन सूर्य बिंबका वर्णन करनेवाले हैं । किंतु यहां विशेष रूपमें, मानवोचित वर्णन ही दिये गये हैं । ऋग्वेदमें कहा गया है "इसके कारण जगत जीता है !" अग्निको विवस्वतका दूत कहा गया है ।

आदित्य, सूर्य, विवस्वत्, पूषन्, अर्यमन्, आदि सूर्यके ही भिन्न भिन्न रूप माने गये हैं । देव भी सूर्योदयके समय इसकी प्रार्थना करके कहते हैं "हम निष्पाप हैं यह सभी देवोंसे कहो !"

इसकी तीन पत्नियां हैं । त्वष्टाकी पुत्री संज्ञा रैवतकी पुत्री राज्ञी और प्रभा । कहीं कहीं इनकी पत्नियोंके नाममें द्यौ, राज्ञी, पृथ्वी, निक्षुभा ऐसे नाम भी आते हैं ।

विवस्वत्से संज्ञाको तीन पुत्र हुए । (१) श्रुति सवस्ः सावर्णिमनु (२) श्रुतिकर्मन्ः शनि (३) तपती-यमुना । मत्स्यपुराणमें अश्विनी कुमार और विष्णुको सूर्यका पुत्र माना गया है और प्रभासे प्रभात, राज्ञीसे रेवत ये विवस्वत्के पुत्र हैं । इनमें यम और यमी-यमुना, तथा अश्विनी कुमार जुडवे बच्चे हैं ।

और एक मत ऐसा है कि विवस्वतकी पत्नी संज्ञा-द्यौः उसकी छाया निक्षुभा पृथ्वी और इनकी संतति जल और धान्य-वनस्पति–है । गरमीके दिनोंमें सूर्य पानी खींच लेता है और वर्षाके रूपमें वह पृथ्वी पर बरसाता है इस लिये वह जगत्पिता है । यह ब्राह्मण ग्रंथोंका कहना है ।

यह इतना अधिक तेजस्वी था कि जिससे विश्व जलने लगा तब इसके तेजसे विष्णुने सुदर्शनचक्र, शंकरने अपना त्रिशूल, अष्टवसु देव (१) ध्रुव (२) घोर (३) सोम (४) आप (५) नल (६) अनिल (७) प्रत्यूष (८) प्रभास, कार्तिकेयकी शक्ति, कुबेरकी पालकी आदिका निर्माण किया गया । तब कहीं इसका तेज कुछ सहने योग्य हुवा ।

इसके १४०० किरणे हैं। चंद्र नक्षत्र आदि इसीसे बने हैं।

मनु—सावर्ण मनु अथवा वैवस्वत मनु। विवस्वतका पुत्र। ऋग्वेदमें दो बार इसका वर्णन आया है। यह अत्यंत उदार था। इसने जो दक्षिणा दी उसकी अत्यंत प्रशंसा की गयी है। यह विवस्वत्की पत्नी संज्ञाका पुत्र है। इसको वैवस्वतमनु भी कहा गया है। इसको मानव-जातिका पिता माना गया है। पुराणोंमें जितने वंश कहे गये हैं उन सब वंशोंका मूल पुरुष यह है। इसे "पहला यज्ञकर्ता" कहा गया है। यदु, तुर्वसु वंशके राजाओंने इसको अनेक उपहार दिये थे। वैवस्वत मनु राजा था। प्रलयके समय मत्स्यने मनुका संरक्षण किया था, मत्स्य-पुराणमें विस्तार पूर्वक इसका तथा इसके तपका सुंदर वर्णन किया गया है। अलग अलग पुराणोंमें इसके अलग अलग नाम मिलते हैं। भागवतमें इसको द्रविड़ाधिपति कहा गया है। यज्ञ-कर्मसे इसका वैभव बढ़ता गया। वसिष्ठको इसने ब्रह्मविद्या सिखाई, इससे वसिष्ठ ब्रह्मनिष्ठ बना। यह धर्म-नियमोंका प्रवर्तक था। इसी मनुको भारतीय धर्म-शास्त्रका मूलपुरुष माना जाता है। "बड़े बड़े ऋषियोंने इसके पास आकर धर्म-संबंधी अपने प्रश्न पूछे। अपनी समास्यएं इसके सामने रखीं। इसने उन सबका उत्तर दिया और उन उन ऋषियोंने अपने शिष्य प्रशिष्योंको यह विद्या दी," ऐसा उल्लेख मिलता है। मेक्समुलर जैसे आधुनिक विद्वान भी यह मानते हैं "मूल मानव-धर्म सूत्रोंके आधारसे आजकी मनुस्मृति लिखी गयी है।" वैवस्वत मनु अपने समयका अत्यंत विद्वान राजा था। विद्वानोंकी ऐसी मान्यता है कि संभव है जब मनुस्मृतिकी रचना हुई होगी तब वैवस्वत मनुके नाम पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध रहा होगा। वैदिक विद्वानोंकी यह भी मान्यता है कि उपलब्ध मनुस्मृतिको देख कर लगता है कि वह बुद्धोत्तर रचना है। आद्य शंकराचार्यने मनुस्मृतिको मान्यता दी है। ई० स० ५७१ में लिखे गये एक शिलालेखमें "मनुस्मृतिके आदेशानुसार शासन करने वाले एक राजा" का उल्लेख है। ई० स ५०० से भी पहले जो श्री शबर स्वामी हो गये उन्होंने उपलब्ध मनुस्मृतिका उल्लेख किया है। वैसे ही ई० स० दूसरी सदीके कुछ लेखकोंने मनूके विचारोंको ग्राह्य माना है! इससे ऐसे लगता है "मनुके प्राचीन धर्मशास्त्रमें, समय समय पर कुछ वृद्धि होती गयी है! संभव है कि तीसरी सदीसे पूर्व ही इसमें ऐसी वृद्धि होना प्रारंभ हुवा हो!!" सामान्यतः विद्वानोंकी ऐसी राय है कि "ई० स० पू० ३००-४०० से ई० स० २०० तक यह स्मृति बनी होगी।"

इक्ष्वाकु—वैवस्वत मनूके दस पुत्रोंमें एक। सबसे ज्येष्ठ पुत्र। एक राजकुलका प्रथम पुरुष। मनुने इक्ष्वाकुको दंडनीति सिखाई। "दंडसे प्रजा पालन करना किंतु अकारण दंडका प्रयोग नहीं करना!" यह इस नीतिका सार है। इक्ष्वाकु वंशका कुलगुरु वसिष्ठ। इक्ष्वाकु अयोध्याका पहला राजा। इक्ष्वाकु वंशमें इक्ष्वाकुसे कुरुयुद्धके समय राज्य करनेवाले बृहद्बल तक ८८ पीढियां हो चुकी थीं। कुछका मत ९१ है। इस कुलमें दिलीप, रघु, सगर, भगीरथ हरिश्चंद्र, राम आदि अनेक महापुरुष हो गये हैं। इसलिये सभी पुराणोंमें इस वंशके विषयमें कुछ न कुछ जानकारी मिलती है।



परिशिष्ट तीसरा

गीताके दसवे अध्यायमें भगवानने अपने ७५ विभूतियां कहीं हैं। उनमेंसे कुछ समझमें नहीं आनसे छोड दी हैं। जिसके विषयमें जो जानकारी मिली वह यहां दी है।

परिशिष्ट तीसरा

गीता अ० १०, श्लो० २१–आदित्योंमें महाविष्णु—

आदित्य १२ हैं। आदित्यका अर्थ है सूर्य। सूर्यके १२ नाम हैं। ये नाम भिन्न भिन्न हैं। सूर्य-नमस्कारके लिये (१) मित्र (२) रवि (३) सूर्य (४) भानु (५) खग (६) पूषा (७) हिरण्यगर्भ (८) मरीचि (९) आदित्य (१०) सविता (११) अर्क (१२) भास्कर हैं। किंतु द्वादशादित्योंमें (१) धाता (२) मित्र (३) अर्यमा (४) शुक्र (५) वरुण (६) अंशु (७) भग (८) विवस्वान् (९) पूषा (१०) सविता (११) त्वष्टा (१२) विष्णु हैं।

विष्णु—ऋग्वेदमें "विष्णुने तीन पगमें त्रिलोक जीत लिया" ऐसा वर्णन आया है। ऋग्वेदमें "सब दो लोक जानते हैं तो ये तीन लोक जानता है। सब पर इसकी कृपा रहती है। यह सबका उत्पादक और आधार है। यह सदैव सबको संकट-मुक्त करता है। पृथ्वी जीव-मात्रको रहने योग्य हो इसीलिये इसने तीन पगसे इसका आक्रमण किया" आदि वर्णन है। उपनिषदोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन देखनेको मिलता है। ॐकारमें "उ" विष्णु-निदर्शक मात्रा है यह "नृसिंहोत्तरतापिनी"में कहा गया है। यह आदित्योंमें प्रमुख है।

वैष्णव पुराणोंमें विष्णु-तत्वको आख्यान रूपसे समझाया गया है। इसके दस अवतार माने गये हैं। विष्णु-तत्वको सर्व-सामान्य लोगोंको समझानेके लिये पुराणोंमें आख्यान रूपसे-कथा कहानियोंके रूपमें-बहुत कुछ कहा गया है।

भारतमें गीताकी भांति "विष्णु सहस्र नाम" स्तोत्र महत्वका है। महाभारत, हरिवंश, भागवत, ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, आदि पुराणोंमें विष्णुके आख्यान हैं।

गीता अ० १०, श्लो० २१–सूर्य मैं ज्योतिमानमें—

द्युतः प्रकाशना इस धातुसे ज्योतिष प्रकाशनेवाले ऐसा शब्द बना है। प्रकाशनेवालेमें रवि–अंशुमान सूर्य।

गीता अ० १०, श्लो० २१–मरीचि मुख्य वायूमें—

मरुद्गण देवताओंका संघ है। वे ७-७ के टुकडियोंमें रहते हैं।

पहले गणमें (१) चित्रज्योतिस् (२) चैत्य (३) ज्योतिष्मत् (४) शक्रज्योति (५) सत्य (६) सत्यज्योतिस् (७) सुतपस् ।

दूसरे गणमें–(१) अमित्र (२) ऋतजित् (३) सत्यजित् (४) सुतमित्र (५) सुरमित्र (६) सुषेण (७) सेनजित् ।

तीसरे गणमें–(१) उग्र (२) धनद (३) धातु (४) भीम (५) वरुण । और दो नाम नहीं मिले ।

चौथे गणमें–(१) अभियुक्ताक्षिक (२) साह्वय । और नाम नहीं मिले ।

पांचवे गणमें–(१) अन्यादृश (२) ईदृश (३) द्रुम (४) मित (५) वृक्ष (६) समित (७) सरित् ।

छटे गणमें–(१) ईदृश् (२) नाम्यादृक्ष् (३) पुरुष (४) प्रतिहर्तृ (५) समचेतन (६) समवृत्ति (७) संमिति ।

सातवे गणके–नाम नहीं मिले । प्रत्येक गणमें सात मरुत् होने चाहिए । किंतु कुछ नाम नहीं मिलते । पहला गण पृथ्वीसे मेघ तक, दूसरा मेघसे सूर्य तक, तीसरा सूर्यसे सोमके निम्न भाग तक, चौथा सोमके ऊपर नक्षत्रों तक, पांचवा नक्षत्रोंके ऊपरसे ग्रहों तक, छटा ग्रहोंके ऊपरसे ऋषियों तक, सातवा ऋषियोंसे ध्रुव तक भ्रमण करते हैं । इनके अधिकार स्थान पृथ्वी, सूर्य, सोम, ज्योतिर्गण, ग्रह, सप्त ऋषि मंडल, ध्रुव है ।

इनका रथ हरिण खींचते हैं । ये जब वेगसे दौडते हैं तब पर्वत कांपते हैं । वृक्ष जड–मूलसे उखड पडते हैं । सारा विश्व डांवांडोल होता है ।

इनके हाथमें धनुष्य बाण और भाला होता है । वज्र और सोनेकी कुल्हाडी होती है । ये इंद्रके मित्र हैं । वर्षा गिराना इनका मुख्य कार्य है

ये कुल ४९ हैं । वेदादिका सारा वर्णन देखनेसे लगता है कि आंधी बवंडर आदिका इनसे गहरा संबंध है । इनका पिता रुद्र और माता पृश्नी है । कहीं कहीं ये दिति और कश्यपके पुत्र माने गये हैं । पुराणोंमें इन्हे "वायूके सात प्रवाहोंमें संचार करनेवाले दिति-पुत्र" कहा गया है ।

इन सात प्रकारके वायुमंडलोंकी (१) आवह - पृथ्वीसे मेघमंडल तक (२) प्रवह - मेघ-मंडलसे सूर्यमंडल तक (३) उद्वह - चंद्र और सूर्यमंडल तक (४) संवह–चंद्रमंडलसे नक्षत्र-मंडल तक (५) विवह - नक्षत्रमंडलोंमें–(६) परिवह - शनिमंडलसे सप्तऋषि मंडल तक (७) परावह - ऋषिमंडलसे ध्रुव तक कार्य सीमा है ।

मरीचि—विशेष जानकारी नहीं मिली ।

गीता अ० १०. श्लो० २१–नक्षत्रोंमें शशांक मैं—

आकाशके पूर्व-पश्चिम परिघमें जो तारा पुंज झिलमिलाता है उन्हे नक्षत्र कहते हैं । पाणिनीने "जो क्षति नहीं होता" उसे नक्षत्र कहा है । वेदोंमें नक्षत्रोंकी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष चर्चा है ।

कहीं कहीं क्षीरसागरके मंथनके समय चंद्रोत्पति होते हुए जो सागर तुषार उछले या छलके उससे नक्षत्र बने ऐसा काव्यमय वर्णन है । तो कहीं नक्षत्रोंको सूर्यकी चिनगारी माना गया है ।

इन नक्षत्रोंमें २७ विशिष्ट नक्षत्रोंका उल्लेख है जिनका ज्योतिष-शास्त्रमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन नक्षत्रोंमें मृग नक्षत्रका स्वामी चंद्र है।

शशांक—पौराणिक आख्यानोंके अनुसार यह समुद्र-मंथनसे उत्पन्न हुवा। इसको सोम भी कहा गया है। नक्षत्रोंको चंद्रकी पत्नियां कहा गया है। इन सत्ताईस स्त्रियोंमेंसे रोहिणी पर इसका विशेष प्रेम था। इस ईर्षासे अन्य स्त्रियोंने प्रजापतिसे शिकायत की। प्रजापतिने क्षयरोगी होनेका शाप देकर पुनः वृद्धि होनेका उश्शाप दिया। इससे प्रति मास क्षय पक्ष और वृद्धि पक्ष माने जाने लगे। चंद्रके विषयमें अन्यान्य पुराणोंमें अनेक कथायें हैं।

चंद्रको "आल्हाद देनेवाला" कहा जाता है। क्यों कि चंद्र शब्द "चदि" आल्हाद दायक धातूसे बना है। ज्योतिष शास्त्रमें यह ग्रह है। यह पृथ्वीका उपग्रह माना जाता है। यह पृथ्वीसे २३९००० मील पर है। इसकी परिधि २१६० मील है। २७ दिन, ७ घंटे, ४३ मिनिट १४ सेकंदमें यह पृथ्वी प्रदक्षिणा करता है।

यह पर प्रकाशित है। सूर्यके प्रकाशसे चमकता है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है "चंद्र किरण वास्तवमें सूर्य किरण ही हैं।" अमावास्याके दिन सूर्य और चंद्र पृथ्वीकी एक ही ओर आते हैं।

ऋग्वेदके पुरुष सूक्तमें "चंद्रमा विराट पुरुषके मनसे हुवा" ऐसा कहा गया है। कुछ प्राचीन ग्रंथोंमें चंद्रमाको "पानीका पुष्प" अथवा "पानीसे बना हुवा" कहा गया है। भारतीय धर्म ग्रंथोंमें अनेक प्रकारसे चंद्र–लोककी कल्पना की गयी है। गीताके आठवे अध्यायके पच्चीसवे श्लोकमें भी दक्षिणायनकी रातके समय मृत्यु पानेवाला चंद्र–लोक जा कर पुनः जन्म पाता है ऐसा कहा गया है। उपनिषदोंमें भी यह कल्पना है।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें "चंद्र सोमरस है।" "चंद्रमा प्राण है" "चंद्रमा मन है" "चंद्रमा प्रजापति है!" "चंद्रमा मनुष्य लोक है!" "चंद्रमा अन्न है!" ऐसा वर्णन मिलता है। इस प्रकार चंद्रमाका पृथ्वीके साथ घनिष्ठ तम संबंध बताया गया है।

फल ज्योतिषमें चंद्रमाको चंचल, मनका प्रतीक माना गया है।

गीता अ० १०. श्लो० २२–मैं सामवेद वेदोंमें—

वेद–वेद भारतके ही नहीं विश्वके प्राचीनतम ग्रंथ हैं। वेद काव्य हैं। धर्म-ग्रंथ हैं। प्रेरणा ग्रंथ है। वेद भारतीयोंका जीवन सूत्र है। वेद भारतीय जन-जीवनका मूल स्रोत है।

वैदिक वाङ्मय विपुल है। जितनां है उससे अधिक नष्ट हुवा है। वैदिक वाङ्मयके चार विभाग हैं। (१) जो श्रुति कहाते हैं वे हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद। श्रुतिका अर्थ सुनकर पाठकंठ-किया हुवा। बडोंसे सुना और कंठ कर रखा गया, वह श्रुति।

ऋग्वेद–ऋग्वेदमें- जो आज उपलब्ध है- १० मंडल. ८ अष्टक प्रत्येक अष्टकमें ८ अध्यायके अनुसार ६४ अध्याय, उनके २०७ वर्ग और परिशिष्टके साथ १०२८ सूक्त हैं। इन सूक्तोंमें १०५७० ऋचाएं हैं। इन्हे मंत्र कहते हैं। इन मंत्रोंमें १,५३,८२८ शब्द और पूर्ण उच्चार होनेवाले ४,३२,००० अक्षर हैं।

ऋग्वेद-आज जो भाग उपलब्ध हैं उसको शाकलशाखा कहते हैं।

प्रत्येक वेदके ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद् ऐसे अलग अलग भाग हैं। ब्राह्मण वेदका कर्मकांड है। इसमें यज्ञ-यागादि विधि-विधान कैसे करना चाहिए इसका सविस्तर और सूक्ष्माति-सूक्ष्म, विवरण है और आरण्यक उपासना कांड हैं। इसमें आध्यात्मिक चिंतनका विवेचन है। और उपनिषद् इस विश्वके मूलमें जो तत्व है उसको जाननेका प्रयासरूप ज्ञानकांड है।

ऋग्वेदके ऐसे ५ ब्राह्मण ९ आरण्यक और ४ उपनिषद् हैं।

ऋग्वेदका रचनाकाल विद्वानोंके अनुसार ६००० से ८००० वर्ष प्राचीन है।

यजुर्वेद्–यजुर्वेद यज्ञ संबंधि अधिक है। यजन विषयक ज्ञान-यजुर्वेद है। ऐसा माना जाता है कि प्राचीन कालमें इसकी १२२ शाखायें थीं। "यजन पद्धतिके भिन्नताके कारण ही ये शाखाएँ हुई" ऐसे विद्वानोंकी मान्यता है। आज, यजुर्वेदकी पांच संहिताएँ उपलब्ध हैं। (१) काठक-संहिता (२) कठ–संहिता (३) मैत्रायणी–संहिता (४) तैत्तिरीय–संहिता (५) वाजसेनीय-संहिता। वाजसेनीय संहिताकी काण्व और माध्यंदिन एसी दो शाखाएं हैं। तैत्तिरीय संहिताको कृष्णयजुर्वेद कहते हैं। धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद माना जाता है।

यजुर्वेद गद्य पद्यात्मक है। यजुर्वेदके दो ब्राह्मण, दो आरण्यक, और ७ उपनिषद् हैं। प्रसिद्ध ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदका अंतिम ४० वां अध्याय है।

सामवेद्–प्राचीन ग्रंथोंको देखनेसे ऐसा लगताहै कि प्राचीन–कालमें इसकी अनेक संहितायें थीं। अब केवल एक ही संहिता उपलब्ध है। पुनरुक्ति छोड़ दी जाय तो उसमें १५४९ ऋचायें हैं। इनमेंसे ७५ को छोड कर अन्य सभी ऋचाएं ऋग्वेदमें आई हैं।

सामवेद्–का अर्थ गानेका वेद! विद्वानोंका ऐसा एक मत है कि भारतीय संगीतका प्रारंभ सामवेदसे हुवा है। यज्ञादिमें वेद गानेवालोंको उद्गाता कहनेकी परिपाठी थी। वैसे सामका प्रस्ताव-प्रारंभ-प्रस्तोता करता है। इसका मुख्य भाग-उद्गीथ-उद्गाता गाता है। और प्रतिहर्ता उसकी समाप्ति करता है। प्रत्येक ऋचा पर अनेक प्रकारके साम स्वर होते हैं। इन स्वरोंको यदि वर्तमान भाषामें 'स्वरलिपि' कहा जाय तो संभवतः अत्युक्ति नहीं होगी।

सामवेदमें अनेक छंद हैं। पुरानी पोथियोंको देखनेसे पता चलता है कि सामदेवकी कई शाखाएँ थीं। किंतु आज कवल दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। इन वेद–मंत्रोंको गानेके ३६ प्रकार आज उपलब्ध हैं। इन वेद-मंत्रोंको गानेके ८ प्रकार हैं। इन्हे (१) जटा (२) माला (३) शिखा (४) रेखा (५) ध्वज (६) दंड (७) रथ (८) घन ऐसे कहते हैं।

संभव है कि गीता-कालमें सामवेद सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण रहा हो। तभी भगवानने वेदोंमें साम वेद मैं ऐसे कहा।

अथर्ववेद्–यह सामान्य लोगोंका वेद है। इसमें उतनी उदात्तता नहीं जितनी ऋग्वेदादिमें है। इसमें अभिचार-मंत्र और अभिचार विधि भी है। इसका प्राचीन नाम अथर्वांगिरस ऐसा है। इसका अर्थ है अंगिरस-वंशीय अथर्वा–ऋषिका कहा हुवा है। इसका और एक नाम भृग्वंगिरस भी है। भृगु ऋषि अंगिरस ऋषिके शिष्य थे। अथर्ववेदके प्रचारमें इन भृगु ऋषियोंका बडा महत्व है।

साथ साथ अथर्ववेदको क्षात्र-वेद कहनेकी भी परिपाठी है। अथर्व वेदमें यज्ञोपयुक्त भाग अत्यंत अल्प है। अथर्व-वेदको पुरोहितोंका वेद भी कहते हैं। पहले अथर्ववेदके अध्ययन किये

हुए ब्राह्मणको ही पुरोहित बनानेका नियम था। प्राचीन पोथियोंमें लिखा है "जिस राज्यमें अथर्ववेत्ता रहता है उस राज्यमें सभी उपद्रव शांत होते हैं।" राजनीति और युद्धोंमें ऐसे पुरोहितोंका बड़ा महत्त्व रहता था। अथर्व-वेदमें "राजकर्माणि" ऐसा एक बड़ा सूक्तसंग्रह है। इन सबका कर्माधिकार राजपुरोहितका होता है।

इस वेदकी नौ शाखाएँ आज उपलब्ध हैं। अथर्व-वेदमें २० कांड और करीब ६००० मंत्र हैं। अलग अलग शाखाओंकी मंत्र-संख्या अलग अलग है। इसका एक बड़ा अंश ऋग्वेदसे लिया गया है।

यह अग्नि उपासकोंका वेद ? है। इसमें आयुर्वेदके बीज भी देखनेको मिलते हैं। इसमें कुछ रोग और उसकी चिकित्साका विधान है। इसमें राष्ट्रीयता, सेना, शस्त्रास्त्र, सेना संचालन आदिका भी विवेचन है। साथ साथ कृषि गोपालन आदिका भी वर्णन या नियमादि है।

अथर्व-वेदका एक ब्राह्मण और तीन उपनिषद हैं। आयुर्वेद, सर्पवेद, पिशाचवदे असुरवदे आदि इसके उपवेद माने गये हैं।

गीता अ० १०. श्लो० २२—देवों में देवराज मैं—

देवराज-इंद्र ऋग्वेदका प्रधान देवता है। ऋग्वेदमें इंद्र पर सबसे अधिक सूक्त हैं। इंद्रके तीन रूप हैं। आकाशस्थ इंद्र देवता। शरीरस्थ इंद्र बुद्धि। इंद्रका मानवी रूप-सामाजिक-राजा। वैदिक ऋषियोंका यह राष्ट्रीय देवता है। इंद्र दस्युओंका शत्रु है।

इंद्रका जन्म—वेदमें इंद्रके माता-पिताका पर्याप्त वर्णन होने पर भी उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। एक स्थान पर इंद्रके पिताका नाम "द्यु" मान कर माताका नाम "पृथ्वी" कहा है। एक स्थान पर इंद्र-जन्मके विषयमें अलंकारिक भाषामें कहा गया है। कहीं कहीं "बवंडर आया और जन्म हुवा!" ऐसे कहा गया है। जहां आकाशको इंद्रका पिता कहा गया है वहीं इंद्रके जन्मके साथ आकाश कांप उठनेका उल्लेख है। इंद्रके क्रोधसे आकाश कांप उठता है। पृथ्वी कांप उठती है। एक मंत्रमें कहा गया है "इंद्र अपने माता-पिताकी पर्वाह नहीं करता।" "वह अपने माता-पिताको त्रस्त करता है।" बवंडरके समय भी तो पृथ्वी और आकाश त्रस्त होते हैं! संभवतः इसीका यह वर्णन है। सभी ऋचाओंका सर्व-सामान्य अर्थ लिया तो बवंडरका सुंदर और भीकर वर्णन देखनेको मिलता है। इंद्र-जन्मका जितना अधिक अध्ययन किया जाय उतना वह अधिक दुर्बोध होता जाता है।

एक स्थान पर इंद्रका मानवी स्वरूप देखनेको मिलता है। "इंद्रके जन्म-समयमें उसके चारों ओर चार दासियां एकत्र हुई!" "इंद्रने जन्मते ही सोमपान किया!" "देवियोंने उसको पालनेमें झुला झुला कर उसके पराक्रमको जगाया!" एक स्थान पर इंद्र स्वयं कहता है "मेरे पिताने मुझे अशत्रु निर्माण किया।" "एक वीर-पत्नीके गर्भसे एक वीर पुत्रका जन्म हुवा" इंद्र सोमपानसे मस्त होकर झूमता हुवा बडबडाता जाता है। फिर भी वेदके गहरे अध्ययन करनेवाले कहते हैं कि इंद्र बवंडरकी देवता है।

इंद्रके शत्रुगण—इंद्रके साथ लडनेवाले सबके सब "वर्षा चुराने वाले" हैं। (१) अर्बुद-एक मंत्रमें कहा गया है। "तूने उस बडे अर्बुदको कुचल डाला।" अर्बुदके पहाडोंसे

गायोंको मुक्त किया।" (२) अहि-अहिका अर्थ दैत्य अथवा सर्प है। अनेक विद्वानोंने अहिको वृत्र कहा है जो इंद्रका सबसे बड़ा शत्रु है। (३) अश्न–दो तीन बार इसका वर्णन आया है। कहा गया है "इंद्रने इसका निवासस्थान उध्वस्त किया।" "इंद्रने सूर्यको उदय होनेको कह कर इस लोभीका संहार किया।" (४) इलीविश-केवल एक बार इसका उल्लेख है। "इंद्रने इसको धूलमें मिला दिया।" इसको "पानीको रोकनेवाला" कहा है। (५) कांरज-यह सदैव वृत्रके साथ रहता है। इंद्रने इसका दो बार पराजय किया। (६) कुयव-यह शब्द विशेषण बनकर कई बार आया है। कुछ विद्वानोंने इसका अर्थ "बुरा बोलनेवाला" ऐसा किया है। तो कुछ विद्वानोंने इसका अस्वीकार किया है। (७) निमुचि-पाणिनीने इसका अर्थ वर्षा न होने देने वाला ऐस किया है। इंद्रने इसका सिर उडाया था। (८) नववास्तव-कई बार इस का नाम आया है। "जिसका वसति-स्थान नया वह" एक स्थान पर इसका उल्लेख "बृहद्रथ" इस नामसे आया है। इंद्रने इसके रथ और इसके टुकडे टुकडे कर दिये। (९) पणि-सदैव यह गायोंको भगाकर छिपा देता है। अथर्वन् अंगीरसकी प्रेरणासे इंद्रने इसको मारा। (१०) विप्रु-इसको "कानून तोडनेवाला" कहा गया है। साथ साथ यह विशालकाय है। शुष्ण और शंबरके साथ लडने आता है। इंद्रने इसको मारा है। (१०) वर्चिन्–यह सदैव शंबरके साथ है। इसके साथ इसकी एक लाख सेना है। इसको भी इंद्रने मारा है। (११) वल–वलका अर्थ गुफा है। यह सदैव गुफामें रहता है। इंद्रने इसको तोडकर पणीका संहार किया। एक स्थान पर "बृहस्पतिने वलका स्थान दिखाया" ऐसा उल्लेख है। (१२) शंबर–वाजसेनीय संहितामें इसको दैत्याधिपति कहा गया है। वेदमें इसको दास कहा गया है। इसको कौलीत्तर अथवा कुलत्तरका लडका कहा गया है। पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि यह किसी आर्येतर जाति–कुलका नाम होगा। इंद्रने "दूसरे राक्षसके साथ शंबरका वध किया" है। "शंबर पर्वत पर रहता है चाहे वह पृथ्वी पर रहता हो अथवा अंतरिक्षमें बादलों पर रहता हो।" एक स्थान पर लिखा गया है "शंबर अपनेको देव मानता था!"

पर्वतों पर इस शंबरके १०० किले थे। इसका अंतिम किला रातको गिरा। शंबरको मारनेके लिये इंद्रको ४० वर्ष लगे। इतने दिन तक इंद्र शंबरको खोजता रहा। कई विद्वानोंने इसका ऐसे अर्थ किया "४० वर्ष तक बवंडर चलता रहा।" वस्तुतः शंबरका मुख्य शत्रु दिवोदास है। दिवोदास इंद्रका भक्त है। अश्विनीने इस काममें सहायता की है। १३ शुष्ण, १४ स्वर्भानु आदि ४० इंद्र-शत्रुओंका नाम मिलता है जिन्हे इंद्रने मारा है। वैदिक ऋषि पुनः पुनः प्रार्थना करके इंद्रको "पराक्रम करनेकी प्रेरणा" देते हैं। इंद्रसे लडनेवाले सभी "वर्षाको रोकते हैं गायको छिपा देते हैं!" इंद्रसे जब जो युद्ध हो कर इंद्र शत्रुको मारता है तब "सदैव उषा और सूर्य आकाशमें प्रस्थापित होते हैं!" विद्वानोंकी यह मान्यता है "वातावरणके नैसर्गिक संघर्षको मानवी-युद्धका रूप देकर अवकर्षणादि राष्ट्रीय आपत्तियोंको दूर करनेवाले इंद्रको राष्ट्र-पुरुष मानकर आर्योंने राष्ट्रीय भावनाका उदय और पोषण किया है।" इससे "राष्ट्र-हितके लिये अपना जीवन उत्सर्ग करनेका भाव भर दिया है।" "वृत्र" इंद्रका महान् शत्रु है। इंद्र-वृत्र-युद्ध मानो सृष्टि चमत्कारोंका सुंदर सजीव वर्णन माना जाता है। इसमें ऋषियोंकी काव्य-प्रतिभाका सजीव दर्शन होता है। (१) वृत्र गायोंको भगाने (२) सूर्यको छिपाने (३) सूर्योदय रोकने (४) वर्षाको रोकनेका "पराक्रम" करता है। वृत्र वराह-भक्षी है। शीघ्रगामी है। वृत्रका वर्णन बादलोंके आकारोंका वर्णन है। वृत्र कुहरेमें छिपकर बैठ जाता है।

कुहरेको लपेट कर आक्रमण करता है। गडगडाहटसे इंद्रको डरानेका प्रयास करता है। इससे देव भाग जाते हैं किंतु इंद्र अपना स्थान नहीं छोडता। इंद्रके वज्र प्रहारसे विश्व कांप उठा। वृत्र मर गया। ऊपरका वर्णन इंद्रका स्वरूप समझनेके लिये पर्याप्त है। इंद्र आर्योंके आत्म-विश्वासकी जीती जागती मूर्ति है। इंद्रके पराक्रमका फल प्रकाश है। इंद्रके युद्धारंभ सदैव अंधःकारमें होते हैं। तमावरणमें वह शत्रूको मारता है। उसके बाद आकाशमें उषा और सूर्यकी प्रस्थापना होती है! इस लिये "इंद्र शिवः सखा" है। वैदिक ऋषि इससे "न्याय, सामर्थ्य, तेज, दिगंतकीर्ति, और ऐश्वर्य" मांगते हैं।

इंद्र भी कहता है "मैंने ही यह भूमि आर्योंको दी है।" इसलिये वह आर्योंका राष्ट्र-पुरुष है। इस पर १९९ सूक्त है।

ऊपर वैदिक इंद्रका वर्णन है। पुराणोंमें प्रत्येक मन्वंतरोंमें एक इंद्र होता हैं। सौ यज्ञ सांग करनेवाला इंद्र-पद पाता है। प्रजा-संक्षण इसका मुख्य कार्य है। असुरोंमेंसे हिरण्य-कश्यपु, प्रल्हाद, और बलि इन तीनोंने इंद्र-पद प्राप्त किया है। इससे इंद्र-पदकी राजनैतिक स्थितिका बोध होता है। त्रिशंकु, वसिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, रोहित, गौतम, गृत्समद, भारद्वाज, सोम, इंदुल, अर्जुन आदिके जीवनमेंसे भी इंद्र-पदका राजनैतिक रूप स्पष्ट होता है।

इंद्र काश्यप और अदितिका पुत्र। देवोंका राजा। वर्षाका देव। इंद्र-पद प्राप्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञ नष्ट करना तपोभंग करना इसका काम। हिरण्यपुत्र महाशनिने इसको जीता है। वरुणने इसको बंधन-मुक्त किया। ऐरावत, कल्पवृक्ष, अमृत आदि पर इसका स्वामित्व। गरुडने एक बार इससे लडकर अमृत ले लिया। फिर गरुडके कहनेसे इंद्रने चालाकीसे यह पुनः पालिया। नहुष-मानव-भी एकबार इंद्र बना था! पुराणोंमें इंद्र प्रथम-स्थानका देवता नहीं है। यह अंतरिक्षमें पूर्व दिशाका स्वामी है। इंद्रने कई बार कई लोगोंसे मार खाई है। कई लोगोंके शापसे त्रस्त हुवा है। इसका निवासस्थान स्वर्ग। अमरावती इसकी राजधानी। इसका राजप्रासाद वैजयंत। बाग नंदनवन। वाहन ऐरावत। हत्यार वज्र। घोडा उच्चैः श्रवा। रथ विमान। सारथी मातली। धनुष्य शक्र। तलवार परंज।

गीता अ० १०. श्लो० २२-मन हूं मैं इंद्रियोंमें—

अपने अपने विषयोंको ग्रहण करना इंद्रियोंका काम है। त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, जिव्हा, घ्राण, ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं। इनके विषय हैं स्पर्श, रूप, शब्द, रस, गंध। बिना इंद्रियोंके अन्य किसी साधनसे विषयोंका ज्ञान होना असंभव है। इन्हीं इंद्रियोंसे शीतोष्ण सुख दुःखादिका बोध होता है। इंद्रिय शरीरसे संयुक्त अतींद्रिय और ज्ञानका कारण है। इन पांच ज्ञानेंद्रियोंको बहिरिंद्रियां कहते हुए मनको अंतरिंद्रिय कहा गया है। मनको अणुपरिमाण और हृदयके भीतर रहनेवाला अर्थात् अंतःकरण कहा गया है। बाह्य पांच ज्ञानेंद्रियोंके साथ पांच कर्मेंद्रियां भी होती हैं। हाथ, पैर, गुदा, शिश्न, और वाचा ये पांच कर्मेंद्रिय हैं। ये पांच अपना अपना कर्म करती हैं। इन पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रियों पर मनका स्वामित्व है। ये इंद्रिय मनुष्यको बाह्य विषयोंका ज्ञान कर देती हैं। बाह्य कर्म करती हैं किंतु अंतर्विषयको ज्ञानके लिये आंतरिक कर्मके लिये इनकी आवश्यकता नहीं होती। अंतःकरण या मनके द्वारा आंतरिक ज्ञान सुख दुःखादि होता है। वेदांतियोंके मतानुसार यह दर्पणके समान होता है।

सांख्यमतके अनुसार इंद्रिय ग्यारह हैं। पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेंद्रिय, एक मन। मन इंद्रियोंसे अलग न माननेसे इंद्रियोंमें मन कहा गया है।

गीता अ० १०, श्लो० २२—चेतना भूत मात्रमें—

जो कुछ चराचर पदार्थ है उसमें जो स्मृति, बोध, सुख, या संज्ञा है, वह चेतना है। प्रकृतिमें जो कुछ है उसमें जो तत्व है, जिस तत्वसे जिस किसीका अस्तित्व है वह चेतना है। चेतना अथवा चैतन्यका केवल अस्तित्व है। आकार प्रकार रंग रूप नहीं। केवल एक बोध है, जो इंद्रियातीत है, उसको दिखा नहीं सकते। बता नहीं सकते। कह नहीं सकते। जिसमेंसे "मैं" का स्फुरण होता है "मैं" का बोध होता है और स्मृति रहती है, वह चेतना है। वह चैतन्य सर्व-व्यापी है। भूतमात्रोंमें है।

गीता अ० १०, श्लो० २३—रुद्रोंमें मैं सदाशिव—

रुद्र—एक वैदिक देवता। ऋग्वेदमें इस पर तीन सूक्त हैं। वेदका रुद्र बड़ा शक्तिशाली, पराक्रमी, शत्रुओंको मारनेवाला है। वह अत्यंत भयप्रद है। जटाधारी है। बलिष्ठोंमें बलिष्ठ है। वज्रबाहू है। चिर-तरुण है। त्रिशूल इसका आयुध है। यह त्रिनेत्र है। इसका पेट काला और पीठ लाल है। इसका धनुष्य शक्तिशाली होता है। ऋग्वेदमें इसको क्रूर कहा है। यह संहारक है। ज्वर पैदा करनेवाला है।

रुद्र रोग हरणमें कुशल है। श्रेष्ठ वैद्य है। देवोंसे भी रक्षा करनेके लिये ऋषि इससे प्रार्थना करते हैं। ऋग्वेदके रुद्र-सूक्त देखनेसे "सदैव प्रेम-वर्षा करनेवाली माँकी लाल आंखें देख कर-" मां! आंख मत दिखा, प्यार कर" कहनेवाले बालकका दर्शन होता है।

किंतु पौराणिक रुद्र कश्यप और सुरभिके पुत्र हैं। अलग अलग पुराणोंमें इनके विषयमें अलग अलग बातें हैं। रुद्र ग्यारह हैं। इनको एकादश रुद्र कहा जाता है। इनके नामके विषयमें भी एक-वाक्यता नहीं है। अलग अलग पुराणोंमें अलग अलग नाम हैं। महाभारतके आदि पर्वमें : (१) मृगव्याध (२) सर्प (३) निऋति (४) अजैकपाद (५) अहिर्बुध्न्य (६) पिनाकी (७) दहन (८) ईश्वर (९) कपाली (१०) स्थाणु (११) भव ऐसे नाम दिये हैं। किंतु महाभारतके शांति पर्वमें (१) अजैकपाद (२) अहिर्बुध्न्य, (३) विरूपाक्ष (४) रैवत (५) हर (६) बहुरूप (७) त्र्यंबक (८) सुरेश्वर (९) सावित्र (१०) जयंत्य (११) पिनाकी है। किंतु ये नाम प्रसिद्ध हैं। (१) भूतेश (२) नीलरुद्र (३) कपाली (४) वृषवाहन (५) त्र्यंबक (६) महाकाल (७) भैरव (८) मृत्युंजय (९) कामेश (१०) योगेश (११) शंकर।

शंकर—कश्यप और दनुका पुत्र। कैलासवासी, त्रिनेत्र। दक्षने इसे अपनी कन्या दी थी। दक्ष यज्ञमें इसने दक्षका संहार किया। समुद्रमंथनसे जो हलाहल विष निर्माण हुवा उसको इसने लोक-कल्याणार्थ पी लिया। इससे इसका गला नीला हो गया। इसीलिये इसको नीलकंठ कहते हैं। हालाहल विषके तापसे बचनेके लिये इसने जटामें चंद्र धारण किया। इस शंकरको शिव भी कहते है। शिवकी उपासना करनेवाले शैव। भारतीय संस्कृतिमें शैव-दर्शनका अत्यंत महत्वका स्थान है। अनेक पुराणोंमें शंकरकी कथाएँ हैं अथवा अनेक शैव-पुराण हैं। यह सदैव देवोंकी ओरसे दैत्योंसे लड़ने आया है!

गीता अ० १०. श्लो० २३–कुबेर यक्ष-रक्षोंमें—

यक्ष—देवयोनिकी एक जाति । विद्याधरोंके निवासके निम्न भागमें मेरु पर्वत तक, जहां तक हवा चलती है यक्षोंका वास है । इन यक्ष-गणोंका स्वामी कुबेर है ।

कुबेर—पिताका नाम विश्रवा ऋषि । माताका नाम इडविडा अथवा मंदाकिनी । मांके नामके विषयमें मतभेद है । इडविडा विश्रवा ऋषिकी पत्नी है या माता ऐसा भ्रम होता है । ब्रह्माने इसको राक्षसगणोंके साथ लंका, पुष्पक विमान, यक्षोंका आधिपत्य, धनेशत्व, लोकपालत्व और रुद्रकी मित्रता दी थी ।

रावण इसका सावत्र बंधु । रावणने इससे लड़कर लंका और पुष्पक विमान छीन लिया फिर यह उत्तराधिपति बना । अलका इसकी राजधानी । मणिग्रीव और नलकूवर इसके पुत्र । इसको उत्तराधिपति कहा गया है । यह उत्तरके यक्ष लोगोंमें रहता है । ऋद्धि और सिद्धि इसकी शक्तियां हैं । मणिभद्र, पूर्णभद्र, मणिमत्, मणिकंधर मणिभूस, मणिस्रग्विन् मणिकार्मुकधारक ये यक्ष इसके सेनापति हैं । कुबेर-सभा इसकी राज्यसभा है । गंधमादन पर्वतकी संपत्तिका चौथा हिस्सा इसके आधीन है और केवल सोलहवा हिस्सा मनुष्योंको मिला है । मेरु पर्वतके उत्तरमें विभावरी इसका वसति-स्थान है । इसका वन सौगंधिक है । जिस किसी राज्यमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी एकता रहती है उस राज्यका विकास होता है । ऐसा राज्य सुखी रहता है । यह कुबेरका राजनैतिक सिद्धांत है जो इसने मुचकुंदको कहा था ।

गीता अ० १०. श्लो० २३–अग्नि मैं वसु वर्गमें—

वसु—वैवस्वत मन्वंतरकी दक्ष-कन्या वसूके आठ पुत्र वसु संज्ञक देव हैं । इन अष्ट वसुओंका नाम अलग अलग पुराणोंमें अलग अलग है ।

पद्मपुराणमें—धर, ध्रुव, सोम, आप, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास । भागवत पुराणमें– द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु, विभावसु ऐसे दिये हैं इसमें पावक ।

अग्नि—अग्निका अर्थ करते समय ॥ सदैव ऊपर उठता है वह ॥ ऐसे किया गया है । अग्नि वैदिक देवता भी है किंतु यहां वसुके अग्निका विचार करना है । धर्म-और वसुका पुत्र अग्नि, इसकी पत्नी वसोर्धारा । द्रविणक पुत्र ।

अग्नि अनेक मिलते हैं किंतु अष्टवसुओंमें जो अग्नि है उसकी इससे अधिक जानकारी नहीं ।

गीता अ० १०. श्लो० २३–मेरु मैं गिरिमालामें

भारतके प्राचीन ग्रंथोंमें जगह जगह पर मेरु पर्वतका वर्णन आता है । किंतु इसकी भौगोलिक जानकारी नहीं मिली ।

किंतु स्वर्गारोहणपर्वमें लिखा गया है कि पांडव मेरु-पर्वत पर जाने निकले । वे हस्तिनापुरसे पूर्वकी ओर चले । अनेक देशोंसे प्रवास करते करते समुद्रके किनारे गये । वहां समुद्र पार करके हिमवत् पर्वतके उस पार जो मेरु शिखर था वह चढ़नेके लिये उसके पास आये । मेरु शिखरको वंदन करके उस पर चढ़ने लगे । मेरु शिखर पर चढ़ते समय प्रथम द्रौपदीका पतन हुवा ।

धर्मराज युधिष्ठिर और उसका एक कुत्ता छोड़कर और सबका पतन मेरुशिखर चढ़ते समय ही हुवा।

मेरुशिखर चढ़नेपर स्वर्ग आया।

इस वर्णनसे भी मेरुशिखरके विषयमें-उसकी भौगोलिक स्थितिके विषयमें कहने जैसी कोई जानकारी नहीं हुई।

गीता अ० १०. श्लो० २४—बृहस्पति मुझे जान पुरोहित प्रधान जो—

पुरोहित—प्राचीन कालमें राजाके राजकाज और धर्मकार्यमें आवश्यक सहायता और पथप्रदर्शन करनेवाले प्रमुख ब्राह्मणको पुरोहित कहा जाता था। यह पुरोहित राजाका शिक्षक, अंतरंग-मित्र, तथा पथप्रदर्शक होता था। ऋग्वेदमें ऐसे अनेक पुरोहितोंका उल्लेख मिलता है।

दिवोदास भरत-वंशका प्रसिद्ध राजा। ग्रीकके इतिहासमें फिलिप और अलेक्झांडरका जो स्थान है वही स्थान भारतके प्राचीन इतिहासमें दिवोदास और सुदासका है।

भरद्वाज दिवोदासका महान और कुशल राजपुरोहित था। शंबर दिवोदासका शत्रु। भरद्वाजने शंबरके विरुद्ध इंद्रकी शक्ति दिवोदासके पीछे खड़ी की।

वैसे ही वरशिखाओंसे पराजित, साधन हीन अभ्यवर्तिन् और प्रस्तोक भरद्वाजको पुरोहित बननेकी प्रार्थना करते हैं। भरद्वाज पुरोहित बन कर पथ-प्रदर्शन करता है। दोनो शक्तिसंपन्न होकर वरशिखाओंको पराजित करते हैं।

ऋग्वेदमें भरद्वाजकी भांति, श्रुतबंधु, कवष, प्रियमेध, वामदेव, कक्षिवान आदि पुरोहितोंके कर्तृत्वका उल्लेख है।

वैसे ही विश्वामित्र और वसिष्ठ। दोनों सुदासके पुरोहित। सुदास दिवोदासका पुत्र। विश्वामित्रके पथ-प्रदर्शकत्वमें अश्वमेध यज्ञ करता है। इसमें अनेक राजा पराजित हो जाते हैं। पराजित राजा सब एक होकर सुदास पर आक्रमण करते हैं। तब पुरोहित वसिष्ठ! वसिष्ठके पथप्रदर्शकत्वमें नौ राजाओंसे-जो एक साथ संगठित होकर आक्रमण करते हैं-लड़कार जीतता है। दोनों ओरकी सैन्य शक्ति देख कर आश्चर्य होता है। वेदमें "भेडने सिंहकी शिकार किया" इन शब्दोंसे इस युद्धका वर्णन किया है।

आगे, न्यायदानमें भी पुरोहित सहायता देता था। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें भी राज-पुरोहितके कतर्व्य, योग्यता, अधिकार आदिका उल्लेख है। कौटिलीय स्वयं एक प्रकारसे पुरोहित था।

शुक्र जैसे दैत्योंका पुरोहित था वैसे बृहस्पति देवोंका पुरोहित था। राजा, मान्य, विद्वान, व नीतिसंपन्न ब्राह्मणोंको सम्मानपूर्वक बुलाकर अथवा उनके पास जा कर पौरोहित्य स्वीकार करनेकी प्रार्थना करते थे।

बृहस्पति- बृहस्पति इस पुरोहित-वर्गका श्रेष्ठतम पुरोहित थे। बृहस्पति शब्दका अर्थ वाचस्पति-वाचाका पति अथवा महान तपोधन। बृहस्पति सूक्त द्रष्टा ऋषि हैं। बृहस्पति युद्ध विशारद भी हैं। धनुष्य, बाण, स्वर्ण, परशु इसके हत्यार हैं। ये अत्यंत पराक्रमी थे। इनके रथके घोडे लाल होते थे। ये अत्यंत चरित्रवान् शुद्धाचरणी तथा परोपकारी थे। बृहस्पतिने इंद्रको

राज-धर्म सिखाया था। प्राचीन धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र पर इनके ग्रंथ हैं। अन्य अनेक शास्त्र ग्रंथोंमें इनके नाम देखनेको मिलते हैं।

गीता अ० १०. श्लो० २४–स्कंद सेनाधियोंमें मैं—

स्कंद—देवोंका सेनापति। शंकर-पार्वतीका पुत्र। स्कंदके जन्मके विषयमें अनेक प्रकारकी जनश्रुतियां हैं। इसकी स्त्री देवसेना। ब्रह्मदेवके वरप्रसादसे उन्मत्त बने हुए तारकासुरका इसने वध किया। तारकासुरने देवोंको अत्यंत कष्ट दिये थे। केवल तारकासुरके नाशके लिये इसका जन्म था। तारकासुरसे युद्ध करनेसे पूर्व देवोंने क्रौंच पर्वत पर इसका सेनापत्याभिषेक किया था। इसने विश्वकी स्त्री अपनी माताके समान मान कर व्रत लिया। विश्वामित्रने इसका उपनयन संस्कार किया। विष्णूने इसको वाहन दिया। वायूने ध्वज दिया। सरस्वतीने वीणा दी।

गीता अ० १०. श्लो० २५–भृगु मैं ऋषिवृंदमें—

ऋषि—इस शब्दकी उत्पत्तिका विचार किया जाय तो "उत्तमतापूर्वक गतिमान होना" ही ऋषि शब्दका अर्थ है। "दैवी स्फुरणसे स्फूर्त" अर्थात् ऋषि। यह अत्यंत प्राचीन शब्द है। वैदिक युगका शब्द है।

ऋग्वेदमें सौसे अधिक बार इस शब्दका उल्लेख आया है। किंतु ऋग्वेदके सभी भाष्यकारोंने ऋषिका अर्थ "मंत्रद्रष्टा" ऐसा किया है। ऋग्वेदमें एक जगह "ज्ञानघन अग्नि अत्युत्तम नियामक ऋषि" होनेकी बात कही है। ऋग्वेदमें जिन्हे ऋषि कहा गया है उनकी ओर देखनेसे ज्ञानी, प्रतिभा संपन्न, कवि, तथा तप-सामर्थ्य भी इनका लक्षण दीखता है।

किंतु कोई भी ऋषि संन्यासी नहीं दीखता। सभी संसारी हैं। उद्देश्य पूर्वक-विश्वहितार्थ राजनीतिमें भी वे उतरते हैं। वे योद्धा भी होते हैं। इनमें कई धनुर्वेदके अर्थात् धनुर्विद्याके अच्छे जानकार हैं। सर्वत्र सामाजिक तथा राजनैतिक उथल पुथलमें ऋषि-प्रेरणा और कर्तृत्व दीखता है। वे सभी प्रकारके कौटुंबिक सुखकी अपेक्षा भी करते हैं।

वेदकाल, ब्राह्मणकाल, उपनिषदकालमें ऋषि-जीवनका जो दर्शन होता है, जो स्वभाव धर्म दीखता है उसमें भिन्नता है। वेदकालसे लेकर जनमेजयके कालतक ऋषि दीखते हैं। किंतु नंद, गुप्त, शुंग आदि कालमें ऋषि नहीं दीखते। संभवतः जनमेजयके कालमें ही ऋषि परंपरा समाप्त हुई।

इन प्राचीन ऋषियोंमें (१) भृगु (२) मरीचि (३) अत्रि (४) अंगिरा (५) पुलहः (६) क्रतु (७) मनु (८) दक्ष (९) वसिष्ठ (१०) पुलस्ति इनको महर्षि कहा गया है। कुरुयुद्धके कालमें व्यास महर्षि थे।

भृगु—सर्व प्रथम भृगुको अग्नि मिला। प्रजापतिके रेतसे आदित्य, भृगु और अंगिरस उत्पन्न हुए। दक्ष-यज्ञमें भृगु था। यज्ञ-विध्वंसमें भृगूकी डाढी जली! दक्षकन्या-ख्याती भृगुकी पत्नी। शंकर इसका साढू। धातृ, विधातृ इसके दो लडके और लक्ष्मी लडकी। भृगु दैत्य गुरु। भृगु-पत्नीने देवोंसे युद्ध किया था। विष्णुने सुदर्शनसे भृगु-पत्नीका वध किया और भृगुने विष्णुको "गर्भजन्य दु:ख भोग" का शाप दिया। नहुषने जब सप्त-ऋषियोंको अपने रथको जोडा तब भृगुने ही उसको शाप देकर इंद्र पदसे पदभ्रष्ट किया था।

दिव्या भृगुकी दूसरी पत्नी। दिव्यासे १२ देव बने। इनके नाम पर भृगुस्मृति, भृगुगीता, भृगुसंहिता, भृगुसिद्धांत, भृगुसूत्र आदि ग्रंथोंका उल्लेख है। यह गोत्रकार ऋषि है! भृगुकुलोत्पन्न सब भार्गव कहलाते हैं।

गीता अ० १०. श्लो० २४–मै एकाक्षर वाणीमें—

उपनिषदोंमें ब्रह्मको प्रणव अर्थात् ओं अथवा ॐ कहा है।

गीता अ० १०. श्लो० २४–जप हूं सब यज्ञोंमें—

यज्ञ—अपनी इच्छानुसार अग्नि-प्रज्वलित करनेका शोध मानवी इतिहासमें अत्यंत महत्वका शोध है। संभव है कि यही मानवी-बुद्धिका सर्व-प्रथम सफल प्रयोग हो। इसलिये विश्व-संस्कृतिके इतिहासमें, विश्वकी प्रत्येक संस्कृतिके साहित्यमें अग्निकी उत्पत्तिकी कहानियां देखनेको मिलती हैं। अग्निके विषयमें कृतज्ञता प्रकाशन है।

अग्नि-स्तवनसे ही भारतीय साहित्यका उगम है "अग्निमीळे पुरोहितं" भारतीय साहित्यका आद्य-चरण है। ऋग्वेदमें अग्निके करीब २०० सूक्त हैं। इन सूक्तोंको देखनेसे लगता है "देवोंमें अग्नि मृदुहृदय" है। वह अन्य सभी देवोंका प्रतिनिधि है। वह देवोंके पास मानवोंका प्रतिनिधि है। ऋषि अग्निद्वारा अन्य देवोंको आवाहन करते हैं। अग्निद्वारा अन्य देवोंका यजन करते हैं। वहां "अग्निर्वै सर्वे देवताः" है। इसलिये "सभी देवताओंके संतोषके लिये अग्निमें आहुति देना यज्ञ" माना जाने लगा। ऋग्वेदमें अनेक जगह पर ऐसे विचार मिलते है। "अग्निकी सहायताके बिना मनुष्यको किसी भी प्रकारका सुख नहीं मिल सकता!" इसलिये "यज्ञ-मानव-कुलके सभी सुखका साधन" बन गया।

यज्ञ अब मानव-कुलके सभी सुखका साधन बन गया तब यज्ञ-संस्थाका विकास और विस्तार होना स्वाभाविक था। पुराने ग्रंथोंको देखनेसे ऐसे लगता है कि "यज्ञको केंद्र बनाकरही वैदिक संस्कृतिका विकास और विस्तार किया गया!"

इन यज्ञोंमें नित्य, दिनमें दो बार करनेके अग्नि-कार्यसे लेकर साल साल चलनेवाले यज्ञ-सत्र तक अनेक कारणोंसे, अनेक प्रकारके यज्ञ कहे गये हैं। जैसे—प्रजाकी वृद्धिके लिये, प्रजाके सुखके लिये, युद्धमें जीतनेके लिये, एकछत्र सम्राट होनेके लिये, सामर्थ्य-वृद्धिके लिये, आयुष्य-वृद्धिके लिये, शक्ति-प्राप्तिके लिये, समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये, किसी भी महान्-सिद्धांतकी प्रतिष्ठाके लिये, प्रायश्चित्तके लिये, शत्रु-नाशके लिये, शांतिके लिये, रोगोंसे बचनेके लिये, दीर्घायुष्यके लिये, सभी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये, संतान प्राप्तिके लिये, ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये, ग्रह–शांत्यर्थ, वर्षाके लिये, अन्न प्राप्तिके लिये, षोडश संस्कारों में, ऐसे अनेकानेक कारणोंसे अग्निष्टोम, सोमयाग, पंचमहायज्ञ, अश्वमेध, राजसूय, साकंप्रस्थाईयज्ञ, दाक्षायणयज्ञ, अनेक प्रकारके कामेष्टि-काम्ययज्ञ-पुत्र कामेष्टि-धन कामेष्टि, यश कामेष्टि, आदि वाजपेययज्ञ, आप्तोर्याम यज्ञ, पंचशरदेय यज्ञ, विद्यापराधयज्ञ, ऐसे कुछ ४०–४१ प्रकारके यज्ञ हैं।

यह यज्ञ-प्रक्रिया वेद-कालसे लेकर अर्थात् ई. पू० चार छ हजार वर्ष से लेकर आज तक अखंड चली आ रही है। इन यज्ञोंमें, विधि विधानोंमें की जानेवाली व्यवस्थामें, यज्ञ-संस्थाके "अनुशासनका परमोच्च आदर्श" का दर्शन होता है। यज्ञके कर्म-कांडके विधि-विधानोंमें पाये जानेवाले छोटी

छोटी बातोंका ब्यौरा उनकी सूक्ष्म-दृष्टिका तथा स्पष्ट विचारोंका परिचायक है। वहां दर्भोंके टुकडे, हवन सामग्री, आहुति देनेवाले चम्मच, आचमनादिके उपकरण, कहां, कैसे, किस ओर, किस वस्तुके, कितनी दूर रखना चाहिए आदिका भी स्पष्ट संकेत है। वैसे ही किस यज्ञकी आहुतिके लिये कौनसा हवि चाहिए, ? वह, कहां, कैसे, किसके, किस आकार प्रकारके बर्तनमें, किस प्रकारकी अग्नि पर, किन मंत्रोंको कहते हुए पकाना चाहिए इसका भी विवेचन है। किस प्रकारके यज्ञमें कैसी समिधायें होनी चाहिए ? यज्ञमें घीकी आहुति देनेवाले चम्मच कैसे होने चाहिए ? वह किस धातूके अथवा किस लकडीके होने चाहिए ? आदि सविस्तर जानकारी वेदोत्तर कालमें लिखे गये ब्राह्मण-ग्रंथोंमें देखनेको मिलती है। आजकलके कुछ विद्वान विचारक ब्राह्मण ग्रंथोंके विषयमें " अलग अलग यज्ञोंके विधिविधानोंका विस्तार पूर्वक वर्णन करनेमें ब्राह्मण-कालीन बुद्धिमत्ताका दुरुपयोग " मानकर " उनके विषयमें जुगुप्सा भरी दया " दिखाकर भी इंग्लंडके राजा अथवा रानीके सिंहासनारोहणके निःसार विधि-विधान देखकर " वंडरफुल डिसिप्लीन " कहनेमें अपनेको धन्य मानते हैं। वस्तुतः यज्ञ संस्कृति निर्माणका साधन थे। वैदिक संस्कृति यजन-संस्कृति थी। बिना अनुशासनके कोई समाज, संस्था, सभ्यता या संस्कृति अधिक समय तक टिक नहीं सकती। अनुशासन ही सातत्य और स्थायित्वका प्राण है। जिस समाज अथवा सभ्यतामें, संस्था अथवा संघटनमें अनुशासन जितना सुव्यवस्थित है वह उतने ही अधिक काल टिकेगा। भारतीय जीवनमें अनुशासनका अत्यंत महत्व रहा है। यहां अनेक प्रकारका अनुशासन चला है। धर्म के विषयमें कहते समय 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' कहते ही धर्मानुशासनम् आया। राजनीतिकी बात आते ही दंडानुशासन आया। केवल अध्यात्म ज्ञान कहनेवाली गीता भी "आज्ञा मानके शास्त्रकी आज्ञा कर तू सब कर्मको"-कहती है। अर्थात् संस्कृतिके प्राणभूत प्रथाको अनुशासन बद्ध रखना अत्यंत स्वाभाविक था। साथ साथ यज्ञ वैदिक आर्योंकी अर्थ-वितरण व्यवस्था भी थी। ब्राह्मण नित्य-यज्ञ करते थे। उनके यज्ञ व्यक्तिगत थे। किंतु राजाओंके, वैश्योंके जो यज्ञ थे वे सामूहिक थे। उनके कोशमें इतना धनसंचय होते ही यह यज्ञ करना ऐसी अलिखित परंपरा-सी थी। इस यज्ञके द्वारा वह संचित-धन समाजके अनेक प्रकारके लोगोंके पास पहुंच जाता था। महाभारतमें राजसूय-यज्ञका वर्णन पढ़ते समय, तथा यज्ञ-व्यवस्थाको पढ़ते समय लगता है कि कथाकथनकला-पुराण अर्थात् आख्यान कहना, नृत्यकला, नाटककला, संगीतकला, वाद्यकला, चित्रकला, शिल्पकला, बढ़ई, कुम्हार, बर्तन बनानेकी कला, आदि अनेक कलायें यज्ञ द्वारा विकसित हुई हैं। साथ साथ कोई भी एक बड़ा यज्ञ करनेका अर्थ संचित धन अनेक प्रकारके कार्य करके उदर निर्वाह करनेवालोंमें बंट जाना था। धन वितरणकी इस व्यवस्थाकी दृष्टिसे भी कई प्रकारकी व्यवस्थाएँ-अनुशासन-आवश्यक था।

साथ साथ केवल अग्नि-मुखमें आहुति देना ही यज्ञ नहीं रहा। आगे चल कर यज्ञके रूप बदले। अग्निके तीन रूप हैं। उसमें शरीरस्थ अग्नि वैश्वानर है। वाक् शक्ति भी अग्नितत्वसे संबंधित है। हम कोई भी श्रमका कार्य करते समय श्वास निरोध करते हैं। ऐसी स्थितिको उपनिषदोंमें आंतर-अग्निहोत्र कहा है। उपनिषदमें कहा है " मनुष्य जब बोलता है तब यह श्वासोच्छ्वास नहीं करता, " अपना प्राण-वायु वाचामें हवन " करता है। जब वह श्वासोच्छ्वास करता तब बोल नहीं सकता अर्थात् " वाणीका प्राणमें हवन " करता है। प्रातर्दन ऋषि इसको

" मानवको अमर अग्निहोत्र " कहता है " वाणीमें प्राण और प्राणमें वाणीका यह यज्ञ मानवका महान यज्ञ है। अन्य हवन कर्ममय है इसलिये वह नाशवंत है। अपने अंतर्यामिमें चलनेवाले इस अग्निहोत्रकी जानकारी रखनेवालेके लिये बाह्य अग्निहोत्रकी आवश्यकता नहीं।" यह इस ऋषिका मंतव्य है।

तैतरीय उपनिषदमें वाग्यज्ञका विवेचन है। विकार रहित मन वाग्यज्ञका चम्मच है। साकार अंतःकरण घी है। वाणी यज्ञ—वेदिका है। शब्द दर्भ है। केवल ज्ञान हवनीय अग्नि है। उद्देश्य मिश्रित ज्ञान गार्हपत्य अग्नि है। वाक्-शक्ति प्राप्त वक्ता होतृ है। मन उपवक्ता है। प्राण ही आहुति है। और गान पुरोहित। गीतामें भी (१) ब्रह्मयज्ञ, (२) द्रव्ययज्ञ (३) देवयज्ञ (४) ज्ञानेंद्रिययज्ञ (५) विषययज्ञ (६) स्वाध्याययज्ञ (७) प्राणयज्ञ (८) अपानयज्ञ (९) प्राणापानयज्ञ (१०) आंतरपानयज्ञ (११) योगयज्ञ (१२) तपोयज्ञ (१३) जपयज्ञ (१४) इंद्रियप्राणयज्ञ ऐसे चौदह प्रकारके यज्ञ कहे हैं। धर्मकी भांति यज्ञका विचार भी अनेक शाखा प्रशाखाओंसे फैला है। वेदकालसे लेकर वर्तमान तक अनेक मनीषियोंने यज्ञकी अनेक व्याख्यायें करके यज्ञके अनेक प्रकार बताये हैं और अंतमें कहा है तप, भोग और यज्ञ ये तीन विश्वव्यवस्थाके आधार हैं। किसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये " सतत " परिश्रम करना तप है। तपसे प्राप्त फलको भोगना, उसको ग्रहण करके उससे आनंद लेना भोग है और तप और भोगसे जो घिसाई होती है क्षति होती है उसकी पूर्ति करना यज्ञ है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवनके जिन जिन क्षेत्रोंमें तप और भोगके कारण जो जो क्षति होती है, " जिन जिन तत्वोंकी घिसाई होती है उनकी पूर्ति करना " यज्ञ है। इसी बातको लेकर महात्मा गांधीजीने " नियमित सूत कातनेकी क्रियाको सूत्र-यज्ञ " कहा था। तथा जब किसी देशकी प्रजा पराक्रम शून्य हो जाती है उस समय प्रजामें पराक्रम वृत्ति जागानेके लिये प्रेरणाप्रद सामूहिक रचनात्मक कार्य चलता है वह राष्ट्रीय यज्ञ है।

जीवनके विविध अंगोंकी क्षति-पूर्तिके इस विविध प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ सर्व श्रेष्ठ माना गया है।

जप— जप तीन प्रकारका होता है। (१) वाचिक जप, (२) उपांशु जप, (३) मानसिक जप। जप करनेवाला जो उच्चार करता है वह जब सब सुन सकते हैं तब वह वाचिक जप कहता है। वह उच्चार केवल जप करनेवाला ही सुन सकता है तब उपांशु जप। और जो मन ही मन किया जाता है वह मानसिक जप। वाणी के—वाक्शक्तिके—चार प्रकार हैं। वैखरी, मध्यमा, पश्यंती, परा। ये वाक्शक्तिके स्थूलसे सूक्ष्म-रूप हैं। वाणीका रूप जैसे जैसे सूक्ष्म होता जाता है वैसे वैसे शब्द भाव-रूप बनता जाता है। शब्द-जब भाव-रूप बन जाता है तब शब्द शक्ति प्रकट होती है। जो गुप्त रूपसे जीवनको उजला देती है। मंत्रका कितना जप किया इसका उतना महत्व नहीं किंतु वह कैसा किया इसका महत्व है। शब्द भावमें परिणित नहीं हुवा शब्द ही रहा तो उसका करोडों जप होने पर भी विशेष कुछ लाभ नहीं है।

जप भले ही नामजप हो अथवा सबीज मंत्र जप, वह, वाणीसे कंठ, कंठसे हृदय, हृदयसे नाभीमें जा कर मूलाधारसे सहस्त्रार तक सारे शरीरमें गूंजना चाहिए। शब्द आकाशतत्वका गुण है। आकाश तत्व अत्यंत सूक्ष्म और अविनाशी तत्व है। जप शब्दका कौर निगल कर धीरे धीरे सूक्ष्मतम भाव तत्वसे परे अव्यक्त आकाशतत्वसे समरस होनेकी प्रक्रिया है। शब्दका कार निगलनेका अर्थ शरीरके जिस स्थानसे अव्यक्त आकाश तत्व उदित होकर जहां जहां आघात करते करते शब्दका रूप धारण करता है वह जानकर व्यक्त शब्दको लेकर उसको वहां वहां आघात करते करते सूक्ष्मसे

सूक्ष्मतममें प्रवेश करते करते अव्यक्त आकाश तत्वमें विलीन होना है। जिव्हा स्थानकी वैखरी वाणीको पकडकर, शब्दको कंठकी मध्यमामें सूक्ष्मकर वाच्चिक जपको उपांशु कर–हृत्कमलमें मानस जप सतत स्मरण रूपमें-अभ्यस्त होने पर वह उसीमें सूक्ष्म होकर स्थूलसे सूक्ष्म होते होते मौनमें लीन हो कर " सूक्ष्मसे सूक्ष्म अचिंत्य रूप " बन जाता है। " जो इंद्रिय बिन भोगना है। " शब्दका यह सूक्ष्मसे सूक्ष्म जो अचिंत्य रूप है वह जिस शक्तिसे श्वास प्रश्वास चलते हैं, जिस शक्तिसे हृदयका स्पंदन चलता है, जिस शक्तिसे शरीरकी हजारो नाडियोंसे रक्त संचार होता है, जिस शक्तिसे मन और बुद्धि कार्य करती है, जिस पर श्रद्धा आश्रित है उससे समरस होकर शरीरमें गूंजने लगता है। यह वाणीका अंतिम रूप है जो अनिर्वचनीय है। शब्दके इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म अचिंत्य रूपके गूंजनकी जो तरंगें उठती हैं उन तरंगोंके सतत स्पंदनसे जीवके संस्कार गत सारे मल जल जाते हैं अर्थात् शरीरके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय कोश, स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, लिंगशरीर, कारणशरीरके सभी मल जलकर वह निर्मल होते होते देह-सिद्धि भी हो जाती है और जीवनमें सतत गूंजनेवाले वह तरंग विश्वाकाशमें भी प्रविष्ट कर विश्वके आकाश तत्वमें लीन हो जाते हैं। वहां तरंगित होने लगते हैं। उन तरंगोंका वायुमंडल बनता है। इससे न केवल जप करनेवाले–यह शब्द प्रयोग भी गलत है, जहां मैं जप करता हूं इस भावके बिना सहजभावसे अभ्यासके कारण जप होने लगता है–शरीरका ही नहीं किंतु सामूहिक जन जीवनमें होनेवाली क्षति भी भरने लगती है। जप अथवा जप-योग स्थूलमेंसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे अति सूक्ष्मकी ओर जानेकी प्रक्रिया है। शब्द-जन्य विशिष्ट प्रकारका स्पंदन सूक्ष्म और अति-सूक्ष्म हो कर शरीरमें प्रवेश करते जाता है। तब उन स्पंदनोंसे शरीरके अणु अणु (पेशियां) हिलकर साफ होते जाते हैं। जपके सातत्यसे, प्राणको सतत विशिष्ट दिशामें गति मिलती है इससे प्राण विशिष्ट गति और विशिष्ट दिशामें शरीरके अणु अणुमेंसे—सूक्ष्म और गति शील होनेसे–प्रवेश करते जाता है। वस्तुतः शरीर १०००००००००००००००००००००० सजीव और स्वतंत्र पेशियोंका अखंड संघटन है। इनमेंसे बहुत ही कम पेशियां काम करती हैं। इन पेशियोंके बीच अनेक प्रकारके सूक्ष्मातिसूक्ष्म मल होते हैं। इसलिये ये सब चिपककर, कार्य रात न होकर, आलसी निर्जीवसी पडी रहती हैं। यह मल भी मन, वचन, विचार, भावादिसे किये गये असत्कर्मोंसे, अनृत चिंतनसे, द्वेषादिसे, कुटिल विचारोंसे, अनेक विध वासनाओंके चिंतनसे, आचारसे, तथा भाषणसे भी,–अनृत आचार, अनृत विचार, अनृत भाषण, अनृत चिंतनसे–मानवी शरीरकी सूक्ष्म नाडियां, सैकडोंकी संख्यामें, सिकुड जाती हैं, टूट जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं, व्यक्ति और समाजकी इस सूक्ष्म घिसाईको क्षतिको भरना है। जब ऐसे सूक्ष्म तरंगोंसे, जप कर्ताके शरीरस्थ सभी आकाश-क्षेत्र भरकर वे विश्वाकाशमें प्रसारित होती हैं तो मनुष्य विश्वतरंगोंके प्रभावसे विश्व-शक्तिसे समरसैक्यका अनुभव करने लगता है। तब मानो उसका प्रत्येक श्वास एक नया काव्य ही बनता है। यह संत-जीवनका सार है जिससे वे अनजाने ही अपने समयमें ही नहीं युगों तक जन मन पर अपना स्वामित्व रखते रहे हैं क्यों कि उनकी वे तरंगे युगों तक विश्वाकाशमें रहती हैं। इसीलिये जप योग सभी योगमें श्रेष्ठ मान कर जप-यज्ञ-सतत क्षति पूर्तिकी साधना--सतत अपने सर्वस्वका हवन--सब यज्ञमें श्रेष्ठ मान कर परमात्म रूप माना है।

गीता अ० १०. श्लो० २५—स्थावरोंमें हिमालय—

पीछे नदियोंके परिचय देते समय भारतकी पर्वतश्रेणियोंका सामान्य परिचय तो हुवा है उसमें हिमालय पर्वत परमात्माका रूप है। एक विभूति है।

हिमालय—पर्वत भारतके उत्तरमें है। यह भारतवर्षके उत्तरी प्रहरी माना जाता है। इसी पर्वतके शिखर आज पृथ्वी पर सर्वोच्च पर्वतशिखर हैं। प्राचीन कालके लोग इन शिखरोंको हिमास अथवा हिमोदास कहा करते थे। इसके वायव्यमें सिंधुनदी इसकी वायव्यसीमा तो पूर्वमें यह ब्रह्मदेशको छूता है। कालिदासने इसको "पृथ्वीका मान-दंड" कहा है। जम्मू काश्मीरका अधिकांश भाग इस पर्वत श्रेणीमें खो गया है वैसे ही नेपाल, भूतान और सिक्कम आदि राज्य तथा पंजाबका कांग्राजिला हिमाचल प्रदेश इसी पर्वतश्रेणियोंमें बसा है। उत्तर प्रदेशका कुमायूं और टिहिरी गढवाल विभाग हिमालयमें बसे हैं। कुमायूं विभागमें तीन और टिहिरी गढवालमें तीन ऐसे छ जिले हैं। यह पर्वत भारत और तिबेतका विभाजन करता है। इनके पर्वत-शिखर ८०००–९००० फूटसे २८–२९ हजार फूट तक ऊंचे हैं। यह पर्वत श्रेणी इतने विशाल भूभागमें फैली है कि अब तक इसके एक तिहाई भगका पत्ता भी नहीं मिल सका। १५००० फूट ऊंचाईके बाद चिरकाल हिमरेषा दिखाई देती है। इसमेंसे जो नदियां बहती हैं उसी पर पंजाब, उत्तर भारत तथा बिहारका जीवन निर्भर है। पेशावरसे आसाम तक करीब १६०० मील फैले हुए इस महा पर्वत पर (१) नंगापर्वत (२६१८२ फूट) (२) नंदादेवी (२५६६१ फूट) (३) त्रिशूल (२३२८२ फूट) (४) पंचचुली (२२६७३ फूट) (५) नंदाकोट (२२५३८ फूट) (६) गौरीशंकर (२९००२ फूट) (७) धवलगिरि (२६८२६ फूट) (८) गोसाईस्थान (२६३०५ फूट) (९) कांचनगंगा (२८१४६ फूट) आदि महत्वपूर्ण शिखर हैं। इसमेंसे कई शिखर अब तक चढना बाकी है। हिमालयके ऊंचे प्रदेशमें बौद्ध धर्मका विशेष प्रचार दिखाई देता है। १४ वी सदीमें सिकंदर नामके राजाने काश्मीर पर आक्रमण करके वहांके लोगोंको मुसलमान बनाया, इससे वहां मुस्लीम धर्मका प्रभाव सबसे अधिक है। हिमालयके अनेक भागमें विशाल वनश्री है। इन अरण्योंमें अनेक प्रकारकी वनस्पति और घर बांधने लायक लकडी मिलती है। यहां आने जानेका कोई विशेष साधन नहीं है। यद्यपि स्वातंत्र्यके बाद और विशेषतया चीनके आक्रमणके बाद अनेक रास्ते बनाये गये हैं।

गीता अ० १०. श्लो० २६—अश्वत्थ सब वृक्षोंमें—

अश्वत्थ—[जिसकी] जडोंको सींचनसे दूसरे दिन पानी नहीं रहता यह अश्वत्थ शब्दकी व्याख्या है। एक इसका नाम अश्वत्थ पडनेके लिये यहभी एक कारण बताया जाता है कि एक बार अग्नि देवोंसे अलग होकर अश्वरूपसे एक वर्ष तक इस वृक्ष पर रहा इसलिये यह अश्वत्थ कहलाया।

अश्वत्थके विषयमें और भी कई जनश्रुतियां हैं किंतु अश्वत्थ वेद कालमें भी पूज्य था। ब्राह्मणमें भी इसका उल्लेख है। यज्ञ कार्यके लिये अग्नि प्रज्वलित करनेवाली उत्तरारणि अश्वत्थकी होती है। ऋग्वेदमें अश्वत्थको देव-सदन कहा गया है।

सिंधु संस्कृतिमें भी अश्वत्थको पूज्य माना गया है ऐसे विद्वानोंका मत है। सिंधुसंस्कृतिके उत्खनन प्राप्त एक मुद्रामें अश्वत्थके दो डालियोंके बीच एक देवता खडी है। दूसरी एक मुद्रामें

एक सींगवाले दो देवता अश्वात्थके छोटेसे गाछकी रक्षा करते हैं। कहते हैं कि सिंधुजनकी श्रेष्ठ देवता महिष-मुंड अश्वत्थवासिनी है। अर्थात वेद-पूर्वकालसे ही भारतमें अश्वत्थ श्रेष्ठ वृक्ष माना जाता था।

ऋग्वेदमें अश्वत्थको देव-सदनके साथ पितरोंका भी निवासस्थान माना है।

बुद्धोंने भी अश्वत्थको बुद्धत्वका प्रतीक माना है। प्राचीन भारतीय समाजमें अश्वात्थ पूजन, अश्वत्थ प्रदक्षिणा, अश्वत्थोपनयन आदि प्रथात प्रचलित हैं।

गीता अ० १०. श्लो० २६—देवर्षि मध्य नारद—

ऋषियोंमें ब्रह्मऋषि, महर्षि, राजऋषि, देवऋर्षी ऐसे प्रकार हैं। नारद देवार्षी हैं। देवर्षी भी दस हैं जैसे महर्षि दस हैं। इनके नाम हैं (१) नारद (२) अत्रि (३) मरीचि (४) भारद्वाज (५) पुलस्य (६) पुलह (७) क्रतु (८) वसिष्ठ (९) प्रचेता (१०) शिव। शिव देव और असुरोंको वर देनेवाला देवर्षी है।

नारद—ब्रह्माका मानस-पुत्र। सर्वविद्यासंपन्न। प्रतिभासंपन्न राजनीतिज्ञ। उसके कुटिल तंत्रके कारण उसको कई बार " तू नाश होकर पुनर्जन्म प्राप्त कर " ऐसा शाप मिला। नारदने नाश होकर पुनर्जन्म लिया।

कहीं इसको बृहस्पतिका शिष्य कहा गया है। यह सोम-विद्यामें सोमकका गुरु था। सदैव इसने देव और ऋषियोंकी सेवा की।

इसने सावर्णि मनूको पांचरात्रनामका उपदेश दिया। नारायणको आत्मतत्वका उपदेश दिया। शुकाचार्यको इसीने ज्ञानोपदेश दिया। देवलको सृष्टि उत्पत्तिके विषयमें इसीने उपदेश दिया था। इसने व्यासको भी कई ज्ञानकी बातें कहीं हैं। वसुदेवको भागवत-धर्म इसीने कहा था। इसीने श्रीकृष्णको पूज्य कौन होता है इसका बोध दिया था। धर्मराजाको इसने राजनीतिका उपदेश दिया। प्रल्हादको इसीने भक्तिका उपदेश दिया था। याज्ञवल्क्य और पाराशरने प्राचीन धर्मशास्त्रज्ञ कहकर इसका उल्लेख किया है। कई प्राचीन पोथियोंमें अनेक विषयों पर इसके विचार श्लोक-रूपमें देखनेको मिलते हैं। महाभारतमें अनेक स्थानों पर अनेक विषयों पर नारदके मत देखनेको मिलते हैं।

देव, दानव, मानव, ऋषि, सबमें इसका समान प्रवेश और समान सम्मान था। कोई भी, देव हो, दानव हो, ऋषि हो, कोई हो, किसी समय हो इसकी भेंट अस्वीकार करनेका साहस नहीं कर सकता था।

नारदने कई बार अपने पूर्व-जन्मकी कथा कही है। इससे एक विचार आता है कि नारद एक व्यक्ति था या पीठ?

पुराणोंमें नारदकी जो कथाएँ आती हैं, उसके जो विचार आते हैं, उन सबका संग्रह किया जाय तो कई ग्रंथ हो सकते हैं नारद इतना सर्वव्यापक है!

गीता अ० १०, श्लो० २६—चित्ररथ गंधर्वोंमें—

गंधर्व—'संगीत और वाद्यविद्याका आनंद जिसके पास है वह' यह गंधर्व शब्दका अर्थ। इसके अलावा भी अन्य अनेक अर्थ पुरानी पोथियोंमें है। गंधर्व मनुष्योंसे उच्च और देवोंसे भिन्न

समाज है। इनको अतिमानव माना गया है। पुरानी पोथियोंमें गंधर्वोंकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक प्रकारकी जनश्रुतियां हैं। ऋग्वेदमें भी गंधर्वोंका उल्लेख है। गंधर्व सौंदर्य-प्रिय, अलंकार-प्रिय, तथा स्त्री-लंपट जाति है। वे फूलके पागल हैं। इनकी स्त्रियोंको अप्सरा कहते हैं। इनमें नृत्य संगीत वाद्य-कला निपुण सुंदर-कन्याओंका विवाह न करनेकी प्रथा थी। वे सामाजिक संपत्ति थी। कलोपासना ही इनका ध्येय। संभवतः इसीलिये संगीत शास्त्रको गंधर्व-वेद कहा जाता है।

गंधर्वोंके आठ गण कहे गये हैं (१) हाहा, (२) हूहू (३) चित्ररथ (४) हंस (५) विश्वावसु (६) गोमायू (७) तुंबुरु (८) नंदी। अग्नि-पुराणमें ११ गण कहे गये हैं। (१) अभ्रास (२) अंगारी (३) वंभारी (४) सूर्यवच (५) कृधू (६) हस्त (७) सुहस्त (८) मूर्धन्वान् (९) महामना (१०) विश्वावसू (११) कृशानु।

चित्ररथ—कश्यप और मुनिका गंधर्वपुत्र। इसका नाम अंगारपर्ण। फिर यह चित्ररथ कहा जाने लगा। लाक्ष्याग्रहसे छूटकर जाते समय अर्जुनकी इससे लडाई हुई थी। अर्जुनका पराक्रम देखकर प्रसन्न होकर अंगारपर्णने अर्जुनको कई विद्याएं सिखाई। अर्जुनसे भी कुछ सीखा। युधिष्ठिरके राज-सूय यज्ञमें इसने उन्हे १०० घोडे दिये थे। इसीने युधिष्ठिरको किसीको देखकर किस वर्णाश्रमका है यह जाननेकी विद्या सिखाई। तथा तपस्यासंपर्णाख्यान सुनाया।

गीता १०. श्लो० २६—सिद्धोंमें कपिल मुनि—

सिद्ध—विश्वमें जो अनेक गूढ रहस्य हैं उनमें शरीर रहित चैतन्यका संचार भी एक गूढ तम रहस्य है। यह भी एक योनि है। ये केवल मानवोंमें ही नहीं अतिमानवोंमें भी हैं जो विश्वके प्रभावी देवता या शक्तियोंके हस्तक बन कर लोकहितके कार्यमें निमग्न होते हैं। साथ साथ भक्त, ज्ञानी, योगी आदि जीवनमें कृतकृत्य होकर देहपातके बाद उपास्य देवताकी आज्ञासे उनके हस्तक वन कर काम करते हैं। इन्हे देवताके समान मान दिया जाता है। योगसाधनमें ऐसे सिद्ध अत्यंत सहायक होते हैं। पतंजल-योगके विभूति-पादमें सिद्धदर्शन भी एक विभूति है। सिद्धोंके विषयमें इनकी परंपराओंके विषयमें अध्ययन पूर्वक अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं। ये सिद्ध ईश्वरके समान नित्य माने गये हैं। "विश्वमें होनेवाले लोककल्याणकारी महान घटनाओंमें सिद्धोंका हाथ रहता है" ऐसे अनेक विद्वानोंने मुक्त-कंठसे कहा है। अर्थात् देह रहित लोक हितकारी नित्य-चैतन्य शक्तिको सिद्ध कह सकते हैं और इन सिद्धोंमें—

कपिल मुनि—कर्दम और देवहूतीका पुत्र। इसका स्थान सिद्धपुर या और (?) बिंदुसर। इसने अपनी माताको ब्रह्मज्ञान कहा। जब यह समाधिस्थ था पिताके अश्वमेधके घोडोंके अश्व रक्षक सगर पुत्रोंने-इसीने अश्व चुराया इस भ्रमसे-इस पर शस्त्र प्रहार किया और इसकी आंखोंसे निकली क्रोध ज्वालासे जल कर राख हो गये।

इसको आदि सिद्ध माना गया है। आसुरी इसका शिष्य, यह प्रत्यक्ष शिष्य नहीं है। कपिलप्रतिपादित सिद्धांतका स्फुरण मुझमें हुवा ऐसे यह कहता है। कपिलको सांख्यशास्त्रका आदि प्रवर्तक माना जाता है। तत्त्वज्ञानके सहारे मोक्ष प्राप्त करना इस शास्त्रका उद्देश है। सांख्य शास्त्र कर्मकांडसे ज्ञानको अधिक महत्त्व देता है। उपनिषद् भी ज्ञानको कर्मसे श्रेष्ठ मानते हैं।

कुछ विद्वानोंका कहना है कि ध्यान और चिंतनका आदि प्रवर्तक भी कपील है। इसके प्रथम, कर्म ही महत्त्वपूर्ण साधना अथवा उपासना थी। कपिलको निरीश्वरवादि माना गया है। इसको विष्णुका पांचवा अवतार भी कहा गया है।

कपिलके नाम पर (१) सांख्यसूत्र (२) तत्वसमास (३) कपिलगीता (४) (५) कपिलपांचरात्र (६) कपिलसंहिता (७) कपिलस्मृति (८) कपिलस्तोत्र (९) व्यासप्रभाकर ऐसी कुछ पुस्तकें प्रचलित हैं।

गीता अ० १०. श्लो० २७–उच्चैश्रवा अश्वोंमें मैं—

देवासुरोंने जो समुद्रमंथन किया तब (१) लक्ष्मी (२) कौस्तुभ (३) पारिजातक (४) सुरा (५) धन्वंतरी (६) चंद्रमा (७) कामधेनु (८) ऐरावत (९) रंभा (१०) उच्चैश्रवा (११) कालकूट विष (१२) शार्ङ्गधनुष्य (१३) पांचजन्य (१४) अमृत ये चौदा वस्तु मिले। इनमें उच्चैश्रवा सात मुखोंका घोडा भी है। इसका रंग शुभ्र। इसका खाद्य अमृत। यह इंद्रका वाहन है। दशहरेके दिन जो अश्व-पूजा होती है वह वास्तवमें उच्चैश्रवाकी पूजा है।

गीता अ० १०. श्लो० २७–ऐरावत गजेंद्रोंमें—

भारतीय साहित्य और संस्कृतिमें हाथीको वैभव और संपन्नताका प्रतीक माना गया है। ऋग्वेदमें लक्ष्मीका वर्णन करते समय "हाथीके गर्जनसे जगनेवाली" ऐसे कहा गया है। हाथीको लक्ष्मीका भी प्रतीक माना गया है। प्राचीन शिल्पमें भी लक्ष्मीके साथ गज-अर्थात् हाथीके चित्र होते हैं। लक्ष्मीके साथ ऐरावत भी समुद्र मंथनसे प्राप्त रत्न हैं।

ऐरावत—यह सफेद हाथी है। समुद्रमंथनमेंसे उत्पन्न हुवा। ब्रह्मांडके आधारभूत (१) ऐरावत (२) पुंडरीक (३) वामन (४) कुमुद (५) अंजन (६) पुष्पदंत (७) सार्वभौम (८) सुप्रतीक इन आठ दिग्गजोंमें इंद्रने इसको पूर्व दिशामें स्थापित किा। कृष्ण और इंद्रके युद्धमें यह हाथी गरुडसे पराजित हुवा था। कहीं कहीं इसकी सात सूंड होनेका उल्लेख है! भीम अपनी मातके गजपर्वकी पूजामें इसे पृथ्वी पर लाया था ऐसी जनश्रुति है।

गीता अ० १०. श्लो० २७–नरोंमें मैं नराधिप—

नर शब्दका अर्थ है नेतृत्व करनेवाला। नेतृत्व करनेवालोंमें नराधिप-राजा-ईश्वरका रूप है।

वेदमें प्रत्येक शब्दके तीन अर्थ किये जाते हैं। उस प्रकार राजा–सामाजिक क्षेत्रमें इंद्र है। राजाको इंद्रका तथा विष्णुका प्रतिनिधि माना गया है।

गीता अ० १०. श्लो० २८–शस्त्रोंमें वज्र मैं रहा—

शस्त्र—प्रहार केरनेके साधनको आयुध शस्त्र कहते हैं। इसमें पत्थर और लोहेके डंडोंसे लेकर अणुबांब तक आ जाते हैं। युद्ध-साहित्य सब आयुध शब्दमें समा जाते हैं। संस्कृतिके विकासके साथ आयुधोंका भी विकास हुवा है। स्वसंरक्षण तथा दूसरोंपर आक्रमण करनेवाले सभी साधन आयुध कहाते हैं। इनमें सतत हाथमें ले लडनेवाले आयुध, जैसे तलवार, गदा, धनुष्य, बंदूक, तमंचा आदि, फेंकके मारनेवाले आयुध, भाले, त्रिशूल, शक्ति, तोमर, आजकल हाथ-बाँब आदि, अस्त्र, युक्तिसे चलनेवाले-मंत्रपूरित आयुध-आग्नेयास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र आदि,

वैसे ही शतघ्नि, तोप आदि। किंतु इससे भी भिन्न प्रकारके कुछ आयुध दीखते हैं जो फेंक कर मारनेके बाद अपना काम करके वे पुनः लौटकर आते हैं। जैसे विष्णुका सुदर्शनचक्र, इंद्रका वज्र। चक्रके विषयमें जो जानकारी मिलती है वह अत्यंत अद्भुत है। वह कई मील तक पीछा करके शत्रुका संहार करता है और अपना काम होते ही वह लौट पडता है! हमारे प्राचीन ग्रंथोंमें, शंकरका त्रिशूल, विष्णूका सुदर्शन, भार्गवरामका परशु, इंद्रका वज्र, वरुणका पाश, गणपतिका अंकुश-अस्त्रोंको छोडकर-अत्यंत प्रसिद्ध और आश्चर्यजनक आयुध रहे हैं।

वज्र—यह इंद्रका अत्यंत भयंकर आयुध है। यह कभी व्यर्थ नहीं जाता। इस आयुधकी निर्मिती दधीचि ऋषिके अस्थियोंसे हुई थी। दधीचि ऋषि महा-तपस्वी सामर्थ्यवान लोकहितव्रती थे वृत्रासुरको मारनेके लिये इंद्रको ऐसे एक महान आयुधकी आवश्यकता थी। दधीचि मृत्युंजय था। इंद्रने दधीचिसे उसकी अस्थियोंकी प्रार्थना की। विश्व-हितके लिये अपनी अस्थियोंकी आवश्यकता है यह सुनते ही दधीचि ऋषिने योग-बलसे शरीर त्याग दिया। इसके बाद उसकी अस्तियां लेकर षट्कोण आयुध बनाया गया जिससे वृत्रका संहार हुवा।

गीता अ० १०. श्लो० २८-मैं कामधेनु गायोंमें—

कामधेनु—इच्छापूर्ति करनेवाली गाय! यह भी समुद्रमंथनमेंसे निकली थी। कामधेनुके सभी अवयव सिर, मान, जांघ, स्तन, पुच्छ, तथा गलेका झोल, ये छ अवयव पुष्ट और ऊंचे थे। उसकी आँखें मेंडककी भांति थीं। स्तन पुष्ट थे। वह सर्वांगसुंदर थी। शिवजीका नंदी इसका बछडा। यह गाय वसिष्ठऋषिके आश्रममें थी। सूर्यवंशके दिलीप राजाने इसकी सेवा की और प्रसन्न कामधेनूकी कृपासे रघु राजाका जन्म हुवा। इस परसे सूर्यवंशको रघुकुल कहते हैं।

गी. अ० १०. श्लो० २८-उत्पत्ति हेतु मैं काम—

काम-ब्रह्माका मानस पुत्र। इसकी स्त्री रति। जन्मता यह अत्यंत रूपवान था। इसके शरीरमें सुवास था। जन्म होते ही इसने ब्रह्मदेवसे पूछा "मेरा जीवित-कार्य क्या है?" "तू स्त्री पुरुषोंको मोहित कर। ब्रह्मा विष्णु शंकर सहित सभी देव तेरे वश होंगे।" परिणाम स्वरूप इसने ब्रह्मा परही अपना प्रथम प्रयोग किया।

एक बार शिवने इसको दग्ध किया था। फिर यह कृष्णमें प्रद्युम्नके रूपमें आया। वसंत ऋतु इसका मित्र है। (१) इसके स्पर्शसे स्त्री पुरुषोंमे मद आता है इसलिये मदन (२) ऋषियोंका भी मंथन करता है इसीलिये मन्मथ (३) शिवके उःशापसे बिना शरीरके मानवोंमें रहा इसलिये अनंग ऐसे इसके तीन नाम हैं।

भाई बहनोंमें विकार निर्माण करनेसे शंकर इसको जलायेगा। शंकरको पुत्रेच्छा होगी तब कामेच्छा होगी ऐसा शाप और वर मिले हैं।

गीता अ० १०. २८-१० श्लो० २९-मैं सर्पोत्तम वासुकी-नागोंमें शेश नाग मैं।

नाग और सर्प—फनावाला सांप। भारतिय संस्कृतिमें अत्यंत प्राचीन कालसे नागपूजा प्रचलित है। ये नाग गेहुंआ, हरी आभा लिये पीले, पूरा पीलो, तथा काले होते हैं। इनके मुखमें विषका दांत होता है। प्राचीन भारतीयोंने उनको देवत्व दिया है। भारतके प्रत्येक प्रदेशमें नाग-पूजा प्रचलित है।

पौराणिक जन-श्रुतिके अनुसार कश्यप इनका पिता और कद्रू इनकी माता है। (१) अनंत (२) वासुकी (३) तक्षक (४) कर्कोटक (५) पद्म (६) महापद्म (७) शंख (८) कुलिक नागोंकी ये आठ जातियां हैं। इनके साथ (९) कालिय भी गिनते हैं।

पौराणिक जनश्रुतिके अनुसार ये जब प्रजाको बहुत सताने लगे तब ब्रह्माने शाप दिया- "प्रथम तुम्हारा ससौतेला भाई तुम्हारा संहार करेगा फिर जनमेजय राजा।"

पौराणिक जनश्रुतिके अनुसार कुछ नाग, देव और मानवोंके अनुकूल और कुछ प्रतिकूल हैं। इनमें तक्षक, कर्कोटक, कालिया ये सदैव प्रतिकूल ही रहे हैं। विश्वमें सर्वत्र नाग हैं, नागपूजा भी है। किंतु भारतमें वह जिस प्रमाणमें प्रचलित है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है। क्यों कि भारतमें इनकी संख्या और जातियां भी बहुत हैं।

ऋग्वेदमें नाग और सर्पका उल्लेख है। किंतु नाग-पूजाका नहीं। यजुर्वेद और अथर्वण वेदमें नागपूजाका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख है। पौराणिक कालके शिव और विष्णु दोनों महान देवताओंके साथ सर्प या नाग जुड गया है। काली भी नाग-भूषण है। बौद्ध या जैनोंने भी नागका महत्व गाया है।

भारतीय लोक साहित्य-सभी भाषाओंका-नाग-कथाओंसे भरा पडा है। इन कथाओंमें अनेक प्रकारके श्रद्धा-संकेत हैं। इसमें एक महान संकेत "पूर्वजोंके आत्मा नाग रूपसे अपने परिवारमें आते हैं और गर्भधारण होनेपर उसमें प्रवेश करते हैं!" इसलिये घरमें आया हुआ साप नहीं मारा जाता! नागोंकी कथाओंसे-भली और बुरी-पुराण साहित्य भरा पडा है। इनमें वासुकी और अनंत—

वासुकी—सर्पोंका अधिपती। इसकी पत्नी शतशीर्षा। जनमेजयके यज्ञमें इसके पंद्रह पुत्र नष्ट हो गये हैं। यह शंकरके गलेमें भूषण बना रहता है। यह मणिधर है।

अनंत—इसको आदि-नाग भी कहते हैं। आदि शेष भी कहते हैं। यह विष्णुकी शैय्या है। विष्णुको अनंतशयन भी कहा गया है जो शेषशायी है।

लक्ष्मण, बलराम, तथा संकर्षणको इसका अवतार माना है।

गीता अ० १०. श्लो २९—मैं हूं वरुण पानीमें—

जलके कारण मनुष्य पर होनेवाले अनुकूल प्रतिकूल परिणामोंके कारण जलदेवताकी कल्पना की गयी है। साथ ही साथ जल पंच महाभूतोंमें पृथ्वी पर रहनेवाला भूत है। मनुष्यके लिये जीवन है। बिना इसके जीना असंभव है। अर्थात् जल-पूजन एक कृतज्ञता है। बृहदारण्यक उपनिषदमें "जल सभी वस्तु मात्रका मूल उत्पत्ति साधन" होनेकी बात कही है। इसलिये जलमें भी देवताओंका वास माना जाना स्वाभाविक है।

जल रूपी ये देवता भिन्न भिन्न हैं। इनमें अप्सरा विघ्नकर्त्री देवता है। ये सदैव जलक्रीडा करती रहती हैं। ये सात प्रकारकी हैं। इनको सप्त मातृका भी कहा गया है। गुजरातमें ये सप्तमाता मानी जाती हैं तो दक्षिणमें सप्त भगिनी मानी जाती हैं। अर्थात् जलचरमें जलमें रहनेवाले जीव जंतु मत्स्यी कूर्मी कर्कटी दुर्दुरी, जतुपी, मकरी आदि नामोंसे अपसराओके नाम बने हैं। अर्थात् इन देवता ओंमें—

वरुण—पश्चिम दिशाका, जलका, पाताल, नागलोकका स्वामी। वारुणी और गौरी इसकी पत्नियां। सुनाभ इसका मंत्री। (१) गो, (२) बल (३) सुरा (४) अधर्म (५) पुष्कर (६) वंदिक् ये इसके पुत्र हैं। देवोंने इसको जलाधिपत्यका अभिषेक किया था। अर्जुनको इसने अस्त्र दिया था।

गीता अ० १०. श्लो० २९–पितरोंमें अर्यमा हूं—

पितर—एक देव सदृश योनि है। पितर दो प्रकारके हैं। जो मनुष्य मरनेके बाद पितृ-लोक जाते हैं वे मृत-पितर, और सृष्टिके प्रारंभसे ही जो पितृलोकमें रहते हैं वे अमृत पितर। वैदिक आर्योंने यमको आदि पितर माना है। पिता देवोंसे भी आद्य है। ऋग्वेदमें भी पितरोंके विषयमें पर्याप्त जानकारी है। "सोम-प्रिय पितर, निम्नलोक मध्य लोक, तथा उच्चलोकमें वास करने वाले आत्म-सामर्थ्य प्राप्त होने परभी सौम्य, सात्विक," ऐसे उनका वर्णन है। साथ ही साथ "हमारे पुकारते ही आकर हमारी रक्षा करते हैं।" ऐसा अनुभव भी कहा गया है। स्थान स्थान पर उनका अवाहन भी है।

ब्रह्माने देवोंको उत्पन्न करके उन्हें यज्ञ करनेको कहा। देवोंने यह नहीं माना। ब्रह्मदेवने कहा 'तुम मूढ बनोगे!" देव मूर्ख बने। लोगोंका नाश होने लगा। देव तब ब्रह्मदेवके पास गये। ब्रह्मदेवने उन्हे अपने पुत्रोंसे प्रायश्चित्त पूछनेको कहा। देवोंने अपने पुत्रोंसे प्रायश्चित्त पूछा। पुत्रोंने प्रायश्चित्त कहा। देवोंने प्रसन्न होकर कहा "हमें ऐसा बोध करनेवाले आप पितर हैं।" तबसे देव "पितर पुत्र" कहे जाने लगे और देव भी स्वर्गमें पितरोंकी उपासना करने लगे।

सभी समाजमें भिन्न भिन्न प्रकारसे पितृ-पूजा विद्यमान है। पितृ-पूजा विश्वके सभी धर्मोंका आवश्यक अंग है। भारतीय समाजमें नित्य-पितृ-तर्पणका भी नियम है। वार्षिक पितृश्राद्ध किया जाता है। पितृपूजाके अनेक प्रकार हैं। क्षेत्रों में जाकर पिंडदान करना भी पितृ-पूजाका एक प्रकार है। यह सब मृत-पितरोंके लिये है। प्रत्येक महिनेकी अमावस्या पितरोंका दिवस माना गया है।

चार दिशाओंमें चार पितृगण हैं। (१) पूर्व-अग्निष्वात्त (२) दक्षिणबर्हिषद (३) पश्चिम-आज्यप (४) उत्तर सोमप। कहीं कहीं सात गण कहे गये हैं जिनका अपना लोक है। "मानव पिता अपनी तपस्यासे देव पितरोंका स्थान प्राप्त कर सकते हैं। देव-पिता अपनी योग-साधनासे सनकादिक बनते है" ऐसे कहा गया है। इन पितरोमें—

अर्यमा—ऋग्वेदमें अर्यमा एक देवता है। बारह आदित्योंमें वैशाख मासका आदित्य है। इसीको पितृगणका एक कहा गया है। इसके ३०० किरण हैं। केवल महाभारतमें अत्रि-पुत्र होनेकी बात कही गयी है। घर बांधते समय इसकी पूजा करनेका प्रधान था। इसके दक्षिणमें पितृयान मार्ग होनेकी बात भी देखनेको मिलती है। भागवत पुराणमें कहा गया है कि जब पृथुने पृथ्वीका दोहन किया तब पितरोंने इसे वत्स बनाया था।

गीता अ० १०. श्लो० २९–शासकोंमें यम हूं मैं—

शासन करनेवाले शासक। राज्यकर्ताको शासक कहा जाता है। न्यायान्यायका विचार करके समाजको अनुशासनमें रखना जिससे समाज अभ्युदय और निःश्रेयसकी साधना कर

सके प्रत्येक शासकका कर्तव्य है। साथ ही साथ "सबल दुर्बल पर अन्याय नहीं कर सके" तथा "समाजका दुर्बलतम मनुष्य भी अन्याय करनेवाले सबलसे सबल व्यक्तिका 'हाथ पकड कर' अन्यायका कारण पूछ सके" ऐसी व्यवस्था कायम करना शासनका एकमेव पवित्र कर्तव्य है। इसी एक उद्देशसे प्राचीन कालमें अनेक प्रकारके शासन प्रणालियोंकी स्थापना होकर "अपने उद्देशमें असफल होनेसे" ऐसी शासन प्रणालियोंको समाप्त किया गया है।

महाभारत और बृहदारण्यकमें "धर्मानुशासन" का इतिहास कहते हुए लिखा गया है-सबसे प्रथम समाजमें ब्रह्म विद्यमान था। विद्वानोंने इसका अर्थ करते समय लिखा है कि तब एकाकार समाज था यहां "राजा या प्रजा," अथवा "शासक या शासित" ऐसा द्वैत नही था सब समान थे। श्रेष्ठ कनिष्ठ भाव नहीं था। उस समाजमें स्तवन तथा यज्ञकी महिमा थी। तब ब्रह्मके सामर्थ्यकी कमीके कारण-एकताकी कमीके कारण-समाज विकास रुक गया। तब उच्च स्वरूपके समाज की कल्पना करके "श्रेयोरूप क्षात्र" का निर्माण किया गया। श्रेयोरूप क्षात्रतंत्र राजशासन था जो सेना-प्रधान था। तब ब्राह्मण भी यज्ञमें क्षत्रियोंके नीचे बैठ कर उपासना करते थे। क्षत्रिय ही ब्राह्मणोंका यश स्थापन करते थे। क्षत्रियकी सहायतासे ब्राह्मण अपने कार्य यशस्वी करते थे। किंतु इससे समाज वैभव-संपन्न नहीं हो पाया। इससे वैश्य-शासनतंत्र निर्माण किया गया। यह वैश्यतंत्र संभवतः पूंजीशाही तंत्र रहा हो। इससे भी समाज सुखी और वैभव-संपन्न नहीं हुवा तब सबका पोषक शूद्र निर्माण किया। क्या यह शूद्र-तंत्र श्रमिक-शासन-तंत्र था? इससे भी समाज वैभवसंपन्न नहीं हो पाया। तब सर्व मंगलकारक धर्मानुशासनका निर्माण किया जिससे "दुर्बलसे दुर्बल व्यक्ति भी अपनेपर होनेवाले अन्यायके विरुद्ध सबलसे सबल व्यक्तिका हाथ पकडकर पूछ सके।"

इन अनेक प्रकारके शासन तंत्रमें इंद्र, सोम, वरुण, रुद्र, वसु, आदित्य, रुद्र, पूषा, यम आदिका नाम आया है। इनका अर्थ करते समय उपनिषदके चिंतनशील विद्वानोंने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि गणोंका द्योतक होनेकी बात कही है। और धर्म-शासनमें यम सब प्रकारके न्याय अन्यायका विचारक है।

यम—विवस्वानका पुत्र। माताका नाम संज्ञा। ऋग्वेदमें अपनी जुडवी बहन यमीसे इसकी नीति विषयक चर्चा हुई है। इसको पहला मानव कहा गया है। इसको राजा भी कहा गया है। यमको देवता भी कहा गया है। अष्ट दिक्पालोंमें यह दक्षिण दिशाका स्वामी है। इसका स्थान, तीन द्युलोकोंमें सर्वोच्च है।

इसको ब्रह्माने पितरोंका स्वामित्व और विश्वके पाप-पुण्य पर देख-भाल रखनेका काम दिया। मांडव्यके शापसे इसने शूद्रयोनीमें-विदुरके रूपमें-जन्म लिया था। युधिष्ठिर यमका मानसपुत्र माना जाता है।

इसने नचिकेताको ज्ञान दिया। गौतमको माता पिताके ऋणसे मुक्त होनेका मार्ग बताया। यम और इसके दूतोंमें जो संवाद हुवा उसको यमगीता कहते हैं। यमके नामसे (१) यम संहिता (२) यमस्मृति ये दो ग्रंथ उपलब्ध हैं जो शासन ग्रंथ हैं।

यमने अर्जुनको अस्त्र दिया। सावित्रीको उसका पति सत्यवान लौटा दिया।

याज्ञवल्क्य ऋषिने जिन धर्मशास्त्रकारोंके नाम दिये हैं उनमें यमका नाम है। वसिष्ठ धर्म-सूत्रमें यमके कुछ श्लोक हैं। प्राचीन पोथियोंमें स्थान स्थान नीति, धर्म, व्यवहार, अध्यात्म आदि विषय पर इसके श्लोक मिलते हैं। यह न्यायका देवता है।

गीता अ० १०. श्लो० ३०—मैं हूं प्रल्हाद दैत्योंमें—

दैत्य—कश्यपसे जो दितिमें उत्पन्न हुए वे। ये सदैव देवोंके शत्रु रहे हैं। उन्हे दैत्य कहा जाता है। देवोंसे इनका युद्ध होता रहा है। प्राचीन साहित्यमें स्थान स्थान पर दैत्योंका उल्लेख आया है। अमृत प्राप्तिके लिये देव और दैत्योंने समुद्र मंथन किया था। उस समुद्र मंथनमेंसे जो अप्सरा, वारुणी, सुरा उत्पन्न हुई वह दैत्योंने ले लिया। दैत्य सदैव यज्ञ विध्वंसक रहे हैं! संभवतः दैत्य और दानव भिन्न हैं। आगे चल कर इनमें भेद नहीं रहा होगा। क्यों कि दनुको दानवकी माता कहा गया है। फिर भी विद्वानोंका मत है ये समानार्थी हैं।

प्रल्हाद—हिरण्यकश्यपु और कयाधूका पुत्र। देवासुर युद्धके निमित्त वेदमें भी प्रल्हादका नाम आया है। यह महान विष्णुभक्त था और इनका पिता विष्णुद्वेष्टा। बापने पुत्रको बहुतेरा समझाया किंतु यह नहीं माना। इसको कठोर दंड दिया जाने लगा। इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह मरनेके लिये भी तैयार हुवा किंतु विष्णु भक्ति छोडनेके लिये नहीं। एक बार हिरण्य-कश्यपूने पूछा तुम्हारा विष्णु कहां है? सर्वत्र। इस खंबेमें भी? हां इसमें भी। गदासे खंबा तोड दिया गया। नरसिंह प्रकट हुए। नरसिंहने हिरण्यकश्यपूका वध किया। तब प्रल्हादनेही सभी दैत्योंका सांत्वन किया। नरसिंहने वर मांगनेको कहा तब इसने "विष्णुभक्तिके बिना और कुछ भी नहीं चाहता।" कहते हुए भक्तिका ही वर मांगा।

विष्णुने तब "प्रल्हादका यह अंतिम जन्म है। यह मोक्षके लिये तैयार हुवा है!" ऐसा कहा है। स्वयं विष्णुने इसको ज्ञान दिया।

गीता अ० १०. श्लो० ३०—काल हूं गणितज्ञमें—

गणक—गिननेवाला, शुभाशुभ बनानेवाला, जीवन गिननेवाला, यह गणना, अतीत वर्तमान व भविष्यके रूपमें की गयी है। यही-काल है। यह आयुष्य निगलता जाता है। गिन गिन कर निगलता है। हमारे प्राचीन ऋषियोंने इस गिननेको भी गिना। उन्होंने मनुष्य, पितर, देव, और ब्रह्म ऐसे चार प्रकारके दिन और रातकी कल्पना की और फिर एक सूची तैयार की।

१५ स्वेदयान – १ लोमगर्त	१५ प्राण – १ इदम्
१५ लोमगर्त – १ निमिष.	१५ इदम् – १ एतर्हि
१५ निमिष – १ अन	१५ एतर्हि – १ क्षिप्र
१५ अन – १ प्राण	१५ क्षिप्र – १ मुहूर्त

३० मुहूर्त – १ अहोरात्र

इसके बाद वार, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प आदि। इसके अलावा और एक गणना है सो सूर्य पर आधारित है।

२ परमाणु – १ अणु	१५ काष्ठा – १ लघु	३ ऋतु – १ अयन
३ अणु – १ त्रसरेणु	१५ लघु – १ नाडिका	२ अयन – १ वर्ष
		५ – वर्ष – १ युग.
३ त्रसरेणु – १ त्रुटि	२ नाडिका– १ मुहूर्त	ब्रह्मका १ दिन –१४ मनुका शाल खंड.
१०० त्रुटि – १ वेधस्	७ नाडिका– १ प्रहर या याम	ब्रह्मकी १ एकरात-प्रलयका कालखंड.
३ वेधस् – १ लव	४ याम – १ दिवस या रात्र.	
३ लव – १ निमिष	१५ दिवस और रात्र – १ पक्ष	
३ निमिष–१ क्षण	२ पक्ष – १ मास–या पितरोंका एक दिवस.	
५ क्षण – १ काष्ठा	२ मास– १ ऋतु.	

हमारे दर्शन कारोंने इस कालके विषयमें खूब विचार कर भी यह समस्या ही रहा है। विश्वकी अनेक गूढ समस्याओंमें काल एक गूढ तम समस्या है। इसलिये इसको साक्षात् परमेश्वर भी कहा गया है। विश्वके परमाणुसे ब्रह्मांड तक सब कुछ उसी पर आश्रित है। अमूर्त होकर भी वह सर्वव्यापी है। उसके पार किसी वस्तुके अस्तित्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। प्राणिमात्र पर उसकी जो कृपा होती है वही आयुष्य है। पातंजलीने इसको नित्य और विश्वका आधार माना है यद्यपि बौद्धोंने कालका अस्तित्व ही नहीं माना! इसलिये इस पर लिखते जाना कालापहरण है!

गीता अ० १०. श्लो० ३०–मृगोंमें मैं मृगराज—

मृगोंको पशु भी कहा जाता है। विशेषतः न जानते हुए या आकलन न करते हुए देखते रहना यह पशु शब्दका अर्थ है। अति प्राचीन कालमें भी इन पशुओंके स्वभाव इनके शुभाशुभ लक्षण, स्वभावानुसार इनका विभाजन, इनका उपयोग, इनके रोग, उसकी चिकित्सा आदि पर अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। उनमेंसे कुछ आज भी उपलब्ध हैं। इनमेंसे कुछ संस्कृत ग्रंथोंका फारसीमें अनुवाद भी हुवा है।

ऋग्वेद पूर्वकालसे भारतमें पशुपालन चलता आया है। सिंधुसंस्कृतिमें भी गाय, भैंस, कुत्ता, बकरे, भेड, हाथी, सूवर, गधा, ऊंट ये पालतू जानवर थे ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है। इन सबमें गाय पर विशेष भक्ति थी। उसको खूब खिलाते थे, तीन तीन बार दुहते थे, ऐसे विद्वानोंकी मान्यता है।

ऋग्वेद कालमें भी खेतीके साथ गोपालन चलता था। गाय, बैल, घोडे, बकरा, भेड, कुत्ता, ये सब आश्रमवासी भी थे। उपनिषत्कालमें आश्रमके शिष्य गायोंको चराने ले जाते थे। उस समय प्रत्येक घरके साथ कुछ पशु होते थे। कौटिल्य कालमें इन सब जानवरोंको अलग अलग पाला जाता था और उन पर देखभाल करनेवाले प्रमुख अधिकारीको अश्वाध्यक्ष गजाध्यक्ष, गो-अध्यक्ष आदि कहा जाता था। राजकुमार भी इस विभागके अध्यक्ष होते थे। पांचवा पांडव सहदेव गो-विद्याका पंडित था तो नकुल अश्व विद्याका। विराटके घर इन्हें यही काम मिला था! कौटिल्यके समयमें यह लाभकारी व्यवसाय भी था। इसके चमडा, चरबी, स्नायू, सींग, दांत, हड्डी, आदिका उपयोग होता था।

ऐसे समय इस विषयमें अनेक ग्रंथ लिखे जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इन पशुओंमें ग्राम्य, आरण्य, तथा व्योम ऐसे तीन विभाग हैं। आकाशमें उडनेवाले पक्षी। पशुओंमें पालतु और जंगली। अथर्ववेदमें जंगली पशुओंको भयंकर कहा है। पानीके प्राणिओंको शिशुमार कहा है। इस प्रकार वहां पांच विभाग हैं।

मृगेंद्र-सिंह—पंडित हंसदेवने मृगपक्षी शास्त्र नामका एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्होंने सिंहके मृगेंद्र, पंचाक्ष, हर्यक्ष, केसरी, हरी, और सिंह ऐसे छःप्रकार दिये हैं। साथ साथ इनके वैशिष्ट्य दिखाये हैं। इसमें सिंहकी दुम लंबी होती है। शरीर फूर्तिला होता है। भूखके समय ये क्रूर होते हैं। इसका रंग सोनेरी होता है। ये अत्यंत वेगसे चलता है। प्रसन्नतामें रहता है तब दुम हिलता रहता है!

गीता अ० १०. श्लो० ३०—पक्षियोंमें खगेंद्र हूं—

पक्षी—भारतके प्राचीन ग्रंथोंमें पक्षियोंके विषयमें भी पर्याप्त जानकारी मिलती है। दूर दूर संदेश पहुंचानेके लिये भी पक्षी पाले जाते थे। कोशल राजाके घर संदेश वाहक एक मैना थी। कौटिल्य अर्थशास्त्रमें संदेश वाहक कबूतरोंका उल्लेख है। पुराणोंमें भी ऐसे अनेक उल्लेख हैं कि पक्षियोंसे संदेश भेजनेका काम लिया गया। पालतू पक्षियोंमें शुक, मैना, मोर, चकवा, अधिक तर देखनेको मिलते हैं किंतु राज प्रासादोंमें मुरगा, क्रौंच, कपिंजल, वार्त्तिक, चकोर, चक्रवाक, हंस, कोयल, कादंब, आदि पक्षी पालते थे। इन पक्षियोंके विषयमें संस्कृत साहित्यमें अनेक प्रकारके संकेत हैं। इनकी स्वतंत्र भाषा है। इनकी भाषा जाननेवाले विषिष्ट लोग भी हैं। प्राचीन भारतीय साहित्यमें पक्षियोंका संभाषण सुनकर, उनसे आवश्यक जानकारी पाकर किये गये महान कामके उल्लेख पर्याप्त हैं। इनका और देवोंका संपर्क भी है। कौवोंको अन्न डाला तो वह पितरोंको मिलता है। कौवे प्राचीन ऋषि हैं। मोर सरस्वतीका वाहन है। हंस और लक्ष्मीका संबंध है। कहीं कहीं उल्लु लक्ष्मीका वाहन माना जाता है।

गरुड–विष्णुका वाहन है। यह कश्यप-विनताका पुत्र, अरुणका छोटा भाई। वालखिल्य ऋषियोंके पुण्यसे गरुड पैदा हुआ था। पैदा होते ही वह उडने लगा। इसके उडनेसे ही इसको पक्षियोंका इंद्र मान कर वालखिल्योंने इसका अभिषेक किया। उडते समय इसका इतना प्रखर ताप था कि सारा विश्व अकुला उठा। इससे इसको लोग अग्नि समझने लगे। तब इसने अपने तेजका संकोच किया।

इसकी मां विनता सवतकी दासी थी। इससे वह दुःखी थी। इसके सवतेले भाई साप भी इसे दासी-पुत्र मानकर जो चाहे सो फर्माते थे। एक बार यह अपने सवतेले भाई सापोंको लेकर इतना ऊंचा उडा कि बेचारे सूर्य तापसे जल भुनकर नीचे पडे! अपनी माताके दास्यका कारण और उससे मुक्तताका उपाय जानकर यह इंद्रसे लड़कर अमृत जीतकर ले आया और मां को दास्य मुक्त किया। संपूर्ण अमृतकुंभ पास रह कर भी इसने एक बूंद भी अमृत नहीं पिया। यह देखकर विष्णुने प्रसन्न होकर इससे वर मांगनेको कहा तब इसने "बिना अमृतके ही अमर" बननेका वर मांग कर विष्णुसे कहा "अब तुम भी कोई वर मांग लो!" तो विष्णुने "अपना वाहन बननेका वर मांगा!" ऐसे यह विष्णुका वाहन बना।

गीता अ० १०, श्लो० ३१—वायु मैं वेगवानों में—

सारा विश्व गतिशील है। विश्वकी प्रत्येक वस्तु ग्रह नक्षत्रादि सभी गतिशील है। इसकी गति भी तीव्र है। मनुष्य इसकी कल्पना नहीं कर सकता। जैसे शब्दकी गति, प्रकाशकी गति आदि, किंतु इन सबमें वायूकी गति अत्यंत तीव्र मानी गयी है। मरुद्‌गणोंका विचार करते समय अवकाशमें जो वायुकी गति है उसका उल्लेख होता है। तब कहा जाता है कि इससे विश्व हिलता है। अब तक इस गतिका अंकन नहीं किया गया है।

गीता अ० १०, श्लो० ३१—राम मैं शस्त्र वीरोंमें—

राम—पिताका नाम दशरथ। माता कौसल्या। भाई लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न। राम सबसे बडा लड़का।

यह धनुर्वेदका पंडित था। विश्वामित्र इसका शस्त्र-गुरु। रामने बचपनमें ही ताटकाका वध किया। सुबाहूको मारा और मारीचको अपने बाणाग्रसे उडा दिया।

जनक नंदिनी सीता इसकी पत्नी। सीताको रामने स्वयंवरमें जीता। शिवधनुपर प्रत्यंचा चढाना सीता स्वयंवरका दांव था और रामने हजारों राजाओंके सम्मुख प्रत्यंचा चढानेके लिये जब शिव-धनुष्य झुकाया तव धनुष्य टूट गया!!

राजा दशरथने अपना बुढापा जानकर रामको युवराज्याभिषेक करना निश्चय किया। किंतु दशरथकी सबसे छोटी राणी कैकयीको यह अच्छा नहीं लगा। उसने दशरथको अपने पूर्व वचनका स्मरण दिलाकर भरतको योवराज्य और रामको चौदह वर्ष वनवास भेजनेकी मांग की। इससे पिताज्ञासे राम, सीता और बंधु लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षके लिये वनवास गया।

दशरथ, रामके वनवास जानेका दुःख नहीं सह सका। वह राम राम कहता स्वर्ग सिधारा। वनवासके लिये राम दक्षिणकी ओर चला। रामके साथ ही रहनेका लक्ष्मणका दृढ निश्चय था। वह भी रामके साथ रहा, एक आज्ञाधारक सेवककी भांति।

किंतु वहां भरतने राज्य लेनेसे अस्वीकार कर दिया। भरत अयोध्याके कुछ प्रमुख लोगोंको साथ लेकर रामको अयोध्या लौटा ले जानेके लिये आया। तब राम चित्रकूटमें था। चित्रकूटमें सब मिले। भरतने अपनी मांग सामने रखी। राम दृढ था। चौदह वर्ष वनवासका उसका निश्चय दृढ था। भरतने रामकी पादुकाएँ लीं। रामके प्रतिनिधिके रूपमें चौदह वर्ष तक अयोध्याका राज्य देखनेका स्वीकार करके भरत अयोध्या आया।

राम दक्षिणकी ओर चला। चलते चलते वह ऋषि-मुनियोंसे मिलता। उनसे ज्ञान लेता। उनका सुख दुःख सुनता और आगे बढ़ता। ऐसे चलते चलते दस वर्ष बीते। यह पंचवटी आया। वहां जटायू पक्षी मिला। कुछ दिन राम पंचवटीमें रहा।

लक्ष्मणने वहां शूर्पनखाके नाक कान काटे। शूर्पनखासे सब बात सुनकर रावणने मारीचकी सहायतासे सीता हरण किया। बीचमें जटायूने रावणको रोका। जटायूका वध करके रावण सीताको लेकर चला। जटायूसे सीता हरणकी बात जानकर राम लक्ष्मण दक्षिणकी ओर चले। किष्किंधामें हनुमान और सुग्रीवका संपर्क हुवा। अग्नि साक्षीसे राम सुग्रीवकी मित्रता हुई। अपने बडे भाईके डरसे सुग्रीव राज्य छोड़कर ऋष्यमूक पर्वत पर रहता था। रामने वालीवधकी प्रतिज्ञा कर वालीको

मारा। उसके बाद सीता शोध हुवा। हनुमानने सीता-शोध किया। वह अशोक-वनमें सीतासे मिलकर उससे चूडामणि ले आया। राम लंका पर चढ़ायी करने अगे बढा।

हनुमानके सीतासे मिलकर जानेके बाद रावण-सभामें बडी गडबड हुई। रावणके भाई बिभीषणने "सीताको रामके पास पहुंचा देनेकी मांग की!" यह रावणके विरुद्ध था। रावणने उसका धिःकार किया। इससे बिभीषण अपने चार प्रधान–अनल, पनस, संपाति और प्रमति–के साथ रामकी शरण आया। क्यों कि वालीवधसे बिभीषण समझ चुका था वीरतामें राम रावणसे श्रेष्ठ है और उसके साथ समग्र वानर-सेना है।

रामने हनुमान सुग्रीवादिकी सलाहसे बिभीषणको अभय दिया। बिभीषणने भी रावण-वधमें सहायता करनेका आश्वासन दिया। वहां रावण सुग्रीवको रामसे अलग करनेका संधान कर असफल रहा। इसके बाद रामने नीलको समुद्र पर सेतु बांधनेकी आज्ञा दी। नीलने लाखो वानरोंकी सहायतासे चौदह, बीस, इकवीस, बाईस, तोईस इस क्रमसे पांच दिनमें सौ'योजनका सेतु बांधा। रामने अपनी सेनाके साथ लंकामें जा छावनी डाली।

रामने सुलेख पर्वतसे लंकाका अवलोकन करके सैन्य रचना की। युद्धकी पूरी व्यूह-रचना होनेके बाद नियमानुसार रामने संधानके लिये अंगदको रावणके पास भेजा। अंगदने रावणको बहुतेरे समझाया। कोई उपयोग नहीं हुवा। रावणने अंगदको पकडनेकी आज्ञा दी। अंगद राक्षसोंको गिराकर वहांसे चला आया। आते समय यह रावणके प्रासादका शिखर-कलश-गिराकर आया! रामने युद्धकी घोषणा की। माघ-शुद्ध द्वितीयाको इस युद्धका प्रारंभ हुवा और चैत्र शुद्ध १२ (या चै. व. १४) रावण वध हुवा। चै. व. ३० को रावणका प्रेत संस्कार हुवा।

इस युद्धमें रावणके साथ उसके भाई कुंभकर्ण, पुत्र मेघनाद, अतिकाय, मामा प्रहस्त भतीजे कुंभ-निकुंभ, आदि सारा परिवार–बिभीषणको छोडकर--नष्ट हुवा।

सीता ११ महीने १४ दिन रावणकी बंदी बनकर अशोकवनमें रही। विवाहके समय राम पंद्रह वर्षका था और सीता छ वर्षकी। जब रामका राज्याभिषेक हुवा तब राम ४२ वर्षका था। और सीता ३३ वर्षकी। स्कंदपुराणमें सारी रामकथा तिथि वारके साथ है किंतु विद्वानोंका कहना है यह वाल्मिकी रामायणसे मेल नहीं पाता। राम रावण युद्ध और रामके विषयमें अलग अलग पुराणोंमें अलग अलग बातें कही गयी हैं!

गीता अ० १०. श्लो० ३१– मत्स्योंमें मैं बना नक्र—

इसके विषयमें कोई कहने जैसी जानकारी नहीं मिली।

गीता अ० १०. श्लो० ३१–नदियोंमें गंगा नदी—

प्राचीन पोथियोंमें पर्वतसे उगम होकर समुद्रसे मिलनेवाले ऐसे जल-प्रवाहको,-जिसकी लंबाई आठ हजार धनु सामान्यतया १६००० मीटरसे अधिक है-नदी कहा गया है। इससे कम लंबाईवाले जल-प्रवाह "गर्त" कहे गये हैं।

भारतीय ग्रंथोंमें नदी-प्रवाहोंको पवित्र माना है। ऋग्वेदमें आपोदेवता-जलदेवता-हमारा कल्याण करें, हमें पवित्र करें ऐसी प्रार्थना है। ऋग्वेदमें नदी सूक्त भी है। इस नदी सूक्तमें गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, विपाशा, वरुणी, असिक्नीती, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जीकिया,

सुषेमा, त्रिसामा, सुसर्तु, श्वेती, सिंधु, कुभा, गोमती, क्रमू, मेहत्नु इन अठारह नदियोंका उल्लेख हैं। ऋग्वेदकी पवित्रतम नदी गंगा नहीं सरस्वती है। महान माता, महान नदी महान देवी आदि कहकर इस नदीका वर्णन किया गया है। पुराणकालमें सरस्वतीका स्थान गंगाने लेलिया।

भारतकी सभी नदियोंकी उत्पत्ति कथा है। उसके स्नानका फल कहा गया है। नदी किनारे पर बसे कई गांव, शहर, घाट, मंदिर आदिका वैशिष्ट्य कहा गया है।

महाभारतमें अष्टकुल-पर्वतोंसे उगम होकर बहनेवाली निम्न लिखी नदियोंका उल्लेख है।

हिमाचल पर्वतसे—(१) गंगा (२) सरस्वती (३) सिंधु (४) चंद्रभागा-चिनाब (५) यमुना (६) शुतुद्री-सतलज (७) वितस्ता-झेलम (८) इरावती-रावी (९) कुहू-काबूल (१०) गोमती (११) विपाशा-वियास (१२) देविका-दीग-(१३) शरयू-गोग्रा-(१४) क्षू-रामगंगा-(१५) गंडकी (१६) कौशिका-कोसी-(१७) निग्रा (१८) लोहित्या-ब्रह्मपुत्रा-।

(२) परियात्र पर्वत श्रेणीसे—(१) वेदस्मृति-बनास-(२) वेदवती-बेरछ-(३) वृत्रध्नी-अंतर्गत-(४) सिंधू-कालीसिंध-(५) वेण्या, या वर्णाशा, नंदिनी या चंदना-साबरमती-(६) सदानीरा या सतिरापारा-पार्वती-(७) चर्मण्वती या धन्वती-चंबल-(८) तूपी या रुपा या सूर्या-गंभीर-(९) विदिशा-बेस-(१०) नेतृवती-बेत्वा-(११) क्षिप्रा।

(३) ऋक्ष पर्वत श्रेणीसे—(१) मंदाकिनी-(२) दशार्णा-धसान-(३) चित्रकूटा-(४) तमसा-(५) पिप्पलश्रोणी-वैसुनी-(६) पिशाचिक-(७) करमोदा-कर्मनासा-(८) चित्रोत्पला-(९) बिपाशा-बेवास-(१०) वंजुला-(११) बालुवाहिनी-बघैन-(१२) सुमेरुजा-सोनरवीरमा-(१३) शुक्तिमती-(१४) शकुला-सक्री-(१५) विदिवा-(१६) क्रमु।

(४) विंध्य पर्वत श्रेणीसे—(१) क्षिप्रा-(२) पयोष्णी-(३) निर्विंध्या-नेवुज-(४) तापी-(५) निषधा-सिंध-(६) वेणा-वैणगंगा-(७) वैतरी-(८) शितीबाहू-(९) कुमुद्वती-स्वर्णरेखा-(१०) तोया-ब्राह्मणी-(११) महागौरी-दामोदर-(१२) पूर्णा-(१३) शोणसोन-(१४) महानदी-(१५) नर्मदा।

(५) सह्याद्रि पर्वत श्रेणीसे—(१) गोदावरी-(२) भीमा-(३) कृष्णा-(४) वेणा-(५) तुंगभद्रा-(६) सुप्रयोगा-हगरी-(७) वरदा-(८) कावेरी-(९) वंजुला।

(६) मलय पर्वत श्रेणीसे—(१) कृतमाला-ऋतुमाला-(२) ताम्रपर्णी-(३) पुष्पजा-(४) सत्पलावती-पेरिय।

(७) महेंद्र पर्वत श्रेणीसे—(१) पित्रसोमा-(२) ऋषिकुल्या-(३) इक्षुला-(४) त्रिदिवा या वेगवती-(५) लांगूलिनी-(६) वंशकरा।

(८) शुक्तिमत पर्वत श्रेणीसे—(१) ऋषिका-(२) कुमारी-सुकतेल-(३) मंदगा-(४) मंदवाहिनी-महानदी-(५) कृपा-(६) पलाशिनी-(७) वामन।

प्रत्येक प्रदेशमें इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक नदियां हैं। भारतीय साहित्यमें नदियोंके विषयमें जो आदर और श्रद्धा-भक्तिके साथ पावित्र्यका भाव दीखता है वह अपूर्व ही है। व्यासने नदीको "विश्व-माता" कहा तो रवींद्रनाथ ठाकूर : "ईश्वरकी करुणा" कहते हैं। व्याससे रवींद्र-

नाथ तक, ऋग्वेदके सूक्तोंसे प्रादेशिक भाषाओंकी कविताओं तक, यह परंपरा सभी भाषाके कवियोंने निभाई है। देव-पूजाके समय पूजारी अपने अभिषेकके कलशमें गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी इन सप्त नदीका अधिष्ठान देखता है। भारतके प्रत्येक प्रदेशमें नदी पूजाकी परिपाठी है। पर्वकालमें सभी नदी स्नानके लिये आते हैं। वस्तुतः नदीके किनारों पर ही भारतीय संस्कृतिका जन्म और विकास हुवा है। मानो प्रत्येक नदी भारतीय संस्कृतिका एक एक प्रवाह है। इसमें गंगा नदीका विशेष महत्व है।

गंगा—इस शब्दका अर्थ करनेवाले निरुक्तकारोंमेंसे किसीने "स्नान करनेवालोंको परमात्मके चरणों तक पहुंचानेवाली" ऐसा किया तो किसीने "मुमुक्षु-मोक्षार्थी जिसके पास जाते हैं वह गंगा!" ऐसा किया है। इसी नदीको विष्णुपदी, त्रिपथगा और भागीरथी कहा गया है। ब्रह्मदेवने अपने कमंडलूके पानीसे विष्णुके पैर धोये जिससे यह बहने लगी इस लिये इसे विष्णुपदी कहते हैं तो स्वर्ग मृत्यु पाताल इन तीनों लोकमें यह बहती है इसलिये त्रिपथगा कहते हैं और भगीरथ राजाकी तपस्यासे यह मृत्युलोक आयी थी इसलिये भागीरथी कहते हैं।

सूर्यवंशके सगर राजाने कभी अश्वमेध यज्ञ किया था। इस घोडेके रक्षणमें उसके पुत्र थे। घोडा भटकते भटकते कपिल मुनिके आश्रममें गया। अश्वरक्षक उसको खोजते खोजते थक कर कपिलाश्रममें पहुंचे और मुनिने घोडेको चुराया इस भ्रमसे ध्यानस्थ मुनि पर हमला केरने गये तो मुनिकी आंखें खुलतेही उस तेजसे जल कर राख हो गये। घोडेकी खोजमें सगरका पोता अंशुमान कपिलाश्रममें पहुंचा। उसको जब सारी बातकी जानकारी हुई तब उसने कपिलकी प्रार्थना की। प्रसन्न हृदय कपिलने अपने पितरोंके उद्धारके लिये स्वर्गके गंगाप्रवाहको भूतलपर लानेको कहा और अंशुमान हिमालयमें जा तपमें बैठ गया। अंशुमान तप करते करते वहीं खप गया इसके बाद योग्य समय देखकर उसके पुत्र दिलीपने पिताका अनुकरण किया और दिलीप भी हिमालयकी गोदमें सो गया तब उसके पुत्र भगीरथने पितामह और पिताके अधुरे कामको हाथमें लिया। वह इस महा कार्यमें यशस्वी हुवा।

टेहरी गढवालके १३८०० फूट ऊंचे गंगोत्री पहाडसे इसका उगम होता है। इसको पुराणोंमें गोमुखी कहा है। इस प्रवाहको यहां भागीरथी कहते हैं। इसी प्रवाहसे कुछ आगे चलकर जान्हवी और अलकनंदाका प्रवाह मिलते हैं। इस स्थानका प्राचीन नाम मंदारगिरि है। आगे आगे इसमें अन्य अनेक प्रवाह आ मिलते हैं जिससे इस भागमें सप्त-संगम बने हैं। बद्रीनाथमें विष्णुगंगा-सरस्वती ?-आती है। जोशी मठके पास धौलीगंगा विष्णुगंगासे आ मिलती है। विष्णु प्रयागके बाद इस संयुक्त प्रवाहको अलकनंदा कहते हैं। फिर नंदप्रयागमें मंदाकिनी अलकनंदासे आ मिलती है। कर्णप्रयागमें पिंडरगंगा इस प्रवाहमें आ मिलती है। रुद्रप्रयाग और देवप्रयागमें इन्ही नदियोंके दूसरे प्रवाह इसमें मिलते हैं। तब यह गंगाके नामसे आगे बहती है। हिमालयकी स्वर्ग भूमीसे यह हृषीकेशमें भूतलपर आती है। कनखलको गंगाद्वार कहते हैं। वहांसे यह दक्षिण वाहिनी होकर मेरेठ, रोहलखंड, फरुखाबाद, अवध, प्रयाग, मिर्झापुर, वारणासी, बलिया, पटना इस मार्गसे कलकत्तामें आकर समुद्रसे मिलती है। फरुखाबादमें रामगंगाका प्रवाह जो कूर्मांचलकी ओरसे आता है गंगामें मिलता है। प्रयागमें गंगा और यमुनाका मिलन होता है। इस नदीको लोग प्रेम और पूज्य भावसे गंगा-मैया कहते हैं। सारे भारतवर्षके

लोगोंको इस नदीके विषयमें आदर है। भक्ति है। आत्मीयता है। भारतके गांव गांवमें गंगाजलसे भरा कलश रहता है जिससे मरते समय गंगाजल दे सकें। भारतके आचार्योंने, संतोंने, मनीषियोंने कवियोंने, साहित्यिकोंने इसको वंदन करके इसके गुण गाये हैं। गंगानदी भारतीय संस्कृतीका तथा एकताका प्रतीक बन गयी है।

गीता अ० १०. श्लो० ३२—विद्याओंमें अध्यात्म मैं—

विद्या—विद्याका अर्थ है जानना। प्रयत्न पूर्वक जानकारी प्राप्त करना। जानकारी प्राप्त करनेकी इस प्रक्रियाको विद्याध्ययन कहते। देखना, सुनना, पाठ करना, स्मरण रखना, चिंतन करना, मनन करना, प्रयोग करना और अनुभवना ये अध्ययनके प्राचीन साधन। फिर इसमें और एक साधन, वाचन आ गया। सुनकर पाठ करनेके स्थानपर पढकर स्मरण रखनेकी प्रक्रिया भी इसमें जुड गयी। इस प्रकारकी विद्याके "प्राचीन पोथियोंमें चौदह प्रकार गिने हैं। किंतु आगे चलकर इसके प्रकार बदले भी हैं। प्रथम चार वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद–छ वेदांग–छंद, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, और कल्प, शास्त्र-न्याय, मीमांसा, पुराण, धर्मशास्त्र, ऐसे चौदह विद्याओंकी इस तालिकामें कुछ परिवर्तन होकर आगे (१) आत्मज्ञान, (२) वेदज्ञान (३) धनुर्विद्या, (४) लेखन, (५) गणित (६) शस्त्रविद्या (७) तैराकी (८) बुनना (९) वैद्यक (१०) ज्योतिष्य (११) संगीत (१२) रमल (१३) पाकविद्या (१४) गारुडी विद्या ये चौदह विद्याएँ बनीं और आगे इसमें भी परिवर्तन होकर (१) ब्रह्मज्ञान (२) रसायन (३) श्रुतिकथा (४) वैद्यक (५) नाट्य (६) ज्योतिष्य (७) व्याकरण (८) धनुर्विद्या (९) जलतरण (१०) कामविद्या (११) सामुद्रिकज्ञान (१२) तंत्रविद्या (१३) मंत्रविद्या (१४) चौर्य-विद्या!! ये १४ विद्याएँ बनीं! इन चौदह विद्याओंमें कब कैसे और क्यों परिवर्तन होते गये यह संशोधन करनेवालोंका काम हैं। इनमें—

अध्यात्मविद्या—आत्म-स्वरूपके विषयमें जानना। आत्म-बोध होना। ब्रह्मकी अथवा आत्माकी सहज-स्थितिको अध्यात्म कहा गया है। जिस ज्ञानसे प्रापंचिक ज्ञानके परे परमात्मवस्तुका बोध होता है उसको अध्यात्म ज्ञान् कहा गया है। वैसे ही ब्रह्मांडके मूलभूत तत्वके अनुभवोंका विवेचन विश्लेषण करनेवाले शास्त्रको अध्यात्म-शास्त्र कहा गया है। उपनिषद गीता आदि अध्यात्म-विद्या और अध्यात्म शास्त्र है। समग्र ज्ञानेश्वरी अध्यात्म-विद्याका विस्तृत विवेचन करनेवाला सागर ही है। आत्मा क्या है? उस आत्माका बोध कैसे होता है? उसके लिये मनुष्यको क्या क्या करना चाहिए? यह सब उपनिषद् गीता, ज्ञानेश्वरी आदि ग्रंथोंमें भली भांति समझाया गया है। अन्य विद्याओंकी भांति यह केवल पठनसे नहीं जानी जाती। उसके लिये चिंतन और प्रयोग "अध्यात्म–विद्याके ये दो पाठ हैं"। इससे मनुष्यको आत्म–बोधकी अथवा आत्म–साक्षात्कारकी अवस्थाको प्राप्त करना है। इस अंतिम स्थितिको आत्म–ज्ञान, अपरोक्षानुभूति, आत्म–बोध, आदि कहा गया है।

गीता अ० १०. श्लो० ३३—अक्षरोंमें अकार मैं—

अनेक शास्त्रोंने अक्षरके अनेक अर्थ कहे हैं। वस्तुतः जिसका क्षय नहीं होता, न पिघलनेवाला, न घुलनेवाला, अविकारी, नित्य, भावातीत आदि अक्षर शब्दका अर्थ है। प्रत्येक शब्दका

अर्थ करनेवाले नैयायिकोंने " वर्णका स्मरण कर देनेवाला लिपि प्रकार " ऐसा इसका अर्थ किया तो वेदांतमें " परब्रह्म " कहा है और स्वयं गीतामें ओंकार वेद सार तथा ईश्वर ऐसा वर्णन किया है।

किंतु कुछ प्राचीन पोथियोंमें " छः महीने बाद ज्ञानके विषयमें भ्रम होता है, संदेह निर्माण होता है। इसलिये अक्षर पत्रारूढ किये। " ऐसा लिखा गया है। विश्वकी विविध भाषाओंकी ध्वनियोंको व्यक्त करनेवाले चिन्होंको अक्षर कहते हैं। साहित्यमें अक्षरके विषयमें " ध्वन्यात्मक " और " सांकेतिक " ऐसे दोनों अर्थ मिलते हैं। ऋग्वेदमें वर्णमालाको अक्षर कहा गया है। विद्वानोंका यह मंतव्य है कि ऋग्वेदकालमें तराशकर अक्षर लिखते होंगे! क्यों कि वहां अक्षरका अर्थ न फैलनेवाला न पिघलनेवाला ऐसा है! उस समयके अक्षर ध्वन्यात्मक न होकर संकेतात्मक होंगे। अक्षरोंमें स्वर और व्यंजन ऐसे दो प्रकार हैं। स्वर दीर्घ, लघु तथा प्लुत ऐसे तीन प्रकारके होते हैं। दीर्घ स्वरांत अक्षर गुरु कहलाता है तो ऱ्हस्व स्वरांत अक्षर लघु कहलाता है। तीन मात्राओंका अक्षर प्लुत कहाता है। ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक अक्षरोंका विकास लेखन कलाका विकसित रूप है। इन वर्णोंमें शुभ अशुभ तथा दग्ध ऐसे तीन प्रकार किये गये हैं। काव्य-शास्त्र के ग्रंथोंमें कहा गया है कि काव्यारंभ अशुभ अक्षरसे नहीं होना चाहिये।

सभी अक्षर अ. क. च. ट. त. प. य. श. इन आठ वर्णोंमें विभाजित किये गये हैं। प्रत्येक वर्गका एक देवता है। उसका फल है। जैसे—

अ.	सोम,	आयुर्वृद्धि,	क,	अंगारक,	कीर्ति,	च.	बुध	धनप्राप्ति.
ट.	गु,	सौभाग्य,	त,	शुक्र,	कीर्ति	प.	शनि	मंदता.
य.	सूर्य,	मृत्यु,	श,	राहु,	शून्यता			

इसके अलावा ज्योतिष्य आदि शास्त्रोंमें, अक्षर–संकेतादि अलग शास्त्र ही है।

अ—आदिवर्ण है। वाङ्मयका आदि बीज है। प्रणवकी पहिली मात्रा है। वैसे ही अ नेति नेति सूचक भी है। देवताओंमेंसे ब्रह्मा, शिव, वायु, तथा वैश्वानर=अग्नि इनका बोधक है। नानार्थ मंजरीमें : (१) ज्वाला (२) मंत्र (३) पर्जन्य (४) रथका घोडा (५) चक्र (६) मुर्गेका सिर (७) चंद्रबिंब (८) ब्रह्मा (९) शिव (१०) विष्णु अ के इतने अर्थ कहे गये हैं।

यह अ सभी भाषाओंके अक्षरोंमें प्रथमाक्षर है। वह कंठ्य अक्षर है। पाणिनीके अनुसार इसके अठारह उच्चार भेद होते हैं। तंत्र-शास्त्रानुसार अ : इस अक्षरमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा उनकी शक्तियां महासरस्वती, महालक्ष्मी तथा महाकाली विद्यमान है। चित्तकी एकाग्रताके लिये इस अक्षरका जाप कहा गया है।

गीता अ० १०. श्लो० ३३–मैं हूं द्वंद्व समासोंमें—

दो या दोसे अधिक शब्दोंमें आनेवाले प्रत्यय अव्यय आदि हटा कर दो या दोसे अधिक शब्दोंको जोडकर एक शब्द तैयार करनेको समास कहते हैं। और ऐसे शब्दोंको सामासिक शब्द। इस प्रकार शब्दोंको जोडनेके तीन प्रकार हैं। (१) जिसमेंसे सभी शब्द समान योग्यताके होते हैं वह (२) जिसमें पहलेके पद गौण हो कर बादके मुख्य होते हैं वह (३) तथा जिनमें पहले मुख्य हो कर बादके गौण होते हैं वह। इनमें तत्पुरुष, बहुव्रीहि, अव्ययीभाव तथा द्वंद्व ऐसे चार प्रकारके समास होते हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें अन्य अनेक उप-विभाग हैं।

द्वंद्व समास—द्वंद्व समासके तीन प्रकार हैं। समाहार द्वंद्व, वैकल्पिक द्वंद्व, इतरेतर द्वंद्व। इस समासके सर्व शब्द समान महत्त्वके होते हैं। तथा इस समाससे जो सामासिक शब्द बनता है उसमें सर्वार्थ समावेश होता है। जैसे कृष्ण और अर्जुन कृष्णार्जुन अथवा कर्ण और अर्जुन कर्णार्जुन।

कृष्णार्जुन और कर्णार्जुन भावनाकी दृष्टिसे उत्तरध्रुव और दक्षिणध्रुव है। कृष्णार्जुन द्वंद्वमें प्रेमजन्य अद्वैत है। और कर्णार्जुन द्वंद्वमें विरोधजन्य द्वैत है। यह द्वंद्व समास द्वैत और अद्वैत दोनोंको अपनेमें समालेता है अथवा पचालेता है। यही परमात्म-तत्वकी विशेषता है।

परमात्म तत्व द्वैत और अद्वैत दोनोमें पूर्ण है। जीवनमरण, बंधमोक्ष, ये परस्पर विरोधी द्वंद्व उत्तरध्रुव और दक्षिणध्रुवको एकत्र लाते हैं। मानो कहते हों एकही "वस्तुके दो छोर हैं!" इसमें भी ऐक्य है। जैसे दो आंखें एक देखती हैं, दो होठ एक बोलते हैं, दो कान एक सुनते हैं, दो पैर एक चलते हैं। विरोधमें एकता द्वंद्व समासकी विशेषता है। वैसे ही आचारविचार, मातापिता, आदि एकताका द्वंद्व है। यहां अद्वैतमें द्वैत है। और द्वैतमें अद्वैत। मैं हूं द्वंद्व समासोंमें कह कर परमात्माने द्वैत और अद्वैतको अपनेमें पचा लिया है। मै दोनोंमें और दोनोंसे परे कहा है।

गीता अ० १०, श्लो० ३४—सर्वनाशक मैं मृत्यु—

नाशका अर्थ रूपका बदलना। विश्वमें जो कुछ बनता है अर्थात आकार लेता है वह नष्ट होता है। इस नाशको संहार कहा गया है। जो कुछ आकार लेता है उस सबको नाश करनेवाली सर्व-नाशक जो शक्ति अथवा देवता है उसको मृत्यु कहा गया है। ब्रह्माने इसका निर्माण करके समय पर संहार कार्यकरनेकी आज्ञा दी तो मृत्युने प्राणियोंको दुःख देनेवाला कार्य मुझसे नहीं होगा कहकर तपस्या करना प्रारंभ किया। इस तपसे प्रसन्न ब्रह्माने वर मांगनेको कहा तो मृत्यूने 'जगत्संहारका काम मेरे पास न हो' का वर मांगा तब ब्रह्माने तू विश्व-नाशका प्रत्यक्ष कारण नहीं बनेगी "अप्रत्यक्ष कारण" तेरा काम करेंगे! ऐसा वर दिया। इसी मृत्यु देवताने नचिकेताको ब्रह्मविद्या सिखाई। यहां मृत्युके विषयमें तात्विक विवेचन हुवा है। मृत्यु स्वतंत्र नहीं है। वह भी परतंत्र है। वह "बिना कोई बहाना मिले" मृत्यु अपना कार्य नहीं कर सकता।

गीता अ० १०, श्लो० ३५—गायत्री सब छंदोंमें—

"मानवी भाषाकी प्राथमिक अवस्था गुनगुनानेकी भांति थी" ऐसे कुछ विद्वानोंकी मान्यता है। और सामान्यतया किसी भी भाषाके प्रारंभिक ग्रंथ पद्यमय ही मिलते हैं। विश्व-साहित्यका आदि ग्रंथ ऋग्वेद पद्यमय है। छंदोबद्ध है। ग्रीक लोगोंका सर्वप्राचीन ग्रंथ भी पद्यमय अर्थात् छंदोबद्ध है। होमरके पूर्ववर्ती भी कुछ कवि हो गये थे ऐसी जानकारी होमरके "इलीयड" काव्यग्रंथमेंसे मिलती है। पर्सियाका वेदतुल्य साहित्य अवेस्ता भी छंदोबद्ध है। हिब्रू लोगोंका धर्मग्रंथ, लेटीन भाषाके प्राचीन ग्रंथ भी छंदोबद्ध हैं।

भारतके प्राचीनतम ऋग्वेद संहितामें (१) अतिजगती (२) अतिधृति (३) अतिशक्वरी (४) अत्यष्टि (५) अनुष्टुप् (६) अष्टि (७) उष्णिक् (८) एकपाद (९) ककुभ (१०) गायत्री (११) जगती (१२) त्रिष्टुभ् (१३) द्विपाद (१४) धृति (१५) पंक्ति (१६) प्रगाथबर्हत (१७) बृहती (१८) महाबर्हत (१९) शक्वरी; ये उन्नीस छंद हैं।

वेद मंत्रोंको ही छंदस् कहा गया है। सामान्यतया सभी वैदिक छंद अक्षरछंद हैं मात्रा छंद नहीं। अवेस्तामें भी सभी अक्षर छंद हैं। किंतु उदात्त अनुदात्त स्वर यह वेदका वैशिष्ट्य है। अर्थ निश्चितीमें इन स्वरोंका महत्व माना जाता है। साथ साथ पठनमें संगीतका भास होता है। इसके बाद वैदिक छंदःशास्त्रका पर्याप्त विकास हुवा है। आठ अक्षरोंके अनुष्टुप छंदसे आगे अनेक प्रकारके छंद बनते गये हैं। अनुष्टुब् यह सबसे छोटा और सरल छंद है। कुछ विद्वानोंका कहना है कि यह छंद भारतीय सांस्कृति और धार्मिक साहित्यका हृदय है। पिंगलाचार्य अथवा पिंगलनागके छंदःसूत्रोंको प्राचीन छंदःशास्त्र माना जाता है। इसमें प्राचीन वैदिक छंद और अन्य लौकिक छंदोंका विचार किया गया है।

इसके बाद काव्य कालमें प्रथम प्रथम यही आर्ष छंद लिये गये हैं। किंतु इस समय इसमें कुछ सुधार भी किये गये हैं। जैसे अनुष्टपका पांचवा अक्षर लघु हो। छठा दीर्घ हो आदि। त्रिष्टुभ जगती आदिमेंसे कुछ अन्य छंदोंका अथवा इन्हीकी शाखाओंका विकास हुवा। कालिदासादि महाकवियोंने अपने काव्योंमें वैदिक वातावरण साकार करनेके लिये त्रिष्टुभ आदि छंदोंका उपयोग किया है। इन्ही वैदिक छंदोंमेंसे कुछ वृत्तोंका विकास हुवा जैसे वैदिक अनुष्टुपमेंसे विद्युन्माला अथवा त्रिष्टुब्मेंसे इंद्रवज्रा आदि। आगे काव्य-नाटककी दृष्टिसे भरतमुनिने इसका विचार और विकास किया। आगे अनेक लोगोंने छंदःशास्त्र लिखा। भारतकी विविध भाषाओंमें अनेक विद्वानोंने उन उन भाषाओंके छंदःशास्त्र पर पुस्तकें लिखी हैं। जैसे कन्नडके प्रा. कर्की मराठीके प्रा. माधवराव पटवर्धन, हिंदीके प्रा. पुत्तुलाल शुक्ल, गुजराथीके प्रा. नारायणभाई पाठक, बंगलके श्री. मोतीलाल मुजुमदार आदि विद्वानोंने इस पर खूब विचार विमर्श किया है। अर्थात् इ० पू० ४०००-६००० वर्षोंसे आज तक इस शास्त्रका विकास होता आया है और इन सभी छंदोंमें—

गायत्री— महान् है। वेदके सात विशिष्ट छंदोंमें वह पहला है। गायत्रीका अर्थ वाणीकी रक्षा करनेवाला ऐसा होता है। गायत्रीका और एक अर्थ "गानेवालेका गाना" ऐसा भी होता है। शतपथ ब्राह्मणमें "कृतकृत्य भावसे पृथ्वी गाने लगी तभी उसे गायत्री कहा गया!" ऐसा कहा है।

ऐतरेयब्राह्मणमें "गायत्री सुवर्णपक्षिणीका रूप लेकर स्वर्गसे सोम लायी" ऐसा लिखा है। गायत्री छंदके तीन चरण होते हैं। प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं। इसलिये इसे "अष्टाक्षरी गायत्री" भी कहते हैं। कभी कभी गायत्रीके उच्चारके पहले प्रणवोच्चार करनेकी भी परिपाटी है। ऋग्वेदमें २४६७ मंत्र इस छंदमें हैं। सामान्यतया अग्नि सूक्त इसी छंदमें हैं। ऋग्वेदका महान गायत्री मंत्र इसी छंदमें हैं। वह मंत्र हिंदीमें गायत्री छंदमें ऐसा होगा।

वरणीय तू सविता तेज दे अवर्णनीय।
उद्बोधन कर धी को॥

गायत्री मंत्रके प्रथम ओंकारका उच्चार होता हैं तथा "भूर्भुवस्वः" कहा जाता है। उपनयनमें गायत्री मंत्रका उपदेश दिया जाता हैं।

गीता अ० १०, श्लो० ३५-में मार्गशीर्ष मासोंमें—

लोकमान्य तिलकजीने गीतामें भगवानने मैं मार्गशीर्ष मासोंमें ऐसे क्यों कहा है? इसका विचार करते हुए ओरायनमें लिखा है "आजसे ६०००-८००० वर्ष पूर्व मार्गशीर्षसे वर्षारंभ होता था। तथा मार्गशीर्षमें वसंत ऋतु आता था।" हजारों वर्षकी इस कालावधीमें ऋतु मानमें पर्याप्त

परिवर्तन होगया है। संभव है कि गीता युगमें इसका स्मरण रहा हो और भगवानने पूर्व परंपराके अनुसार वर्षारंभके मासको महत्व देकर "मैं मार्गशीर्ष मासोंमें" ऐसे कहा हो।

गीता अ० १०. श्लो० ३५—ऋतूमें मैं कुसुमाकर—

ऋतु छ हैं और सौर-मासको ऋतु कहते हैं। इन ऋतुओंको (१) वसंत (२) ग्रीष्म (३) वर्षा (४) शरद् (५) हेमंत (६) शिशिर ऐसे नाम हैं। चैत्र-वैशाख वसंतऋतु! ऐसी इनकी गणना होती है। वर्षके विविध मौसम इस अर्थमें ऋतु शब्द ऋग्वेदमें भी कई बार आया है। किंतु ऋग्वेदमें केवल तीन ऋतुओंकी कल्पना है। चार महीनेका एक ऋतु। वसंत ग्रीष्म शरद् ये उनके नाम हैं। आगे चल कर पांच और छ ऋतु हो गये। ऋग्वेदमें भी वसंत मुख्य ऋतु ऐसे स्वतंत्र रूपसे कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें संवत्सरको एक पक्षी मानकर उसका शिर वसंत। ग्रीष्म दहिना पंख। वर्षा है पुच्छ। शरद बायां पंख। हेमंत है मध्य। ऐसा वर्णन किया है। अर्थात् संवत्सरका शीर्षस्थ वसंत विभूति कही गयी है!

गीता अ० १०. श्लो० ३५—द्यूत मैं छलियोंमें हूं—

धोखे बाजीमें, धूर्तताके व्यवहारमें भी चातुरी होती है। बुद्धिकी चमक होती है। और जूआ या द्यूत इसका आदर्श है। यह अत्यंत प्राचीन खेल है। इसको द्यूत-क्रीडा कहते हैं। इस खेलके लिये अलग स्वतंत्र स्थान होते थे। जिन्हे द्यूत-सभा कहा जाता था। आज भी जूएके अड्डे स्वतंत्र होते हैं! जूआरी लोग वहां जमते हैं। पहले इसके प्रमुखको "सभिक" कहते थे। जैसे द्यूतक्रीडा अत्यंत प्राचीन-कालसे चली आयी है वैसे ही "द्यूत-क्रीडा बुरी है!" यह भावना भी ऋग्वेद कालसे देखनेको मिलती है। ऋग्वेदका "कवष ऐलूष" नामका ऋषि द्यूत क्रीडाकी अनेक बुराइयोंका वर्णन करके द्यूत-क्रीडा-त्याग कर खेती करनेका संदेश देता है। द्यूत-क्रीडाकी बुराई कहते समय "उनके हाथ नहीं किंतु जिनके हाथ हैं ऐसे पुरुषोंको वे निकम्मा बनाता है। दीन बनाता है। वह हाथको शीतल लगता है किंतु कलेजा जला देता है!" ऐसे कहा है। मनुस्मृतिमें द्यूतको अठारह निषिद्ध व्यसनोंमें एक गिना है। वहां विनोदके लिये भी द्यूतका निषेध किया है। भारतके प्राचीन साहित्यमें अक्ष-क्रीडा द्यूत-क्रीडा नामसे जूएका विस्तृत वर्णन है। साथ ही साथ इससे जिनका सर्वनाश हुवा उनका हृदयद्रावक वर्णन भी। द्यूत यह प्रभुका विनाशकारी छलनामय विभूती है अवकृपाका द्योतक!

गीता अ० १०. श्लो० ३७—वासुदेव, धनंजय

परिशिष्ट पहलेमें-देखिये—

गीता अ० १०. श्लो० ३७—व्यास मैं मुनियोंमें हूं—

मुनि मनन करनेवाले। चिंतन मनन करके मूलभूत सिद्धांत तक जानेवालोंको मुनि कहा गया है। इन मुनियोंमें बादरायण व्यास सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

व्यास—पराशर सत्यवतीका पुत्र। पराशर वसिष्ठऋषीका पोता। इस लिये व्यास वसिष्ठ-कुलका था। इनका जन्म यमुना द्वीपमें हुवा था। इसलिये इनको द्वैपायन अथवा द्वैपायन व्यास कहते हैं। कृष्ण द्वैपायन भी कहा गया है। साथ साथ इनका जन्म बोरीवनमें हुवा था सो बादरायण भी कहा गया है। इनके गुरूका नाम विष्वक्सेन। इन्होंने मृत्यु शब्द पर विचार किया है।

इन्होंने वेदोंका संहितीकरण किया। भारतकी रचना की। हरिवंश लिखा। ब्रह्मसूत्र लिखे। सारे पुराण इन्होंने लिखे ऐसा कहते हैं। किंतु विद्वानोंका मत है यह गलत है। पुराण अर्वाचीन है।

शुक और सूत इनके शिष्य। शुक इनका पुत्र ही था। दीर्घ तपस् नामका भी एक पुत्र था। इनके अनेक शिष्य थे। इनकी शिष्यपरंपरा भी उज्वल है। इनकी शिष्यपरंपराने वेदकी अन्यान्य शाखाओंका संपादन किया है। व्यासने वैशंपायनको यजुर्वेद सिखाया था। वैशंपायनने यजर्वेदकी अनेक शाखाओंकी रचना करके उनको अन्यान्य शिष्योंको दे दिया। जिससे वे-पाठांतरसे उन उन शाखाओंकी रक्षा करें। याज्ञवल्क्याय वैशंपायनका शिष्य है।

इनका ऋग्वेदका शिष्य पैल है। इन्होंने ऋग्वेदकी दो शाखाएँ करके अपने सात शिष्योंको दीं। जो पाठांतरसे शिष्यपरंपरा निर्माण करके वेदकी रक्षा करें।

वैसे जैमिनी भी वेदव्यासका शिष्य है। जिन्होंने सामवेद वेदव्याससे पाया और अपने पुत्र और शिष्योंको उनकी शाखायें दे कर सामवेदकी रक्षा की। जैमिनीने धर्म-शास्त्रके विषयमें अध्ययन करके पूर्व-मीमांसा लिखी है। जैमिनीके धर्मसूत्र आज भी धर्म-कर्मका निर्णायक ग्रंथ है। जैमिनीने पांडवोंके अश्वमेधके विषयमें लिखा है जिसे जैमिनी भारत कहते हैं।

अथर्ववेदका व्यासशिष्य सुमंतु है। सुमंतूने भी अपनीशिष्यपरंपराको अथर्ववेद दिया।

इनके ब्रह्मसूत्र अत्यंत प्रसिद्ध है। इसमें चार अध्याय सोलह पाद पांच सौ पंचावन्न सूत्र हैं। ये सूत्र सभी उपनिषद् वाक्योंका, तथा सिद्धांतोंका सार है। भारतके चारों महान आचार्य जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, तथा श्रीवल्लभाचार्यने इन सूत्रों पर भाष्य लिखा है। श्रीमध्वाचार्यके भाष्यमें अपने पूर्ववर्ती एकवीस भाष्यकारोंके नाम दिये हैं। ब्रह्म-सूत्र भारतीय दर्शन-शास्त्रका अजोड ग्रंथ है।

इनके जीवनका अध्ययन करते समय ऐसा लगता है कि इनका शिष्य समूह इतना अधिक था उनको अन्न वस्त्र देना भी व्यासके लिये एक बडी समस्या बन जाती! अन्यान्य पुराणोंमें इनके शिष्योंकी नामावली देखनेको मिलती है तभी पुरानी पोथियोंमें लिखा है।

> बिना चार मुखका ब्रह्म दो हाथका यह है हरि।
> भाल लोचन बिना शंभु भगवान बादरायण॥

गीता अ० १०. श्लो० ३७—कवीमें मैं उशना कवि—

संस्कृत कवि शब्दका अर्थ सर्वज्ञ, द्रष्टा ऐसा होता है। कु धातुको इ प्रत्यय लग। कर यह शब्द बना है। "कु" का अर्थ विश्व, व्यास, आकाश। "कवि" को श्रुतिमें मनीषी, परिभूः, स्वयंभूः ऐसे विशेषण दिये हैं। अर्थात जो अपने दृष्टि-पथमें, अथवा अनुभवमें सारे विश्वको अथवा ब्रह्मांडको समालेता है, इस अनुभवके लिये दूसरों पर, या बाह्य साधनों पर निर्भर न हो कर अपने परही निर्भर रहता है तथा जो अपनेमें, आपसे, आप ही सारे विश्वका अनुभव करता है वह स्वयंभूः है! इसी लिये वह भाव-सृष्टिका सम्राट बनता है। कविके अनुभव परावलंबी नहीं निरालंब हैं। वह द्रष्टा है; सारे विश्वको वह अपनेमें देखता है। अपने हृदयको सारे विश्वका केंद्र बिंदु मान कर विश्वसे समरस हो कर काव्य-रचना करता है। इसी अर्थमें ऋषी शब्द भी आया है। कविको क्रांत-दर्शी कहा गया है। मानो वह काव्य-सृष्टिका प्रजापति है। अपने काव्यमें

वह वही विश्व निर्माण करता है जो उसके हृदयमें होता है। सूर्य-प्रभा बाह्य विश्वको प्रकाशित करती है, तो कवि-प्रतिभा विश्वके अंतर तमको उजलाती है। इस अर्थमें काव्य सारी विद्याओं अथवा शास्त्रका सार तत्व है! कविको अपने काव्यमें व्यक्ति, विश्व, विश्व-शिल्प और उसके शिल्पीको मूर्तिमान करके सामूहिक साक्षात्कार करना और कराना होता है। श्रुतिमें ब्रह्माको आदि कवि माना है अर्थात् यह कविका लौकिक रूप है। ऐसे कवियोंमें उशनाकवि अग्निका दूत है। वह असुरोंका कुलगुरु। वारुणी भृगु इसका पिता। पुलोमा माता। इसका काव्य उशना काव्य। काव्य और कवि एक हैं। उशनाका दूसरा नाम शुक्र है। इसकी माताको कहीं कहीं ख्याती भी कहा गया है। इसकी अनेक पत्नियां थीं। यह संजीवनी विद्याका ज्ञाता। कई सूक्तोंका द्रष्टा। इसने अपनी संजीवनी विद्यासे मृत माता, तथा प्रिय शिष्य कचको पुनर्जीवन दिया। इसीने सुरापानका निषेध किया। यह महान् राजनीतिज्ञ था। कौटिल्य अर्थ-शास्त्रमें स्थान स्थान पर इसके राजनीति शास्त्रका उल्लेख है। धर्मशास्त्र पर भी इसका ग्रंथ है! उशना कवि और शुक्राचार्य एक हैं।

गीता अ० १०. श्लो० ३८—दंड मैं दमवंतोंका—

मानवी समाज जंगली अवस्थामेंसे विकसित होता आया है। नीति नियमोंकी दीर्घ परंपरासे वह सुसंस्कृत बना है। किंतु भारतीय समाज ज्ञात-इतिहासके पूर्वकालसे ही सुसंस्कृत था। किसी भी समाजकी संस्कृतिका दर्पण उसकी नीति है। नीति यह शब्द नी=आगे ले चलनेवाला इस अर्थका द्योतक है। और "दम" इसका आधार है। मनोनिग्रह इस शब्दके अर्थमें "दम" शब्द आया है। समाजको सबके हितकी दृष्टिसे आगे बढनेके लिये ही नहीं सिर उठाकर स्थिर रहनेके लिये भी दमकी आवश्यकता है। अपनेको संयत रखनेकी आवश्यकता है। समाजको स्थिर रूपसे आगे बढानेवाले विचारोंको नीति कहते हैं। इस नीति शास्त्रमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राज्यशास्त्र, जीवनशास्त्र, तथा अध्यात्मशास्त्रका समावेश होता है। और इन सभी शास्त्रोंको एक न एक रूपसे "दम" अपनेको "संयत" रखनेकी आवश्यकता है। इंद्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, अनुशासन, आदि शब्दोंसे भिन्न भिन्न शास्त्रोंमें इसका विवेचन किया है। व्यक्ति, कुटुंब, जाति, वर्ग, राष्ट्र ये समाजके घटक हैं। साथ साथ सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि क्षेत्रोंमें सामूहिक उत्थानके लिये कुछ संस्थाएँ भी बनी होती हैं। इन सबमें परस्पर विरोध आनेके पहले सबका, सामूहिक और अविरोधी विकासके साधनीभूत जो गुण है, उसको "दम" कहते हैं। इस दमके दो रूप हैं। एक विवेकसे स्व-निर्मित दम, स्वानुशासन। दूसरा संस्था, समाज, राज्यादिकी ओरसे किया गया शासन। स्वानुशासनमें "दंड" प्रायश्चित्त रूप है तो परानुशासनमें सजाके रूप! अर्थात् दममें दंड अनिवार्य है।

दम और दंड समाज-धारणाके लिये अनिवार्य हैं। नीतिशास्त्रका अध्यात्मशास्त्र प्रत्येक व्यक्तिको स्वानुशासित करता है। अध्यात्मशास्त्रका अर्थ ही आत्मानुशासन है! इसको वहां "संयम" कहा गया है। चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा गया है। इंद्रिय-निग्रहको तप कहा गया है। अथर्ववेदमें पुत्रको पितृव्रतका पालन करना चाहिए, माताकी आज्ञा माननी चाहिए, बहनको भाईका द्वेष नहीं करना चाहिए, पत्नीको पतिसे मधुर बर्ताव करना चाहिए आदि शब्दोंमें संयम सिखाया गया है। और इस "दम" के पालनके लिये "दंड" रखा! अध्यात्म-क्षेत्रमें वह प्रायश्चित्त है। राजनैतिक शास्त्रमें दंड। दंड अनुशासन शक्ति है। इस दंडके विषयमें हमारे

प्राचीन ग्रंथोंमें लिखा है "राजाकी दंडनीति जब उत्तम चलती है तब कृतयुग आता है।" "जिस राज्यमें दंड नहीं उस राज्यकी प्रजाका नाश होगा!" "दंड ही प्रजाको सही दिशा दिखाकर उसकी रक्षा करता है!" "ज्ञानी लोग कहते हैं दंड ही धर्म है।" "दंडसे लोगोंका रक्षण होता है" "बिना दंडके ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) वेदाध्ययन (अध्ययन) नहीं करेंगे। गाय दूध नहीं देगी, लडकियोंके विवाह नहीं होंगे, समाजव्यवस्था टूट जायेगी!"

कहीं कहीं राजनीतिको दंडशास्त्र कहा गया है। भारतीय समाज-शास्त्रमें कई प्रकारके दंड है। ब्रह्मचारी, विद्यार्थी–का मार्गदर्शक, प्रतीक रूप दंड, संन्यासीका इंद्रिय दमनात्मक दंड, इसके अलावा गुरुदंड, समाजदंड, राजदंड, और इन सबसे श्रेष्ठ आत्मानुशासनका ब्रह्मदंड। सर्वांतर्यामी हृदयका दंड। जिसके लिये उपनिषदमें कहा गया है।

मानो वह उठाया हुवा वज्र।
उसके भयसे तपता अग्नि॥
उसीसे प्रकाशता है भास्कर।
करते अपने नियत कर्म॥

यही आत्म-दंड मनुष्यको सदैव स्वतंत्र रखता है। सर्वत्र स्वतंत्र रखता है। क्यों कि इसके ऊपर दूसरा कोई दंड नहीं। इस दंडके भयसे मनुष्य जो बर्ताव करता है उसे देखकर दूसरे किसीको उस पर शासन करनेका, उसको दंड देनेका साहस ही नहीं हो सकता। जैसे अग्नि, वायू, सूर्य आदि पर कोई किसी प्रकारका शासन करनेका साहस नहीं करता।



परिशिष्ट चौथा

ज्ञानेश्वरीके कुछ पौराणिक संद्‌र्भ

ज्ञानेश्वरीमें कुछ पौराणिक संद्‌र्भ आये हैं। उनके साथ जो कथा-संद्‌र्भ है उसको इस परिशिष्टमें दिया गया है जिससे अर्थ समझनेमें अधिक सुविधा हो।

परिशिष्ट चौथा

नष्ट हुए दोष जनमेजयके । ज्ञा० १-३७

ऋषिके शापके कारण जनमेजयके पिता परीक्षितको सर्पदंश हुवा और वह चल बसा। इसका बदला लेनेके लिये जनमेजयने सर्पसत्र नामका यज्ञ किया और सर्प-जातिका संहार करना प्रारंभ किया। किंतु इस संहारमें मुख्य जो तक्षक वही रह गया। उसकी आहुति नहीं पड़ती थी। क्यों कि उसको इंद्रका सहारा मिला था। इंद्रने ब्राह्मण वेषमें आकर जनमेजयसे याचना करके तक्षकको जीवन-दान दिलाया!

इस घटनासे-इंद्रके ब्राह्मण-वेषमें आकर जनमेजयको धोखा देनेसे-जनमेजयके मनमें ब्राह्मणोंके विषयमें तिरस्कार उत्पन्न हुवा। उसने ब्राह्मणोंको अपने राज्यसे निकलवा दिया। यह सुनकर वेदव्यासजीको बड़ा दुःख हुवा। जनमेजयके कुलके विषयमें वेदव्यासजीको अभिमान था, आत्मीयता थी। सदैव वे उस कुलके उत्कर्षकी कामना करते थे। उसके गौरवकी आशा करते थे। वे चाहते थे कि उस कुलका जयजयकार मैं सुनूं। इसलिये वेदव्यासजीने महाभारत-ग्रंथके साथ अपने दो शिष्योंको जनमेजयके पास भेज दिया क्यों कि जिस ग्रंथमें उसके कुलगौरवकी गाथा है वह सुने। उसको सही गलत बातका बोध हो, किंतु जनमेजयने उच्छृंखल होकर वेदव्याससे आये हुए शिष्योंको अपमानित किया। अपने पूर्वजोंको भी भला बुरा कहा। अपने पूर्वजोंको मूर्ख बतानेवाले जनमेजयकी उच्छृंखलतासे वे शिष्य क्रुद्ध हुए। उन्होंने शाप दिया "इस अशोभनीय कर्मके परिणाम स्वरूप तुम्हें कुष्ठ रोग हो!"

इसके बाद वेदव्यास उससे मिले। उन्होने जनमेजयसे कहा "तुम निश्चित दिशामें मत जावो। वहां जो स्त्री मिलेगी उससे विवाह मत करो। उसके कहनके अनुसार बर्ताव मत करो" आदि। किंतु जनमेजयने यह सभी किया। राजाने रानीकी सम्मतिसे पिपीलिका पर्वत पर "नरयाग" किया। उस यज्ञमें इंद्रकी आहुति पडनेका प्रसंग आया और इंद्र विष्णुकी शरण गया।

विष्णुने यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंको मोहित किया। उन ब्राह्मणोंको निद्राने घेर लिये। वे आहुति देते देते वहीं सो गये। यज्ञकुंड बुझ गया। राजा राणीको जब यह ज्ञात हुवा वे यज्ञशालामें आये। सभी ऋत्विज सो गये हैं। रानीके सलाहसे राजाने उनको जगानेके लिये उन पर ठंडे जलके छींटे डाले। किंतु वे जल कण ही भयंकर शस्त्र बने और वे सब ब्राह्मण वहीं टुकडे टुकडे होकर मर गये। इससे जनमेजय कुष्ट-रोगी हो गया। जनमेजय यह देखकर घबड़ा गया। वह वेदव्यासकी शरण गया। वेदव्याससे रोग-मुक्तिका उपाय पूछा। वेदव्यासने तब उससे कहा "तूने अपने पूर्वजोंकी निंदा की। इसलिये यह सब हुवा। अब तू भगवानका स्मरण कर। उसकी कृपासे तू रोग-मुक्त हो जायेगा!"

जनमेजयने भगवदाराधना की । भगवानने वेदव्यासको जनमेजयको भारत सुनाकर शापमुक्त करनेको कहा । वैशंपायन ऋषिने वेदव्यासकी आज्ञासे जनमेजयको भारत सुनाया । भारत श्रवणसे जनमेजय रोग मुक्त होगया । ज्ञानेश्वर महाराजने महाभारतका माहात्म्य कहते समय इस प्रसंगका उल्लेख किया है ।

अथवा जैसे टिटहर । सुखाना चाहता सागर ।
वैसे अल्पज्ञ यह भार । उठाता है ॥ ज्ञा० १-६८ ॥

भारत भरमें एक जनश्रुति प्रचलित है । एक बार एक टिटहरने समुद्र किनारे अपने अंडे रखे थे । समुद्रके पानीके बढ़ावमें वे बह गये । तब टिटहर समुद्रसे अपने अंडे मागने लगा । समुद्र वह अंडे नहीं देता । टिटहरने यह देखकर समुद्रको सुखाकर अपने अंडे लेनेका निश्चय किया और अपनी चोंचसे समुद्र सुखाने लगा !! ज्ञानेश्वर महाराज नम्रतासे अपने गीतार्थ कहनेके प्रयासको उस टिटहरके प्रयाससे तुलना कर रहे हैं ।

ध्वजस्तंभ पर वानर । जो है मूर्तिमंत शंकर ।
सारथी स्वयं शार्ंगधर । अर्जुनका ॥ ज्ञा० १-१४१ ॥

ध्वजस्तंभ पर वानर, अर्जुनको कपिध्वज कहा गया है । महाभारतके युद्धमें स्वयं हनुमानजी अर्जुनके रथका ध्वज संभालकर बैठे थे । इस घटनाके विषयमें ऐसी एक जनश्रुति है कि अर्जुनने एक बार प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओंके विषयमें श्रीकृष्णसे चर्चा करते समय कहा " रामको लंकामें जाते समय सेतु बांधनेकी भला क्या आवश्यकता थी ? उन्होंने अपने बाणोंसे ही सेतु क्यों न बनाया ? इस परसे लगता है राम धनुर्विद्यामें उतना निपुण नहीं था ! "

श्रीकृष्ण अर्जुनके मनकी बात समझ गये । साथ साथ श्रीकृष्णने यह भी सोचा कि अर्जुनके अहंकारको तोडनेका मौका भी सहज मिल रहा है । श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा " रामकी सेना बडी शक्तिशाली थी । उनके सैनिक शक्तिशाली थे । बाणका सेतु उनके चलनेसे टूट जाता ! "

" मै किसी भी हालतमें न टूटनेवाला सेतु बना सकता हूं । संभव है कि राममें यह शक्ति नहीं थी किंतु मुझमें अवश्य है ! " अर्जुनने कहा ।

' रामसेनाका एक सैनिक हनुमानजी अब भी जीवित है । ' श्रीकृष्णने कहा । " तुम यमुना पर बाणका सेतु बनाओ और हनुमानजीको उस सेतु परसे उस ओर ले जाकर दिखाओ ! "

अर्जुनने मान लिया । श्रीकृष्णने हनुमानजीको बुला लिया । हनुमानजी आये । अर्जुनने सेतु बनवाया । हनुमानजी सेतु परसे उस पार जानेको तैयार नहीं । अर्जुनने कहा " सेतु बडा सुदृढ है ! डरनेकी कोई बात नहीं है । " कृष्णने भी ढाडस दिलाया और हनुमानजीने एक पैर रखते ही सेतु टूटकर नीचे आगया ! इससे अर्जुन लज्जित हुवा । उन्होंने धनुर्बाण डाल दिये । मेरी धनुर्विद्या व्यर्थ है । मेरा जीना व्यर्थ है ! वह अग्निप्रवेश करनेका विचार करने लगा । वानरका एक पैर रखते ही मेरे बाणोंका सेतु टूट गया । मैं किस कामका हूँ !

तब श्रीकृष्णने अर्जुनको दुबारा सेतु बांधनेको कहा । " एक बार कुछ हुवा । देखो दुबारा प्रयत्न करो । " अर्जुनने दुबारा सेतु बांधा । श्रीकृष्णने सेतुको सुदर्शनका सहारा दिया ।

हनुमानजी उस सेतु पर चढे, उछले, कूदे! किंतु कुछ नहीं हुवा। हनुमानजीने अनुभव किया राम और कृष्ण एक हैं। मैंने पहले जो स्वामिकार्य किया था वही अब यह अर्जुन कर रहा है। "हनुमानजीने जब मुझे तुम बुलावो तब सहायतार्थ आऊंगा!" ऐसा वचन दिया और अर्जुनने "महाभारतके युद्धमें आप मेरे रथ पर बैठ कर ध्वज संभालिये!" ऐसा वर मांग लिया! इसलिये ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—ध्वज स्तंभपर वानर।

सारथी स्वयं शार्गंधर—भारत युद्धका जब निश्चय हो गया तब दुर्योधन और अर्जुन दोनों श्रीकृष्णकी सहायता मांगने गये थे, तब भगवान सो गये थे, । दुर्योधन अपने पदानुसार श्रीकृष्णके सिरहाने बैठ गया और अर्जुन चरणोंमें। श्रीकृष्णके जागते ही स्वाभाविक ही अर्जुन पर दृष्टि पडी, फिर दुर्योधन पर। दोनोंने भारत-युद्धमें श्रीकृष्णकी सहायता मांगी। श्रीकृष्णने कहा "अब मैं वृद्ध हो गया हूं। हाथमें हथियार नहीं उठाता। शस्त्रसंन्यास लिया है। तुम दोनों मेरी सहायता मांगने आये हो। दोनों मेरे आप्त। आपसमें बांधव। फिर भी आपसमें लड़ रहे हो। यदि कोई युद्धमें सहायता मांगने क्षत्रियके पास आये तो उनको सहायता देना क्षत्रियका कर्तव्य है। मैं अपनी शक्तिके दो विभाग करता हूं एक ओर मैं निःशस्त्र कृष्ण दूसरी ओर मेरी तीन अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेना! इन दोनोंमेंसे जो जिसको चाहिये वह चुन लें। किंतु तुम दोनोंमें अर्जुन छोटा है। इस लिये मांगनेका प्रथम अधिकार अर्जुनका है।"

यह सुन कर अर्जुनने कहा "मैं केवल निःशस्त्र श्रीकृष्ण चाहता हूं!" अर्जुनकी मांग सुनकर दुर्योधन मन ही मन प्रसन्न हुवा। उसने सोचा अर्जुनने आयी हुई स्वर्ण-संधि खोई है। उसने अत्यंत प्रसन्नतासे तीन अक्षौहिणी नारायणी सेनाका स्वीकार किया। महाभारतके युद्धमें कृतवर्माके आधिपत्यमें यह सेना पांडवी सेनासे लडी।

तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा "तू कितना मूर्ख है! तीन अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेनाको मांगना छोड़कर निःशस्त्र वृद्ध कृष्णहीं मांग लिया? निःशस्त्र और वृद्ध कृष्ण क्या करेगा?"

अर्जुनने नम्र होकर कहा "मार्गदर्शन! सारथ्य!!" इसी बातको लेकर ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं सारथी स्वयं शार्गंधर! शार्ङ्ग श्रीकृष्णका धनुष्य है—

जीता जिसने रणामें शिवको। मिटाया है निवात कवचको॥ ज्ञा० १-२००॥

उन दिनोंमें पाशुपतास्त्र अत्यंत महान अस्त्र था। "जिसके पास पाशुपतास्त्र उनकी विजय निश्चित!" ऐसी स्थिति थी और पांडव वनवासके बाद कौरव पांडव युद्ध अनिवार्य हो गया था। यह जानकर दूरदृष्टि अर्जुनने पाशुपतास्त्र प्राप्त करनेका निश्चय किया। इसके लिये वह इंद्रकील पर्वत पर जाकर शिवजीकी आराधना करने लगा।

शिवजीने अर्जुनकी परीक्षा लेना चाहा। पाशुपतास्त्र जैसे महान विश्वसंहारक अस्त्र देनेके पहले उसको धारण करने वालेकी "धारणा शक्ति" देखना अत्यंत अवश्य था। शिवजी किरात बने और शिकारीके रूपमें एक वराहका पीछा करते करते अर्जुनके सामने आये। वराह-पूर्व संकेतानुसार-झपट्टा मारकर तपस्वी अर्जुनको धक्का देकर—क्षत्रिय अर्जुनको शिकारीमें प्रवृत्त करके अथवा आव्हान देकर-आगे दौडा। अर्जुनने तुरंत वराह पर शस्त्र चलाया, तभी किरातने भी उस पर भाला फेंका। वराह अर्जुनके तीर और किरात-शिवजीके भालेसे मृत हुवा और शिवजी और

अर्जुनमें " शिकार किसका ? " इस बात पर वाग्वाद हुवा । शिकार शास्त्रकी सैद्धांतिक चर्चाने उन दोनोंके द्वंद्व युद्धका रूप ले लिया । इस द्वंद्व युद्धमें अर्जुनने अपने पराक्रमका अद्भुततम प्रदर्शन किया । शिवजीने भी प्रसन्न होकर अर्जुनको पाशुपतास्त्र दिया ।

मिटाया निवात कवचको-प्रल्हादका छोटा भाई सन्हाद । उस सन्हादके दो पुत्र थे । उनका नाम था निवात और कवच । ये दोनों अत्यंत पराक्रमी थे । ये समुद्रके किनारे रहते थे । देव भी इनसे डरते थे । इंद्र भी इनको नहीं जीत सका था । इंद्रने इनको मारनेके लिये अर्जुनकी सहायता मांगी । अर्जुनको आवश्यक युद्ध-सामग्री दी । शस्त्रास्त्र दिये । ये राक्षस जैसे पराक्रमी थे वैसे मायावी थे । धोखा देनेमें सिद्धहस्त थे । फिर भी अर्जुनने बहुतही वीरता और कुशलतासे इन राक्षसोंको मारा । इस पर इंद्रने अपना आधा आसन देकर अर्जुनका सन्मान किया था ।

तथा हराया है गंधर्वोंको । पराक्रमसे ॥ ज्ञा० २-१० ॥

अर्जुनने कई बार कई गंधर्वोंको जीता है । लाक्षागृहसे बच निकलनेके बाद पांडव गुप्त रूपसे द्रौपदी स्वयंवरके लिये जा रहे थे । उसी समय रास्तेमें अंगारपर्ण नामका एक गंधर्व अपनी स्त्रियोंके साथ जल-क्रीडा कर रहा था । वहां एकांत स्थलमें पांडवोंको देखकर अंगारपर्णने उनको रोका " ऐसी अप-रात्रीमें तुम कहां जा रहे हो ? " पांडवोंने उसको समझानेका बहुतेरा प्रयास किया किंतु व्यर्थ गया । अंगारपर्ण पांडवोंका रास्ता रोकके खडा था । तब अर्जुनने अंगापर्णको युद्धके लिये ललकारा । दोनोंमें जो द्वंद्व युद्ध हुवा उसमें अंगापर्ण बुरी तरह हार गया और वह अर्जुनके पराक्रमको देखकर प्रसन्न भी हुवा । उसने अर्जुनको " चाक्षुषी विद्या " सिखाई ।

राजसूय यज्ञमें जब वह उत्तर दिग्विजयको गया था तब भी उसने गंधर्वरक्षित देशोंकी विजय यात्रा की और गंधर्वोंको जीता । तथा चित्रसेन गंधर्वको भी जीतकर उससे गीत-वाद्य-नृत्यकला सीखली जिसका उपयोग अर्जुनने अज्ञातवासमें विराट गृहमें बृहन्नला बनते समय हुवा । अर्जुनने बृहन्नला बनकर उत्तराको वह विद्या सिखाई थी ।

जिसकी कृपासे मिला वर । उसीसे मनमें अभिचार ।
ऐसा बनूं क्या मैं भस्मासुर । कहता अर्जुन ॥ ज्ञा० २-३८ ॥

मैं द्रोण पर शर-संधान कैसे करूं ? वह मेरे अस्त्र गुरु हैं-यह कहते समय अर्जुन पूछता है क्या मैं भस्मासुर बनुं ? भस्मासुर शिव-भक्त है । वह शिवजीके भस्मसे उत्पन्न हुवा था इसलिये भस्मासुर कहलाता है । इसने तप करके शिवजीको प्रसन्न कर लिया । प्रसन्न शिवजीने वर मांगनेको कहा । तमोगुणी असुर वर मांगेगा भी क्या मांगेगा ? उसने वर मांगा " मैं जिसके सिर पर हाथ रखुं वह जलकर राख हो जाय । " शिवजीने कहा " तथास्तु । "

बस, वह जो मिले उसके सिर पर हाथ रखकर शक्ति प्रदर्शन करने लगा । एक बार नारद उसकी चपटेमें आ गये । नारद पर वह अपनी शक्ति-परीक्षण करने लगा । नारदने कहा " अरे मूर्ख ! मेरे सिर पर हाथ रखकर क्या मिलेगा ? कोई काम करते समय " इससे क्या लाभ होगा ? " यह देखकर करना चाहिये । यही बुद्धिमानीका लक्षण है । मेरे सिर पर हाथ न रखकर यदि शिवजीके सिर पर हाथ रखोगे तो शिवजी राख हो जायेंगे । तुमको कैलास पर्वतके साथ पार्वती जैसी सुंदर पत्नी मिलेगी ! "

बात भस्मासुरको जच गयी। उसने नारदको प्रणाम किया। "आपने बढिया बात बताई। और किसीने ऐसी बात नहीं बतायी थी" कहकर वह एक साथ कैलासपति और उमापति बननेकी उमंगमें शंकर पर दौड गया! नारदने भस्मासुरमें लोभ जगाया और लोभका अंधा अपनी ही जड काटने चल पडा।

शंकर पर अब संकट आया। वे विष्णुकी ओटमें गये। बिना सोचे समझे "मांगा वरदान, दिया वरदान" का परिणाम भी चखनेको मिल गया उनको। तब विष्णुने, नारदके जगाये हुए लोभके अनुरूप पार्वतीसे भी सुंदर, मोहिनीके रूपमें सामने आकर भस्मासुरको नृत्यमें उलझा कर अपने हाथसे अपनी राख बननेको बाध्य किया। इसीको उदाहरणके रूपमें रख कर अर्जुन श्रीकृष्णसे पूछ रहा है "मैं भस्मासुर जैसा पाप करूं क्या?"

देख तू जनकादिक। कर्मजात हैं अशेष।
न छोड़के मोक्ष सुख। पाये यहां॥ ज्ञा० ३-१५२॥

मिथिलेश जनकराजा कर्मयोगी, अनासक्त न करनेकासा सब कुछ कर्म करनेमें कुशल। इसलिये वह क्षत्रियोचित सब कुछ कर्म करने पर भी-फलासक्त न होनेसे-मुक्तावस्थाको प्राप्त हुवा। यह श्रीकृष्णने कहा है। जनकराजाने कर्म-द्वारा मोक्ष प्राप्तिका आदर्श विश्वके सामने रखा है।

मृत गुरु-पुत्रको दिया जीवन। तूने देखा है यह कार्य महान।
औ' मैं कर रहा कर्म स-लगन। प्रसन्न चित्तसे॥ ज्ञा० ३-६३॥

"कर्म बंधन कारक नहीं। वह अनिवार्य साधन है!" इस बातको कहते हुए अपना ही उदाहरण अर्जुनके सम्मुख रखकर यह बात कही है। कृष्ण सांदीपनीके शिष्य। बलरामके साथ श्रीकृष्ण धनुर्वेद सीखनेके लिये अवंती नगरके पास रहनेवाले आचार्य सांदीपनीके पास गये। वह शस्त्राभ्यासके साथ शास्त्राभ्यास भी किया। धनुर्विद्याके साथ वेद वेदांगोंका भी अध्ययन किया। विद्याभ्यास पूरा हुवा। स्नातक बन कर आते हुए श्रीकृष्णने गुरूसे आग्रहपूर्वक पूछा "पूज्यवर! आपको गुरुदक्षिणा क्या दूं!" आचार्य सांदीपनीका जीवन कृतार्थ जीवन था। किंतु उसमें एक व्यथा थी। उनका इकलौता पुत्र दत्त! अकस्मात समुद्रमें डूब गया था। आचार्य सांदीपनी को वही एक दुःख था। आचार्यने अपना दु.ख प्रिय शिष्यसे कहा। शिष्य भी लोकोत्तर था। गुरुकी इच्छा पूर्ण करनेकी शक्ति रखता था।

गुरुकी इच्छा सुनते ही श्रीकृष्ण बलरामको साथ लेकर गुरु पुत्रके शोधार्थ यमलोक गये। वहां प्रत्यक्ष कालसे युद्ध किया और उसको जीत कर गुरु-पुत्रको ले आये। ऐसा लोकोत्तर पराक्रम करनेके बाद भी मैं लगनसे सभी कर्म करता हूं। यह कहते हुए अर्जुनको कर्मकी प्रेरणा देते हैं।

शंभुने प्रसन्न चित्त। उपमन्युको जो आर्त।
दिया जैसे दूधभात। क्षीराब्धी ही॥ ज्ञा० ५-११॥

उपमन्यु व्याघ्रपादका ज्येष्ठपुत्र। व्याघ्रपाद वसिष्ठ गोत्रोत्पन्न एक अकिंचन ब्राह्मण। बडाभाई उपमन्यु छोटा धौम्य। माता दोनोंको आटा घोलकर दूध कहकर पिलाती थी। दोनों इसी पर प्रसन्न थे।

एक दिन खेलनेके लिये दोनों किसी दूसरे आश्रममें गये। वहां अन्य बच्चोंके साथ इनको भी गायका असली और ताजा दूध मिला। अब तक इसने असली दूध चक्खा भी नहीं था। एक बार दूध चखनेके बाद या दूधका स्वाद लेनेके बाद दूधके नामसे भला आटेका घोल वह क्यों लेने लगा। वह असली दूधके लिये माके पास हठ करने लगा। तब मांने उद्विग्न होकर कहा "तुमने पूर्वजन्ममें ऐसी ईश्वर-भक्ति कहां की थी कि तुमको इस जन्ममें असली दूध मिले।"

यह सुनकर उपमन्युने तुरंत शिवजीकी उपसना प्रारंभ की। बालककी इस आरधनाने घोर तपका रूप ले लिया और शिवजीने प्रसन्न होकर उसको क्षीरसागर ही दे डाला।

सुदामाके चिउडके हित। खोली गांठ॥ ज्ञा० ९-३९४॥

ऊपरकी दो ओंवीमें भगवान अपनी महान संपदाका वर्णन करके मुझे किसी भी बातकी कमी नहीं किंतु—

भक्तोंकी ओरसे प्रेमसे दी हुई कोई वस्तु मैं कितने आनंदसे स्वीकार करता हूँ यह कहते हुए श्री सुदामाका स्मरण कर रहे हैं। सुदामा अत्यंत दरिद्री ब्राह्मण। कृष्णका बचपनका मित्र। साथी, गुरु बंधु, आचार्य सांदीपनीके यहां विद्याभ्यास करते समय दोनों साथ थे। साथ साथ गुरुसेवा करते थे। आगे श्रीकृष्ण द्वारकामें वैभवके शिखर पर पहुंच गये और सुदामा दारिद्र्यमें पिसते रहे। कृष्णसे कुछ मांग सकते हैं, मांगना चाहिए यह बात भी कभी उसके मनमें नहीं उठी। किंतु बार बार वह पत्नीसे अपनी बचपनकी बात कहता, कृष्णका प्रेम, प्रेमपूर्ण बर्ताव स्मरता, और अपने आप गद्गद होता। यह सुनकर पत्नी उससे कृष्णसे कुछ याचना करनेको कहती। पत्नीके बार बार कहने पर आखर सुदामा तैयार हुवा। किंतु इतने सालके बाद मित्रके पास जाते समय कुछ भेंट ले जानी चाहिए और कृष्णको भेंट ले जाने जैसा घरमें कुछ है नहीं। कृष्णके पास जाते समय भेंटकी सबसे बडी समस्या हो गयी। अंतमें सुदामाकी पत्नी कहींसे थोडा चिउडा मांग लायी। उसको फटी हुई धोतीमें बांध दिया और सुदामाजी कृष्णके प्रेमका स्मरण करते करते, उनके साथ क्या क्या और कैसे बोलना चाहिए इसका विचार करते करते द्वारका आये। श्रीकृष्णने सुदामाकी बहुत आव भगत की। स्वयं उसके पैर धोये। यह सब देखकर सुदाम दंग रह गया। बेचारा सुदामा, कृष्णको अपने चिउडेकी भेंट क्या बताता? उसके पास प्रेम था। प्रेमसे वह पुरानी बातोंका ही स्मरण करके कहने लगा और उसी बचपनके आनंदमें हंसने खेलने लगा। तब कृष्णने पूछा "अरे भाई! वह सब रहने दे ! अब भामीने मेरे लिये खानेको क्या दिया है?" सुदामाका संकोच देखकर स्वयं श्रीकृष्णने ही चिउडेकी पोटली की गांठ खोल कर उसको प्रेमसे खाया। सुदामाको भी कृतार्थताका अनुभव हुवा।

कृतार्थताके अनुभवके बाद भला मांगना क्या रहा? अपना दारिद्र्य मिटानेके लिये कृष्णके पास कुछ मांगनेके विचारसे द्वारका गया हुवा सुदामा कृष्णने मेरा लाया हुवा चिउडा खाया इसी आनंदमें झूमता हुवा घर आ गया। देनेका आनंद अनुभवनेके बाद भला मांगनेका दुःख रहता कहां? किंतु सुदामा अपने घरके पास आ कर देखता है "जहां विश्व-दारिद्र्य बसा हुवा था वहां सर्व संपदाका विलास था! प्रेमसे खाये चिउडेका मंगलमय प्रसाद-प्रासाद प्राप्त हो चुका था!

पकडा मगरने गजेंद्रको। उसने स्मरण किया मुझको।
व्यर्थ किया अपनी पशुताको। पाकर मद्रूप॥ ज्ञा० ९-४४१॥

पांड्य देशका राजा इंद्रद्युम्न। जब वह तप कर रहा था तब अगस्ति ऋषि वहां आये। ध्यानस्थ इंद्रद्युम्नने अगस्तिको न देखा न प्रणाम किया। वह वैसे ही बैठा रहा। "इतना मदोन्मत्त यह कौन है?" अगस्तिके मनमें आया। वृद्ध गुरुजनोंके आनेके बाद उनको उत्थान न देकर बैठा रहनेका यह अपराध देख कर अगस्तिने कहा "तू मदोन्मत्त हाथी बन जा!" और शापवाणी सुनकर सावध हुए राजाने सामने अगस्तिको देखतेही श्रद्धा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके स्तवन किया। तब अगस्तिने कहा "हाथी बननेके बाद तुझे एक मगर पकडेगा और आदि पुरुष तेरी रक्षा करके मोक्ष देगा!"

इंद्रद्युम्न हाथी बन कर मदमें झूमता हुवा वनमें भटकने लगा। और जब पानी पीने गया तब वहीं पर पडे मगरने इस गजराजको पकडा। गजराजने उस मगरसे अपनेको छुडा लेनेका खूब प्रयास किया। किंतु व्यर्थ। आखिर गजराजने सूंडसे वहीं पर उगे एक कमलको तोड ऊपर उठाते हुए आदिपुरुषका स्मरण किया तो विष्णुने मगरको मारकर गजराजका उद्धार किया।

मेरा नरसिंहका भूषण। उसकी महिमा॥ ज्ञा० ९-४४९॥

प्रल्हादका परिचय तीसरे परिशिष्टमें आया है। यहां प्रल्हादके लिये मैं नारसिंह बन कर आया यह कहा है।

वैसे ही भयके कारण। निशिदिन कर चिंतन।
अखंड वैर धर मन। कंस चैद्यादि॥ ज्ञा० ९-९६५॥

भगवत्स्मरणका कारण कोई भी हो, किंतु उसीका स्मरण हो और वह सतत हो; इसीसे मुक्ति मिलती है। यह कहते समय ऊपरका उदाहरण दिया है। कंस कृष्णका महान शत्रु। कृष्णके भयसे वह सदैव कृष्णको कैसे मार डालें इसीका चिंतन करता था। इससे उसको सदैव सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण हो गया था। कृष्ण जन्मसे पहले ही अशरीरी वाणीसे उसको ज्ञात हो गया था कि देवकीके आठवे पुत्र कृष्णसे तुम्हारी मृत्यू होगी। इससे वह वसुदेव-देवकीको बंदीगृहमें रखकर जनमते ही वसुदेव देवकीके बच्चोंको मारने लगा। कृष्ण-जन्मके पहलेसे ही कृष्ण-चिंतन! जन्मके बाद वह बच निकला। अब बाल्यावस्थामें ही उसको मार डालनेका विचार करने लगा। जैसे जैसे कंस अपने प्रयत्नमें असफल होता गया और कृष्ण बढ़ता गया "मुझे मारनेवाला वैरी!" के रूपमें उसका चिंतन गहरा होता गया। परिणाम स्वरूप सर्वत्र उसको कृष्ण-दर्शन होने लगा। इसी स्थितिमें कृष्णने उसको मार डाला। तब भला बिना कृष्णके और कौन उसका आसरा होगा? कंस भी कृष्णरूप हो गया!

वही चेदि राजा शिशुपाल। दमघोषका पुत्र। कृष्णकी बूआका लड़का। जब इसका जन्म हुवा तब इस शिशुका रूप विचित्र था। तीन आंखें थीं। इसके माता-पिता इसको मार डालनेको तैयार हो गये थे। इतनेमें अशरीरी वाणी हुई "यह बालक आगे चलकर अत्यंत पराक्रमी होगा। जिसकी गोदमें बिठानेसे इसकी तीसरी आंख जायेगी उसीके हाथों यह मरेगा!" "आगे चलकर कृष्ण अपनी बूआका बच्चा देखने आया। कृष्णने स्वाभाविक ही बच्चेको गोदमें लिया और तीसरी आंख गायब हुई। बूआ कृष्णके सामने रोई। कृष्णने कहा "मैं इसके सौ अपराध भी सहन करूंगा!" मांने सोचा हो गया! "यह सौ अपराधसे भी अधिक क्या करेगा!" शिशुपालने कृष्णको अपना शत्रु मानकर उससे वैर करना प्रारंभ किया। कंसकी भांति उसके नाशका विचार करने

लगा। मौका बेमौका कृष्णका विरोध करने लगा। उनको भला बुरा कहने लगा। वह रुक्मिणीसे विवाह करना चाहता था किंतु कृष्णने रुक्मिणीको जीता! इससे वह अधिक ही चिढ़ गया। रुक्मिणीके स्वयंवरमें भी वह कृष्णसे लड़ने जाकर भाग गया था। किंतु आगे जब पांडवोंके राजसूय यज्ञमें कृष्णको अग्र पूजाका मान मिला तब यह भडक उठा। वहीं पर यह कृष्णको भला बुरा कहने लगा! जब जीभकी लगाम टूटी तब भला सौ अपराध भरनेमें कितनी देर लगती है। कृष्णको गालियां दे देकर थका हुवा शिशुपाल यज्ञ शालाके सभा-भवनके बाहर जाने लगा-राज-सभाका अपमान करके-तब दरवाजेमें ही कृष्णके सुदर्शनने इसका शिरच्छेदन किया!! कृष्ण विरोधकी परमावधिमें कृष्णसे मृत्यु ही कृष्णमें विलीनता है।

नारद ध्रुव अक्रूर। शुक और सनत्कुमार।
भक्तिसे मैं धनुर्धर। हुआ प्राप्त॥ ज्ञा० ९-४६॥

नारद। पहले परिशिष्टमें परिचय आया है।

ध्रुव—पिता उत्तानपाद राजा। माता सुनीति। सुनीतिको सूनृता भी कहा गया है। राजा उत्तानपाद सुनीताको नहीं चाहता था। उसकी प्रिय-पत्नी थी सुरुची। राजा उसीके साथ रहता था। उसके आधीनसा रहता था। एक बार उत्तानपाद राजा अपनी प्रिय-पत्नी सुरुचीके पुत्र उत्तमको गोदमें बिठाकर उससे प्यार करता था तब ध्रुव भी पिताकी गोदमें जा बैठ गया। तब उत्तानपादने उससे लाड़ प्यार नहीं किया और सुरुचीने तो उसको "यदि तुमको राजा की गोदमें बैठना है तो भगवानकी उपासना करके मेरी कोखसे जन्म लो!" कह कर नीचे उतार दिया।

विमाताकी कठोर बात सुनकर ध्रुव खिन्न हुवा। तब भी राजा कुछ नहीं बोला। ध्रुव रोता हुवा अपनी मांके पास आया। स्वाभाविक ही माने उसको गोदमें उठा लिया। ध्रुवसे सब बात जान कर सुनीतिको बड़ा दुःख हुवा। किंतु वह समझ नहीं पायी कि ध्रुवके दुःखका अंत कैसे किया जाय।

इसके बाद ध्रुव भगवानकी आराधना करनेके लिये पिताके राज्यसे निकल गया। इस समय भी राजा कुछ नहीं बोला। नारदको जब इस बातकी जानकारी मिली तब वह ध्रुवसे मिलने गये। नारदने ध्रुवसे बातें कीं। ध्रुवका क्षात्रतेज और स्वात्माभिमान देख कर नारद प्रभावित हो गये। उन्होंने ध्रुवके सिर पर हाथ रख कर उसको द्वादशाक्षरी मंत्र दिया और यमुना किनारे पर मधुवनमें जा साधना करनेको कहा। ध्रुव मधुवन गया और नारद उत्तानपादके पास। उत्तानपादसे नारदने कहा "तुम्हारा ध्रुव महापद पाकर तुम्हारे पास आयेगा!" ध्रुवकी भगवदाराधना प्रारंभ हुई। बाल हठ! भविष्यके अज्ञानके कारण निर्माण होनेवाला असीम धैर्य। ध्रुवने अन्न जल भी छोड़ दिया। वह एक पैर पर खड़ा हुवा। ध्रुवके तपके पुण्य-भारसे पृथ्वी कांपने लगी। उसके निग्रहसे इंद्रादि देवता अकुला उठे। देवताओंने भगवानकी प्रार्थना की और भगवान विष्णु ध्रुवके सम्मुख प्रत्यक्ष हुए। विष्णुने उसके गालको वेद-शंखका स्पर्श किया और ध्रुव वेद-वाणीसे स्तवन करने लगा। विष्णुसे इसने अचल-स्थान मांग लिया।

ध्रुव घर लौट आया। ध्रुवकी लौटनेकी बात सुनकर राजाको सच नहीं लगा। फिर उसको नारदकी बात याद आयी। तब उसको महान आनंद हुवा। उसी आनंदमें यह शुभ संवाद लानेवालेको राजाने गलेका हार उतार कर दिया और ध्रुवका स्वागत करने दौडा। सजाये हुये

राज-हाथी पर बिठा कर राजा ध्रुवको घर लाये। राजाने उसका मस्तक चूम लिया। सुरुचीने "चिरजीवी" होनेका आशीर्वाद दिया।

ध्रुव उत्तमके साथ बढने लगा। ध्रुवका विवाह हुवा। मृगयामें गये उत्तमकी एक यक्षसे लडाई हुई और उत्तम मारा गया। यह सुनकर ध्रुवने यक्षनगरी अलकावती पर आक्रमण कर दिया। ध्रुवने वहां यक्षोंके गुह्यक-कुलका संहार करना प्रारंभ किया। तब उसके पितामहने ध्रुवका समाधान करके यक्ष-कुलको बचा लिया। आगे अनेक वर्ष राज्य करके अपना राज्य पुत्रोंको दे ध्रुव स्वर्ग गया!

(१) अक्रूर—सात्वत वंशका यादव। श्वफल्क राजाका पुत्र। माताका नाम गांदिनी। इस पर जैसे कंसका विश्वास था वैसे बलराम और कृष्णका भी था। इसीलिये कंसने कृष्णको मथुरामें बुलानेके लिये इसको भेज दिया था। आगे धृतराष्ट्र पांडवोंसे कैसे व्यवहार करते हैं इसकी जानकारी लाने के लिये कृष्णने इसीको हस्तिनापुर भेजा था। यह कृष्णका विश्वासी अनुचर था।

(२) शुक—व्यासका पुत्र। महान बालयोगी। स्वयं महादेवने इसका उपनयन किया। बृहस्पतिने इसको वेद सिखाये। व्यासने इतिहास, राजनीति आदि सिखाया। इसने परीक्षितिको भागवत कहा। युधिष्ठिरकी मय सभामें भी यह गया था। अंतमें इसने कैलासमें जाकर शरीर त्याग किया।

सनत्कुमार—इसने नारदको उपदेश दिया। इसने अनेक लोगोंको उपदेश दिया है। आज भी इसके नाम पर वास्तुशास्त्र, सनत्कुमार संहिता, सनत्कुमार कल्प, सनत्कुमार तंत्र आदि ग्रंथ मिलते हैं।

आशीर्वादसे जिनके। बने आयुष्य अग्निके।
दिया सिंधुन उनके। प्रेमसे नीर॥ ज्ञा० ९–४७८॥

श्वतकी राजाने सतत बारह वर्ष तक यज्ञ किया। उसमें जो सतत घीकी आहुतियां पडी उससे अग्निका पेट खराब हो गया। उसे अजीर्ण होकर जाड्य आया। तब वह उपाय पूछनेके लिये ब्रह्मदेवके पास गया। ब्रह्मदेवने अग्निको "अनेक औषधियुक्त खांडव वनको भक्षण कर!" ऐसा उपाय बताया। तब अग्निने ब्राह्मण वेषमें कृष्णार्जुनके पास जा कर खांडव वनका दान मांग लिया। खांडव वनको भक्षण करनेसे अग्निका जाड्य गया और उसका आयुष्य बढा।

दिया सिंधुने उनके। प्रेमसे नीर॥

वडवाग्नि समुद्रमें रह कर उसका पाणी सोखता जाता है। समुद्र उसको नित नया जल देकर स्वयं सीमामें रहता है।

अब तक वह पद्मुद्रा। हृदय पे धरी है सुभद्र।
अपने ऐश्वर्य समुद्र। रक्षा हेतु॥ ज्ञा० ९–४८०॥

भृगु अनेक हैं। सबसे प्रथम भृगुने ही अग्निका शोध किया। ऋग्वेदमें है "अग्नि सबसे पहले भृगुको मिला!"

भृगु ब्रह्माका मानस-पुत्रोंमें एक। भृगुकुल ऋषियोंमें उच्चकुल माना जाता है। तप-सामर्थ्यमें संपन्न। एक बार भृगु-ऋषिके मनमें आया देखें ब्रह्मा विष्णु महेशमें कौन बडा है। ब्रह्मा और

महेशको इसकी उद्दंडताका क्रोध आया किंतु विष्णुकी छाती पर लात मारने पर भी विष्णुको क्रोध नहीं आया। इतना ही नहीं विष्णु यह कहते हुए " मेरा हृदय वज्रके समान कठोर। आपके चरण कमलके समान कोमल। कहीं आपके पैरमें चाटे तो नहीं आयी ? " भृगु-ऋषिके पैर दबाने लगे।

विष्णुके वनमाला, कौस्तुभ आदि आभूषणोंमें " भृगु-लांछन " भी एक भूषण है। विष्णु सदैव अपनी छाती पर भृगुके लातका चिन्ह सम्हालता रहता है ऐसी मान्यता है।

शीतलताकी अपेक्षा कर। महादेवने मस्तक पर।
धारण किया जो निरंतर। अर्धचंद्र ॥ ज्ञा० ९-४८६ ॥

समुद्र मंथनमेंसे चौदह रत्न निकले। उसीमें हालाहल विष भी निकला। वह विश्वको जलाने लगा। विश्व-संहारक इस विषको, जो विश्वको जलाते हुए फैल रहा है उसको रोके कौन ? तब सदाशिव आगे आये। उनका नामही सदाशिव ! विश्वकल्याणके इस महत्कार्यको वे कैसे ना कह सकते हैं ? वे इस विषको पी गये। इससे शरीरमें जलन होने लगी। वे नीलकंठ हो गये। तब शीतलताके उपायमें उन्होंने सिरपर अर्धचंद्रको धारण किया !

क्षयरोगी होता चंद्र जिस लोकका ज्ञा० ९-५०१ ॥

गुरु-पत्नी ताराका हरण किया इसलिये चंद्रको बृहस्पतिने क्षयी होनेका शाप दिया ऐसी पौराणिक कथा है।

किसीके दंडसे विश्व स्थिर कराया। किसीसे नव विश्व ही है रचाया।
सिंधुमें पाषाण तैराके उतराया। सैन्य तुमने ॥ ज्ञा० १०-३६ ॥

(१) वसिष्ठ और विश्वामित्रकी प्रतिस्पर्धाकी कहानियोंसे पुराण भरे पडे हैं। एक बार ब्रह्मदेवके सभामें यह प्रश्न उठा कि विश्वामित्रको ब्रह्मऋषि कहें या नहीं। इसके लिये साक्षी देनेके लिये समुद्र, सूर्य और मेरु पर्वतको ब्रह्म-सभामें जाना पडा। विश्वामित्र इन तीनोंको बुला लानेके लिये निकला। समुद्रने कहा यदि मैं ब्रह्मदेवकी सभामें आया तो वडवानल पृथ्वीको खा डालेगा। उसको पानी कौन देगा। तू वडवानलको पानी दे मैं ब्रह्म-सभामें चलूं ! सूर्यने कहा " विश्वको प्रकाश देनेकी व्यवस्था कर मैं चला ! " मेरुने कहा " अरे ! मैं उठा तो पृथ्वी हवामें उड जायेगी उसकी क्या व्यवस्था करोगे ? " विश्वामित्रके पास भला इसकी क्या व्यवस्था थी ? अब वसिष्ठकी बारी आयी। वसिष्ठने अपने अंगवस्त्रसे सूर्यका काम लिया; दंडसे मेरुका काम लिया; और कमंडलूके उदक प्रवाहसे समुद्रका। तीनो ब्रह्म-सभामें आये।

(२) त्रिशंकु राजाको सशरीर स्वर्ग जाना था। विश्वामित्रने अपने यज्ञबलसे उसको स-शरीर स्वर्ग चढाया। किंतु इंद्र उसको ऊपर लेता ही नहीं। त्रिशंकु बीचमें ही लटक गया। तब विश्वामित्रने अपने तपोबलसे वहीं नयी सृष्टि रचना की। तब इंद्रने विश्वामित्रको समझा बुझाकर उसको इस कामसे विरत किया।

(३) रामको लंकापर आक्रमण करनेके लिये समुद्र पर सेतु बांधना आवश्यक था। नल रामका स्थापत्य शास्त्री। तब नलने समुद्रमें जो पत्थर डाले वे डूबने लगे। सेतु तैयार कैसे होगा ? किंतु राम नाम लेकर जो पत्थर जलमें डाले वे तैरते रहे। इससे सेतु तैयार हुवा और वानर सेना लंकामें उतरी।

किसीसे आकाशमें सूर्यको पकडवाया।
किसीसे सागरका आचमन करवाया ॥ ज्ञा० १०-२७ ॥

(१) मारुतिका जन्म हुवा। जन्मते ही भूख लगी। आकाशमें लाल लाल सूर्यबिंब देखा। अच्छा फल मानकर मारुति उछल कर आस्मानमें पहुंचे। अब मारुति सूर्यको पकडकर निकल जायेंगे इतनेमें इंद्रने उस पर अपना वज्र फेंका। तब मारुति बेसुध होकर नीचे पडे। किंतु इंद्रादि देवोने सब मारुतिके पिता वायुदेवके क्रोधसे मारुतिकी स्तुति की और उसको सुधमें लाये। तब इंद्रने "इसके बाद तुम पर वज्रका कोई प्रभाव नहीं होगा!" ऐसा वर दिया और मारुति वज्रदेही बने। किंतु वज्र प्रहारसे मारुतिकी ठुड्डी टूटी इसलिये उसको हनुमान कहते हैं।

(२) इंद्रने वृत्रासुरको जब मारा तब वृत्रासुरके सभी अनुयायी भयसे कातर होकर समुद्रमें छिपे रहने लगे और रातके समय आकर ऋषियोंके यज्ञ ध्वंस करने लगे। उनको सताने लगे। इससे भीतिग्रस्त ऋषि अगस्तिके पास आये और अगस्ति इस भयानक परिस्थितिका विचार करके सारा समुद्रही पी गये। साथ साथ सारे राक्षस भी अगस्तिके उदरस्थ हो गये तब अगस्तिने पिया हुवा समुद्र छोड़ दिया।

प्राणों सह चूस लिये मैंने स्तन। पूतनाके ॥ ज्ञा० १०-२८८ ॥

कृष्ण नंद और यशोदाके पुत्रके रूपमें बढ़ रहा था और मथुरामें कंस उसको मार डालनेके षडयंत्र रचनेमें व्यस्त था। कंसने कृष्णको मारनेके लिये पूतनाकी योजना की। पूतना कंसकी बहन। कृष्णकी मौसी। पूतना सज धजकर अपने स्तनमें घोर विष लगाकर गोकुळ गयी। इसने गोकुलके कई दूधमुहे बच्चोंको मार डाला। यह जैसे और घर गयी वैसे ही नंदके घर गयी। इसने प्रेमसे कृष्णको गोदमें लिया। कृष्णने भी सामान्य बच्चोंकी भांति इसके स्तन पकडे। इसने उसके मुखमें स्तन दिया और कृष्णने पूरी शक्तिके साथ स्तन चूसना प्रारंभ किया। पूतना तड़पने लगी किंतु कृष्ण स्तन छोडता ही नहीं, मुह हटानेकी बात ही नहीं करता। कृष्णने उसके प्राण भी सोक लिये। वह तडप तडप कर मर गयी।

गिरिधर बन कूता आर्य। इंद्रकी महिमा ॥ ज्ञा० १०-२८९ ॥

छोटीसी आयूमे कृष्णने कई दैत्योंको मारा। इतना ही नहीं इंद्रका गर्व भंग भी किया। गोप सब मिलकर प्रत्येक वर्ष नया अन्न धान्य आते ही इंद्रके लिये अन्नकोटका इंद्रोत्सव करते थे। कृष्णने यह पद्धति बंद करायी और गोकुलका संरक्षक गोवर्धनगिरिका उत्सव किया। इससे क्रुद्ध इंद्रने गोकुल पर सतत जलवृष्टि की और जल-प्रलयकी विपत्ति आयी। तब कृष्णने अपने हाथसे गोवर्धन गिरिका छातासा आसरा बना कर सारे गोकुलकी रक्षा की।

मिटाया कलिंदीका हृदय शूल। बचालिया ज्वालाग्रस्त गोकुल।
बनाया मैंने ब्रह्माको पागल। बछडे बनाके ॥ ज्ञा० १०-२९० ॥

(१) कालिंदीके एक बडे कुंडमें कद्रु कुलका कालिया नाग आ बसा था। वह इतना विषधर था कि उसके विषसे कालिंदीका पानी ही नहीं इर्दगिर्दकी हवा भी जाहरीली बन गयी थी। इससे गाय और गोपालोंकी बडी क्षति हो रही थी। इसलिये कभी कोई उस ओर जाता ही नहीं था। भूलसे एक बार कई गोपाल अपनी गायें लेकर उस ओर गये और उस विषके प्रभावसे गायोंके साथ वहीं मर गये। इसका कारण जान कर तब कृष्ण कालिंदिके उस कुंडमें कूदे और

कालियासे लड कर उसको अधमरा कर दिया । कृष्ण उसको मारनेवाले ही थे किंतु उसीकी प्रार्थनासे उसको वहांसे उसके मूल स्थान भगा दिया और गायों तथा गोपालोंको बचा लिया ।

(२) ब्रह्मदेवके मनमें एकबार आया कि कृष्णकी सामर्थ्यकी परीक्षा देखनी चाहिए । उन्होंने सैकडो गाय और गोपालोंको कहीं छिपा दिया और यहां कृष्णने ऐसे ही सैकडो गाय और गोपालोंकी नयी सृष्टि की । एक वर्ष बीता । किसीको कुछ पता नहीं चला । तब ब्रह्मदेवने ही हार मानकर गाय और गोपाल लौटा दिये ।

नहीं तो विचार कर देख अर्जुन । सन्यासी हो चुराई तूने बहन ।
किंतु विकल्प न हुवा मेरा मन । क्यों कि हम एक हैं ॥ ज्ञा० १०-२९४ ॥

कृष्ण कृष्णार्जुन-प्रेमकी एकता समझा रहे हैं । कृष्ण-बलरामकी बहन सुभद्रा, जब वह विवाह-योग्य हो गयी तब बलरामने अपना शिष्य दुर्योधनसे उसका विवाह करना सोचा । किंतु कृष्णके मनमें था अर्जुनसे उसका विवाह कर देना । अर्जुन तीर्थ-यात्रा करने गया था । वह तीर्थ-यात्रासे द्वारका आया । तब कृष्णने उसको संन्यासीके रूपमें बलरामका प्रेम प्राप्त करनेको कहा । यह संन्यासी " अत्यंत विरक्त और तपोनिष्ठ होनेसे " बलरामने इसे अपने घर पर ला रखा । सुभद्राको उसकी सेवा करनेको कहा । ऐसी स्थितिमें एक बार सबने रैवतक पर्वत पर जानेका निश्चय कर सुभद्राको अर्जुनके रथ पर चढ़ाया । अर्जुनने कृष्णकी सूचना पाते ही रथ इंद्रप्रस्थकी ओर दौड़ाया । उसका पीछा करनेवाले सब हार गये । आगे सबको जब मालूम हो गया संन्यासी अर्जुन है तो सबको संतोष हुवा ।

उन प्रिय जनोंको भी छकाया । दस गर्भवास भी सहन किया ।
तूने विश्व-रूप नहीं दिखाया । किसीको भी ॥ ज्ञा० ११-३५ ॥

अंबरीष सूर्यवंशी राजा । वैवस्वत मनूका पोता । अत्यंत पराक्रमी और महान विष्णु-भक्त । एकादशी इसका व्रत था । एकादशीका उपवास करना और द्वादशीको प्रातःकालमें उपवास छोड़ना । उपवास छोडते समय एक द्वादशीको अतिथिके रूपमें दुर्वास ऋषि आये । " आप नदी पर जाकर नित्य-कर्म करके भोजन करने आइए ! " अंबरीषने प्राथमिक सत्कारके बाद प्रार्थना की दुर्वासा ऋषि नदी पर गये । किंतु समय पर नहीं आये । यहां द्वादशी अतिक्रांत हो रही थी । अर्थात् द्वादशी समाप्त हो त्रयोदशीका प्रारंभ होने जा रहा था । व्रतभंग न हो इसलिये अंबरीषने नैवेद्य करके देवपूजा समाप्त की और तीर्थ प्राशन करके व्रत-सांगता की । इस पर दुर्वास ऋषि क्रुद्ध हुए । उन्होंने अंबरीषके वधके लिये कृत्याका निर्माण किया और शाप दिया " तू अनेक योनियोंमें जन्म लेगा ! " कृत्या अब राजाका नाश करेगी इतनेमें भगवानके सुदर्शन चक्रने कृत्याका नाश किया और वह दुर्वासाके पीछे लगा । सुदर्शनसे बचनेके लिये दुर्वासा भागे । आगे आगे दुर्वासा पीछे पीछे सुदर्शन । कोई भी सुदर्शनसे दुर्वासाकी रक्षा नहीं कर सका । अंतमें दुर्वासा ऋषि भगवान विष्णुकी शरण गये । विष्णुने ऋषिसे कहा " आप राजाके पास जाकर उनसे क्षमा मांग लीजिये । अब तक वह आपके लिये उपवासी है ! " दुर्वासा ऋषि अंबरीषके यहां आया तो राजा ऋषिकी प्रतीक्षामें वैसे ही खडा था जैसे दुर्वासाके वहांसे भागते समय खडा था ! राजाने दुर्वासाका स्वागत किया । दुर्वासाने राजाकी क्षमा मांगी । राजाने सुदर्शनसे प्रार्थना की " आप दुर्वासा ऋषिका पीछा छोडे ! " सुदर्शनने दुर्वासाको छोडा ।

अंबरीष राजाको दुर्वासा ऋषिका पंक्तिलाभ मिला। किंतु अनेक योनिमें जन्म लेनेका दुर्वासा ऋषिका शाप? जिसके व्रतसे राजा व्रतस्थ था उस विष्णुने ले लिया और मत्स्य, कूर्म वराहादि हुए! भक्तके लिये दस गर्भवास सहे!"

"पहले होना था जब हमारा दहन"॥ ज्ञा० ११-६०॥

जब कौरव और पांडव बडे हो गये तब घरमें नित नया झगडा होता था। एक दूसरेसे जलते कुढते रहते। धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरको जो युवराज-पद दिया था वह दुर्योधनको खटका। तब दूरदर्शी धृतराष्ट्रने पांडवोंको कौरवोंसे दूर रखनेका निश्चय किया और उन्हें हस्तिनापुरसे दूर, वारणावत नगरमें जाकर रहनेकी आज्ञा दी। पांडव वारणावतमें रहने गये। वारणावत नगरमें पांडवोंके लिये जो भवन बनवाया था वह दुर्योधनने अत्यंत कपटसे लाक्षादि ज्वालाग्राही वस्तुओंसे बनवाया था। विदुरके ध्यानमें यह बात आयी। विदुरने बर्बर भाषामें युधिष्ठिरको यह सब बात बता कर वहांसे सुखरूप बाहर पडनेका गुप्त मार्ग भी बता दिया। घर बांधते समय ही विदुरने गुप्त रूपसे इसको बनवा किया था।

जब पांडव लाक्षागृहमें रहते थे तब वहां नित बडा दान धर्म चलता था। जो आता उसको भोजन मिलता। एक वृद्ध स्त्री एक दिन अपने पांच लडकोंको लेकर वहां आयी। रातको वह वहीं रही। विदुरसे उसी दिन सूचना आई "घरमें स्वयं आग लगा कर तुरंत घर छोड कर गुप्त-मार्गसे चले जाओ!" विदुरसे सूचना आते ही घरमें आग लगा कर पांडव गुप्तमार्गसे बाहर चले गये। आई हुई वृद्ध स्त्री अपने लडकोंके साथ जलकर वहीं मर गयी। उन छ लोगोंके जले हुए शव देख कर कौरवोंको लगा कि कुंती सह पांडव जल मरे। अर्जुन कहता है तब तूने ही बचा लिया।

हिरण्यासुर दुराग्रहमें भरकर। मेरी बुद्धि-भूको बगलमें दबाकर।
मोहार्णव सिंधुके गवाक्षसे अंदर। जा बैठा था॥ ज्ञा० ११-६१॥

हिरण्याक्ष नामका राक्षस कभी पृथ्वीको बगलमें दबा कर पातालमें जा छिप गया था। तब भगवान विष्णुने वराह-रूप धारण करके उसका वध किया और पृथ्वीकी स्थापना की। इस कथाकी उपमा लेकर अर्जुन अपने बुद्धि-भ्रमका वर्णन कर कहता है।

पुत्रको पुकारता अजामिल। किया चिद्रूप॥ ज्ञा० ११-१०४॥

कान्यकुब्ज देशमें अजामिल नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह माता पिता पत्नी आदिका त्याग करके एक वेश्याके साथ रहता था। उससे वेश्याके कुछ बच्चे भी हुए थे। इनमें सबसे छोटे बच्चेका नाम नारायण रखा गया। मृत्युके समय पर यह नारायणको पुकारने लगा, जिससे विष्णुदूतोंने यमदूतोंको उस पर मृत्युपाश डालनेसे रोका। अजामिलने विष्णुदूत और यमदूतोंका यह संवाद सुना और विरक्त होकर उसने भगवन्नाम-स्मरणमें ही अपना आयुष्य बिताया। मरणोत्तर उसको परम गति मिली।

अब तक शत्रुका ही कलेवर। भूषण बना करमें॥ ज्ञा० ११-१०५॥

कृष्णने सांदीपनी गुरुका मृतपुत्र ला दिया। उस समयकी एक घटना। पंचजन दैत्य शंखरूप धारण करके समुद्रमें छिप गया था। इससे लडकर कृष्णने इसका नाश किया और इसकी अस्थियोंका शंख बनाकर हाथमें रखा। इसीलिये कृष्णके शंखको पांचजन्य कहते हैं।

द्वारपाल बना तू दान मांगकर। बलिके घरका ॥ ज्ञा० ११-१०६ ॥

प्रल्हाद्का पोता बलि। अत्यंत बलवान्। वैसे ही उदार और धर्मात्मा। देवोंसे उसका बार बार युद्ध होता और संजीवनीके कारण वह और उसके सैनिक जी उठते। उसने इंद्र-पदकी इच्छा करके सौ यज्ञ करनेका निश्चय किया और नवानवे यज्ञ पूरे किये। घबडाये हुए देवोंने तब भगवान विष्णुकी प्रार्थना की और भगवान वामन बने। वामनने यज्ञमें आकर त्रिपाद भूमि दान में मांगी। बार बार गुरु शुक्रयार्यके विरोध करने पर भी बलिने वह दे दी। दानका पानी पडते ही वामन विराट हुए। उसने दो पादोंमें पृथ्वी और आकाश व्याप लिया। "अब तीसरा पैर कहां रखूं?" विराट वामनने प्रश्न किया। "मेरे मस्तक पर!" नत मस्तक बलि झुक गया!! तीसरे पावसे वामनने बलिको पातालमें दबा दिया। किंतु प्रसन्न होकर वर दिया "वैवस्वत मन्वंतर तक तू उपेंद्र और उसके बाद इंद्र बनेगा।" "तब तक मैं तेरा द्वारपाल बनूंगा। सुदर्शन तेरी रक्षा करेगा!"

कृतयुगसे पहले कार्तिक शुद्ध प्रतिपदाको यह दान दिया गया था। इसलिये उस दिनको बलिप्रतिपदा कहते हैं। इस भांति द्वारपाल बना तू दानमांगकर बलिके घरका।

या मधुवनमें ध्रुवको जैसे। गंडस्थलको शंख लगानेसे।
वेदमति कुंठित हो ऐसे। स्तवन किया उसने ॥ ज्ञा० ११-१८४ ॥

ध्रुवकी तपस्यासे प्रसन्न परमात्मा ध्रुवको दर्शन देने मधुवनमें दौड़ आया। ध्रुवने परमात्माका दर्शन किया। उसका स्तवन करना चाहा किंतु अज्ञान! शब्द नहीं सूझता। तब भगवानने ध्रुवके कपोलोंको अपना शंख लगाया और ध्रुव वेदकी तुलनामें परमात्माका स्तवन करने लगा।

आब्रह्म उदकसे जैसे व्याप्त था। अकेला मार्कंडेय ही तैरता था।
विश्व-रूप विस्मयमें वैसे पार्थ। लगा लौटने ॥ ज्ञा० ११-१८७ ॥

मार्कंडेय ब्रह्मऋषि। अत्यंत तपस्वी, महान ज्ञानी, वैसा ही विरक्त। इसने परमात्माकी माया देखनेकी इच्छा की। भगवानने कहा "अच्छा!" जहां बैठा था वहांसे भयानक बवंडर छूटा। सारा विश्व जलमय हो गया। मार्कंडये अकेला तैर रहा था तब उस जल-प्रलयमें एक वटपत्र पर छोटासा बालक तैर रहा है। उस बालकके श्वाससे मार्कंडेय ऋषि उस बालकके पेटमें पहुँच गये। वहां भी बाहरकी सृष्टिकी भांति और एक सुंदर सृष्टि थी वहां मार्कंडेय ऋषिका आश्रम था। वहां भी एक मार्कंडेय ऋषि बैठा था। बालकके श्वासके साथ बाहर आये। तब उसने देखा मैं आश्रममें बैठा हूं। न बवंडर न जल-प्रलय!! तब उसने सोचा जो जाना, देखा, वह सब माया है। क्षणिक है।

तूने जब गो ग्रहणके समय। मोहनास्त्र छोड़ा तब धनंजय।
भीरु उत्तरने भी होके निर्भय। विवस्त्र किया सबको ॥ ज्ञा० ११-४६९ ॥

कीचकवध होनेसे दुर्योधनको संदेह हुवा कि हो न हो पांडव विराट नगरमें ही हैं। तब उसने सोचा कि अज्ञातवासमें पांडवोंको पहचान कर उनको फिर वनवासमें भेजना चाहिए और दुर्योधनने विराटके यहांका गोधन हरण करनेकी योजना बनायी। कर्णादिको साथ लेकर दुर्योधन विराटराजाकी गायें ले चला। इस समय विराटराजा त्रिगर्तोंके राजा सुशर्मासे लड़ने गया था। समय देख कर ही दुर्योधनने घात किया था। जिस समय यह हमला हुवा उसी समय उत्तर-कुमार अपनी बहन उत्तराकी नृत्यशालामें था। उसने कहा "यदि मेरे साथ कोई अच्छा सारथी होता तो

मैंने शत्रुओंकी दुर्गत की होती!" और बृहन्नडा-अर्जुन-सारथ्य करने तैयार हो गयी। तब निरुपाय हो कर उत्तरकुमार लडाईके लिये चल पडा। किंतु प्रत्यक्षमें शत्रुओंकी बडी भारी सेना देख कर कांपता हुवा पीछे दौडने लगा। अर्जुन तब उसको रथमें बांध कर स्वयें लडने लगा। सबको अर्जुनने मोहनास्त्रसे बेसुध कर दिया और उत्तर कुमारसे उन बडे बडे सेनानियोंके वस्त्राभरणादि विजय वैभव चिन्होंको लुटवाकर उसके सिरपर मुफ्तका विजय और कर्तृत्वका सेहरा बांध दिया।

इस प्रज्ञासे शंकर। सिकुडकर सभी ओर
करता राख घूस-खोर। मन्मथकी भी॥ ज्ञा० १३-२५॥

भगवान शंकर अपना कैलासका राज्य छोड़कर स्मशानमें जा तप करने लगा। तब उस तपका भी भंग करनेवाला मन्मथ-काम! शंकरने अपने तृतीय नेत्रसे उसका नाश किया। ब्रह्मदेवके हृदयसे कामकी उत्पत्ती है। रति उसकी पत्नी। सबके तपो भंगमें यह आगे।

कहते जिसे योगी-जन। सांख्य-योग अर्जुन।
जिसको कहनेमें मान। हुवा मैं कपिल॥ ज्ञा० १३-९५७॥

कर्दम ऋषि एक प्रजापति। मनु-कन्या देवहूति इसकी पत्नी। इनका पुत्र कपिल, विष्णूका अवतार माना जाता है। कपिलका जन्म सिद्धपुरमें हुवा। कपिलका जीवन-वृत्त तीसरे परिशिष्टमें आया है। कपिल सांख्यशास्त्रका आदि आचार्य माना जाता है। कपिल माताको ब्रह्मज्ञान देकर पातालमें जा बसा।

या एक ही दृष्टि काग दोनों ओर। फिराता चातुर्यसे स अवसर।
जिससे होता है भ्रम धनुर्धर। कागकी हैं दो आंखें॥ ज्ञा० १५-१३५॥

अपने वनवासके दिनोंमें राम लक्ष्मण सीता किसी एक आश्रममें रहते थे। सीता वहीं सूखनेवाले अपने खाद्य-पदार्थोंकी रखवाली करते बैठी थी। तब वहां एक कौवा आ कर सीताको बड़ा तंग करने लगा। उनके हकालने पर भी नहीं जाता था। रामने तब क्रोधसे इषीकास्त्रके मंत्रसे वहीं पर पडा एक तिनका कौवे पर फेंका और वह तिनका उस कौवेके पीछे वैसे ही पड़ गया जैसे दुर्वासा ऋषीके पीछें सुदर्शन पड़ा था। फिर बेचारा हताश कौवा, रामकी शरणमें आकर अपने प्राणोंकी भीख मांगने लगा। रामको दया आ गयी। रामने कहा "यह अस्त्र व्यर्थ नहीं जाता। इसलिये यह तुम्हारी एक आंख फोडेगा।" रामकी आज्ञासे उस तिनकेने कौवेकी एक आंख फोड कर कौवेको प्राणदान दिया। तबसे कौवा एकाक्ष कहलाता है और उसकी दृष्टि दोनों आंखोंमें काम करती है!

वह अज्ञान जब ज्ञानमें डूबता। तथा वह ज्ञान जो कीर्तिमुख होता॥ ज्ञा० १५-५२७॥

दक्षिणमें प्रायः प्रत्येक मंदिरके गर्भ-गृहके दरवाजेमें, ठीक देहरीके ऊपर, बीचोबीच सिंहकी-सी एक कराल मुखाकृति रहती है। उसको कीर्ति-मुख कहते हैं। कीर्तिमुखके विषयमें स्कंद पुराणके सिवकांडके सत्रहवे अध्यायमें निम्न कथा है।

शंकरकी तीसरी आंखकी अग्निसे जालंदर नामका एक राक्षस उत्पन्न हुवा। यह बडा शास्त्रवेत्ता था। "बिना शंकर भगवानके और किसीसे उसकी मृत्यू नहीं होगी तथा जहांसे आया

था वहीं विलीन होगा " ऐसा वर भी उसको मिला था। शुक्राचार्य इसका गुरु। उससे संजीवनी विद्या भी यह पा चुका था। परिणाम स्वरूप सारे ब्रह्मांड पर उसकी सत्ता हो गयी।

सर्व सत्ताधीश जालंधर। जहां जो कुछ अच्छा हो वह सब उसके भोगका साधन होना चाहिए। उसने पार्वतीके सौंदर्यकी कथा सुनी। उसके मनमें आया "ऐसा स्त्री-रत्न मेरे पास होना चाहिए।" बस तुरंत उसने भगवान शंकरको आज्ञा दी "पार्वतीको तुरंत हमारे पास पहुंचा दो!" जालंदरकी यह आज्ञा राहू वहां ले गया था।

राहूसे जालंदरका संदेशा-उद्दंडता भरी आज्ञा-सुनते ही भगवान शंकर क्रुद्ध हुए। उनकी तीसरी नेत्रसे सिंहमुखका एक विकराल पुरुष निर्माण हुवा। राहू उससे पराजित होकर भागता भागता जालंदरके पास आया। जालंदर भी अपनी दैत्य-सेना लेकर युद्ध करने गया। वह कराल पुरुष जालंदरादि राक्षसोंको निगल गया। किंतु उसकी भूख नहीं मिटी। शंकरने उस पुरुषका भी शिरच्छेद किया और उस मुखको अपनाही शरीर खानेकी आज्ञा दी। मुखने शरीर खाया और जो मुख रहा वह कीर्ति-मुख कहलाया। प्रत्येक शिवालयमें यह कीर्तिमुख रहता है। इसका दर्शन करनेके बाद शिव-दर्शन। यह शिवाज्ञा है।

जैसे कीर्तिमुखने प्रथम सभी राक्षसोंको खाकर अपना शरीर भी खाया वैसे ज्ञान अज्ञानको निगलकर स्वयं नष्ट होता है यह इस छंदमें कहा गया है।

मुझ चैतन्य शंभुका माथा। जो गीता तत्व था वह पार्था।
उसका गौतम बन आस्था। निधि तू आया॥ ज्ञा० १५–५७९॥

नासिक जिलामें ब्रह्मगिरीके पास गौतम ऋषिका एक आश्रम है। उस आश्रममें गौतम ऋषिके कई शिष्य भी रहते थे। गौतमके उन शिष्योंमें गणपति भी घुस गया! गौतमके शिष्योंमें ऐसे घुस जानेका गणपतिका भी एक प्रयोजन था।

सदैव शंकरके सिरपर गंगा! पार्वतीको यह अच्छा नहीं लगता था। पार्वती गंगाको शिवके सिरपरसे नीचे उतारना चाहती थी। इसलिये पार्वतीने गणपतिको यह काम दिया था।

गणपतिने जया नामकी एक स्वर्गीय स्त्रीकी सहायता ली। जया गाय बनी। गाय खेत चरने लगी। कोई गाय ऋषिका अन्न खाती है यह देखकर गौतमने एक दर्भ उस गाय पर फेंक दिया। दर्भ लग गाय मर गयी। हां हां कहते गोहत्या हो गयी!

"गोहत्याका पातक अब कैसे मिटेगा!" गौतम सोचने लगा। गणपति सलाह देने आये। "शिवसे गंगा मांग लीजिये! गंगा आयी कि गंगा स्नान कीजिये!"

गोहत्याके पाप-क्षालनके लिये गंगावतरण आवश्यक था। गौतम ब्रह्मगिरि पर तपस्या करने लगे। शिवजी प्रसन्न हुए। जटाकी गंगा मुक्त हुई। गंगाद्वारसे, शिव-जटासे-मुक्त हो कर वह कुशावर्तमें गिरती हुई आज भी दिखायी जाती है।

जैसे रंभाके भी अनेक रूप। न जगा सके शुकमें कंदर्प।
या राखमें न होती उद्दीप। घृतसे भी आग॥ ज्ञा० १६–१२८॥

व्यास पुत्र शुक। जन्मता महा-ज्ञानी, विरक्त। उसका तपोभंग करनेकेलिये इंद्रने रंभाको भेजा था किंतु शुकके तपाचरण पर रंभाका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा।

त्रिगुण-पुरमें जो घिरा गया। जीवत्व-दुर्गमें अटका गया।
आत्मा-शंभुने वह छुडा लिया। तेरे स्मरणसे ॥ ज्ञा० १७–२ ॥

मयासुर शिल्पका आचार्य। ब्रह्माके वरसे इसने अजेय ऐसे तीन नगर बसा लिये। लोह-नगर, रजत-नगर, स्वर्ण-नगर। एकके ऊपर एक। एकके अंदर एक। इसको त्रिपुर कहा करते थे। मयासुरके बाद उसके अनुयायियोंने इस अभेद्य नगरकी सहायतासे देवोंको खूब सताना प्रारंभ किया। सभी देव तब शंकर भगवानके पास गये। शंकर भगवानकी प्रार्थना की। सब देवोंको साथ लेकर शंकर भगवान त्रिपुर पर चढ़ाई कर गये। किंतु जाते समय सर्वप्रथम गणपति पूजन नहीं किया था। इससे त्रिपुर-विजय नहीं हुवा। वहां घिर गये। तब, सबने वहां गणपति पूजन कर युद्धारंभ किया और शंकर भगवान त्रिपुरोंका संहार कर सके।

ज्ञानेश्वर महाराजने गणपतिरूप गुरुवंदन करते समय यह कथा सुनाई है।

प्रथम आया वैराग्यका गरल। उसको दिया धैर्य-शंभुने गला।
तभी होता ज्ञानामृतका निर्मल। महदानंद ॥ ज्ञा० १८–७८९ ॥

समुद्र-मंथनमें प्रथम हालाहल विष आया वैसे ही जीवन-मंथनमें प्रथम वैराग्य आता है। वहां इस हालाहलको शंकरने गलेमें धारण कर लिया। यहां पर धैर्य ही वह शंकर है। धैर्यसे वैराग्यके झटके सहने पड़ते हैं। इसके बाद जैसे वह अमृत कुंभ निकला वैसे यहां निर्मल ज्ञानामृतका महान आनंद मिलता है। जीवनकी आध्यात्मिक साधनाको दर्शाते समय पौराणिक कथाकी उपमा दी है।

जैसे है छटीकी रात। नहीं भूलते हैं ज्योत।
वैसे ईश्वरकी बात। चितमें रखना ॥ ज्ञा० १८–८३७ ॥

बच्चा पैदा होनेपर छटी रातको छटीकी पूजा करते हैं। विघ्नेशस्य जन्मदानां जीवन्त्यपर-नाम्न्याः षष्ठीदेव्याः शस्त्रगर्भाभगवत्याश्च पूजनं करिष्ये। यह पूजाका संकल्प होता है। इसके बाद पटलेपर चावल, उसपे चार पूगीफल-सुपारी-रखकर जीवंति, षष्ठी, शस्त्रगर्भा भगवती ऐसी तीन देवियोंकी प्रतिष्ठा करते हैं। एक हंसिया रेशमी कपडेमें लपटेकर सूपमें रखा जाता है। फिर-

गौरीपुत्रो यथा स्कंदः शिशुत्वे रक्षितः पुरा।
तथा ममाप्ययं बालः षष्ठिके रक्षतां नमः ॥

ऐसी प्रार्थना की जाती है। और रात भर ज्योति जलती रखी जाती है। क्यों कि कहीं अंधेरेमें छटी बालकका घात नहीं करे।

अमरत्व परोसा पानमें। कारण हुवा था मृत्यु लानेमें।
न जान कर भोग भोगनेमें। होता है ऐसा ॥ ज्ञा० १८–१४७८ ॥

समुद्रमंथनमेंसे जब अमृत निकला तब वह देव और दानव दोनोंके अधिकारका था। किंतु दानवोंको अमृत देकर अमर करना लोक-क्षयकारी होगा इस विचारसे विष्णूने मोहिनीके रूपमें अमृत-कलश लूटा। इसके बाद देव और दानव भोजनके लिये-अमृतपानके लिये-सामने सामने बैठे। मोहिनीके रूपमें विष्णु देवोंको अमृत परोसने लगा। उसी समय राहू नामका दैत्य धोखा देकर देवोंकी पंगतमें बैठ गया। साथ साथ उसने अमृतपान भी किया किंतु अमृत गलेके नीचे उतरनेके पहले ही सूर्य और चंद्रने उसको पहचान लिया और विष्णुने सुदर्शनसे उसका शिरच्छेद किया।

नहुष हुवा जो स्वर्गाधीश्वर। किंतु भूला वहांका व्यवहार।
जिससे सर्प हुवा पृथ्वीपर। जानता है तू ॥ ज्ञा० १८-१४७९ ॥

पुरूरवाका पोता राजा नहुष। अत्यंत पराक्रमी। सद्‌गुणी। ब्रह्महत्याके पापके कारण जब इंद्रको इंद्रत्वसे हटना पड़ा तब देवऋषियोंने मिलकर नहुषको इंद्र बनाया। और नहुष "शानसे" रहने लगा। नहुषकी इस शानमें इंद्राणीकी न्यूनता खटकने लगी। इंद्रके साथ इंद्राणीका होना आवश्यक है। नहीं तो इंद्रपदकी शान कहां? उसने तुरंत इंद्राणीको अंतःपुरमें आनेकी आज्ञा दी। इस आज्ञाने धर्म-संकटका काम किया। यह संकट टालनेके लिये इंद्राणीने अत्यंत चतुरतासे "कृपया अपूर्व वाहनमें बैठकर मुझे ले जानेके लिये पधारिये।" ऐसा संदेश भेज दिया। अब नहुष अपूर्व वाहनका विचार करने लगा। वह सप्तऋषियोंको रथमें जोत कर उस "अपूर्व वाहन" में इंद्राणीको लानेके लिये जाने लगा। नहुषको जल्दीसे जल्दी वहां पहुंचनेकी पडी थी और बेचारे वृद्ध ऋषि रथ खींचकर जल्दी नहीं चल रहे थे। राजाने उनको "सर्प सर्प" जल्दी जल्दी कहते हुए लात मारना प्रारंभ किया। इस पर अगस्तिने क्रोधमें आकर शाप दिया कि "तू अब अजगर सर्पयोनिमें जा!" और नहुष रथमें ही अजगर बनकर भूमीपर गिर पडा।

कोई पद मिलना कठिन नहीं किंतु योग्यता पूर्वक उसको संभालना कठिन है यह समझाते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने ऊपरकी कथा कही है।

अथवा यह गीता सप्तशती। जो मंत्रप्रतिपाद्या भगवती।
मोह-महिषासुरसे मुक्ती। आनंदती है ॥ ज्ञा० १८-१६८८ ॥

महिषासुर रंभासुरका पुत्र। घोर तपस्या करके इसने ब्रह्मदेवसे पुरुषसे मृत्यू न होनेका वर ले लिया। उसके बाद यह देवोंको तंग करने लगा। प्राणिमात्रका पीडन इसका कार्य। तब आदि शक्तिने उसको युद्धके लिये प्रवृत्त करके उसका वध किया। महिषासुरने आदि शक्तिको सामान्य स्त्री मानकर उसको मोहित करनेका प्रयत्न किया किंतु वह सब व्यर्थ था।

श्रीगुरुके नामसे मृत्तिका। मूर्ति रख वनमें विद्याका।
रेव कर डंका श्रेष्ठताका। बजाया भिल्लने ॥ ज्ञा० १८-१७३० ॥

हिरण्यधनु नामका एक भिल्ल-राज था। उसका पुत्र एकलव्य। वह अत्यंत बुद्धिमान् था। अस्त्र-विद्या सीखनेके लिये वह द्रोणाचार्यके पास गया। किंतु द्रोणाचार्यने वह भिल्ल होनेसे उसको अस्त्र-विद्या सिखाना अस्वीकार कर दिया। तब उसने द्रोणाचार्यकी पादुकाएं मांग लीं, वनमें जाकरके मिट्टीसे द्रोणाचार्य की एक मूर्ती बनायी और उसके सामने धनुर्विद्याका अभ्यास करने लगा। तथा इस अभ्यासमें वह इतना प्रवीण हुवा कि कोई भी उसकी समानता नहीं कर सकता था। द्रोणाचार्यका सर्व श्रेष्ठ शिष्य अर्जुन! इसने भी एकलव्यकी श्रेष्ठता स्वीकार करली।



परिशिष्ट पांचवा

इस परिशिष्टमें ज्ञानेश्वरीके कुछ शब्दोंकी विस्तृत जानकारी दी है। इन शब्दोंकी पूर्ण जानकारीके बिना ज्ञानेश्वरीका ही नहीं भारतीय तत्त्वज्ञानका, अथवा चिंतन पद्धतिका मर्म समझना असंभव सा है और इन शब्दोंके विषयमें अनेक प्रकारकी गलत धारणायें भी बनी हुई हैं इसलिये विषयका ज्ञान होनेकी दृष्टिसे इन शब्दोंकी कुछ अधिक जानकारी देना आवश्यक समझा गया।

परिशिष्ट पांचवा

अंतःकरण——करणका अर्थ है इंद्रिय। अर्थात् अंतःकरणका अर्थ अंदरका इंद्रिय ऐसा होता है। इंद्रियोंके दो प्रकार होते हैं। जैसे बाह्यचक्षु अंतरचक्षु। बाह्य इंद्रियां बाहरी विषयका ज्ञान करा देती हैं। प्रापंचिक ज्ञानका साधन बनती हैं किंतु अंतर्विषयोंके ज्ञानका क्या साधन? वह है अंतःकरण। इसी अंतःकरणके कारण सुख, दुःख, राग, द्वेष, आदिका ज्ञान होता है। यह अंतःकरण बाह्य इंद्रियोंको–ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रियोंको–नियंत्रित करता है। दार्शनिक दृष्टिसे यह अंतःकरण दर्पणकी भांति होता है अथवा जलाशयकी भांति होता है। जैसे स्वच्छ दर्पणमें किसीका स्पष्ट प्रतिबिंब पड़ता है, या तरंग रहित शांत जलाशयमें बिंब प्रतिबिंबित होता है वैसे शुद्ध निर्मल अंतःकरणमें ब्रह्म प्रतिबिंबित होता है। मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है। संदेह, निश्चय, स्मरण और अभिमान इनके विषय हैं।

अक्षर——न + क्षर=अक्षर। जिसका क्षय नहीं होता, जो नहीं घुलता, गलता, वह अक्षर है। अक्षरमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता। परिवर्तन नहीं होता। वह नित्य है। सदैव एकसा रहता है। वह भावोंसे परे, गुणोंसे परे, अर्थात भावातीत= निर्भाव, गुणातीत= निर्गुण, आकारातीत= निराकार ऐसा है। वेदांतके मतसे यही परब्रह्म है। गीतामें भी अक्षर शब्द इसी अर्थमें आया है। ओंकार, वेदसार, ईश्वरवाचक नाम, इसी अर्थमें गीतामें यह शब्द आया है। अर्थात ज्ञानेश्वरीमें यह शब्द इसी अर्थमें लिया गया है। इसी अर्थका और एक शब्द अव्यय भी आया है। न + व्यय=अव्यय।

अक्षौहिणीसेना——महाभारतयुद्धमें कुल अठारह अक्षौहिणी सेना थी। पांडवोंकी सात अक्षौहिणी सेना और कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना। अक्षौहिणी इस सेना विभागमें २१८७० रथ, उतने ही हाथी, ६५६१० घोडे, तथा १०९३५० पादचारी सैनिक होत थे। प्रत्येक रथ, हाथी, तथा घोडेके साथ ५ पैदल सैनिक रहा करते थे। कुल मिलाकर एक अक्षौहिणी सेनामें २१८७०० सैनिक होते थे। जिसके आधीन यह सेना होती थी उसको अक्षौहिणीपति कहा जाता था।

अज्ञान——अविद्याकी जो बात वही अज्ञानकी बात है। गीताके, ज्ञानेश्वरीके तेरहवे अध्यायमें–विस्तारपूर्वक इसके लक्षण कहे गये हैं। इसका लक्षण कहते समय " जो अनादि अनंत है, नित्य है उस पर परदा डालनेवाला तत्त्व अज्ञान है " ऐसे कहा गया है। गीतामें " आत्मज्ञान को ही नित्य कहा है। इस बोधको ज्ञान और उसके विपरीत सबको अज्ञान कहा है। " आत्मविषयक अज्ञानके कारण ही मनुष्य अपूर्णताका अनुभव करता है और अपूर्णताके अनुभवसे वह विषयोंके

पीछे दौड़ता है ! इस अज्ञानसे अविवेक, अविवेकसे अभिमान, और अभिमानसे राग-द्वेषादि द्वंद्व परंपरा प्रारंभ होती है। इसीसे कर्मचक्र और जन्म मरणका चक्र, चलता रहता है। ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होता है। ज्ञान एक चिनगारी है जो अज्ञानका सारा कूड़ा जला कर राख कर देता है किंतु जब तक कूड़ा है तब तक आग जलती रहती है। जब तक अज्ञान है तब तक ज्ञान रहता है। जैसे कूड़ा जला कर आग स्वयं बुझ जाती है वैसे अज्ञानको नष्ट करके ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। यही सहज स्थिति है। ज्ञानेश्वर महाराजकी दृष्टिसे ज्ञानाज्ञानसे परेकी अवस्था मुक्तावस्था है। सामान्य जीवन ज्ञानाज्ञानका कल्लोल है।

सद्गुरु ज्ञान देता है अर्थात् कूड़ेके ढेर पर चिनगारी रखता है। इसीका नाम दीक्षा है। उस कूड़ेको जलाना साधना है। कूड़ेके साथ आगका भी बुझ जाना सिद्धि !

अद्वैत——जिसमें द्विधा-भाव नहीं वह अद्वैत है। जगद्गुरु श्रीआद्य शंकराचार्य इस अद्वैत दर्शनके आद्य आचार्य माने जाते हैं। "केवल ब्रह्म ही सत्य है और सारा असत्य है यही वेद उपनिषदादिमें कहा है" ऐसे आद्य शंकराचार्य कहते हैं। केवल ब्रह्म सत्य है। दीखनेवाला यह नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है। जीव और ब्रह्म एक है। यह आद्य शंकराचार्यका सिद्धांत है। किंतु ज्ञानेश्वर महाराज दीखनेवाले नामरूपात्मक जगतको मिथ्या न मानकर ब्रह्मका स्फुरण मानते हैं यह स्फुरण सिद्धांत ज्ञानेश्वर महाराजका स्वतंत्र आविष्कार है। जैसे बीजसे वृक्षका स्फोट होता है, शरीरसे रोमावलीका स्फुरण होता है वैसे ब्रह्मसे ब्रह्मांडका स्फोट या स्फुरण हुवा है। ब्रह्म जमा हुवा घी तो ब्रह्मांड पिघला हुवा घी है। यह सारा, जो कुछ हम देखते हैं वह सब आत्माका विस्तार है। यह सारी विविधता आत्माका ऐश्वर्य योग है। इसका बोध ही आत्मबोध है। ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृतमें इसीको विस्तारपूर्वक कहा गया है।

अनादि——जिसका कोई आदि नहीं। जो कबसे है यह नहीं कहा जाता वह अनादि है। ब्रह्मका परिचय देते समय "अनादि अनंत" ऐसे दो शब्द आते हैं। अनादि अनंतका अर्थ देश-कालमें न आनेवाला, बिना ओर छोरका अथवा देशकालातीत ऐसा मान सकते हैं। ब्रह्मके साथ मायाको भी अनादि कहा गया है क्यों कि मायाका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। जिसका अस्तित्व ही नहीं उसका भला आदि कैसे? वैसे ही जो है ही नहीं उसका अंत कहां? माया अस्तित्व हीनताके कारण अनादि है किंतु ब्रह्मका अस्तित्व हो कर भी वह अनादि है। अनंत है। अर्थात् बिना ओर छोरका है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है बृहत्, बड़ा; इतना बड़ा कि कोई भी उसको आच्छादित नहीं कर सकता, उसका आदि अंत नहीं नाप सकता। उसका ओर छोर नहीं पा सकता। अनादि शब्दमें आद्य तथा स्वसंवेद्य इन शब्दोंका भाव समाया हुवा है।

अनाहतध्वनि——योग-विद्यामें छ चक्रोंका विवेचन है। इसको षट्चक्र कहा गया है। वे छ चक्र हैं (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूरक (४) अनाहत (५) विशुद्धि (६) आज्ञाचक्र।

इसमें अनाहत हृदय-स्थानमें है। वह रक्तवर्ण है। बिना किसी ताड़नाके, प्रेरणाके वह शब्द-प्रत्यय देता है। इसलिये वह अनाहत चक्र है। अनाहत चक्रमें शब्द-ब्रह्मका बिना किसी आघातके, अनुभव होता है। इसको अनाहत ध्वनि कहते हैं।

नाद आकाश तत्वका गुण है। यह दो प्रकारका होता है। एक आघात-जन्य दूसरा बिन आघातके। हृदय चैतन्यका स्थान है। इसीमें शुद्ध-आकाशका एक स्थान है। वहां सदैव बिना आघातके ही नाद गूंजता रहता है। किंतु बाह्य-विषयोंमें फंसा हुवा मनुष्य उसको नहीं सुन सकता। योगी लोग इंद्रियोंको अंतर्मुख करके वह नाद सुननेका अभ्यास करते हैं। कुंडलिनी शक्ति जगने पर ही यह ध्वनि आने लगती है।

कुंडलिनी शक्ति हृदय कमलके पास-अनाहत चक्रके पास-आनेपर, दस प्रकारसे यह अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। चिणी, चिणचिणी, घंटा, शंख, तंत्री, ताल, वेणु, मृदंग, भेरी, और मेघ ध्वनि। इसके बाद, आज्ञाचक्रके पास जाने पर वही सोऽहम् शब्द, ओंकार नादमें परिवर्तित होता है।

नाद अथवा ध्वनि अव्यक्त परतत्वके व्यक्तिकरणकी सूचना है। परा-वाणीमें सूक्ष्म रूपसे निहित यही शब्द अपरावाणीमें आकर सदैव हृदयमें गूंजने लगता है। इसका रूप ॐ है। यही ब्रह्मांडका मूलतत्त्व है। यह नाद अनाहत रूपसे व्यक्तिके हृदयाकाश तथा विश्वाकाशमें एकरूपसे गूंजता रहता है। इस गूंजनकी एकताका अनुभव ही सोऽहं भाव है। सदैव इस सोऽहं भावमें डूबा रहना ही अद्वैतस्थिति अथवा ब्राह्मी-स्थिति है जो सब प्रकारकी साधनाओंकी परम-सिद्धि है।

अपान——मनुष्यमें पांच प्रकारके प्राण होते हैं। इन्हें पंच-प्राण कहा जाता है। (१) प्राण (२) अपान (३) व्यान (४) उदान (५) समान ये उनके नाम हैं। शरीरमें उनका भिन्न भिन्न स्थान और काम है। हठयोगमें इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। अपान वायू अधोमुखी होता है। मलमूत्रादि बाहर ढकेलना इसका सामान्य काम है। उपनिषदोंमें इसका स्थान नाभी कहा गया है। अन्नादिके निस्सार भागको नाभीके नीचे ढकेलना, मूत्र शुक्रादिको बहाना इसका कार्य है। किंतु योगी, योग विद्यासे इसको ऊर्ध्वमुख करके अपनी सुप्त शक्तिको जगाते हैं। अपानको ऊर्ध्वमुख करके प्राण और अपानको मिलानेसे मनुष्योंमें नयी शक्ति जगती है।

अमृत——जिसको पीनेसे मृत्यु नहीं होती वह अमृत। इसको पीयूष, सुधा आदि भी कहा गया है। समुद्र मंथनसे अमृतकी प्राप्ति हुई। यद्यपि देव और दानव दोनोंने समुद्र मंथन किया था अंतमें देवोंको ही अमृत मिला। दैत्योंको नहीं मिला। यह पौराणिक कथा है। किंतु वैदिक "ऋषिकी प्रतिभा=अमृत" रहस्य जाननेके लिये स्वर्ग-मृत्यु पातालका अतिक्रमण करती है। उपनिषद "मृत्योर्मामृतं गमय" कहते हैं। उपनिषद् अमृत न कहकर अमृतत्व कहते हैं। वह है जन्म मरणका अतिक्रमण करके पानेवाली स्थिति। जिसे पीनेसे मरण ही नहीं तब भला पुनर्जन्म कैसे? अर्थात् ज्ञानेश्वर या ज्ञानेश्वरीका अमृत या अमृतत्व जन्म-मरण रहित मुक्तावस्था है।

अरणी——दो लकडीके टुकडोंके घर्षणसे यज्ञाग्निका निर्माण किया जाता है। इसके लिये पीपलकी लकडी काममें लायी जाती है। इन लकडीके दो टुकडोंमेंसे जो नीचेका टुकडा रहता है उसे अधरारणी कहते हैं तो ऊपरके टुकडेको उत्तरारणी कहते हैं। अधरारणीमें खांच करके जो लकडीका टुकडा बिठाते हैं उसको मंथा कहते हैं। ऋग्वेदमें इस प्रकारके अग्निस्फोटका वर्णन आता है।

अर्धमात्रा——ॐकारकी साडेतीन मात्राओंमें अर्धमात्रा। योग-शास्त्रमें परा ब्रह्मांडमें मूर्धन्याकाशका भाग। आज्ञाचक्र, जो भ्रूकुटीमध्यमें होता है और सहस्रार ब्रह्मरंध्र सहस्रदल-तालूमें होता है, इसकी मध्यसंधि है। ज्ञानेश्वरीके छठे अध्यायमें इसका विस्तृत विवेचन है।

अवभृथ——यज्ञादिके बाद समारोह पूर्वक जो सामूहिक स्नान होता है उसे अवभृथस्नान कहते हैं। दक्षिणके जन-जीवनमें यह अत्याधिक प्रचलित है। जैसे मंदिरोंमें होनेवाले रथोत्सवादि उत्सवानुष्ठान, भजन-सप्ताह,–सात दिन तक चलनेवाले भजनानुष्ठान-संपन्न होनेके बाद लोग आनंदोत्सव पूर्वक गुलाल उछालते हैं। हल्दी और चूना मिलाया हुवा लाल पानी बना कर उस पानीसे खेलते हैं। वह पानी उछला जाता है। एक दूसरे पर उंडेला जाता है। उसके बाद ऐसे ही गीले कपडोंसे उछलते कूदते, नामस्मरणकी गर्जना करते, गांवके बाहरके जलाशय पर स्नान करने जाते हैं। वहां स्नान करके वैसे ही भगवन्नाम-गाते मंदिर आते हैं। ऐसे समय अधिकतर पालकी उत्सवमूर्ति-साथ होती है। इसको ओकली भी कहा जाता है।

अविद्या——विद् धातुसे विद्या शब्द बना है। विद् का अर्थ है जानना। इस पर अविद्याका अर्थ नहीं जानना ऐसा है। किंतु दर्शन-शास्त्रमें "असत् प्रकाशन शक्ति" माना गया है। अर्थात् सत्यको नहीं जानना ही असत्का प्रकाशन है। इस शक्तिके दो रूप हैं। (१) सत् को छिपाना। सत् पर परदा डालना (२) उसपर दूसरी वस्तुका आरोप करना या संभ्रम निर्माण करना। आत्माके नित्यत्वको-आत्मबोधको छिपाना तथा शरीरभावको दिखाना। यह अविद्याका कार्य है।

अष्टमहासिद्धि——(१) अणिमा–शरीरको अत्यंत सूक्ष्म बना लेना—(२) महिमा–शरीरको बडा और भारी बना लेना। (३) लघिमा–शरीरको अत्यंत हलका बना लेना—(४) प्राप्ति–प्रत्येक इंद्रियकी एक अधिकारी देवता है। जैसे कानके–दिशा, नेत्रका सूर्य, जीभका वरुण, नाकका अश्विनी, त्वचाका वायु, मुखका अग्नि, हाथका इंद्र, पायका उपेंद्र, लिंगका प्रजापति, गुदाका यम, अपनी इंद्रियोंकी अधिष्ठात्री देवताओंसे संबंध जोडना—(५) प्राकाश्य-इस विश्व तथा परलोकके अदृश्य विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना। (६) ईशिता–ईश्वरी शक्तिकी उसके अंशोंकी अन्यान्य स्थान और व्यक्तियोंमें जो जो सत्ता है उस पर स्वामित्व पाना। ईश्वरी सत्ता या प्रभावकी प्राप्ति। (७) वशिता-भोग भोगते हुए भी अनासक्त रहनेकी शक्ति। (८) प्राकाम्य-जिस सुखकी इच्छा करें उसकी अमर्याद प्राप्ति!

अष्टलोकपाल——आठ दिशाओंके आठ स्वामी-(१) पूर्वका इंद्र (२) आग्नेयका अग्नि (३) दक्षिणका यम (४) नैऋत्यका नैऋति (५) पश्चिमका वरुण (६) वायव्यका वायु (७) उत्तरका कुबेर (८) ईशान्यका ईश।

अष्टसात्विक भाव——ईश्वरीय भक्तिसे जब हृदय भर आता है तब उसके जो परिणाम शरीर पर स्पष्ट दीखते हैं उनको अष्ट-सात्विक भाव कहा जाता है। वे इस प्रकार हैं—(१) स्तंभ=स्तब्धता (२) स्वेद=शरीरके रोमरोमसे स्वेदकण प्रस्फुटित होना (३) रोमांच=शरीरके रोमरोम खिल उठते हैं (४) स्वरभंग=स्वर बदलना, गद् गद् होना (५) कंप=शरीर कांपना, सिहर उठना (६) वैवर्ण्य=चहरेका रंग बदलना–ऐसे समय-या तो चहरा लाल हो जाता है या फीका पडता है (७) अश्रुपात=आंखोंसे आनंदाश्रु स्रवना (८) प्रलय=भाव समाधि, शरीर निश्चेष्ट होना।

ज्ञानेश्वरीमें कहीं कहीं इन्हें अष्ट-विकार भी कहा गया है।

अष्टांगयोग—आठ अंगोंसे बना हुवा योग। इसको पतंजल ऋषिने कहा था इसलिये पातंजल योग भी कहते हैं। वैसे ही यह सर्वश्रेष्ठ योग होनेके कारण राजयोग भी कहते हैं। इस योगके (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि ये आठ अंग हैं।

पहला अंग यम। यम पांच हैं। (१) अहिंसा-तन, मन, वचनसे किसीका द्वेष नहीं करना। किसीका बुरा न चाहना (२) सत्य, जिस बातको जब जैसे अनुभव किया हो तब वसे कहना। यदि कहना ही पडता हो! कोई बात कहते समय कोई हेतु मनमें रख कर नहीं कहना। जैसे कहा है वैसे बर्ताव करना। चिंतन मनन करना। (३) अस्तेय-किसीकी कोई वस्तु मनसे भी नहीं चुराना, चाहना। (४) ब्रह्मचर्य-सर्वत्र सदैव ब्रह्मचिंतनमें ही रत रहना, अन्य चिंतन नहीं करना (५) अपरिग्रह-संग्रहार्थ किसीसे कुछ भी नहीं लेना।

दूसरा अंग नियम-जैसे यम पांच हैं वैसे नियम भी पांच हैं। (१) शौच-तन मन वचन शुद्धि। शरीर निरोग रखना। मन प्रसन्न रखना। वाणी पवित्र रखना। (२) संतोष-आशा निराशाके परे, अपनी इच्छा कुछ न रख कर, परमात्मेच्छासे जीना। तृष्णा त्यागसे संतोष मिलता है। (३) तप-सभी धर्मोंमें तपका महत्त्व गाया गया है। सदुद्देशकी सिद्धिके लिये नियम पूर्वक सतत-कार्यरत रहना तप है। (४) स्वाध्याय-जीवन लक्ष्यके सहायक सद्ग्रंथोंका वाचन, मनन, अथवा नामस्मरण उत्तम स्वाध्याय है। (५) ईश्वर प्रणिधान-"इदं न मम" भावनासे, जो कुछ है वह सब परमात्माका है यह मानकर सर्व समर्पणमय जीवन बिताना।

तीसरा अंग आसन-विशिष्ट रीतिसे बैठा रहना। हठयोगमें ८४ आसन कहे गये हैं। उनमेंसे कई शरीर स्वास्थ्यके लिये हैं। किंतु अष्टांगयोगमें आसनका अर्थ सुस्थिर बैठनेके लिये है। इसके लिये भी सिद्धासन पद्मासन आदिका विचार किया गया है। किसी भी आसनमें बैठना हो सीधा बैठना चाहिये।

चौथा अंग है प्राणायाम-प्राणायामका अर्थ श्वासको नियमित करना है। प्राणायाम एक गहरा शास्त्र है। मानवशरीरमें अलग अलग काम करनेवाले पांच प्राण हैं। उन सबको नियमित करना है। इसके लिये पूरक-श्वास अंदर खींचना, कुंभक रोकना, रेचक-श्वास बाहर छोडना यह सामान्य नियम हैं। गुदद्वारसे श्वास खींचना, मूलबंध, प्राण और अपानका मिलन, श्वास अंदर रोकनेकी भांति अंदरका सारा श्वास बाहर निकाल कर उसको बाहर रोकना। उड्डियान बंध आदि कई प्रकार हैं। प्राणायामसे अनेक प्रकारके रोगोंका नाश होकर श्वासके विशिष्ट और विविध प्रकारके स्पंदनोंसे शरीरके विविध प्रकारके कोशोंको जगाकर कार्यक्षम करना इसका वास्तविक उद्देश्य है। प्राणायामसे अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, तथा आनंद-मयकोशको जागृत कर सकते हैं। इसको हठयोगमें विज्ञान कहते है। अनुभवी गुरूसे ही इसका ज्ञान और अभ्यास हो सकता है।

इस योगका पांचवा अंग है प्रत्याहार-पांच ज्ञानेंद्रियोंके पांच विषय हैं। (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस (५) गंध। पांच ज्ञानेंद्रियां इन पांच विषयोंके पीछे दौडती

हैं। उन विषयोंसे चिपके रहती हैं। विषयोंसे चिपके रहनेवाली इंद्रियोंको उनसे तोडकर चित्तके स्वरूपसे जोडना प्रत्याहार है। सामान्यतः मनुष्यकी इंद्रियां विषयोंके पीछे दौडती हैं तब चित्त इंद्रियोंके साथ रहता है और चित्त भी विषयोंमें रमता है। इसकी उलटी प्रक्रिया इंद्रियोंको विषयोंसे तोडकर चित्तमें रमने देना अंतर्मुख करना प्रत्याहार है। प्रत्याहार धारणा और ध्यानका पहला पाठ है। इसके लिये इंद्रिय निग्रहके कई प्रकार कहे गये हैं। कई मुद्राएं हैं। इन सबसे अच्छा है सदैव ध्येय चिंतन। इससे चित्त तथा इंद्रियां विषय चिंतन भूल जाती हैं। जैसे मनुष्य जब किसी गहरे सोचमें होता तब भूख प्यास भी भूल जाता है! सर्वत्र सदा ध्येय चिंतन और ध्येय निष्ठा प्रत्याहारकी रचनात्मक साधना है।

इसका छठा अंग है **धारणा**—प्रत्याहारसे इंद्रियोंको अंतर्मुख करने पर चित्तका क्या हो? उसको किसी स्थानपर बांध रखना धारणा है। यह स्थान अपनी अंतःसृष्टिका हो। बाह्य सृष्टिका न हो। जैसे नाभिस्थान, हृदय, भृकुटीमध्य, आदि। ऐसे स्थानोंका चुनाव करते समय स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर जाना। हठयोगमें इस धारणाकी सिद्धिके लिये भी कई मुद्राओंको कहा गया है। योगग्रंथोंमें शरीरमें जो पंचमहाभूत हैं उनके मूल-स्थानका विवेचन करके चित्तको उन उन स्थानों पर चिपका देने और उनके फलोंका विचार है। अपने शरीरके षट्चक्रोंपर भी स्थिर करनेको कहा गया है। इन सबका मूल उद्देश्य इतना ही है कि चित्त सदैव अंतःसृष्टिमें ही रहे। अपनेमें ही संतुष्ट रहे। तुष्टिके लिये बाहर दौडनेकी आदत छूट जाय! यह चित्तशुद्धिकी साधना है। इससे ध्यान सुलभ होता है।

धारणाके बाद इस योगका सातवा अंग है **ध्यान**—चित्तकी जो धारणा है उसकी समरसताकी प्रतीति ध्यान है। ध्यानका अर्थ ध्येय वस्तुसे तद्रूप होना। बुद्धि शक्ति सदैव उस ध्येय वस्तुकी ओरही प्रवाहित हो। इसका सर्वोपरिरूप सदैव और सर्वत्र अव्याहत ब्रह्मचिंतन! यही ध्यानावस्था है। धारणामें चित्तका आश्रय "स्थान" होता है तो ध्यानमें चित्तका आश्रय "भाव" होता है। ब्रह्म भाव, सगुण ब्रह्म भाव और निर्गुण ब्रह्म भाव! धारणा, शरीरके चक्रोंपर या पंचमहाभूतोंके स्थान पर होती है तो ध्यान उनके तत्त्वोंका होता है। इसके अभ्यासके लिये प्रत्येक चक्रकी देवता मानी गयी है। धारणामें चित्त चक्रका आश्रय लेता है तो ध्यानमें उसको उस चक्रके दैवतका आश्रय दिया जाता है। इस प्रकार स-रूप ध्यानसे अरूप ध्यानकी ओर बढ़ना होता है। तब हृदयस्थका, आत्माका विश्वात्मक देवका ध्यान होने लगता है। अंतर्बाह्य वह जगदंतर्यामी! आंखें मूंदलीं तो हृदयमें स्थित शांत आत्मदेव और आंखें खोलीं तो अनंत कर्म रत विराट आत्मदेव! आत्मरूप दर्शन और उसीका विश्वरूप दर्शन सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन। ध्यानावस्थाका यह सातत्य ही समाधि-प्रवेश है।

योगका अंतिम और आठवा अंग **समाधि**—यह योग विद्याका अंतिम अंग है। योग-प्रासाद का कलश। ध्यान, ध्याता, और ध्येयका समरसैक्य ही समाधि है। मनमें है ब्रह्म, ध्यानमें भी ब्रह्म। जागृति निद्रामें परब्रह्म! इसके बिना और कुछ भी नहीं। जैसे कूएंमें डुबा हुवा घडा। पानीसे भरा हुवा पानीमें डुबा हुवा! सदैव द्वंद्वातीत अखंड स्थिति! सदैव ब्रह्मलीन अवस्था सविकल्प समाधि है। इससे परे है निर्विकल्प समाधि! निरालंब समाधि! कुछ भी नहीं। निर्भाव, निर्विचार। दुर्गंध और सुगंधसे भरे कमरेसे दुर्गंध हटाई। वह सुगंधसे भरा। फिर सुगंध हटाई। निर्गंध किया! आत्मा आत्मासे आत्मामें लीन!

अष्टादश पुराण——जन-सामान्यमें भारतीय धर्म, संस्कृति परमार्थ तथा सभ्यताका प्रसार करनेका काम पुराणोंने किया है। पुराण सदैव सामान्य-लोक-शिक्षाका माध्यम रहे हैं। इसलिये पुराणोंको "लोक-वेद" कहा गया है। वेद, उपनिषदादि जन-सामान्यका साहित्य नहीं हो सकता था। अनुभवी विद्वान ही उसको समझ सकते थे। इसलिये भारतीय मनीषियोंने लोक-शिक्षाके लिये तत्वज्ञानको आख्यानोंद्वारा समझाया है। पुराणोंमें सदाचार, नीति, धर्म, इतिहास, दर्शन, संस्कृति आदि सरल सुगम कहानियोंके रूपमें जनताके सम्मुख रखा ही है। साथ ही साथ राजनीति, अर्थनीति, समाजनीतिका शिक्षण दिया है। पुराणोंके कारण हिंदू-धर्ममें एक भव्यता आयी है। वैसे ही साहित्यकी दृष्टिसे भी पुराणोंका बड़ा महत्त्व है। पुराणोंमें कई जगह श्रेष्ठतम साहित्यका दर्शन हो जाता है। भारतीय जीवनपरंपरा, इतिहास आदि जाननेके लिये पुराणोंका - विश्लेषणात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना आवश्यक है। तथा यह नित्य-नूतन है। पुराण शब्दका अर्थ ही "पुराना होकर नया" ऐसा है। पुराणोंमें (१) सृष्टिवर्णन (२) सृष्टि उत्पत्ति (३) जीवन निर्वाहका साधन (४) परमात्माद्वारा सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका संहार (५) मन्वंतर (६) वंशोंका इतिहास (७) वंशचरित्र और चारित्र्य (८) विविधप्रकारकी क्रांतियां और नाश (९) जीव-वर्णन (१०) उसकी दशा-अवस्थात्रयोंका विवेचन - इन दस विषयोंका विवेचन और विश्लेषण होता है। साथ साथ भारतमें प्राचीन कालमें प्रचलित अनेक प्रकारकी विद्या, कला तथा विज्ञानका भी वर्णन पुराणोंमें है। पुराणोंमें (१) पशुविद्या (२) आयुर्विद्या, (३) रत्नपरीक्षा (४) वास्तु=शिल्पविद्या (५) सामुद्रिक (६) धनुर्विद्या आदि विद्याओंके साथ प्रसिद्ध (१) अनुभूति विद्या (२) स्वेच्छा रूपधारिणी विद्या (३) अस्त्रग्राम हृदयविद्या (४) सर्वभूतरूप विद्या (५) पद्मिनी विद्या (६) जालंदरी विद्या (७) पराबाला विद्या (८) रक्षोघ्न विद्या, (९) पुरुषप्रमोदिनी विद्या (१०) उद्धापनविधान विद्या (११) देवहूति विद्या (१२) युवकरण विद्या (१३) वज्रध्वनिका विद्या (१४) गोपालमंत्र विद्या ऐसे १४ विद्याओंका वर्णन है। पुराणोंमें विषयानुसार, सूत्रात्मक, विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक, रसात्मक, भावात्मक, विविध प्रकारकी भाषाशैलियोंका सुंदर दर्शन होता है। साहित्य तथा भाषाशैलियोंके अध्येताओंके लिये पुराण आदर्श ग्रंथ है। पुराण कथनका मूल उद्देश्य, लोकरंजनके साथ जन-सामान्यको गहरेसे गहरे विषयको समझाना है। इसीलिये वहां सभी प्रकारकी भाषा-शैलियोंका प्रयोग देखनेको मिलता है। ऐसे अनेक दृष्टिसे पुराण भारतीय - जीवन परंपराके ज्ञानकोश हैं। ऐसे अठराह पुराण हैं। (१) ब्रह्मपुराण (२) पद्मपुराण (३) विष्णुपुराण (४) वायुपुराण (५) भागवतपुराण (६) नारदपुराण (७) मार्कंडेयपुराण (८) अग्निपुराण (९) भविष्यपुराण (१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण (११) लिंगपुराण (१२) वराहपुराण (१३) स्कंदपुराण (१४) वामनपुराण (१५) कूर्मपुराण (१६) मत्स्यपुराण (१७) गरुडपुराण (१८) ब्रह्मांडपुराण। इसके अलावा अठारह उपपुराण हैं।

अहंकार——"मैं" का भ्रामक भाव, नामरूपात्मक शरीरको मैं मानना। इसी अहंकारके आवरणमें जीव अपनेको परमात्मासे भिन्न मानने लगता है। इसीको चिजड ग्रंथी कहते हैं। इस अहंकारके नाशसे जीवात्मा और परमात्माके एकत्वका बोध होता है।

सांख्यमतानुसार–अव्यक्त प्रकृति महत्तत्व–अहंकार इस क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति है। अहंकारके सात्विक, राजसिक तथा तामसिक इन त्रिविध रूपोंसे (१) ज्ञानेंद्रिय (२) कर्मेंद्रिय (३) पंच तन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई। यह सारी स्थूलसृष्टिका आधार है।

त्रिगुणोंके कारणसे क्रियाशील महत्तत्वसे अहंकारकी निष्पत्ति होती है। "मैं" और "मेरा" यह भाव ही अहंकारका रूप है।

अभिमान गर्व, घमंड, मैंपना यह इसके रूप हैं तथा दंभ इसकी विकृति।

आकाश—इस शब्दके कई अर्थ हैं। वैसे आकाशका वाच्यार्थ रिक्तता है। सर्वव्यापी अनंत आकाशरूप है। आकाश पंचमहाभूतोंमें अंतिम तथा सूक्ष्मतम सर्वव्यापी तत्व है। घनमें भी आकाश–तत्व रहता है। अणुमें भी रहता है। उपनिषदमें "सारा आकाशसे प्रकट होकर आकाशमें लीन होता है!" ऐसे कहा गया है। विश्व–निर्माणकी इस कल्पनाको सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जैन दार्शनिकोंने लोकाकाश तथा अलोकाकाश ऐसे दो आकाश माने हैं। लोकाकाश कुछ द्रव्योंका आधारभूत है तो अलोकाकाशमें किसी प्रकारके द्रव्य नहीं हैं। और बौद्ध दार्शनिकोंके मतमें आकाशका अर्थ सूक्ष्म–वायु अथवा शून्य = रिक्तता है। विश्वके प्रत्येक दर्शनने जैसे आकाशका विचार किया है, वैसे ही विश्वके प्रत्येक धर्ममें आकाशको देवता माना है। आकाश–देवताके कार्योंके विषयमें सभी धर्म-ग्रंथोंमें जो लिखा है वह करीब करीब एकसा है। ऋग्वेदमें उसे अमृतधारण करके अमृतवर्षा करनेवाला देव कहा है। इससे पृथ्वी खिलती है। ऋग्वेदमें द्यावा-पृथ्वी (आकाश और भूमिको) पिता तथा माता कहा गया है। इस माता पिता पर ऋग्वेदमें छ सूक्त हैं।

किंतु योगमार्गमें बाह्य आकाशकी भांति मानवी शरीरमें भी आकाशका वर्णन है। शरीरमें स्थान स्थान पर जो रिक्तता है वहां वहां होनेवाले कार्योंका वर्णन करते समय हृदयाकाश मूर्धन्याकाश आदि शब्द आये हैं। भारतीय दर्शनमें पिंड ब्रह्मांड न्याय प्रसिद्ध है। मानव देह समग्र विश्वकी या ब्रह्मांडकी छोटी प्रतिकृति है। जैसे ब्रह्मांडमें स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ऐसे त्रिलोककी कल्पना की गयी है वैसे शरीरमें भी त्रिलोक हैं। शरीरके ऊपरके भागको परा ब्रह्मांड माना गया है। बीचका भाग स्व - ब्रह्मांड है। नीचेका भाग अपर ब्रह्मांड। इस स्व - ब्रह्मांडमें हृदयाकाश माना गया है। यह हृदयाकाश ऋषिमुनि तथा संत - सिद्ध पुरुषोंके सारे अमूर्त अनुभवोंकी जन्मभूमि है। यही परमात्मधाम है। भारतीय ही नहीं विश्वका संत साहित्य यहांके मधुर अमृत तुल्य अनुभवोंकी बांसरी बजाता है।

आत्म-निवेदन—वैष्णवोंके भक्ति-शास्त्रमें भक्तिके नौ प्रकार कहे गये हैं। (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वंदन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन। आत्म-निवेदन इस नव-विधा भक्तीका अंतिम रूप है। और इस भक्तीका आदर्श-पुरुष बलि है। आत्म-निवेदनमें भक्त अपना सब कुछ परमात्माके चरणोंमें अर्पण करता है। अंतमें अपनेको भी। आत्म-निवेदनको सर्वसमर्पण कह सकते हैं।

आत्मबोध-आत्मज्ञान—अपनेको जानना। अपने आपको जानना। हर समय मनुष्य जो "मैं" कहता है वह "मैं" कौन है? क्या है? इस तत्वको जाननेकी साधना आत्म-साधना

है। अपने आपको जानना ज्ञान है। "मैं" यह शरीर है क्या? तो हम मेरा शरीर स्वस्थ है कहते हैं। तब शरीरसे भिन्न यह मैं कौन? मन है क्या? नहीं; आज मेरा मन प्रसन्न है कहता है मनुष्य! मेरा मन कहनेवाला मैं कौन? वैसे ही "मेरी बुद्धि" और "मेरी भावना" कहनेवाला मैं कौन? मनुष्य जब सोता है तब उसे इस "मैं" का भान नहीं होता किंतु उठते ही कहता है "मैं" सो गया था! सो जानेवाला मैं कौन? कौन? और क्या? प्रश्न पूछते पूछते हम ऐसी एक स्थितिमें पहुंच जाते हैं "जहां कुछ भी (उत्तर) नहीं है। जहां कुछ भी नहीं वहीं स्थिर रह कर देखनेसे वहां जो कुछ "है" का बोध होगा वही आत्मबोध है। "कुछ भी नहीं है" "मैं" "है" पाना ही आत्मबोध है! आत्मबोध मौन होता है। वह मौन अनुभव है। जैसे "मरा हुवा मनुष्य मैं मरा" नहीं कह सकता वैसे आत्मबोध पाया हुवा मनुष्य आत्मबोध क्या है यह नहीं कह सकता। पानीमें घुला हुवा नमक अपना रूप खोकर केवल "खारा पन" से रहता है वैसे है आत्म-बोध। केवल अनुभव गम्य!

आत्मा—सतत सर्वव्यापी गतिशील, अर्थात् जो सर्वव्यापी है, सर्वग्राही है, सदैव जिसका अस्तित्व रहता है उसे आत्मा कहते हैं। यह आत्मा शब्दका शब्दार्थ है। वैसे अन्यान्य दार्शनिकोंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। ऋग्वेदमें "मर्त्य शरीरसे अमर्त्य संलग्न" इस प्रकार इसका वर्णन किया गया है। वायुके अर्थमें भी इसका उल्लेख है। यह "अहम्" का बोधक भी रहा है। किंतु उपनिषदोंमें इसका अर्थ बदला है। सर्व प्रथम उपनिषदोंमें फिर जागतिक दार्शनिक ग्रंथोंमें आत्माकी कल्पना विकसित हुई है। मनुष्यने अपनी जीवन शक्तिको "मैं" कहते हुए उस "मैं" को आत्मा माना। अर्थात् आत्माका अर्थ है मैं। अहं ब्रह्मास्मि, अथवा सोऽहं शिवोऽहम्! "मैं ही विश्व शक्ति हूँ!" अथवा "विश्व शक्ति मैं है!" यह दर्शानेवाले महावाक्य हैं। इस एकात्म-भावका बीज वेदमें भी देखनेको मिलता है। "विश्व-शक्ति ही आत्मा है और मनुष्य विश्व-शक्तिका रूप है" यह उपनिषदोंका अंतिम निर्णय है। उपनिषद मानव मात्रको कहते हैं तत्=वह विश्व शक्ति त्वम् असि=तू है। और "सोऽहमस्मि" "वह मैं हूं" उपनिषद् गानेवालोंका अनुभव है। इसीलिये वह "पूर्ण है वह पूर्ण है यह" कहते हैं। यह अनुभव मनुष्यको निर्भय बनाता है। द्वंद्वातीत बनाता है। सदैव आनंद विभोर रखता है। "विश्वमें मेरे बिना कुछ भी नहीं। यह सारा केवल मैं हूं" ऐसे अनुभव आनेके बाद किसका भय? किसका द्वेष? किससे प्रेम या काम? अपनेमें इस विश्व शक्तिका अनुभव करना आत्म-दर्शन है तो विश्वमें अपनेको देखना विश्वरूप दर्शन है। उपनिषद, गीता, ज्ञानेश्वरी इसीको कहते हैं। अपनेको विश्वमें विलीन करके संपूर्ण विश्व स्वयं बन जाना आध्यात्मिक जीवनका अंतिम साध्य है! उपनिषदादि ग्रंथ इसका साधन भी सिखाते हैं और साध्यकी ओर इंगित भी कहते हैं।

आत्मानंद-आत्मसुख—सारे विश्वमें जो एक शक्ति अखंड रूपसे व्याप्त है वही शक्ति मनुष्यमें भी विद्यमान है। उस शक्तिको आत्मा कहते हैं। इसी शक्तिको मनुष्य "मैं" कहता है। यह "मैं" ही आत्मा है। यह मैं विश्वाकार है। वही विश्वका भी संचालन करता है। इस विश्व संचालक शक्तिको परमात्मा अथवा ब्रह्म कहा है। जब मनुष्य अपना सीमित मैं भूलकर विश्व-संचालक शक्ति ही मैं हूं अथवा-विश्व-शक्ति और मैं एक हूं" यह अनुभव करने लगता है तब

जो सुख तथा तज्जन्य आनंद या समाधान होता है वह आत्मानंद और आत्मसुख है। यह आत्मा परमात्माके समरसैक्यका सुख है।

यह आत्म-सुख निरालंब है। जैसे इंद्रियजन्य सुख या तज्जन्य आनंदके लिये बाहरी वस्तुओंकी आवश्यकता अथवा आलंबनकी अवश्यकता है वैसे इस आत्म-सुखके लिये किसी प्रकारके आलंबनकी आवश्यकता नहीं है। यह अपनेमें अपनेसे आप ही अनुभव करना होता है। इसलिये वह निरालंब सुख, क्षणिक न होकर तात्कालिक न होकर सतत टिकता है। आत्म सुख वर्षामें कडकनेवाली बिजली अथवा इंद्रधनुष्यकी भांति नहीं किंतु सूर्य प्रकाशकी भांति एक बार प्राप्त होकर अंतकाल तक टिका रहता है। इसलिये यह सबसे महान सुख है। इससे अन्य सुखकी अथवा अन्य आनंदकी तुलना नहीं की जा सकती। यह आत्म-सुख ही मानवमात्रका अंतिम और एका मात्र साध्य है। और सब साध्य उसके साधन रूप हैं।

आत्मानात्म विचार— आत्मा=शुद्ध चैतन्य और देह, इंद्रिय, विषयादिकी भिन्नताका विचार। "मैं शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा हूं" यह इस विचारका स्वीकारात्मक भाव है। तथा "मैं शरीर नहीं। मैं मन या बुद्धि नहीं।" यह उसका निषेध भाव है। "चैतन्य रूप जो मैं" छोड़ कर अन्य सब देह मन बुद्धि आदि अनात्म है इसका विवेक आत्मानात्म विचार है।

आदिमाया—पर-ब्रह्मकी स्वाभाविक स्फुरण शक्ति। इसी स्फुरण-शक्तिसे ब्रह्ममें ब्रह्मांडका आभास होता है और उसीमें विलीन भी हो जाता है। इसको ज्ञानेश्वरीमें विश्वाभास कहा गया है। ब्रह्मकी इसी स्फुरण-शक्तिको माया, आदिमाया, अव्यक्त प्रकृति आदि नाम दिये गये हैं। इसी मायाके कारण सच्चिदानंद अखंड ब्रह्मतत्वके स्थान पर विविधता रूप, दुःखमय सृष्टिका भास होता है। द्वैतका भास होता है जो सभी प्रकारके दुःख और द्वंद्वका कारण है।

आदिसंकल्प—विश्वोत्पत्तिका कारण रूप ब्रह्मका मूल-संकल्प अथवा इच्छा। वेदोपनिषदोंमें ऐसे कहा गया है कि जब कुछ भी नहीं था उस समय जो मूलतत्व था उसके मनमें इच्छा होनेसे उसके कामसे-यह विश्व निर्माण हुवा। पहले ब्रह्म अकेला था। निराकार, निर्विकार, निर्विशेष! उसके मनमें इच्छा हुई-संकल्प जगा-मुझे अनेक होना चाहिए। इस संकल्पस्फुरणसे यह सारा विश्व प्रकट हुवा। ब्रह्मकी जिस इच्छासे यह विश्व स्पष्ट हुवा, अथवा ब्रह्मकी जिस कामनासे इस विश्वका स्फुरण हुवा उस इच्छाको "आदि संकल्प" कहा गया है।

आद्य—संभवतः केवल ज्ञानेश्वर महाराजने नमन करते समय परमात्माके लिये इस शब्दसे संबोधन किया है। आद्य कुछ भी नहीं था तब जो था वह! ऋग्वेदके नासदीयसूक्तमें जैसे "वह" शब्द आया है उसी शब्दका द्योतक यह आद्य शब्द है। आद्य–जिससे सारे विश्व अथवा ब्रह्मांडका स्फुरण हुवा है। आद्य=सबसे प्रथम जो था और जिसके प्रथम कुछ भी नहीं था।

आधारचक्र—योग-शास्त्रमें षट्चक्रोंका विवेचन है। आगे "षट्चक्र" में इसका पूरा विवेचन देखनेको मिलेगा। आधारचक्रको मूलाधारचक्र कहा गया है। यह चक्र शिश्न और गुदाके बीचमें मेरुदंडके प्रारंभमें–सुषुम्ना नाडीके मूलमें (?) स्थित है।–नाडी देखें–सुस

कुंडलिनीका वास यहीं होता है। योग, भक्ति, ज्ञानादि साधनासे यह सुप्त कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है। हठयोगमें सिद्धासनसे इसपर दबाव लाकर-मूलबंध-क्रियासे-आधार मुद्रा देखें-इस सुप्त-शक्तिको जागृत करनेका विधान है। इस आधारचक्र अथवा आधारकमलकी चार पंखुडियां होतीं हैं। यह आधारकमल लाल रंगका होता है। इस कमलकी-पंखुडियों पर वं. शं. षं. सं. ये बीज होते हैं। प्रत्येक मंत्र तथा देवताका बीज-मंत्र होता है। इस बीजमें देवता शक्ति है। अन्यान्य मंत्रोंके साथ इन बीजोंको जोडनेसे शरीरस्थित उन उन देवताओंसे संबंध जुडकर विश्वकी उसी देवतासे साधक समरस हो जाता है। भिन्न भिन्न बीजसे जुडी देवता शरीरके भिन्न भिन्न स्थान पर स्थित है। इसीलिये उस स्थानको बीजके नामसे जाना जाना है।

आधारमुद्रा——हठयोगकी प्रणालीमें कई प्रकारके बंध हैं। इनको मुद्रा भी कहा गया है। अन्यत्र षट्चक्रोंका विवेचन किया गया है। इन चक्रोंको जागृत तथा कार्यक्षम बनानेके लिये हठयोगमें अन्यान्य क्रियायें हैं। उन क्रियाओंमें यह बंध अथवा मुद्राएँ हैं। इस आधारमुद्राका दूसरा नाम मूलबंध है। मूलबंध एक प्रकारका प्राणायाम है। मूलबंधका अर्थ गुदद्वारसे अपानको अंदर खींचना। मूलबंध क्रिया करते समय सिद्धासन-वज्रासन सबसे अच्छा है। प्राणायाम करते समय जब नाकसे अंदर श्वास लिया जाता है उसी समय गुदद्वारसे अपानको भी अंदर खींचा जाता है। ऐसे करनेसे प्राण और अपानके दबावमें कुंडलिनी जागृत होती है। प्राण और अपानका मिलन भी होता है। जिससे अपानसिद्धि होती है। अपानसिद्धि इंद्रिय-जयमें महत्त्व-पूर्ण कार्य करती है। हठयोगमें बंधत्रय मूलबंध, उड्डियानबंध तथा जलंधरबंध अत्यंत महत्त्वके माने गये हैं। शरीर निरोग रखनेके लिये बंधसह प्राणायाम महान् वरदान माना गया है।

आनंदत्रय——ब्रह्मानंद। वासनानंद। विषयानंद।

आसन——योगाभ्यासके लिये सहज स्थिरतापूर्वक बैठनेकी प्रक्रिया। मनकी एकाग्रताके लिये आसनका अत्यंत उपयोग होता है। हठयोग और राजयोग दोनों योगमें आसनका महत्त्व कहा गया है। योग-सूत्रमें जिससे स्थिर रहकर मनको सुख मिलता है, अधिकसे अधिक समय बैठनेकी इच्छा होती है उसको आसन कहा गया है। किसी भी महान् कार्यके लिये, साधन अथवा योगाभ्यासके समय पृथ्वीको प्रार्थना करके बैठनेकी क्रियाको आसनविधि कहा गया है। कहीं कहीं भिन्न भिन्न प्रकारके कार्यके भिन्न भिन्न प्रकारसे बैठनेकी भी विधि है। ज्ञानेश्वरीके छठे अध्यायमें आध्यात्मिक साधनामें बैठनेकी आसनविधिका विस्तृत विवेचन देख सकते हैं

आहार——यह सभी जानते हैं कि आहरका अर्थ है खाना। आहारका शब्दार्थ अंदर लेना है। संभवतः इसी परसे जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीने आहारका अर्थ करते समय " किसी भी इंद्रियकी ओरसे किया जानेवाला विषयसेवन " ऐसे किया है। देखना आंखोंकी भूख है और सुनना कानोंकी भूख जैसे चखना जिव्हाकी भूख है! अर्थात् प्रत्येक इंद्रियकी ओरसे अपनी अपनी भूख मिटानेके लिये " अपना विषय सेवन " करना भी आहार है। इस गहरे अर्थको ग्रहण करके ही गीताके " युक्ताहारविहार " का भाव ग्रहण करना चाहिए।

आवाहन-विसर्जन——आवाहन पूजाके लिये किसी देवताको बुलाना। देवतागमनके लिये जो प्रार्थना की जाती है उसे आवाहन कहते हैं, और पूजाके बाद देवताको लौटाया जाता है

उसको विसर्जन कहते हैं। पूजामें आवाहन विसर्जनकी विधि होती है। आवाहनसे पूजा-प्रारंभ होती है और विसर्जनसे पूजाकी समाप्ति।

इडा - पिंगला——वेदमें इडा अथवा इळाको वाग्देवी अथवा पृथ्वीकी देवता माना गया है और योग-शास्त्रमें तथा आयुर्वेदमें जो नाडी-ज्ञान है उसमें सुषुम्ना नाडीके दोनों ओर–सुषुम्ना देखें-इडा व पिंगला नाडी है। ये नाडियां मेरुदंडके बाहर हैं। इडा मूल बंधसे बाईं ओर चलती हुई सभी नाडी-चक्रोंको लपेटती हुई नासापुटि अथवा नासिका रंध्र तक चली है और पिंगला वैसे ही दाहिनी ओर। इडा पिंगला सुषुम्नासे ऐसी गुंथी हुई है कि ये तीनों एकत्र हो गयी है। इसी लिये कहीं कहीं इन्हे त्रिवेणी कहा गया है। इन नाडियोंके साथ दूसरी ११ नाडियां हैं जिनका विवेचन सुषुम्नाके साथ तथा षट्चक्रके विवेचनमें किया गया है।

इंद्रिय——शरीरस्थित इंद्रके बाह्य रूप। इंद्रिय दो प्रकारकी होती हैं। ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ। जब तक इंद्र शरीरमें रहता है तब तक सभी इंद्रियां स्व-कर्म रत रहती हैं। अपने अपने विषयोंका ग्रहण करना इन इंद्रियोंका काम है। जैसे आंखोंका रूपावलोकन, कानोंका शब्दश्रवण, नाकका गंधग्रहण, जिव्हाका रस-सेवन और त्वचाका स्पर्शग्रहण। यदि ये इंद्रियां नहीं होती तो मनुष्यको विषयोंका ज्ञान नहीं होता। सारा विश्व आत्माका ऐश्वर्य-योग है। आत्माका वैभव है। उस वैभवके ग्रहण या रस-सेवनके लिये इंद्रियाँ बहिर्मुख हैं मनकी प्रेरणासे बाह्य-विषयोंका ज्ञान संग्रह करके मनके आधीन करती हैं। इसलिये इन्हें शरीरसे जुडे हुए ज्ञान साधन कहा गया है। ये ज्ञानेंद्रियाँ पांच हैं। वैसे ही मुख, हाथ, पाय, गुदा तथा जननेंद्रिय ये पांच कर्मेंद्रियां हैं। ज्ञानेंद्रियोंद्वारा प्राप्त ज्ञानके अनुसार ये कर्म करती हैं।

न्यायशास्त्रानुसार बहिरिंद्रिय और अंतरिंद्रिय ऐसे इंद्रियोंके दो प्रकार हैं। पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्मेंद्रियां बाहरी इंद्रियां हैं और मन अंतरिंद्रिय। यह मन अणु समान है और हृदय स्थानमें रहता है। यही बहिरिंद्रियोंको प्रेरणा देता है। उनसे प्राप्त ज्ञानसंग्रह करता है। और सांख्योंके मतसे इंद्रियां ग्यारह हैं। मनको भी उन्होंने इंद्रियोंमें गिना है।

इंद्रियनिग्रह——आत्मदेवका ऐश्वर्य देखनेके लिये बहिर्मुख होकर विषय ग्रहण, विषय सेवन तथा विषयानंदमें मग्न इंद्रियोंको संयमसे बांधकर आत्माकी ओर मोडना इंद्रिय निग्रह है। विषय रस ग्रहण करनेकी आदत अथवा व्यसनसे इंद्रियां विषयानंदमें ही व्यस्त हो जातीं हैं तब आत्मानंद नहीं मिल सकता। इसलिये जैसे घोडेकी रस्सी खींच कर घोडेको अपनी इच्छाके अनुसार अपने गंतव्यकी ओर चलाते है वैसे इंद्रियोंको मनके लगामसे बुद्धिके हाथमें देकर आत्म-रत करनेकी प्रक्रियाको इंद्रिय निग्रह कहा गया है। इंद्रिय जयभी कहा है।

ईश्वर——यह शब्द ईश् अथवा वैदिक संस्कृतके ईशर् धातुसे बना है। इन दोनों का अर्थ सत्तासे व्याप्त रहना। यह सत्ता स्वाश्रयी है। स्वयंभू है। जैसे किसी वृक्षमें रस रहता है, वह रस किसीपर निर्भर न रह कर स्वयंसिद्ध है, और उसी रसके कारण वृक्षको जीवन मिलता है वैसे ईश तत्व है। यह ईशर् या ईश तत्वके कारण विश्वमें, अर्थात् विश्वके प्रत्येक वस्तुमें हलचल है। जीवन है। यदि यह नहीं होता तो विश्वमें कोई हलचल नहीं होती। जीवन नहीं होता।

अर्थात् विश्वमें जहां कहीं हलचल है वहां यह तत्व व्याप्त है और सब पर अपना स्वामित्व रखता है। ईश्वर शब्दसे स्वामित्व और सर्व-व्यापकत्वका बोध होता है।

भारतीय तत्वज्ञान तथा सांस्कृतिक साहित्यमें इस शब्दका अत्यंत महत्त्व है। ऋग्वेदमें ईश्वर शब्द कहीं नहीं आया है। किंतु ईश् ईशर् धातुजन्य ईश, ईशज, ईशान आदि शब्द इंद्रादिके लिये आये हैं। संभवतः भगवद्गीतामें ईश्वर शब्दका–पहला ?- प्रयोग हुवा है। मनुस्मृतिमें भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहांसे यह परमेश्वरके रूपमें - संप्रदायातीत रूप- भारतीय तत्वज्ञानमें स्थान स्थान पर आया है। ईश्वर या परमेश्वर वैदिक देवता समूहका देवता नहीं है। यह उससे परेकी शक्ति है। ब्रह्मा विष्णु महेश भी परमेश्वर नहीं है। वस्तुतः वैदिक देवताओंके पीछे जो एक शक्ति थी और इंद्र, अग्नि, यम मातरिश्वा आदि नामसे पहचानी जाती थी उस शक्तिका परिचय देनेके लिये ईश्वर या परमेश्वर शब्दका प्रयोग किया गया है। संभवतः वेदांतके नपुंसकलिंगी ब्रह्मका - पूजार्थ - पुल्लिंगी ईश्वर अथवा परमेश्वर बन गया हो, क्यों कि नपुंसकलिंगीकी पूजा अर्चा नहीं होती। इस दृष्टिसे ज्ञानमार्गके ब्रह्मका भक्तिमार्गी ईश्वरमें परिवर्तन कह सकते हैं। या ईश्वर निराकार निर्गुण ब्रह्मका साकार सगुण रूप है! वेदांतियोंका "ब्रह्म" नकारात्मक सत्ता है। नेति नेति है। प्रत्येक प्रश्नका नहीं नहीं नहीं उत्तर देनेके बाद जो रहता है - प्रश्न और उत्तर दोनों मौन है - वह ब्रह्म है तो ईश्वर प्रत्येक प्रश्नका उत्तर "हां" में देता है। ईश्वर सर्वव्यापी है। सभी ईश्वर है। भारतके विविध दर्शनोंके मूल सूत्रोंमें ईश्वरका दर्शन होता है। उसका रूप खिलता जाता है। यह ईश्वर संप्रदायातीत है। विश्व–व्यापारमें जो योजकता और नियमितता दिखाई देती है उसको देख कर "यह सब चलानेवाला कोई शासक" है इस कल्पनामेंसे ईश्वरका उदय हुवा होगा। ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंमें "शासक" का भाव नहीं है। इसी बातको लेकर दार्शनिकोंने ईश्वरके विषयमें निम्न आठ बातें कहीं हैं।

(१) विश्व रचना और व्यापार नियमबद्ध है। इसकी गतिके नियम सूक्ष्म, सुसूत्र और निश्चित हैं। कहीं कोई गड़बड़ नहीं, अव्यवस्था नहीं। इसलिये इसका निर्माण तथा संचालन करने-वाला कोई शासक है और वह ईश्वर है।

(२) विश्वकी गतिमें एक निश्चित प्रेरणा है। इसलिये इसका कोई प्रेरक है। वही ईश्वर है।

(३) विश्वमें सर्वत्र संकल्प और हेतुका दर्शन होता है। वह जिसके मतमें है वही ईश्वर है।

(४) प्राणियोंके सो जाने पर भी विश्व रहता ही है। इसलिये इन सबका अनुभव लेनेवाला कोई है। और वही ईश्वर है।

(५) इस विश्वमें सुंदर मंगलमय जो जो कुछ है उसके मूलमें नित्य नूतन अनंत प्रतिभा होनी ही चाहिए। यह प्रतिभा जिसकी है वही ईश्वर है।

(६) शुभ-अशुभ, भला-बुरा आदिका निश्चय करनेवाली कोई शक्ति होनी ही चाहिए, वैसे ही उसका निर्णय करनेवाला कोई न्यायाधीश। वही ईश्वर है।

(७) जिसका मूल्य माने बिना धैर्यसे संसारमें कुछ करना असंभव है वह मूल्य ही ईश्वर है।

(८) विश्वके अन्यान्य मानवोंके धार्मिक जीवनके परिणामस्वरूप जो अतींद्रिय अनुभव आता है वही ईश्वर साक्षात्कारका अनुभव है। विश्वके अन्यान्य मानवी समुदायके मनीषी ऋषी मुनि तथा साधुसंतोंका अनुभव इसका साक्षी है।

(१) न्याय-दर्शनमें ईश्वरका महत्त्वका स्थान है। बिना ईश्वरानुग्रहके किसीके विश्वकी समस्याओंका यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। बिना ईश्वरानुग्रहके मुक्ति असंभव है। ईश्वर सृष्टि स्थिति लयका कर्ता है। नैयायिक (१) कार्यकारण संबंध (२) अदृष्ट, (३) वेदप्रामाण्य इन तीन आधारभूत प्रमाणोंसे ईश्वरका प्रतिपादन करते हैं।

(२) योग-दर्शनमें ईश्वर ही सब कुछ है। योगमें क्लेश, कर्म विपाक और आशयसे रहित पुरुष विशेष ही ईश्वर है। योगदर्शनके ईश्वर प्रमाणके आधार है (१) वेद (२) विश्वकी ज्ञान प्रवाहका मूलस्रोत ही ईश्वर है। गुरुत्वका आदिपीठ ईश्वर है। (३) प्रकृति पुरुषकी संयोजक शक्ति ही ईश्वर है।

(३) मीमांसादर्शनमें प्राचीन मीमांसक निरीश्वरवादी थे किंतु आगे यह बात गलत होनेका भान हुवा होगा मीमांसकोंको। उत्तरकालीन मीमांसकोंने (१) कर्मफलके दाताके रूपमें (२) तथा यज्ञपतिके रूपमें ईश्वरको स्वीकार किया।

(४) वेदांतदर्शनमें (१) सविशेष ब्रह्म ईश्वर है (२) विश्वके सृष्टि स्थिति लयका कारण ईश्वर है। (३) यह सारा विश्व उस सर्वज्ञ ईश्वरकी लीला है।

(५) गीतामें सभी पहलुओंसे ईश्वरका विचार हुवा है। ज्ञानेश्वरीके सेकडो ओवियोंमें इसका विवेचन देखनेको मिल सकता है।

उड्डियानबंध - उड्डियान——सारा श्वास बाहर करके पेट अंदर खींच कर निःश्वास करना। एक प्रकारसे यह बाह्य-कुंभक-सा है। प्राणायाममें बाहरका वायू-पूरकद्वारा-अंदर खींच कर पेटमें रोककर कुंभक करते हैं। वैसे ही पेटका वायू-श्वास-बाहर डालकर-रेचकद्वारा उड्डियान करके बाहर रोका जाता है। पेटको संपूर्ण श्वास रहित करके पापडकी भांति-पीठसे चिपका देनेकी क्रिया ही उड्डियानबंध है। हठ योगमें इसको " मृत्युगण केसरी " कहा गया है। यह बंध त्रिदोषोंका नाश करता है। प्राणको स्थिर करता है। सुषुम्नाका द्वार खोलता है।

उत्तरायण——सूर्यका उत्तरकी ओर मुडना। मकर संक्रांतिसे कर्क संक्रांति तक का काला सामान्यतया जानेवरी १४ से छ महीने। इन दिनोंमें मरनेसे मोक्ष प्राप्ति होती है ऐसी मान्यता है। उत्तरायणमें अधिक सूर्यप्रकाश रहता है।

उदान——पंच-प्राणमें यह चौथा है। यह कंठस्थानमें होता है। इसकी गति ऊपरकी ओर होती है। यह वाणीका-वाक् शक्तिका-आधार है। बोलना गाना आदि क्रियायें इसी उदानके कारण होती हैं। वाणी मनुष्यका सारतत्व है। वाङ्मय इसका रूप है। इसी उदानके कारण वाग्ब्रह्मका स्फोट होता है। उदानसे शब्दोत्पत्ति है ! संभवतः इसीलिए प्रणवको उद्गीथ कहते हों। बौद्ध साहित्यमें उदानका अत्यंत महत्त्व माना गया है। यह कहा गया है कि बुद्धके सारे उपदेशका मूल उदान है। उपनिषदमें प्रणवको उद्गीथ कहा गया है।

उन्मनी-अवस्था—सामान्यतया मनुष्यकी तीन अवस्थायें होतीं हैं। इनको (१) जागृति, जगते रहना (२) सुषुप्ति = सोना (३) स्वप्न। इन तीन अवस्थाओंके अलावा एक, चौथी अवस्था होती है। उसको तुर्यावस्था अथवा उन्मनी कहते हैं। इस अवस्थाका वर्णन दो प्रकारसे किया गया है। (१) मनोलय होने से। इसके अनुसार मनका मनत्व (संकल्प विकल्प) रहता ही नहीं। (२) इंद्रिय मनादिको साक्षी रूपसे देखनेकी शक्ति। अपने चित्स्वरूप अथवा आत्मरूपका बोध होनेपर ही यह स्थिति संभव है। केवल सच्चिदानंदके समरसैक्यके बोधसे ही यह संभव हो सकता है। इसलिये तुर्यावस्थाका अर्थ अद्वयानंद ऐसा किया गया है।

उन्मनी-मुद्रा—हठयोगकी अनेक मुद्राओंमें एक मुद्रा। इसमें साधक नासिकाग्रमें दृष्टि स्थिर रख कर भृकुटियां ऊपर चढाता है। और धीरे धीरे दृष्टि भृकुटिमध्यमें लाता है। साधकको इस उन्मनी साधनासे महान् लाभ होता है। चित्त एकाग्र होता है ऐसे गोरख कबीर आदि योगमार्गी संतोंने कहा है। उन्मनी मुद्रासे उन्मनी भाव जगता है। उन्मनी अवस्था देखें।

उपनिषद्—वैदिक तत्वज्ञानका संग्रह ! उपनिषदोंमें प्राचीन भारतीय तत्वज्ञानका विचार किया गया है। उपनिषदका शब्दार्थ है पास बैठना। अत्यंत भक्तिभावसे, अपनेको गुरु सेवामें विलीन - निःशेष - करके गुरुसे तत्वग्रहण करना उपनिषद है। अविद्याको नष्ट करके ब्रह्मविद्याको ग्रहण करना उपनिषद् है। ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन करनेवाले ऐसे अनेक उपनिषद हैं जिनमें १२८ प्रकाशित हुए हैं। इनमें १४ उपनिषद प्राचीन मानते हैं। उनमें भी दस अत्यंत महत्वके हैं।

उपनिषदोंमें कुछ पद्यमय तो कुछ गद्यमें हैं। कुछ गद्यपद्यात्मक हैं। ई पू. १८०० वर्षोंसे ई. स. ६०० वर्ष तक यह उपनिषदका काल माना जाता है। उपनिषदमें "जिसका ज्ञान होनेसे अन्य सबका ज्ञान अपने आप होता है वह तत्व कौन है ?" ऐसा प्रश्न करके उस तत्वका विचार किया गया है। इस तत्वकी खोज करते करते समग्र विश्वका - सृष्टिका - विचार किया गया है। साथ साथ सृष्टिके मूलमें जो सत्य है, उसके परे कुछ भी नहीं और वह मनुष्य मात्रका प्राप्तव्य है यह कहा गया है। वैसे ही उस सत्य-तत्वको प्राप्त करनेकी साधना भी कही गयी है। अर्थात् उपनिषदमें (१) तत्कालीन ऋषि व आचार्योंकी कुछ जानकारी मिलती है। (२) आत्मा अथवा ब्रह्मकी पूर्ण जानकारी - तब तक जो थी वह मिलती है। (३) सृष्टि व सृष्टि रचनाक्रमकी पूर्ण जानकारी है। (४) जीव तथा जीवन विषयक ज्ञान है। (५) मोक्ष विषयक सिद्धांत है। (६) उसकी साधना विषयक विवेचन है। (७) नीति-नियम है। इस प्रकार सृष्टि, सृष्टि कर्ता तथा मानव जीवन विषयक ज्ञान उपनिषद् में हैं।

१२८ उपनिषदोंमें (१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुंडक (६) मांडुक्य (७) ऐतरेय (८) तैत्तिरीय (९) छांदोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) कौषीतकी (१२) मैत्रेय (१३) श्वेताश्वतर ये उपनिषद प्रमुख हैं। इनके अलावा भी ११५ उपनिषद हैं।

उपाधि—जो पीछेसे चिपका हुवा। जैसे किसीको बीए. एम्. ए, तो किसीको, आचार्य-महात्मा तो किसीको नेता आदि "उपाधि" चिपकती है। जन्मतः यह उसकी नहीं

होती। वैसे जीवको देहादि प्रपंच चिपक जाता है। मूलतः उसका नहीं होता। नाम रूप, रंग, गुण, आकार आदि जीवकी उपाधि है। इस उपाधिके कारण संसारकी, अन्य उपाधियां मामा, चाचा, लड़का, बाप, भाई, भला, बुरा आदि भी चिपकी हुई हैं। देह, मन, इंद्रियादि जीवकी उपाधियां हैं। वैसे ही सारा ब्रह्मांड ब्रह्मकी उपाधि है।—उपाधि सदैव भासमान है। आभास निर्माण करती है, तथ्य नहीं।

इसके साथ निरुपाधिक शब्द आता है। मूल ब्रह्म, आत्मा। जहां जिसे कुछ भी न चिपका हो ऐसा शुद्ध चैतन्य। जैसे परब्रह्म निरुपाधिक है। रामकृष्णादि सोपाधिक हैं।

उपासना——उपनिषद्की भांति उपासना शब्दका अर्थ भी पास बैठना है। वहां गुरुके पास बैठकर गुरुके समान होना है। तो (२) यहां देवता अथवा ब्रह्मके पास बैठकर देव या ब्रह्म-बनना है। उपासनासे भक्त अपने इष्टके पास बैठकर उसकी कृपासे कृतार्थ होता है। ईश्वर, उपासनाका सर्वश्रेष्ठ विषय है। ईश्वर साकार ब्रह्म है। इसलिये वह वास्तविक उपास्य है।

उपासनामें दो प्रकार हैं। (१) सकाम (२) निष्काम। (१) किसी उद्देश्यके लिये ईश्वरके पास जाना सकाम उपासना है। तो केवल ईश्वरके पास बैठनेका ही उद्देश्य रहना निष्काम उपासना है। पूजा, ध्यान, तथा जप उपासनाका त्रिविध रूप है। इसके अलावा निष्काम कर्म, लोकसेवा, शास्त्राभ्यास आदि भी उपासना है।

उपासना भारतीय संस्कृतिका प्राचीनतम अंग है जैसे यज्ञ। भारतीय अध्यात्म साधनामें कर्म, ज्ञान, उपासना इसको कांड त्रय कहा गया है! गीतामेंभी इसका विवेचन है। उपनिषदोंमें ब्रह्मोपासना, प्रणवोपासना आदि उपासना प्रकार है ही। ब्रह्म पदारोहणके लिये इसकी आवश्यकता मानी गयी है।

मूर्तिपूजा उसका बाह्यरूप है। मूर्तिपूजा कोई अर्वाचीन रूढी नहीं है। भारतमें मूर्तिपूजा भी अत्यंत प्राचीन है। यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदिमें भी इसका रूप देखनेको मिलता है। मूर्ति चैतन्य–भावका प्रतीक है। यज्ञाग्नि भी मूर्ति है।

उपासनामें (१) बहिरंगोपासना (२) अंतरंगोपासना (३) देव, ऋषि, पितरोपासना (४) अवतारोपासना (५) सगुण ब्रह्मोपासना (६) निर्गुण ब्रह्मोपासना ऐसे छह प्रकार हैं।

इन सभी प्रकारका आधार श्रद्धा है। उपासनाके लिए श्रद्धा भक्ति अत्यंत आवश्यक है। बिना इसके उपासना व्यर्थ है।

ॐ——प्रणव एकाक्षर ब्रह्म। इसी आदि ध्वनिसे वेदादि ज्ञानका विस्तार माना गया है। उपनिषदोंमें कहा गया है "सभी वेद जिस पदकी घोषणा करते हैं, सभी तप उसीकी बात करते हैं, उसकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं वह पद ॐ है!"

यह पद "अ + उ + म्" मिलकर हुवा है। इसके चार विभाग जागृति, सुषुप्ति, स्वप्न तथा तुर्यावस्थाका द्योतक माने गये हैं वैसे ही विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तथा आत्मा ऐसे चार आत्म-स्वरूपका भी द्योतक माने गये हैं,। वैसे ही अ= विष्णु उ= ईश्वर म=ब्रह्मा इन त्रिमूर्तियोंको भी ॐ में लपेट दिया है!

सर्वप्रथम इस अक्षरब्रह्मकी महती ऋग्वेदके पहले मंडलमें दीर्घतमा ऋषि निम्न मंत्रमें गाता है.

रचा है इस महा अक्षर पर ऋचात्मक पर-ब्रह्म ।
इसमें अधिष्ठित हैं सभी देव अर्थ-रूपमें स-विश्व ॥
न जानते जो इस अक्षरको क्या करेंगे लेकर वेद ।
जानते जो इस अक्षरको वे धीमान् होते हैं कृतार्थ ॥

इसके बाद ब्राह्मण और उपनिषदोंने इसको रहस्यात्मक बनाया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें– "भूर्भुवः स्वः" इनमेंसे अ + उ+ म् की उत्पत्ति बताकर उसका उत्पत्ति - स्थिति - लयसे संबंध जोड़ा। इसके बाद उपनिषदोंने इसको रहस्यमय बना दिया है। उपनिषदोंने ॐ के गूढार्थका अनेक प्रकारसे विकास किया है। वेदाध्यनके प्रारंभ और अंतमें इसका संपुटाकार उपयोग करनेका विधान भी कहा गया। नहीं तो वेदाध्ययन व्यर्थ है !! आगे चल कर कहीं कहीं यह भी कहा गया है "वेद मंत्रोंको ॐकारका संपुट न करनेसे वेदाध्ययन ही नष्ट होगा !!

वैसे ही प्रायश्चित्तके लिए भी प्रणवका उपयोग कहा गया है।

उपनिषदोंमें तो "ॐ" ही ब्रह्म है। यही सगुण और निर्गुण उपासनाका आलंबन है। उपनिषद् कहते हैं "असीम ब्रह्म "ॐ" में सीमित हो जाता है।" "ॐ" ब्रह्मांडका बीज है। यह सारा विश्व "ॐ" का स्फुरण है। जैसे वृक्ष बीजका स्फुरण है!" उपनिषदोंमें ॐ के अ. उ. म् इन तीन अंगोंका निम्न प्रकारसे विश्लेषण किया गया है।

ॐ

	अ	उ	म्
अवस्थाः–	जागृति	स्वप्न	सुषुप्ति
शरीरः–	स्थूल	सूक्ष्म	कारण
आत्मरूपः–	वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ
स्थितिः–	आदि	मध्य	अंत्य
वेदः–	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद
लोकः–	भूलोक	अंतरिक्ष	ब्रह्मलोक
	वाक्	मन	प्राण
	यज्ञ	दान	तप
तत्वमसिः–	त्वम्	असि	तत्
उद्गीथः–	उत्	गीः	थम्
गुणः–	तमस	रज	सत्व

ऐसा यह विश्लेषण इतना अधिक है कि "ओं" पर एक छोटीसी पुस्तिका हो सकती है। ॐ की उपासना केवल सोऽहम् अथवा शिवोऽहम्की उपासना ही नहीं "सर्वोऽहम्" का

स्फूर्ति-स्थान है। वहां विश्व समरसैक्यकी बोधानुभूति है जिससे मनुष्य प्राणिमात्रका प्रतिनिधि बन कर सदैव विश्व - हितरत रह कर—

"विश्व ही मेरा घर। ऐसी मति है स्थिर।
हुवा स चराचर। अपनेमें आप॥

बन जाता है।

गीतामें भी इसका पर्याप्त विचार किया गया है। ज्ञानेश्वरीमें भी पर्याप्त लिखा है। आगे प्रणवमें भी इसके अतिरिक्त कुछ देख सकेंगे।

करुणा—मनुष्यके आध्यात्मिक विकासके लिये करुणा अत्यंत आवश्यक वृत्ति है। दुःखी जीवोंके विषयमें सहानुभूतिसे करुणाका उदय होता है। चित्तकी शांति, समता, प्रसन्नता आदिके विकासके लिये भी करुणावृत्ति आवश्यक है। पातंजल योगसूत्रोंमें मैत्री, मुदिता, व उपेक्षाके साथ करुणाका भी उल्लेख किया गया है। बौद्ध साधनामें करुणाका महत्वका स्थान है। ईश्वरको जैसे करुणामय कहा गया है वैसे ही बोधिसत्वको भी करुणासे ओतप्रोत कहा गया है। दुःखियोंके हितके लिए सदैव तैयार रहना ही करुणा है।

कर्म—करना, हलचल, व्यापार, आदि इसके शब्दार्थ हैं। ऋग्वेदमें कई बार यह शब्द आया है। वहां "वीर कृत्य" अथवा "धर्मके काम" इस अर्थमें यह शब्द आया है। मीमांसामें "फलापेक्षासे लोगोंसे जो जो कुछ किया जाता है, तथा प्रवाह रूपसे जो बीजमेंसे अंकुर अंकुरमेंसे बीज-ऐसे- अनादि अनंत है" वह! ऐसा कर्म शब्दका अर्थ किया गया है।

गीतामें "मनुष्य जो कुछ करता है वह सब कर्म" ऐसा कहा गया है। सोना, उठना, श्वासोच्छ्वास, हृदयक्रिया रक्ताभिसरण, और क्या अंतमें मरनाभी एक कर्मही है। इसीलिए ईशावास्योपनिषदमें "देहधारीके लिए बिना कर्मके दूसरा रास्ता ही नहीं!" ऐसा कहा गया है।

गीतामें फिर एक बार "मनुष्य बिना कुछ किये क्षण भर भी नहीं रह सकता" कहते हुए कर्मकी व्याख्या स्पष्ट की है।

कर्म पर विचार करनेवाले विचारकोंने इसके दो विभाग किये हैं। अर्थकर्म और गुणकर्म। आत्मगत अपूर्व उत्पन्न करनेवाला कर्म अर्थकर्म है। जैसे अग्निहोत्रादि। इस अर्थकर्मके तीन विभाग है। नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म, तथा काम्यकर्म। नित्यकर्म, संध्या, अग्निहोत्र आदि। नित्य-कर्म करनेसे कोई पुण्य नहीं मिलता, किंतु नहीं करनेसे पाप लगता है। अग्निहोत्रादि नित्यकर्ममें व्यत्यय आया तो उसके लिये प्रायश्चित्त है। नैमित्तिक कर्म, मातापितादिके मृत्युदिवसके उपलक्ष्यमें किया जानेवाला श्रद्धादि, ग्रहणादि पर्वकालमें समुद्र-स्नानादि, नैमित्तिक कर्म यदि निमित्त न हो, तब करनेकी आवश्यकता नहीं। तथा मनमें कोई इच्छा रखकर इच्छासे प्रेरित होकर, किया जानेवाला काम्य कर्म। काम्य कर्ममें अनेक प्रकार हैं। काम्य कर्ममें भी तीन प्रकार हैं। (१) केवल ऐहिक सुखप्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्म (२) केवल पारलौकिक सुखप्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्म (३) तथा ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्म।

ये सारे अर्थकर्मके प्रकार हुए। गुणकर्मके अनेक प्रकार हैं। ये मनुष्यके संस्कारोंके विकासके लिये अथवा संस्कारक्षम बनानेके लिये किये जानेवाले कर्म हैं। जैसे स्वाध्याय आदि। इसके अलावा वर्णाश्रमके कर्म, प्राप्तकर्म, कर्तव्य कर्म, आदि कर्मके अनेक प्रकार हैं जिसका विवेचन लोकमान्य तिलकजीके गीता रहस्यमें देखनेको मिलेगा।

कर्ममार्ग, कर्मयोग—देहधारीको कर्म अनिवार्य है। बिना कर्मके रहना भी असंभव। और, जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी अनंत परंपरा चलती जाती है वैसे कर्मसे जन्म और जन्मसे कर्मकी भी एक परंपरा है! इस परंपरासे अथवा उलझनसे छूटकर जन्म-मरण चक्रसे छूटना संभव है क्या? यदि संभव है तो कैसे? इस प्रश्नके उत्तरमें गीता कहती है "संभव है।" कुशलता पूर्वक कर्म करके यह संभव है! यह "कर्मकुशलता ही कर्मयोग है!" इस कर्म-कुशलताको समझाते समय गीता कहती है "जैसे जले हुए बीजका अंकुर नहीं फूटता वैसे दग्ध कर्मसे भी जन्मोदय नहीं होता!" यह दग्ध कर्म प्रणाली ही कर्मकुशलता अथवा कर्मयोग है। जिससे कर्म होता रहे और उसमेंसे जन्मका अंकुर नहीं फूटे। बंधनका कारण-रूप कर्म मोक्ष कर्म हो। यह कैसे होगा? फलाशा छोडकर। निरिच्छ भावसे कर्म करके। इसके विविध प्रकार बताते हुए गीतामें (१) लाभ-हानिका विचार न करते हुए समबुद्धिसे कर्म कर (२) निरिच्छ भावसे केवल कर्तव्य मान कर कर्म कर (२) फलाशा न रखते हुए लोकसंग्रहार्थ अथवा लोकहितार्थ कर्म कर (३) निष्काम भावसे देहधर्म मानकर कर्म कर (४) ईश्वरार्पण भावसे सभी कर्म कर (५) अनासक्त हो कर प्राप्त कर्म कर (६) सदैव सर्वत्र 'इदं न मम' भावसे कर्म कर (७) शून्य भावसे न करनेका सा कर्मकर कर्म कुशलताके ऐसे अनेक प्रकार बताये हैं। "फलाशा-त्याग" कर्मकुशलताका रहस्य है। यह सांपका विष-दंत तोड कर सांपको खिलानेकी कला है। कर्म पर अपना स्वामित्व स्थापन करके कर्मका नेतृत्व करनेकी कला ही कर्मकुशलता है। तब मनुष्य कर्मसे आवृत, बद्ध नहीं होता!

कर्म-क्षय—आध्यात्मिक दृष्टिसे तीन प्रकारके कर्म होते हैं। प्रारब्धकर्म, संचितकर्म, क्रियमाण। पूर्व जन्ममें प्रारंभ किये गये जिस कर्मके परिणामस्वरूप यह जन्म मिला है उस कर्मको प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। इसको "दैव" भी कहा गया है। जन्मजन्मांतरसे जिस कर्मके संस्कारोंका संचय हुवा है वह संचित कर्म है। मानवी जीवन अत्यंत गहरा है। वह जन्मजन्मांतरके संस्कारोंका महासंचय अथवा महाकोश है। संस्कारके इस महाकोशको संचित कर्म कहा गया है। इसीसे पुनः पुनः अलग अलग वासनाएं जागृत होकर कर्मकी प्रेरणा देती हैं। इसी संचित-कर्मसे नित नयी वासनाओंका अंकुर फूटता है और कर्मका सिलसिला चल पड़ता है। उनमेंसे नित नये कर्म और कर्म-बीज बनते, अंकुरते रहते हैं। कर्म और जन्मचक्रको गति मिलती है और क्रियमाण-वर्तमानमें चालू क्रियायें हैं। इस जन्ममें जीते जागते काया-वाचा-मनसे जो कर्म होते हैं वे सब क्रियमाण हैं। इन कर्मोंके साथ इन कर्मजन्य संस्कार भी क्रियमाणमें आते हैं।

प्रत्येक जीव इन तीन प्रकारके कर्मोंसे बंधा हुवा है। इसी कर्म-बंधनके कारण वह बद्ध है। कर्माधीन है। साधकको शांत भावसे तटस्थ भावसे, साक्षीरूप रहकर इदं न मम भावका अनुभव करते हुए सबकुछ आत्मार्पण करके सतत और सर्वत्र आत्म-चिंतनरत रह करके इन तीनों प्रकारके कर्मोंका नाश करना है। वास्तविक साधना यही है। इससे वासना विलोप हो कर पूर्णत्वके शाश्वत आनंदका अनुभव आने लगता है जिसे ब्रह्मानंद कहा गया है।

कल्पवृक्ष अथवा कल्पलता—यह स्वर्गका एक वृक्ष है। भारतीय साहित्यमें अत्यंत प्राचीन कालसे इसका उल्लेख मिलता है। इसकी छायामें बैठकर जो कुछ चाहते हैं वह सब मिलता है। यह चित्र विचित्र महीन कपडे, स्वादिष्ट अन्न, मध, मद्य, तथा अलंकार देता है, ऐसे कालिदासने लिखा है। भारतके प्राचीन शिल्पमें इसकी आकृतियां देखनेको मिलती हैं। राजाके

सिंहासन पर यह होना ही चाहिए ऐसी मान्यता है। केवल हिंदू धर्ममें ही नहीं पूर्व पश्चिम एशियाके सभी धर्मोंमें ये कल्पनाएँ हैं। ईसाई और मुसलमान धर्मके स्वर्गमें भी यह वृक्ष होता है। माना जाता है कि इस वृक्षमें बारह प्रकारके फल लगते हैं।

काकीमुख——सुषुम्ना नाडीका ऊपरका सिरा जो ब्रह्मरंध्रके पास होता है।

काकीमुद्रा——हठयोगकी एक मुद्रा। इसमें जीभको कौवेकी चोंचकी भांति गोल बना कर इसमेंसे धीरे धीरे श्वास अंदर लेना - पूरक करना - होता है। प्राणायामके जो अनेक प्रकार हैं उनमें शीतला प्राणायाममें यह एक प्रकार है। इससे सभी शारीरिक रोग नष्ट होते हैं और शरीर संपूर्ण स्वस्थ रहता है।

कलियुग——चारयुगोंमें एक, अंतिम युग। महाभारत युद्ध जब प्रारंभ हुवा था उसी समय द्वापरका अंत होकर कलियुगका प्रारंभ हुवा है। दूसरे शब्दमें कहें तो, भारत-युद्धसे कलियुगका प्रारंभ कह सकते है। इस युगका प्रारंभ ई. पू० ३१०२ फरवरी २८ से प्रारंभ हुवा ऐसे माना जाता है।

भारत युद्धके कालके विषयमें विद्वानोंमें बडा मतभेद है। कुछ विद्वान मानते हैं कि भारत युद्ध ई. पू. १४२० में हुवा था। किंतु मैसूर राज्यके विजापूर जिलाके ऐहोळेमें जो शिला-शासन मिला है उसके विषयमें कहा जाता है कि भारत युद्धके कालनिर्णयमें वह अत्यंत महत्वका है। वह पूर्व चालुक्यके दूसरे पुलकेशीके समयका है। उसमें लिखा है कि जब कलियुगके ३७३५ वर्ष बीत चुके हैं शकके ५५६ वर्ष बीते तब यह प्रशस्ति लिखी जा रही है। इसका अर्थ है शालिवाहन शक से ३१७९ वर्ष पूर्व भारत युद्ध हुवा था अर्थात तभी कलियुग प्रारंभ हुवा। जेसलमेरमें भी एक शिला लेख मिला है वह भी यही गणित कहता है। उसमें शालिवाहन शक और युधिष्ठिर शकका अंतर ३१७९ है। कलियुग ४३००० वर्षका है।

प्राचीन ग्रंथोंमें कलियुगका अर्थ असत्प्रवृत्तियोंका बढ़ते जाना ऐसा कहा गया है।

कल्प, कल्पांत——ब्रह्मके एक दिनको कल्प कहा जाता है। चार युगोंके एक हजार आवर्तनोंसे ब्रह्मका एक दिन—प्रातःकालसे संध्याकाल होता है। इतने ही समयकी एक रात्र होती है। इस अहोरात्रको दिन रातको कल्प कहा जाता है। एक कल्पमें ४३२०००००० वर्ष होते हैं।

एक कल्पमें २४ मन्वंतर होते हैं जैसे दिवसमें २४ घंटे होते हैं। इस समय छटा मन्वंतर चला है।

ऋग्वेदमें भी कल्पकी कल्पना है। आधुनिक विज्ञानके अनुसार भूगर्भशास्त्रसे यह कल्प कुछ कुछ ठीक बैठता है।

कल्पके प्रारंभमें विश्वकी सृष्टि होती है और कल्पांतमें विश्वका अंत। कहीं कहीं ब्रह्माका दिनोदय सृष्टि रचना, ब्रह्माका दिन सृष्टीका जीवन और ब्रह्माकी रात्र सृष्टिलय ऐसा भी कहा गया है।

गीताके अनुसार कल्पारंभमें सृष्टि उत्पन्न होती है और कल्पांतमें वह डूब जाती है। ज्ञानेश्वरीमें कल्पांतके दृश्यका वर्णन जहां तहां है।

काम——चार पुरुषार्थोंमें प्रथम पुरुषार्थ, वेदके नासदीय सूक्तमें, उसके, परमात्माके मनमें उत्पन्न कामसे ही विश्वकी उत्पत्ति होनेकी बात कही है। काम "संतान रूपसे अमर होनेकी आत्माकी स्वाभाविक इच्छाकी प्रक्रियाजन्य एक भूख है।" वेदमें "आत्मा आता पुत्र रूपसे" कहते हुए इसका वर्णन किया है। अथर्व वेदमें कामको "महान् विश्व-शक्ति" माना है। ब्राह्मणोंमें यज्ञवेदीको स्त्री तथा अग्निको पुरुष माना है। छांदोग्य उपनिषद्में "प्रजातंतु नहीं तोडना!" यह आज्ञा है। बृहदारण्यकमें स्त्री पुरुष संभोगको यज्ञ-विधि माना है। तथा "गीतामें उत्पत्ति हेतु मैं काम" कहा गया है। प्राचीन ऋषिमुनियोंने इसकी उपेक्षा या अवहेलना न करके जीवनमें कामको भी महत्त्वका आवश्यक स्थान दिया है। जीवनमें सर्वत्र प्रमाणबद्धता है। प्रमाणबद्धतामें ही सौष्ठव और सौंदर्य है। वेद तथा उपनिषदोंमें कामको मानवी मनकी महत्वपूर्ण प्रेरक शक्तिके रूपमें स्वीकार किया है। किंतु इसकी भी सीमा है। जब यह अपनी सीमाको पार करता है तब मनुष्य उन्मत्त हो कर उचित अनुचितके भानको खो देता है। ऐसी स्थितिमें यह विकार और सभी पापका मूल मान कर निषिद्ध माना गया है।

कामधेनु——इच्छापूर्ति करनेवाली गाय। देव-दानवोंने जब समुद्र मंथन किया तब समुद्रमेंसे यह गाय निकली। शिववाहन नंदी इसी गायका बछडा है। वह वसिष्ठके साथ रहकर उसके यज्ञादि संपन्न करती थी। उसने वसिष्ठाश्रममें अतिथि बन कर आये हुए विश्वामित्रको इच्छा-भोजन खिलाया था। सूर्यवंशी दिलीपने इसकी सेवा की थी। इसके प्रसादसे ही रघुका जन्म हुवा था।

कालकूट——समुद्रमंथनके समय अमृतके पहले जो विष उबलकर आया जिससे विश्व जलने लगा और फिर शंकर लोक-कल्याणके लिये जिसको पी गये वह विष। इसको हलाहल भी कहते हैं। इसको शंकर-भगवानने गलेमें ही रखा, पेटमें उतरने नहीं दिया। जिससे शंकर भगवानका गला-नीला हो गया इस लिये शंकर-भगवानको "नीलकंठ" कहते हैं।

कुंडलिनी——मनुष्य शरीरमें अथवा मानवी जीवनमें जो महान् सुप्त शक्तियां होती हैं उनमेंसे एक सुप्त शक्ति! योग शास्त्रमें इसका विस्तृत वर्णन है। यह सदैव मूलाधार चक्रमें साडेतीन कुंडली मार कर सुप्तावस्थामें रहती है। कुंडलिनी इस शब्दसे इसकी वक्रभावापन्न अवस्था स्पष्ट होती है। जब यह शक्ति अपनी वक्रता छोड कर सरल होती है, स्वाभाविक होती है, तब शिवसे अभिन्न होने तक चैन नहीं लेती!

आत्मा, नित्य शक्तिसंपन्न होता है। वह सर्वकाल निष्क्रिय होता है किंतु उसकी शक्ति कभी निष्क्रिय तो कभी सक्रिय होती है। इस शक्तिके चित् अचित् ये दो भेद होते हैं। चित् शक्ति सदैव आत्मासे अभिन्न होती है। इस शक्तिको वैष्णव साधक शुद्ध सत्त्व कहते हैं तो तांत्रिक बिंदु या महामाया कहते हैं।

कुंडलिनी शब्दकी अनेक व्याख्यायें की गयी हैं। जैसे (१) सुप्त प्राणशक्ति (२) शेष, अनंत ब्रह्मांडकी रचना करनेके बाद जो आधारभूत शक्ति बची रही वह (३) सुप्त मानसिकशक्ति (४) दिव्य आदिशक्तिका व्यक्त रूप (५) प्रज्ञापरिमिता (६) विश्वव्यापी विद्युत् शक्ति (७) चितृशक्ति (८) जीवात्माकी प्रणवरूपी आदिशक्ति (९) आध्यात्मिक शक्ति (१०) शरीरस्थित सुप्त चेतना।

शिवका वसतिस्थान कैलास-शरीरमें सहस्रार है और शक्तिका-कुंडलिनीका-सुषुम्नाके मूलमें मूलाधार चक्र। शक्ति जब वक्र होती है, सुप्त होती है तब स्वस्थानमें पडी रहती है और जब जागृत होती है, सहज होती है तब, शिवसे मिलनेके लिये तीव्र गतिसे ऊपर चढने लगती है।

तंत्र ग्रंथोंमें--कुंडलिनी शक्तीका ऐसा ध्यान है।—

करना ध्यान कुंडलिनीका रहती मूलाधारमें सूक्ष्म।
बैठी है इष्ट देवता रूप साढे तीन कुंडल मारके।
कोटि बिद्युल्लताके समान तू है स्वयंभू लिंगको घिरे॥

कई लोग इसके साढे तीन कुंडलके संबंध ॐके साडे तीन मात्राओंसे जोडते हैं। वैसे ही कुछ लोक इसके साडे तीन कुंडलके संबंध स्वप्न जागृति सुषुप्ति तुर्यासे जोडते है और कुंडलिनीकी जागृति को मनुष्यमें स्थित सुप्त प्रणव या बीजकी जागृती कहते हैं अथवा तुर्यावस्थाकी जागृति मानते हैं।

जप, तप, योग--साधन, ध्यान, भक्ति, कीर्तन, भजन, ज्ञान, सतत दीर्घ अभ्यास, सत्कर्म, प्राणायाम, तीव्रदुःख आदि कारणोंसे तथा योगियोंद्वारा शक्तिपात करनेसे यह कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है। यह जागृत होते ही स्वाधिष्ठान, मणिपुर आदि चक्रोंसे होकर सहस्रारकी ओर वेगसे चलती है। जाते समय जो कुछ विरोध होता है उसको वह तोडते हुए चलती है। इसकी अद्‌भुत शक्तिके कारण यदि साधककी ठीक व्यवस्था नहीं रही तो उसकी मृत्यूकी भी संभावना हो सकती हैं। इसलिये वहां अनुभवी गुरुकी आवश्यकता बताई गयी है।

उपनिषद्रोंसे लेकर आधुनिक संत साहित्यतक अनेक ग्रंथोंमें कुंडलिनी जागृतिके अनेक उपाय कहे गये हैं। प्राणायामके अनेक प्रकार, मनकी एकाग्रता, आदिसे कुंडलिनी शक्तिको जागृत करके उसको सुषुम्नाके द्वारा सहस्रार तक चढानेकी विधियां कही गयी हैं। किस चक्रके बाद किस चक्रमें प्रवेश होता है, किस चक्रमें प्रवेश होनेके बाद क्या क्या होता है, इन सबका विस्तृत वर्णन देखनेको मिलता है। जब वह चंद्रनाडी चक्रमें प्रवेश करती है तब वहां अमृत-प्रवाह होने लगता है। तब साधकको अन्य सभी सुख तुच्छ लगने लगते हैं और वह केवल ब्रह्मानंदकी भूखसे आत्मसुख प्राप्तिके लिये अव्याहत साधनारत रहने लगता है। अनाहत चक्रमें जब कुंडलिनी शक्ति आती है तब अतींद्रिय शब्द सुनने लगते हैं। उसके बाद कुंडलिनी शक्तिको "मारुत" कहा गया है। ज्ञानेश्वरीके छठे अध्यायमें इसका विस्तृत और काव्यात्मक वर्णन है।

कुरुक्षेत्र——यह वर्तमान हरियाना राज्यके कर्नाल जिलामें आता है। कुरुराजाने हलसे कसकर यह भूमि बनायी थी इस लिये इसको कुरुक्षेत्र कहते हैं। कुरु कौरवोंका मूल पुरुष है। यह राजा अत्यंत तपस्वी था। इसने शिवजीसे वरदान मांगलिया था कि मैंने जितनी यह भूमि कसी है उतनी भूमि पवित्र मानी जाय। यह धर्मक्षेत्र माना जाय।

यह करीब ८० कोसका चौरस प्रदेश है। महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रंथोंमें इसकी चतुःसीमा बताई गयी है। यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, बृहज्जाबालोपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंमें इस क्षेत्रका वर्णन है। कहीं कहीं इस भूमिको देवताओंकी यज्ञभूमि कहा गया है। सूर्य ग्रहणके समय वहां बडा मेला लगता है।

बुद्ध पूर्व कालमें यह एक महाजनपद था। ई. पू० ३२१ से ई. स. १८५ तक यह मौर्य साम्राज्यमें था। इसके बाद गुप्त साम्राज्यमें गया। हर्षवर्धनके काल तक यह भाग सांस्कृतिक उन्नतीके शिखर पर था। इसके बादका इतिहास विदेशियोंके आक्रमण और विनाश लीलाओंसे भरा हुवा है। थानेश्वर, पानीपत, थरावडी, कैथल, कर्नाल आदि युद्धक्षेत्र इसी कुरुक्षेत्रके अंतर्गत हैं।

कुरुक्षेत्रमें (१) ब्रह्मसर (२) संनिहिसर (३) ज्योतिसर (४) स्थानेसर (५) कालेसर ऐसे पांच सरोवर हैं। वैसे ही (१) चंद्रकूप (२) विष्णुकूप (३) रुद्रकूप (४) देवीकूप ऐसे चार कूप हैं। साथ साथ पहले जो (१) काम्यवन, (२) अदितिवन (३) व्यासवन (४) फलकीवन (५) सूर्यवन (६) मधुवन (७) शीतवन थे ऐसा कहा जाता है वहां आज (१) काम्यतीर्थ (२) अदितितीर्थ (३) फल्गुतीर्थ (४) सूर्यकुंडतीर्थ ऐसे कुंड हैं।

परशुराम, प्रजापति, अंबरीष, ययाति, आदि राजाओंका इस क्षेत्रसे संबंध आता है। आज वहां एक दिनसे अधिक रहना अयोग्य माना जाता है। संभवतः ई. पू. २ री सदीसे तीर्थयात्रार्थ वहां जाकर तुरंत लौट आनेका रिवाज प्रारंभ हो गया है।

कृच्छ्र—प्रायश्चित्तार्थ किया जानेवाला एक व्रत। इस व्रतमें पहले तीन दिन एक बार केवल हविषान्न खाना है। फिर तीन दिन केवल रातको खाना। फिर तीन दिन जब जो मिले वह एक ही कौर खाना। इसके बादके तीन दिन संपूर्ण निर्जल उपवास। खडा खडा दिन और बैठ कर रात बिताना। इन दिनोंमें सत्य बोलना; तीन बार स्नान, अकुलीन स्त्री पुरुषोंसे संभाषण वर्जे, सूर्यपूजन, अग्निहोत्र आदि नियम कहे गये हैं। इसके बाद तेरहवें दिन ब्राह्मभोजनके साथ भोजन करना। यह विधि गौतमधर्मसूत्रमें कही गयी है।

कूटस्थ—निर्विकार आत्मा जो स्थूल वा सूक्ष्म देहसे विच्छिन्न नहीं होता है वह सुनारकी ऐरिणीकी भांति निर्विकार होता है। देह अविद्याका कल्पना जन्य है। कल्पनाके लिए आधार चाहिए। आत्मा सर्व व्यापी है। देहद्वयसे वह विच्छिन्नसा लगता है। सुनारकी ऐरिणी पर कुछ भी वस्तु रख कर उस पर कितने ही प्रहार करने पर भी ऐरिणीको कोई विकार नहीं होता वैसे ही, आत्माके आधारसे रहनेवाले जीवको विषयादिसे कितना ही क्लेश होने पर भी आत्मा निर्विकार रहता है। ऐसा वह निर्विकार आत्मा ही कूटस्थ कहलाता है।

कैवल्य—मोक्ष इस शब्दके अर्थमें इसका प्रयोग होता है। त्रिविध दुःखोंका अंत ही कैवल्य है। आत्मसाक्षात्कारके बाद कर्तृत्वादि अभिमान नष्ट होते हैं। कर्मसे निवृत्ति होती है। अनंतकर्म करनेके बाद भी कर्तृत्वका भान नहीं होता।

न करनेका-सा अनंत कर्म करना, न चलनेका सा बिना ओर छोरका चलना, न बोलनेका-सा अनंत संभाषण सुख, सदैव ब्रह्मभावमें लीन रहना, इस स्थितिको कैवल्य कहा गया है। केवल ब्रह्म-भाव प्राप्ति ही कैवल्य है!

क्रोध—प्राचीन चिंतनशील ऋषिमुनियोंने (१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मत्सर इनको षड्विकार अथवा छ शत्रु माना है। मनुष्यके छ

शत्रुओंमें क्रोध दूसरा शत्रु है। प्रतिकूल विषयमें जो तीव्र बोधानुभूति होती है उसको क्रोध कहा गया है। अपने लिए प्रतिकूल स्थितिमेंसे, जैसे अपमान, अन्याय, असमाधान आदि होता है तब, क्रोधका उदय होता है। जो भावनाएं अंतःकरणके लिए प्रिय है उसके विरुद्ध कुछ होते ही क्रोध आता है। क्रोधका मूल रजोगुण है। काममें व्यत्यय आनेसे भी क्रोध आता है। क्रोध आगकी भांति पहले अपनेको जला कर फिर दूसरोंको जलाता है। मनुस्मृतिमें क्रोधके लक्षण कहते समय (१) बिना अस्तित्वके दोष दीखना (२) साहस (३) द्रोह (४) दूसरोंके गुण सहन न होना (५) गुणोंके स्थान पर दोष दिखाई देना (६) अर्थापहरण (७) आक्रोश (८) वाणीकी कठोरता (९) ताडनादिसे दुःख देना आदि कहे गये हैं।

साधु-संतोंने क्रोधको अनर्थकारी कहा है।

गंधर्व-नगर—एक काल्पनिक बात। संध्यासमय आकाशमें अन्यान्य बादलोंके कारण नगरादिकोंका भास होता है। वह केवल आभास ही होता है। सूर्य किरणोंकी वक्र गतिके कारण इन नगरोंमें अन्यान्य रंग भी दीखते हैं। इन रंगोंको लेकर कुछ फलाफल भी कहा जाता है किंतु मूलतः इसका अस्तित्व ही नहीं होता। अस्तित्वहीन कल्पनामय बातोंको समझानेके लिए गंधर्व नगरीकी उपमा दी गयी है। जैसे आकाश-पुष्पकी उपमा दी जाती है।

गणेश—किसी भी कार्यके प्रारंभको श्रीगणेशा कहते हैं। क्यों कि गणपतिपूजनसे ही कोई कार्यारंभ होता है। गणपति शिव-पार्वतीका पुत्र है। विद्वानोंका मत है कि मूलतः गणेश आर्येतर देवता है। प्रथम गणपति अथवा गणेशको शिवगणोमें-श्रेष्ठ स्थान-मिला। फिर ऋग्वेदके ऋषियोंको " गणनांत्वा गणपति हवामहे ! " कह कर इनकी पूजा करने लगी, इतना इस देवताका प्रभाव था। गणपति शिव पार्वतीका पुत्र होने पर भी अयोनिसंभव है। गणेशके विचित्र रूपके विषयमें अनेक प्रकारकी जनश्रुतियां प्रचलित हैं तथा अनेक विद्वानोंने अनेक संशोधनात्मक लेख लिखे है। ये सारे लेख और संशोधन " विश्वकी प्रत्येक बातको अपनी वैज्ञानिक दृष्टिसे " विचार करनेवाले आधुनिक विद्वानोंका है। इसके मूलमें पाश्चात्य विद्वानोंके मतकी पुनरोक्ति मात्र है किंतु सनातन दृष्टिके विद्वानोंको यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं है। वे गणेशको संपूर्ण वैदिक देवता मानते हैं। अथर्ववेदमें गणपत्यथर्वशीर्ष नामका अथर्वशीर्ष है। उस अथर्वशीर्षकी दृष्टिसे गणेश संपूर्ण वैदिक देवता है। ऋग्वेदके ब्रह्मणस्पति सूक्तको ये वैदिक विद्वान गणपतिसूक्त ही मानते हैं। गणपति अथर्वशीर्षमें गणपतिके आध्यात्मिक रूपका विवेचन है। गणपति एक तत्त्व है। गणपतिको वाङ्मयका मूलाधार माना गया है। योगविद्यामें गणपति मूलाधार चक्रका देवता है। प्रणवोपासना और गणेशोपासना एक मानी गयी है। 'गज" का अर्थ "जहां सबका लय होता है तथा जहां सबका जन्म होता है" ऐसा किया गया है। तांत्रिक साहित्यमें विघ्नराज गणेशका महत्त्वका स्थान है। सभी मंगल कार्यके प्रारंभमें नवग्रहोंके साथ, उनसे पहले गणेशपूजन करना अनिवार्य है। तांत्रिक गणपतिके साथ उनकी शक्तियां भी होती हैं। उन शक्तियोंका नाम तीव्रा, ज्वालिनी, नंदा, भोगदा आदि हैं। तंत्र मार्गमें गणेशके कई मंत्र कहे गये हैं। बुद्धने भी अपने शिष्य आनंदको 'रहस्यमय गणपति हृदय" नामका मंत्र दिया था। बौद्ध धर्मके साथ गणेश भी भारतके बाहर गया। भारतके बाहर तिब्बेत, तुर्कस्थान आदि बौद्ध मठोंमें, मठोंके बाहर, गणपतिकी मूर्तियां मिलती हैं। चीनमें भी गणपतिका प्रवेश हुवा है। चीन जपानमें यह कांगी बने हैं। किंतु

ज्ञानेश्वर महाराजने एक विशेस प्रकारके गणेशकी रचना की है। वह आद्य है वह ॐ है। आत्मरूप है। सकल मतिप्रकाश है। गणपति विद्याकी देवता है और ज्ञानेश्वर महाराजने वेद, उपनिषद, षड्दर्शन, पुराण, स्मृति, नाटक, काव्य, आदिसे गणेशको सजाया है। भारतीय धार्मिक, आध्यात्मिक, तथा सांस्कृतिक जीवनके लिये प्रेरणारूप साहित्यका महागणपतिकी रचना करके उनका वंदन करना ज्ञानेश्वर महाराजकी स्वतंत्र प्रतिभाका एक सुंदर निदर्शन है!

गुण-कर्म-विभाग——गुण-कर्म विभाग चातुर्वर्ण्यका आधार है। गुणोंके क्रमानुसार किया हुवा समाज-संघटन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। ब्रह्मासे लेकर चींटी तक सारा विश्व गुणोंसे विभाजित है अथवा गुणोंपर आधारित है। प्रत्येक प्राणिमात्रमें अर्थात् मनुष्यमें भी कम अधिक प्रमाणमें इन गुणोंका होना स्वाभाविक है और अनिवार्य भी। प्रत्येक मनुष्यका स्वभाव इन गुणोंपर आधारित है। इस सिद्धांतके अनुसार मानवी समाजका-केवल हिंदू समाजका नहीं—चार वर्णोंमें विभाजन करके उनको उस उस स्वाभावानुसार समाज-हितके काम बांट दिये, जिससे समाज सुसंघटित हो, व्यवस्थित रूपसे समाजका सर्वांगीण विकास हो। इसको वर्णव्यवस्था कहते हैं। यह समाज-व्यवस्था स्वाभाविक व्यवस्था है।

विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन ग्रीक ग्रंथोंमें भी समाजके चार प्रकारोंका विवेचन किया हुवा मिलता है तथा ये भेद व्यवसायके आधार पर पडे या वंशके आधार पर! ऐसे वाद विवाद भी हुए हैं। पार्सियोंके अवेस्तामें भी चार प्रकारके वर्गोंका उल्लेख है। किंतु भारतके प्राचीन शास्त्रकारोंने उनको एक वैज्ञानिक रूप दिया है। अमुक गुणके अमुक स्वभाव हैं! किस प्रकारके स्वभाववाले गिरोहको किस प्रकारका काम देना चाहिए? इन बातोंका अत्यंत गहराईके साथ अध्ययन करके प्रत्येक गिरोहको स्वधर्मके रूपमें विशिष्ट काम दिया गया जिस कामसे वह समाजके लिये अधिक से अधिक उपयुक्त हो।

वर्णका अर्थ है रंग। उपनिषदमें गुणकी नहीं रंगकी कल्पना है। जैसे सांख्य शास्त्र ब्रह्मासे लेकर चींटी तक तीन गुणोंके आधीन कहता है वैसे प्राचीन उपनिषद सारे विश्वको तीन वर्णका मानता है। "वर्ण मिश्रणसे विश्वकी विविधता दर्शन" तथा "गुण मिश्रणसे विश्वकी विविधता दर्शन" दोनों एक ही है। उपनिषदके तीन वर्णोंका विकास सांख्यके तीन गुणोंमें हुवा और गीताने समाजव्यवस्थाके लिए गुण कर्म विभागसे चातुर्वर्ण्यकी बात कही। इस प्रकार गुण-विभागसे कर्म-विभाग और कर्म-विभागसे वर्ण रचना की है ऐसे गीतामें श्रीकृष्णने कहा है।

और महाभारतमें युधिष्ठिरने यक्ष प्रश्नके उत्तर देते समय कहा है—"कुल, स्वाध्याय, या श्रुति यह ब्राह्मणत्वका कारण नहीं किंतु सदाचार ब्राह्मणत्वका आधार है। जिसने सदाचार छोड दिया वह ब्राह्मण लाशके समान है!" युधिष्ठिर नहुषसे हुई अपनी बातोंमें भी यही कहता है "गुण ही यदि वर्णका आधार माने गये तो शूद्रादिमें सत्य अहिंसादि गुण रहे तो क्या उस शूद्रको ब्राह्मण कहना होगा?" नहुषके इस प्रश्नके उत्तरमें युधिष्ठिर कहता है—

ये हैं लक्षण शूद्रमें यदि ये द्विजमें नहीं।
न शूद्र शूद्र है राजन् औ' द्विज द्विज भी नहीं॥
ये लक्षण जहां होते कहना उनको द्विज।
जहां नहीं इन्हे स्थान उनको शूद्र जानना॥

इसी प्रकार, महाभारतमें भारद्वाज तथा भृगु ऋषि भी इसी प्रकारके विचार कहते हैं।

वर्ण उत्कर्ष होता है नरका पुण्य कर्मसे।
तथा पाप कृत्यसे जो जाता है हीन वर्णमें ॥

यह महाभारतके शांतिपर्वमें कहा गया है। महाभारतमें हीन वर्णसे श्रेष्ठ वर्ण तथा श्रेष्ठ वर्णसे हीन वर्णमें हुए उत्कर्षापकर्षकी घटनाओंका विवेचन भी मिलता है।

गीता और ज्ञानेश्वरीमें इन्हीं गुणकर्म विभागानुसार कर्तव्य कर्मका विचार किया गया है।

गुणत्रय——सांख्यशास्त्रमें सत्व, राज, तम ऐसे तीन गुणोंका विवेचन किया गया है। गीतामें इसीका विस्तृत विवेचन है। किंतु इसकी मूल कल्पना बृहदारण्यकोपनिषदमें दीखती है। बृहदारण्यकमें "इस विश्वमें जो कुछ है वह तीन वर्णोंके समन्वयसे बना है!" ऐसा कहा गया है। ये तीन वर्ण हैं काला, लाल, और सफेद। यही गुणोंकी मूल कल्पना है। वस्तुतः पंचमहाभूतोंमें तीनभूतोंका रंग आंखोंसे दिखाई देता है। पृथ्वीका काला, तेजस्, अग्निका लाल, पानीका कोई रंग नहीं सफेद! वायू और आकाशका रंग नहीं है। "विश्वमें जो कुछ वस्तु दीखती है इन तीन रंगोंके कारण!" इस कल्पनाका सांख्योंने "ब्रह्मासे चींटी तक जो कुछ दीखता है वह सब तीन गुणोंसे प्रभावित है" कहते हुए विकास किया है। सांख्यशास्त्रके बाद, गीतामें विश्वमें जो कुछ है वह सब प्रकृति है कहते हुए प्रकृतिको "इन तीन गुणोंका कल्लोल" कहा। सांख्योंने विशेषतः नैतिक जीवनको ध्यानमें रख कर इन तीन गुणोंका विचार किया है।

गुणातीत——ब्रह्मासे चींटीतक जो कुछ दीखता है वह सब प्रकृति है और प्रकृति गुणोंका कल्लोल है तथा केवल मात्र ब्रह्म, प्रकृतिसे परे अर्थात गुणातीत है। किंतु ब्रह्मलीन मनुष्य भी गुणातीत है। उस पर गुणोंका अधिकार नहीं रहता। जैसे आत्मा प्रकृतिके परे है वैसे आत्मरत या आत्मलीन सिद्धपुरुषभी गुणोंसे परे रहता है। गुणातीतावस्था ही जीवन्मुक्तावस्था है।

गुरु——इस शब्दके अनेक अर्थ हैं। जैसे "जिसका स्तवन किया जाता है वह" "जो धर्म का उपदेश देता है वह" "जो अज्ञान दूर करता है वह!" आदि। वैदिक सूत्र ग्रंथोंमें सर्व प्रथम यह शब्द आया है। गुरु-सान्निध्यमें रह कर उनकी आज्ञासे कर्म करते हुए समावर्तन करना वैदिक परंपराकी शिक्षा व्यवस्था थी। वैदिक सूत्रकालमें गुरुगृहमें रह कर गुरुसेवा करके विद्याध्ययन करनेकी प्रथा रूढ हुई। अध्ययन कालमें गुरु-गृहमें रहना, वहां गुरुकी आज्ञानुसार गुरु और गुरुकुलकी सेवा करना, तथा अध्ययन पूरा होने पर गुरु दक्षिणा देकर घर जाना यह उस समयकी भारतीय परंपरा थी। इस परंपराके अनुसार गुरु-शिष्योंके संबंध कैसे रहने चाहिए, गुरु कैसा रहना चाहिए, शिष्यके क्या कर्तव्य होते हैं इन सबका विस्तृत विवेचन उस समयके अनेक ग्रंथोंमें देखनेको मिलता है। तंत्र सारमें गुरुके गुणोंके विषयमें लिखा है—

शांत कुलीन विनीत दक्ष निर्मल संयमी।
सुविचारी सदाचारी ज्ञानी ज्ञानविभूषित ॥
अध्यात्म ज्ञानमें पूर्ण मंत्र तंत्र विशारद।
गुरु सो है कहा जाता कृपा शासनमें पटु ॥

ऋग्वेद कालमें बृहस्पति, आंगिरस, अत्रि, वसिष्ठ, गर्ग, आदि ऐसे गुरुजनोंका दर्शन होता है। उसके बाद आजतक वैदिक परंपरामें ऐसे गुरु समय समय पर होते रहे हैं। इसी प्रकार दार्शनिक क्षेत्रमें भी ऐसे गुरु-जनोंकी परंपरा अविच्छिन्न रूपसे चली आयी है। उसके साथ ही साथ जब भारतमें वैदिक कर्मकांडका संकोच हो कर ज्ञानकांडका युग आया, उस उपनिषदकालमें भी जनक याज्ञवल्क्य जैसे गुरु शिष्य परंपरा दीखती है। उन दिनोंमें, भिन्न भिन्न प्रकारके दर्शन लिखे गये और उन उन दर्शनके आचार्योंके पास उनका शिष्यसमुदाय भी रहा। बौद्ध और जैन अनुगममें भी ऐसी गुरुशिष्य परंपरा चलती आयी है। उसके बाद मुस्लिम आक्रमणके बादके युगमें, धर्मसाधना अथवा आध्यात्मिक साधनामें गुरुको अ-साधारण महत्व मिला। जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, तथा नाथसंप्रदायमें गूढ अथवा गुप्तरूपसे साधना होने लगी। आध्यात्मिक गूढ साधनामें गुरुकी प्रतिष्ठा शिखर पर पहुंच गयी। इस समय "केवल गुरुवचनसेही परम गुह्य ऐसा सत्य तत्व स्पष्ट हो कर उसका साक्षात् अनुभव आता है!" यह सिद्धांत रूढ हुवा। जिस बुद्धने कहा था "मेरा कोई गुरु नहीं है मैंने अपने अभिज्ञानसे सब कुछ पा लिया है" उसी बुद्धके बौद्धानुगममें "पर-तत्व केवल गुरुके शब्दसे ही हृद्गत हो सकता है!" ऐसे सिद्धांत प्रचलित हुए। और इसी युगमें –

गुरु ब्रह्म गुरु विष्णु गुरु देव महेश्वर।
गुरु साक्षात्परब्रह्म वैसे श्री गुरु-वंदन॥

जैसे गुरु वंदन होने लगे। वैसे उपनिषद कालमें भी गुरु पूजाका विधान कहा गया है। गुरुकी महानता कही गयी है। मुंडकोपनिषदमें "बिना गुरुके ज्ञान नहीं" इस लिए "शिष्यको हाथमें समिधा लेकर ब्रह्म ज्ञानके लिए ब्रह्म निष्ठगुरुके पास जानेको" कहा गहा है। उपनिषदके "नि" का अर्थ शिष्यको गुरुमें गुरुसेवासे निःशेष होना है। शिष्यके हाथमें समिधा होनेका अर्थ भी यही है। समिधा जैसे यज्ञमें निःशेष होती है "वैसे मैं शिष्य गुरुमें निःशेष होने आया हूं!" यह कहना ही हाथमें समिधा लेना है। किंतु गुरुको सर्वस्व माननेकी प्रथा मध्यकालीन धर्म-साधनाका परिणाम है। बौद्धोंका वज्रयान, तथा नाथसंप्रदायमें गुरुको ईश्वरसे भी ऊंचा स्थान है। कबीर भी ऐसा ही कहता है। गुरु और हरि दोनों उपस्थित होने पर वह गुरुकेही पग लगता है। नाथ संप्रदायमें साधक पितृ वंश न कह कर गुरुवंश कहता है। स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज पिताका नाम न लेकर "निवृत्तिका ज्ञानदेव" कहते हैं। ज्ञानेश्वर महाराजसे समर्थ रामदास तक मराठी संत साहित्यमें सर्वत्र गुरु-महिमा गायी गयी है। वैसे सभी भाषाके संत साहित्यमें सर्वत्र गुरु-महिमा गायी गयी है। किंतु कन्नड वीरशैव संत-साहित्यका स्वर कुछ अलग ही है। वहां दीक्षाके लिए गुरुकी अत्यंत आवश्यकताका प्रतिपादन करके भी, गुरुका अत्यंत आदर करके भी "अपने आपको जान लिया तो वह ज्ञान ही गुरु" "ज्ञान ही गुरु आचार ही शिष्य!" "अनुभव ही गुरु" ऐसे अनेक सूत्र मिलते हैं। मराठी संत साहित्यमें भी तुकाराम और समर्थ रामदासने "कान फूंकनेवाले नकली गुरुओंकी" अत्यंत कठोर शब्दोंसे प्रताडना की है। निवृत्ति नाथने भी एक स्थान पर "सबको एक ही मंत्र देनेवाले गुरुको अधमतम गुरु" कहा है। ऐसे गुरुओंके लिए समर्थ रामदासने

ऐसे गुरु-जन। पैसेमें हैं तीन।
मिले भी तो जान। तजना उनको॥

कहा है। यद्यपि आज "गुरु" यह शब्द निंदाव्यंजक-सा बन गया है फिर भी हम यह नहीं भूल सकते "अंगीरससे भगवान रामकृष्ण परमहंस तक" यह एक महान परंपरा रही है। रामकृष्ण परमहंसने "केवल मस्तक पर हाथ रख कर" अपना सारा ज्ञान स्वामी श्री विवेकानंदको दिया था। ऐसे ही ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं "निवृत्तिनाथकी कृपादृष्टि हुई मैं गीतार्थ कहने लगा।" गुरुकी शक्ति ऐसी तर्कातीत है। केवल अनुभवगम्य है। इसीलिये अध्यात्म-शास्त्र कहता है "गुरु देहधारी पर-शिव है!"

गुरु-वाक्य——गुरु अपने शिष्यको जब "मैं" इसका बोध देता है तब कहता है तत् त्वम् असि तत्=वह ब्रह्म-त्वम्=तू असि=है। गुरु सर्व प्रथम अपने शिष्यको जो "मैं" कहता है यह समझाता है यह "मैं" "तू परब्रह्म है।" गुरु वाक्यके इस बोधानुभूतिसे वह "सोऽहम्" "वह मैं हूँ" कहने लगता है। मानवी जीवनकी सारी साधना "कोऽहम्=मै कौन हूं?" से प्रारंभ होती है। मानव बालकका जनमते ही रोना, यही "मैं कौन हूँ?" की जिज्ञासासे है; ऐसे कुछ तत्वज्ञानी कहते हैं! मैं कौन हूं यह जाननेके प्रयासमें गुरु कहता है "तू वह है।" "तत्वमसि" इसी लिये इसे गुरु वाक्य अथवा महावाक्य कहा गया है। इसीको कहीं कहीं तत्पद भी कहा है।

चंद्रामृत सरोवर——ऐसी मान्यता है "आकाशस्थ चंद्र-किरणोंसे अमृत स्रवता है जिससे वनस्पति औषधी गुण संपन्न होती है वैसे ही योग-शास्त्र कहता है मनुष्यके सहस्त्रसारचक्रसे अमृत स्रवता है। इस लिये योग-शास्त्रकी परिभाषामें सहस्त्रदल कमल, अथवा सहस्त्रारचक्र अथवा ब्रह्मरंध्रको कुंडलिनीके आघातसे मस्तिष्कके जिस भागसे अमृत स्रवता है उस भागको चंद्र, चंद्रामृतसरोवर, चंद्रामृतनीर, आदि कहा गया है।

चातुवर्ण्य——हिंदू-धर्म शास्त्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ऐसे चार वर्ण माने हैं। -गुणकर्म विभागमें इस विषयमें कुछ लिखा है– इन चारों वर्णके कर्तव्य और अधिकार, व्यवहार और तारतम्य, आदि कहा गया है।

चातुवर्ण्य एक सामाजिक संस्था है। यह हिंदुओंका आदिधर्म है। गौणधर्म नहीं।

समाजमें केवल चार वर्ण है उससे अधिक नहीं। चार ही वर्ण मिल कर पूर्ण समाज बनता है। किसी भी एक वर्णके अभावमें समाज अधुरा रहता है।

प्रत्येक वर्णकी भिन्नता गुणभिन्नता तथा कर्तव्य भिन्नताके कारण होती है।

एक ही शरीरके जैसे अलग अलग अवयव होते हैं वैसे ये वर्ण एक ही समाजके भिन्न भिन्न अवयवसे हैं। अवयव और अवयवीका जो संबंध है वही संबंध समाज और प्रत्येक वर्णका है।

"हिंदू धर्ममें इस चातुवर्ण्य व्यवस्थाका जो प्राचीनत्व है वह और किसी व्यवस्थाका नहीं" ऐसे विद्वानोंकी राय है। श्रुतिमें अनेक व्यवस्थाएं हैं जो अब तक नष्ट हो गयी हैं किंतु यह व्यवस्था अब तक टिकी रही है। चातुवर्ण्य व्यवस्था जैसे स्थायी रूपसे टिकी रही उतना और किसी समाजकी कोई व्यवस्था स्थायी स्वरूपसे नहीं रही।

अध्ययन, अध्यापन, प्रजा संरक्षण, अर्थोत्पादक व्यवहार तथा सेवाकार्यकी व्यवस्था जिस समाजमें भली भांति नहीं है वह व्यवस्था या वह समाज, अधिक काल तक नहीं टिक सकता। इस

दृष्टिसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था अत्यंत स्वाभाविक समाज व्यवस्था है। यह समाज-व्यवस्था सार्वभौमिक है। भारतमें ये वर्ण संस्कारांकित थे। आगे चल कर, इन चारो वर्णमें भिन्न संस्कार विकसित हुए। जैसे, वर्ण-संस्कार, ब्राह्मणोंका कर्म शूद्रोंमें। इसी कारण धर्म शास्त्रोंमें आपद्धर्म जैसे विचार प्रसृत हो गये।

गुणोंके कारण इन चारो वर्णोंमें उत्कर्ष अपकर्ष होते हैं। किंतु गुणभेदसे वर्ण न मान कर जन्मसे वर्ण माननेकी परंपराके कारण चातुर्वर्ण्यावस्था आज विकृत सी गयी है और समाज भी टूटने लगा है।

चित्त—अंतःकरण पंचकमेंसे चौथा। (१) सत्व (२) मन (३) बुद्धि (४) चित्त (५) अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है। अंतःकरणका अर्थ अंदरका इंद्रिय। पंच कर्मेंद्रिय और पंच ज्ञानेंद्रिय बाह्य इंद्रिय है। ज्ञान प्राप्तिके ये बाह्य साधन हैं और अंतःकरण आंतरिक साधन। ये जीवके कार्य-साधन है और बाह्य साधनोंसे अत्यंत सूक्ष्म और शक्तिशाली है। इसीको अंतःकरण चतुष्टय (१) मन (२) बुद्धि (३) चित्त (४) अहंकार भी कहा गया है। चिंतनसे विचारोंके संस्कारचित्रोंको अंतःकरणमें संग्रह करके उसको कार्यका रूप देनेवाला अंतरिंद्रिय चित्त है। इस चित्तके (१) क्षिप्त (२) मूढ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध ऐसे पांच प्रकार हैं। (१) रज प्रधान चंचल चित्तको क्षिप्त कहते हैं (२) तमप्रधान सुस्त चित्तको मूढ चित्त कहते हैं (३) सत्वरज प्रधान करुणादि भावग्रस्त चित्त विक्षिप्त चित्त कहलाता है। (४) सत्व प्रधान मांगल्यमें स्थिर चित्तको एकाग्र चित्त कहते हैं। (५) निवृत्त शांत चित्तको निरुद्ध कहते हैं। यही स्थिति योगकी सिद्धावस्था है। चित्त पर कोई लहरें नहीं उठे। कहीं किसी प्रकारकी प्रेरणा न हो। यहीं आत्मस्वरूपका बोध होता है। अथवा चित्तकी संपूर्ण निरुद्धावस्था निर्विकल्प समाधि है। यह अवस्था जब सतत टिकी रहती है तब वह सहज समाधि है। ऐसा सिद्ध पुरुष सब कुछ करके कुछ भी नहीं करता। अनंत वक्तृत्वसे मौन रहता है। बिना ओर छोरका कर्म करके भी निष्क्रियसा रहता है!!

चिदाकाश—शुद्ध ज्ञानमय स्थिति दर्शानेके लिये इस शब्दका उपयोग किया गया है। आकाशका अर्थ है शून्य। केवल खोखलापन। अर्थात् आकाश शब्दसे अभावका भी भाव आता है। ज्ञानका अभाव ही अज्ञान है। इस लिये ज्ञानके साथ आकाशकी विशालता और अलिप्तता दर्शानेके लिये चिदाकाश कहा गया है। चिदाकाश, विशुद्ध ज्ञानावस्था जो सबसे विलिप्त है और बिना ओर छोरका भी।

चोवीस तत्व—सांख्य दर्शनके अनुसार सारा विश्व चौवीस तत्वोंसे बना है। इन चोवीस तत्वोंमें प्रधान तत्व है प्रकृति। इसी प्रकृतिका अव्यक्त, माया, प्रसवधर्मिणी, गुणक्षोभिणी आदि विशेषणोंसे वर्णन किया है। (१) प्रकृति (२) महत्-बुद्धि (३) अहंकार (४) मन (५) चक्षु (६) घ्राण (७) श्रवण (८) त्वचा (९) रसना-ये ५ ज्ञानेंद्रिय और (१०) हाथ (११) पाय (१२) मुख (१३) गुदा (१४) शिश्न ये पांच कर्मेंद्रियां (१५) शब्द (१६) स्पर्श (१७) रूप (१८) रस (१९) गंध ये पांच तन्मात्राएं तथा (२०) पृथ्वी

(२१) आप (२२) तेज (२३) वायु (२४) आकाश ये पंचमहाभूत। ये सब मिल कर चोवीस तत्व। इससे परे पुरुष। द्रष्टा।

चौदह इंद्र——ब्रह्माके एक दिनमें चौदह इंद्र बदलते हैं। पुराणोंमें इन चौदह इंद्रोंके नाम निम्न है। (१) यश (२) रोचन (३) सत्यजित् (४) त्रिशिख (५) विभु (६) मंत्रद्रुम (७) पुरंदर (८) बलि (९) अद्‌भुत (१०) भारद्वाज (११) वत्स (१२) वसिष्ठ (१३) विष्णुवृद्ध (१४) शांडिल्य।

चौदह भुवन——समग्र ब्रह्मांडमें चौदह भुवन अथवा चौदह लोक हैं ऐसी भारतीय तत्त्वज्ञोंकी मान्यता है। इन चौदह भुवनोंको सप्त स्वर्ग और सप्त पाताल कहा गया है। सप्त स्वर्ग पृथ्वीसे ऊपर हैं। (१) भूलोक, (२) भुवर्लोक, (३) स्वर्लोक (४) महर्लोक (५) जनलोक (६) तपोलोक (७) सत्यलोक ये भूलोकके–पृथ्वीके–ऊपरके है तो (१) अतल (२) वितल (३) सुतल (४) तलातल (५) रसातल (६) महातल (७) पाताल ये सात लोक भूलोकके नीचेके हैं।

चौदह-मनु——ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु बदलते हैं। उन चौदह मनुओंका नाम निम्न प्रकार है। (१) स्वायंभुव (२) स्वारोचिष (३) उत्तममनु (४) तामसमनु (५) रैवतमनु (६) चाक्षुषमनु (७) वैवस्वतमनु (८) सावर्णिमनु (९) दक्षसावर्णिमनु (१०) ब्रह्मसावर्णिमनु (११) धर्मसावर्णिमनु (१२) रुद्रसावर्णिमनु (१३) देव सावर्णिमनु (१४) इंद्रसावर्णिमनु।

सृष्टिचक्रमें जब लोकस्थिति बदलती है, बिघडती है तब सामाजिक जीवनके हितकी दृष्टिसे जो विधिनिषेध बदलने पडते हैं, शास्त्र-नियम बताने पड़ते हैं वह कार्य मनु करते हैं। मनु सुयोग्य शासक होता है। मनुके बनाये गये नियम, शास्त्र, लंबेसमय तक चलते हैं। जब वे समाज हितके अनुपयुक्त हो जाते हैं तब नया मनु आता है। एक मनुका काल मन्वंतर कहलाता है। वर्तमान मन्वंतर वैवस्वत मन्वंतर है। वैवस्वत मनुके कहे गये नियम आजका युग-धर्म है।

छैंतीस तत्त्व——जैसे सांख्योंने विश्वके कारणीभूत २४ तत्त्व कहे हैं वैसे गीताके क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोगमें क्षेत्रके ये ३६ तत्त्व कहे हैं।

५ महाभूत, ५ ज्ञानेंद्रिय, ५ कर्मेंद्रिय, ५ ज्ञानेंद्रियोंके विषय, ५ कर्मेंद्रियोंके विषय, २६ अहंकार, २७ बुद्धि, २८ पराप्रकृति, २९ मन ३० सुख ३१ दुःख, ३२ द्वेष, ३३ संघात, ३४ चेतना, ३५ इच्छा, ३६ धृति।

शिवागमोंमें– निम्न ३६ तत्त्व कहे हैं—

१ परासंविद् २ चित्तका प्रकाशरूप शिव, ३ चित्तका विमर्शरूप शक्ति, ४ सादाख्यतत्व, ५ ईश्वर, ६ शुद्धविद्या, ७ माया, ८ कला, ९ काल, १० नियति, ११ राग, १२ विद्या, १३ पुरुष, १४ त्रिगुणात्मक प्रकृति, १५ बुद्धि, १६ अहंकार, १७ मन, १८–२२ पंच ज्ञानेंद्रिय, २३–२७ पंच कर्मेंद्रिय, २८–३२ पंच तन्मात्राएं, ३३–३७ पंचमहाभूत.

परा संविद् छत्तीसके परेका तत्व है जैसे उपनिषद्का ब्रह्म है।

जगत—सदैव बदलते रहनेवाला जन्म-मरणसे अथवा आवागमनमें बद्ध सभी पदार्थ जगत शब्दके अंतर्गत आते हैं। इस जगतके विषयमें अनेक दार्शनिकोंने अनेक बातें कही हैं। ऋग्वेद्के नासदीय सूक्तमें इस जगतकी उत्पत्तिकी जो कथा कही है वह विश्व-साहित्यमें इस विषय का सर्व प्रथम विचार है। उसमें लिखा है " जब कुछ भी नहीं था तब " वह " था। उसके मनमें जो काम निर्माण हुवा उससे इसकी उत्पत्ति हुई! " दूसरे एक सूक्तमें है। " उसके तपसे ऋत सत्य निर्माण हुवा। उसके बाद् रात-महारात्र-निर्माण हुई। उसके बाद लहरनेवाला समुद्र निर्माण हुवा। उसके बाद् सूर्य, चंद्र, अहोरात्र, और प्राणि निर्माण हुए। " इन्ही विचारोंको अलग अलग ढंगसे उपनिषदोंमें लिया है। उसके बादके दार्शनिकोंने (१) सांख्योंके अनुसार " प्रकृति-पुरुषके संयोगसे इस जगतकी उत्पत्ति हुई! " (२) चार्वाकके अनुसार " पंचमहाभूतोंके आकस्मिक संयोगसे इसकी उत्पत्ति हुई (३) न्यायदर्शनके अनुसार " परमाणुकी सहायतासे ईश्वर इस जगतकी रचना करता है! " (४) वैशेषिक " परमाणुसंयोगसे जगदुत्पत्ति" मानते हैं। (५) मीमांसा दर्शन " जगतको अनादि अनंत " मानकर प्राणियोंको जन्म मरणके आधीन मानता है। (६) वेदांती " ईश्वर ही अपनेमेंसे आप इसे निर्माण करता है! " ऐसे कहते हैं। (७) जैन, मीमांकों की भांति इसे " अनाद्यनंत " मानते हैं।

इसी भांति अन्य सभी धर्मोंमें जगतकी उत्पत्तिके विचार तथा कथा, मिलती हैं। जंगली परंपरागत लोगोंने भी अपने ढंगसे इसका विचार किया है और अपने विचारोंको कहानीके रूपमें कहते आये हैं। पुराणोंमें भी इसकी विविध कहानियां हैं।

जप—जीभ, होठ आदिकी हलचल करनेके पहले चिंतनद्वारा किसी शब्दको पुनः पुनः उच्चार करना - हृदयमें - जप कहलाता है। जप एक अनुष्ठान है। जपका हिसाब रखना आवश्यक है। यह संकल्पपूर्वक किया जानेवाला अनुष्ठान है। जपके तीन प्रकार हैं।

(१) वाचिक - मंत्रका स्पष्ट - सुनाई दें ऐसा - उच्चार करके जप करना।

(२) उपांशु - मंत्र देवता पर ध्यान केंद्रित करके गुनगुनाकर मंत्रोच्चार करना

(३) मान - मंत्रार्थमें ध्यान केंद्रित करके केवल हृदयमें उसका उच्चार करना।

अलग अलग प्रकारके जपानुष्ठानके अलग अलग नियम हैं। इसका न्यास, ध्यान, तर्पण, यज्ञादि भी होते हैं। किंतु नामस्मरणका विधिविधान नहीं होता। वह सतत चिंतन करना होता है।

जालंधरबंध—योगमें बंधोंका महत्वपूर्ण स्थान है। विशेषतया प्राणायामके समय जो तीन बंध कहे हैं–मूलबंध जालंधरबंध और उडियान बंध–इनका अत्यंत महत्व है। बिना इन तीन बंधोंके प्राणायाम पूर्ण नहीं होता अथवा प्राणायामका पूर्ण फल नहीं मिल सकता। ज्ञानेश्वरीके छठे अध्यायके दो सौ सातके छंदमें इसकी क्रियाका विवेचन किया है।

प्राणायामके समय मूलबंध युक्त पूरक करनेके बाद कुंभक करते समय अपनी ठुड्डी गले–सीनेके ऊपर गलेके नीचे वाले गढेमें–चिपकाकर रखना। सर्वांगासन तथा हलासनमें भी

यह बंध होता है । इससे मस्तिष्कके अनेक ज्ञानतंतुजाल पर तनाव आता है। इससे अपने शरीरमें होनेवाले चयापचयपर नियंत्रण होने लगता है। शरीर पोषण क्रिया पर भी अपना स्वामित्व आता है। जालंधर बंधसे नीलकंठमणी तथा उपनीलकंठमणि पर तनाव आनेसे उस ओर शुद्ध रक्त दौडता है। इससे, गलेकी वह ग्रंथी दीर्घकालतक लचीली रह सकती है। यही ग्रंथी है जो तारुण्यको चिरकाल रख सकती है। इससे, पीछे मेरुदंडमें भी तनाव आता है।

शरीरशुद्धि, मनपर प्रभुत्व, तथा चिर तारुण्यकी दृष्टिसे इस बंधका महत्त्व कहा गया है।

जितेंद्रिय——जिन्होंने इंद्रियोंको जीत लिया है वह। भारतीय तत्व-ज्ञानके अनुसार इंद्रियां घोडेकी भांति हैं। मन उसका लगाम है। बुद्धिके हाथमें वह लगाम होता है। सामान्यतया जानवर जैसे अपने चारेके पीछे दौडता है वैसे इंद्रियां अपने अपने विषयके पीछे दौडती हैं। अडियल घोडा जैसे गाडी लेकर अपने मनमाने चलता है वैसे। किंतु बुद्धिमान मनुष्य, मनको बुद्धिके आधीन रखता है, इंद्रियां मनसे कसी हुई रहती हैं। बुद्धिके आधीन बुद्धिकी, आज्ञामें, मनके द्वारा जो इंद्रियोंको अपने आधीन रखता है उसको जितेंद्रिय कहते हैं।

जीव——विशिष्ट मर्यादाके अंदर रहनेवाला विश्व चैतन्यका अंश। मानवी अंतःकरणमें पड़ा हुवा परमात्माका प्रतिबिंब! जीव विश्व चैतन्यका ही एक अंश है किंतु विशिष्ट मर्यादामें शरीर संयुक्त रहनेसे, अंतःकरणसे अविभक्त रहनेसे अपनेको पृथक् मानता है। यही उसकी अज्ञान दशा है। इसीके कारण शरीरमें चेतना रहती है। यह मानवमें परमात्माकी विभूति है। गीतामें इसीको क्षेत्रज्ञ कहा है। वस्तुतः यह सर्वव्यापी है। स्थिर है, अचल है, सनातन है किंतु अंतःकरणसे अविछिन्न रहनेसे अपना स्वभावज्ञान भूलता है। जब इसे यह स्वभावज्ञान होता है तब मुक्तावस्थामें रहता है।

तत्व——अलग अलग दर्शनोंमें तत्त्वोंकी संख्या अलग अलग है। तत्त्वका वस्तु, वस्तु-स्थिति, यथार्थ स्वरूप, मूलघटक, ब्रह्म, मन, शरीर, देवता आदि शब्दोंके अर्थमें यह शब्द आता है। वेदांतमें "केवल ब्रह्म ही एकमेव तत्त्व है।" आद्य शंकराचार्य तत्व शब्दका अर्थ करते समय कहते है। तत् यह सर्वनाम है। सर्वनामका विश्वके प्रत्येक वस्तुको लग सकनेवाला नाम! ब्रह्म व्यापक होनेसे सबमें व्याप्त है। इस लिए उसे-ब्रह्मको-तत् कहते हैं। उस तत् को त्वं प्रत्यय लगाकर तत्त्व अर्थात् "ब्रह्म-स्वरूप" ऐसा शब्द बना है।

शून्य वादी बौद्ध शून्य ही एकमेव तत्त्व मानते है।
ज्ञानेश्वरीमें तत्त्वका अर्थ आत्म तत्त्व है। परब्रह्म है!

तत्त्वज्ञान——मानवी जीवन, उसके साथ ही साथ विश्व, तथा मानवी जीवनके साथ विश्वके संबंधोंका अर्थ करके, प्रत्येक मानवी अनुभवका कार्यकारण संबंध बताते हुए, अर्थ करनेवाली मूलभूत कल्पनाओंकी तर्क-बद्धताकी सुसूत्र व्यवस्था करके दिखाना तत्त्वज्ञानका कार्य है।

विकसित मनुष्य=मानवी समाजद्वारा - निर्माण की गयी उसकी संस्कृति तथा सभ्यताका, दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो, उसकी समाजिक संस्थाओंका, अथवा नीति नियम और जीवन परंपराओंका सार तत्त्वज्ञानमें समाया हुवा रहता है। किसी समाजके तत्त्वज्ञानमें जब कोई बदल होता

है तब उस समाजका जीवन-मूल्य ही बदल जाता है। किसी भी व्यक्ति, संस्था, समाज अथवा राष्ट्रके पास जब अपना ऐसा कोई तत्वज्ञान होता है तब वह व्यक्ति अथवा समाज या राष्ट्र अपने कानून, नियम, संस्थाएँ साहित्य, कला आदिके लिये स्वप्रकाशित प्रेरणाका स्रोत पा सकता है। अपनी जीवन पद्धतिका विकास कर सकता है और जीवनमें पग पग पर जानेवाली समस्याओंसे निपटनेके लिये किये जानेवाले व्यक्तिगत और सामूहिक पराक्रमको उस तत्वज्ञानकी कसौटी पर कस कर देख सकता है, जान सकता है कि इसका मूल्य क्या है!

तत्वज्ञान मानवी जीवनके विकासके लिये आवश्यक वह "आंतरिक स्वत्व है" जो सभी प्रकारके बाह्य आक्रमणोंसे संरक्षण प्रदान करके उसे अंतिम समय तक जुजुत्सु बना रखता है।

वैदिक संस्कृतिके वातावरणमें भारतीय तत्वज्ञानका जन्म हुवा। उपनिषद् भारतीय तत्वज्ञानकी प्रौढावस्था है। उपनिषदकालके अनेक गंभीर और महान सिद्धांतोंके बीज वेद मंत्रोंमें मिलते हैं। उपनिषदोंमें जीवन - विकासके लिये आवश्यक तत्वज्ञान कहते हुए उसीके आधारभूत अथवा अंगभूत नीतिशास्त्र आदि कहा गया है। उपनिषदोंमें मनुष्यके प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभवोंको अत्यंत महत्त्व पूर्ण स्थान दिया गया है। उपनिषदोंमें श्रद्धाके लिए अत्यंत महत्त्वका स्थान है यद्यपि तर्कका विरोध नहीं है। उपनिषदमें विचारोंकी ऊंचाई दिखानेवाली कई उछालें है। उसमें "तत्त्वमसि" एक ऊंची उडान है। विश्व-विचारके क्षेत्रमें यह एक ऊंची सी ऊंची उडान है। वैसे ही "पूर्ण है वह, पूर्ण है यह पूर्णसे निष्पन्न होता पूर्ण... ! भी एक ऊंची उडान है। जिसके आधारपर जीवनके अनेक सिद्धांत बिठाये गये हैं। भारतीय तत्वज्ञान=अपनेको ब्रह्मका रूप मान कर-विश्वका केंद्रबिंदु बन कर सोचनेको सिखाता है। यह विचारके साथ अनुभवके क्षेत्रमें भी एक उडान है। यही वेदांतकी आत्मा है।

गीता उपनिषदोंका निचोड है और ज्ञानेश्वरी गीताका विशदीकरण। ज्ञानेश्वरीमें सारे विश्वको आत्माका स्फुरण मान कर विश्व और विश्वात्माका समरसैक्य दर्शाया है। साथ ही इसको अनुभव करनेका तरीका भी, जो अत्यंत महत्त्वका है।

तप—शांत भावसे द्वंद्वोंको सहन करना तप है! तपकर तपाना तप है। तपसे पाप-क्षालन होता है। जैसे सोना तपनेके पहले शुद्ध नहीं होता वैसे बिना तपके जीवन निर्मल नहीं होता। बिना तपके कोई "महान् निर्माण" नहीं होता। तप जीवनका सार है। तपसे जीवन खिलता है। तप प्रत्येक वर्ण और आश्रमका आधार है। धर्म सूत्रोंने पाप - क्षालनके लिये तपकी आवश्यकता कही है तो उपनिषदोंने ब्रह्म - प्राप्तिके लिये तपकी आवश्यकता कही है। अथर्ववेदमें कहा है "जिस मनुष्यके साथ तपका जितना अधिक संचय है उतना वह अधिक महान होता है।" उपनिषदोंमें "तपसे ब्रह्मका ज्ञान होता है क्यों कि तप ही ब्रह्म है।" ऐसे तपकी महता कही है। गीतामें "श्रद्धापूर्वक तथा फलकी अपेक्षा किये बिना किया जानेवाले तपको सात्विक तप कहा है! भारतीय जीवन परंपरामें तपका अत्यंत महत्त्व है। भारतीय साहित्यमें तपकी महता करनेवाले अनेक वचन हैं। ब्राह्मण ग्रंथ कहते हैं "तप अग्नि है।" "तप दीक्षा है!" "तपसे लोक विजय होता है। इस लिये तपाचरण कर!" मनुस्मृतिमें कहा गया है "जो कुछ दुष्प्राप्य है, दुर्गम है, वह सब तपसे मिलता है। कोई भी तपका अतिक्रमण नहीं कर सकता!"

तप भारतीय संस्कृतीकी आधार शिल्प है। तपसे चिंतन और जीवन शक्तिमान है। सरस होता है। उज्वल होता है! तपसे ज्ञान प्राप्ति तथा ज्ञान-वृद्धि होती है। भागवतमें लिखा है "तपसे ब्रह्मदेवको सृष्टि निर्माण करनेकी शक्ति मिली।"

तपके अनेक प्रकार कहे गये हैं। किंतु तपका अर्थ देहदंडन नहीं। निसर्गदत्त शक्तियोंका हनन नहीं। किंतु उसको सुस्थित रखना, समभागसे रखना। उद्विग्न न होने देना। महान उद्देश्यसे, निष्काम भावसे शांत होकर द्वंद्वोंका अतिक्रम करते हुए तन मन वचनसे ध्येय-निष्ठ रहना ही तप है। ऐसा तप ही ऋत है, ऐसा तप ही सत्य है, ऐसा तप ही जीवनसर्वस्व है। इससे ब्रह्म-महानता प्राप्त होती है।

तापत्रय——तापका अर्थ है दुःख। क्लेश, कष्ट। यह तीन प्रकारके होते हैं। बाह्य सृष्टिके आघातसे, शीतोष्णादि संयोगसे जो दुःख भोगने होते हैं वे आधिभौतिक दुःख हैं। जैसे रोग, वृद्धावस्थाके दुःख आदि,। देवताके क्रोधसे, अथवा निसर्गकी अवकृपासे जो दुःख भुगतने होते हैं वह आधिदैविक हैं। जैसे अतिवृष्टि अनावृष्टि, आग लगकर, चोरी डाकेसे दुःख भुगतने पड़ते हैं वे और मरणोत्तर पापपुण्यादि भुगतना, आंतरिक ताप अनुताप, वियोगादि सहना आध्यात्मिक दुःख है। इन तीनों प्रकारके दुःखोंको मिलकर तापत्रय कहा जाता है।

त्रिग्रंथि अथवा तीन गांठें——हठयोगमें छ चक्रोंके साथ उनकी ग्रंथियोंका उल्लेख है। लिंगमूलमें जो मूलाधारचक्र है– लिंगमध्यमें भी कहा गया है– उसके पास जो ग्रंथि है उसको ब्रह्मग्रंथि कहा गया है। इस चक्रकी देवता ब्रह्मा है। यह पृथ्वीतत्त्वका चक्र है। यह अधोमुख होता है। कुंडलिनी शक्ति निद्रावस्थामें यहीं पडी रहती है। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान। इसकी शक्ति है डाकिनी। देवता–ग्रंथि विष्णु। यह विष्णुगांठ कहलाती है। यह जलतत्त्वका चक्र है। इसे कामभूमि भी कहा गया है। सामान्य जीवका मन यहां जीवात्म-रूपसे अधिष्ठित होता है। इसलिये इसे स्वाधिष्ठान चक्र कहा गया है। इस चक्रके छ दल षड् विकारोंके द्योतक माने गये हैं।– षड् विकार –(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मत्सर। नाभिस्थानमें जो मणिपुरनामका चक्र है उसकी अधिष्ठान देवता अथवा गांठको रुद्रग्रंथि कहा जाता है। यह तेजस् तत्त्वकी गांठ है। इसकी शक्ति लाकिनी कहलाती है। इस चक्रके दस दल होते हैं। इन तीन चक्रोंकी ग्रंथियोंको त्रिग्रंथि अथवा तीन गांठें कहा गया है।

इन तीन ग्रंथियोंको तीन तृष्णाएँ पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणाका आधार माना जाता है। संन्यास लेते समय इन तीन तृष्णाओंका त्याग करना पड़ता है। इन तीन तृष्णाओंको बंध माना गया है। इन तीन तृष्णाओंसे मुक्तिको ग्रंथिभेद माना गया है। ब्रह्मग्रंथिके भेदनसे कामादि दुष्प्रवृत्तियों पर विजय मिलती है। विष्णुग्रंथिके भेदसे वैष्णवी माया भोग ऐश्वर्य वैभवादिकी अपेक्षापर विजय पायी जाती है। रुद्रग्रंथिके भेदसे प्रतिष्ठादि पर विजय पायी जाती है। हठयोगमें इन तीन ग्रंथियोंके भेदका अत्यंत महत्त्व कहा गया है। पूर्णत्वकी प्राप्तिके लिये इन चक्रोंका भेद होना आवश्यक है। यह हठयोग परंपरा है।

इसके साथ ही साथ ज्ञानेश्वरीके कुछ विद्वान तीन गांठे इसका अर्थ करते समय सत्व, रज, तम इन तीन गुणोंके बंधन ऐसा भी कहते हैं।

त्रिपुटी—जिसमेंसे एकको अलग करनेसे दूसरे जो दो हैं उसका मिलना असंभव है ऐसे एक दूसरेसे संबंधित - अन्योन्याश्रयी - तीन वस्तुओंको त्रिपुटि कहा गया है। जैसे :- कर्ता कर्म क्रिया। ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान। ध्येय ध्याता ध्यान। दृश्य, दृष्टा दर्शन। भोग्य, भोक्ता भोग। ब्रह्म माया जीव। परमात्मा आत्मा जगत्। इन तीनोंका विलय ही सच्चिदानंदस्वप्राप्ति है।

त्रिबंध अथवा तीन बंध—हठयोगमें अनेक प्रकारकी मुद्राएँ तथा बंध कहे गये हैं। इनमें मूलबंध, जालंधरबंध तथा उड्डियानबंध ऐसे तीन बंध कहे गये हैं। इन तीनों बंधके विषयमें उन नामोंसे अलग कहा गया है। किंतु कहीं कहीं यह शब्द आया है इसलिये इस शब्दकी व्याख्या की गयी है। इन तीन बंधोसे युक्त जो प्राणायाम किया जाता है उसको त्रिबंध साधना कहा जाता है।

तीर्थ—स्थान—पवित्र-स्थान, जल-स्थान, ऋषियोंका आश्रय-स्थान, जल तथा गुरु सेवन स्थल ऐसा तीर्थ शब्दका अर्थ है। साथ साथ जिसके कारणसे सब पापसे तर जाते हैं उसको तीर्थ कहा गया है। अलग अलग पुराणोंमें तीर्थ शब्दका अलग अलग अर्थ दिया है। स्कंदपुराणमें "जहां श्रेष्ठ ऋषि मुनियोंने आश्रय लिया, जो देवोंका निवास-स्थान है उसको तीर्थ कहते हैं।" कहा गया तो ऋग्वेदमें सरस्वती, शरयू, गंगा, सिंधू, आदि २० नदियोंके स्थानको तीर्थ कहा गया है। सरस्वतीको श्रेष्ठ वाणी तथा विचार देनेवाली कहा गया है। सभी नदियां, उनके उगमस्थान, संगमस्थान, बडे बडे तालाब, ऋषियोंके आश्रमस्थान, पर्वत-शिखर, आदि स्फूर्तिप्रद स्थानोंको तीर्थ-स्थान कहा गया है। हिमालयके सभी स्थानोंको तीर्थ-स्थान माना गया है। पद्मपुराणमें युगभेदसे तीर्थ स्थानोंका महत्व कहा गया है। कृतयुगणें पुष्कर तीर्थ, त्रेतामें नैमिषारण्य, द्वापारमें कुरु-क्षेत्र तो कलियुगके लिये गंगा तीर्थ कहा गया है। फिर अलग अलग संप्रदायके लोग अलग अलग स्थानोंको तीर्थ-स्थान मानते है। पुराणोंमें तीर्थके अनेक प्रकार कहे गये है। जैसे (१) धर्मतीर्थ-जहां धर्मपालनमें प्रेरणा मिलती है। (२) अर्थतीर्थ=नदीके किनारे और संगमस्थान पर व्यापारादि बडे पैमाने पर चलता है (३) कामतीर्थ—जहां विविधप्रकारकी कलाओंकी उपासना होती है। (४) मोक्षतीर्थ—विद्या, ज्ञान, तप आदि जहां सिखाया जाता है। जहां अध्यात्म केंद्र है ऐसा स्थान। जहां इन सबका समन्वय हुवा है उसको महापुरी कहा गया है। जैसे काशी, प्रयाग, मथुरा, उज्जयिनी, कांची आदि।

तुरीयावस्था या तुर्यावस्था—तुरीय, वेदांतकी एक संज्ञा है। अज्ञान और उससे आवृत ढकागया चैतन्यके आधारभूत अनावृत, न ढका हुवा शुद्धचैतन्यका नाम तुरीय है। व्यक्तीकी जागृति स्वप्न तथा सुषुप्ति - निद्रावस्था - अवस्थामें आत्माको विश्व, तैजस् तथा प्राज्ञ ऐसी संज्ञा है। तथा विशाल विश्वकी दृष्टिसे वही विराट या वैश्वानर, हिरण्यगर्भ अथवा प्राण, तथा ईश्वर ऐसी संज्ञा है। आत्माकी इन तीनों अवस्थाओंसे भिन्न तथा इन तीनोंके मूलमें जो शुद्ध आत्मतत्व है उसे तुरीय कहा गया है। जैसे कि नींद लगनेसे प्रथम सोते अथवा नींदमेंसे जगते समय एक क्षण भर ऐसा रहता है कि तब अहंकार आदि विकारोंका भान नहीं रहता। वैसे ही ज्ञाता और ज्ञेयका लय हुवा रहता है। केवल - शुद्ध - ज्ञानरूप इस अवस्थाको तुरीयावस्था

कहते हैं। इस अवस्थामें प्रपंचका उपशम हुवा रहता है। सतत इस स्थितिमें रहना तुरीयावस्थामें रहना अथवा सहजावस्थामें रहना है!

इसको उन्मनी अवस्था भी कहते हैं।

दक्षिणायन—जिस समय सूर्यका उदयास्त दक्षिणकी ओर सरकता है ऐसा समय। सामान्यतया कर्कसंक्रांतिके बाद मकरसंक्रांति तकका काल दक्षिणायन माना जाता है। (कर्क संक्रांति आषाढमें आती है और मकर संक्रांति पूसमें) इस कालको पित्रयान भी कहते हैं। पित्रयानका अर्थ पितरोंको पित्रलोकतक ले जानेवाले मार्ग। पित्रयानका मार्ग स्वर्गतक होने पर भी मोक्ष तक नहीं माना जाता। योगी लोग देहपातके लिये उत्तरायणका काल पसंद करते हैं।

दशोपनिषद्—उपनिषद्का अर्थ पास बैठना। संस्कृतमें ऐसा ही और एक शब्द है उपासना। इसका अर्थ भी पास बैठना है। किंतु उपनिषदमें गुरुके पास बैठना है तो उपासनामें देवताके पास बैठना है। गुरुके पास बैठकर गुरुकी भांति हो जाना उपनिषद है तो देवताके पास बैठ कर देवताकी भांति हो जाना उपासना है।

उपनिषद् गुरु-शिष्योंका हार्दिक संवाद है। यह अत्यंत प्राचीन कालसे चला आया है। उपनिषदोंकी संख्या अनंत होगी। किंतु जो संवाद लिपिबद्ध हो कर आज उपलब्ध हो सकते हैं उनकी संख्या २०० के करीब है। इसमें कुछ अति प्राचीन है। कुछ प्राचीन है। कुछ अर्वाचीन है। संभवतः ई. पू. १८००-२००० से ई. सं. १२०० तक इन उपनिषदोंका काल रहा होगा।

इन सब उपनिषदोंमें १४ उपनिषद् महत्वके प्राचीन माने जाते हैं। इनमें भी १० अत्यंत महत्वके हैं। इसलिये ज्ञानेश्वरने उनको "सकल मति प्रकाश श्रीगणेश"का मुकुटप्राय माना है। वे १० उपनिषद् हैं-(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुंडक (६) मांडूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छांदोग्य (१०) बृहदारण्यक.

इन उपनिषदोंमें ब्रह्म, सृष्टिरचनाक्रम, ब्रह्मप्राप्ति, तथा ब्रह्मप्राप्तिकी साधनाकी विस्तृत चर्चा है।

दान—दान वैदिक अर्थशास्त्रका महत्त्वपूर्ण अंग है। वैदिक अर्थशास्त्र केवल धनसंग्रहका अर्थशास्त्र नहीं है किंतु धन कैसा संग्रह करना चाहिए और उसका व्यय कैसा करना चाहिए यह भी कहता है। दान और यज्ञ संपत्तिकी सम-विभाजन व्यवस्था है। दान शब्दकी कई परिभाषाएँ हैं किंतु सबमें "न्यायसे कमाये हुए धनका" विशेषण है। "न्यायसे कमाये हुए धन धान्य पशु आदिका गरजू लोगोंके लिये देना दान है।" दान देनेके लिये दो शर्तें हैं। (१) न्यायसे कमाया हुवा धन (२) दान सत्पात्रको और श्रद्धासे दें। दान चार प्रकारके होते हैं। (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) काम्य (४) विमल। (१) बिना किसी फलाशासे, नित्य नियमित रूपसे, सत्पात्रमें अपनी योग्यताके अनुसार कुछ न कुछ देते रहना। (२) पाप नाश अथवा पुण्य प्राप्तिके उद्देशसे ग्रहण, अमावास्या, तीर्थयात्रामें, आदि विशिष्ट स्थल और कालमें उद्देशपूर्वक दिया गया दान। (३) संततिकी आशासे, संपत्तिकी आशासे, विजय अथवा यश आदिकी आशासे-समारोहपूर्वक दिया जानेवाला दान काम्यदान है। (४) विमल यह सर्वश्रेष्ठ दान हैं। बिना

किसी फलाशासे, निष्काम भावसे, ईश्वरार्पण भावसे, सत्पात्र तथा सत्कार्यके लिये दिया गया दान विमल दान है। साथ साथ जब कभी समाज पर विपत्ति आती है, जैसे शत्रूका आक्रमण होता है, अकाल पडता है, कोयी रोगादि फैलते हैं ऐसी विपत्तिमें विपत्तिनिवारणार्थ – समाजकी विपत्ति निवारणार्थ अपनेको धान्य, चांदी, सोना आदिसे तुलवाकर अपने सम - भार दिया जानेवाला तुलादान। यह विपत्तिसे मारे समाज या व्यक्तिको दिया जानेवाला दान है। अथवा किसी सदुद्देशसे, सत्कार्यके लिये दिया जानेवाला दान हैं। जैसे मंदिर आदि बांधनेके लिये विद्यालय चलानेके लिये, अन्नछत्र चलानेके लिये आदि। इसके अलावा कुछ महादान हैं। जैसे स्वर्ण दान, गजदान, भूमिदान आदि, इन सबमें अन्नदान और ज्ञानदान महत्त्वके कहे गये हैं। दानके साथ दक्षिणाकी व्यवस्था है। दक्षिणा दानवस्तुकी जो कीमत होती है उससे तिहाई होनी चाहिए। वैसे ही दान लेनेवाला विद्वान हो, सुसंस्कृत हो, सत्प्रवृत्त हो, तपस्वी हो। दानकी वस्तु अथवा दक्षिणाका दुरुपयोग न करें। नहीं तो दान लेनेवाला यदि कुपात्र होता है तो अपने साथ दान देनेवालेको भी अधोगति ले जाता है। ऋग्वेद आश्वासन देता है " दानसे किसीकी संपत्ति कम नहीं होती। " ऋग्वेदमें दानके विषयमें कई सूक्त हैं। उनमें दान देनेवाले राजाओं और लेनेवाले ऋषियोंके नाम हैं। दानका वर्णन है। राजाओंके विषयमें राजाओंको दिग्विजयके बाद दान देना अनिवार्य है। दान और यज्ञ समाजमें संपत्तिका सम-विभाजनकी व्यवस्था है ही साथ साथ वित्तसत्ता दुर्जनोंके हाथमें न जानेकी दक्षता भी है। क्यों कि दुर्जनोंके हाथमें वित्तसत्ता जाना समाजके लिये खतरनाक है। इसीलिये अन्यान्य शास्त्रकारोंने कैसे धन कमाना चाहिए अपने धनका किनता हिस्सा दानमें देना चाहिए, दान लेनेवाला कैसे होना चाहिए आदि बातों पर विचारपूर्वक अपना मत दिया है। सामान्यतया आपने उत्पन्नका छठा भाग दानमें देनेके लिये कहा गया है। इसके साथ " धन न्यायसे कमाया गया है ! " " दान श्रद्धा पूर्वक दिया गया हो ! " " सत्पात्रको दिया गया हो ! " आदि बातों पर बहुत कटाक्ष किया गया है। " जिसे दान दिया जाता है उस ओर तुच्छता भाव न हो ! " " दिया हुवा दान कभी नहीं लौटाया जाय ! " " दानका वचन पवित्र वचन है। उसका पालन होना ही चाहिए ! " आदिका भी आदेश है। जैन धर्मशास्त्रोंमें भी दानके (१) पात्र (२) करुणा (३) सम (४) अन्वय ऐसे चार प्रकार कहे गये हैं। सत्पात्रको दिया गया दान " पात्र " है। दुःखियोंको दिया गया दान करुणा हैं अपने सम साथियोंको दिया गया दान " सम " है। तथा अपनी संपत्ति किसी उत्तराधिकारीको सौंपना अन्वय है ! इसके अलावा अन्नदान औषधदान, गृहदान, ज्ञानदान, मुनियोंके लिये आवश्यक उपकरणादिका दान, आदि कई प्रकारके दान कहे गये हैं। जूआ, चोरी, आदि पापमार्गसे कमाया हुवा धन देने और लेने वालेको दुःखदायक होता है ऐसा भी कहा गया है।

इन सब बातोंके साथ ही साथ दानीको कितना दानमें देना चाहिए इसका भी विवेचन किया गया है। इस विषय पर अलग अलग शास्त्रकारोंने अलग अलग मत दिये हैं। कुछ शास्त्रकारोंने एक तिहाई उत्पन्न, दानादिमें देनेको कहा है तो कुछने एक बटा छ दानमें देनेको कहा है। किंतु सबने दानके कारण परपरिवारको किसी भी प्रकारके कष्ट न हो इस लिये सावध रहनेको कहा है। परिवारकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति होनेके बाद राजाका राजधन देनेके बाद जो रहता है वही दान करनेका विधान है। जैसे दान देनेवालोंको नियम कहे गये हैं वैस ही दान लेने-वालेके लिये भी कुछ नियम हैं। दान लेनेवालोंको भी कुछ आज्ञाएँ दी गयी हैं। अयोग्य व्यक्तिसे

दान न लें। अधार्मिक राजासे दान न लें। अश्रद्धासे तुच्छतापूर्वक या दबावमें आकर दिया हुवा दान न लें! अविद्वान् ब्राह्मणको कोई महादान नहीं लेना चाहिए! प्राचीन कालसे व्यक्ति तथा समाजमें आनेवाली अपूर्णताको दूर करनेके लिये दानका विधान कहा गया है। पाराशरस्मृतिमें "जिसको किसी बातकी आवश्यकता है उसके घरमें जाकर वह वस्तु देना!" उत्तमतम दान कहा गया है। कई लोग इतने दुर्बल होते हैं कि मांगने के लिये बाहर जाना उनके लिये असंभव होता है। ऐसे लोगोंको उनके घरमें जाकर ही दान देना चाहिए। शास्त्रकारोंने ज्यादह हो या कम "नित्यका दान" आवश्यक और महत्व का माना है। दान एक सामाजिक कर्तव्य है। जिस समाजके धनिक लोग अपना यह सामाजिक कर्तव्य करते हैं उस समाजमें समाधान रहता है। सामाजिक संताप सामूहिक दान भावनाके अभावका द्योतक है। इसीलिये प्राचीन शास्त्रोंके मर्मज्ञ इस युगके महर्षि विनोबाजीने सामूहिक रूपसे भूदान, संपत्तिदान, श्रमदान आदिकी प्रतिष्ठा की है। विनोबाजीकी ग्रामदानकी कल्पना विश्वइतिहासको दी गयी एक महान् देन है। यह उनकी प्रतिभाका-जो स्वयं प्रकाशित है—सुंदरतम उदाहरण है। यह प्राचीन ऋषियोंके दानकी कल्पनाका पूर्ण विकसित रूप है।

दीक्षा——किसी महान् कार्यके प्रारंभमें, उसके लिये योग्य हो, अधिकारी हो, इस दृष्टिसे संस्कार संपन्न अधिकार प्राप्त करनेकी क्रिया। किसी भी यज्ञके प्रथम यजमानको क्षौरादि करके, मंत्रोंके साथ कुछ कर्म करके, यज्ञ दीक्षा लेनी होती है। इस कर्मके बाद ही उस यजमानको "दीक्षित हुवा" ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आध्यात्मिक साधनामें, योग-साधनामें गुरूसे शिष्यको अनेक प्रकारसे दीक्षा दी जाती है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें दीक्षाका अर्थः—

देती जो विमल ज्ञान नाशती कर्म वासना।
कहते हैं उसे दीक्षा तंत्रज्ञ मुनि सिद्ध जो॥

ऐसे किया है। आगमोक्त साधनामें दीक्षाको अत्यंत महत्त्व दिया गया है। बिना गुरुदीक्षाके इस मार्गमें प्रवेश नहीं मिल सकता। दीक्षा गुरुका भावात्मक कार्य है। दीक्षासे गुरु-शिष्य चित्त–संयोग होता है। दीक्षाएँ अनेक प्रकारकी होती है। सामान्यतः दोन प्रकारकी दीक्षाएँ मानी जाती हैं। (१) सामान्य दीक्षा जो विशेष दीक्षाके लिए भूमिका तैयार करती है। इस दीक्षामें दीक्षित होनेकेबाद ही साधक साधनामें प्रतस्थ होता है। उसको यम-दमादि साधनाके नियमोंका पालन करना पड़ता है। इस दीक्षामें गुरु शिष्यके मस्तक पर आशीर्वादरूप शुभ हस्त रखता है। इस प्रकारकी दीक्षाके प्रभावसे अनेक प्रकारके पापांकुर नष्ट होते हैं। हृदयमें श्रद्धा भक्तिका उदय होता है। इससे गुरु-सेवा, देव-पूजादिका अधिकार मिलता है। इसके बाद (२) यथार्थ दीक्षा दी जा सकती है। आगम-शास्त्रानुसार-भुक्ति और मुक्ति समान सिद्धियां हैं। आगम शास्त्रको ही "भुक्ति मुक्ति वर प्रद" कहा गया है। इसमें भुक्तिकी भोगकी साधना सकाम, और मुक्तिकी साधना निष्काम माना गया है। गुरु साधकका अधिकार देख कर सबीज अथवा निर्बीज मंत्र दीक्षा देता है। सबीज दीक्षा अत्यंत सामर्थ्यवान होती है जिससे साधकको अत्यंत कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसमें अनेक प्रकारके संकट और खतरे भी होते हैं। इसलिये निर्बल लोगोंको सबीज दीक्षा नहीं दी जाती निर्बलका अर्थ शरीरसे अथवा मनसे भी हो सकता है। सामान्य निर्बल लोगोंको निर्बीज मंत्र दीक्षा दी जाती है। ऐसी दीक्षामें अनेक प्रकार हैं। दीक्षाके सभी मुख्य तथा उपमुख्य प्रकारोंको लेकर

७४ से अधिक प्रकार हैं। दीक्षा आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें अत्यंत महत्त्वका भाग है। सामान्य दीक्षा मानो अच्छा बीज है। अच्छे किसानको, अच्छा बीज मिलने पर भी उसको बोना, उसके पहले खेत तैयार करना, बोनेके बाद भी जंतु, कीडे मकोडोंसे उसकी रक्षा करना, समय पर पानी खाद आदि देनेका काम रहताही है। यह सब ठीक समय पर होता है तो अच्छी फसल आती है। किंतु यथार्थ दीक्षा आगकी चिनगारी है। जहां पडी वहांका कूडा कर्कटकर राख होना निश्चित है। ऐसी दीक्षाको शक्तिपात भी कहते हैं। गुरु अपनी शक्तिसे शिष्यका व्यक्तित्वही बदल देता है। यह एक प्रकासे व्यक्तित्व परिवर्तन है। जैसे तुरंत दीपसे दीप जलता है या बटन दबाते ही बिजलीका प्रवाह प्रारंभ होता है वैसे है यह दीक्षा। क्षण भरमें व्यक्तित्व परिवर्तन होता है। वास्तविक अर्थमें यही दीक्षा है! यह आत्मसंस्काररूप अंतर्दीक्षा है। दीक्षा मिली और सिद्धीका परम पावन दर्शन हुवा! ऐसी दीक्षामें गुरु क्षणभरमें अपनी ही नहीं अपनी गुरु परंपराकी सारी शक्तियां शिष्यको ऐसे सौंप देता है जैसे पिता मरते समय अपनी परंपरागत सारी संपत्तिका उत्तरदायित्व अपने पुत्रको सौंप देता है। ऐसी दीक्षा पानेके लिये शिष्यको जन्मजन्मांतरसे वास्तविक शिष्य संस्कारोंसे संपन्न होना पडता है। इसका संकेत गीताके छठे अध्यायके अंतमें मिलता है।

दुःख—सुखके बिना दुःख या दुःखके बिना सुखका अनुभव आना असंभव है। क्यों कि यह सापेक्षिक द्वंद्व है। दुःख शब्दकी व्याख्या करते समय न्यायशास्त्र कहता है। बाधा-पीडा-देनेवाला जो है वह दुःख है। पीडा दुःखका लक्षण है। अनेक दर्शनकारोंने दुःखकी अनेक व्याख्यायें की हैं। किसीने "प्रतिकूल संवेदनाको दुःख," कहा है तो किसीने "अधर्म मूलक उत्पन्न प्रतिकूलताको दुःख" कहा है। और सांख्योंने "बुद्धि तत्त्वके विशिष्ट परिणामको दुःख" कहा है। मनुस्मृति कहती है "परवशता दुःख है।" नीतिशास्त्र दुःखको अधर्मका परिणाम मानता है। दीनता, तथा मुखमालिन्य दुःखका परिणाम है। दुःख तीन प्रकारका होता है। (१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःखमें भी शारीरिक और मानसिक ऐसे दो प्रकार हैं। शारीरिक दुःखका कारण कफ वात पित्तकी विषमता है तो मानसिक दुःख काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन षड्विकारोंके कारण होते हैं। आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख बाह्य उपचारोंसे दूर होनेवाले हैं। आधिभौतिक दुःख मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि कीटक आदि निर्माण करते हैं तो आधिदैविक दुःख भूत, पिशाच, निसर्गादि उत्पन्न करते हैं। मन ही दुःखका ग्रहण करता है। प्रत्येक जीवको दुःख होता ही है। इंद्रिय, इंद्रिय विषय, तथा विषय प्रत्यक्ष दुःखका कारण है। पारतंत्र्य, रोग, अपमान, शत्रु, प्रतिकूल गृह-परिवार, निर्धनता, दुष्टकी सेवा, आदि दुःखकी अनेक बातें हो सकतीं हैं। भगवान बुद्धही जीवनमें आनेवाले दुःखोंको अपने तत्त्वज्ञानका केंद्र बना कर सोचनेवाले पहले महापुरुष हैं। दुःखका सर्वव्यापी अस्तित्व, उसके सार्वत्रिक कारण, संपूर्ण दुःख निरसनकी शक्यता, तथा दुःखनिरसनका मार्ग यह बुद्धके कहे श्रेष्ठ प्रकारके चार सत्य हैं। भगवान बुद्ध कहते हैं "जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, इच्छाघात आदि बातें दुःखमय हैं।" दुःखका कारण है तृष्णा। इसलिये तृष्णा-त्याग करनेसे दुःखमुक्ति मिलेगी यह भगवान बुद्धका कहना है। "जीवन दुःखोंसे भरा है" यह बात उपनिषद् तथा सांख्य, भगवान बुद्धके पहलेसे कहते आये हैं। प्रापंचिक सुख तथा सुखसाधन यह क्षणिक होनेसे उसका अंतिम परिणाम दुःख ही है। इसलिये "परमसत्य" को छोड कर और सब दुःखका ही कारण है।

यह उपनिषदोंका कहना है। किंतु बुद्धने अपने सिद्धांतकी नींव ही दुःख पर रखी है। बुद्धके उत्तरकालीन तत्वज्ञानपर इस बातका गहरा असर पड़ा है। भारतीय तत्वज्ञानने अविद्याको दुःखका मूल माना है। जैसे अविद्या घटते जाती है अथवा दूर होते जाती है वैसे दुःख मिटता जाता है। ज्ञानके प्रकाशसे मनकी प्रसन्नता बढ़ते जाती है। जैसे जैसे प्रसन्नता बढ़ती जाती है अपने आप शांति मिलती है। यही आध्यात्मिक आनंद है। वासनापूर्तिजन्यआनंद क्षणिक है। इसलिये वासनाके कारणीभूत अविद्याको दूर करना शाश्वत सुखका साधन है। निरालंब शाश्वत सुख जीवनका अंतिम लक्ष्य है। सारी आध्यात्मिक साधना इस लक्ष्यके प्रति ले जाती है। किसी भी सुखके मूलमें जब तक वासना है तब तक वह सुख क्षणिक होगा। क्यों कि वही दुःखका मूल है। इसलिये वासनाक्षय, वासनाका कारणीभूत मूल अविद्याका नाश, आध्यात्मिक साधनाका मूले कुठारः पद्धति है। इसीको संतोंने अपने पारमार्थिक साधनाका आधारशिला माना है। इसकिये संतोंने प्रापंचिक सुखोंसे अर्थात् वासनापूर्ति जन्य क्षणिक सुखोंसे विरक्ति और भगवद् भक्तिमें अनुरक्तिका नया मार्ग सिखाया। विरक्तिसे वासनाक्षय, भक्तिसे आनंद प्राप्ति, ऐसा यह दुहरा मार्ग है!

देव——दिव्य देह धारण करनेवाला। दान देना, चमकना, प्रकाश देना, ऐसे अर्थके दा, दीप अथवा द्युत धातुसे देव शब्द बना है। इसलिये देव शब्दके साथ दिव्यता का बोध होता है। अदृश्य रूपसे वास करनेवाली दिव्य शक्ति देव! ऐसा अर्थ हो गया है। यह अदृश्य शक्ति सर्वत्र संचार करके भक्तोंकी एक निष्ठ भक्तिके कारण प्रकट होकर भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करती है। यह सदैव भक्तोंके पास रहकर उसका रक्षण करती है। इनमें अनेक प्रकार हैं। वेदकालसे लेकर इस चराचर सृष्टिके परे एक दिव्य सृष्टिकी कल्पना की है। देव इस दिव्य सृष्टिके निवासी हैं। इनकी विविध शक्ति मनुष्यको सुख दुःख देती है। इस परसे देव-धर्म शब्द रूढ हुवा। देव, धर्म और तत्वज्ञान यह संस्कृतिका तिहरा रूप है। प्रत्येक देशकी संस्कृतिका यह त्रिकोण है।

देह——इसीको शरीर, काया, तन, क्षेत्र आदि कहा गया है। जीवका भला बुरा भोग भोगनेका स्थान देह है। सभी प्रकारकी चेष्टाओंका आश्रय, ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रियोंके कर्मका आश्रय, हाथ पैर आदि सभी अवयवोंसे युक्त जो है वह, शरीरकी ऐसे अनेक प्रकारकी व्याख्यायें की गयी हैं।

मानव देह किसका और कैसे बना है? इसके विषयमें अनादि कालसे जिज्ञासा बनी रही है। पुराणोंसे लेकर आदिवासियोंके साहित्य तक सर्वत्र इसके विषयमें विस्तृत और चित्रविचित्र विचार आये हैं। ऋग्वेदमें शरीर तथा उसके अवयवोंके शब्द मिलते हैं। इस परसे ऐसे लगता है कि वैदिक ऋषियोंने भी शरीर रचना समझनेका प्रयास किया था। अथर्ववेदमें इसकी विस्तृत चर्चा है। आयुर्वेदके चरक सुश्रुतने भी वही नाम स्वीकार किये हैं। आजसे चार पांच हजार वर्ष पहले लिखे गये शतपथ ब्राह्मण जैसे ग्रंथमें मानवदेहके शरीरमें जो हड्डियां हैं उसकी संख्या ३६० होनेकी बात कही गयी है। गर्भोपनिषदमें स्त्रीके गर्भमें मानवका शरीर किस तरह बनता है इसका विस्तृत विवेचन है। पुराणोंमें अयोनिज मानव देहका विचार आया है। सीता, द्रौपदी, धृष्टद्युम्न, सप्तऋषि, आदि सभी अयोजित हैं। केवल पुराणोंमें ही नहीं आदिवासियोंके साहित्यमें भी अयोजित शरीरधारियोंकी कथायें प्रसिद्ध हैं। इस देहमें भी देह है। यह जो देह दीखता है वह स्थूल देह है।

हमारी यह देह पंचभूतात्मक है वैसे ही पंचकोशोंसे बनी है। यह स्थूल देह अन्नमयकोशसे बनी है। इस देह पर अभिमान करनेवाले जीवको विश्व कहते हैं। इस शरीरकी सब ज्ञानेंद्रियां बुद्धिशक्ति और कर्मेंद्रियां क्रियाशक्तिसे चलती हैं। ये दोनो शक्तियां समान भावसे अंतःकरणमें रहती हैं। सभी इंद्रियां स्थूल देहके आश्रयसे रहती हैं ऐसा दीखनेपर भी, वास्तवमें ये स्थूल देहका अंश नहीं होती। लिंगदेह जब शरीर छोडकर जाता है तब ये इंद्रियां स्थूलदेहमें नहीं रहतीं। स्थूलदेहको ही आत्माका भोगायतन कहते हैं। इसी शरीरके सहारे आत्मा पूर्व-कर्मको भुगतता है। बिना देह-संबंधके जीवका कर्तृत्व और भोक्तृत्व व्यर्थ है। स्थूल देहसे मुक्त आत्मा ही कर्ता अथवा भोक्ता हो सकता है। अविद्याके कारण जीवको देहाभिमान होता है। ज्ञानसे अविद्याका क्षय होनेकेबाद यह देहाभिमान नहीं रहता।

पांच कर्मेंद्रिय, पांच ज्ञानेंद्रिय, पंच प्राण मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वोंसे सूक्ष्म देह होता है। प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोशसे यह बनता है। इस सूक्ष्म देहको लिंग-देह भी कहते हैं। यह लिंगदेह तेजसूका अंश होता है। काष्ठोंमें जैसे अग्नि होता है वैसे यह लिंगदेह होता है। स्थूल देहमें लिंगदेहका तेज व्याप्त होता है। किसीका लिंगदेह विशुद्ध नहीं होता। यह संस्कार और वासनाओंके बोझसे दबा रहता है। मृत्युके समय जो भाव बलवत्तर होते हैं वे अपने पूर्ववर्ती भावोंको अपनेमें मिला लेते हैं। इसलिए मृत्यु समयके संस्कारके अनुसार अगले जन्मकी गति मिलती है।

इस लिंगदेहाभिमानी जीवको तेजस् कहते हैं। और ऐसे सभी लिंगदेहोंपर अभिमान करनेवाले तत्त्वको हिरण्यागर्भ।

इसी लिंगदेहके पीछे, उसके आश्रयरूप कारण देह होता है। कारणदेहको अनादि अविद्या कहा गया है। यही अविद्या स्थूल और सूक्ष्मदेहका कारण है। ज्ञानसे वह नष्ट होती है इसलिये उसको देह कहा गया है। इस पर अभिमान रखनेवाले जीवको प्राज्ञ कहा गया है। सभी कारण देहोंपर अभिमान रखनेवाला तत्त्व, मायोपाधिक देवता, ईश्वर कहलाता है। कारण देह पंचकोशोंमेंसे आनंदामयकोशका है। ब्रह्म विद्याके प्रभावसे जब तक यह कारणदेह नष्ट नहीं किया जाता तब तक मुक्ति नहीं मिलती।

इन सभी देहोंको विकार रहित करना ही देहसिद्धि कहलाती है। भारतके प्राचीन ग्रंथोंमें इस देह सिद्धके अनेक प्रकार कहे गये हैं। प्राचीन रसायन शास्त्रियोंने अठारह संस्कारोंसे संस्कृत पारदसे देह सिद्धिकी बात कही है तो पांतजल ऋषिने भूतजयसे देह सिद्धिकी प्रक्रिया कही है। गोरखनाथ और तांत्रिक बौद्धोंने भी देह सिद्धिकी अनेक बातें कही हैं। प्राचीन ग्रंथोंमें शुक्राचार्य, जालंदरनाथ, गोविंदभगवत्पादाचार्य आदि पुरुषोंको देहसिद्धि हुई थी ऐसा कहा गया है। मनुष्य देहसिद्धि होनेके बाद नित्य कौमार्यावस्थामें रहता है। न उन्हे वृद्धावस्था घेरती है न कोई विकार छूता है। प्राचीन ग्रंथोंमें ऐसे ही लोगोंको चिरजीवी कहा है। अश्वत्थामा, बली, व्यास, हनूमान, विभीषण, कृप, परशुराम, मार्कंडेय, इन लोगोंकों चिरजीवी कहा गया है। कल्पांतमें इन चिरजीवियोंके शरीर नष्ट होते हैं। अर्वाचीन कालके कुछ महायोगियोंने आत्माकी भांति शरीर भी अमर हो सकनेकी बात कही है। सारा विश्व सोम-कलासे उत्पन्न होता है और अग्नि उसका भक्षण करता है। सोमकला जब अग्नीसे भी प्रबल होती है तब देह कल्पांत तक टिकते हैं। सोमपानसे सोमकला प्रबल होती है ऐसी बात वेदमें भी कही गयी है।

अमरत्व प्राप्त होने पर भी देहतत्व पर संपूर्ण स्वामित्व प्राप्त करनेके प्रथम देहातीत जीवन्मुक्तावस्था पाना असंभव है। इसके लिए शरीरभावका त्याग करके सहज भावमें रहना आवश्यक है।

सामान्यतया कुछ संतोंने देहकी निंदा करते हुए यह रक्त और मांसका पिंड है, अस्थियोंका पंजर है, मलमूत्रकी खान है, आदि कहा है किंतु यजुर्वेदमें कहा है।

सात ऋषि रहते शरीरमें रक्षा करते हैं अप्रमाद हो।
सात ऋषि हैं ये जल प्रवाह जाते निद्रिस्थके स्थान तक जो॥
निद्रिस्थकी रक्षा करते हैं दो देव इस देह यज्ञ शालाकी॥

इस मंत्रका अर्थ करते समय वेदाचार्योंने कहा है दो आंखें, दो कान, नाकके दो रंध्र, एक मुख ये ही सप्त ऋषि हैं। ये सदैव ज्ञानग्रहण करते हैं इसलिये ऋषि हैं। ये ही ज्ञानग्रहणके देह-यज्ञशाला-की रक्षा करते हैं। जागृतावस्थामें ये सातों बहिर्मुख होते हैं और निद्रावस्थामें अंतर्मुख होते हैं। इनकी इस अंतर्मुखताके कारण निद्रित शरीरको आनंद मिलता है। निद्रावस्थामें भी जो दो देव इसकी रक्षा करते हैं ऐसा कहा है वे दो देव हैं प्राण और अपान! यदि वे दो निद्रित हो गये तो देह समाप्त होगा! इसी प्रकार अथर्ववेदमें भी कहा है।

आठ चक्र नव-द्वारकी यह काया देवोंकी अयोध्या नगरी।
इसमें है सुवर्णमय कोष वही तेजसे भरा स्वर्ग-लोक।
उस सुवर्णमय कोशका है जो तीन पर तीनका आधार।
इसमें रहता है आत्मयक्ष इसे जानता वह ब्रह्म ज्ञानी॥

आठ चक्र=(१) मूलाधारचक्र (२) विशुद्ध (३) मणिपुर (४) स्वाधिष्ठान (५) अनाहत (६) आज्ञाचक्र (७) सहस्रारचक्र (८) ब्रह्मरंध्र।

नवद्वार=दो आंखे, दो कान, नाकके दो रंध्र, एक मुख, एक गुदद्वार, एक मूत्रद्वार।

तथा इसके आधारभूत देवता कानके देवता दिशा, आंखका सूर्य, मुखका अग्नि, हृदयका चंद्रमा इस प्रकार शरीरके आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इंद्र, एक प्रजापति ऐसे ३३ देवता हैं। इसीलिये यह स्वर्ग लोक है।

इसीलिये संतोने भी इसको "अस्थिपंजर रक्तमांसका पिंड, मलमूत्रकी खान" आदि कहने पर भी "चौरासी लाख फेरे फिर कर सुंदर नरतनु पाया" कह कर इसकी महती गायी है। मानवदेह पंच भूतात्मक है, नश्वर, नाश होनेवाला है, इस पर भरोसा नहीं कर सकते फिर भी सारे साधनोंका एक मात्र यही आधार है। इहलोक अथवा परलोकके ध्येयकी प्राप्तिके एक मात्र साधन यही है। बिना इसके सारा निरर्थक है। सारे देहमें मानव देह उत्तम है। इसीमें पुरुषोत्तम बसा है। यह कह कर संत इसका सदुपयोग करनेके लिये कहते हैं। हमारे पुराने ग्रंथोंमें कहा है:—

मनुष्यत्व मुमुक्षुत्व तथा सज्जन साथ जो।
दैवानुग्रहसे प्राप्त ये तीन सिद्धि दुर्लभ॥

यह जो देह मिला है वह पाप पुण्य करनेके लिये नहीं किंतु पाप पुण्यका अतिक्रमण करके जैसा वह (ब्रह्म) पूर्ण है ऐसा यह भी (देह भी) पूर्ण है इसका अनुभव करने के लिये है। इस पूर्णत्वका अनुभव ही इसकी कृतार्थता है।

देहभाव-देहाहंता देहतादात्म्य——देह ही मैं हूं इस भावनासे रहना। देहसे एकरूप होकर अस्वाभिक सुखदुःखादि द्वंद्वोंसे उलझे रहना। जीव इसक द्रष्टा है। साक्षी है। स्वामी है। किंतु संस्कार वश वह देह ही मैं हूं ऐसे मान कर रहता है। इस भावको देहतादात्म्य कहा जाता है। यही देहाहंता है। आत्मानात्म विवेकसे यह नष्ट होता है और मैं देहसे भिन्न हूँ इसका बोध होता है। यही सहजभाव है।

द्वंद्व—द्वंद्वबंध——वस्तुतः जो सत्य नहीं है ऐसे भासमान परस्पर विरोधी अनुभव। इसका आधार द्वैत है। यह सारे द्वंद्व परस्पर विरुद्ध जोडी जोडीसे भासते हैं। इससे मनुष्य स्वभाव, अथवा अपनी सहजावस्था भूल जाता है। उस द्वंद्वोंमें बंध जाता है। इन द्वंद्वोंसे परे जाना ही सहजावस्थामें लीन होना है। द्वंद्वातिक्रमण चिर आनंद है। ये द्वंद्व हैं-जैसे जड, चेतन, पुरुष-प्रकृति, प्रपंच-परमार्थ, प्रकाश-अंधकार, राग-द्वेष, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, धर्म, अधर्म, पाप पुण्य, ज्ञान अज्ञान, लाभ-हानि, निंदा-स्तुति, मान-अपमान, जय-पराजय, शत्रु, मित्र सज्जन-दुर्जन, सत्-असत् आशा-निराशा, शाप-आशीर्वाद प्रवृत्ति-निवृत्ति, त्याग-भोग, हिंसा-अहिंसा, हर्ष, शोक प्रेम-वैर, नीति, अनीति, शुभ-अशुभ, सम-विषम, विधि-निषेध नित्य-अनित्य, व्यष्टि-समष्टि, विवेक-अविवेक, विचार-विकार, जन्म-मरण, बंध-मोक्ष उत्क्रांति, अपक्रांति, पुरोगामी प्रतिगामि, मंगल-अमंगल, नया-जुना, अपेक्षा उपेक्षा, जीवन मरण, विकास-विनाश आदि आदि।

ये द्वंद्व सदैव सापेक्ष अथवा साहचर्यसे रहते हैं। यह देहभावके कारण होते हैं। आत्मभावमें ये लय हो जाते हैं। इस स्थितिको द्वंद्वातीत अवस्था कहते हैं।

द्वैत——जीव, जगत तथा परमात्मामें भेद भाव है। जीव जगत यह सत्य है। दीखने-वाली सभी भिन्नताएं, विविधताएं सत्य हैं। (१) जीव- शिव भेद; (२) जीव-जीवमें भेद (३) जीव-जडमें भेद (४) जड-जडमें भेद (५) और जड तथा परमात्मामें भेद ये पांच प्रकारके भेद-द्वैत- सत्य है। विश्वकी इस विविधताको सत्य माननेवाला विचार द्वैत है।

धर्म——जैसे आजकलके विद्वान, अंग्रेजी रिलिजन शब्दके अर्थमें भारतीय धर्म शब्दका प्रयोग करते हैं वैसे धर्म शब्दका अर्थ नहीं है। अंग्रजी रिलिजन शब्द धर्म शब्देका अर्थ नहीं दे सकता। धर्म शब्द संस्कृतके जिस धातुसे बना है उससे तो जो लोगोंकी धारण करता है, उठाता है अथवा पुण्यात्माओंसे जो धारण किया जाता है वह धर्म है किंतु यह शब्द इतने प्राचीन कालसे चला आया है, इससे विद्वान विचारकोंने इस पर इतना अधिक लिखा है कि धर्मका अर्थ और भाव एक सागरकी तरह लहरें मारता जाता है। साथ ही साथ भारतीय जनजीवनमें वह इतना ओतप्रोत हो गया है कि आधुनिक विदेशी आचार विचारोंके तज्ञ किंतु भारतीय जीवन परंपरासे बिलकुल अनभिज्ञ, तथाकथित, स्वयंमान्य, पुरोगामी लोगोंके लाक कहने पर भी जनजीवन पर उनके कहनेका कोई गहरा और स्थायी प्रभाव नहीं पडता। भले ही प्रलोभन और धमकियोंके सम्मुख, उनका भावावेग कुछ दब जाता है और नित नये दंभको जन्म देता है।

धर्म इतना उथला भाव नहीं है कि कुछ तथाकथित युग-निर्माताओंकी लेखनीके एक फटकारसे जन-जीवनसे उठ जाय। वह वैदिक कालसे भारतीय जन-जीवनमें धरकर गया है। उनके

श्वास निश्वास और हृदयकी धडकनके साथ समरस हो गया है। ऋग्वेदमें कमसे कम ५६ से अधिक बार यह शब्द आया है और जीवनके कई अंगोंका आधार बन गया है।

एक जगह ऋग्वेदमें गाया गया है—

इससे सारे दिव्य लोकोंके साथ भूलोक व्याप्त है ॥
इसके लिये देवोंने भी स्तवन रच दिये हैं ॥
इसके नियमोंसे भूम्याकाश संभले हुए हैं ॥

न कभी इसका क्षय होता है न इसकी उर्वरता घटती है। इसके बाद उपनिषदकाल तक अनेक परिवर्तन होने पर भी उपनिषद कहते हैं " धर्म चर! " और गीता " स्वधर्मे निधनं श्रेयः " कहती है। और जैमिनी अपने सूत्रमें " उपदेशसे, आज्ञासे, या विधिसे ज्ञान होनेवाला श्रेयस्कर क्रिया ही धर्म " कहता है तो महाभारतमें भगवान व्यास कहते हैं " जो विश्वको धारण करता है वह धर्म है। धर्म प्रजाको धारण करता है जो धारण सह है वह धर्म है! " उसके साथ अणुवादी वैशेषिक " जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस होता है वह धर्म " कहता है। अभ्युदय और निःश्रेयसका अर्थ लौकिक उत्कर्ष और पारलौकिक सुख है।

वैशेषिक अणुवादी दर्शनकार हैं। उनके मतसे धर्म कोई बाह्य आचार नहीं है किंतु मानव पर होनेवाला शुभ संस्कार है। वैशेषिक दर्शनके अनुसार निःश्रेयस जीवनका उच्चतम सुख है। अर्थात धर्म निम्नसे-अभ्युदय-उच्चतम सुख तक जीवन पर शुभ संस्कार करनेवाला साधन है। सुख और धर्मसे संबंध जोडकर दिखानेवाले ऐसे अनेक वाक्य मिल सकते हैं।

दक्ष स्मृतिमें तो—

चाहते सुख सभी लोग धर्मसे उत्पन्न है सुख।
इससे धर्म कर्म नित्य करना अवश्य यत्नसे ॥

वैसे ही मनुस्मृतिमें—

अधर्म प्रसवता है दुःख ही देहधारिको।
तथा प्रसवता धर्म सुख संयोग अक्षय ॥

कहा है। इसीलिये धर्म साधनाको ही पुरुषार्थ कहा गया है। अधर्मसे प्राप्त होनेवाले निम्न तर सुखोंको त्याज्य माना गया है। निम्नसे उच्च, उच्चसे उच्चतर और उच्चतरसे उच्चतम सुख प्राप्तिका प्रयास करना ही पुरुषार्थ है। एक व्यक्तिके अधर्मसे समाजको भी दुःख अनुभव करना पड सकता है एक मनुष्य अपने निम्न तर सुखकी अपेक्षासे समाजका अहित कर सकता है इसलिए " अधर्म प्रवृत्तिके संकोचके लिये " दंड भयकी आवश्यकता भी अनुभव की गयी है। साथ साथ उच्चतर सुखोंका विचार करते हुए " सुखका अर्थ वासनाका अभाव, जब सुखानुभव होता है तब कोई वासना नहीं होती! ऐसा कहकर वासनाके अभावके कारण बताये हैं। (१) वासनापूर्ति (२) या वासनाका उत्पन्न ही नहीं होना (३) चित्तैकाग्रतासे वासना विलोपसे वही सुख मिलेगा जो वासना पूर्तिसे। यह दार्शनिकोंका मंतव्य है। सइलिये उन्होने वासना विलोपका शास्त्र ही बना दिया है। वासनाविलोपसे जो कर्म होंगे वे परार्थ भावसे होंगे। समाजके परस्पर सहायार्थ होंगे।

वहां "व्यक्तिगत स्वार्थ या व्यक्तिगत वासना पूर्तिके भाव नहीं होंगे!" वासना विलोपसे होनेवाले कर्म ही निष्काम कर्म होंगे। वासना विलोपसे होनेवाले कर्म ही "सच्चे अर्थमें" समाज हितके कर्म होंगे। जो कर्म व्यक्तिके वासना पूर्तिके कर्म हैं उससे समाज हितकी गुंजाईश कमसे कम होती है। इसीलिए अभ्युदयके साथ—भौतिक वैभवके साथ—निःश्रेयस, वासना विलोपकी आवश्यकता है। निःश्रेयसके अभावमें केवल अभ्युदय, व्यक्तिगत वासना पूर्तिके सुखका साधन बननेसे, परार्थ अथवा समाजहितके सभी कार्य केवलमात्र दंभ बन कर रह जायेंगे। तभी महात्मा गांधी जेसे आधुनिक विचारकोंने "बिना धर्मकी राजनीति प्रजाके गलेमें फांसी!" कहा था। यहां धर्मका अर्थ निःश्रेयस अथवा वासना विलोपका अभाव है।

भारतीय विचारकोंने, इसी दृष्टिसे जीवनमें विविध परंपराओंका जो निर्माण और प्रचलन किया वह "धर्म" नामसे प्रचलित हुवा। इस धर्मप्रथाओंमें कहे जानेवाले मंत्र सदैव इसके पीछे जो उद्देश्य हैं उस ओर इंगित करते हैं। उदाहरणके लिये—अथर्ववेदका यह मंत्र देख सकते हैं:—

व्रत चलायें पुत्र पिताका मातासे हो वह सम चित्त।
पत्नी बोले मृदु सुख वाणी गृह बने सदा शांति धाम।
न करे द्वेष भाई भाईका तथा भगिनि भी कभी कहीं॥
सहायक बनो परस्पर सम व्रत हो मंगल वाणी॥

वर्णव्यवस्थाके उद्देश्यमें भी "परस्पर सहायता" है। परस्पर पूरक होकर समाज हित साधना धर्मका एकमेव उद्देश्य है। यज्ञ और दान राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदिके परस्पर संबंधोंका जो सुंदर विवेचन देखनेको मिलता है वह आश्चर्य जनक है। यह सारा निःश्रेयस प्रधान है। "परस्पर पूरक भावनाका धर्म सिद्धांत" अत्यंत मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। वह सामूहिक शांति समाधानका साधन है। दूसरेके सुखकी अवहेलना करके अपने सुखका विचार करना अधर्म है। दूसरेके सम्मानकी अवहेलना करके अपने सम्मानका विचार करना अधर्म है। इसीलिए "सर्वे सुखिना संतु" की प्रार्थना है। महाभारतमें एक स्थान पर धर्मका रूप समझाते हुए कहा है—

सर्व हित रत जो है सबका रहता मित्र।
मन कर्मवचनसे जानता है वही धर्म॥

परस्पर हितका विचार करके महाभारतमें धर्म अधर्म जाननेकी जो उत्तम कसौटी कही है वह आज भी आदर्श कही जा सकती है—"अपने लिये जो अच्छा नहीं लगता, दुःखकारक लगता है ऐसा बर्ताव दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिए। यही धर्मका सार-तत्व है। जो इसके विरुद्ध व्यवहार करता है वह "वासनामूलक" करता है!" इसी व्यवहारको अध्यात्मवादी "आत्मौपम्यबुद्धि" कहते हैं।

ऋग्वेद कालसे लेकर आज तक धर्माधर्मका पर्याप्त विवेचन किया गया है। समय समय पर जो घटनायें होती हैं उससे निर्माण होनेवाली समस्याओंको सुलझाते समय भी-यह धर्म यह अधर्म ऐसा बता कर अधर्मका विरोध किया हुवा मिलता है। ऐसे प्रसंग असामान्य प्रसंग हैं। वे सबके सामने नहीं आते। इसलिये सर्व सामान्य लोगोंकी दृष्टिसे "नित्य आत्म-सुखकी चाह, अन्य सुखके विषयमें विरक्ति, भूतमात्रोंमें करुणा, करुणाजन्य परोपकार भाव, परस्पर सहाय

भावनाका विकास, कमसे कम हिंसा, सुखस्वरूपका ज्ञान, सबके सुखपर दृष्टि, सत्प्रवृत्त उद्योग, तथा सिद्धि असिद्धिमें सम भावना इनको धर्मके अंग माने हैं तो किसीने-संतोष, क्षमा, मनःसंयम, अशौच, अंतर्बाह्य पावित्र्य, इंद्रिय-निग्रह, तत्वजिज्ञासू बुद्धि, आत्मज्ञान, सत्य, अक्रोध इन दस गुणोंको धर्मके लक्षण माना है। इसके साथ किसीने दान, निषिद्ध विचारोंका विस्मरण, चित्तकी स्थिरता-वासना विलोपकी साधना-आदि अन्य कुछ गुण कहे हैं। बौद्ध धर्ममें इन गुणोंके साथ अनिंदा,—जो वर्तमान युगमें युग-धर्म है—संयम, हित-मित आहार विहार, चित्तका लय—वासना विलोप-भी धर्मके लक्षण माने गये हैं।

ये सारे गुण समाज-विकासके लिये अथवा समाजके सामूहिक हितके लिये आवश्यक हैं। बिना इन गुणोंके समाजके सामूहिक हितके लिये आवश्यक "परस्पर सहायताके भाव" की वृद्धि नहीं हो सकती। सबल, शक्तिशाली समाज संघटित नहीं हो सकता। सशक्त समाजका निर्माण नहीं हो सकता। इसलिये धर्मका अर्थ "सशक्त समाज निर्माणके लिये आवश्यक गुणोंका व्यक्तिगत और सामूहिक विकास है।" और अधर्मका अर्थ "सशक्त समाज निर्माणके लिये आवश्यक गुणोंका ह्रास अथवा हनन।" इसीलिये समय समय पर शक्तिशाली नेताओंने "दंडसे भी" अधर्मका विरोध किया है। इसका नमूना जरासंध कृष्ण संवादमें मिलता है। कृष्ण जरासंधसे कहता है- "हे राजश्रेष्ठ! कोई भी राजा अन्य सज्जन राजाओंकी हिंसा कैसा कर सकेगा? तू वह करने जा रहा है। यदि समर्थ इसका विरोध नहीं करेगा तो "तुम्हारा पाप उस समर्थके सिरपर पडेगा!" हम धर्माचरणी हैं। धर्मका रक्षण करनेमें समर्थ हैं। इसलिये तुम्हारे अधर्मका विरोध करने आये हैं!"

भगवान कृष्णसे लेकर महात्मा गांधीतककी यह धर्मपरंपरा है। शस्त्र बल संपन्न भगवान श्रीकृष्णने जरासंधके अधर्म निवारणके लिये उसको युद्धका आव्हान दिया और निःशस्त्र महात्मा गांधीने "धर्महीन अंग्रेजी राज्यके विरुद्ध सामूहिक सत्याग्रहका युद्ध छेडा! और घोषणा की धर्म रहित राज्य प्रजाके गलेमें फांसी है!" भारतमें कईबार ऋषियोंने भी यह काम किया है। महात्मा गांधीजीने ऋषिपरंपराका सबल नेतृत्व किया! ऋषियोंने सदाचारी राजाको प्रेरणा देकर उनसे अधर्मका विरोध किया तो महात्मा गांधीने समग्र जनताको प्रेरणा देकर अधर्मी राज्यका विरोध किया। क्यों कि धर्मानुशासन हो। धर्मानुशासनको महात्मा गांधीजीने रामराज कहा। धर्म किसीकी ओरसे किसी पर थोपी गयी वस्तु या अफीमकी गोली नहीं किंतु मानवी हृदय ही धर्मका उगमस्थान है। मानव कुलने व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्थानके प्रयाससे धर्म भावना, धर्मानुशासन, तथा धार्मिक आचार विचारोंका विकास किया है। धर्म "मानवी हृदयकी गहरी तथा सर्व स्पर्शी" भावना हैं। शाब्दिक कसरत करनेवाला तर्क उस भावना पर यशस्वी आघात नहीं कर सकता। समुदायप्रियता मानवी जीवनकी सहज प्रवृत्ति है। इसीसे मानवकुलका योगक्षेम चलता है। धर्म सामूहिक विचार तथा सामूहिक सामर्थ्यकी आधार शिला है। प्रत्येक मनुष्य जन्मसे मृत्यु तक समाजके "संघ—गर्भमें" जीता है और धर्मके माध्यमसे अपनेमें संघ—शक्तिका अनुभव करता है। जैसे भ्रूण माताके आहारसे जीता और बढता है। प्रत्येक मनुष्य कण कण क्षण क्षणसे संघ—शक्तिका ग्रहण और अनुभव करता है क्यों कि यही उसकी सुरक्षा—भावनाकी नींव है। तथा "परस्पर सहायतासे मानवको संघबद्ध करना ही धर्म—भावनाका मूल उद्देश्य" होनेसे वह मानवी हृदयके सिंहासन पर सहज ही अधिष्ठित हो गया है। मानवी कुलके प्रतिभाशाली, स्फूर्तिसंपन्न, मनीषी, महापुरुषोंने साक्षात्कार, समाधि, निरालंब शाश्वत सुख, आदि बातोंसे जो सामान्य लोगोंके विचारकी सीमामें भी नहीं जाती धर्म-भावनाको बिना ओर छोरके अमर्याद चैतन्यसे भर दिया है।

इससे इन महापुरुषोंके अनुयायियोंको जीवनमें एक समाधान मिलता है। सांसारिक तापत्रयमें झुलसनेवाले हृदयको एक सांत्वना मिलती जो दूसरे किसीसे नहीं मिलती। इसलिये धर्म-भावनामें तथा धर्म-संस्थाको असामान्य उन्नत सामर्थ्य प्राप्त हो गया है। साथ ही साथ मानवी जीवनमें कल्याणरूप, सर्वहितकारक, इष्ट तथा मंगलमय ऐसा जो जो कुछ संभव है वह सब प्राप्त करादेनेका दायित्व भी धर्म ही लेता है! मानवी जीवनका अभ्युदय,=प्रापंचिक वैभव तथा निःश्रेयस वासना विलोपजन्य निरालंब सुख दोनोंका आधार धर्म ही है। मानव-मात्रके लिये यह अत्यंत महत्त्वका है। साध्य और साधनाकी एकतासे वह जितना प्रभाविन होता है उतना और किसीसे नहीं। पुरुषार्थमें, मोक्षके साथ कामार्थको भी समान स्थान देकर, धर्मने मानव मात्रको अपना अनुयायी बना लिया है साथही साथ धर्मका अविरोधी·काम परमात्माकी विभूति मान कर तो उन्मुक्त कामको धर्मकी राससे बांध दिया! इस प्रकार मानवके सर्वांगस्पर्शी विकासके लिये जिन जिन बातोंकी आवश्यकता है उन उन सबको परस्पर सहायताके लिये आवश्यक सीमामें सीमित कर, जीवन रत्नको धर्मके जड़ावमें सुशोभित कर दिया है। इसीलिये मानवी इतिहासमें जहांतक हमारा ज्ञान जाता है, पिछले दस हजार वर्षके इतिहासमें, विश्वके मानव·कुलके हृदय और मस्तिष्क पर धर्मने अमर्याद स्वामित्व प्रस्थापित किया है क्योंकि वह मानव कुलको प्रतिज्ञापूर्वक आश्वासन देता है " संपूर्ण जीवन, तथा उसके मूलमें जो शक्ति है उस ब्रह्मका रहस्य मैं तुम्हे खोलकर कह दूंगा। साथ ही साथ सामान्य प्रापंचिक सुखसे परम कल्याणकारी निरालंब शाश्वत सुख तक मैं ही अनुभव कर दूंगा!! "

धर्मकी इसी प्रतिज्ञा पर विश्वास करके विश्वके मानव कुलने अनंत कलाओंकी सुंदर सुरभित पंखुडियोंसे खिलनेवाला संस्कृति-कमल खिलाया। विश्वके प्रत्येक भागमें जिन जिन कलाओंका विकास हुवा " उन सबकी आधारशिला धर्म है।" कला और साहित्य धर्मका सहारा लेकर जितना फला फूला और किसीके सहारे नहीं। इसलिये " धर्मकी उपेक्षा, मानव-कुलके दस हजार वर्षकी उपलब्धीकी उपेक्षा है।" और " धर्मनिरपेक्षता मानव कुलकी इस उपलब्धिसे निरपेक्षता है।" और यह कार्य, इन दस हजार वर्षोंमें समग्र समय पर " दूसरोंके खूनसे अपनी शान बढालेनेवाली, भोग ही सर्वस्व मानने वाली-आसुरी-संस्कृतिने किया है।" भारतका इतिहास ऐसे प्रसंगोंसे भरा पड़ा है। ऐसे समय एकाकी होकर भी लोगोंसे आत्म-विश्वास पूर्वक " मैं दोनों हाथ उठाकर चीख चीख कर कहता हूँ धर्मसे अर्थ और कामभी-निम्न सुख अभ्युदयभी-जब मिलता है तब तुम धर्मसे उसे क्यों नहीं पाते हो!" कहनेवाले भगवान व्यास और महात्मा गांधी भी धर्मकी ही देन है।

धर्म केवल अभ्युदय और निःश्रेयस ही नहीं देता, उसने राम, कृष्ण, कौटिल्य, चंद्रगुप्त, जैसे राजनीतिज्ञ और व्यास, महावीर, बुद्ध, तथा गांधी जैसी ऋषि परंपरा भी दी है। ऐसे धर्मकी उपेक्षा कृतघ्नताकी पराकाष्ठा है! धर्म मानवमात्रकेहित लिये है। धर्मकी कसौटी विशिष्ट उपासना पद्धति अथवा बाह्य आडंबर नहीं। मठ, मंदिर, मसजिद, चर्च, ये सब धर्मका आधार न होकर धर्मका आधार " अपने लिये जो विरुद्ध है, दुःख दायक है, हानिकारक है, उसका आचरण दूसरोंके लिये नहीं करना यह आचासूत्र है।"

धर्म-शास्त्र अथवा शास्त्र—मनुष्यको क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए इसका विधि-निषेध कहनेवाले शास्त्रको धर्म-शास्त्र कहते हैं। धर्म-शास्त्र मानवकी आचार संहिता है। ऋग्वेदमें भी जब बार बार धर्म शब्द और कुछ धार्मिक-विधिनिषेध देखनेको मिलते हैं, तब

यह कहना पड़ता है उससे पहले भी यह विद्यमान था। भारतीय-धर्ममें अधिकारसे भी कर्तव्य पर अधिक जोर है। कर्तव्य ही मनुष्यका धर्म है। प्रत्येक मनुष्यका अपना कर्तव्य करनेका अधिकार ही अधिकार है; दूसरा कोई विशेष अधिकार नहीं। वैसे ही भारतीय धर्ममें धर्म और नीति ऐसे दो विभाग नहीं है। सत्य बोलना धर्म भी है नीति भी है। किसीसे द्वेष न करना धर्म भी है नीति भी है। यह कहनेवाले नियम शास्त्र है।

शास्त्रका अर्थ शासन करनेवाला! नियमन करनेवाला। "मनुष्योंकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका नियम कहनेवाला जो है वह शास्त्र" है। भारतीय धर्म कोई उपासना पद्धति नहीं किंतु जीवन-पद्धति है। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका नियमन करके उसको वास्तविक कल्याण की ओर मोडना और पथप्रदर्शन करना शास्त्रोंका अथवा धर्मशास्त्रोंका कार्य है। ऐसे धर्म-शास्त्रके ग्रंथ निम्न है—

सूत्र-ग्रंथ–(१) गौतम-धर्मसूत्र (२) वसिष्ठ-धर्मसूत्र (३) बौधायन धर्मसूत्र (४) आपस्तंब धर्म-सूत्र (५) हिरण्यकेशीय धर्म-सूत्र। मानव धर्म सूत्रोंका उल्लेख मिलता है। किंतु वह अब उपलब्ध नहीं है।

धर्म सूत्रोंके विषयमें कहना हो तो वे किसी बडे ऋषिने नहीं बनाये हैं। वे सर्वसामान्य लोगोंकी रचना है, स्वयं धर्मसूत्रोंमें इसका उल्लेख है। वेदादि ग्रंथ, निर्लोभ निर्दोष सज्जनोक आचरण यही इन सूत्रोंका आधार है। ये धर्मसूत्र परंपरागत धर्माचरणका निचोड है।

धर्म-सूत्रोंमें वर्णाश्रम धर्मका विचार है। साथ साथ नित्य नैमित्तिक कर्तव्योंका भी विवेचन है। क्षत्रियोंके कर्तव्य कहते समय राजा और प्रजाके परस्पर संबंध, राजाके कर्तव्य, कानून, राज्य-पद्धति, करपद्धति, राजनीति, इन सबका स्पष्ट उल्लेख है। साथ साथ राजासे जो गलतियां होती हैं उसके लिये यथा योग्य प्रायश्चित्त भी है!

विद्वानोंके मतानुसार इन सूत्रोका काल ई. पू. ८०० से ई. पू. १०० तकका है।

इसके अलावा स्मृतिग्रंथ भी धर्मशास्त्रमें आते हैं। ये हैं (१) मनुस्मृति (२) याज्ञ-वल्क्य-स्मृति (३) बृहस्पति स्मृति (४) विष्णु-स्मृति (५) वसिष्ठ-स्मृति (६) गौतम-स्मृति (७) व्यास-स्मृति (८) बौधायन-स्मृति (९) शंख और लिखित-स्मृति (१०) अत्रि-स्मृति (११) हारित-स्मृति (१२) उशना-स्मृति (१३) अंगिरा-स्मृति (१४) यम-स्मृति (१५) आपस्तंब-स्मृति (१६) संवर्त-स्मृति (१७) कात्यायन-स्मृति (१८) पराशर-स्मृति (१९) दक्ष-स्मृति (२०) शतापत-स्मृति।

इन स्मृतिग्रंथोंके कालके विषयमें विद्वानोंका मत है कि मनुस्मृतिकी रचना ई. पू० ६०० की है। सब स्मृतियां ई. पू० १०० से ८०० तक की हैं। किंतु ई. पू० ८०० के आरण्यक ग्रंथोंमें "स्मृति" शब्द मिलता हैं। अर्थात धर्म-शास्त्रके रूपमें स्मृतिग्रंथ कमसे कम २५०० वर्षोंसे भारतमें प्रचलित हैं। भारतीय धर्मशास्त्रोंके विद्वान लोगोंने करीब १०० स्मृतियोंका पता लगाया है। अर्थात् आज वे सब उपलब्ध नहीं है। फिर भी अन्यान्य ग्रंथोंमें उनका उल्लेख मिलता है। इन स्मृतियोंमें भारतीय जीवन-पद्धतिका चित्रण हुवा है। भारतीय आचारसंहिता कही गयी है।

इन स्मृति ग्रंथोंपर अनेक भाष्य भी हैं। इ. स. ८०० से इ. स. १८०० तक ये भाष्य लिखे गये हैं। इसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रोंके रूपमें हमारे पास

२५०० वर्षोंके भारतीय आचार संहिताका लेखा जोखा है । उसमें भारतीय-जीवन पद्धतीका सर्वस्पर्शी दर्शन हो सकता है । यह एक बड़ी निधि है ।

इसके साथ साथ, धर्म-शास्त्रोंके भिन्न भिन्न विषयोंपर लिखे गये असंख्य प्रबंध हैं । जैसे "दत्तक" इस विषय पर ४० प्रबंध हैं । "गोत्र" इस विषय पर ३५ प्रबंध हैं । "दान" पर भी ४० है । ऊपर लिखे धर्म-सूत्र और स्मृतिग्रंथोंपर भाष्यके अलावा काश्मीरसे कन्याकुमारी तकके सैकडो विद्वानोंने, उसके अलग अलग विषयोंको ले कर प्रबंधात्मक अनेक ग्रंथ लिखे हैं । कमलाकर भट्टने ई. स. १६१२ में लिखे हुए अपेन निर्णय-सिंधु ग्रंथमें १०० स्मृति तथा ३०० प्रबंध और प्रबंध लेखकोंका उल्लेख किया है और इसके बाद भी अनेक प्रबंध लिखे गये हैं । ये सब भारतीय आचार-संहिताकी संपदा है जो हमें अब नव-निर्माणमें भी सहायता और प्रेरणा दे सकती है ।

धारणा——अष्टांगयोगका छठा अंग । पातंजल योगमें किसी विशिष्ट स्थान पर मनको स्थिर करनेकी क्रियाको धारणा कहा है । धारणामें चित्तको किसी विशिष्ट स्थान पर जकड कर रखना होता है । यह स्थान अपने अंतःसृष्टिका कोई स्थान हो सकता है, वैसे ही बाह्य सृष्टिका भी हो सकता है । योगीलोग अपने शरीरके भिन्न भिन्न चक्र–स्थानोंपर मनको स्थिर करनेका अभ्यास करते हैं । वैसे ही बाह्य सृष्टिकी किसी मूर्ति पर, इष्ट देवताकी मूर्ति पर, मन एकाग्र करते हैं । तंत्र मार्गमें पंचमहाभूतोंकी पांच देवताओं पर मन एकाग्र करनेका विधान कहा गया है तो भागवत पुराणमें अंतर्यामीपर केंद्रित करनेका विधान है । धारणा सिद्ध होनेके लिए हठ योगमें अनेक प्रकारकी मुद्राओंका विधान कहा गया है । धारणामें चित्तको इंद्रिय–अन्य भोगों परसे हठाकर किसी उदात्त स्थान पर स्थिर करना होता है । धारणासे ध्यान आसानीसे लगता है ।

धृति——निर्णायक शक्ति । धर्म, धृति, धारणा, धैर्य, धी आदि एक ही जातीके शब्द हैं जैसे नाम, नम्रता, नमस्कार हैं । जिससे किसी बातका निर्णय किया जाता है, निर्णयके बाद उस निर्णयको आचरणमें लाते समय उससे चिपका रहा जाता है, उसको धृति कहा जाता है । निर्णायक शक्ति, धारणाशक्ति, दृढतासे पकडे रहनेकी शक्ति, निर्णयको कार्यगत करते समय कार्यमें चालना देनेवाली बुद्धिका नियमन करनेवाली शक्ति, यह सब धृति शब्दके अंतर्गत आता है ।

ध्यान——अष्टांगयोगका सातवां अंग । ध्यानकी अंतिम स्थितिही समाधि है । ध्यानका अर्थ कहते समय पांतजल योग सूत्रमें "जहां धारणा करते हैं उस स्थानका-देवताका-अनुभव करना ही ध्यान" कहा है । साथ साथ सर्वदर्शन संग्रहमें "अन्य विषयोंकी चाह छोड कर ध्येय-वस्तुमें लीन होना ही ध्यान कहा है । केवल ध्येयबिंदुपर ही सदैव बुद्धिप्रवाह चलता रहे यह ध्यान है !" "सतत ब्रह्म चिंतन ही ध्यान है !" "राग विकारका विनाश ही ध्यान है !" भिन्न भिन्न दार्शनिकोंने ध्यानकी ऐसी व्याख्यायें की हैं जो परस्पर पूरक हैं ।

शरीरके जिस जिस स्थान पर धारणा करनी होती है उस स्थानकी देवता होती है । उस देवताके अनुभवमें लीन होना ध्यान है । धारणासे स्थिर बने हुए चित्तपर विशिष्ट हेतुका प्रवाह-सातत्य टिकाये रखनेकी क्रिया ध्यान हैं । मन जब ध्येयावेगमें लीन हो जाता है अन्य किसी विषयका स्पर्श नहीं होता, तब वह ध्यानस्थ बनता है ।

ध्यानमें दो प्रकारका ध्यान होता है । सगुण ध्यान तथा निर्गुण ध्यान । जैसे शरीरके षट्चक्रोंपर धारणा करते हैं वैसे षट्चक्रोंके देवताओंपर ध्यान किया जाता है । शरीरमें जो

मणिपूरक चक्र है इसमें शंख चक्र गदा पद्मधारी नीलवर्ण प्रसन्न वदन विष्णुका ध्यान किया जाता है। हृदयकमलमें निर्वात दीपककी भांति जो ज्योति है उसमें अग्निका ध्यान किया जाता है। वैसे ही हृदयमें सूर्यका भी ध्यान किया जाता है। भ्रूमध्यमें आत्मदेवका ध्यान किया जाता है। अथवा मूर्तिमय स्थूल ध्यान, तेजोमय ज्योतिर्ध्यान तथा बिंदुमय सूक्ष्म ध्यान किया जाता है। ऊपरके सब प्रकार सगुणध्यानके हैं तो ज्योतिर्मय, शुद्ध कूटस्थ आनंदस्वरूप पर ब्रह्मका तादात्म्य भावसे ध्यान करना निर्गुणध्यान कहलाता है। ध्यानके ऐसे अनेक प्रकार हैं। किंतु इन सबमें महत्व है तादात्म्य होनेका। किसका ध्यान किया जाता है इससे अधिक जिसका जैसे भी ध्यान किया जाता है उसमें कितनी लीनता आती है, कितना तादात्म्य होता है, यह महत्त्वका है। ध्यानका अर्थ हृदयस्थकी मानस पूजा है जो तादात्म्य भावसे करनी होती है। ध्यान करते समय एक सूक्ष्म वस्तु लेकर उसकी मर्यादा विश्वव्यापी कर उससे तादात्म्य होना होता है। ध्यानसे सभी वासनाएँ शांत होनी हैं। इंद्रियां निरपेक्ष होती हैं। साम्य वृत्तिका विकास होता है। राग द्वेषादि द्वंद्वोंके साथ अहंकार भी नष्ट होता है।

नवद्वार देह, नवद्वार-पुर, नवद्वार नगर—आंखोंके दो द्वार, कानके दो द्वार, नाकके दो द्वार, मुख, गुदा, लिंगद्वार, इन नौ द्वारोंसे युक्त शरीरको नवद्वार देह, आदि कहा गया है। इसके अलावा एक दसवा द्वार है जो गुप्त है। कहा जाता है उसको योग-सामर्थ्यसे खोला जाता है। वह दसवां द्वार ब्रह्मरंध्र कहा जाता है। योगी अपने शरीर छोडते समय योग-शक्तिसे इस दसवें द्वारको खोल कर चैतन्यको उस रास्तेसे मुक्त करते हैं। इस मान्यताके कारण आज भी कहीं कहीं मठोंमें, मठपतियोंकी मृत्युके बाद उनको दफनानेसे पूर्व, शंखसे तालूमें प्रहार किया जाता है! यह परंपरासी हो गई है। कहा जाता है कि योगी योग-सामर्थ्यसे इस ब्रह्मरंध्रसे ब्रह्मांडके किसी ज्ञानको-विषयको स्वयं अनुभव कर सकता है।

नवरस—साहित्यशास्त्रमें शृंगार, वीर, करुणा, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र, तथा शांत ऐसे नौ रसोंको माना गया है। इसके स्थाई भाव हैं रती, उत्साह, शोक, विस्मय, आनंद, भय, जुगप्सा, क्रोध और शम। इसके अलावा तुलसीदासजीने अकथित रस नामका एक नया रस भी माना है।

नाथ-संप्रदाय—योगाभ्यासी शैव संप्रदाय। इसका आदि गुरु-शिव-आदिनाथ। इस लिये यह नाथ संप्रदाय कहलाता है। शिवत्व अथवा नाथत्व प्राप्ति इसकी अंतिम सिद्धि है। योग इसका साधन। आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ ज्ञानदेव-यह इनकी परंपरा है। कदलीबनके तांत्रिक योगिनियोंके जालमें फंसे मत्स्येंद्रनाथको सच्छिष्य गोरखनाथसे मुक्त करालाना इस संप्रदायके विकासका प्रारंभ है। इस समय अपने गुरुबोधसे च्युत गुरुको, उसकी भूल-पतनका रूप-बता कर "गुरुका उद्धार" करनेमें गोरखनाथने-अपनी परमोच्च आध्यात्मिक शक्ति वैभवका परिचय दिया है। इनका वर्णन करते समय ज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं "योगाब्जिजनी सरोवर। विषय विध्वंस एकैक वीर" ज्ञानदेवके इस वर्णनमें नाथ संप्रदायकी साधना और सिद्धीका पूर्ण बोध होता है। ज्ञानेश्वर महाराजका "अनुभवामृत" इस संप्रदायका सर्वोच्च सिद्धांत ग्रंथ है। वैसे तो गोरक्षनाथका संस्कृतग्रंथ "सिद्धसिद्धांतपद्धति" को इस संप्रदायका सिद्धांत ग्रंथ कहा जाता है। निरुपाधिक "शिवशक्ति" इस संप्रदायका अंतिम तत्त्व है। नाथपंथकी शक्ति शिवसे अभिन्न है। कर्पूर और उसकी सुगंधसी, गुड और उसकी मिठाससी,

सोना और उसके सुवर्ण-सी !! इसी शिवशक्तिका स्फुरण ही विश्व है। जैसे दो आँखें एक ही दृश्य देखती हैं, दो कान एक ही ध्वनि सुनते हैं, दो होंठ एकही शब्द बोलते हैं, दो पैर एकही गंतव्यकी ओर चलते हैं वैसे शिव-शक्ति ऐसे दो नामोंसे पहचाने जानेवाली तत्त्वकी क्रिया है! यह विश्वचक्र शिव-शक्तिकी आत्मरति है। इसका अनुभव ही अमृतानुभव अथवा जीवन मुक्तावस्था है। इस अनुभवको अनुभवनेका साधन योग है। यह हठयोग है। राजयोग है। पूर्णयोग है। इस संप्रदायमें अपने तत्त्वज्ञानके साथ आचारधर्मका भी विचार किया है। इस संप्रदायका अपना ही नीतिशास्त्र है। यह गुरुमार्गी संप्रदाय है। गुरुवचन ही इसका शास्त्र है। गुरुको "सन्मार्ग दिखानेमें कुशल" माना गया है। इनका गुरु "न होनेकासा रहता है!" "वह पानीमें घुलेगये नमकका-सा" रहता हैं। वह "ज्ञानाज्ञानसे परे" रहता है! इस संप्रदायके विषयमें अनेक लोगोंने खोजपूर्ण अनेक ग्रंथ लिखे हैं किंतु ज्ञानेश्वरका "अनुभवामृत" अद्भुततम ग्रंथ है जिस पर अबतक ४५ लोगोंने टीका लिखी हैं! यह महान् ग्रंथ प्राचीन मराठीमें है।

नास्तिक——जो, परलोक, उसका साधन, अदृष्ट, उसका साक्षीभूत ईश्वर, इन बातोंको नहीं मानता वह नास्तिक कहलाता है। पाणिनीने कहा है "जो परलोक नहीं मानता वह नास्तिक है।" मनूने "नास्तिक है वेद निंदक" ऐसा नास्तिक शब्दका अर्थ किया है। अर्थात् "जो वेदको नहीं मानता वह नास्तिक" कहनेसे "जैन बौद्ध, लोकायतमतके लोग नास्तिक" बनते हैं। "परलोक और मृत्युके बादकी व्यवस्था न माननेवाले नास्तिक" कहनेसे "चार्वाकानुयायी" नास्तिक कहलाते हैं। "ईश्वर न माननेवाले नास्तिक" कहनेसे "भौतिकवादी, संदेहवादी, प्रत्यक्षवादी आदि सब नास्तिक कहे जा सकते हैं। किंतु भारतीय दर्शनकी दृष्टिसे "वेदनिंदक ही" नास्तिक हैं। अनीश्वरवादी, सांख्य नास्तिक नहीं कहाते। वेदमें देवताओंको न माननेवालोंका उल्लेख है। देवता और ईश्वर एक होनेकी कल्पना उपनिषदमें देखनेको मिलती है। सांख्य तथा कर्मकांडी पूर्व मीमांसकोंको ईश्वरकी आवश्यकता नहीं लगती। भारतके कई दार्शनिकोंने अनेक उदाहरणोंसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विश्व स्वाधिष्ठित है तथा वह अपनेमें पूर्ण है इस लिए ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं है। वेदका प्रमाण न माननेवाले चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि दार्शनिकोंको ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं है। चार्वाक कहता है। "ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता इसलिये उसका अस्तित्व नहीं है।" जैन कहते हैं "यह विश्व सृष्ट न होनेसे किसी सृष्टिकर्ताकी आवश्यकता नही" और बुद्ध कहते हैं "ईश्वर विषयक सभी प्रकारकी जिज्ञासायें व्यर्थ है!" उपनिषदोंके एक महान ऋषि "वेद प्रमाण न मानना एक महान पातक मानते है। गौतम उनको पतितोंमें गिनते हैं। इन सभी बातोंको ध्यानमें रख कर यही ठीक लगता है कि मनूका "वेद निंदक नास्तिक" सिद्धांत सही है!

नित्य-नैमित्तिक कर्म——वेदके विद्वानोंने उसके दो कांड कहे हैं। (१) कर्मकांड (२) ज्ञानकांड। कर्मकांडके दो प्रकारके कर्म हैं। (१) नित्यकर्म और (२) नैमित्तिककर्म। नित्यकर्म करना ही है। वह कर्म करनेसे कोई पुण्य नहीं है किंतु न करनेसे पाप अवश्य है। नित्यकर्म करनेसे अधिकसे अधिक चित्तशुद्धि होती है। जैसे ब्राह्मणके लिये, संध्या, गायत्रीजप, ब्रह्मयज्ञ, आदि नित्यकर्म हैं। दिनके आठ प्रहरोंमें प्रत्येक प्रहरको कोई न कोई नित्य कर्म है। जैसे प्रातः स्मरण, शौचादि विधि, स्वाध्याय, पंचमहायज्ञ, भोजन, अध्ययन, लोक-सेवाकार्य ऐसे ये सब ब्राह्मणके नित्य कर्म हैं। यदि ये नित्य कर्म कोई नहीं करता है तो वह पाप-भागी बनता है।

इनको छोड़ कर कुछ नैमित्तिक कर्म भी होते हैं। ये काम्य और निष्काम ऐसे दो प्रकारके होते हैं। समय समय पर यज्ञादि करना। किसी उद्देश्यसे यज्ञ, व्रत, शांति आदि करना काम्य नैमित्तिक कर्म है और श्राद्ध, ग्रहणमें स्नानादि निष्काम नैमित्तिक कर्म है। मनुष्यको अपने अपने अधिकारानुसार नैमित्तिक कर्म भी करना चाहिए। किंतु ये नहीं करनेसे पाप नहीं है।

निद्रा—इस शब्दका अर्थ कहते समय पुराने ग्रंथोंमें मेध्या नामकी नाडी तथा मनका संबंध आनेसे निद्रावस्था आती है ऐसा लिखा है। उपनिषदोंमें स्थान स्थान पर जो निद्राकी व्याख्या की है वह आधुनिक शरीर शास्त्रके श्रमवादसे सम्मत ही है। "जैसे गीध पंख खोल कर आकाशमें उडते उडते थक जाता है तब विश्रांतिके लिये अपने घोसलेमें आता है वैसे थका हुवा जीव नींदका आश्रय करता है।" "सभी इंद्रियां मनमें जब लय होती हैं तब नींद आती है!" "मन प्रकाश सागरमें डूब जानेसे नींद आती है।" "जब मनुष्यको गहरी नींद आती है तब स्वप्न नहीं पडते तब आत्मा अपनी नाडीमें लीन होता है!"

प्राचीन ऋषियोंकी मान्यताके अनुसार मनुष्यके शरीरमें पुरीतत नाडीकी ओर बहनेवाली ७२००० रक्तनलिकाएँ हैं। जीव जब इन रक्तनलिकाओंसे पुरीतत नाडीमें आता है तब मनुष्यको नींद आती है। जीव जब इस नाडीमें प्रवेश करता है तथा इस नाडीसे बाहर आने लगता है वह स्वप्नावस्था है। तथा जब जीव हृदय और पुरीतत नाडीमें भ्रमण करता रहता है वह जागृतावस्था है। छांदोग्य उपनिषदमें ऐसा भी कहा गया है कि "मन जब श्वासोच्छ्वासमें लीन होता है तब नींद आती है। इंद्रियोंको निद्रासे विश्रांति मिलती है क्यों कि निद्रामें इंद्रियोंको विषयोंका भान नहीं रहता। निद्राको मृत्यूका छोटा भाई माना गया है। निद्रा लघु मृत्यु है और मृत्यु दीर्घ-निद्रा!

नियम—यह अष्टांग–योगका दूसरा अंग है। (१) शौच (२) संतोष (३) तप (४) स्वाध्याय (५) ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं।

(१) शरीर और मन स्वच्छ रखना शौच है। शरीर अथवा मन यदि अस्वच्छ होगा तो चित्तवृत्तियोंका निरोध नहीं होगा। मन एकाग्र नहीं होगा। इसलिये साधकको स्नान आदिसे शरीर स्वच्छ रखना चाहिए। सभी मलद्वार स्वच्छ रखने चाहिए। सभी इंद्रिय स्वच्छ रखने चाहिए। मलिन स्थान मलिन व्यक्ति आदिका संपर्क छोडना चाहिए। यह सब देश काल परिस्थितिका विचार करके करना चाहिए। शरीर शुद्धीका ही एक रोग न हो जावे। नहीं तो उपाय अपाय होगा। वैसे ही चित्तको रजतमसे दूर रखनेका प्रयास करना चाहिए। रज तम मूलक वृत्तियां मनको उद्विग्न करती हैं। मनमें काम क्रोध लोभ आदि विकारोंको पैदा करती हैं। सत्संग, सद्ग्रंथवाचन, तथा विवेकसे मनको शुद्ध रखना भी शौच है।

(२) जिस समय जो मिलता है उसीसे जो हित हो सकता है वह कुशलता पूर्वक साध कर मनको प्रसन्न रखना संतोष है। अतृप्तिसे संताप और संतापसे उद्विग्नताकी परंपरा प्रारंभ होती हैं। रजके कारण उत्पन्न होनेवाली काम क्रोधादि उद्विग्नताएं, अथवा तमके कारण उठनेवाली आलस्य प्रमादादि वृत्तियोंसे मन मलिन होता है। इसलिए हित मित आहार विहार, सत्संगति, सद्ग्रंथोंका अध्ययन आदिसे मनको प्रसन्न रखना चाहिए। मनकी यह प्रसन्नता ही संतोष है। संतोषसे चित्त आसानीसे एकाग्र होता हैं।

(३-४) तप और स्वाध्याय, समाधिके अभ्यासके लिये आवश्यक अभ्यासमें अवरोध करनेवाले क्लेशादि विकार तप स्वाध्यायसे दूर होते हैं। इन अवरोधोंसे जो चित्त पुनः पुनः बहिर्मुख होता है उसको अंतर्मुख करनेमें सहायता मिलती है। चित्तके पुनः पुनः बहिर्मुख होनेसे इंद्रियां विषयोंकी ओर खिंचती हैं और चित्त चंचल होता हैं। इससे अविद्या, क्लेश आदि बढ़ते हैं। अर्थात् चित्तको सदैव प्रसन्न रखनेके लिये, चित्तकी बहिर्मुख होनेकी प्रवृत्ति रोकनेके लिये, तप तथा स्वाध्यायकी आवश्यकता है। इसमें तपसे मनका मालिन्य नष्ट होता है और स्वाध्याय (सद्ग्रंथोंका पठन और जपादि नामस्मरण) से सत्व गुणकी वृद्धि होती है। और

(५) इनसे भी जो शुभाशुभ संस्कार बचे रहते हैं उनको ईश्वरार्पण करनेसे अविद्यामूलक अहंता ममतादि भाव नष्ट होकर चित्तैग्रताकी स्थिति सहज होती है।

निर्गुण-सगुण उपासना——इस सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके पहले एक ही एक आत्मतत्व विद्यमान था। उसको आगे अनेक होनेकी इच्छा हुई। परिणाम स्वरूप यह विविध-रूप सृष्टि हुई। यह वेदांतका प्रसिद्ध और प्रमुख सिद्धांत है। इस सृष्टिके पहले जो एक ही एक आत्म-तत्व था वह अव्यक्त था। निर्गुण था। वह एक ही एक आत्मतत्व अनादि, अनंत, सीमातीत और स्वर्वव्यापी है। वह निरंतर है। अखंड है। स्वतंत्र और सर्वज्ञ है। वही सृष्टिकी उत्पत्ति स्थिति और लयका कारण है। यह सारी सृष्टि उसीमेंसे निर्माण हो कर उसीमें लय होती है। जिससे यह सारी सृष्टि उत्पन्न होकर उसीमें लय होती है उसे ब्रह्म कहा गया है।

उस निर्गुण ब्रह्मसे यह सगुण सृष्टि उत्पन्न हुई है।

उपासनाका अर्थ पास जा बैठना। चिंतन, मनन, स्मरण, ध्यान आदिके द्वारा परमात्माके पास जाना, वहीं स्थिर रहना आदिके लिये कोई साधन लगता है। किसी रूपकी आवश्यकता होती है। कोई आधार चाहिए। बिना इसके चिंतन मननादिकी क्रिया ठीक नहीं होती। यह जानकर इस विद्याके आचार्योंने अव्यक्तकी उपासनाके लिये व्यक्त अथवा सगुणकी कल्पना की। परमात्मामें कल्पित ये सब गुण उपासककी योग्यतानुसार कम अधिक प्रमाणमें सात्विक होते हैं। उपनिषदमें भी ऐसे कई सगुण वर्णन किये हैं। "वह परमात्मा उत्तम पुरुष है।" "वह सभी भूतोंका अधिपति है!" "वह विश्वकी आखें विश्वका मुख, विश्वके बाहू और विश्वके पैर है।" ये सारे विविध रूप उपासनाके लिये विविध प्रतीक हैं। वस्तुतः वे गौण हैं। परब्रह्म सगुण नहीं है। वह दर्शन श्रवण स्पर्शादिकी सीमामें आनेवाला नहीं है। वह सच्चिदानंद स्वरूप है। किंतु वह नेति नेति परब्रह्म उपासनाके लिये इति इति हुवा। उपासनाके लिये प्रथम सगुण, फिर सगुण-निर्गुण उसके बाद संपूर्ण निर्गुण ऐसी व्यवस्था है। यह गुणोंसे निर्गुणों की ओर जानेकी प्रक्रिया है। इस विश्वके अलग अलग वस्तुओंके भिन्न भिन्न रूप ही उनका दिया हुवा भिन्न भिन्न नाम है। यह सारा विश्व नामरूपात्मक है। ये सब हर क्षण बदलते रहते हैं किंतु इन सबके मूलमें कभी न बदलनेवाला तत्त्व रहता है। वही तत्त्व सत्य है। इस सत्यके अथवा परमात्माके दो रूप हैं। एक इंद्रियोंसे मनसे आकलन है। इसको व्यक्त अथवा सगुण कहते हैं। दूसरा इंद्रियां ही नहीं मन और बुद्धि भी आकलन नहीं कर सकती। उसे अव्यक्त अथवा निर्गुण कहते हैं।

उपासनाके लिये जो चिंतन, मनन, ध्यान आदि करना पड़ता है जिसकी भक्ति करनी पड़ती है वह अनाकलनीय होके कैसे चलेगा? इसलिये "वह बिना आंखसे सब कुछ देखनेवाला,

बिना कानके सब कुछ सुननेवाला, बिना पैरके सबके आगे दौडनेवाला, खडे खडे दौडनेवालोंसे भी आगे पहुंचने वाला ब्रह्म विश्वतश्चक्षु, विश्वतोमुख, विश्वतो बाहु और विश्वतो पाद् हुवा!" "यह नहीं यह नहीं" (नेति नेति) वाला परब्रह्म "यही यही" सर्वव्यापी हो गया। ऋणात्मक परब्रह्म धनात्मक ईश्वर बनकर ध्यान धारणा चिंतन मननका साधन बना। इसलिये सगुण निर्गुण दो भेद चल पडे। उपासनाके भी सगुणोपासना और निर्गुणोपासना ऐसे भेद हुए। उपासकके स्वभावानुसार अथवा सामर्थ्यानुसार उसके अनेक रूप बने। सगुण प्रारंभ है और निर्गुण अंतिम स्थान। इसलिये सबने सगुणका पुरस्कार किया। चलने लगे तो मंजिल पर पहुंच ही जायेंगे। जितना जलद् चालसे चले उतना जलदी। सगुण उपासना, जहांसे चलना है वह ध्यान है और निर्गुण जहां पहुंचना है वह स्थान। चलना छोड कर पहुंचना असंभव। इसलिये चिंतन, मनन, ध्यान भक्ति आदिका पहला कदम सगुणोपासना है जो सभी आचार्य और संतोंद्वारा इतना ही नहीं उपनिषदोंके ऋषियों द्वारा भी पुरस्कृत है।

निवृत्ति—जीवनके दो अंग हैं। अभ्युदय-निःश्रेयस, प्रेय-श्रेय, प्रवृत्ति-निवृत्ति। अभ्युदय, प्रेय तथा प्रवृत्ति वासना पूर्तिजन्य सुख प्राप्तिकी साधना है। प्रापंचिक वैभवकी साधना है। और निवृत्ति श्रेय तथा निःश्रेयस वासना-विलोपजन्य सुखकी साधना। वासनाका अस्तित्व ही दुःख है और वासनाका अभाव ही सुख। दुःखके कारणीभूत वासनाका लय करना शाश्वत तथा निरालंब सुखका मूल होनेसे वासना विलयके लिये निवृत्तिमार्ग कहा गया है। निवृत्तिमार्गमें सबसे प्रथम मनसे बाह्य इंद्रियोंके व्यापार संयमित किये जाते हैं। इंद्रियोंको निरपेक्ष किया जाता है। फिर मनको संपूर्ण रूपसे बुद्धिमें लीन करके मनोलय किया जाता है। उसके बाद बुद्धिको पूर्णरूपसे आत्मलीन किया जाता है। बुद्धिके आत्मलीन होनेके बाद आत्माकी सर्व-व्यापकताका पूर्णत्वका अनुभव होने लगता है। अपूर्णताके अनुभवसे वासनाका जो उदय होता है वह पूर्णत्वके अनुभवसे नष्ट होता है। यह वासना विलयजन्य सुख ही शाश्वत सुख है। निरालंब सुख है। अपनेमें आपनेसे आप अनुभव किया जानेवाला सुख है। इस लिये निवृत्ति जन्य सुख सर्वश्रेष्ठ सुख माना गया है। यही जीवकी जीवन्मुक्तावस्था है।

निष्काम कर्म—वासना रहित कर्म। जिस कर्ममें कर्म फलकी कोई आशा नहीं वैसा कर्म। मानवी मन अनेक वासनाओंसे भरा रहता है। वासनाओंका खेल अतर्क्य होता है। बिना वासनाके कोई फल भोग नही होता। वैसे ही कोई भी कर्म-फल आकस्मिक नहीं होता। पूर्व जन्मकी फलवासनाओंसे पुनर्जन्म मिलता है। जैसे मनुष्य होकर भी बार बार पशुयोनिके अनुसार कर्म करनेसे उन्ही वासनाओंके परिणामस्वरूप मनुष्य पशु-योनिमें जाता है। इसीलिये वासना रहित कर्मका महत्व कहा गया है। गीतामें निष्काम कर्मका बडा महत्त्व गाया गया है। वासनाएं अनादि कालसे जन्मजन्मांतरसे-चली आती हैं। योग वासना विलोपकी साधना है। कर्म करते समय फलाशासे कर्म करना तथा कृष्णार्पण भावसे कर्म करना वासना विलोपकी साधना है। वासना विलोपसे-वासनाके अभावमें-शाश्वत सुखका अनुभव होता है तथा ऐसे किया हुवा कर्म पुनः वासनाको जन्म नहीं देता जैसे जला हुवा बीज नहीं फलता।

पंचकोश—मनुष्य, पंचतत्व, पंचकोश, पंचप्राण, पांच शक्तियां, पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेंद्रियां आदिसे बना है। उनमेंसे पांच कोश हैं (१) अन्नमयकोश (२) प्राणमयकोश (३)

मनोमयकोश (४) विज्ञानमयकोश (५) तथा आनंदमयकोश । कोशका अर्थ आवरण है । थैला है । जीव इस थैलेसे लिपटा गया है । इसका वर्णन करते समय कहा गया है कि माता पिताके द्वारा खाये गये अन्नसे जो रज वीर्य बनता है उससे मानवी देह बनता है और वह अन्न पर ही जीता है इसलिये वह अन्नमय कोश है । यह आत्मासे भिन्न है क्यों देहकी उत्पत्ति होनेके पूर्व और मत्यूके बाद उसका अभाव होता है । संपूर्ण देहको बल देनेवाला, इंद्रियोंको प्रेरणादेनेवाला जो व्यान-नामका प्राण है वही प्राणमयकोश है । देहको मैं कहनेवाला अहंता ममतादिसे भ्रांत होनेवाला वह मनोमयकोश है । चैतन्याभाससे युक्त जो बुद्धि है जो सुप्तावस्थामें लय होकर जागृतावस्था शरीरमें व्याप्त रहती है वह विज्ञानमयकोश कहलाती है । सुखका अनुभव लेते समय अंतःकरणकी वृत्ति अंतर्मुख होती है । इस लिये अंतःकरणमें आत्मस्वरूपका प्रतिबिंब उठता है । वही वृत्ति पुण्यकर्मका फलभोग शांत होनेसे निद्रामें लीन होती है । इस अंतर्मुख वृत्तिका आनंदमय कोश बनता है । ये सभी कोश चैतन्य पर आवरण मात्र है । ये ही चैतन्य नहीं है । मृत्यूके बाद जीव इन सभी कोशोंको पार करता है । जीव अन्नमय कोशको त्याग कर प्राणमय कोशमें, प्राणमयकोशको त्याग कर मनोमय कोशसे प्रज्ञालोकमें विचरण करता है । फिर वह मनोमय कोशको भी छोड़कर अपने जीवलोकमें जाकर पुनः जन्म लेनके लिये आवश्यक वातावरण तथा शरीरादिको एकत्र करने लगता है । इसीसे पुनर्जन्मके लिये आवश्यक परिस्थिति निर्माण होती है ।

अन्नमयकोश——पंचकोशमेंसे एक कोश । शरीर पंचभूतोंसे बना है । पंचभूतोंसे बने शरीरके प्रत्येक अंश शरीरपातके बाद अपने मूलरूपको पाता है । इस स्थूल शरीरको अन्नमय कोश कहा गया है । क्यों कि अन्नसे इसका पोषण होता है । जागृतावस्थामें जीव इस कोशमें रहता है । यह स्थूल शरीर चार प्रकारके होते हैं । बीज और मिट्टीसे पैदा होनेवाले-वृक्ष लतादि-उद्‌बीज कहलाते हैं । पसीने गर्मी ठंडीसे निकले हुए जीव मसक जूं, आदि वैसे ही अंडोंसे निकलनेवाले परिंद, साप आदि अंडज कहलाते हैं । और जारज जैसे मनुष्य पशु आदि । ये चारों प्रकारके स्थूलशरीर अन्न पर आश्रित हैं इसलिये इसे अन्नमय कोश कहा गया है ।

प्राणमयकोश——पांच कर्मेंद्रियोंके साथ पांच प्राणोंके संयोगसे जो एक वलयसा बन जाता है वह प्राणमयकोश कहलाता है । यह कोश चैतन्यपर आवरण डालता है । इस प्राणमयकोशमें क्रियाशक्तिका प्राधान्य है । यह क्रियाशक्ति कार्यके रूपमें हमारे सम्मुख उपस्थित होती है । हमारी सारी क्रियायें अथवा कर्म इसी क्रिया शक्तिका परिणाम है ।

मनोमयकोश——जैसे कर्मेंद्रिय और पंचप्राणोंको मिला कर प्राणमयकोश निर्माण होता है वैसे पांच ज्ञानेंद्रिय और मनको मिला कर मनोमयकोश निर्माण होता है । यह कोश प्राणमय कोशसे अधिक सूक्ष्म होता है । अधिक चैतन्यशाली होता है । मनुष्यके सारे संकल्प विकल्प इसी कोश पर आधारित होते हैं । आकाशादि भूतोंमेंसे प्रत्येकमें तीन गुण होते हैं । उनमें जो सात्विक अंश होता है उस सात्विक अंशसे ज्ञानेंद्रिय बनती है । जैसे आकाशके सात्विक अंशसे कान बनते हैं । शब्द उसका विषय है । वायूके सात्विक अंशसे त्वक् बनती है जिसका विषय स्पर्श ह । तेजसके सात्विक अंशसे चक्षु है रूप इनका विषय है । आपके सात्विक अंशसे रसना बनती है । रस इसका विषय है । और पृथ्वीके सात्विक अंशसे घ्राणेंद्रिय बनती है जिसका विषय गंध है । इन सबका मनसे संयोग होकर जो वलय बनता है वह मनोमय कोश है

विज्ञानमयकोश——आकाशादि पंचमहाभूतोंकी सामूहिक सात्विक अंशोंसे निश्चयात्मिक अंतःकरणकी बुद्धि शक्ति, संकल्प विकल्पात्मक मनःशक्ति, अनुसंधानात्मक अंतःकरणकी चित्तशक्ति, अभिमानात्मक अंतःकरणकी अहंशक्ति तथा पांच ज्ञानेंद्रियोंसे सम्मिलित तत्वसे विज्ञानमय कोश बनता है जो चैतन्यपर आवरण डालता है। विज्ञानमय कोशसे घिरा हुवा चैतन्य "जीव" कहलाता है। यही लोक परलोक भोगता है। चैतन्यके प्रतिबिंबसे विज्ञानमय कोशमें जो क्रियायें होतीं हैं इसीसे जीव कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदिका अनुभव करता है। यही संसारमें रहकर भोगता और जन्म मरणका अनुभव करता है। यही जीवकी बद्धावस्था है। नहीं तो चैतन्य सदैव मुक्त है। निःष्कल और निष्क्रिय है।

आनंदमयकोश——ईश्वरने अपनी लीलाके लिये-खेलके लिये-बिना किसी प्रयोजनके सृष्टि-रचना की है। इस समस्त विश्वका "कारण शरीर" ईश्वर है। इस कारण अवस्थामें माया और ब्रह्मके अलावा दूसरा कोई प्रपंच नहीं रहता इसीलिये यह आनंदमय अवस्था है। आनंदमय अवस्थाका यह "कारण शरीर" व्यक्ति देहमें चैतन्यको घेरा रहता है इसको आनंदमय कोश कहते हैं। जब सारा प्रपंच लय होता है तब चैतन्य इसी कोशमें शांत रहता है। इसीलिये इसको सुषुप्ति भी कहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्थामें केवल आनंद रहता है। मन, इंद्रियां, इंद्रियोंके विषय आदि नहीं होते। इस समय, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरका लय होता है और केवल चैतन्य आनंदमय अवस्थामें रहता है।

पंचतत्त्व-या पंचमहाभूत——पृथ्वी, आप, तेज, वायू और आकाश इनको पंचतत्व अथवा पंचमहाभूत कहते हैं। इसीसे सारी भौतिक सृष्टि बनी है। प्रत्येक भौतिक पदार्थमें इन पंच तत्वोंमेंसे प्रत्येक तत्वका अंश रहता है। चार्वाकदर्शन चार तत्व मानता है। वह आकाश तत्वको नहीं मानता। क्यों कि वह इंद्रियगम्य नहीं है। सांख्यमतसे अहंकारके तामसिक अंशसे शब्द तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गंधतन्मात्राएं बनी। अहंकारका तामस इन सबमें अलग अलग समान रूपसे विद्यमान है किंतु ये आपसमें मिले हुए नहीं है। इसीलिये इनसे होनेवाली सृष्टि भी अलग अलग है। शब्द तन्मात्रासे आकाशकी सृष्टि हुई। स्पर्शसे वायू, रूपसे तेजस् रससे जल तथा गंधसे पृथ्वीकी सृष्टि हुई है। ये भूतसृष्टि-रचनाके स्थूलतम पदार्थ हैं। अर्थात् शब्दादि सूक्ष्म तत्व या भूत हैं जिससे पृथिव्यादि स्थूल तत्वोंकी सृष्टि हुई है। न्याय और वैशेषिक मतके अनुसार आकाश नित्य और व्यापक है।

पृथ्वी——पंच महाभूतोंमें अथवा पंचतत्वोंमें पहला तत्व। शब्दार्थकी दृष्टिसे "जिसका विस्तार होता जाता है" ऐसा इसका अर्थ है। इसका वर्णन करते समय कहा गया हैं "गंध इसका गुण है। इसमें छ प्रकारका रस हैं। यह नित्य और अनित्य दो प्रकारकी हैं। इसका "अणुरूप नित्य" है। अन्य रूप अनित्य। शरीर, इंद्रिय तथा उसके विषय ये पृथ्वीके तीन रूप हैं। चार प्रकारके प्राणि इसके शरीर हैं। प्राण इसके इंद्रिय रूप हैं। अणुसे ब्रह्मांड तक सब इसके विषयोंका रूप हैं। ब्राह्मण ग्रंथोंमें पृथ्वी को "सर्व-भूतोंमें प्रथम जन्म पानेवाली" ऐसा कहा गया हैं। कहा गया हैं कि पहले इसे "वायु उडा ले जाता था!" "प्रजापतिने तपसे इसके फेन, सूखी मिट्टी, पत्थर, बालू, मोटी बालू-कंकड-शिलाखंड मोठे पत्थर लोहा सोना और औषधी ऐसे नौ प्रकार बनाये।

ऋग्वेदमें पृथ्वीकी प्रार्थना करनेवाले कई सूक्त हैं। उनमें "पृथ्वी तू हमसे प्रसन्न हो। तू किसीका अहित नहीं करती। अपनी गोदमें तू सबको समा लेती है। तू हमको सुख दे!" इस प्रकारकी प्रार्थनाएं हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें पृथ्वीको "अग्निगर्भा" कहा गया है। उसमें कहा गया है कि माता जैसे संतानको अपने गर्भमें धारण करती है वैसे पृथ्वीने अग्निको अपने गर्भमें धारण किया है! पृथ्वीका वर्णन करते समय शतपथ ब्राह्मणमें "पृथ्वी परिमंडल रूप-गोल-अपने ही चारों ओर घूमने वाली वातावरण धारण करनेवाली है!" ऐसे भी कहा गया है। इस पृथ्वीकी उत्पत्तिकी अनेक कथाएं अलग अलग पुराणग्रंथोंमें तथा ब्राह्मण ग्रंथोंमें हैं। पृथ्वीके रूपका वर्णन करते समय पृथ्वी मंडलके चारों ओर घना जल है उसके चारों ओर घनी उष्णता-तेजस्-है तथा चारो ओरसे ऊपरकी ओर बहनेवाला-ऊर्ध्व-टेडा वायु है ऐसे कहा गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिसे पृथ्वी सूर्य-मंडलमें घूमनेवाला तीसरा ग्रह है। चंद्र पृथ्वीका उपग्रह है। चंद्रके प्रभावसे पृथ्वीपर समुद्रमें उफान आता है। पृथ्वी नारंगी जैसे गोल है। पृथ्वी पर जो असमानता है-नीचे ऊपर-वह नहींके बराबर ही मानना चाहिए। पृथ्वी पर जो ऊंचा भाग है वह २९ हजार फूट ऊंचा है, वैसे ही गढा-घाटी-करीब ३६॥-हजार फूट है। इसका विस्तार १९ करोड ७० लाख वर्ग मील है। इसमेंसे ७०-७१ प्रतिशत भाग पानीमें है। स्थलमंडल, जलमंडल तथा वायुमंडल इन तीन मंडलोंसे यह बनी है। वायुमंडल, स्थलमंडल और जलमंडलको घिरा हुवा है। इस वायुमंडलमें ९९ प्रतिशत नायट्रोजन और १ प्रतिशत प्राणवायू है। पृथ्वीकी आयूके विषयमें वैज्ञानिकोंमें जो अनेक मतभेद हैं उस परसे कह सकते हैं कि इसकी आयू १८० करोड वर्षोंसे ३०० करोड वर्षकी है। पुराणोंके मतसे इसकी आयू करीब २२० करोड वर्षकी है।

प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें-सिंधुसंस्कृतिमें-पृथ्वीकी पूजा होती थी। पता नहीं कबसे पृथ्वी-पूजा रुक गयी है।

अथर्ववेदमें कहा गया "ऋत, सत्य, उग्रक्षात्रतेज, दीक्षा, तप, तथा ज्ञान इस पृथ्वीको धारण करते हैं। यह भूत भविष्यका पालन करनेवाली है। पृथ्वी हमें विशाल कार्य-क्षेत्र दें।" अथर्वऋषि "पृथ्वीको माता और मानवको उसका पुत्र" मानते हैं। वे गाते हैं पृथ्वीमें अमृत भरा है। वह विश्वंभरा है। जो ज्ञानी है, जिसके पास वाक्शक्ति है, वही=पृथ्वीका हृदय जानता है। ऐसे ही मनुष्यके सम्मुख वह अपना अमररूप प्रकट करती है। पृथ्वीकी उपासना करनेसे मनुष्यको अनेक वरदान मिलेंगे। उसमेंसे अनेक प्रकारकी वीर्यवान् औषधियां उत्पन्न होती हैं जो मनुष्यको पुष्ट करती हैं। जिसका हृदय, प्रेम, सत्य और अमृतसे भरा है। वह पृथ्वी हमारे राष्ट्रको और हमको बल और तेज दें!"

आप——ऋग्वेदमें "माता जैसी स्तन्य देती है वैसी उत्तम नीर देनेवाले" आपो देवताका वर्णन है। उसके बाद उपनिषदोंमें विश्वरचनाकी बात कहते समय तज्जलान् कहते हुए जलसे पृथ्वीका निर्माण हुवा ऐसा कहा गया है। सभी शास्त्र और पुराणोंमें "पृथ्वी जलसे उत्पन्न हुई" कहते हुए "यह जलमें ही डूब जायेगी!" कहा है। इसे प्रलय कहते हैं। किंतु आगे यह जल वायुसे सूख जाता है वायु आकाशमें लीन होता है ऐसा प्रलयका वर्णन आता है। न्यायदर्शनमें

" आप शांतिस्पर्श-शीतल होता है। वह दो प्रकारका होता है। एक नित्य दूसरा अनित्य। नित्य आप परमाणुरूप होता है। अनित्य आप कार्य रूप होता है। शीतल स्पर्श केवल जल-तत्त्वकाही होनेसे जहां कहीं शीतलताका बोध होता है वहां सब जल तत्त्वका अस्तित्व मान लेना! भारतीय तत्त्वज्ञोंकी भांति ग्रीक तत्त्वज्ञोंमें भी कुछ लोग " सभी जलसे निर्माण होकर जलमें लीन होता हैं! " कहते हैं। प्राणि, वनस्पति, आदिमें जहां आर्द्रता रहती है वह जलतत्त्वके कारण हैं।

तेज—पंच महाभूतोंमें, तीसरा, जिसका स्पर्श उष्ण है उसको तेज कहा गया है। शब्द, स्पर्श, रूप यह उसके धर्म हैं। अग्नि अथवा तेजको छांदोग्योपनिषद्में " सत् " से निर्मित प्रथम महाभूत कहा है। न्याय शास्त्रमें इसको चमकीला शुभ्रवर्णका कहा गया है तो छांदोग्योपनिषद्में तेजका रंग लाल माना गया है। लाल रंग तेजोरूप है। शुभ्र वर्ण जल रूप है। और काला वर्ण पृथ्वीरूप है ऐसा श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा गया है। अध्यात्मशास्त्रमें तेजको ब्रह्मका प्रतीक माना गया है। तेज, ज्ञान और सत्‌गुणोंका सूचक है। अनेक उपनिषदोंमें " ब्रह्मतेजोरूप है और तेजो रूपसे उसका साक्षात्कार होता है!" ऐसा कहा गया है। वैसे ही मुंडकोपनिषद्में, अत्यंत दीप्त स्वर्ण - तेजो मंडलके मध्यमें दीखनेवा शुद्ध शुभ्र निष्कलंक ब्रह्म सर्व श्रेष्ठ तेज है!" ऐसा कहा है। तथा छांदोग्योनिषद्में " इस संसार सेतुका अतिक्रमण करनेके बाद अंधे मनुष्यको भी अंधत्वका कोई दुःख नहीं होता। उसकी आंखोंके सामने सदैव तेजोमय ब्रह्म चमकता रहता है। रात भी उसको दिनके समान दीखती है! " ऐसा कहा गया है। अनेक संतोंने अपने साहित्यमें तेजोमय ब्रह्म-साक्षात्कारका वर्णन किया है। ज्ञानेश्वरीके ग्यारहवे अध्यायमें भी यह देख सकते हैं।

वायू—न्याय और वैशेषिकमें वायुको रूपरहित स्पर्श-बोध जन्य तत्त्व कहा है। वह नित्य और अनित्य दो प्रकारका है। नित्य वायू परमाणुरूप और अनित्यवायू कार्य रूप है। त्वक् नामका वायु वायुजन्य इंद्रिय सारे शरीरभर रहता है जो वायुका अनुभव करता है। शरीरमें संचार करनेवाले वायुको प्राण कहते हैं। उपनिषदोंमें जैसे शरीरके श्वासोच्छ्वासको प्राण कहा गया है वैसे ही विश्वके जीवनतत्त्वको प्राण कहा गया है। इससे प्राण व्यक्ति अथवा विश्वका सामर्थ्य बन गया है। उपनिषदोंमें सारे वस्तु प्राणसे उत्पन्न होकर उसीमें लय होते हैं ऐसा भी कहागया है। इस प्राणको भूतोंका मध्यबिंदु माना है। छांदोग्योपनिषद्में वायुही मूलतत्वमाना है। कहा गया है " वायु सबको विलीन करनेवाला तत्त्व है। कोई भी पदार्थ हो उसीमें विलीन होता है। अग्नि बुझ जाता है तो वायुमें। सूर्य वायुमें अस्त होता है। पानी वायुमें सूख जाता है। वायु ही सबको पूर्णरूपसे निगल जाता है! " अंत जिसमें होता है उत्पन्न भी उसीमेंसे होता है यह मान लेना है! इस विश्वमें सतत और संतत चलनेवाला प्राणवायुका प्रवाह ही मूलभूत जीवन तत्त्व होनेकी बात पुराने ग्रीक दार्शनिकोंने भी कही है। ईशावस्योपनिषद्में संभवतः समष्टिरूप जो वायु अनिल कहा है वही यह संतत बहनेवाला प्राणवायु है। तैत्तिरीय उपनिषद्में " जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न होनेपर जीते हैं तथा अंतमें सब इसीमें विलीन होते हैं वही एक मूलतत्व है। वही ब्रह्म है! " और ग्रीक तत्वज्ञ यही वाक्य दुहराकर इस तत्त्वको वायु कहते हैं। इसका विवेचन करते समय ग्रीक तत्वज्ञ कहता है " मनुष्य या अन्य प्राणी श्वासोच्छ्वासके वायुसे ही जीते हैं। इसलिये वायु यह चिरंजीवी, शक्तिमान श्रेष्ठ ऐसा तत्त्व है। "

आकाश—प्रवाहण जैबालीने आकाशको सारे जगतका उत्पत्तिकारण माना है। यह इस जगतकी अंतिम गतिके विषयमें भी कहता है। विश्वका आकाश बनेगा! इसके मतसे सभी भूत

आकाशसे उत्पन्न होकर आकाशमें लीन होते हैं। आकाश सर्व श्रेष्ठ है! छांदोग्य उपनिषद्‌में "आकाशको अग्निसे भी श्रेष्ठ कहा है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, बिजली आदि आकाशमें रहते हैं। इन सबपर आकाशका आवरण रहता है। आकाशके विषयमें ऐसा भी एक विचार है कि खोखलापन का अर्थ शून्य अथवा अभाव है। इसलिये आकाशका अस्तित्वही नहीं! चार्वाक आकाश नहीं मानता। उपनिषद् कहते हैं आकाश वायूसे भरा है। जहां जहां आकाश है वहां वायू है। आकाशमें अनंत तत्वोंको रहनेकी गुंजाईश है। आकाशमें अनंत तत्वोंका भ्रमण एक दूसरेमें विलीन होना आदि क्रियायें चलती रहती हैं। आकाश एक अखंड महाशून्य है। उसमें नीचे ऊपर आगे पीछे ऐसा कुछ नहीं है। आकाश अनेक तरंगोंका जाल है। सारा विश्व आकाशसे उदित होकर आकाशमें लीन होता है। शब्द आकाश तत्वजन्य है। श्रुतिमें "आत्मासे संभूत आकाश कहा गया है। न्याय और वैशेषिक मानते हैं कि आकाशके अपने परमाणु नहीं हैं।

पंच-प्राण—भारतीय तत्व-चिंतकोंने प्राण शक्तिका गहरा अध्ययन करके अपने शरीरमें चलनेवाली कौनसी क्रियायें प्राण-तत्वकी किस प्रकारकी शक्तिसे चलती हैं यह देख कर प्राण तत्वके पांच विभाग किये हैं। इनको पंचप्राण कहा जाता है। उनका नाम हैं (१) प्राण (२) अपान (३) व्यान (४) उदान (५) समान। निम्न छंदोंमें शरीरमें इन पांच प्राणोंका क्या काम है इसको समझाया गया है।

जीता है प्राणसे प्राणी उठाता बोझ व्यानसे।
मल-मूत्र सदा नीचे उतारता अपानसे॥
उदानसे चलती वाक् हृत्क्रिया है समानसे।
चलती जो क्रियां ऐसी देहधारी मनुष्यकी॥

पंचाग्नि—(१) प्रलयानल, (२) विद्युदनल (३) वडवानल (४) शिवनेत्रानल (५) द्वादशादित्यानल ये पंचाग्नि हैं। प्रलयानल पृथ्वी पर रहता है। विद्युदनल आकाशमें बिजलियोंमें-रहता है। वडवानल समुद्रमें होता है। शिवनेत्रानल रुद्रके क्रोधमें रहता है। द्वादशादित्यानल सूर्यका तेजस है।

परमार्थ—परमार्थका अर्थ श्रेष्ठ प्रकारका लाभ। व्यावहारिक लाभ जिसे हम लाभ कहते हैं वे क्षणिक हैं। वे सब लाभ नष्ट हो सकते हैं। किंतु आत्मज्ञान-अपने आपको जाननेका ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये "मैं" क्या है यह जानना, अपने आपको जानना, श्रेष्ठ प्रकारका लाभ है। तभी इसे परमार्थ कहा है। इस ज्ञानसे सुख मिलता है और वह सुख निरालंब सुख होता है। वह किसी बाह्य वस्तु पर आधारित नहीं होता। आपसे अपनेमें अनुभव करनेका होता है। इसलिये वह शाश्वत सुख होता है। कभी नष्ट न होनेवाले शाश्वत सुखका लाभ परमार्थ है। इस प्रकारके सुखको प्राप्त करनेके लिये जो जो कुछ किया जाता है उसको परमार्थ साधना कहते हैं।

पाप—पाप एक मल है। जो अंतःकरणको चिपकता है। पश्चात्तापसे उसको दूर किया जाता है। पतितता उत्पन्न करनेवाला, अमंगल, अशुभ, अदृष्टको जन्म देनेवाला क्रियाविशेष ही पाप है। सामान्यतः निसर्ग नियमोंके विरुद्ध चलना पाप है। पाप मनुष्यको गिराता है। प्रत्येक मनुष्य अनेक प्रकारसे–पाप पुण्य न माननेवाला भी - अपनी दृष्टिसे गिरता उठता है। अपनी

दृष्टिसे गिरनेका भाव पाप है । ऋग्वेद कालमें भी यह कल्पना थी । वहां पापको बंधन माना है ! वहां एक प्रार्थना है " जैसे बछडेसे रसी दूर करते हैं वैसे तू मुझे पापसे दूर कर ! क्यों कि बिना तेरे सामर्थ्यके आंख भी नही झपकती !" वहां पानीसे पापको धोनेकी प्रार्थना की है और अग्निसे पापको जलानेकी ! आगे शास्त्रज्ञोंने किन किन बातोसे मनुष्य अपनी दृष्टिसे आप गिरता है उसका विचार करके उन सब बातोंको पापमें गिना और मनुष्यको उन उन बातोंसे दूर रहनेका आदेश दिया । जैसे माता शिशुको जहां जहां धोखा है वहांसे दूर रहना सिखाती है । इस शिक्षा पद्धति कारण पापके (१) प्रकीर्ण (२) अपाङ्क्तेय (३) मलिनीकरण (४) ज्ञातिभ्रंशकर (५) उपपातक (६) अतिपातक (७) महापातक ऐसे सात प्रकार बने । भिन्न भिन्न शास्त्र-कारोंने इसको भिन्न भिन्न नाम दिये हैं । धर्म शास्त्रोंमें अपनी तथा समाजकी निगाहोंसे गिरने या गिरानेके अनेक कारणोंकी लंबी सूचीदी है । यह पापवृत्ति एक प्रकारसे मानसिक अनारोग्य है । जैसे कोई रोग पीढी दर पीढी-आनुवंशिक चलता है वैसे पापवृत्ति भी आनुवंशिक चलती है । इसलिये कहीं कहीं एकके पापमें दूसरेकी जिम्मेदारी भी बतायी गयी है । जैसे सेवकके पापमें स्वामी, प्रजाके पापमें राजा, शिष्यके पापमें गुरु, पुत्रके पापमें पिता, यजमानके पापके पुरोहित आदि । जैसे पाप आनुवंशिक वैसे ही आनुषंगिक भी होता है । जैसे द्यूतकी बीमारी । गुरूका अनुकरणरूप, अथवा राजाके अनुकरणरूप अथवा समाज धुरीणोंके अनुकरणरूपमें, पाप समाजमें फैलता है ! ऐसे समय ये महाजन कठोर दंडके भागीदार माने गये हैं । पाप, मनुष्यके, पर्या-यसे समाजके नैतिक तथा आत्मिक अधःपतनका कारण होता है । खास करके कोई तत्वज्ञान जब मनुष्यके पाप छिपाने अथवा पापके समर्थनका साधन बनता है तब तो दंभ बढ जाता है और वह समाजके पतनका-सर्वतोमुखी पतनका-साधन बनता है । विश्वके सभी धर्म-शास्त्रोंमें पापका विचार किया गया है । आधुनिक बुद्धिवादियोंने इस पर अनेक प्रकारसे विचार किया है । कुछ लोगोंने इसकी अवहेलना भी की है । सामान्य जनताको नीतिमार्ग पर स्थिर रखने के लिये इस कल्पनाकी अत्यंत आवश्यकता है । तथा गुप्तपापोंको रोकनेके लिये ईश्वरीय शासनकी भी । बिना इसके दूसरा चारा नहीं ।

पुण्य——जैसे पाप वैसे पुण्य । जो भिन्न प्रकारका इष्टफल देता है वह पुण्य है । ऐसी पुण्य शब्दकी व्याख्या की है । साथ साथ " विहित कर्मसे उत्पन्न होनेवाला " ऐसा भी कहा गया है । जैसे पाप अपनी निगाहोंसे गिराता है और क्लेश देता है वैसे पुण्य अपनी निगाहोंमें उठाता है और मनको समाधान देता है । धर्मशास्त्रोंने जैसे अपनी निगाहोंसे गिरानेवाले कार्योंकी सूचि दी है वैसे उठानेवाले कार्योंकी भी सूचि दी है । पुण्यसे, विहित काम करनेसे, व्यक्ति तथा पर्यायसे समाजकी शक्ति बढ़ती है । किये हुए पुण्यका प्रचार करनेसे पुण्य नष्ट होता है । इसलिये उसका प्रचार न करनेका आदेश दिया है ।

पुनर्जन्म——यह भारतीय दर्शनका वैशिष्ट्य है । कुछ अपवाद छोड कर भारतके सभी दर्शन पुनर्जन्म मानते हैं । मृत्युका अर्थ मनुष्यका शरीरपात है । मनुष्यका शरीर छूटने पर भी उसके आत्माका नाश नहीं होता । वह आत्मा-अपने कपडे बदलनेवाले मनुष्यकी भांति दूसरा शरीर धारण करता है । इस सिद्धांतको पुनर्जन्म कहते हैं ।

इसी कल्पनाके बीज ऋग्वेदमें भी मिलते हैं। जैसेः—

चक्षु मिले सूर्यमें प्राण वायूमें जा तू द्यौ या पृथ्वीमें धर्मानुसार।
जा तू जलमें अथवा जहां चाहो रह नव-देह सह औषधीमें॥

अथवा—

देहधारी आत्मा कभी न थकते आता जाता है अपने स्वभावसे।
आता जाता है जो इस जगतमें संयोग वियोग युत स्व-शक्तिसे।
रचा जिसने इसको न देखता यह रहता वह इससे गुप्त।
किंतु देखता वह इसे सदैव तभी गर्भावृत हो भोगता (यह) दुःख।

ऐसे मंत्र कहीं कहीं मिलते हैं। आगे उपनिषदोंमें इसका विकास देखनेको मिलता है। कठोपनिषद्‌में एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य घासकी भांति सूखकर-वृद्ध होकर-मरता है और वैसे ही घासकी भांति पैदा होता है!" वैसे बृहदारण्यकमें कहा गया है "जैसे झिनगा घासकी एक पात छोडते समय दूसरे पात पर आंख गडाता है वैसे आत्मा एक देह छोडते समय दूसरी देह पर आंख गडाता है और उसमें प्रवेश करता है।" "यह पुरुष काममय है। जैसी इच्छा करता है वैसे सत्कर्म या कुकर्म करनेवाला साधू या पापी होकर पैदा होता है!" ऐसे विचार कई स्थान पर आये हैं। ऐसी ही बातोंको लेकर "वासनानुसार कर्म, कर्मानुसार जन्म, तथा वासनाक्षयसे मोक्ष" जैसे कर्म-सिद्धांतोंका विकास हुवा। अनेक उपनिषद् और गीतामें "कर्म तथा पुनर्जन्मका संबंध" स्पष्ट बताया गया है।

भारतीय दर्शनोंमें भी "मोक्ष प्राप्त होनेतक मानवी जीव अपने अपने कर्मानुसार अनेक योनियोंमें भ्रमण करता रहता है!" यह सिद्धांत सांख्य, योग, न्याय, वेदांत, जैन, बौद्ध आदि दार्शनिकोंने स्वीकार किया है। इस विषयमें सांख्य कहता है "ऐसा कहना गलत है कि सर्व-व्यापक पुरुष एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है। निर्गुण पुरुषका पुनर्जन्म नहीं होता है किंतु सूक्ष्म-लिंग देहका पुनर्जन्म होता है। अंतःकरणचतुष्टय तथा इंद्रियां, उनकी तन्मात्राओंके तत्वोंसे आत्माकी चारों ओर लिंगदेहका सूक्ष्म कोष तैयार होता है। इस लिंगदेहके साथ आत्मा हृदयाकाशमें रहता है। आकाश अंगुष्ठमात्र होनेसे लिंगदेह भी उतना ही होता है। इस लिंगदेहमें कर्म-संस्कार सुरक्षित रहते हैं। यही पुनर्जन्मके कारण होते हैं।"

इस विषयमें जैनोंका मत इससे कुछ भिन्न है। जैनदर्शनके अनुसार कर्म जीवमें संपूर्ण रूपसे मिल जाता है। व्याप्त हो जाता है। इसलिये वही कर्म, जीवको संसार क्षेत्रमें खींच लाता है। जीवको इसी कर्मानुसार पुनर्जन्म मिलता है। सतत पुण्यकर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले सम्यग्ज्ञानसे जीव जन्ममृत्युसे मुक्त होता है। किंतु बौद्ध-दर्शन आत्माको न मान कर भी पुनर्जन्म मानता है। बिना आत्माके पुनर्जन्म कैसे और किसका? इस प्रश्नके उत्तरमें बौद्ध दार्शनिक कहते हैं। मनुष्यके कर्मका कभी नाश नहीं होता। उसका यथोचित फल-भोग भोगना ही पडता है। मनुष्यका वर्तमान जन्म उसके पूर्व-जन्मका फल है जैसे एक दीपकसे दूसरा दीपक जलता हुवा दीप-माल तैयार होती है। एक जन्मका कर्म दूसरे जन्मकी स्थिती निश्चित करता है। कर्मकी एकता अथवा अखंडताके कारण मृत जीव और नये जीवमें अभिन्नता रहती है। यही पुनर्जन्म है।

महाभारतमें कर्मानुसार जन्मका सिद्धांत समझाते हुए " अव्यक्त आत्मा ही देहाधारी प्राणिमात्रका बीज है । बीज भूत आत्मा गुणोंके कारण जीव बनता है । वही काल और कर्मके प्रभावसे संसारमें भ्रमण करता है । वृक्षमें यह चैतन्य बीज होता है । सुख दुःख भी होता है । इतना ही नहीं उनकी इंद्रियां भी होतीं हैं । " महाभारके शांतिपर्वमें इसका विस्तृत विवचन है । जीव चंद्रलोक तक जा कर वहांसे वनस्पतिमें आता है और अन्नरूपसे वह प्राणिमात्रमें जाकर मातृगर्भमें प्रवेश करता है इस तरह देह त्यक्त जीवका भ्रमण कक्षा बताया गया है । आधुनिक जीव-शास्त्र भी इस सिद्धांतका समर्थन करता है । भारतके बाहरके दार्शनिक इस सिद्धांतको नहीं मानते किंतु भारतीय दार्शनिकोंने हजारों वर्षोंसे, ४.४॥ हजार वर्षसे इस सिद्धांतको स्वीकार किया है और उपनिषदोंसे स्वीकृत पुनर्जन्मके विचारोंका आधुनिक विज्ञान समर्थन करता है । प्राचीन ऋषियोंने स्पष्ट रूपसे कहा है " पुत्र पौत्र प्रपौत्रके रूपमें वंश-सातत्यसे मेरी आत्मा अमर होगी । " " आत्मा पुत्र रूपसे जन्मता है ! " यह वाक्य प्रसिद्ध है । पुनर्जन्मका सिद्धांत अमान्य करनेवाले विद्वानोंके " तो पूर्व-जन्मका स्मरण क्यों नहीं रहता ? " इस प्रश्नका उत्तर देते समय भारतीय दार्शनिक " आत्माके अज्ञानवरणके कारण ! " कहते हुए इस अज्ञानावरणको दूर हठा कर पूर्व-जन्मका स्मरण प्राप्त करनेका विधान भी-योगमें-बताते हैं । गीतामें पुनर्जन्मका व्यवस्थित विवेचन और समर्थन मिलता है और ज्ञानेश्वरीमें इसका सुंदर स्पष्टीकरण दिया हैं जो अत्यंत बुद्धिगम्य हैं और आज जो आधुनिक विद्वान वैज्ञानिक ढंगसे अनुसंधान करते हैं वह भी पुनर्जन्मके भारतीय सिद्धांतका समर्थन करता जाता हैं ।

पुरुष——सांख्य शास्त्रमें प्रकृति और पुरुष यह दो अनादि तत्व होनेकी बात कही गयी है । गीताने भी यह कहा है । सांख्य, शुद्ध चैतन्यको जो गुणोंसे परे है पुरुष कहता है । अज्ञानके कारण प्रकृति पुरुषमें जो विपरीत बुद्धि होती है, विवेक द्वारा उसको दूर करके पुरुषको प्रकृतिसे मुक्त देखना ही सांख्यका परम उद्देश्य है । इसीको वे विवेक ख्याति कहते हैं । सांख्यका पुरुष अतींद्रिय है । वैसे सांख्यके तीन प्रकारके पुरुष हैं (१) रूप पुरुष, (२) बद्ध पुरुष (३) मुक्त पुरुष । अनाश्रितत्व, अलिंगत्व, निरवयत्व, स्वतंत्रत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविसयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व, साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ, औदासिन्य, द्रष्टत्व, अकर्तृत्व ये रूप पुरुषके लक्षण है । इसी निर्लिप्त पुरुषका बिंब, बुद्धि या महत्तत्व पर पडता है । ऐसे समय बुद्धि या महत् जड होते हुए भी उसमें चैतन्यका भास होता है जो बद्ध पुरुष जीव है । वह सांख्य विवेकसे मुक्त होता है । पुरुष और प्रकृतिका संबंध अनादि है । पुरुषका बिंब जब प्रकृति पर पडता है प्रकृति या बुद्धि अपनेको चैतन्य समझने लगती है । व्युत्क्रम रूपसे बुद्धिके स्वरूपका भास पुरुषसे होता है । जिससे निष्क्रिय, निर्लिप्त, त्रिगुणातीत पुरूषभी अपनेको कर्ता, भोक्ता, आसक्तादि-सा लगता है । यही पुरुषका कल्पित बद्धत्व है । पुरुषका अपने आपको पहचानना मुक्ति है । वही सांख्यका विवेक है । इस विवेकसे-ज्ञानसे-कैवल्य प्राप्त होता है । इस विवेकके द्वारा पुरुषका चैतन्यत्व और प्रकृतिका जडत्व स्पष्ट हो जाता है । गीतामें भी इन तीन पुरुषोंका विचार है तथा ज्ञानेश्वरीमें इसका विस्तृत विवेचन है । सांख्यमें पुरुषके विषयमें जो विवेचन है यहां उसकी झलक मात्र है ।

पुरुषार्थ——मनुष्यको अपना जीवन कृतार्थ करनेके लिये जो पराक्रम करना होता है उसको पुरुषार्थ कहा गया है । पुरुषार्थ मानवी जीवनका कर्तव्य है । वे चार है । (१) काम, काम

मनुष्यकी, नहीं प्राणिमात्रकी सहज प्रवृत्ति हैं। वह आत्माके अमरत्व प्रस्थापनाका भौतिक प्रयास है। वेदोंमें कहा गया है आत्मा पुत्र रूपसे प्रकट होता है। उपनिषदोंमें कहा गया है "प्रजातंतुका छेदन मत करो!" संतानोत्पादन पितृ ऋणसे मुक्ति है। कुलमर्यादाके साथ कुलवृद्धिका मूल काम है। इसीलिये गृहस्थाश्रम है।

गृहस्थाश्रमके इस काम-पूर्तिके लिये, तथा संतानको योग्य संस्कार देनेके लिये अर्थकी-धनकी आवश्यकता है। धन प्रथम पुरुषार्थ काम तथा काम पूर्तिका दायित्व निभानेका साधन है। इसलिये अर्थ-साधना द्वितीय कर्तव्य है। साथ साथ अर्थ साधनमें जुट जानेसे काम-वृत्तिका संकोच भी होता है। वह सीमित होती है। वैसे ही धर्म अर्थलालसाका संकोच करता है। धनकी आवश्यकता है "किंतु सन्मार्गसे" यह धर्म कहता है। चाहे जैसे, जैसे चोरीसे, डाकेसे, जूएसे, अत्याचार अनाचारसे, आनेवाला धन नहीं चाहिए, कैसा धन स्वीकार करना कैसे नहीं करना यह कहनेका कार्य धर्म करता है। अर्थात धर्म, अर्थ लालसाका संकोच करता है और इन सबसे मुक्त करता है। काममें जो सुख है, धनमें जो सुख है, धर्म भावनाका जो सुख है वह क्षणिक है। वह पराश्रित है। बाह्य वस्तुओं पर आश्रित है। इसलिये वह सच्चा नहीं। सच्चा सुख स्वाश्रित होना चाहिए। आपनेमें आपसे भोगा जानेवाला सुख। शाश्वत चिरंतन सुख। ऐसे सुखको मोक्ष कहा गया है। वह मनुष्यको स्थायी सुख देता है इसलिये वह सर्वोच्च पुरुषार्थ है। चतुर्थ पुरुषार्थ है। काम मानवी कर्तव्य तथा सुखकी पहली सीढी है और मोक्ष मानवी कर्तव्य और सुखकी अंतिम स्थिति है। जीवनका सारा प्रयत्न उसके लिये हैं। जीव उसी सुखके लिये बार बार जनमता और मरता है। इसी आशासे कि कभी न कभी वह मिलेगा।

पुरोडाश——यज्ञकार्यमें आहुति देनेके लिये बनाया गया अन्न विशेष। यह बनानेका विधि-विधान समंत्र होता है। इसमें भूने गये चावल या जौका सत्तू होता है जो गरम पानीमें गूंद कर कच्छपके आकारके गोले बनाकर मिट्टीके तवे पर भूने जाते हैं। इसको घी लगानेके बाद यह पुरोडाश बनता है। ये पुरोडाश मिट्टीके कितने तवोंपर-खपरैलोंपर-भूने जाते हैं इस पर उसका सप्तकपाल, अष्टकपाल, दशकपाल, एकादशकपाल, द्वादशकपाल आदि नाम होते हैं। पुरोडाशका विशिष्ट भाग यज्ञमें आहुति दे कर जो बचा रहता है वह यज्ञ करनेवाले "यज्ञशेष" के रूपमें खाते हैं।

प्रकृति——सांख्यमतानुसार सत्व-रज-तमकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। यह सांख्योंके चौवीस तत्वोंमें दूसरा तत्त्व है। गीतामें यह क्षर तत्त्व है जो अपरा प्रकृति कही गयी है। यह अपरा प्रकृति अनादि कालसे पुरुषसे संबद्ध है। इसीसे सब बद्ध हैं। कल्पांतमें भूतमात्र इसमें लीन होते हैं और कल्पारंभमें इसीसे उत्पन्न होते हैं। पुरुष इसका अधिष्ठान मानकर अपनी मायासे सारा विश्व चलाता है। इस अपरा प्रकृतिके ऊपरके स्तरपर परा प्रकृति है। यही जगतको धारण करती है। यह ईश्वरांश है। जो शरीरत्यागके बाद एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाकर इंद्रियादिकेद्वारा विषयोंका भोग करती है। सांख्यमतानुसार मूलप्रकृति अव्यक्त है। उसीसे अन्य २३ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। मूल अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न सभी तत्त्व व्यक्त हैं। इन प्रत्येक व्यक्त तत्त्वमें अव्यक्त प्रकृतिके (?) तीन गुण हैं। ये ही गुण संस्थानभेदसे अनेक रूपसे अभिव्यक्त होते हैं। यह मूलप्रकृति जो तीन गुणोंके साम्यावस्थासे बनी है, अव्यक्त है। यह

महत्तत्वादि अन्य तत्त्वोंमें अपनी अव्यक्त शक्तिसे प्रवेश करती है। और अन्यान्य भेदोंका समन्वय करती है। प्रकृति जड और नित्य है जो अनादि कालसे पुरुषसे जुडी हुई है। प्रकृति पर पुरुषका बिंब पडनेसे वह अपनेको चेतनकी भांति समझती है। प्रकृतिके इसी स्वरूपके आभासके कारण निष्क्रिय निर्लिप्त पुरुष भी अपनेको कर्ता भोक्ताके रूपमें लगता है, यही पुरुष पर आरोपित प्रकृतिका बंधन है। इसीका पहचान कर दूर करना स्वरूप ज्ञान है।

प्रकृति ही सृष्टि रचनाका कार्य करती है। इस कार्यमें प्रकृति किसीका सहाय नहीं लेती। प्रकृति पर पडा पुरुषका बिंब स्वाभाविक है। सृष्टिरचना प्रकृतिका स्वभाव है। गायके स्तनमेंसे निकल कर बछडेके मुखमें जानेवाले अचेतन दूधकी भांति प्रकृतिका कार्य चलता है। इस दूधसे जैसे बछडेको जीवन मिलता है वैसे प्रकृतिके सृष्टि-कार्यसे पुरुषको मुक्ति मिलती है। पुरुषकी मुक्तिके लिये वह अनेक प्रकारके उपाययोजना करती है। वह अपने प्रभुत्वसे, बुद्धिके भावोंकी सहायतासे, एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है। इन सब बातोंका एक मात्र उद्देश्य पुरुषको बंधनमुक्त करना है। प्रकृतिको आत्मा समझनेवाला पुरुष, शरीर छूटनेके बाद प्रकृतीमें ही लीन हो जाता है। अथवा प्रकृतिलीन पुरुष मुक्त-सा हो कर भी पुनः हिरण्यगर्भ स्वरूपको धारण करता है। अर्थात् प्रकृतिलीन पुरुषको उत्तरकालमें बन्धन होनेकी संभावना बनी रहती है और ईश्वर जो सदा मुक्तावस्थामें रहता है कभी किसीभी प्रकारसे प्रकृतिके बंधनमें नहीं आता। महत्तत्त्वसे लेकर पृथ्वीतत्त्व तक सभी तत्त्वोंका मूल प्रकृति है। यह सत्व रज तमकी साम्यावस्था है। इस अवस्थामें गुणोंका कोई प्रधान या गौणभाव नहीं रहता। प्रकृति तत्त्वमें ये गुण विभक्त नहीं रहते। परस्पर समन्वित रहते हैं। इस प्रकृतिके दो भेद माने गये हैं। व्यामोहिका प्रकृति तथा मूल प्रकृति। इसी कारण संसारमें अवस्थाभेद हैं। व्यामोहिका प्रकृतिमें पुरुष बद्धावस्थामें जीव कहलाता है और मूल प्रकृतिमें स्वरूप लीन होकर जगत्कारण आत्मा कहलाता है। प्रकृतिका सिद्धांत कहनेवाला सांख्यदर्शन अत्यंत प्राचीन-दर्शन है। इसके विचार अत्यंत व्यापक हैं। सांख्यके बाद कई दर्शनकारोंने तथा भाष्यकारोंने इस पर इतना विचार किया है, इतने विवेचन किये हैं, जिससे अनेक प्रकारके मतभेद दीख पड़ते हैं। कई भाष्यकारोंने इसके अनेक पर्यायवाची शब्द देकर विषयको अधिक उलझा दिया है। यहां तक कि सांख्यकी प्रकृति तथा गीताकी प्रकृति एक नहीं हैं!! इस परसे लगता है कि सांख्यके तत्त्वोंका-प्रकृतिका विवेचन करनेवालोंने अपने अपने अनुभवसे विवेचन किया है।

प्राण——पिंड तथा ब्रह्मांडका एक मूलतत्व। इस शब्दका अर्थ करते समय "शरीरमें संचार करनेवाला वायु" ऐसा अर्थ किया गया है। इसके साथ ही साथ "सदैव अर्थात् नींदमें भी नाक तथा मुखसे अंदर बाहर जानेवाला तत्व" भी कहा गया है। यही तत्व है जो "मनुष्य और विश्वको जोडता है!"

अनेक उपनिषदोंमें इसका विचार आया है। एक स्थान पर "यह जीवनतत्व है" कह कर आगे "प्राण ही ब्रह्म" कहा गया है। यह केवल मनुष्यका ही नहीं "समग्र विश्वका जीवन तत्व है!" दूसरे एक उपनिषदमें "प्राण ही विश्वाधार वस्तु कहा है क्यों कि सभी वस्तु प्राणसे निर्माण हो कर प्राणमें ही लीन होते हैं।" चक्रके आरे जैसे नाभीमें गडे रहते हैं वैसे सारा विश्व प्राणमें मिला रहता है।"

विश्वके प्रत्येक वस्तुके पीछे जो सदैव त्रिकालाबाधित गतिमान् शक्ति है वह प्राण है। गुरुत्वाकर्षण, विद्युत्, ग्रहमंडल और नक्षत्रोंका भ्रमण तथा चराचर जीव सृष्टिमें यह प्राणतत्त्व ओतप्रोत है। विश्वके अन्यान्य आकार प्रकारका, विश्वकी विविध शक्तियोंका, तेजका आधार यही प्राणतत्त्व है। विश्वके जीवनका आधारभूत, विश्व-जीवनको नियमित करनेवाला महान तत्त्व हवामें है किंतु हवा प्राण नहीं है। अन्नमें प्राण है किंतु अन्नका पौष्टिक अंश प्राण नहीं। पानीमें प्राण है। किंतु पानी जिन द्रव्योंसे बनता है वह प्राण नहीं! सूर्य प्रकाशमें प्राण है किंतु उसका प्रकाश या किरण प्राण नहीं है। विश्वके सभी चराचर सृष्टिकी चिच्छक्ति प्राण हैं और विश्वके सभी वस्तु इस प्राणशक्तिके वाहक हैं।

प्राणका अर्थ श्वास प्रश्वास नहीं किंतु जिसके कारण यह श्वसनप्रणाली चलरही है वह प्राण है। आंखोंसे देखना, कानसे सुनना, जीभसे चखना, शरीरसे छूना आदि इसी प्राणतत्त्वका परिणाम है। जिस शक्तिसे विश्वमें गतिमानता है वह प्राण है किंतु विश्वकी गतिमानता प्राण नहीं। इस बातको अनेक उदाहरण देकर उपनिषदमें समझाया गया है। इस प्राण शक्तिको आधार मानकर उपनिषदोंने दो नीतितत्त्व कहे हैं (१) इंद्रियोंकी विषय प्रीति पाप अर्थात् मृत्युका कारण बनती है, इसलिये प्राणधारणारूप जीवनव्यापारको महत्व देना (२) तत्त्वतः सबका प्राण एक होनेसे सबसे प्रेम करना। किसीसे द्वेष नहीं करना। यह औपनिषदीय नीतिशास्त्रका आधार है।

प्राणायाम——अष्टांग-योगका चौथा अंग। इस शब्दका प्राण+आयाम ऐसा विभाजन है। श्वासप्रश्वासकी स्वाभाविक गतिपर नियंत्रण रखना प्राणायाम शब्दका अर्थ और उद्देश्य है।

जो प्राण अथवा वायु हम बाहर छोडते हैं जिसे प्रश्वास कहते हैं उसको प्राणायमकी प्रक्रियामें "रेचक" कहा गया है। जो वायू अंदर लेते हैं जिसे श्वास लेना कहा जाता है उसको प्राणायाममें "पूरक" कहा गहा है। तथा बाहरी श्वास अंदर लेकर उसको अंदर ही रोकनेकी क्रियाको "कुंभक" कहा जाता है। पूरक कुंभक रेचक मिलकर प्राणायामकी प्रक्रिया चलती हैं। यह कुंभक एक प्रकारसे श्वास प्रश्वासमें विराम है। यह विराम दो प्रकारका हो सकता है। एक पूरकके बाद अर्थात् बाहरका वायू अंदर लेनेके बाद दूसरा रेचकके बाद अर्थात् अंदरका वायू बाहर छोडनेके बाद। इस दो प्रकारके विरामको अंतर कुंभक और बाह्यकुंभक कह सकते हैं।

विरामका यह काल घटाना बढ़ाना, प्राणायामका वास्तविक अभ्यास है। (१) बाहरका वायू अपने फेफडोंमें भरना (२) वहां उसको रोकना (३) अंदरका वायू बाहर फेंकना (४) उसको बाहर ही रोकना। इसमें जो प्रकार हैं इससे प्राणायामके अनेक प्रकार बने हैं।

जैसे नाकके दोनों नथुनोंसे सांस लेकर तुरंत दोनों नथुनोंसे छोडना भस्त्रिका कहलाता है। ऐसे करते समय पेटको लुहारकी धोंकनीकी भांति फुला कर छोडना पड़ता है। इस भस्त्रिकाके भी उपविभाग हैं। जैसे एक नथुनेसे ले कर तुरंत दूसरे नथुनेसे छोडना। ऐसे (१) सूर्यभेदन (२) उज्जाई (३) सीत्कारी (४) शीतली (५) भस्त्रिका (६) भ्रामरी (७) मूर्छा (८) प्लाविनी ऐसे आठ प्रकारके मुख्य प्राणायाम हैं।

किंतु सामान्यतः दीर्घ-श्वसन, अभ्यास करने जैसा प्राणायामका एक प्रकार है। इसमें हम जो श्वास प्रश्वास लेते छोडते हैं, उसका समय धीरे धीरे बढ़ायें। यह शरीर और मनको प्रसन्न रखनेका एक अच्छा और बिना किसी धोखेका साधन है।

इसके बाद शांत एकांत स्थान पर सुबह उठते ही, शामको, रातको सोते समय, अथवा अन्य किसी योग्य समय पर धीरेसे दायाँ नथुना दबा कर बाये नथुनेसे पूरक करना—श्वास अंदर लेना फिर दोनों नथुने दबाकर उसको कुंभक-अंदर रोकना-करना तथा धीरेसे दहिने नथुनेसे बाहर छोडकर पुनः बाहर रोकना प्राणायामका एक अत्यंत सरल लाभप्रद प्रकार है। इसमें पूरक - १ कुंभक - अंदरका - ४ - रेचक २ - तथा बाह्य कुंभक ४। यह कालमर्यादा है। इसको इसी प्रमाणमें अपनी शक्तिके अनुसार बढाते जाना। जैसे ४ - १६ - ८ - १६। इस प्रकारको सूर्य भेदन कहते हैं। इसके विपरीत दाहिने नथुनेसे पूरक, कुंभक, बाये नथुनेसे रेचक कुंभकको चंद्रभेदन कहते हैं। सूर्य भेदन और तुरंत चंद्रभेदनसे एक प्राण चक्र पूर्ण होता है।

इस प्राणायाम प्रकारके साथ, पूरकके साथ मूलबंध, कुंभकके साथ जालंधर बंध और रेचकके बाद उड्डियानबंध अत्यंत लाभप्रद है। वस्तुतः उड्डियानबंध ही बाह्यकुंभक है।

इसी प्रकार दोनों नथुनोंसे धीरे धीरे कंठ भागको स्पर्श तथा घर्षण करें, इस प्रकारसे-आगे आगे हृदयको भी श्वास नलिकाके हृदय भागमें भी घर्षण हो सके, ऐसे पूरक करके फिर कुंभक करना, वैसे ही दोनों नथुनोंसे श्वासनलिकाको अंदरसे बाहरतक घर्षण हो सके ऐसे रेचक करना भी एक सरल प्रकारका प्राणायाम है। इसके बाद भी बाह्य कुंभक उड्डियान करें। इसका प्रमाण भी १–४–२–४ है। यह कभी कर सकते हैं। इससे कार्यमें उत्साह बढ़ता है। इसके साथ भी मूल बंधादि कर सकते हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे यह उत्तम साधन है। विशेषतया जब सांस फूलता है तब अत्यंत लाभप्रद होता है। यदि इसका सही ढंगसे अभ्यास किया जाय तथा नियमित रूपसे इस पद्धतिसे प्राणायाम किया जाय तो यह कई रोगोंसे बचाता है। इस प्रकारके प्राणायामको उज्जायी कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य पांच छ प्रकार हैं। इनमें सूर्यभेदन और उज्जायी ठंडके दिनोंमें अनुकूल होते हैं तो शीतली, सीत्कारी गरमीके दिनोंमें अनुकूल होते हैं। भस्त्रिका अनेक प्रकारके रोगोंको नाश करता है। प्राणायामसे बुद्धि तीव्र और कुशाग्र होती है। शरीर आरोग्य-संपन्न रहता है। हठ योगके अनेक ग्रंथोंमें इसका वर्णन किया गया है।

प्राणायाम प्रातःकाल, माध्यान्हकाल, सायंकाल तथा मध्यरात्रीके बाद करना चाहिए। किंतु प्राणायाम सदैव एकांतमें करना चाहिए। प्राणायाम करनेका स्थान अधिक तर खुला, तथा प्रकाशयुक्त हो। शुद्ध हो। चाहे जहाँ प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम करते समय सरल बैठना चाहिए। अनामिका और मध्यमा अंगुलिसे बायां नथुना और अंगुठेसे दायां नथुना दबाना चाहिए। तर्जनी अंगुलीका कहीं भी स्पर्श नहीं होना चाहिए। प्राणायामका समय धीरे धीरे बढाते जाना। समय बढ़ानेमें उतावलापन नहीं करना चाहिये। सारी व्यवस्था सहज हो। प्राणायामके इन आठ प्रकारके अलावा और दो प्रकार हैं। (१) सगर्भ (२) अगर्भ। संमत्र प्राणायाम सगर्भ कहलाता है और मंत्र रहित प्राणायाम अगर्भ कहलाता है। संमत्र प्राणायाम विशेष परिणामकारी होता है।

वैसे ही जब भूख लगी हो, प्यास लगी हो, नाक भरा हुवा हो, हर्ष शोक आदिसे मन उद्विग्न हुवा हो, नींद आ रही हो अथवा ठीक मल-विसर्जन न हुवा हो, ऐसे समय प्राणायाम नहीं

करना चाहिए। गलत प्रकारसे प्राणायाम करनेसे अनेक प्रकारके रोग हो सकते हैं। यह अपनी मूल-भूत जीवन शक्तिसे खेलना है। इसलिये इसके विषयमें पूर्ण विचार करके, पूर्ण जानकारी लेकर, किसी-सच्चे अनुभवीके मार्ग-दर्शनमें ही यह करना चाहिए। क्यों कि सही तरीकेसे प्राणायाम करनेसे जैसे सब प्रकारके रोग दूर हो कर शरीर संपूर्ण स्वस्थ और तेजस्वी हो जाता है वैसे ही गलत ढंगसे प्राणायाम करनेसे शरीर सदैवके लिये रोगोंका घर भी हो सकता है।

बंध——योग-साधनामें जैसे मुद्राएं हैं वैसे ही कुछ बंध भी हैं। प्राणायाम करते समय नवद्वारोंमें कुछ द्वार बंध करनेमें इन बंधोंकी आवश्यकता होती है। मूलबंध, उड्डियानबंध, जालंधर बंध इन्हे त्रिबंध कहते हैं और ये तीन प्रसिद्ध हैं। वैसे ही विपरीत करणी, वज्रौली, महाबंध, महावेधबंध, आदि बंध है जो शरीरशुद्धि, प्राणायामादिमें सहायक हो जाते हैं।

बुद्धि——स्वीकृत-गृहीत-बातमेंसे अनुमान करनेवाली जो शक्ति है, अथवा तर्कसे अनुमान अटकल-लगानेकी एक शक्ति। मनुष्य बुद्धिमान है कहनेमें यही सार है। बिना मनुष्यके अन्य पशुओंमें यह अनुमान करनेकी शक्ति नहीं है। फिर भी अधिक विकसित मानवेतरप्राणी कुछ अटकल लगाते हैं किंतु वह निम्न श्रेणीके-अविकसित-श्रेणीके मानवोंके समान होते हैं। विद्वानोंका यह मत है कि मानवी अनुमानमें आत्मज्ञान होता है और पाशवी अनुमानमें वह नहीं होता। पशु, मानवके समान कल्पना-चित्र चितारता रहता है इसका कोई आधार नहीं मिला।

बुद्धिका अर्थ करते हुए विद्वानोंने कहा है कि "जिस शक्तिसे मूलसत्यका बोध होता है वह अंतःस्फूर्त शक्ति ही बुद्धि है।" कुछ विद्वान कहते हैं "सर्वव्यापी तत्वके सहारे सभी बौद्धिक विचार एक करनेवाली शक्ति बुद्धि है!" यह व्यवहारिक बुद्धि से जो छोटे मोटे काम करनेमें आवश्यक होती है, भिन्न है। उपनिषदोंमें बुद्धिको जीवनका सारथी माना है। उपनिषदोंके अनुसार इंद्रियां घोडे हैं, मन उनकी रास है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और आत्मा रथी है। मनकी राससे इंद्रियरूपी घोडोंको वह अपने ध्येयकी ओर चलाती है। यदि सारथी अच्छा नहीं होता तो जैसे घोडे रथको मनमाने ले जाते हैं वैसे बुद्धि यदि आत्मस्थ न हो तो जीवन-रथ गढेमें जायेगा! सांख्यशास्त्रमें "महत्तत्व-संज्ञक बुद्धिको अंतःकरण" कहा है तो न्यायशास्त्रमें "आत्मा और अंतःकरणके संयोगजन्य समझ=ज्ञान" कहा है। किसी बातको जाननेके लिये आवश्यक शक्तिको बुद्धि शक्ति कहा गया है। सांख्य-मतके अनुसार बुद्धि एक तत्व है। प्रकृतिके सात्विक अंशसे बुद्धितत्वकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिये बुद्धिमें सत्वके प्रकाश और लघुत्व ये गुण हैं। निश्चय, बुद्धिका स्वरूप है। निश्चय करना बुद्धीका कार्य है। रजोप्रधान बुद्धि चंचल होती है। यह विकृत बुद्धि है। निश्चय टिक नहीं सकता। ऐसी बुद्धि अहंकारको उत्पन्न करती है। बुद्धि-जन्य इस अहंकारके भी दो प्रकार हैं। सात्विक अहंकार—धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्य। तामसिक अहंकार—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। बुद्धि जीवके भोगका प्रधान साधन है। बुद्धि प्रकृति-पुरुषके सूक्ष्म-भेदको दर्शाती है। बुद्धिसे ही मुक्ति और मुक्तिके भाव जगते हैं। ये भाव लिंग शरीरमें रहते हैं। सांख्यमतके अनुसार अविद्याके कारण बुद्धि वृत्तिको अपौरुषेय चैतन्यसे एकाकार माना गया है। बुद्धितत्वके सूक्ष्म भानके कारण ही "मै हूं" इसका ज्ञान होता है। किंतु पुरुष इस बुद्धिसे परे है। अविद्याके कारण ही बुद्धिमें आत्माका भान होता है। सांख्यमतके अनुसार बुद्धि अहंकार तथा मन मिलकर अंतःकरण बनता है। ज्ञानेंद्रियां और

कर्मेंद्रियां इसका साधन है । इन्ही साधनोंसे वह " बाह्य ज्ञान " प्राप्त करता है । इंद्रियां अंतःकरणका द्वार हैं । मन संकल्प-विकल्प करता है । बुद्धि निश्चय करती है और अहंकार मुझे ज्ञान हुवा ऐसा अनुभव करता है । अर्थात बुद्धि निश्चय करनेवाली शक्ति है । जब बुद्धि शरीर भावसे हठकर आत्म-रत होती है तब इसीमें चैतन्यका प्रतिबिंब ग्रहण करनेकी शक्ति आती है ।

गीतामें भी स्थितप्रज्ञ तथा स्थिरमति इन शब्दोंसे बुद्धिके विषयमें कुछ कहा है । वैसे ही " मिश्र-वचनोंसे मेरी बुद्धिपर मोहावरण क्यों डालता है ? " ऐसा प्रश्न पूछनेवाले अर्जुनको द्विविध निष्ठा सांख्य-निष्ठा और योग-निष्ठाके रूपमें सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि ऐसे बुद्धिके दो प्रकार कहे हैं । ऊपर सांख्य शास्त्रके अनुसार बुद्धि शक्ति अथवा बुद्धि तत्वका विवेचन किया ही हैं । उसके अनुसार चैतन्यका प्रति-बिंब ग्रहण करना अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करना बुद्धिका कार्य है अथवा आत्म-ज्ञान ही बुद्धि है । तथा गीतामें कर्म-कुशलता योग " कहते हुए आत्मज्ञानानुसार कर्माचरण की कलाको योग-बुद्धि कहा है । कला और शास्त्र दोनोंको समन्वय बुद्धिकी स्थिरता है जो ब्रह्म-निर्वाणका साधन है । कहीं कहीं कहा गया है " शुद्ध बुद्धि एक चिनारीकी भांति है, वह कितनी ही कम क्यों न हो अविद्या-राशिको जला देती है । " फल-निरपेक्ष कुशाग्रता " शुद्ध-बुद्धिका लक्षण है । किसी भी प्रकारकी फलापेक्षासे बुद्धि मैली हो जाती है । फलापेक्षासे बुद्धिकी निर्मलता नष्ट होती है । वह कभी चैतन्यका प्रतिबिंब ग्रहण नहीं कर सकती । कर्तव्य निश्चय, फल-निरपेक्षता, कुशाग्रता, निर्मल बुद्धिका लक्षण है जिससे ब्रह्मज्ञान होता है ।

वैसे ही ग्रीक तत्वज्ञ पहले पहले मानते थे विश्वका मूल-भूत तत्व सत्य है । उस सत्यका निश्चय करने-जानने-के लिये किया जानेवाला तर्क ही बुद्धि है । बुद्धि सत्यानुसंधानका साधन है । प्लेटो कहता है मूल-भूत-तत्व ईश्वरविषयक विचार है ! किंतु अरस्तूका कहना है " बुद्धिके मूलभूत-तत्व विश्व-व्यवस्थामें गूंथे हुए हैं । इसलिये विश्वको छोडकर सत्यका अनुसंधान करना असंभव है ! " अरस्तूका यह भी विश्वास है " मनुष्यमें प्राण इस ईश्वरी तत्वसे बुद्धि-तत्वका प्रवेश होता है । अन्य भौतिक तत्वसे नहीं । " वैसे ही वह " इंद्रिय संवेदनामेंसे बुद्धि निर्माण होती है " ऐसा सिद्धांत प्रतिपादन करता है । वह अपने सिद्धांत कहनेके लिये तर्कका ऐसा जाला बुनता है कि उससे छूटना कठिन हो जाता है । उसके तर्कोंका अध्ययन करते करते कुछ सिद्धांत निकलते हैं । वह भी बुद्धिके दो प्रकार मानता है एक निर्मल बुद्धि दूसरी समल बुद्धि ! मनुष्य अपनी निर्मल बुद्धिके बल-बूते पर विश्वके अंतिम सत्यको पा सकता है समल बुद्धिसे वह असंभव है । प्लेटो भी इस बातको स्वीकार करता है अरस्तूके मतसे " बुद्धि भी आत्माकी भांति अमर है । वह भौतिक शरीरका भाग नहीं । आत्माकी भांति उसका शरीरसे साहचर्य रहता है । बुद्धि मनुष्यकी मृत्युके बाद आकाशतत्वमें लीन होती है । इस प्रकारकी निर्मल-बुद्धिको वह आकाश तत्वसे जोडता है । किंतु समल बुद्धिको वह अन्य चार तत्वोंसे जोडता है । इस क्रियाशील बुद्धिको वह नाऊस कहता है । उसके मतमें जैसे शरीरमें पृथ्वी आप तेज वायू आकाश ऐसे स्थूलसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर ऐसे पटल हैं वैसे बुद्धिके भी हैं । नाऊस बुद्धिका यह सूक्ष्म तत्व है । वही ईश्वरको अनुभव करता है । वह आत्मकी भांति अमर हैं ।

उपनिषदमें भी एक स्थान पर इंद्रियां ईश्वरी वैभव देखनेके लिये जो सर्वत्र फैला है बाहर दौडती हैं ईश्वरके वैभव-दर्शनमें उलझे हुए इंद्रियोंको इस वैभवके स्वामित्वका भान कराकर उन्हे अंतर्मुख करना और आत्म-रत करना ही योग हैं और " वह हैं " इस अचल श्रद्धासे बुद्धिको

यह शक्ति प्राप्त होती है और फल निरपेक्ष निर्मल बुद्धि (नाऊस ?) उनको आत्मरत करती है। शायद अरस्तूका नाउस मेधा अथवा केनोपनिषदकी " उमा " हो जो इंद्रके शरीरस्थ इंद्र बुद्धि है-अंतरिक्षमें उठकर ध्यानस्थ होने पर ब्रह्मका रहस्य कहती है ।

बुद्धियोग——निष्काम कर्म-योगको बुद्धि-योग कहा गया है । बुद्धिको कर्म फलासक्तिमें न लगाते हुए कर्म करनेकी कुशलताको बुद्धि-योग कहा गया है । ईश्वर-चिंतनपूर्वक, ईश्वरेच्छा मानकर, प्राप्त कर्तव्य करके । उसमें या उससे किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं करना । ऐसे कर्म करते समय बुद्धिको ईश्वर निष्ठ अथवा ईश्वर चिंतनमें लीन रखना । इंद्रियों द्वारा बुद्धिको विषयोंके पीछे न पडते देना । यह बुद्धि योगकी साधना है । बुद्धिको विषय, कर्म कर्मफलादिमें लीन न होने देते हुए केवल ईश्वरसे जोडकर ईश्वर-लीन या आत्मलीन रखना ही बुद्धियोग है ।

ब्रह्म——ब्रह्म यह शब्द बृहद् बडा बहुत बडा जिससे बडा कुछ भी न हो ऐसे अर्थमें आया है । ऋग्वेदमें यह शब्द मंत्रस्तुति अथवा गूढ शक्ति इस अर्थमें आया है ऐसे विद्वानोंकी मान्यता है । किंतु उपनिषदकालमें ही इस शब्दका अधिक प्रयोग पाया जाता हैं । ओंकारको-प्रणवको-ब्रह्म वाचक माना है । शतपथ ब्राह्मणमें " परम तत्व " इस अर्थमें यह शब्द सर्वप्रथम आया है । आगे आगे ब्रह्म शब्दका अर्थ इतना व्यापक हो गया कि " यह सारा ही ब्रह्म है ! " ऐसे कहा जाने लगा । सारे विश्वके मूलमें जो तत्व हैं उसको ब्रह्म माना जाने लगा । इस तत्वके विषयमें उपनिषदोंमें अनेक सिद्धांत कहे गये हैं । ब्रह्मके विषयमें जहां चर्चा है उसको " ब्रह्म-विद्या " कहा गया है । उत्तर मीमांसाका जो ग्रंथ है उसका नाम ही " ब्रह्म-सूत्र " है । " अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा " यह इसका सबसे पहला सूत्र है । इस सूत्र ग्रंथ पर करीब २८ लोगोंने भाष्य लिखा है । जगद्‌गुरु आद्य शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धांत श्री श्री रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत सिद्धांत श्री श्री मध्वाचार्यके द्वैत सिद्धांत तथा श्री श्री वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैत सिद्धांतकी आधार शिला यही ब्रह्मसूत्र है । ब्रह्मके विषयमें श्री शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धांतके अनुसार ब्रह्म एक मात्र पारमार्थिक सत्य है । श्री शंकराचार्यके मतसे इस ब्रह्मको छोड कर और सब असत् है । यह ब्रह्म निर्विशेष तत्व है । यह सर्वव्यापी और चैतन्यमय है । यह स्वयं सिद्ध है । अज्ञानग्रस्त जीव इसको नहीं जान सकता । अज्ञानमुक्त जीव ही इसको देख सकता है । ज्ञान इसका साधन है ! ज्ञानसे " तत् त्वं असि " " वहे तू है ! " का अनुभव आता है ! वैसे ही श्री भास्कराचार्यके मतसे ब्रह्म ही इस विश्वका एकमात्र तत्व हैं । इसको जाननेका साधन आगम है । यह अद्वितीय है । जगतका उपादान कारण भी ब्रह्म ही है । कारण ब्रह्ममें ही कार्य ब्रह्म निहित रहता है । ब्रह्मके विषयमें अलग अलग दार्शनिकोंने इतना अधिक कहा है उन सबको देखनेसे " ब्रह्मका भ्रम " बढ सकता है । इसलिये उपनिषदकी शिक्षापद्धति अच्छी है । ब्रह्म मौन है । मौन ही ब्रह्मका वास्तविक रुप हैं । एक कबड संतने कहा है " बिना ओर छोरके लहर मारनेवाले आनंद सागरको शब्दके चम्मचसे कितना भार जायेगा ? और इसकी आवश्यकता भी क्या है ? मौन ही वास्तविक ब्रह्म ज्ञान है । "

ब्रह्मचर्य——सतत सर्वत्र ब्रह्मचिंतन जन्य श्रेष्ठ आचरण । विषय चिंतनसे अन्य आचरण होता है । जिसके जीवनमें ब्रह्म-चिंतन जितना अधिक उसके आचरणमें एक प्रकारकी प्रतिष्ठा उतनी अधिक आती है । उसको बाहरी भोगादिकी आवश्यकताका अनुभव नहीं होता । अपनेमें ही एक पूर्णताका अनुभव बढता जाता है । वह अपन आपमें सुखसंतोषका अनुभव करने लगता है । उसका मन सदैव प्रसन्न रहता है । उचटा हुवा नहीं रहता । इसलिए उसको मनोरंजनके लिए

बाहरी साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती जो आंतरिक अपूर्णताके कारण बाह्य-विषय चिंतनसे अनुभव होती है। ब्रह्मचर्य एक धनात्मक भाव और पूर्णताजन्य आचरण है। ऋणात्मक भावसे प्रेरित नकारात्मक आचरण नहीं। सदा सर्वत्र ब्रह्म चिंतनजन्य प्रसन्न मनका प्रकटरूप ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मभाव——आत्मा अथवा ब्रह्मकी कोई उपाधि नहीं। वह निरुपाधिक है। उस निरुपाधिक ब्रह्ममें अपनेको विलीन करके, स्वयं ब्रह्मरूप हो कर-निरुपाधिक हो कर-रहना ही ब्रह्म-भाव है। ब्रह्म-भावमें सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है बिना ब्रह्मका और कुछ नहीं इसका अनुभव करते हुए "सोऽहं" भावसे निर्विषय हो रहना ही ब्रह्मभाव है। "बिना ब्रह्मके और कुछ भी नहीं; मैं ही ब्रह्म हूं" इस भावसे मनुष्य द्वंद्वातीत और निर्विषय हो जाता है। सब कुछ मैं हूँ तब भला किससे राग करें किससे द्वेष करें? अथवा किससे डरें? ऐसी स्थितिमें साम्य-भाव जगता है जो ब्रह्म भावका प्रकटीकरण है! निरुपाधिक हो कर इस स्थितिमें रहना ही ब्रह्मभाव है।

ब्रह्मरंध्र——इसको दशमद्वार भी कहा गया है। यह मस्तक पर-तालूमें-रहनेवाला एक गुप्त छेद है। इसको सहस्त्रार भी कहा गया है। जब कुंडलिनी इस ब्रह्मरंध्र अथवा सहस्त्रारमें प्रवेश करती है तब आत्म-दर्शन होता है। वैसे आत्म-निष्ठ योगी शरीरत्यागके समय इसी ब्रह्मरंध्रसे प्राणोत्क्रमण करता है।

ब्रह्मसूत्र——ब्रह्मसूत्रोंको वेदांत कहते हैं। बादरायण इसका रचयिता है। व्यासने इन ब्रह्मसूत्रोंमें उपनिषदोंका सारा ज्ञान भर दिया है। एक ही शब्दमें ब्रह्म-सूत्रोंको "उपनिषदका सार सर्वस्व" कह सकते हैं। प्रत्येक सूत्रके मूलमें कई उपनिषदमंत्रोंका सार है। इन्हीं ब्रह्म-सूत्रोंके आधार पर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि संप्रदाय बने हैं। आद्य शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य श्रीमध्वाचार्य श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्योंने इन सूत्रोंपर भाष्य लिखे हैं। श्रीमध्वाचार्यके चरित्रमें इस प्रकारके २१ भाष्य और भाष्यकारोंके नाम मिलते हैं। ब्रह्मसूत्र अत्यंत प्राचीन ग्रंथ है। भगवद्गीतामें इस ग्रंथका उल्लेख है। इस परसे कह सकते हैं यह कि गीतासे भी प्राचीन है! इसके चार अध्याय हैं। इस पर आद्य शंकराचार्यका अद्वैतभाष्य आज प्राप्त भाष्योंमें सर्व प्राचीन है। इस ग्रंथ पर लिखे महत्वपूर्ण भाष्योंका विचार किया जाय तो शांकरभाष्य (ई. स. ७८८–८२०) भास्करभाष्य (नववी सदी) रामानुज भाष्य (बारहवी सदी) निंबार्कभाष्य (तेरहवी सदी) माध्वभाष्य (तेरहवी सदी) श्रीकंठभाष्य (तेरहवी सदी) श्रीकरभाष्य (चौदहवी सदी) वल्लभभाष्य (१४७९-१५४४) विज्ञानमुमुक्षुभाष्य (सोलहवी सदी) बलदेव भाष्य (अठारहवी सदी) शक्तिभाष्य (बीसवी सदी) इ.

ब्रह्मसूत्रोंमें ब्रह्म या आत्माके स्वरूपका विचार किया है। ब्रह्मसूत्रका ब्रह्म, निर्विशेष तत्व है। वह सर्वव्यापी चेतन है। यह स्वयंसिद्ध और स्वप्रकाश है। अज्ञानके कारण यह अनुभवमें नहीं आता। ज्ञानसे देख सकते हैं।

भक्ति——मोक्ष-प्राप्तिके अनेक मार्गोंमें एक मार्ग। इसके विषयमें इतना अधिक साहित्य है कि एक एक पुस्तकमेंसे सार-भूत एक एक वाक्य चुन लिया तो भी वह एक छोटीसी पुस्तिका हो जायेगी। इसके साथ ही साथ इस विषयमें इतने अधिक भ्रम हैं कि भक्तिका वास्तविक रूप समझना उससे अधिक कठिण है!

ईश्वरसे अनुरक्त होनेसे मोक्ष मिलता है यह भक्ति-मार्गका मुख्य प्रतिपादन है। यह ज्ञान और कर्मसे भिन्न मार्ग है। सभी वैष्णवसंप्रदाय भक्तिको आद्य-तत्व मानते हैं। यह भागवत धर्मका सार है। किंतु शैवोंने भी इस पर विचार किया है। शैव संतोंने भी यह साधना की है। उनकी भक्ति-साधनामें गहराईका अधिक अनुभव आता है।

भक्तिका अर्थ करते समय "परमात्मामें अनुरक्ति ही भक्ति है।" ऐसे शांडिल्यमुनिने कहा है तो "नारदने परमात्मासे परम प्रेमका रूप ही भक्ति" कहा है और पराशर "परमात्मासे पूजादि अनुराग ही भक्ति" कहते हैं। भक्तिके विषयमें ऐसे अनेक सूत्र कहे जा सकते हैं। किंतु सबका सार "परमात्मतत्वमें विलीनता" है। एक ही शब्दमें कहना हो तो "मेरा नाम मरे हरिका नाम रहे!" ही भक्ति है।

इस भक्तिके विषयमें अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारके अनुसंधान किये हैं। अनेक प्रकारके "अनुसंधानात्मकभ्रम" फैलाये हैं। कुछ विद्वानोंके मतानुसार "भारतमें भक्तिकी कल्पना अर्वाचीन है। वह ईसाई धर्ममेंसे हिंदुओंने ली है।" किंतु "ईसासे पूर्व कई सदियोंसे भारतमें भक्तिका विकास हुआ था और बौद्धधर्मकेद्वारा वह ईसाई धर्ममें गया!" यह दूसरे विद्वानोंने सिद्ध कर दिया है। इतने पर भी "वेदमें भक्तिके लिये कोई स्थान नहीं है!" कहनेवाले विद्वान भी कम नहीं है "वेद कोरा कर्मकांड है!" "वैदिकधर्म कर्मप्रधान है।" "उपनिषद ज्ञान प्रधान है!" आदि कहा जाता है। किंतु यदि "ईश्वरसे अपना कोई नाता जोड कर उससे अविभक्त होना" (भगवान रामकृष्ण परमहंस) भक्ति है तो ऋग्वेदका पहला सूक्त 'अग्निमीळे पुरोहितं' भक्ति सूक्त है! इस सूक्तका अंतिम मंत्र है-

देवा अग्नि सहज हो गम्य तू जैसे "पुत्रको पिता।"
कल्याण कर पास रहके॥

वैदिक ऋषि यहां अग्निको पिता मान कर अग्निसे अपने लिये "तू (मुझसे) सहज हो" ऐसे कहता है जैसे अबोध बालक अपने पितासे हाथ उठाकर "गोदीमें ले" कहता है। और यदि पिता गोदीमें नहीं लेता है तो धोती पकडकर ऊपर उछलता है! मानो वह कहता है "यह मेरा अधिकार है! आंख क्यों बताता है? सहज हो कर देख! प्रेमसे देख! मेरा अधिकार मुझे दे!" यह वैदिक ऋषिकी तेजस्वी भक्ति है। ऋग्वेदके कई सूक्तोंमें इस प्रकारकी तेजस्वी भक्तिका पावन दर्शन हो सकता है! भक्तिका अर्थ 'भगवानके सम्मुख दीन और भिखारी बन कर रोना ही नहीं है। "भक्त पुत्रभावसे, सखा भावसे, भगवानसे लडता भी है। जैसे संत तुकाराम कहता है" क्या तू समझता है तूने मुझे बनाया है? ना मैंने तुझे बनाया है। भक्त भगवानका बाप है! तू अपने चरण मुझसे छीन नहीं सकता! "यहां पर भी पिता पुत्र नाता है। ऋग्वेदके ऋषिके "देवा! तू मुझे सहज हो गम्य हो!" के आगेकी बात तुकाराम कहता है। इसी तेजस्वी भक्तिका और एक रूप है "तेरी मायाने सारे विश्वको लपेट लिया है किंतु तुझे मेरे हृदयने लपेट लिया है!" जैसे सारे परिवारको अंगुलियों के इशारे पर चलानेवाली गृहस्वामिनी लम्हेसे दूध मुहे बच्चेकी मुट्ठीमें रहती है! यह समर्पण-जन्य तेजस्विता है। भक्तिमार्ग अथवा भक्तियोग भावशक्तिसे परमात्म-प्राप्तिकी साधना है जैसे ज्ञानयोग बुद्धि शक्तिसे तथा कर्मयोग क्रियाशक्तिसे परमात्म तत्वको प्राप्त करनेके मार्ग हैं। वस्तुतः ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि जीवनके प्रथक् प्रथक् विभाग नहीं है।

जीवन एक अखंड प्रवाह है। बुद्धिशक्तिसे सत्यको जानना ज्ञान है तो जो जाना उसको आचरणमें लाना कर्म है। जैसे सच बोलना चाहिए यह जानना ज्ञान है और सच बोलना कर्म। और झूठ बोलना अज्ञान! वैसे ही परमात्म तत्वसे प्रेम करना भक्ति है, जिससे प्रेम किया जाता उसीका चिंतन करना (जो सहज है) ध्यान है, और जिससे प्रेम किया जाता, सदैव जिसका चिंतन होता है उसको जानना (यह भी सहज है) ज्ञान है। इसलिये ज्ञान, शक्ति, ध्यान, कर्म आदिमें एकता हैं। इनका संबंध ३६ का नहीं ३३ का है। एकके बाद एक सहज है।

भारतके धार्मिक अथवा आध्यात्मिक आंदोलनका इतिहास वेद-कालसे प्रारंभ होता है। इसका अर्थ इसके पहले कुछ नहीं था ऐसा नहीं किंतु इसके पूर्वकालकी विशेष कोई जानकारी नहीं ऐसे कहना ही सयुक्तिक होगा। प्राचीन वैदिक धर्मका आंदोलन यजन प्रधान-यज्ञ-प्रधान था। वहां यज्ञप्रधान कर्म था। इसका इतना अधिक सुव्यवस्थित "शास्त्र" बना कि इस "शास्त्र" से बाह्य ढांचेसे-परमात्माका ज्ञान होना असंभव है ऐसे मान कर जिसके लिये यज्ञादि किया जाता है उसका "ज्ञान" प्राप्त करनेके लिये "चिंतन" और अनुसंधान प्रारंभ हुवा। यह है उपनिषद्-काल। उपनिषद्काल ज्ञानप्रधान कर्मका काल है। निःश्रेयस प्रधान साधनाका काल रहा। किंतु इसमेंसे ज्ञानोत्तर जीवनमें कर्म आवश्यक या अनावश्यक? ज्ञानोत्तर संन्यास जैसे विचारोंने जन्म लिया। उसके बाद उपनिषद् प्रणीत निर्गुण निराकार ब्रह्मतत्वका आकलन-सर्व सामान्य लोगोंके लिये-असंभव होनेसे यजनप्रधान कर्मके स्थानपर भजनप्रधान या पूजनप्रधान कर्मका प्रारंभ हुवा। इसे भक्तिमार्ग कहा गया। इसमें सगुण अथवा साकार प्रतीक—यज्ञकुंडके स्थान पर मूर्तिकी-स्थापना हुई। यज्ञमें आहुति डालकर यज्ञ-शिष्ट खानेके स्थान पर मूर्तिके सम्मुख रखकर-नैवेद्य-करके प्रसाद खाया जाने लगा। भक्तिका भी एक तंत्र बना। शास्त्र बना। उसके बाह्य उपचार बने। आवरण बना। निर्गुण ब्रह्मके सगुण प्रतीक बने। निराकार तत्वके अलग अलग आकार बने। उसके अलग अलग पूजा-प्रकार बने। यजन प्रधान यज्ञकर्म पूजन प्रधान भक्ति-कर्म बना। भक्तिका तंत्र विकसित हुवा। उसके प्रकार बने। इस प्रकारकी भक्ति परंपरा भगवद्-गीतोत्तरकालमें विकसित हुई। इसे भागवत धर्म कहा गया है। विद्वानोंने इस भागवत धर्मके इतिहासका भी अनुसंधान किया है। इसका पहला नाम नारायणीय धर्म था। इसके आचार्य नरनारायण ऋषि थे। इसी धर्ममें, धर्म-परंपरामें श्रीकृष्णका जन्म हुवा। भगवद्गीता इसी नारायणीय धर्मका तत्वज्ञान कहती है! इसी भगवद्गीता तथा उसको कहनेवाले भगवान कृष्णसे भागवत धर्मका प्रसार हुवा।

यह काल ई. पू. १४०० साल माना जाता है। इन ३०००—३५०० सालमें इस भागवत धर्ममें अनेक परिवर्तन हुए। अनेक शाखा उपशाखाओंसे वह फैला यद्यपि आजभी उसके मूल-तत्व उसमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होते है। इस मूल एकेश्वरी भक्ति पंथमें उस समय प्रचलित योगादि साधन प्रणालियोंके अच्छे अंगोंको स्वीकार किया गया। उसके बाद भक्तिके तंत्र और व्यूहोंका विकास हुवा। वैष्णव आगम शास्त्रका विस्तार हुवा। फिर ई. स. ११ वी सदीमें श्रीरामानुजाचार्यने, बारहवी सदीमें श्रीमध्वाचार्यने, इसके बाद श्रीवल्लभाचार्यने अपने अपने ढंगसे भागवत धर्मका विस्तार किया। इस बीचमें श्रीभास्कराचार्य और श्रीनिंबकाचार्यने भी इस दिशामें पर्याप्त कार्य किया है। किंतु इसी बीच, महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वर महाराजने अपने ही ढंगसे नवोदित भागवत धर्मकी नींव डालकर उसका विस्तार किया। उपरोक्त आचार्य और ज्ञानेश्वर महाराजमें जो विशेष अंतर रहा वह, भाषाका रहा, आचार्योंने विद्वन्मान्य संस्कृत—भाषाका

सहारा लिया और ज्ञानेश्वर महाराजने लोक-भाषा या ज्ञानेश्वरके शब्दोंमें कहना हो तो "देशी" का आसरा लिया। आचार्योंने भक्तिका शास्त्र रचा। नव-विधा भक्तिके प्रकार (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन, (५) अर्चन (६) वंदन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन बताकर उसमें एक एक प्रकारका रूप दिखाते हुए भक्तिका तंत्र रचा! अर्चनके रूपमें अनेक प्रकारकी पूजा-पद्धतिका विकास किया। प्रातःकालमें कैसी पूजा करनी चाहिए, माध्यान्हमें क्या करना चाहिए, शामको कैसी पूजा करनी चाहिए, भगवानको अर्पण करनेवाला तुलसीदल किन अंगुलियोंसे पकडना चाहिए। अभिषेकके समय शंख कैसा पकडना चाहिए। एक या दो, सूक्ष्म सूक्ष्म नियमोंसे भक्तिको सजाया। वंदनमें भी! कब कैसा वंदन करना चाहिए, कब कब साष्टांग नमस्कार करना चाहिए, नमस्कारमें कौन कौन अंग भूमिको लगने चाहिए, यहां तक विवेचन किया! फिर उन्होंने पुराणादिमें खोज खोज कर किस प्रकारकी भक्तिसे किसका उद्धार हुवा! यह बता कर कहा। परीक्षितकी भांति श्रवण भक्ति करनी चाहिए, नारदकी भांति कीर्तन और प्रल्हादकी भांति स्मरण भक्ति करनी चाहिए, लक्ष्मीकी भांति पाद-सेवन करना चाहिए, अक्रूरकी भांति वंदन भक्ति करनी चाहिए, हनुमानकी भांति दास्य-भक्ति करनी चाहिए, अर्जुनकी भांति सख्यभक्ति करनी चाहिए, बलिकी भांति सर्वस्व समर्पण करना चाहिए!!" इससे भक्तिका वातावरण तैयार हुवा। उत्सवादि होने लगे। वैभव-प्रदर्शन हुवा किंतु भक्ति भाव जकड गया! भक्तिका धर्म बना किंतु उसकी आध्यात्मिकता गयी। भक्तिका तंत्र खिला किंतु मंत्र मुर्झा गया! भक्तिका प्रदर्शन खूप हुवा किंतु आत्म-दर्शन खो गया। ज्ञानेश्वर महाराजने भक्तिका तंत्र, जो बहिरंग प्रदर्शन करता है उसको छोड कर, भक्तिके मंत्र, हृदयको ले लिया। गीताका नौवा और बारहवा अध्याय भक्तिका रहस्य खोलकर बताता है। नौवे अध्यायमें भक्तिका हृदय है और बारहवे अध्यायमें उसके लक्षण। नौवा अध्याय कहता है "सर्वत्र मैं हूं" बारहवा अध्याय कहता है "इसलिये भक्तको सबसे द्वेषरहित होना चाहिए, सबसे प्रेमपूर्वक रहना चाहिए, कहीं भी अहंकार नहीं करना चाहिए, सुख दुःख सम मानना चाहिए, क्षमामूर्ति बनना चाहिए, समदृष्टि बनना चाहिए" आदि चोबीस गुणोंकी सूची है! भगवद्गीता पढते समय वे "केवल शब्द" से लगते हैं किंतु ज्ञानेश्वर महाराजने सैंकडो छंदोंमें उसका भाव-गांभीर्य और अर्थ-व्याप्तिका परिचय दिया है। ये चौबीस गुण सजीव हो गये हैं। वैसे ही तेरहवे अध्यायमें ज्ञानीके लक्षण कहे गये हैं। उसमें भी ज्ञानीके अमानित्व, अदंभ, अनहंकार, आदिका अर्थ कहनेमें पांच सात सौ छंद कहे हैं। "आचार्योपासना" इस एक शब्दका अर्थ कहनेमें तो "गुरु-भक्ति" वर्णन करते करते भक्तिके "आर्तभाव दास्य-भाव, सखा-भाव, वात्सल्य-भाव, मधुरा भाव" इन पांच भावोंका रहस्य खोलकर रख दिया है। साथ साथ, उपनिषदमें कही गयी अपनेको "गुरुसेवामें निःशेष कर" देनेकी परकाष्ठा बतायी गयी है! वैसे ही शिष्यको किस तरह अपनी क्रिया-शक्ति प्राण-शक्ति, बुद्धि-शक्ति, चिंतन-शक्ति, तथा भाव-शक्तिसे गुरु-हृदयको प्रसन्न करके अपना लेना चाहिए इसका भी दर्शन है। इस प्रकार "गुरुको सम्मुख रख कर सगुणोपासना" का रहस्य समझाया है। ऐसे करते समय मंदिर, मठ, पूजाके तांत्रिक विधि-विधानकी कठोर आलोचना अथवा उपरोधिक व्यंगादि नहीं हैं फिर भी नौवे अध्यायमें भगवानके मुखसे ही अर्जुनको इस प्रकारकी पूजा अर्चा विधि विधानयुक्त भक्तिका अत्यंत सौम्य शब्दोंमें व्यर्थता दिखाई है। यदि परमात्मा सर्वत्र है तो वृक्षलताओंमें भी है न? तब भला पेड भगवान पर खिले हुए फूल नोच कर पत्थर भगवान पर चढानेमें क्या स्वारस्य है?

वैसे ही, यद्यपि ज्ञानेश्वर महाराजने महाराष्ट्रमें नवोदित भागवत धर्मकी नींव डाली, फिर भी ज्ञानेश्वर महाराजकी गुरु-परंपरा शैव है। नाथसंप्रदाय शैवसंप्रदाय है। आज कल सर्वत्र भक्ति साहित्य अथवा भक्ति संप्रदायके रूपमें वैष्णव साहित्य और वैष्णव संप्रदाय ही प्रचलित है किंतु भारतीय संस्कृतिमें शैव संप्रदायका महत्व-पूर्ण स्थान रहा है। शैव संप्रदायमें भी भक्ति-साधना की गयी है। और उसमें अधिक गहराई है। शैव-भक्ति साधनामें उत्सववादिका बाहरी आंडबर उतना नहीं है जितना वैष्णव भक्ति साधनामें है किंतु आध्यात्मिक गहराई पर्याप्त है। शैव भक्ति "सज्जनोंके हृदयमें परमात्मा मान कर "भक्त देह ही मम देह कहता है शिवजी!" इस पर विश्वास रखती है। इस कारणसे वह "देह ही देवालय" मान कर "यह परमात्माके निवास योग्य हो!" इस प्रकारके प्रयासको भक्ति मानता है। शैवोंने दीक्षासे जीवन्मुक्तावस्था तक भक्ति साधनाको "प्रवास क्षेत्र" मान कर भक्ति साधनामें आनेवाले अनुभवोंके आधार पर भक्तिके छ पडाव-स्थल-माने हैं। तथा भक्तिके छ प्रकार माने हैं। किस स्थल पर किस प्रकारके अनुभव आयेंगे तथा कौनसा अनुभव आनेपर क्या करना? ऐसा साधनाक्रम कहा गया है जो अधिकतर आंतरिक चित्त-शुद्धिका है। वहां भक्तके लिये व्रत कहे हैं जो गुण-विकास प्रधान है जैसे गीतामें अद्वेष आदि हैं। शैव भक्तोंने पर्याप्त नाम महात्म्य गाकर भी "जैसे रोटी रोटी कहनेसे पेट नहीं भरता, दीप दीप कहनेसे प्रकाश नहीं मिलता" ऐसे उदाहरण देकर "केवल नाम जपसे कुछ नहीं बनता! भगवानका नाम जीभ पर लेनेके पहले, असत्य वचन छोड़ कर, कटु वचन छोड़ कर, पर निंदा छोडकर...... . जीभ शुद्ध करनी चाहिए! तभी वह जीभपर खेलेगा! फलेगा!!" ऐसे जीवन शुद्धिका मार्ग बताते हुए" पर-द्वेष छोड़ कर, सबसे प्रेमसे रहकर, परवित्त परदारापहारका विचार भूलकर.........हृदय शुद्ध होने पर "जप दैवत" हृदयमें स्थिर होगा!" आदि सिद्धांत अथवा विधि-निषेध बताकर भक्ति मार्गके छ पडाव बताये हैं। इन्होंने भक्ति-साधनाके लिये जो व्रत कहे हैं वे भी विचारणीय हैं। "परायी संपत्तिको न छूना व्रत है! तथ्योंको गलत न समझना और समझाना एक व्रत है! जो जो जैसे अनुभव होता है उसको निर्वचनासे वैसे ही व्यक्त करना एक व्रत है! अपने उपास्यसे एक निष्ठ रहना एक व्रत है!" इसी भांति उनका पूजा विधान है! वे कहते हैं "बिना इसके कोटि कोटि जप भी व्यर्थ हैं!"

इस प्रकार व्रतस्थ भक्तोंमें ऐक्य-भक्त, गीताकी भाषामें जो "मद्रूप" हुवा है सर्व श्रेष्ठ है। इसमें और परमतत्वमें कोई अंतर ही नहीं। इससे नीचे है शरण भक्त है। वह सर्वस्वी ईश्वर शरण है। उसने सब कुछ ईश्वरार्पण करके अपना कुछ नहीं रखा है। ऐसा भक्त सदैव ईश्वराधार होता है। अगर कुछ उसका है तो ईश्वर है। भूख-प्यास लगी तो वह ईश्वरको पेट दिखा कर रोता है! वह कहता है "तुझे पूजूंगा, तुझे गाऊंगा। तेरा स्मरण करूंगा। तेरा ही आधार चाहूंगा! तेरे बिना मेरा और कुछ नहीं!! तू है तू है तू ही है!!!"

ऐसे भक्तोंने आचार्योंसे प्रचलित "विधिविधान युक्त तांत्रिक पूजा अर्चाका" उपहास किया है। ऐसे भक्तोंने अपने स्वामीका परिचय देते समय "सर्वात्मक देव!" "जगदंतर्यामी!" "आदि पुरुष" आदि शब्दोंके प्रयोग किये हैं। तथा जैसे देव-भक्त हैं वैसे देश-भक्त भी हैं। देव तथा देश इसका विचार छोड दिया जाय तो भी पतिभक्ति, परिवारभक्ति, ध्येयभक्ति, भक्तिके ये अनेक प्रकार हैं। किंतु किसी भी प्रकारकी भक्तिकी आधारशिला निष्ठा है। और उसके लिये आवश्यक सातत्यको टिकानेके लिये मनुष्यको कुछ गुणोंकी आवश्यकता है। वे गुणही भक्तिका हृदय है। इसके लिये बाहरी आवरणकी कोई आवश्यकता नहीं दीखती। दैवी गुणोंकी उपासना करसे

करते, अपनेमें दैवी गुण ला कर उनका विकास करते करते, मनुष्यको महादेव बनना है। मनुष्यका ऐसे महान बननेकी साधना ही भक्ति है। मानव समाजके पूर्वज अपनी थाथीके रूपमें जो आनेवाले मानवी समाजको देते आये हैं, भले ही वह समाज शैव हो, वैष्णव हो. हिंदू हो, मुसलमान हो, या ईसाई, पाश्चात्य हो या पैरात्य। सबके सब जगदंतर्यामीके भक्त है! क्यों कि वह जगदंतर्यामीसे अविभक्त है। अनेक कारणोंसे मनुष्य इस अविभक्तत्वका, एकताका अनुभव नहीं कर सकता इतना ही। इसी एकताके अनुभवके लिये मानवकुलने जो जो साधना की है उसकी संस्कार संपत्ति, आनेवाले वारसको दी है। ऐसे देते आये हैं। इसलिये भक्तिका इतिहास मानव-कुलके इतिहासके साथ जुडा हुवा है। भले ही देश-कालके अनुसार उसका बाह्यरूप बदलता गया हो। इसका अंतरंग एक है। वह है अपने हृदयांतर्यामीसे ऐक्यताका अनुभव करना। इस अनुभवसे जीवनमें पूर्णता आती है। वह जीवन सदैव आनंद-विभोर रहता है। यही मानव-जीवनका अंतिम साध्य है। सदैव, सर्वत्र, निरालंब शाश्वत आनंदमें लीन रहे!

भ्रूमध्य——दो भौवोंके बीचका स्थान। योग-मार्गमें इस स्थानका अत्यंत महत्व है। षट्चक्रोंमें यह आज्ञाचक्रका स्थान है। ज्ञानतंतुओंकी, अथवा इडा, पिंगला, सुषुम्नाके अतिरिक्त गांधारी, हस्तिजिव्हा, पूषा, पयस्विनी, अलंबुसा, कौशिकी, कुहू, शंखिनी, वारुणी, विश्वोदरी, सरस्वती आदि सूक्ष्म नाडियोंके उलझनसे बने हुए कमलकी ६ चक्राकृतियोंको योग-शास्त्रमें चक्र कहा है। कहीं कहीं कमल भी कहा गया है। मूलाधार चक्रसे-जो कुंडलिनी शक्तिका स्थान है—जागृत कुंडलिनी शक्ति जब सहस्रारकी ओर बढ़ती है तब उसके स्पर्शसे ये चक्र कमलसे खिलते हैं। इसको कुंडलिनीद्वारा किया गया चक्रभेदन अथवा षट्चक्र शोधन कहते हैं। दो भौवों के मध्य जो आज्ञाचक्र होता हैं उससे मेरुदंडस्थित सुषुम्नाका सीधा संबंध है। दो भौवोंका बीचका यह चक्र इसकी सीधमें, पीछे मेरुदंडके अंतिम छोर पर है। वह विद्युत् वर्णका है तथा इसकी दो पंखुडियां हैं। सद्गुरु इस चक्रकी देवता है। आज्ञाचक्रमें ध्यान करनेसे उपनिषदमें कहे गुरुहृदय निकटता, गुरुमें निःशेष होनेकी साधना सिद्ध होती है तथा गुरुकी इच्छाशक्ति शिष्यमें कार्य करने लगती है। इससे शिष्यका शिष्यत्व-प्रथकत्व-नष्ट हो कर गुरु-शिष्यके जीवनका समरसैक्य होते हुए साधक पूर्णावस्थाको पहुंचता है।

मन——ऋग्वेदमें विराट-पुरुषका वर्णन करते समय "चंद्रमा जिसका मन है!" कहते हुए मनके विषयमें अत्यंत सूचक ज्ञान दिया गया है ऐसे विद्वानोंको कहना है! चंद्रमा पर-प्रकाशित है। स्वप्रकाशित नहीं। वैसे ही मन है। वह परोपजीवी है! इसी मनके विषयमें कहा है "वह त्रिकालके विषयमें जानता है। मनके कारण इंद्रियोंसे सब काम होता है। जागृतिमें वह दूरातिदूर जाकर निद्रामें समीप आकर आत्म-दर्शनमें समर्थ होता है। वह इंद्रियोंका प्रेरक है। मनमें विश्वका सभी ज्ञान घर किया हुवा है। जैसे सारथी रथको सही रास्ते पर चलाता है वैसे यह मन इंद्रियोंको चलाता है। हृदयस्थ इसी मनके कारण सदैव युवावस्थामें रहता है। इसलिये मनको सदैव शुभ संकल्पसे युक्त रखना चाहिए!"

उपनिषदोंमें मनके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। उपनिषदमें कहा है "मन अन्नमय है और वह अन्नसे बना है। उसका अस्तित्व अथवा शुभाशुभत्व पचन क्रिया पर निर्भर है। मनुष्य जो कुछ खाता है उसका ठोस भाग मल बनाता है, मध्यम ठोस तत्वका मांसादि बनता है और अत्यंत सूक्ष्म जीवन-तत्वसे मन बनता है! दही मथनेसे जैसे उसमेंसे अत्यंत सूक्ष्म-भाग मक्खन

के रूपमें ऊपर आता है वैसे ! " यह छांदोग्य उपनिषद्का मंतव्य है। भारतकी कई भाषाओंमें " जैसे अन्न वैसे मन " वाला मुहावरा भी चलता है। भगवद् गीतामें भी " सात्विक, राजसिक, तामसिक आहारसे वैसे मन बनता है !" ऐसा कहा गया है। इसीलिये भारतीय विचारकोंने " नैतिक दृष्टिसे भी अन्नशुद्धिका विचार " किया है। उपनिषद् कहते हैं " पवित्र अन्नसे सत्व-शुद्धि होती है। सत्व शुद्धिसे स्मृति दृढ होती है। स्मृति दृढ होनेसे मनुष्य-मन-बंधन मुक्त होता है। "

उपनिषदमें कहा गया है " मनसे ही मनुष्य सुनता देखता है। मनसे ही वह संकल्प करता है। काम, चिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लाज, भीति आदि सब मनके ही रूप हैं। " मनोव्यापारोंका विवेचन करते समय ऐतरेयोपनिषदमें कहा गया है " संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, संकल्प, ऋतु, प्राण, जीवदशा, काम, आत्मसंयम, ये सब मनके अलग अलग नाम हैं ! " इसी उपनिषदमें उपरोक्त शब्दोंसे वर्णित मनके अनुभवोंका विश्लेषण भी किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषदमें " वृक्ष तोडने पर उसकी जड सजीव होनेसे जैसे वह पुनः जीवित हो उठती है वैसे मृत्युरूपी वृक्ष तोडनेवालेने बार बार तोडने पर भी बहर कर बढनेवाले इस जीवन-वृक्षकी जड़ कौनसी होगी भला ? " ऐसे प्रश्न करके " मनमें पूंजीभूत किये हुए संस्कार जिससे जीव पुनः पुनः शरीर लेकर आता है " ऐसे कहा गया है।

मीमांसा दर्शनके अनुसार मन अंतरिंद्रिय है। वह भौतिक है। मन स्वतंत्र रूपसे आत्म-गुणोंका ग्रहण कर सकता है। मनको आत्माके संयोगसे ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाहरी विश्वका ज्ञान होता है। न्यायदर्शनमें मनको अंतरिंद्रिय मानकर कहा गया है। " मनके द्वारा ही सुख दुःख राग द्वेषादि अनुभव होता है। मन अणु-परिमाण है। मन एक समय एक ही स्थान पर रहता है। आत्मा तथा इंद्रियोंके साथ न हो तो मनको कोई ज्ञान नहीं होता। मन शरीरमें रहता है। मरनेके साथ यह शरीरसे निकल जाता है। यह उपसर्पण कर्म कहाता है। यही मन अपने संस्कारोंके साथ आगे दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है। न्याय-दर्शनके अनुसार मोक्षावस्थामें भी मन आत्माके साथ रहता है। " इतना मनका महत्व है। दर्शनकारोंने मनको " संकल्प-विकल्पात्मक " माना है।

आधुनिक मानस-शास्त्री भी शरीर और मनका संबंध मानकर पचन-क्रिया और मनका संबंध स्वीकार करते हैं। अंग्रेजी भाषाकी " सुदृढ शरीरमें ही सुदृढ मन " कहावत प्रसिद्ध है। इसीलिये हठ योगमें मनको स्थिर करनेके लिये–शरीर पर ध्यान दिया है। वहां शरीर शुद्धिका अत्यंत महत्व है। उनका कहना है " संपूर्ण स्वस्थ शरीरमें ही सदैव मन एकाग्र रहता है ! " कुछ विद्वान मनको अग्नि-तत्वका अंश मानते हैं। तथा मन उसके विषय एक हैं। मनुष्यमें मन और आत्मतत्वका संयोग होनेसे ही मनुष्य अन्य प्राणियोंसे भिन्न है और अन्य कोई प्राणि नहीं कर सकते ऐसे महत्वके काम करता है। इसी कारणसे उसको ज्ञानेंद्रियोंकेद्वारा बाहरी विश्वका ज्ञान होता है। मानव और मानवेतर प्राणियोंमें इंद्रिय संवेदनकी सभी क्रियायें समान हैं। किंतु मनकी विचार करनेकी शक्ति मानवकी विशेषता है। शरीरस्थ मनका आत्मासे संबंध आता है, इसीसे वह ज्ञानेंद्रियोंसे प्राप्त ज्ञानके सहारे उसको स्मरणमें रखकर-विचार कर सकता है। विचार करनेका अर्थ अपने उस अस्तव्यस्त ज्ञानसंग्रहको जो इंद्रियोंके द्वारा एकत्र किया गया है तरतीबसे रखकर रूप देता है ! मनके दो प्रकार होते हैं। (१) क्रियाशील मन (२) निष्क्रिय मन। निष्क्रिय मन शरीरके साथ ही जन्म लेता है और शरीरके साथ समाप्त भी होता है किंतु क्रियाशील मन

चिरंतन स्वरूपका है जो संस्कार रूपसे पुनर्जन्ममें भी साथ जाता है। जीवनके सारे संस्कारोंको वह संग्रह कर लेता है। स्मरणके रूपमें वही विचारका साधन बनता है। मनुष्यकी सभी इच्छाएं, भावनाएं, विचार, विकार आदिका संघर्ष मनमें होता है और बुद्धि इन सबका विवेचन, विश्लेषण, तुलना, आदि करके तर्कसे अनुमान लगा कर निर्णय करती है। और जीवनको निश्चयानुसार चलाती है!

महत्तत्व——यह सांख्यका शब्द है। प्रकृतिके सात्विक अंशसे महत् तत्वकी-जिसे बुद्धितत्व भी कहते है-अभिव्यक्ति होती है। महत्को प्रकृतिकी विकृति भी कहा गया है। महत्में भी सत्व रज तम हैं। किंतु सत्व इसका प्रधान गुण है। सत्वका धर्म तथा प्रकाश इसके सूक्ष्म रूपमें निहित है। सभी गुण महत् तत्वमें परिणित नहीं होते। अंतमें-प्रलयकालमें-महत् तत्व त्रिगुणोंमें ही विलय होता है। जब महत्तत्व गुणत्रयमें लीन होता है तब वह बारह हिस्सोंमें बंटा जाता है। उसमें दस हिस्से शुद्ध सत्वमें तथ एक एक रजस् और तमस्में लीन होते हैं। फिर सृष्टिके समय इन्ही भागोंसे महत् तत्व बनता है।

महाशून्य——बौद्ध येणाचारमें अथवा बुद्धागममें शून्य अनिर्वचनीय है। बौद्ध दर्शनमें कहा गया है "जो इस शून्यको समझ सकता है वह सब कुछ समझ सकता है। तथा जो शून्यको नहीं समझता वह कुछ भी नहीं समझता!" यही सत्य हैं। यही अंतिम तत्व है। सारी सत्ताएं आंतरिक और बाहरी सत्ताएं-इसी शून्यमें लीन हो जाती हैं। यह शून्य सत् और असत्-अस्ति नास्ति-दोनोंसे विलक्षण है और सत् असत् दोनों शून्यके गर्भमें लीन हैं। शून्य अभावात्मक नहीं हैं क्यों कि इसी शून्यमेंसे समस्त विश्वकी अभिव्यक्ति है। यही परमपद है। इस शून्यका विवेचन करते समय कहा गया है

न है सत् या न है असत् जो दोनोंसे रहा भिन्न।
चारोंसे यह है मुक्त विज्ञोंका पद श्रेष्ठ है॥

कुछ विद्वानोंका कहना है कि इसी शून्यवादको लेकर आद्य शंकराचार्यने अपने अद्वैतवादका विकास किया है। किंतु ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें इसका दर्शन होता है जो कुछ भी नहीं था तब था और उसीमेंसे यह सब निकला है। वह भी अनिर्वचनीय है। कुछ नहीं था तब "वह" था ऐसे कहा गया है और नासदीय सूक्तका "वह" यहां शून्य हुवा है। दक्षिणके शैव संतोंने इस शून्यका उल्लेख किया है। शून्यको निःशून्य भी कहा है वह ज्ञानेश्वरीमें शून्य और महाशून्यके रूपमें आया है। सृष्टिकी रचनाका विचार करते समय "शून्यको शून्यमें बोकर शून्यकी फसल काटी!" ऐसा वर्णन है। यह सारा शून्य है और यह सारा ब्रह्म है। दोनों एक है, उपनिषदोंमें ब्रह्मका वर्णन करते समय भी "वह अनिर्वचनीय और सत् असत्से परे" होनेकी बात कही है। वहां ब्रह्मका वर्णन मौनसे है। मौनसे जिस प्रश्नका उत्तर दिया जाता वह ब्रह्म है!!

माया——कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि माया अथवा मायावाद श्रीआद्यशंकराचार्यके प्रतिभा-संपन्न मस्तिष्ककी कल्पना है! अथवा वह उन्होंने बौद्धोंके शून्यवादसे ली है! किंतु "मायावाद" की कल्पना उपनिषदमें मिलती है। इतना ही नहीं ऋग्वेदमें स्वयं "माया" भी मिलती है। ऋग्वेदमें कहा गया है।

मायासे–दीखता इंद्र आप विविध रूपसे !"

यहां माया एक आवरण है जिससे इंद्र विविध रूपसे दीखता है। आवरण की यही कल्पना ईशावास्योपनिषद्में—

आवृत्त है सत्यका मुख जो हिरण्यमय पात्रसे।
पूषा कर तू निरावृत्त सत्य–धर्म रतके हित ॥ १५ ॥

ऐसे ही १७ वे मंत्रमें ऋषि प्रार्थना करता है—

पूषा तू एकाकी ऋषि यम सूर्य प्रजापति
निरावृत्त कर तेरे रश्मि–व्यूह–समूहको ॥
परम-कल्याणमय रूप देख करता मैं
"वह पुरुषही मै हूं" ऐसी ही बोधानुभूति ॥

इसमें संदेह नहीं कि उपनिषद्में बार बार यह शब्द नहीं आया है किंतु माया के मूलमें जो कल्पना है उसको पर्याप्त मात्रामें देखनेको मिलती है। इतनाही नहीं आद्य-शंकराचार्यजीके मायावादके लिये आवश्यक सारी विचार सामग्री वहां विद्यमान है। इसके बाद गीतामें भी—

रहा है सब भूतोंके हृदयमें परमेश्वर।
मायासे ही चलाता जो यंत्रों पर चढा कर ॥

यहां भगवान अपनी मायासे सभी भूतोंको चलाता है तो गीताके सातवे अध्यायमें—

हीन मूढ दुराचारी मेरा आश्रय छोडके।
भ्रांत होकर मायासे पाते हैं भाव आसुरी ॥

मायामें भ्रांत हो कर भगवानको भूल जाते है।

माया शब्दका यहां एक अर्थ नहीं है। यहां मायाके भिन्न भिन्न अर्थ दीखते हैं। वेदमें जो इंद्रकी माया है वह इंद्रकी शक्ति है। ईशावस्यका हिरण्मय आवरण ईश्वरकी शक्ति है, और मुंडकोपनिषद्की गांठ है वह जीवकी माया है, जो अविद्या रूप है। प्रश्नोपनिषद्में भी इस प्रकारके आवरणका उल्लेख है जिससे जीव छल कपटादिमें लिपट जाता है। प्रश्नोपनिषद्का यह आवरण तथा ईशावास्यका रश्मिव्यूहसमूह एक है जिसके निरावृत्त करनेसे "वह पुरुषही मैं हूँ ऐसा बोधानुभव" होता है। यही श्री आद्य शंकराचार्यके मायवादका प्रेरणास्रोत है। यह "उसे" ढकनेवाला स्वर्ण पात्र-चमकीला है जिसके विषयमें, देखने वालेको मोह हो ! जो देखने वालेकी आंखोंको चौंधिया देता है ! फिर रश्मि व्यूह समूह है जो विविध नाम रूपसे बुना गया है ! इसी प्रकार कठोपनिषद्में, मुंडकोपनि षद्में, भिन्न उपमाएँ देकर "सत्य पर आवरण" होनेकी बात कही गयी है और इस "आवरणको" अविद्या अथवा "अज्ञान" नाम दिया गया है। आगे मुंडकोपनिषद्में इसे गांठकी उपमा देते हुए कहा है।

रहता हृदय गुहामें तू जान उस पुरुषको।
वहां है जो अविद्या ग्रंथी खोले बिन नहीं दीखता ॥

इसीलिये उपनिषद् विद्याको सामर्थ्य मानकर अविद्याको दौर्बल्य मानते हैं। अपने ही सामर्थ्यसे यह हृदय-ग्रंथी खोलनी पडती है। इसका भी वर्णन है।

" छूटती हृदय-ग्रंथी मिटते सब संशय "

कठोपनिषद्में एक स्थान पर इस " आवरण " अथवा " गांठको " अध्रुव अर्थात् अनिश्चित, असत्य, बदलने वाली, आदि कहा गया है। इस आवरणको " असत्य " कहा है। यह कहते समय अनेक उपनिषदोंमें अनेक उपमायें दी हैं। किंतु श्वेताश्वतरमें स्पष्ट रूपसे " माया " शब्द आया है। यहां पर " सतत ईश्वर चिंतनसे ईश्वरसे एकरूप होनेके बाद यह " माया " नहीं रहती ऐसा कहा गया है। वैसे ही ऋग्वेदकी " मायासे दीखता इंद्र आप विविध रूपसे " इस बातको पुनः बृहदारण्यक उपनिषद्ने भी कहा है। इतना विवेचन करने पर यह कहना आवश्यक नहीं रहता कि माया अथवा मायावाद आद्य शंकराचार्यके प्रतिभा संपन्न मस्तिष्ककी उपज नहीं है। गीतामें भी ईश्वर सबके हृदयमें बैठकर-यांत्रिककी भांति-सभी प्राणिमात्रको संसार चक्र पर घुमाता है। " ईश्वरी मायासे लोगोंका तत्वभाव नष्ट होकर वे आसुरी योनिमें जाते हैं ! " उपनिषद्का तथा गीताकी इन सब बातोंको लेकर गौड-पादाचार्यने " जगत एक दृश्य और आभास है " ऐसा कहा। इतना ही नहीं अपितु " जगत निर्माण ही नही हुवा !" ऐसा भी कह दिया। भारतीय तत्वज्ञानमें इसको अजात वाद कहते हैं। " विश्व है " ऐसा न मान कर विश्वका अस्तित्व ही अस्वीकार करनेसे इसके आवरणमें वह न दीखनेका प्रश्न ही नहीं रहता। इससे " द्वैत केवल माया है अद्वैत ही सत्य है !" यह बात भी मिट जाती है। जगतके विषयमें कहते समय गौडपादाचार्य कहते हैं " कुछ लोग कहते हैं विश्व ईश्वरकी महिमा है तो और कुछ लोग कहते हैं यह ईश्वरी कृति है; कुछ लोगोंके मतसे यह एक स्वप्न है तो कुछ लोगोंके मतसे यह भास है। कुछ लोग इसे ईश्वरकी इच्छा मानते हैं तो कुछ लोग ईश्वरकी भोग्य-वस्तु मानते हैं। कुछ लोग उसे ईश्वरकी लीला कहते हैं तो कुछ ईश्वरका स्वभाव मानते हैं। इन सब मतोंके विरुद्ध, जगत निर्माण ही नहीं हुवा ऐसे माननेवालोंकी बात ही सही है !! " गौडपादाचार्य और एक स्थान पर कहते हैं " जहां बोलना समाप्त होता है, सभी चिंताएं समाप्त होती हैं, तथा शांति और चिरंतन सत्य प्राप्त होता है वही परमश्रेष्ठ समाधि है। जगत सत्य है, यही जिनको सच्चा लगता है, तथा जिनको नीतिमार्गसे जाना अपरिहार्य लगता है, चाहे तो उन लोगोंके लिये प्राचीन ऋषियोंने जगत निर्माण हुवा है ऐसे माननेका सुझाव दिया है ! " इस प्रकार गौडपादाचार्यने " तत्वज्ञानकी दृष्टिसे " जगत निर्माण हुवा ही नहीं यह मानकर भी " नैतिक दृष्टिसे अथवा ईश्वर प्राप्तिके प्रयत्न सफल हो इस लिये " जगतका सातत्य स्वीकार किया है। और आद्यशंकराचार्यने उपनिषद् और गौडपादाचार्यसे ली गयी सभी कल्पनाओंके आधारसे अपने मायावादका ताना बाना बुना है। वे कहते हैं " सदसद् निर्वाचा स्वरूप-माया अनिर्वचनीय है क्यों कि वह न तो सत् हैं न असत्। वह तो एकका दूसरे पर आरोप है जैसे रस्सी पर सांपका आरोप है। सीप पर चंदीका भास है। " " अपने मनस्थितिके अनुसार आकाशमें भी मलिनत्वके भावकी कल्पना होती है ! " इसलिये शंकराचार्यके मतसे मायाका अर्थ " यह जगत केवल इंद्रियजन्य भास है जैसे मृगमरीचिका ! " अर्थात् शंकराचार्यके मतसे " मायाका अर्थ ब्रह्मके अधिष्ठान पर प्रतीत होनेवाला जगतका भास है ! ! " शंकराचार्यने " जगत एक कल्पना है। " " जगत एक शून्य है ! " कहनेवालों पर अत्यंत कठोर प्रहार किये हैं। शंकराचार्यके मतसे " केवल इंद्रियोंकी दृष्टिसे-सिद्धांततः अथवा तत्वतः या परमश्रेष्ठ सत्यकी दृष्टिसे नहीं-जगतकी सत्यता स्वीकार है ! ! " जगतकी ओर देखनेकी शंकराचार्यकी पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टि भिन्न है।

काश्मीर शैवोंने-शैवागमोंमें-मूलतत्व पर जो आवरण है उसको माया कहते हुए उसको पंचकंचुक पंचावरणयुक्त-माना है। वे कंचुक अथवा आवरण हैं कला, विद्या, राग, काल और नियति। इनके कारण मूलतत्व आवृत्त रहता है।

द्वैतसिद्धांतानुसार अविद्या अथवा माया अनादि है। ब्रह्मासे यह प्रकट हुई। पंचमहाभूतोंका तमोगुण इसका उपादान है। इस अविद्याकी पांच श्रेणियां हैं। मोह, महामोह, तामिस्र, अंधतामिस्र तथा तम। जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला, माया ऐसे इस-अविद्याके चार भेद है।

वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतके अनुसार ब्रह्मकी शक्ति–सदंशकी क्रियारूपा और चित् अंशकी व्यामोहरूपा माया है। यह त्रिगुणात्मिका है। यह जगतकी कर्तृत्वरूपा मायाका अंश है। यह जगदुत्पत्तिरूपमें आनंदरूपका कारण भी है। मायामें भी जगत् का कर्तृत्व भगवानकी इच्छासे ही है। ज्ञान और क्रिया दोनों भगवानकी शक्तियां हैं। चिदंशकी शक्ति व्यामोहिकाको-अविद्या अथवा माया कहा गया है।

मुक्ति अथवा मोक्ष——मुक्ति अथवा मोक्ष कोई स्थान नहीं किंतु एक स्थिति है। वह जीवनकी पूर्णावस्थाका अनुभव है। अपूर्णताका बोध ही दुःख है। "मैं पूर्ण हूँ" यह बोध होनेसे दुःख नाश और शाश्वत सुखका अनुभव होता है। सुख अथवा आनंद बाहरी साधन अथवा परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। वह निरालंब है। वह अपनेमें अपनेसे ही प्राप्त होनेवाला सुख है। तभी वह शाश्वत रूपसे मिल सकता है। यह शाश्वत सुखावस्था दो प्रकारकी है। एक जीवन्मुक्तावस्था, दूसरी विदेहमुक्तावस्था, बिना जीवन्मुक्तावस्थाके विदेहमुक्ति मिलना असंभव है। यह जीवन्मुक्तावस्था दो प्रकारकी है। पहिली क्षणिक, चित्तैकाग्रतासे ध्यान धारणाद्वारा समाधि लगा कर प्राप्त की जाती है। जब तक चित्त समाधिलीन है तब तक आनंदानुभूति। दूसरा सहजावस्थाका आनंद। यह सहज समाधि है! यह विश्वकी मूल-शक्तिमें समरसजन्य आनंद है। मन ब्रह्मलीन और इंद्रियां कर्मलीन! कहीं द्वैत भाव नहीं। यह दूसरी प्रकारकी जीवन्मुक्तावस्था है।

मनुष्यकी सभी संकुचित मनोवृत्तियोंके विलयके बाद "मैं और मेरा" भी नष्ट हो जाता है तब वह "परमात्म्य समरसैक्य" अनुभव करने लगाता है। यही वास्तविक जीवन्मुक्तावस्था है। उस समय वह "अपनेको पानीमें गलाकर नमकीनपनके रूपमें रहनेवाले नमककी भांति" रहता है! न रहनेका सा रहता है। एक बार ऐसी जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होने के बाद जब शरीर छूटता है तब विदेहमुक्ति अपने आप मिलती है [मीमांसादर्शनमें मुक्तिका विचार करते समय "प्रपंच संबंध विलयको मुक्ति" कहा गया है] शैव दर्शनके अनुसार स-शरीर मनुष्यको जब शिव-शक्ति सामरस्यका बोध होता है वह जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है। इसे चिदानंद प्राप्ति कहा गया है। ऐसा मनुष्य शरीर छूटनेके बाद परम-शिवमें विलीन हो जाता है।]

भेदाभेद दर्शनके अनुसार सभी उपाधियोंसे छूट कर जीवका अपने स्वाभाविक स्वरूपमें रहना ही मुक्ति है। इसके दो भेद हैं। सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति। ब्रह्मोपासना करनेपर जो मुक्ति मिलती है वह सद्योमुक्ति है और जो कार्यस्वरूप ब्रह्मके द्वारा मुक्ति मिलती है वह क्रममुक्ति है। वे लोग जीवन्मुक्ति नहीं मानते।

माध्वमतके अनुसार भक्ति ही मुक्तिका साधन है। केवल परमात्मकृपासे ही मुक्ति मिलती है। यह मुक्ति चार प्रकारकी है। सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य। माध्वोंमें मुक्तिको भी जीवका भोग माना है। मुक्तजीव संसारमें नहीं आते। ब्रह्मादि भी मुक्त हो जाते हैं और तब उनको सृष्टी आदिका व्यापार नहीं रहता।

वेदांतियोंकी मोक्षावस्थामें सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, ऐसी चार अवस्थायें हैं। जिस समय मनुष्य अपना मानवी रूप भूलकर उपास्य देवता रूप हो जाता है तब सारूप्यावस्था कहलाती है। वैसे ही वह अपने आपको मैं ईश्वरीय लोकमें हूँ ऐसे अनुभव करने लगता है तब सालोक्यावस्था कहलाती है। और वह अपनेको ईश्वरके समीप मानने लगता है तब सामीप्यावस्था कहलाती है तथा जब वह अपनेको ईश्वरमें लीन मानता है तब सायुज्यावस्था कहलाती है।

मुद्रा——योगविद्यामें कमरके ऊपरके भागको विशिष्ट स्थितिमें रखनेकी क्रियाको मुद्रा कहा गया है। प्राणायाममें उत्तम सिद्धि प्राप्त करनेमें इन मुद्राओंकी आवश्यकता कही गयी है। साथ साथ धार्मिक विधि विधानोंके समय अवयवोंका विशिष्ट आकारमें रखना भी मुद्रा कहलाता है। मुद्रा शब्द मुद् आनंदित करना इस धातुसे बना है। ऐसा माना जाता है कि ये मुद्राएँ १०८ हैं किंतु ये सब प्रचलित नहीं है। योग-संहिताओंमें सिंहमुद्रा, ब्रह्ममुद्रा, शांभवी मुद्रा, योगमुद्रा, काकीमुद्रा, महामुद्रा, षण्मुखीमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, शक्तिचालन, खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी आदि मुद्राएं प्रचलित हैं। योग-साधनामें इनका बड़ा महत्व कहा गया है।

मूलबंध——अपानवायूको ऊर्ध्वमुख करके प्राण वायूके साथ मिलाना इसका उद्देश्य है। सिद्धासनमें बैठ करके बाईं पैरकी एडीसे सीवन दबाते हुए गुदद्वारका संकोच करके जहां तक हो सके गुदद्वारको ऊपर खींचना चाहिए जैसे घोडा मलोत्सर्गके बाद ऊपर खींचता है। इससे प्राण अपानका संयोग होकरके सुषुम्नामें प्राणकी गति तीव्र होनेमें बडी सहायता मिलती है। प्राणापानके संयोगसे नाभीके नीचे जो त्रिकोणाकृति-वैश्वानर अग्निमंडळ-अग्निस्थान है वहां अपानका प्रवेश होता है। तथा जठराग्नि प्रदीप्त होता है। साथ ही साथ इस अग्निके प्रदीप्त होनेसे, प्राणापानके साथ वैश्वानरके सुषुम्नामें प्रवेश होता है जिससे सुप्त कुंडलिनी जागृत होती है।

प्राणापानका संयोग, अग्निस्थानका उद्दीपन, मलमूत्रका क्षय, सुप्तकुंडलिनीकी जागृति, अपानसिद्धि ये इस बंधके उद्देश्य हैं।

मेरुपर्वत——पुराणोंमें स्थान स्थान पर मेरु पर्वतका उल्लेख आता है। यह स्वर्ग मृत्यू पाताल इन तीनों लोगोंका आधार है। यह विश्वके मध्यभागमें होनेका भी उल्लेख है। इसको स्वर्ण-पर्वत भी कहा गया है। इस पर्वतके अंतिम शिखरको स्वस्तिक कहा गया है।

योग——अलग अलग लोगोंने अथवा व्यक्तियोंने इस शब्दका अलग अलग अर्थ किया है। जैसे गीतामें-योगको "कर्म कुशलता" कहा है। "आत्म-बुद्धिसे साम्य-दर्शनको योग" कहा है। पतंजलने "चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग" कहा है तो योग शब्दका धात्वर्थ "जुडना" है। किंतु साधनाकी दृष्टिसे साधक अपनी अन्यान्यशक्तियोंके सहारे आत्मदर्शन कर सकता है और इन भिन्न भिन्न पद्धतियोंके कारण अनेक प्रकारके अलग अलग योग कहलाते हैं। जैसे (१) प्राण-शक्तिके निरोध द्वारा शरीर और प्राण शुद्ध करके तद्‌द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना हठयोग अथवा प्राणयोग कहलाता हैं। (२) क्रिया शक्ति-द्वारा निष्काम कर्मकरके आत्मानुभूति करना कर्मयोग

कहलाता है। (३) चित्त शुद्धि करके चिंतन शक्तिद्वारा निर्वृत्त चित्तमें समाधिमें लीन होकर आत्मसाक्षात्कार करना ध्यानयोग अथवा राजयोग कहलाता है। (४) बुद्धि शक्तिद्वारा अपने आपको जानकर उसीमें लीन होना ज्ञानयोग कहलाता है। (५) और भाव शक्तिद्वारा आत्मासे निष्काम और निःसीम प्रेम करके तद्रूप हो जाना भक्तियोग। ये पांच महान योग हैं। इसके अलावा जप-सातत्यसे अपनेमें उठनेवाली शब्दतरंगोंद्वारा जीवन शुद्ध करते करते शब्द ब्रह्ममें लीन हो जाना जपयोग कहलाता है। तथा अनेक प्रकारसे कुंडलिनी शक्तिको जगा कर तद्द्वारा आत्मदर्शन करना कुंडलिनी योग कहलाता है। इन सभी योग साधनामें यम-नियम हित-मित आहार विहार, सतत ध्येय निष्ठ साधना, चिंतन और प्रयोग, स्वाध्याय आदिकी समान आवश्यकता है। बिना इसके कोई योग संभव नहीं है।

योगशब्दका धात्वर्थ जुडना है। कर्म करते करते स्वरूप लीन होता हो, अथवा चित्तवृत्ति निरोधसे स्वरूपमें लीन होता हो या भगवद्चिंतन करते करते स्वरूपमें लीन होता हो सब एक है। याज्ञवल्य ऋषिने "जीवात्मपरमात्मसंयोग ही योग" कहा है। किंतु जहां दो तत्व नहीं है एक ही तत्व है वहां कौन किससे जुडेगा? यह प्रश्न उठता है। इस प्रश्नका उत्तर देते समय अद्वैतानुभवी कहते हैं "योगका अर्थ चित्तकी निरुद्धावस्थामें स्फुरणरूप बिंबका अनुभव करना योग है!" किसी किसीने योगको मनोलय कहा है। योगमें प्राप्त समाधिका वर्णन करते समय अद्वैतावस्थाका सुंदर विवेचन किया हुवा मिलता है। पातंजल योगसूत्रोंमें कहे गये समाधिप्रकारोंके अलावा भी अन्य योग-ग्रंथोंमें अन्य अनेक समाधि प्रकार कहे गये हैं। अन्यान्य योग प्रकारोंके विवेचन इसी ग्रंथमें पाठक देख सकेंगे।

रस——रस दो प्रकारके हैं। एक षड्रस दूसरा नवरस। षड्रस विषय पंचकका एक विषय है। वह रसनेंद्रिय-ग्राह्य है। रसनेंद्रिय ग्राह्य षड्रस हैं मधुर=मीठा, आम्ल=खट्टा, लवण= नमकीन, कटु=तीखा, कषाय=कसैला, तिक्त=कडुवा। ये षड्रस रसनेंद्रियके विषय हैं।

ऐसे ही साहित्यमें नवरस कहे गये हैं। ये अंतःकरणकी वृत्तियोंके कारण अंतःकरणसे अनुभव किये जाते हैं। रसका अर्थ अंतःकरणकी टीस। अंतर्मनका खिंचाव अथवा चाह भी कह सकते हैं जो उसके अनुकूल परिस्थितिमें जैसे साहित्यवाचन, दृश्यदर्शन, कथा श्रवणादिसे-उद्दीपन होते हैं। ये रस नौ हैं। शृंगार, वीर, करुणा, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र और शांत। इन रसोंके स्थायीभाव भी और होते हैं।

राग-द्वेष——योगशास्त्रमें इन दो शब्दोंकी परिभाषा करते समय कहा गया है "सुख दायक बातोंका चिंतन, उस विषयक लोभ तथा आसक्ति राग है तो दुःख दायक बातोंके चिंतनसेद्वेष" उत्पन्न होता है।

राजयोग——अष्टांगयोग इस शब्दके विवेचनमें इसका बाह्यविवेचन आया ही है। यहां कुछ अंतरंगका दर्शन करना है। शरीरमें स्थित अणुमय चिच्छक्ति पर अपना स्वामित्व रख कर अनंत चिच्छक्तिसे समरसैक्य अनुभव करना इस योगका उद्देश है। जिस ब्रह्मको आदि मध्य अंतमें कहीं द्वैतका स्पर्श भी नहीं होता वही विजन है। विजनका अर्थ "एकांत स्थान।" जो साधनाका धरातल है। इस धरातल पर सभी भूतमात्रोंका जो जो अधिष्ठान है तथा सभी सिद्ध पुरुष जहां लीन होते हैं वह "सिद्धासन" डालकर योगारंभ होता है। सारे विश्वके मूलमें जो

ब्रह्म है, उसमें चित्तको लीन करना "मूल बंध" है। सर्व व्याप्त ब्रह्ममें सतत लोभ करना "शरीरकी अचलावस्था" है। ज्ञान दृष्टिसे सब ही ब्रह्ममय देखना "दृष्टि स्थिरता" नासिकाग्र दृष्टि है। सभी वृत्तियों पर स्वामित्व रखना "प्राणायाम" है। संसारका निषेध "रेचक" है और "निरंतर अहं ब्रह्मास्मि भाव कुंभक" अन्य विषयोंको त्याज्य मानकर "चैतन्यमें लीन रहना प्रत्याहार" है। जहां जहां मन दौडता है वहां वहां सब ब्रह्मदर्शन करना "धारणा" तो मैं ब्रह्म है इस वृत्तिका भी लोप "ध्यान" है। तथा सारी वृत्तियोंको लय करके ब्रह्म बनकर "मैं ब्रह्म हूँ" इसको भी भूलकर "केवल ब्रह्म ही रहना समाधि" है। आद्य शंकराचार्यने अपनी अपरोक्षानुभूतिमें राजयोगका यह अंतरंग दर्शन कराया है।

वर्णव्यवस्था——वर्णव्यवस्था भारतकी प्राचीनतम समाज-व्यवस्था अथवा समाज संघटन-पद्धति है। बृहदारण्यक उपनिषद्में "भूमि पर जो वर्ण-व्यवस्था है वह स्वर्गीय वर्णव्यवस्थाका प्रतिबिंब" कहा गया है तो ग्रीक तत्ववेत्ता प्लेटो कहता है "इस विश्वकी जो जो वस्तु है, व्यवस्था है, वह अत्यंत सूक्ष्मतम उच्च सृष्टिकी प्रतिकृति है!" गीतामें "स्वाभाविक गुण-कर्मके कारण मैंने वर्णव्यवस्था की है" ऐसा कहा है तो इससे प्राचीन पुरुषसूक्त वर्णव्यवस्थाका रहस्य कहता है। बृहदारण्यकमें यह भी स्पष्ट कहा है राजसूयज्ञ-यज्ञमें "ब्राह्मणोंको क्षत्रियोंसे नीचे बैठना चाहिए!" केवल भारतीय तत्वज्ञोंने ही समाज-व्यवस्थाके रूपमें वर्ण व्यवस्था मान्य की है ऐसे नहीं हैं किंतु यूनानके प्राचीन तत्त्वज्ञोंने भी इसका स्वीकार किया है। पाथेयगोरास यूनानका एक श्रेष्ठ और उच्चकोटीका तत्वज्ञ है। विद्वानोंने इसका काल ई. पूर्व ५८६—५०६ माना है। इसके संप्रदायका काल यूनानमें धर्मके पुनरुत्थानका काल। इनकी असामान्य बुद्धिमत्ताके कारण जनतापर भी इसका असामान्य प्रभुत्व था। पाथेयगोरास पंथके "डेलिअन" भारतके ब्राह्मणकी भांति त्यागप्रधान फकीर दीखते हैं। इनके विचारसे जीवन तीन प्रकारका होता है। पहला शास्त्रीय पंडितोंका-निऑरादिकल-लायक दूसरा व्यवहार-निपुणोंका-प्रॅक्टिकल लायक-तीसरा विलासियोंका-अपॉलस्टिक लायक। इनका डेलिअन लोग इससे भिन्न है। यहां गीताके "चार वर्ण सृजे मैंने गुण-कर्म विभागसे" का उद्धरण दे सकते हैं। इसके अलावा दूसरा प्रसिद्ध ग्रीकतत्वज्ञ प्लेटो भी-ई. पू. ४२७. ३ ७-अपने रिपब्लिकन्में समाजके सद्गुणोंके विषयमें लिखते समय समाजके लोगोंके तीन वर्ण विभाग करता है। १ शासकवर्ग, ज्ञान, चातुर्य, यह इस वर्गविशेषका गुण, ज्ञानके कारण ये राज्य शासन भली भांति चला सकते हैं। तर्कशुद्ध विचारके कारण समाजपर इनकी सत्ता चलती है। दूसरा शूर लडाउ लोगोंका। धैर्य और उत्साह इस वर्गविशेषका गुण है। तीसरा वर्ग अन्यनागरिकोंका। इनका गुण संयम और अनुशासन। इसके अलावा भी अथेन्स नगरमें और एक वर्ग था जो गुलामोंका था। यहां फिर एक बार गीताके "चार वर्ण सृजे मैंने गुण कर्म विभागसे!" का उल्लेख करना आवश्यक लगता है। साथ साथ अठारहवे अध्यायमें जो इन वर्णोंके कार्योंका विवेचन किया है वह भी उपरोक्त गुणोंसे मिलते जुलते किंतु उससे भी अधिक विवेचक है। न गीता या उपनिषदों की वर्णव्यवस्थामें या पाथेयगोरास पंथमें या प्लेटोके रिपब्लिकमें, कहीं भी जन्मतः वर्ण अथवा जाति प्रथाकी गंध भी नहीं है जो बादकी विकृति है। यदि पूर्व-ग्रहसे दूषित न हो कर स्वतंत्र रूपसे विचार किया जाय तो वर्ण-व्यवस्था उत्तमतम समाज व्यवस्था है जो किसी भी राष्ट्रका राष्ट्र-धर्म बन सके!

वाणी—वाणी चार प्रकारकी है। वैखरी, मध्यमा, पश्यंती, परा। इस वाणीके अलग अलग स्थान हैं। पश्यंतीका स्थान है जिव्हा। यह वाणी बोलनेवालेके अलावा दूसरे भी सुन सकते हैं। दूसरा स्थान है कंठ। यहांकी वाणी केवल बोलनेवाला ही सुन सकता है। यह सभी जानते हैं कि मनुष्य अकेला रह कर भी मन ही मन अपनेसे आप बोलता रहता है। यही वाणी मध्यमा कहलाती है। पश्यंतीका स्थान हृदय है। यहां अमूर्त विषय चुपचाप शब्दोंमें गुंथ जाते हैं। विचार यहां रूप लेते हैं। अथवा विचार आकार लेते हैं। वाणीकी यह निराकारत्वसे आकार पानेकी स्थिति है। मनुष्यके भाव, विचार. विकार आदि यहां रूप लेते हैं तभी मनुष्य स्वयं उसको जान पाता है। यह स्थिति पश्यंती वाणी कहलाती है। उसके पहले परावाणी है। संस्काररूपसे जो निराकार भाव पडे रहते हैं और इसका स्थान नाभी है।

विकल्प—कभी कभी यह शब्द संकल्पके साथ आता है। संकल्पका अर्थ कुछ करनेका निश्चय और विकल्प निश्चय करते समय होनेवाला तर्क वितर्क। संदेह। करनेसे वह काम होगा या न होगाका संदेह और तज्जन्य तर्क विकल्प है। परिणामस्वरूप भ्रम होता है। किंतु अलग अलग दर्शनकारोंने इसके अलग अलग अर्थ किये हैं। योगदर्शनमें विकल्पका अर्थ करते समय " शब्द-मात्रसे जिसका बोध होता है किंतु वह वस्तु कहीं नहीं रहती " जैसे " खरगोशके सींग या वंध्या-पुत्र ! " पूर्व मीमांसा-जैमिनीदर्शनमें, विकल्पका विचार करते समय " दोषमुक्त होने पर अगतिक स्थितिमें जिसका स्वीकार किया जाता है वह ! " ऐसे किया गया है। अर्थात् एकके स्थान पर वह नहीं मिलनेसे दूसरेका स्वीकार करना विकल्प है।

विज्ञान—गीतामें ज्ञान विज्ञान शब्द आया है। गीतामें " विज्ञान सहज्ञान " ऐसा शब्द प्रयोग आया है। ज्ञानका अर्थ केवल बुद्धि नहीं। आत्मानुभवमें बुद्धि पंगु है। आत्मा सर्व ज्ञाता है। इसलिए वह " अज्ञेय " माना गया। सर्व-ज्ञाताको भला कौन जानेगा ? किंतु वह स्वयं अपनेको जानता है न ? ज्ञानेश्वर महाराज उसको " स्व संवेद्य " कहते हैं ! आत्मानुभूति अथवा आत्म-दर्शनसे—मैं ही आत्मा हूँ इसका बोध होनेसे, अपने आपको जाननेसे-उस सर्वज्ञाताका ज्ञान होता है। आत्म प्रकाशमें आत्मदर्शन करना ज्ञान है और आत्मप्रकाशमें विश्वदर्शन करना विज्ञान। इसीको (?) उन्मनी स्थिति कही गयी है। वस्तुतः आत्मा अज्ञेय होकर भी वह अपनी अद्वितीय शक्तिद्वारा अपने आपको जानता है ! अपने आपको जानकर-उस ज्ञान दृष्टिसे-विश्वको जानना " विज्ञान सह ज्ञान " है। प्रापंचिक ज्ञानके साथ आत्मज्ञान, विश्वके ज्ञानके साथ विश्वात्माका ज्ञान, अथवा ब्रह्मांडके साथ ब्रह्मका ज्ञान विज्ञान सह ज्ञान है। अर्थात् विज्ञानका अर्थ प्रापंचिक ज्ञान और ज्ञानका चिरंतन आत्मज्ञान है।

विधि-निषेध—सभी धर्मोंमें " यह करना चाहिए " तथा " यह नहीं करना चाहिए " ऐसे कुछ नियम हैं। इसका उद्देश्य " चित्तशुद्धि " है। अर्थात् चित्तशुद्धिकी दृष्टिसे जो करना आवश्यक है वह विधि है तथा चित्तशुद्धिकी दृष्टिसे जो नहीं करना चाहिए वह निषेध है। विधि " क्या कैसा करना चाहिए " यह सिखाती है तो निषेध " क्या क्यों नहीं करना चाहिए " यह सिखाता है। क्या करना क्या न करना, तथा कैसे करना और क्यों करना यह जाननेसे मनुष्य विवेकी बनता है तथा " कार्य अकार्यका व्यवस्थित बोध " होता है। इससे चित्तशुद्धि हो कर वह

एकाग्र होने लगता है जो किसी भी योगकी पूर्व-पीठिका अथवा साधनाका धरातल है। इसलिए प्रत्येक धर्ममें इस प्रकार विधि निषेध कहे गये हैं। इसीको " धर्मानुशासन " कह सकते हैं।

विरक्ति-वैराग्य—योगशास्त्रमें चित्तवृत्ति विरोधके साधन कहते समय " अभ्यास वैराग्यसे उसका निरोध होता है " कह कर " वृत्तियोंका निरोध वैसे ही चित्त शांत रखनेका प्रयास करना ही अभ्यास " कहते हुए " दीर्घकाल तक यह अभ्यास करनेसे वही स्वभाव बनता है !" कह कर " सामने दीखनेवाले ऐहिक तथा शास्त्रोंमें कहे गये पारलौकिक भोगोंके विषयमें मनमें कोई भावना न जगना ही वैराग्य है " ऐसी वैराग्य शब्दकी परिभाषा की है। साथ साथ इस वैराग्यसे भी " पुरुषका–ब्रह्मका–ज्ञान होनेसे गुणात्मक भोगोंकी ओर उदासीन रहना ही श्रेष्ठ प्रकारका वैराग्य है ! " ऐसा कहा है। वैराग्यको मोक्षका साधन माना गया है। मोक्षके अन्य साधन भी वैराग्यसे प्राप्त होते हैं ऐसा शास्त्रोंका कहना है। संन्यास-धर्मकी दीक्षाका विचार करते समय " परम वैराग्य ही संन्यासकी परम स्थिति है ! " ऐसे कहा गया है।

किंतु वैराग्यकी स्थिति जाननेके लिये शास्त्रोंमें वैराग्यके प्रकार भी बताये हैं। मुख्यतया वैराग्यके अपर वैराग्य और पर वैराग्य ऐसे दो प्रकार हैं। उसमेंसे अपर वैराग्यके यतमान, व्यतिरेक, एकेंद्रिय, वशीकर ऐसे उपभेद भी हैं। इस वशीकर वैराग्यके मंद, तीव्र, तीव्रतर ऐसे तीन प्रकार हैं। मनु स्मृतिमें कहा गया है :—

वैराग्य मनमें आता विश्वके सब वस्तुसे।
तभी संन्यासकी सिद्धि न तो पतन निश्चित ॥

इसलिये विश्वके सभी वस्तुओंसे उनके भोगोंसे मन उदासीन होना चाहिए यही वैराग्य है। सब प्रकारके वैराग्यमें जो उत्कृष्ट तथा उत्कट प्रकारका वैराग्य है उसको परा-वैराग्य कहा है। ऐसे परा वैराग्ययुक्त मनुष्यको " परमहंस " दीक्षाका अधिकारी माना गया है। " परमहंस सदैव आत्मलोक या ब्रह्मलोकमें रहता है " ऐसा शास्त्र कहते हैं अर्थात् वह सदैव सर्वत्र ब्रह्म-चिंतनरत रहता है। उनके चिंतनमें ब्रह्मके अलावा और कुछ नहीं आ सकता। यही वैराग्यका अंतिम उद्देश्य है !

विषय—पांच ज्ञानेंद्रियोंसे मनको जो अनुभव आता है उसको विषय कहा गया है। पांच ज्ञानेंद्रियोंके पांच विषय हैं। कानोंके शब्द, आंखोंके रूप, जिव्हाके रस, त्वचाके स्पर्श तथा नाकके गंध। वस्तुके ज्ञानके लिये इन इंद्रियोंकी आवश्यकता है। इसलिये इन्हें ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। किसी वस्तुका ज्ञान करा देना मात्र इनका काम है। किंतु इंद्रियां इतना ही न करके " अपेक्षा करती हैं !" कान शब्दके लिये, आंख रूपके लिये, जिव्हा रसके लिये, त्वचा स्पर्शके लिये, नाक गंधके लिये " तरसने " लगते हैं। इस " तरसनेकी क्रियाको वासना मानकर " विषयवासना " अनुचित " कहा गया है। इंद्रियोंको कुछ प्रिय तथा कुछ अप्रिय लगता है। किंतु " प्रियाप्रियसे तटस्थ " रहकर विषयका ज्ञान मनको सौंपना इंद्रियोंका कार्य है। यह विरक्तिसे संभव है। इंद्रियोंका अपने अपने विषयोंके लिये तरसना, उनमें लिप्त हो कर प्रियाप्रियको अनुभवना आदिसे विषयोंका सही ज्ञान न होकर आत्मविस्मृति होती है। इंद्रिय-सुख ही महत्व-सा हो जाता है और उससे ऊंचे प्रकारके सुखका बोध नहीं होता। इसलिये इंद्रियनिग्रह कहा गया है। यह विषयोंका निषेध नहीं, किंतु विषयोंका सही ज्ञान होनेका साधन है।

शब्द-ब्रह्म—शब्द आकाशमें रहता है और कानोंसे ग्रहण होता है। वह ध्वनिरूप और वर्णरूप रहता है। मिटे हुए ओंठ खुलते ही ध्वनिरूप शब्द " प् " बन कर वर्णरूप हो आता

है। ध्वनि निकलते ही दश दिशाओंमें उसके दसों शब्द बन जाते हैं, आकाशमेंसे निकला हुवा ध्वनि आकाशमें विलीन होनेतक उसके कई शब्द बन जाते हैं। आकाशमें निकला हुवा ध्वनि तरंगोंके परस्पर संघातसे स्थूल अर्थ प्रेरक तथा सूक्ष्म भावोत्पादक शब्द बनते हैं। भाषा शास्त्र कहता है " सभी भाषाएं उपरी हैं। स्थूल हैं। किंतु जिसका वाच्य वाचक भाव स्वयंभू है ऐसी एक सहज भाषा है जिससे पशुपक्षियोंका हृद्गत भी जान सकते हैं!"

शब्दोंकी इस सूक्ष्म शक्तिके कारण उन्हे स्वतः प्रमाण माना है। आकाश तत्वसे पृथ्वी तक सूक्ष्म रूपसे शब्द समाया हुवा है! वह सूक्ष्म शब्द-नाद-उत्तरोत्तर स्थूल होते होते भाषाका रूप धारण करता है। यदि मनुष्य अपने श्रवणेंद्रियोंको सूक्ष्म बना लेता है तो विश्वाकाशके इन सूक्ष्म तरंगोंको भी सुन सकता है।

ऋग्वेदमें इसको कहा गया है। " पहले इस ओरकी-नामरूपसे संबंध जुडी हुई-भाषा सिखाई जाती है। किंतु इसके-इस भाषाके-उस ओरकी भाषा अत्यंत गूढ और श्रेष्ठ होती है वह दिव्य वाणी, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिको निरावृत्त हो कर अंगांग दिखाती है वैसे विश्वका रहस्य खोलकर दिखाती है!"

भाषा इन्ही सूक्ष्म शब्द तरंगोंका स्थूल रूप है, मानो निराकार शब्दब्रह्मका साकार उपास्य देवता है। इसीलिये प्राचीन ऋषियोंने कहा है " मनुष्यको बोलते समय विचार पूर्वक बोलना चाहिये। उसके शब्दतरंग आकाशमें सदैव रहते हैं जो हजारो सालके बाद भी कोई सुन ले!!"

" शब्द एक महान शक्ति है। ब्रह्म शक्ति है। विचार पूर्वक उसका उपयोग करना चाहिए!"

आकाश स्थित नाद लहरियोंके कारण ध्वनि लहरियोंका उलझकर एक रूप लेकर बनी हुई प्रतिमा ही शब्द है! किसी भी मनुष्यके शब्द मानो उस मनुष्य द्वारा बनाई गयी प्रतिमा है! मनुष्यको विवेकपूर्वक ऐसी प्रतिमा बनानी चाहिए। हो सकता है " शब्दमें सुप्त शक्तिके कारण उस प्रतिमाका अंतर्देह जागृत हो, जिसका सामर्थ्य वह रूप देनेवाले व्यक्तिसे अनंत गुणा अधिक है।" इससे वह शब्दप्रतिमा बनानेवालेको ही निगल जाय!

शिव-शक्ति——ज्ञानेश्वर नाथपंथी हैं। शिव-शक्ति सामरस्य नाथपंथकी अंतिम स्थिति है। शिवशक्ति दो तत्व नहीं हैं किंतु एक ही तत्वके दो पहलु हैं। जैसे दक्षिण और उत्तर ध्रुव एक ही पृथ्वीके दो छोर हैं। शिव-शक्ति विवेचनमें ज्ञानेश्वर महाराजने स्वर्ण और उसके गहने, कर्पूर और उसकी सुगंध, गुड और उसकी मिठास आदि उपमाओंसे इन दोनोंका संबंध बताये हैं। शिवशक्ति सामरस्यको ज्ञानेश्वर महाराज महायोग मानते हैं। सहज समाधि-द्वारा मनोलय करके इस सामरस्यका अनुभव लेना ही मुक्तावस्था है। शिवमें शक्ति और शक्तिमें शिव निहित है। इसका समरसैक्यानुभव ही अमृतानुभव है जो जीवनका एक मात्र उद्देश्य है।

षट्चक्र——योग-शास्त्रके अनुसार मनुष्यकी रीढमें सुषुम्ना नाडीकी राहमें मूलाधार चक्रसे आज्ञा-चक्र तक ज्ञानतंतूके छ चक्र अथवा कमल हैं जिनकी पंखुडियां हैं। योग-शास्त्रमें इन चक्रोंका अत्यंत महत्व है। ये चक्र अथवा कमल कुंडलिनीके स्पर्शसे खिलते हैं। नहीं तो बिना खिले ही रहते हैं। इन छ चक्रोमेंसे पहला चक्र मूलाधार कहलाता है, इसको आधारचक्र भी कहा गया है। शिश्न और गुदाकी सीवनमें पिछली ओर रीढके निचले छोर पर इस चक्रका स्थान है। इसका रंग लाल और पंखुडियां चार हैं। वैसे ही प्रत्येक चक्रका देवता होता है। उसके बीज भी

होते हैं। मंत्र भी होते हैं। कुंडलिनी इसी चक्रमें सुप्तावस्थामें रहती है। इस चक्रकी देवता गणपति है और वं, शं, सं, ये बीज हैं। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान कहलाता है। इसको लिंग चक्र भी कहा गया है। यह लिंगके पीछे रीढमें सुषुम्ना नाडीके रास्ते पर है। इसका रंग पीला है। इसकी छ पंखुडियां हैं। ब्रह्मा इसका देवता और बं, भं, मं, यं, रं, लं, इसके बीज हैं। तीसरा चक्र मणिपुर कहलाता है। इसको नाभिचक्र भी कहते हैं। यह नाभि स्थान पर किंतु पीठकी रीढमें सुषुम्नाके रास्ते पर आता है। इसका रंग नीला है। इसकी दस पंखुडियां है और इस चक्रका देवता विष्णु है। इसके बीज डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं ये हैं। हृदयके स्थान पर पीछे सुषुम्नाके मार्ग पर अनाहत चक्र है। इसका रंग शुभ्र है। इसकी बारह पंखुडियां हैं। तथा शंकर इसका देवता है। इस चक्रके बीज हैं कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं। इसीमें से अतींद्रिय अनाहत ध्वनि निकलती है। पांचवा चक्र कंठमणिके स्थान पर पीछे रीढमें है जो विशुद्धचक्र कहलाता है। यह धूम्रवर्ण, सोलह पंखुडियोंका है। जीवात्मा इसका देवता है और अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः इसके बीज हैं। छठा चक्र आज्ञाचक्र कहलाता है। इसको अग्निचक्र भी कहा गया है। यह दो भौंके मध्य रीढमें पीछे सुषुम्नाकी राहमें है। इसकी दो पंखुडियां हैं। हं, क्षं इसके बीज हैं। गुरु इसकी देवता है। यहींसे गुरु आज्ञा साधक पर प्रभाव डालती है। अथवा उपनिषदके अनुसार शिष्यकोशिष्यत्वको-निःशेष कर उसको अपने जैसे बना लेती है।

कुंडलिनी इन सभी चक्रोंका भेदन करके मूलाधारसे ब्रह्मरंध्र तक जाती है। योग साधनामें "बीज" का अत्यंत महत्व है। अलग अलग प्रकारके बीज जपके समय अलग अलग प्रकारके स्पंदनजन्य तरंग उठते हैं जो शरीरके भिन्न भिन्न स्थानको प्रभावित करते हैं। वैसे ही भिन्न भिन्न प्रकारके तरंगप्रवाह भिन्न भिन्न नाडियोंको प्रभावित करते हैं या भिन्न भिन्न नाडियोंको शुद्ध करते हैं। इससे अनायास और अज्ञात रूपसे मानसिक विकास और चित्तशुद्धिमें सहायता मिल सकती है। इनके अलावा भी अन्य अनेक बीज हैं और उन बीजोंमें विचार शक्ति निहित। बीज मंत्र जपके साथ उस प्रकारकी मंत्र शक्ति अथवा विचार शक्तिका विकास होता है। उपरोक्त बीजोंका उन उन चक्रोंकी देवताओंका अधिष्ठान और उत्थापनमें उपयोग होता है। योगमार्गमें ध्यान तो इन्ही चक्रस्थित देवता पर " चित्त केंद्रित " कर करना होता है।

षड्गुणैश्वर्य——यश, श्री, ज्ञान, औदार्य, वैराग्य, और ऐश्वर्य ये छ ईश्वरी गुण माने गये हैं। भगवान कहलानेके लिये इन छ गुणोंकी आवश्यकता है।

साथ ही साथ हरिवंशमें कर्तृत्व, नियंत्रण शक्ति, भोक्तृत्व, विभुत्व, साक्षित्व, सर्वज्ञत्व, तथा तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वातंत्र्य, शक्ति, प्रकाशन, अनंतशक्ति, और सर्वज्ञातृत्व, ये छ गुण-श्रीकृष्णमें थे ऐसे कहा गया है।

षड्दर्शन——भारतमें अनेक दर्शन हैं किंतु षड्दर्शन यह शब्द प्रसिद्ध है। इसमें " वैदिक और अवैदिक दर्शन " ऐसे भेद भी किये जाते हैं। ज्ञानेश्वरीमें जिन छ दर्शनोंका उल्लेख है वे हैं न्याय, वैशेषिक, वेदांत, बौद्ध, सांख्य, और मीमांसा। किंतु वैदिक दर्शनमें बौद्धदर्शनका उल्लेख नहीं होकर योगदर्शनका उल्लेख होता है। ज्ञानेश्वरीमें बौद्ध मत संकेत। वार्तिकोंका॥ ज्ञा. १-१२५ ऐसे उल्लेख होनेसे बौद्धदर्शन गिना है।

इसके अलावा चार्वाक, जैन, सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव, वैष्णव, स्कांद दर्शन भी हैं।

सुश्रुतमें कहा गया है कि—

कपिल सांख्यका कर्ता गौतम न्याय सूत्रका।
योगका पातंजली है योगीश्वर महामुनि।
मीमांसा जैमिनीका है वैशेषिक कणादका।
व्यास वेदांत कर्ता है स्वयं जो मधुसूदन॥

(१) न्याय दर्शनके ५ अध्याय हैं। उनमें १० आन्हिक और ८४ प्रकरण हैं। इन ८४ प्रकरणोंमें ५२८ सूत्र हैं।

न्यायसूत्रोंके रचयिता गौतम हैं। उसे अक्षपाद कहा है। उनका काल विद्वानोंने ई. पू. ६०० वर्ष माना है। इस पर अनेक विद्वानोंने भाष्य लिखे हैं। न्याय दर्शन तर्कशास्त्र है। ये ईश्वरको मानते हैं। यह वैदिक दर्शन है। मोक्ष इनका अंतिम साध्य है।

(२) कणाद वैशेषिक दर्शनका आद्य आचार्य है। इस दर्शनके दस अध्याय हैं। कणाद अणुवादी है। इसने अत्यंत योग्यतापूर्वक परमाणुका विवेचन विश्लेषण किया है। वे अणुओंके "पाकज क्रिया"–Chemical Action" के कारण विश्वोत्पत्ति हुई ऐसा मानते हैं। किंतु आगे वैशेषिकोंने ईश्वर माना है।

(३) वेदांतका अर्थ ब्रह्मसूत्र है जो उपनिषदोंका निचोड है। ब्रह्मसूत्रोंका वर्णन अन्यत्र किया है। ब्रह्मसूत्रोंमें ४ अध्याय हैं। १६ पाद हैं। कुल मिला कर १५ अधिकरण हैं और ५४५ सूत्र हैं।

ब्रह्म इसका अंतिम तत्त्व है। और मोक्ष अंतिम स्थिति।

(४) कपिलको सांख्यमतका मूल आचार्य माना जाता है। महाभारत और गीतामें सांख्य दर्शनका उल्लेख है। इस परसे यह दर्शन भी अत्यंत प्राचीन होनेका बोध होता है। इस दर्शनके छ अध्याय और ५२७ सूत्र हैं। सांख्योंने २५ तत्त्व माने हैं जो अन्यत्र दिये गये हैं। पुरुष इनका अंतिम तत्त्व है और कैवल्य अथवा मुक्ति अंतिम ध्येय है।

सांख्यमें ईश्वरवादी सांख्य और निरीश्वरवादी सांख्य ऐसे दो भेद हैं। ईश्वरवादी सांख्योंमें ईश्वर २६ वा अंतिम तत्त्व है।

(५) बौद्धदर्शन–बुद्ध इसका आदि पुरुष है। ई. पू. ५०० वर्ष इसका काल है। यह निरीश्वरवादी दर्शन है। बौद्धदर्शन आचारशास्त्र है। बुद्धके बादवाले उनके अनुयायियोंने उसको शून्यवाद और विज्ञानवादका गूढ-आध्यात्मिक-रूप देकर उसका दर्शन बनाया है। वैदिक पूर्व मीमांसाकी भांति मूल बौद्ध दर्शन कर्मकांड है।

बुद्धके विश्वास– १ सारा संसार दुःखमय है। २ दुःखोंका कारण है। दुःखानुभवसे उसके नाशका उपाय ढूंढ सकते हैं। ३ दुःखका नाश हो सकता है। ४ दुःख नाशके भी उपाय हैं।

दुःखके कारणोंको गिनाते समय बुद्धने निम्न कारणपरंपरा दी है।

(१) अविद्यासे संस्कार
(२) संस्कारसे विज्ञान,
(३) विज्ञानसे नाम रूप
(४) नाम रूपसे षडायतन-
(मन सहित पांच ज्ञानेंद्रियाँ)
(५) षडायतनसे स्पर्श
(६) स्पर्शसे वेदना
(७) वेदनासे तृष्णा
(८) तृष्णासे उपादान=राग
(९) उपादानसे भव=सांसारिक प्रवृत्तियां
(१०) भवसे जाति
(११) जातिसे जरा
(१२) जरासे मृत्यु

इस दुःख मुक्तिके लिये इस दर्शनमें अष्टांगमार्ग कहा है। वह है—

(१) सम्यक् दृष्टि = आर्य सत्योंका ज्ञान

(२) सम्यक् संकल्प = रागद्वेष हिंसादि सांसारिक विषयोंका त्याग-संप
(३) सम्यक् वाचा = सत्यवचनकी रक्षा, झूठ, दुर्वचन, निंदादि अनुचित वचन त्याग।
(४) सम्यक् कर्म = हिंसा, परद्रव्यापहरणादि दुष्कर्मोंका त्याग, सत्कर्मोंका आचरण।
(५) सम्यक् आजीव = न्यायपूर्ण जीविका कमाना। अन्याय जीविकाका त्याग।
(६) सम्यक् व्यायाम = बुरे कर्मोंका त्याग सत्कर्ममें उद्यत रहना।
(७) सम्यक् स्मृति=चित्तशुद्धि जीविकाका त्याग।
(८) सम्यक् समाधि=चित्तैकाग्रता।

इस बौद्ध मतमें हीनयान और महायान ऐसे दो बडे संप्रदाय हैं। बुद्धत्व प्राप्तिसे निर्वाण (जन्म मरणसे मुक्ति) इसका उद्देश्य है।

इस दर्शनका विपुल साहित्य है पालीमें और संस्कृतमें। इसमें बडे बडे दार्शनिक हो गये हैं। कुछ बुद्धसे पूर्ववर्ती हैं तो कुछ बुद्धके बादके।

(६) मीमांसा, इसको पूर्वमीमांसा कहते हुए वेदांतसूत्रोंको उत्तरमीमांसा कहनेकी परिपाठी भी है। इसका आचार्य जैमिनी है। इसलिये इसको जैमिनि दर्शन भी कहा जाता है। यह जैमिनीदर्शनभी बौद्धदर्शनकी भांति ही आचार संहिता है। पूर्व मीमांसा धर्म-दर्शन है।

मीमांसामें बारह अध्याय और २५०० सूत्र हैं। मीमांसाके विषय भी बारह हैं। ये हैं (१) धर्मजिज्ञासा (२) कर्मभेद (३) शेषत्व (४) प्रायोज्य-प्रयोजकभाव (५) कर्म-क्रम (६) अधिकार (७) सामान्य (८) अभिदेश (९) अह (१०) बाध (११) तंत्र (१२) अवाप। वेद ही इसका स्वतःप्रमाण है। इसके अन्य प्रमाणोंकी सूची बडी लंबी है। इसमें ब्राह्मण ग्रंथोंके विधिविधानों तथा निषेधोंको दार्शनिक रूप देनेका प्रयास है। मीमांसाको ईश्वर या परमात्माका कोई प्रयोजन नहीं है। इसने ईश्वर या परमात्माका खंडन नहीं किया इसलिए यह नास्तिक या निरीश्वरदर्शन नहीं कहलाता। यह संसारको जैसे है वैसे सत्य मानता है। यह मुक्तिको स्वीकार करता है। इसके भाष्यकारोंके कई मत हैं जैसे ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोंके अनेक भिन्न भिन्न मत हैं।

ज्ञानेश्वरीमें उल्लिखित षड्दर्शनके विचार करनेके बाद अब सुश्रुतमें कहे षड्दर्शनमें बचे योगदर्शनका विचार करें।

पातंजल मुनि इसका मूल आचार्य है। इसके भी (१) समाधिपाद (५१) सूत्र, (२) साधनापाद ५५ सूत्र, (३) विभूतिपाद ५४ सूत्र (४) कैवल्यपाद ३४ सूत्र हैं।

इनका रचनाकौशल्य अप्रतिम है। मानो एकमेंसे दूसरा सूत्र अपने आप निकलता है। इसका विवेचन करते समय—

समाधिपाद

योग उद्देश्य निर्देश उसके वृत्ति लक्षण।
योग उपाय प्रभेद भेद समाधिके कहे।

साधना पाद

योगका ज्ञान विज्ञान रोक और निवारण।
क्रम सह चित्त-मुक्ति उसके बाह्य साधन॥

विभूतिपाद

अंतर्साधनके साथ दिखाया है प्रभाव भी।
तथा संयमसे ज्ञान मिलता है विवेक भी॥

कैवल्य पादमें तीनों पादोंका सार भी कह।
कहा समाधिका पूर्ण रहस्य ध्येयके सह॥

इन चार श्लोकोंमें योग-दर्शनका सार कह सकते हैं।

संन्यासी—भारतीय आश्रम-धर्मानुसार चतुर्थाश्रम। यह आश्रम कब ग्रहण करना चाहिए? इसकी चर्चा करते समय शास्त्रकारोंने गृहस्थाश्रममें संतानोत्पादनद्वारा पितृऋणसे, अध्ययन अध्यापनद्वारा ऋषिऋणसे, यथाशक्ति यज्ञयागादि करके देवऋणसे मुक्त होनेके बाद, मोक्ष प्राप्तिके लिये संन्यास लेनेकी आज्ञा दी है। अर्थात् पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्य पूर्ण करनेके बादही मनुष्य संन्यास ले सकता है उसके पहले नहीं।

अपने तीनों ऋणसे मुक्त होनेके बाद जब तीव्र वैराग्य प्राप्त होता है, स्वामी रामतीर्थके शब्दोंमें भूख लगी तो अन्न, प्यास लगी तो पानी, देनेवाली ईश्वरी शक्ति पर पूर्ण विश्वास होता है तथा इन दो वस्तुओंके अलावा और किसीकी आवश्यकताका अनुभव ही नहीं होता तब–संन्यास-ग्रहण करना चाहिए–उसके प्रथम कदापि नहीं।

ऐसे दो प्रकारके संन्यास होते हैं। यदि स्वास्थ्य दुर्बल हो तो क्षेत्र संन्यास नहीं तो परिव्राजक।

संन्यासमें "परमहंस" श्रेष्ठतम स्थिति है। '' मैं" और ' मेरा" इसको जो अंतःकरणमेंसे भूल गया है वही संन्यासी है। परमहंस जीवन्मुक्तावस्था है। वह जीवनकी सहजस्थिति है। वह ब्रह्मलीन हो कर ब्रह्मरूप बना हुवा सोऽहं भावमें लीन रहता है। उसके विषयमें सर्वत्र अपना ही रूप दीखता है इसलिये वह द्वंद्वातीत सहज स्थितिमें रहता है।

सत्रहवींका स्तन्य—प्रश्नोपनिषद्‌में सोलह कला और उनके देवता बता कर इन कलाओं-द्वारा पुरुषमें पुरुषत्व आता है ऐसा कहा गया है। पुरुषकी वे सोलह कलायें और उनका देवता निम्न हैं—१, प्राण=वायु, २, श्रद्धा=भारती, ३, आकाश=गणेश, ४, वायु=प्रवाह ५ तेज अग्नि, ६ आप=वरुण, ७ पृथ्वी=शनैश्चर, ८, इन्द्रियाँ=सूर्य, ९ मन=रुद्र, अथवा अनिरुद्ध १० अन्न=सोम, ११ वीर्य=वरुण, १२, तप=पावक १३, मंत्र=स्वाह, १४ कर्म=पुष्कर, १५ लोक पर्जन्य, १६ नाम= उषा। पुरुषकी इन सोलह कलाओंके बाद सत्रहवी कला आत्म-तत्व है। सत्रहवींका स्तन्यः जो गुरुमाता देती है वह है आत्मतत्त्वबोध। अथवाव्योमचक्रकी आज्ञाचक्र (?) चंद्रामृतरूपी जीवनकला।

सप्तधातु—शरीरके घटक, देहस्थित रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, रेत ये सात धातु। इसके उपधातु भी हैं। रसका कफ, रक्तका पित्त, मांसका नाक, कान आंखमेंसे स्त्रवनेवाला मल, मेदका पसीना, अस्थिके बाल और नख, मज्जाकी स्निग्धता चिकनाई तथा रेतका ओज!

सांख्य-योग—गीताका दूसरा अध्याय सांख्य-योग कहलाता है। इस अध्यायमें तीन महत्त्वके सिद्धांत कहे गये हैं। आत्माकी अमरताके साथ अखंड सर्वव्यापकता। देहकी नश्वरताके साथ क्षुद्रता। स्वधर्मकी अबाध्यता। स्वधर्मका अर्थ निसर्गसे प्राप्त स्वकर्तव्य है। आत्माकी अखंडता स्वधर्मकी सहजता सिखाती है। जैसे जन्मके साथ मांकी निश्चिती होती है वैसे जन्मके साथ ही स्वधर्म जुडा रहता है तथा शरीरकी नश्वरता स्वधर्माचरणमें आनेवाले कष्टोंको शांत सहन करनेकी प्रेरणा देती है। शरीरका सुख दुःख अथवा शरीर नाशकी कोई कीमत नहीं जैसे मनुष्य कपडे बदलता है वैसे आत्मा शरीर बदलता है। तेरे कपडोंकी जो कीमत वही तेरे शरीरकी है यह सिखाती है शरीरकी नश्वरता।

शरीर केवल स्वधर्मका साधन है। इसी रूपमें उसका संभाल करना है। अधर्म और पर-धर्मका विचार न करते हुए केवल स्वधर्मका आचरण करना चाहिए। शरीरको क्षणिक मान कर उसको सतत स्वधर्माचरणमें लगाना, आवश्यकता हो तो उसीमें उसका त्याग भी करना और मनमें आत्माके व्यापक अखंड तत्वका भान रखते हुए स्व-पर भेद मिटा कर साम्य बुद्धिसे सम वर्तन करना, यह सांख्य ज्ञान है। इसको आचरणमें लानेकी कुशलता योग है। स्वधर्माचरण करते समय भी जो कुछ करना है वह फलकी इच्छासे नहीं करना। फल निरपेक्ष भावसे करना। पहले सांख्य-ज्ञान कह कर फिर उस ज्ञानका आचार-धर्म सिखाया है। आगे इसका परिणाम ? वह है स्थितप्रज्ञ सिद्धि। " सांख्य " ज्ञानके साथ " योग " की कर्म कुशलता बताकर गीतामें सांख्य-योग कहा गया है। इस योगसे स्थित प्रज्ञ स्थिति प्राप्त होकर " ब्रह्म निर्वाण " मिलता है यह कहा है। ज्ञान, कर्म और उसका फल इन तीनोंका विवेचन इस सांख्ययोगमें है।

साक्षित्व-साक्षीभूत——जीवनमें होनेवाली घटनाओंसे और घटनाओंमें अपनेको अलिप्त करके उनकी ओर देखनेकी वृत्ति तथा स्थिति। सुख दुःख निरपेक्ष भावसे तटस्थ अथवा मध्यस्थ रहनेसे यह संभव हो सकता है। वस्तुतः जीव द्रष्टा है। उसके अस्तित्वके कारण प्राप्त चैतन्यसे उसकी बुद्धि, उसका मन इंद्रियादि कार्यक्षम हैं। यह वस्तुस्थिति शरीरमें अथवा शरीरकी ओरसे चलनेवाली क्रियाओंसे पहचान कर उनकी ओरसे मध्यस्थ रहना उदासीन रहना साक्षित्व कहा जाता है। अपनेको अलग रख कर देखना अपनेको घटनाओंमें या घटनाओंसे उलझाकर परेशान होते हुए तमाशा देखनेवालेकी भांति तटस्थ रहनेकी वृत्तिको साक्षित्व कहा जाता है।

सुषुम्ना——सुषुम्नाको महानाडी कहा गया है। मानवी शरीर मानो नाडियोंका जाल है। उनमें सुषुम्ना सबसे महत्वकी नाडी है। यह मध्यनाडी है। यह रीढके बीचमेंसे जाती है। इसके साथ वज्रा और चित्रिणी ये दो अत्यंत सूक्ष्म नाडियां चलती हैं। ये दो नाडियां विद्युन्मा-लाके समान विलसती है। अर्थात् सुषुम्ना त्रिवेणीकी भांति है। यह पूरी पोली है। इसलिये सुषुम्ना कहलाती है यह सहस्रारसे मूलाधार तक फैली है। सहस्रारसे छोटा मस्तिष्क शिरोब्रह्म कहलाता है। शिरोब्रह्मके पासवाला भाग भ्रमरी अथवा गुंफावेणू कहलाता है। उसके बीचवाला भाग सुषुम्नाकंद है। सुषुम्नाकंद सुषुम्नाके ऊपरका सिरा है। वहांसे रीढमेंसे पतली पतली हो कर यह मूलाधार तक गयी है। सुषुम्नाका नीचेका सिरा बडा पतला होता है। सुषुम्नाकंद और सुषुम्नाका नीचेका सिरा देखा जाय तो ऊपरका हिस्सा सांपका फना और नीचेका सांपकी दुम-सा है। वहां इससे अन्य अनेक नाडियां मिली होती हैं। नाभिचक्रके पास अनेक नाडियां सुषुम्नासे मिली हैं। सुषुम्नाकी एक ओर सहस्रार तथा शिरोब्रह्मसे जुडा हुवा सुषुम्नाकंद है तो दूसरी ओर स्वाधिष्ठानसे संलग्न इसका सुषुम्ना-मुख है। सुषुम्नाकंदसे सुषुम्नामुख तक यह रीढकी गुहामेंसे रीढके पोलेमेंसे-चलती है। उसके साथ वज्रिणी और चित्रिकणी गूंथी गयी हैं जो अत्यंत सूक्ष्म हैं। ये नाडियां भी पोली हैं। इसलिये इसे त्रिगुणात्मिका कहते हैं। सुषुम्ना गर्दनके पास विशुद्धि चक्रके पास जाकर अंतर्मुख हो कर सहस्रारतक जाती है और वहां वह शंखिनी कहलाती है। रीढमें नीचे जो सुषुम्ना है वह कुंडलिनीके साथे जुडी है और वहांसे वह टेडीमेडी आज्ञाचक्र तक जाकर फिर ऊपर ब्रह्मरंध्रसे जुडी है। इस प्रकार यह ब्रह्मरंध्रसे कुंडलिनी स्थान तक फैली है।

इसके साथ इडा पिंगला-रीढके बाहरी ओरसे-चलती हैं। पिंगला दाहिनी ओरसे और इडा बाईं ओर से। पिंगलाको सूर्यनाडी और इडाको चंद्रनाडी कहा जाता है। ये दोनों मूलाधारके पाससे-गुदाकंदके अंतर्भागासे निकल कर सभी नाडीचक्रोंसे लपेटते हुई नासिका तक गयी है।

योगीजन अथवा सिद्धपुरुष, बिन तारायंत्रसे संदेश पहुंचानेवालोंकी भांति अपने शिष्य साधकोंको इसी सुषुम्नाके द्वारा आवश्यक संदेश देकर उनके जीवनमें परिवर्तन करा देते हैं। इसी सुषुम्नाकेद्वारा ज्ञानसंपादत किया जाता है तथा ज्ञानदान भी होता है। यद्यपि सामान्य लोगोंके लिये यह मार्ग बंद है (!) योगी आज्ञा-चक्रको प्रभावित कर अपनी शक्तिसे साधककी कुंडलिनी जागृत कर देते हैं इस क्रियाको योगमें शक्तिपात कहा जाता है।

छैतीसवा——जैसे सांख्योंके मतसे विश्वके पच्चीस तत्त्व हैं वैसे शैव तत्वज्ञोंके मतसे विश्वके छैतीस तत्त्व हैं। उन छैतीस तत्त्वोंका नीचेसे ऊपर तक (१) अचित् तत्त्व अथवा अशुद्ध तत्व (२) विद्या-तत्व अथवा शुद्धाशुद्ध तत्त्व (३) चित् तत्त्व अथवा शुद्ध तत्व ऐसे तीन प्रकार हैं। अशुद्ध तत्व २४ ५ पंचमहाभूत, ५ तन्मात्राएं ५ कर्मेंद्रियां ५ ज्ञानेंद्रियां २१ मन २२ बुद्धि, २३ अहंकार २४ त्रिगुणात्मक प्रकृति शुद्धाशुद्ध विद्यातत्व ७ १ पुरुष, २ विद्या, ३ राग, ४ नियति ५ काल ६ कला, ७ माया और शुद्ध अथा चित् तत्व ६ शुद्धविद्या, २ ईश्वर, ३ सदाशिव, ४ शक्ति, ५ शिव ६ परशिव अथया परा संवित्—यह परा संवित् छैतीसवा परमोक्ष तत्व है।

स्मृति——भारतमें श्रुति और स्मृति दो प्रकारके धर्म-ग्रंथ हैं। वेदोंको श्रुति कहा गया है जो गुरुसे सुना और शिष्यने पाठ करके अक्षुण्ण रखा। स्मृति गुरुसे सुना और स्मरणसे अक्षुण्ण राखा और वे नियमादि चलते आये। गुरुमुखसे सुन कर स्मरण रखकर, आचरणमें लाये गये नियमोंके जो ग्रंथ हैं उन्हे स्मृतिग्रंथ कहा गया है जो २० हैं। (१) मनुकी मनुस्मृति (२) अत्रिकी अत्रिस्मृति (३) विष्णुकी विष्णुस्मृति (४) हारीतकी हारीतस्मृति (५) याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति (६) उशनाकी उशनास्मृति (७) अंगिराकी अंगिरास्मृति (८) यमकी यमस्मृति (९) आपस्तंबकी आपस्तंबस्मृति (१०) संवर्तकी संवर्तस्मृति (११) कात्यायनकी कात्यायनस्मृति (१२) बृहस्पतिकी बृहस्पतिस्मृति (१३) पराशरकी पराशरस्मृति (१४) व्यासकी व्यासस्मृति (१५) शंखलिखितकी शंखलिखितस्मृति (१६) बौधायनकी बौधायन-स्मृति (१७) दक्षकी दक्षस्मृति (१८) गौतमकी गौतमस्मृति (१९) शातातपकी शातातप-स्मृति (२०) वसिष्ठकी वसिष्ठस्मृकी।

ये सारे स्मृतिग्रंथ समय समय पर कही गयी भारतकी प्राचीन आचारसंहिता है। सामाजिक अनुशासन पद्धति है। इसमें भारतीय समाज शास्त्रके बीज निहित हैं।

हठयोग——ईश्वरसे जुडनेके लिये—आत्मासाक्षात्कारके लिये—हठसे शरीरको तैयार करनेकी क्रियाको हठयोग कहते हैं। इसमें शरीर शुद्ध रखनेके लिये षट्कर्म शरीरके प्रत्येक इंद्रियपर स्वामित्व रखनेके लिये मूलबंध आदिका अंतर्भाव होता है। किंतु हठयोगके ग्रंथोंमें कहा गया है।

चलता सूर्यसे हकार तथा ठकार जो चंद्रसे।
सूर्य चंद्रमका जो योग कहलाता हठयोग है॥

दाहिने और बाये नाकसे जो प्राण चलता है उस प्राणका योग हठ योग है। अपने श्वासोच्छ्वासका संयम कर सूर्यनाडी और चंद्रनाडीमेंसे चलनेवाली प्राणशक्ति पर स्वामित्व प्राप्त करना ही हठयोग है। प्राणशक्तिद्वारा आत्म-साक्षात्कार करके आत्मलीन होना हठयोग है जैसे भावशक्तिद्वारा आत्मलीन होना भक्तियोग और बुद्धिशक्तिद्वारा आत्मलीन होना ज्ञान योग है!



परिशिष्ट छटा

ज्ञानेश्वरीमें आये हुए कठिन शब्दोंका अर्थ ।

परिशिष्ट छटा

अंकुरना– अंकुर आना, अंकुआ फूटना.

अकर्ता– कर्मसे अलिप्त, कर्म-मुक्त, कर्तव्य रहित, करनेसे अलिप्त.

अकर्म– निषिद्ध कर्म, कर्म समाप्तिकी अवस्था, करके भी न करनेकी सी स्थिति.

अकल्पनाख्य कल्पतरु– कल्पना रहित ऐसी जिसकी प्रसिद्धि है ऐसे परमात्म प्राप्ति करानेवाला कल्पवृक्ष.

अक्रिय– क्रिया रहित.

अक्रोध– क्रोधका उपशमन, क्रोधका उदय न होने देना, क्रोधावेगको पचाना.

अखंड– खंड रहित. निरंतर, दीर्घकालतक, सदैव, सतत, नित्य.

अगाध– गहन, गहरा, कठिनाईसे प्राप्त होनेवाला. न समजनेवाला.

अग्निस्थान–योगशास्त्रमें कहा हुवा द्विदल चक्र जो भ्रुकुटिमध्यमें रहता है.

अग्र– नोक, आलंबन, अवधान, एकाग्र, नासिकाग्र आदि.

अग्रहार– ब्राह्मणोंको दी हुई भूमि, केवल ब्राह्मणोंका गांव.

अचक्षु– जिसकी आंखें नहीं.

अचरण– जिसके पैर नहीं.

अच्युत– अपने स्थानसे न गिरनेवाला. जहांसे चलन नहीं. जिसमें कच्चापन नहीं. निश्चल.

अंजनांचल–काजलका पर्वत.

अजत्व– जन्मरहितता, अजन्मत्व. स्वयंभू स्थिति.

अडगोडा– बदमाश जानवरोंके गलेमें बांधा जानेवाला अडंगा.

अडलंग– टेडामेडा, विचित्र, ऊंचानीचा, दुर्गम.

अंतरंग– अंतर्मुख, आत्मीय, गुह्य, अंतःकरण.

अंतर्यामी– ईश्वर, हृदयस्थ, अंतःकरणपर अधिकार रखनेवाला.

अंतवंत– नाशवान, जिसका नाश होता है वह.

अतिक्रूतकंदर्पसर्पदर्प– कंदर्परूपी सर्पका दर्प तोडनेवाला.

अतीत–अतिक्रमण किया हुवा, उस पार पहुंचा हुवा, जिसका स्पर्श न हो सकता हो ऐसा, पार करके गया हुवा.

अतींद्रिय– इंद्रियोंसे अगम्य, इंद्रियोंसे जिसका अनुभव नहीं होता हो वह.

अद्रोह– किसीका द्रोह न करना, प्राणिमात्रोंसे अविरोधी जीवन, स्पर्धा रहित जीवन.

अद्वय– दूसरे संबंधरहित.

अद्वयकमलिनी विकास– अद्वैतस्थितिरूपी कमलका विकास.

अद्वयबोधपुर– जहां अद्वयबोध होता हो वह स्थान.

अद्वयानुभव– एकत्वका अनुभव.

अद्वितीय–निरुपम,अनुपम,अकेला,एकमात्र, बेजोड, वैसा दूसरा कोई न हो.

अधिदैवत– अधिष्ठात्री देवता, अभिमानी, भोक्ता पुरुष, साहंकार जीवतत्व.

अधिभूत– साकारभूत सृष्टि, पंचतत्वसे बनने बिघडनेवाला सब, विनाशी जगत्.

अधियज्ञ– यज्ञाधिष्ठाता, शरीर भाव रहित आत्मा, स्थूल और सूक्ष्म यज्ञोंसे परिशुद्ध निरहंकारी पुरुष.

अधिष्ठान– आश्रयरूप भूमि, आश्रयस्थान, विशिष्ट अर्थ शरीर.

अधिष्ठि– अधिष्ठात्री

अधेय– न ध्यान करने योग्य.

अध्यात्म– आत्मनिष्ठ निरहंकारवृत्ति, आत्म संबंधी, आत्माकी सहजस्थिति, सहज नित्यत्व.

अध्वर– यज्ञ.

अनन्त- देशकालपरिच्छेदशून्य, अपरिच्छिन्न, जिसका अंत न हो ऐसा,

अनन्य- एकनिष्ठ, एकरूप, ईश्वरसे भिन्न अन्य कुछ भी न जाननेवाला, अनन्यचित्त, अनन्यभक्त अनन्यभाव आदि ऐसे शब्द आये हैं.

अनर्गल- व्यर्थ, अंडबंड, लगातार, अप्रतिहत.

अनवच्छिन्न- अखंड, अविच्छिन्न, अटूट,

अनवरत- अखंड, सतत.

अनवसर- कुसमय, अकाल, जब न होना चाहिए तब.

अनाक्रोश- आक्रोशरहित, बिना कटूक्तिके, सहज.

अनात्म- अचैतन्य, जड, असत् पदार्थ.

अनाम- जिसका कोई नाम न हो.

अनावरण- जिसपर कोई आवरण न हो, खुला.

अनावृत्त- प्रकट, निरावृत्त, खुला.

अनासक्त- असंग, कहीं न उलझाहुवा निर्लिप्त, न चिपका हुवा.

अनिल- वायु.

अनिष्ट- अमंगल, अकल्याणकारक, अशुभ.

अनुकार- प्रतिबिंब, अनुकरण.

अनुपम- उपमारहित, सर्वश्रेष्ठ, अत्युत्तम.

अनुभव, अनुभूति- प्रत्यक्षदर्शन.

अनुभवी, अनुभावी- प्रत्यक्ष दर्शन किया हुवा, साक्षात्कारी, मंझाहुवा, अभ्यस्त.

अनुमान- कयास बांधना, अटकल लगाना, समझना.

अनुरक्ति- प्रीति, प्रेम.

अनुष्ठान- कार्यारंभ, विधिवत् आचरण, शास्त्र-विहित कार्य, आराधना.

अनुसंधान- योग, तादात्म्य, तन्मयताके साथ किसीके पीछे लगना, खोज.

अनुज्ञाता- अनुमोदनकर्ता, आज्ञा देनेवाला.

अन्यथाज्ञान - विपरीत ज्ञान, उलटा समझना.

अपरिग्रह- व्यर्थ के अथवा अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह नहीं करना.

अपेक्षा- आशा, अभिलाषा, चाह, इच्छा.

अप्रमेय- अगम्य, प्रमाणोंसे जिसकी सिद्धि नहीं होती हो ऐसा.

अंभ- पानी.

अभय- नहीं डरना, निर्भय,

अभिचार- जारण मारण, जादू टोना, तोटका.

अभिलषित- इच्छित, फलाकांक्षी.

अभिभूत- व्याप्त, वशीभूत, पराभूत, विकल.

अभिव्यक्त-- प्रकाश किया हुवा, प्रकट.

अभीष्ट- इच्छित.

अभेदांतःकरण- एकत्वानुभूत अंतःकरण, समरसांतःकरण, हृदयसे एकत्वानुभव.

अभोक्ता- जो भोग न करता हो.

अभ्यास- मनोनिग्रहपूर्वक सतत अभ्यास, भली या अच्छी बातोंकी ओर विचार पूर्वक मनको लगाना, योग साधन, ईश्वरमें मन बुद्धि भावके अर्पणका सतत प्रयास, असद्वृत्तिका त्याग तथा सद्वृत्तिके स्वीकारमें विचारपूर्वक तत्परद्ता, अध्ययन.

अमनस्क- मनरहित, उदासीन, तटस्थभाव इच्छा रहित.

अमर्ष- क्रोध.

अर्घ्य- ईश्वरको, अथवा पूज्य व्यक्तिको गंध पुष्पादि डाल कर हाथ पर दिया जानेवाला पानी.

अर्चन- पूजा, आदर सत्कार.

अर्चिरामार्ग- देवयान, प्रकाशमय मार्ग ज्योतिर्मय मार्ग.

अर्धोन्मीलन-आधी खुली, आधा खुला.

अलकलट-बालोंकी लटें, बालोंका गुच्छ.

अलिप्त– किसी प्रकारका लगाव रहित, न रहनेका सा रहना, न करनेका सा करना.

अलौकिक–लोकोत्तर, अनोखा, यहां-जगतमें न मिलनेवाला.

अवधान– मनोयोग, एकाग्र, चित्तैकाग्रता.

अवधारना- विचारपूर्वक, स्थिरचित्तसे सुनना.

अवज्ञा– अनादर.

अविकार– विकार रहित.

अवहेलना–ध्यान न देना, उपेक्षा करना, अनादर करना.

अवांतर– इतर, अन्य.

अविकृत– न बदलनेवाला, अपरिवर्तित सदैव एकसा रहनेवाला.

अव्यक्त– अगोचर, न दीखनेवाला अप्रगट, न दीखनेवाली अवस्था, बीजभूत प्रकृति, निराकार ब्रह्म.

अव्यभिचार-अनन्यता, एकनिष्ठा, संपूर्ण रूपसे अर्पित.

अव्यय– अविनाशी, निर्विकार, नित्य, आद्यंत रहित.

अव्याहत– अवरोधरहित, निर्विवाद, सतत, ठीक.

अशुभ– अमंगल, कर्मबंध, अनिष्ट.

अशेष – अशेख– संपूर्ण, निःशेष, शेष न रहे ऐसा.

अष्टधाप्रकृति– पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, अहंकार

असंग– अकेला, एकाकी, अलिप्त, किसीसे किसी प्रकार न जुडनेवाला. विरक्त.

असंमोह – विवेक, मोह न होना, मोहरहित.

असलग – सरल, सुगम, आसान.

असिपत्र – तलवारसा पत्ता.

अस्ताचल – पश्चिम ओरका पहाड. सायंकालमें सूर्य वहां विश्रांति करता है ऐसी कल्पना है.

अहंकार ऊर्मिया – अहंकारके तरंग.

अहंकृतिभाव – अहंकार, मैंने किया है ऐसा भाव.

– आ –

आकलन – ग्रहण करना, अपने काबूमें करना बटोरना, सही ढंगसे समझना. व्यापना.

आंगिक – अंगके अवयव, शरीर विषयक.

आगम – तंत्रशास्त्र, परंपरासे चलता आया हुवा.

आगमोक्त – शास्त्रोक्त, आगम–साधना, शास्त्रमें जैसा कहा है वैसा.

आड – ओट, परदा

आड – कुंई, छांटा कुआ – मूलमराठी शब्द, प्रासके लिये लिया, और उसी अर्थका स्वीकार किया –

आडंबर – अवडंबर. ऊपरी दिखाव, फाल-तडक भडक.

आतप – धूप, उष्णता, गर्मी, उष्णता.

आत्मजा – पुत्री.

आत्मविद् –आत्माको जाना हुआ, आत्म-विद्या विभूषत, आत्मज्ञानी.

आत्मविद्विलास – आत्मज्ञानमें विलास करनेवाला.

आत्मानात्मविचार– जड चेतन विचार, आत्मअनात्मविचार.

आद्यंत– आदिसे अंत तक, आदिअंत रहित.

आधारचक्र आधारशक्ति– मूलाधारचक्र

आनंदमोद बहुल– आनंदरूपी सुवाससे भरा हुवा.

आनंदैककला– एकत्वके आनंद कला.

आप– आर्द्रता.

आपोशन– भोजनपूर्वका आचमन.

आप्त– अपने, नातेगोतेके लोग, किसी विषयको भलीभांति जाननेवाला, पूर्ण तत्वज्ञ, संदेहातीत ज्ञानी, ऋषि, विश्वसनीय. अनुभवी.

आमोदोन्माद– आनंदोन्माद, सुगंधसे होनेवाला हर्ष.

आयतन– घर, सदन.
आयास– श्रम, थकान.
आराधन– पूजन, उपासना.
आराध्य– जिसकी आराधनाकी जाती वह.
आराध्यलिंग– आराधना करनेयोग्य दैवत.
आरोगन– खाना, भोजन करना.
आरोहण– चढना.
आर्जव– सरलता, ऋजुता, निष्कपटवृत्ति.
आर्त– दुःखी, पीडित. व्यथित, दीन.
आर्तबंधु– दीनबंधु, पीडितोंको संकटमुक्त करनेवाला.
आलेख– लिपि.
आव्हाहन बुलाना मंत्रोंद्वार देवताओंका.
आवाहन– बुलाना चुनौती देना.
आव्हेर– मराठी शब्द, अस्वीकार, तिरस्कार.
आस– लालसा, लोभ.
आसक्ति– प्राप्त वस्तुके विषयमें ममता संग, अनुराग, लोभ.
आसरा– आश्रय, छिपकर रहनेकी जगह.
आसुरी– वृत्तिविशेष, ईश्वर विन्मुखता. भोगमयता. क्रूरकर्म, मूढता.
आस्था– उत्कट इच्छा, प्रेम, लगन, आदर, श्रद्धा.
आहुति– मंत्रोच्चारपूर्वक हवन करना, यज्ञमें अर्पण.

इ

इंद्रधनुष– मेघपर सूर्यकिरण पडनेसे दीखनेवाली रंगीन कमान.
इंद्रनील– नीलमणि एक नीलारत्न.
इंद्रनीलसुनील– इंद्रनीलके समान सुंदर नीला.
इंद्रियकंदन– इंद्रिय दमन, इंद्रिय निग्रह.
इंद्रियानल– इंद्रियरूपी अग्नि.
इष्ट– प्रिय, मनभाया. अग्निद्वारा प्राप्त भोग, हित कल्याण.

ई

ईप्सित– इच्छा किया हुवा अभीष्ठ.
ईश– नियामक, स्वामी, चालक.
ईशितव्य– नियमित किये गये नियम.

उ

उच्चैःश्रवा– अमृतमंथनके समय समुद्रसे निकलाहुवा घोडा. इसके सात मुख थे, यह सूर्यके रथमें जोडा गया; इसीसे सात वार माने जाते हैं.
उच्छेद– उन्मूलन, उखाडना, नाश करना.
उत्तुंग– ऊंचा.
उत्कंठोन्माद–उत्कटतासे पगलाना, लालसासे पगलाना, उतावलेपनमें आना.
उत्कर्ष– उन्नति, ऊपर उठना, समृद्ध.
उदास,उदासीन.–तटस्थ ऊपरकी सतह पर बैठा हुवा, अपेक्षा उपेक्षासे परे, उत् ऊपर. आसीन बैठा हुवा परस्पर विरोधी द्वंद्वोंसे ऊपरे उठा हुवा.
उद्विग्न– व्याकुल, उद्वेगयुक्त, व्यग्र.
उद्भिज– वृक्षादिक.
उद्बोध– जागृति, अल्पबोध.
उन्मत्त– पागल, मतवाला.
उन्मन– अनमना.
उन्मनि– मनरहित अवस्था.
उन्मेष– ज्ञानप्रफुल्लता, प्रकाश, प्रतिभा.
उन्मेषसागर-ज्ञानसागर, प्रकाशसागर आदि.
उन्मेख सुलोचन / **उन्मेखसूक्ष्मेक्षण** } ज्ञानरूप दृष्टि रखनेवाला.
उन्मेखसूर्यकांतस्फुलिंग-ज्ञानरूपी सूर्यकांत मणिकी चिनगारियां.
उपपत्ति– युक्तिवाद. हेतु, कारण, किसीका मेल बिठाना, मान्य होना.
उपराम– निवृत्ति, विरति, शांति विराम.
उपहिताकार–उपाधिविषयक चैतन्याकार.
उपासना– पूजा करना, पास बैठना, तदाकार होना, शास्त्रानुसार पूजा यज्ञादि करना.
उबग– उकतानेकी क्रिया. ऊबनेकी क्रिया.
उर्मी– लहर, तरंग, विकार, अहंवृत्ति.

उर्वरा— उपजाऊ, भूमि.

उल्लसित— उत्साहित, प्रफुल्ल, हर्षित.

उष्मा— गरमी, क्रोध, ताप, धूप.

ऊख— अख, गन्ना.

ऋ

ऋजुता— अंतःकरणकी सरलता, ज्ञानका एक लक्षण, ब्राह्मणोंका स्वभाव, इंद्रियोंको स्वैर न जाने देना, सत्कार्यतत्परता.

ऋतु— कालखंड विशेष-वसंतऋतु ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत, शिशिर.

ऋद्धि— समृद्धि, ऋद्धि-सिद्धि, समृद्धि सफलता.

ऋषि— मंत्रद्रष्टा, आध्यामिक तथा वैज्ञानिक तत्वोंका दर्शन करनेवाला, चिंतनशील, विशिष्ट प्रकारकी जीवन-दृष्टि रखकर उसके अनुसार जीवन बितानेवाले एकनिष्ठ ऋषियोंको देवर्षि, राजर्षि, तथा ब्रह्मर्षि कहते हैं. इसके अलावा महर्षि एक सामान्य संज्ञा भी है.

ए

एकनिष्ठ— निश्चयात्मक, किसी एकपर पक्का निष्ठावाला.

एकसर— एकसा, एकनिष्ठासे अनुकरण.

एकांगुष्ठानतप—एक ही अंगूठेके बलपर खडा रह कर तप करना.

एकांत— निर्जन प्रदेशमें एकाएकी रहना.

एकार्णव— प्रलयकालका सर्वत्र व्याप्त पानी, केवलमात्र समुद्र, सर्वव्यापी महासागर.

ओ

ओप— चकाकी, चमक, तजेला.

ओस— वीरान, शून्य, हवासे मिला पानी.

क

कंकण— हातमें पहननेका आभूषण. किसी शुभकार्यमें, धर्मकार्यमें, कार्य निष्ठाकी प्रतिज्ञाका द्योतक मंत्र पूर्त सूतका ताग, कंकण बद्ध प्रतिज्ञाबद्ध

कंगूरा— शिखर, बडे महलका ऊपरी भाग.

कंचुकी— अंगिया, चोली.

कंठनाल— गलेकी नली, कंठनलिका.

कंदर्प— काम, मन्मथ.

कंदर्पसर्पदर्प— कामरूपी अजगरका अभिमान

कंदर्पशरण— कामके आधीन

कदली— कदलीवृक्ष, केलेका पेड.

कनकद्रुम - स्वर्णवृक्ष.

कमलकोश— कमल परागका स्थान, कमल सिकुडनेके बाद जहां भ्रमर फंसता है ! कमलका मध्य भाग.

करण— इंद्रिय.

कर्तव्य— करनेकी आवश्यकता, विहित कर्म आवश्यक करना तथा अनावश्यक टालना, प्राप्त कर्म, समाजजीवनमें अपने हिस्सेमें आनेवाला, तथा स्वधर्मके कारण करणीय कर्म, नैतिक प्रेरणा स्वरूप कर्म, नैतिक दृष्टिसे आवश्यक कर्म.

कर्तृत्व— कर्ताका भाव, कर्म-स्वामित्व, कर्मांगोंमेसे एक.

कर्म— करने तथा सहज बननेवाली क्रिया गीतामें १ शुभाशुभ ज्ञानदाय कर्म. (२) क्रिया-विशेष (३) शास्त्रोक्त कर्म (४) स्वधर्मरूप कर्तव्य कर्म, (५) हलचल (६) शरीरश्रम, (७) लोकसंग्रहात्मक, (८) प्रकृतिके कार्यरूप, (९) वर्णाश्रमानुसार आदि अनेक प्रकारके कर्म कहे गये हैं जो निष्काम भावसे फलकी अपेक्षा रहित हो कर करने चाहिए.

कर्म– बिना किये भी जो व्यापार होता रहता हैं, चलता रहता है !
कर्मनिष्ठ– कर्ममें श्रद्धा रखनेवाला.
कर्मफल– कर्मके बाह्य फल.
कर्मबंध– कर्मरूपी बंधन.
कर्मबीज– कर्मकी प्रेरणा.
कर्मविरत– कर्मसे विमुख.
कर्मानुगत– कर्मानुसार.
कलंदर– मदारी.
कलितकाल कौतूहल– कालके चमत्कार को जिसने अपने अंकित रखा है ऐसा.
कलुषकरिकेसरी– पापदृष्टिरूपी हाथियोंका संहार करनेवाला सिंह.
कल्पना– इंद्रियोंके संमुख अनुपस्थित वस्तु-ओंके रूप गुणादिको अनुभूत करानेकी अंतःकरणकी शक्ति. मनगढंत बात.
कल्याण– श्रेय, हित, शुभ.
काकीमुद्रा– कौवेकी चोंचसा मुख बनाकर मुखसे अंदर सांस लेनेकी क्रिया इससे साधक निरोगी बनता है.
काम– संगजन्य मूलभूत विकार. विषय सुंदर लगना. विषयोंमें माधुर्यका अनुभव. विषयेच्छा, संतान कामना ऐहिक सुखाशा. भोगाकांक्षा.
कामना– भोगोंकी इच्छा.
काम्यकर्म– फलभोगेच्छासे किये जानेवाले कर्म.
कायी-काई– जल पर अथवा शिलापर आनेवाला घासका जाला.
कारस्थान– षड्यंत्र.
कालकूटकल्लोलतरंग– कालकूट विषके हिलोरोंके तरंग.
कालाग्निरुद्रगूढ– प्रलयकालके भयानक अग्निका सा गूढ.
किरात– प्राचीन कालकी एक वन्य जाति जो क्रूर होती थी
किलनी– पशुओंके देहमें चिपकनेवाला एक कीट. संभवतः वह स्वेदज है.
कुंतलालकमस्तक– जिसके सिरपर घुंगराले बाल हैं.
कुमुदिनी चंद्रविकासी कमल.
कुल्लापडगा– पीकदान, थूंकनेका बरतन.
कुश– दर्भ, घास.
कुहर– गुफा.
कुहराम– रोना, पीटना, क्रंदन आर्तक.
कूंचा– झाडू.-देवघरमें सफाई करनेवाला.
कृतांत– यम, काल, अंत लानेवाला.
कृतार्थ– कृतकृत्य. सफल मनोरथ.
केलिप्रिय– क्रीडाप्रिय.
कैवल्यधाम– मुक्तिमंदिर.
कोंचना– चुभाना, गडाना, गोढना.
कोंदण– जडाव. पच्ची, मूडा.
कोंपल-कोंभ, कोंम– अंकुर कल्ला.
कोपट– छोटी झोपडी.
कोशकीटक– घर बनाकर अपनेको बाहर जानेका रास्ता न रखनेवाला कीडा जो अपनेलिये घर बनाकर उसी घरमें मरता है !
कोऽहं– मैं कौन हूँ इसकी जिज्ञासा.
कौतुक– आश्चर्य, विनोद, कुतूहल, सराहना.
कौतूहल– कुतूहल.
क्रमयोगी– क्रमानुसार ब्रह्मप्राप्त करनेवाला योगी.
क्रोधावर्त– क्रोधका भंवर.

ख

खत्ती– अनाज सुरक्षित रखनेका स्थान.
खद्योत– जुगनु.
खर– गधा.
खुगीर– नमदा, जीन.
खेचर– आकाशगामी वायु.
खोडारूप– शहतीर, अडगोडा, आधार.

खोल– ज्ञानेश्वरीका मूल मराठी शब्द, गहरा.

ग

गंगावति– ज्ञानेश्वरीका मूल मराठी शब्द सामान्य घासपात.

गगन– आकाश.

गंडकी– गंडकी नदी, गंडकीमें मिलनेवाले शालिग्राम.

गंडस्थल– हाथीके मस्तकका नरम भाग जो ऊपर उठा हुवा रहता है.

गंधर्व– अदृश्य पुरुष, स्वर्गके गानेवाले गायक.

गंधर्व नगर– आकाशमें बादलोंद्वारा दीखनेवाला नगरोंका भास.

गंधानिल– सुगंधयुत हवा.

गभस्ति– सूर्य.

गरल– विष.

गरिमा– बडप्पन, गुरुत्व, महिमा, महत्ता. अष्टसिद्धियोंमें एक.

गर्त– गढा.

गर्दभी– गधी.

गवाक्ष– खिडकी, झरोखा.

गव्हर– गुफा, कंदरा, गुह्यस्थान.

गात्र– शरीर.

गाभा– नया कल्ला, अंकुर, कोपल मराठी अर्थमें, अंतरतम भाग, अर्थ रहस्य.

गायत्री– एक वैदिक छंद. वेदका एक प्रसिद्ध मंत्र. गायत्री छंदमें तीन चरण और चौबीस अक्षर होतें हैं।

गिरगिट– बार बार अपना रंग बदलनेवाला छिपकली जातिका एक प्राणी.

गीतागम– गीतानामका साधनाशास्त्र गीताकी परंपरा.

गुज-गूज– मूल मराठी शब्द गुह्य. गुप्त.

गुण– मूलतः यह सांख्य शास्त्रका शब्द. मूलद्रव्य. इसके बाद इसको एक नैतिक आधार मिला है गुण लाभदायक, धर्म लक्षण सूचक. वृत्ति-विशेष.

गुणातीत– गुणोंका अतिक्रमण किया हुवा.

गुणानुसार– गुणके अनुसार.

गुण-कर्म– गुण और कर्म.

गुब्बारा– हवासे आकाशमें उडनेवाला.

गुरुगम्य– गुरुसे ही समझमें आनेवाला.

गुल्फ– एडीके ऊपरकी गांठ.

गूंगची– घुंघची. अंगारवल्ली, गुंजा रती.

गूढ– गुप्त.

गेह –घर, गृह, मकान.

गोफिया – गोफन.

गोष्ठ– गोष्टि.

ग्रस्त – पकडा हुवा, पीडित.

ग्रामसिंह – कुत्ता.

घ.

घट – मिट्टीका घडा, मटका.

घंटिका – पैरके घुंगरु कण्ठमणी.

घन – बादल.

घना – गहरे.

घाम – धूप, ताप.

घिघियाना – गिडगिडाना. करुणाजनक प्रार्थना

घिनाना – घृणा करना.

घिनौना – घृणाजनक, घृणित.

घोर – ज्ञानेश्वरीका मूल शब्द – खुर्राटेभरना

घ्राण – नाक.

चकोरशावक–चंद्र किरणोंसे अमृत खाकर जीनेवाले चकोर पक्षीका पिल्ला.

चक्रवाक– जिसका अपनी मादीसे दिनमें संयोग, रातको वियोग होता है ऐसा एक पक्षी.

चंगुल– हाथकी अंगुलियोंकी पकड.

चंडांशु– सूर्य.

चतुरचित्तचकोरचंद्र–रसिकोंके चित्तको ही चकोर मानकर उनको आनंद देनेवाला चंद्र.

चतुष्पाद– चार पैरवाला जानवर.

चलितचित्तपानतुंदिल-चंचल चित्तको पी जानेसे जिसका पेट बढ गया है।

चस्का- आदत, लत.

चांग- मूल ज्ञानेश्वरीका शब्द, भला, अच्छा, हिंदी शब्द चंगा.

चातुर्यकलाकामिनी-चातुर्य, कलाकी देवता सरस्वती.

चित्कला- जीवनकला.

चित्कलिक-ज्ञानरूपी ज्योति.

चिद्गगनभुवनदीप- चैतन्यरूपी आकाश भवनका दीप.

चिदंबर-चिदाकाश-चैतन्यरूपी आकाश

चिद्रूप- चैतन्यरूप.

चिद्भ्रमर- जीवचैतन्यरूप भ्रमर.

चिन्हित- चिन्हयुक्त सांकेतिक.

चिबुक- ठोडी.

चेंडुवा- पक्षीका बच्चा.

चौड- मुंडन, विनाश

छ

छकाना- भ्रमित करना, अचंबेमें आना.

छतनार- छातासा छज्जेदार मंडप.

ज

जगडंबर- विश्व-विस्तार, विश्वकी प्रचंड व्यापकता.

जगदखिलपालन- समग्रविश्वका पालन करनेवाला.

जगदंबुदगर्भनभ- जगद्रूपी बादलका गर्भ जहां संभव हो सकता है ऐसा आकाश.

जगदादिकंद- जगतका आदि कारण.

जगदादिविश्रामधाम- जगत का उत्पत्ति-स्थान और विश्रांतिस्थान

जगदुन्मिलना विरल- केलिप्रिय- जगतको बारबार प्रकट करनेवाले खेलमें रमनेवाला.

जंगम- हलचल करनेवाला सचेत न प्राणी.

जन्म- उत्पत्तिरूप प्रथम भाव विकार, दुःख हेतु. देह धारणरूप आविर्भाव. सर्वसाधारण जीवका देहधारण.

जन्मकर्म- न जनमते जन्म लेना, न करने-का सा करना, ईश्वरका दिव्य जन्मकर्म.

जनलीलाविलास- उत्पन्न करनेवाली लीलाका विलास करनेवाला.

जन्मजराजलदजालप्रभंजन- जन्म तथा वृद्धावस्थाके बोधके जालको नष्ट करनेवाला.

जन्यजनक- उत्पन्न होनेवाला और उत्पन्न करनेवाला.

जलकुंभी- काई-शेवार. पानीपर आनेवाली हरी काई.

जल्पवाद- बेकारकी बकवाद.

जलार्णव- प्रलयकालका सागर.

जितेंद्रिय- जिन्होंने अपनी इंद्रियोंपर स्वामित्व प्राप्त किया है.

जिव्हार- मर्मस्थान, जीव, जीवनाधार.

जिव्हाला- आत्मीयता, अंतःकरण- मूल मराठी शब्द.

जिज्ञासा- ज्ञानकी इच्छा. ईश्वर विषयक ज्ञानकी इच्छा.

जीव- अंतःकरण, आत्म-स्वरूप, प्राणी, अंतरात्मा, देहाभिमानी क्षेत्री.

जीवत्व- जीवपन, साहंकार की भूमिका.

जोड- आचरण, पान, अभ्यास, साधना, ईश्वरसंलग्नता, जन्मतः साथ लेना, सफल मनोरथ होता, साथ रहना जुट जाना.

जीवन- जीना.

ज्ञाता- जाननेवाला, तत्वज्ञ, विचारक, आत्मज्ञानी, ज्ञानत्रिपुटी में एक.

ज्ञान- अवबोध, बुद्धिमत्ता, तत्वचिंतन, विवेक, आत्मविषयक बोध. ईश्वरका दिव्य जन्मकर्म जानना. आत्मानात्मज्ञान, कार्या-

कार्यज्ञान, कर्म विकर्म समाप्तिरूप आत्मज्ञान, संशय-विच्छेद, ईश्वर विषयक ज्ञान, समर्पण प्रक्रिया-जन्य ज्ञान. ईश्वरी भावका ज्ञान, विभूति ज्ञान, विश्वरूप-बोधज्ञान, फल त्यागका ज्ञान, वास्तविक-ज्ञान, दैवी गुणोंका ज्ञान, मनन-निधिध्यासादिद्वारा शास्त्रीय ज्ञान, गुण-विस्तार प्रक्रियाजन्य ज्ञान, बुद्धिका प्रकाश, आकलन शक्ति, चिंतन शक्ति, ज्ञानत्रिपुटीमें एक, ज्ञानत्रिपुटीका प्रतीक रूप, ब्राह्मणोंके कर्तव्यरूप स्वाध्या-यादिसे संपादन करनेवाली संपत्ति, अध्ययन,

ज्ञानाग्नि– आत्मज्ञानरूपी अग्नि,

ज्ञानोपदेश– आत्मज्ञानका उपदेश.

ज्ञानखड्ग, ज्ञानदीप– ज्ञानरूपी खड्ग ज्ञानरूपी दीप.

ज्ञानदृष्टि– शास्त्रीय विवेक दृष्टि स्वानुभव प्रधान विवेकदृष्टि.

ज्ञाननौका– आत्मज्ञानरूपी नौका.

ज्ञानयज्ञ– आत्मज्ञानरूपी यज्ञ, परमेश्वर, विषयक ज्ञानरूपी यज्ञ, सर्वत्र ब्रह्मही है उसके बिना अन्य कुछ भी नहीं ऐसी साम्यदृष्टि जन्य आचरण, विश्वमें जो कुछ भला बुरा होता हैं वह ईश्वरार्पण होता यह भाव, अविरोधीजीवन दृष्टि, यह व्यापक ज्ञानयज्ञ है. अर्थचिंतनयुक्त गीताभ्यास भी ज्ञानयज्ञ है.

ज्ञानशून्य, ज्ञानहीन– बुद्धिहीन, विवेकहीन.

ज्ञानी– आत्मविषयकज्ञान जिसमें है वह.

ज्ञानीजनवनवसंत– ज्ञानी लोगोंमें आनं-दका बहार लानेवाला.

ज्ञेय– ज्ञान त्रिपुटीमें एक, नम्रता आदि ज्ञान लक्षणोंसे जिस वस्तुको जाना जाता है वह वस्तु; विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका मूल कारण, सबके हृदयमें जो है वह,

ज्ञेय-दर्शन– अपने हृदयस्थको जानना.

ज्ञानोन्मेषवासना– ज्ञानरूपी आनंदकी वासना करनेवाला.

ज्योतिरिंगण--ज्ञानेश्वरीका मूल मराठी शब्द जुगनू.

झ

झिल्ली– बहुत पतली खाल. आंख पर आने वाला जाल.

झुंज– मूलमराठी शब्द लडाई.

झोल– झूठा, मिथ्या, असत्य मूल मराठी शब्द.

ट–ठ

टेकडी– पहाडी, टीला.

ठाव– स्थान, आसरा.

ठठोली– हंसी मजाक.

ठौर– स्थान.

ड

डबरा– पानीसे भरा हुवा गड्ढा. कुंड.

डोंगर– पहाड, टीला.

डोंगी– छोटी नांव.

त

तंतु– सूत, तागा.

तत्– ब्रह्मवाचक शब्द अलिप्तता साधना तथा निष्कामताका प्रतीक

तत्पद– ईश्वरत्व तथा ब्रह्मत्व. श्रेष्ठ पद.

तत्व– ब्रह्मवस्तु, भाव, सिद्धांत, वस्तुका यथार्थ रूप, रहस्य, मूलस्थिति, तत्वज्ञान, विश्वके कारणीभूत मूल तत्व, जीवनका स्वरूप, पृथक्करण शास्त्र.

तत्वज्ञ– वस्तुको यथार्थरूप जाननेवाला.

तत्वनिष्ठ– ब्रह्मनिष्ठ.

तप साधना, श्रोत्रादि इंद्रियोंका संयमाग्निमें हवन, वृत्तिशोषण, वा-

नप्रस्थ वृत्ति, दुःखका विचार करके प्रसन्न रहना, हीन वृत्तिका विरोध करके भी सौम्यता, निरंतर कर्म करते हुए आत्मचिंतन, भोग पचा सके इतना संयम, गुणदोष पचा सके विश्लेषण करके साम्य भाव, यह मानस तप, ऐच्छिक दारिद्य ब्राह्मणोंका तप है.

तम– अंधःकार, मोह, तामस कर्म.

ताज– मुकुट शिरोभूषण.

तामस– तमोगुणी मनुष्य.

तुर्या– जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनोंके परेकी चौथी अवस्था.

तृष्णा– अभिलाषा, लालच, जो देखा वह चाहिए ऐसा लगना, अप्राप्त वस्तुकी आशा, तृष्णा.

त्याग– तजना, कर्मफल त्याग, अहंता-ममता त्याग, स्वार्थत्याग, स्वामित्वविसर्जन=सर्व समर्पण.

त्रिपुटी– तीनोंका पुंज, कर्ता, क्रिया, कर्म, ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय आदि.

त्रिभुवनगजपंचानन– त्रिभुवन रूपी गजके लिये सिंह समान.

थ

थैमान– मूल मराठी शब्द. नंगा नाच.

थोथा– पोला, खोखला.

थोर– मूल मराठी शब्द. श्रेष्ठ.

द

दक्ष– कुशल, प्रवीण, सावधान. तत्पर.

दंडवत– सरल भूमिष्ठ होकर सर्वांग प्रणाम करना.

दंभ– दिखावटी धर्माचरण, अहंकार प्रदर्शन.

वृथा अभिमान, अपने विषयमें मूढ भावना.

दया– दुखितोंके विषयमें करुणा, दुसरोंके दुःख निवारणकी तडप.

दर्शन– दृष्टि, शास्त्र, साक्षात्कार, व्यापक, अनुभव, प्रतिभादर्शन, प्रतीति-दर्शन.

दर्शनानुग्रह– साक्षात्कारका अनुग्रह.

दशन– दांत.

दादुर– मेंढक.

दावानल– वनकी आग.

दिव्य– अद्भुत, प्रकाशमय, लोकोत्तर, स्वर्गीय, देवत्व-युक्त, भावमय, प्रतिभा.

दिव्यदृष्टि– ईश्वरप्रसादसे प्राप्त दृष्टि.

दीठ– दृष्टि.

दुभती– मूल मराठी शब्द, दूध देनेवाली दूधाल गाय.

दुराराध्य– अत्यंत कष्टसे संतुष्ट होनेवाला, प्राप्त होनेमें अत्यंत कठिण.

दुःख– प्रतिकूल संवेदन.

दुःखाब्धि– दुःखका समुद्र.

देवः स्वर्गके इंद्रादिदेवता, सृष्टिदेवत ईश्वरसे भिन्न अन्य दैवत, सर्व नियंता, जिसके नियंत्रणमें अन्य देव भी हैं, पितृरूप देवता. पूज्य लोगोंके साथ आनेवाला आदर सूचक शब्द.

देवतार्चन– देवपूजा.

देहरी– द्वारके चौखरकी नीचेकी लकडी.

देहहेत– देह ही मैं ऐसी भावना, देहका अभिमान.

दैवी– ईश्वरीय, देवोका, ईश्वरनिष्ठ. ईश्वराभिमुख.

दोष– अनर्थ, हानि, व्याधि, अनर्थ आचार, आहारादिसे होनेवाला अनिवार्य पाप, चित्तका मल, विकार, पापरूप.

द्यूत– जूआ, बिना परिश्रम धन कमानेकी वृत्ति.

द्रवना– पिघलना, गलना,

द्वेष- दुःखानुशायी वृत्ति, शत्रुता, मत्सर.

द्वैत- भेद. ये जीव-ईश्वर भेद. जड ईश्वर भेद, जीवोंमें परस्पर भेद, जड जीव भेद, जड-जड भेद. यह पांच प्रकारके भेद हैं अर्थात द्वैत है.

द्वैताकार- इस प्रकारके पंच भेदात्मक अनुभूति.

द्वैध- मनका द्विधा भाव, संकल्प-विकल्प, डांवाडोल मनःस्थिति.

ध

धनंजय- अर्जुन.

धरा, धरातल- पृथ्वी,

धर्म- धर्म विशेष, जिनका गीता अथवा ज्ञानेश्वरी मे चर्चा हुई है, जाति-धर्म अथवा कुल धर्म, कर्तव्याकर्तव्य विचार, प्राप्तकर्तव्य, क्षत्रियोंका धर्मयुद्ध, फलत्यागका निष्काम कर्म, निष्ठानुसार प्राप्तकर्म स्वधर्म, अभ्युदय निःश्रेयस प्रधान आचरण संहिता, यमनियमादि शुभप्रवृत्ति, पुण्याचरण, समर्पणपूर्वक सेवाका सेवाधर्म, भक्ति· वेदाध्ययनादि कर्म, भक्ति-आहार-शुद्धि, अध्ययनयज्ञ-कर्तव्य, गुण विकारात्मक नीति धर्म, विहितकर्म धर्म, परोपकार धर्म वर्ण-धर्म, धर्माधर्मचिंतन, ईश्वरशरणताका सर्व श्रेष्ठ धर्म.

धर्म निधान- धर्मका भांडार.

धसाल- अविचारी, ढीला.

धातु- रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा ये सप्त धातु जिस पर शरीर टिका हुवा है.

धात्री- आधार, जन्मभूमि,

धी- ज्ञान, बुद्धि.

धीर- धैर्य, धैर्यवान, धीरज, धीरजवाला

धूम- शरीरस्थ अग्निकी ज्वालाहीन स्थिति, कर्मयोग-स्फूर्तिका अभाव.

धूममार्ग- स्फूर्तिशून्य तमोमार्ग जो कर्तव्य-भावना की आगकी दबा देता है

धृति- तितिक्षा, सहनशक्ति, शरीर घटककी परस्पर चिपके रहनेकी शक्ति, कार्य चलाने प्रेरणा देनेवाली बुध्दिकी सहयोग शक्ति,

धोकटी- नायीका चमडेका थैला.

ध्यान- किसी बातको चित्तमें घुलाते रखना, चित्तैकाग्रता, ईश्वर चिंतन समझना, सम्यक विचार

न

नग- पर्वत पहाड,

नग्नलुंचितमुंड- दिगंबर श्रमण,

नभ- आकाश.

नंदिनीकाबछडा- कामधेनुका बछडा.

नम- नमस्कार, नम्र, भक्तियुक्त,

नम्र- विनीत, लीन.

नवल- मूल मराठी शब्द. आश्चर्य, अचरज

नवविधवायु- पंचप्राण. प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान तथा नागकूर्म, कृकला, देवदत्त व धनंजय ऐसे पांच प्रकारके वायु हैं इसमें कोई धनंजयको नौ प्रकार के वायु मानते हैं प्राणों को वायु माना है.

नाद- ध्वनि, आवाज.

नाभीकंद- नाभीकी गांठ

निकंदन- विनाश, वध,

निकुंभ- गंडस्थल हाथीका मस्तक परका मर्मस्थान. मूल मराठी शब्द.

निगमरत्नाचल- वेदरूपी रत्नोंका पर्वत.

निगमागमद्रुमफल- वेद तथा शास्त्ररूपी वृक्षका फल.

निगूढ- न दीखनेवाला, रहस्यमय, गुप्त.

निग्रह- नियमन, इंद्रिय-दमन.

निग्रही– नियमन करनेवाला. इंद्रिय, मन तथा प्राणका निरोध करनेवाला.

निजजनाखिलमंगल– अपने भक्तोंका संपूर्ण कल्याण करनेवाला.

निजजननितभजनीय– नित्य अपने लोगोंकी ओरसे भजन किये जानेयोग्य.

निजधाम– अपना स्थान, आत्मस्वरूप.

निजनिर्झरसोमकांत–आप द्रवनेवाला सोम-कांत मणि.

निजसुख– आत्मसुख.

नित्य– किसी न किसी रूपमें सदैव रहनेवाला. आत्मा, ईश्वर ब्रह्म, सदैव सतत.

नित्यकर्म– रोज किया जानेवाला संध्यादि कर्म.

नित्यतत्व–सतत रहनेवाला तत्व, आत्मा ब्रह्म

नित्यपद– परमात्मपद.

नित्ययुक्त–सतत परमात्मासे जुडा हुवा.

नित्यनिस्तारखिलमल – जिसने सदा के लिये अपने सभी दोष निकाल दिये हैं, जो नित्यशुद्ध है.

निदान–मूल कारण. परिणाम.

निधान–आश्रय, आधार, निधि, कोष,

निनाद–मूल मराठी शब्द, गूंजन.

निंबौला–नीमका फल.

निमिषोन्मिष–पलकोकी हलचल.

नियतांतःकरण–संयमित-नियत-अंतःकरण.

नियोजितवितंड–निश्चित प्रकारका मिथ्या वादविवाद. शाब्दिक तर्क या युक्तिवाद बातूनी कला.

निरपेक्षालंकार–इच्छा रहितताके अलंकारसे सजा हुवा.

निरवधि–अमर्याद.

निराकार–बिना किसी खास आकाराका परमात्मा. ब्रह्म, आकाश शून्य.

निरालंब–जिसे दूसरे किसीका आश्रय न हो, स्वयंसिद्ध. बाह्य साधना का आश्रय टूटा हुवा. सिद्ध.

निरिच्छ–इच्छा रहित. कामना रहित.

निरुपाधिक–उपाधिरहित, देहादि बाह्य प्रपंच रहित, संग रहित, अपने मूल रूपका.

निरूपण–कहना, किसी पर विशेष प्रकाश डालना, किसीका विवेचन करना.

निरोध–निग्रह. चित्त निरोधकी साधना. योग-साधना.

निर्गुण–गुण रहित. गुणवर्जित. सत्वादि तीन गुणोंसे परेका.

निर्भय–भय रहित, जिसमें भय का कारणभी न रहा हो.

निर्मत्सर– मत्सररहित. दूसरोंका विचार न करके अपना कर्तव्य करनेवाला.

निर्मल– वासना रहित, काम-संकल्प रहित अंतर्बाह्य पवित्र, त्रिकरणशुद्ध, सात्विक चारित्र्यका, मत्सरादि दोष रहित, अर्जुन.

निर्मोह– मोहरहित. वैषम्यभावरहित. अनिश्चिततामेंसे निकला हुवा, विवेकी, कार्याकार्य व्यस्थित जाननेवाला.

निर्लिप्त– अलिप्त, लेप रहित, जैसेके वैसे रहनेवाला, परिवर्तनके परिणामसे रहित.

निर्विकार– विकाररहित, जन्ममरणादि विकार रहित, कामक्रोधादि विकार रहित, कर्तृत्वादि विकार रहित, गुणजन्य विकार रहित, किसी भी विकारोंसे रहित.

निर्विकल्प– असंप्रज्ञात. बाह्य जगतका भान रहित, अहंकार-बीज रहित. समाधि स्थितिका अंतिम छो निर्विकल्प समाधि. इस स्थितिमें किसी भी प्रकारकी वासनाका बीज भी नहीं रहता. इसलिए इस अवस्थाको 'निर्बीज' भी कहते हैं बीज ही नहीं रहा तब अंकुर कहां !

निश्चिंत– चिंतारहित. संसारके विषयमें निश्चिंत, कर्म फलके विलयमें निश्चिंत, उदासीन.

निष्काम– भोग वासना रहित. अन्य कामना रहित. फलेच्छा रहित. निरिच्छ.

निःसंग– संगरहित, आसक्ति रहित. प्राप्त वस्तुके विषयमें स्नेह रहित, तथा अप्राप्य वस्तुके विषयमें कामना रहित.

निःसीमागम्य– निःसीम+अगम्य, मर्यादा रहित, अनंत इसलिये; अगम्य. समजकी सीमामें न आनेवाला.

नीलोत्पल–नील कमल.

नैष्कर्म्य– कर्मसमाप्तिकी अवस्था, अनंत कर्म करने पर भी न करनेकासा, रहना, न करनेकासा करना, कर्मके थकानसे मुक्ति !

प

पगहा–गिरवॉ, पशुके गलेमें बांधा हुवा लकडीका लंबा टुकडा. पधा, असहायस्थिति.

पंचक–पांचोंका समुदाय. अर्थ-पंचक, इंद्रिय पंचक (पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय) शब्द स्पर्शादि विषय पंचक, पृथ्वी आप तेजादि भूतपंचक, आदि.

पंचत्वलीन–मृत्यु.

पंचम–सप्त स्वरोंमेंसे पांचवा स्वर, कोकिलाका स्वर. चांडाल.

पंचानन–सिंह.

पट–वस्त्र.

पटीं–मूल मराठी ज्ञानेश्वरीके मराठी व्याकरणको स्वीकार करके पट शब्दको ही " पटीं " सप्तमी विभक्ति बना करके " पटमें " ऐसा अर्थ लिया गया है.

पण्यांगना–खरीदी गयी स्त्री, वेश्या, दासी.

पद–मोक्षरूप, ब्रह्मपद, अक्षर ब्रह्म, प्राप्तव्य स्थान, साध्य.

पदपिंडत्व–जीव-शिवत्व-आत्म-परमात्मत्व.

पदबंध–विशिष्ट प्रकारकी शब्दरचना.

पद्मकर–कमलसा हाथ.

पर–वस्तु, ब्रह्म, उस पारका, दूसरी ओरका.

परतत्व– परब्रह्म.

परम– अंतिम, श्रेष्ठ, विश्वव्यापक, सर्वांतर्यामी.

परमआत्मतत्व– विश्वव्यापक आत्मतत्व.

परमात्मा– सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, चैतन्य स्वरूप, विश्वाला, सर्वात्मक सत्ता, तथा देहमें प्रतिबिंबित अंतरात्मा.

परमेश्वर– सर्वश्रेष्ठ सर्वसत्ताधीश स्वामी.

परा– उस ओरकी. पराकृति श्रेष्ठ-प्रकृति. परा भक्ति, श्रेष्ठभक्ति ज्ञानभक्ति.

पराप्रमेयप्रमदाविलासिया– परावाणीका विषय जो स्वरूपस्थिति है उस चिर तरुणीसे विलास करनेवाला.

परिग्रह– व्यर्थ वस्तुओंका संग्रह. परिवार प्रपंच.

परिणितोपरमैकप्रिय– परिपक्व वैराग्य-वंतोंसे प्रेम रखनेवाला.

परिमल– सुगंध.

परिहार– उत्तर, निराकरण.

पवित्र– पुण्यरूप, पावन करनेवाला. जहांके भाव, संस्कार, स्मरण आदि सभी पावन हों ऐसा अंतर्बाह्य शुद्ध.

पसायदान– प्रसाददान.

पांडुरोगकी पुष्टि– पांडुरोग-रक्ताल्पता-में आनेवाली सूझन.

पाणिग्रहण– हाथ थामना, करग्रहण, विवाह, अंतिम समय तक साथ देना.

पातालव्याल– पातालका सर्प.

पादज– पैरकी ओरसे जन्मनेवाला, भाग्यशाली.

पाप– गीतामें अनेक प्रकारके पापोंका

उल्लेख है, स्वजन घातका पाप, पाप, हीन विचारका पाप, स्वधर्म परित्यागका पाप, कर्तव्यच्युतिका पाप, अपने लिये ही पकाकर अन्न खानेका पाप, यज्ञ-रहित भोजनका पाप, परधर्म स्वीकारका पाप, दुष्कर्मका पाप, पूर्वजन्मकृत पाप,

पापयोनि– पूर्वजन्मकृत पापका परिणाम.

पापिष्ठ, पापी– अतिशय पाप करनेवाला. दुराचारी. परपीडक.

पारंगत– पार पहुंचा हुवा, निष्णात.

पार्थिव– पृथिवी विषयक.

पारुष्य– कठोरता, कडापन.

पालनशीललालस– रक्षण करनेके स्वभाव वाला.

पिंगलानल– पीला भूरा रंगवाला अग्नि.

पिनाकपाणि– शंकर.

पिशाचोच्चाटन– पिशाचको अलग करना. किसीको लगे भूत वेतालादिको उससे अलग करके भगाना.

पीनाकावयव– पुष्ट अवयववाला, पुष्ट-शरीरवाला.

पीयूष– अमृत.

पुण्य– सत्कार्य, सत्कार्य जन्य आनंद, यज्ञादि धर्मकृत्य तथा उसका फल, पुण्य-कर्मजन्य पावित्र्य, चित्त-शुद्धि, शुभ-विचार, सत्वगुण,

पुण्यकर्म– शुभकर्म, निष्काम-शुभकर्म, चित्त-शुद्धि, पाप-वासनासे निवृत्ति, भ्रम निरास, द्वंद्व-निरास, भक्तिमें निष्ठा, ज्ञान-निष्ठा, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान, आत्मानात्मज्ञान, आत्मा जगत तथा परमात्मा विषयक ज्ञान, अधिभूतादिका विज्ञान, अंतकालीन साधना, ब्रह्मलीनता.

पुनरावर्तन– पुनर्जन्म, पुनः पीछे आना.

पुलक– हर्षोन्मादसे आनेवाला रोमांच. प्रेमोद्वेगजन्य आनंद.

पूर्वमीमांसा– कर्मकांड. पूर्व-मीमांसामें आचरण-धर्म है. दर्शन शास्त्रमें ज्ञानका विचार करनेके प्रथम कर्मकांड अथवा धर्मका विचार करना आवश्यक माना जाता है. तभी वेदांतमें कहे गये आत्माका विचार समझ सकते हैं. इसीलिये कर्मकांडको पूर्वमीमांसा तथा वेदांत विषयको उत्तरमीमांसा कहा जाता है. जैमिनी इसका मूल आचार्य है. बारह अध्यायोंमें जैमिनिने इसका विचार किया है इसलिये इस ग्रंथको "द्वादश-लक्षणी" कहा जाता है.

पेरक– पेरनेवाला.

पोखरा– पुष्करणी, तालाव, सरोवर.

पौली– दक्षिणके मंदिरोंमें मंदिरके चारों ओर बरामदा बनाकर उसके एक ओर दीवार रहती है, किसी बडे संतर्पणमें इसी बरामदे पर बैठ कर भोजनादि किया जाता है, इन बरामदोंको पौली कहा जाता है.

प्रकृति– शरीर, माया, मूल स्थिति, मूल-माया, कर्तृत्वकारण, त्रिगुणात्मक, ब्रह्मकी सगुणावस्था, अवतार कारणार्थ ईश्वरीशक्ति, जडाजड प्रकृति.

पुरुष– मनुष्य, ईश्वर, सर्वांतर्यामी, ब्रह्म द्वंद्वातीत सगुण-निर्गुणातीत-जीव, उपाधियुक्त, प्रकृतिपूरक, प्रकृतिसे परे, निरुपाधिक क्षर-पुरुष, अक्षर-पुरुष, क्षराक्षर पुरुष, पुरुषोत्तम,

प्रकृति– शरीर, माया, मूल स्थिति, मूल-माया, कर्तृत्वकारण, त्रिगुणात्मिका ब्रह्मनकी सगुणावस्था, अवतारणार्थ ईश्वरीयशक्ती, जडाजडप्रकृति. उत्पत्ति, स्थिति, लयके कारणीभूत

प्रकृति, ईश्वरी अवतारका काम, संकल्पादियुक्त जीव, प्रकृति ईश्वरकी विविध संकल्पमय निर्बीज प्रकृति पुरुषयुग्ममें पुरुषसे जुडी हुई प्रकृति

प्रकृतिके अष्ट विकार– (१) प्रकृति (२) महत्तत्व (३) अहंकार (४) शब्द (५) स्पर्श (६) रूप (७) रस (८) गंध, भागवतमेंसे. (१) पृथ्वी (२) आप (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) मन (७) बुद्धि (८) अहंकार गीता ज्ञानेश्वरी से.

प्रक्षुब्ध– कुपित, क्रुद्ध, अधीर, भयभीत.

प्रगल्भ– प्रतिभाशाली, उत्साही, साहसी, धीरजवाला, प्रवीण.

प्रज्ञा– ईश्वरोन्मुख अथवा आत्मोन्मुख बुद्धि, आत्मसत्तात्मक ज्ञान जो इंद्रियोंद्वारा व्यक्त होता है.

प्रतिभा– प्रतिबिंबित, अनुभव, प्रकाश, आत्मशक्तियुक्त प्रगल्भता. असाधारण मानसिक शक्ति, आत्मप्रतीतिजन्य बुद्धिप्रकाश नित्यनूतन मति अनुभव जन्य ज्ञानदीप्ति.

प्रतिमल्ल– प्रतिद्वंद्वी मल्ल.

प्रत्यग्बुद्धि– आत्मोन्मुखी बुद्धि, अंतर्मुख बुद्धि.

प्रथा– परंपरागत व्यवहार.

प्रभव– उत्पत्ति.

प्रमा– यथार्थज्ञान, निश्चित ज्ञान, पूर्ण विवेक.

प्रमाद– भूल, असावधानता, वास्तविक ज्ञान पालेनेमें उदासीनता.

प्रमेय प्रवाल सुप्रभ– श्रुतिस्मृतिमें निरूपित तत्वरूपी दूर्वादलोंसे सुशोभित.

प्रयाणकाल– मृत्युसमय.

प्ररुद्ध– पूर्णरूपसे ढका हुवा, सभी ओरसे आच्छादित, आवृत्त.

प्रलयवात–प्रलय कालका बवंडर. वायुका उमड आना.बवंडर जन्य विनाश.

प्रलयसत्र–विश्व-संहारका यज्ञ, संहारकाल, विनाशकाल.

प्रलयांबु–विश्व संहारकालीन महापूर, जब पानी समूचे विश्वको डूबो देता है.

प्रलोभन–लालच.

प्रवचन–वेदांतव्याख्या, जीवनकी गूढ समस्याओंको भलीभांति समझा देना. अपने हृदयके भावको जगदंतर्यामी सर्वात्मक देव तक पहुंचा देना.

प्रशंसा–गुणगान, स्तुति, स्तवन करना.

प्रसाद–अनुग्रह, दया, जो वस्तु प्रसन्नतासे देवता या गुरुजनोंसे छोटों को मिलता है. नैवेद्य लोगोंमें बांटना.

प्रहर–तीन घंटे, दिनके आठ भागोमें एक.

प्राग्जोतिकी आरति– आत्मप्रकाशसे साधककी आरती उतारना.

प्रांजल–सरल, प्रामाणिक.

प्राण–देहजीवित, पंचप्राण, आकुंचन प्रसरणके कारणरूप शक्ति, शरीरजन्य वायुतत्व, समाधि साधनेके लिये जिसका नियमन करना पडता है, श्वास प्रश्वास शरीर जन्य सभी शक्तियोंका मूलस्रोत, जीवन,

प्राणि–जिसमें प्राण है वे सारे जीव.

प्रायश्चित्त–पापक्षालनके लिये किया जानेवाला कर्म.

प्रेम, प्रीति–स्नेह, भक्ति, चाव, आत्मीयता.

प्रेरणा–प्रवृत्त करना, किसी कार्यमें स्फूर्ति देना.

प्रौढ– गंभीर, दृढ, गूढ, विचारपूर्वक कार्य करनेवाला.

फ

फल–कर्मजन्य विविध परिणाम.

फलाशा–अपने कर्मके परिणामके भोगकी आशा. परिणामकी आकांक्षा.

(कर्म)फलसंयोग–कर्मसे उसके परिणामोंको जोड देना.

फुरहर–स्फूर्त, स्फुरण, उद्‌भूत, निकलना निष्पन्न होता.

फुरसें–रेंगनेवाला एक जहरीला जंतु जो काटनेसे बडा कष्ट होता है, कभी कभी आदमी मर भी जाता है.

ब

बछनाग–एक प्रकारका जहर, जो पहले मीठा लगता है.

बंजर–ऊसर भूमि.

बंधनवार–तोरण, घरके दरवाजेके चौखटमें घरके सामने फूल पत्तियां आदि बांधकर सजाना.

बद्ध–बंधा हुवा, बंधित, बंदी.

बहुधाकार अनेक आकार प्रकार.

बहुश्रुत–जिसने बहुत सुना हो, अनेक विषयोंका जानकार.

बहेलिया–व्याध, चिडियामार, क्रूरकर्मी.

बाह्यावर्ती–बाहरका, बहिरंग,

बिजूखा–पशु पक्षियोंको डरानेके लिए खेतमें खडी की जानेवाली काली हांडी.

बिंदु–शून्य,

बिल्लौर- स्फटिक, पारदर्शक पत्थर, स्वच्छ शीशा.

बीज–धर्म, रहस्य, बीजशक्ति, प्रत्येक प्राणिमात्रके विषयमें जो ईश्वरी-संकल्प है वह, प्रेरणा. प्रत्येक मानवी शक्ती तथा मानवमें स्थित दैवी शक्तीकी छिपी संभावना, चिदाभास, चेतनास्पर्श.

बुद्धि– विवेकशक्ति, समझ, आत्मौपम्य बुद्धि. भेद-बुद्धि, मनोबुद्धि, ममत्व-बुद्धि योग-बुद्धि, व्यवसायात्मिका-बुद्धि, समत्व-बुद्धि, सांख्य-बुद्धि, स्थिर-बुद्धि, हत-बुद्धि हीन-बुद्धि, आत्माभिमुखबुद्धि, भावना, वृत्ति, प्रकृतिगत बुद्धितत्व, आकलनशक्ति, कल्पनाशक्ति, चिंतनका इंद्रिय, समर्पणबुद्धि.

बुद्धिनाश– संशयाकुल बुद्धि अस्थिरबुद्धि, स्वार्थाभिमुखबुद्धि, परमात्मविमुख बुद्धि, ये हतबुध्दिके, बुद्धिनाशके लक्षण.

बोध– आकलन, ज्ञानकी जागृति, अनुभूतिजन्य ज्ञान.

बोधार्क– बोधरूपी सूर्य.

ब्रह्म– बृहत् बडा, इतना बडा और कुछ भी न हो, सर्वव्यापक, जगतका मूलकारण परमात्मतत्व, सगुण ब्रह्म, जो ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करता हैं, कर्माहंताका नाशक निर्गुण ब्रह्म सर्वव्यापक बनकर सोऽहंभावका शान्त आनंद, देता है.

ब्रह्मानंद– ब्रह्मानुभूतीका आनंद, सोऽहंभावका आनंद, तत्वमसिका आनंद, ब्रह्मसमरसैक्यका आनंद.

ब्रह्मकर्म– अध्ययन अध्यापनादि ज्ञानसाधनाके ब्राह्मण कर्म, शांति क्षमादि शमदमादि ब्राह्मणोंका ब्रह्मकर्म है.

ब्रह्मचर्य– ब्रह्म जिज्ञासा तथा ब्रह्मचिंतनसे उसी उद्देश पूर्तिके लिये की जानेवाली सर्वेंद्रियसंयमपूर्वक ध्येयनिष्ठ एकात्म साधना. अनन्य भक्ति,

ब्रह्मगोलक– ब्रह्मांड.

ब्रह्मरंध्र– योग सामर्थ्यसे जहांसे प्राण बाहर ले जा सकते हैं वह गुप्त छिद्र. जो मस्तकमें-तालूमें- रहता है

ब्रह्मस्थान– सहस्रदल कमल सहस्रार चक्र.

भ

भक्त– ईश्वरका भजन करनेवाला, ईश्वरसे निष्काम प्रेम करनेवाला, ईश्वरो-

पासक, भक्तके गुणोंका उपासक, आर्तभक्त, जिज्ञासूभक्त, अर्थार्थी भक्त, ज्ञानी भक्त,

भक्तभावभुवनदीप– भक्तके प्रेमरूपी घरका दीपक.

भक्तानुग्रह– भक्तपर अनुग्रह, भक्त वत्सलता.

भक्ति– ईश्वरसे निस्सीम और निष्काम प्रेम, ईश्वरोपासना, अनन्य-भक्ति, पराभक्ति, अव्यभिचारी भक्ति, अद्वैतभक्ति, सहजभक्ति, श्रवणभक्ति, कीर्तनभक्ति, स्मरण-भक्ति, पादसेवनभक्ति, अर्चन-भक्ति, वंदनभक्ति, दास्यभक्ति, सख्य आत्मनिवेदनभक्ति.

भर्ता– भरण-पोषण करनेवाला, भार वाहन करनेवाला, सहायक.

भवतरु, भवद्रुम– संसाररूपी वृक्ष.

भवद्रुमबीजिका– संसार वृक्षका बीज.

भवभंवर– संसाररूपी भंवरा संसारका चक्कर.

भवेभ कुंभभंजनं– संसाररूपी हाथीका मर्मस्थल, गंडस्थल भेद करनेवाला.

भातुक– मूल ज्ञानेश्वरीका मराठी शब्द. खाना, खानेकी वस्तु, मिठाई.

भानु– सूर्य.

भाव– स्थिति, अस्तित्व, भक्ति, श्रद्धा, कल्पना, अभिप्राय, वस्तु, पदार्थ भावार्थ गूढार्थ, अष्ट-सात्विक-भाव, अनन्यभाव, अहंभाव, धर्म-भाव, नम्रभाव, ब्रह्म-भाव, मूढ भाव, शिष्य भाव, सहज-भाव, स्वभाव तात्पर्य, आविर्भाव, पूर्वजन्मकृत संस्कार जन्य-भाव, तत्व, ब्रह्म.

भावना– बुद्धिकी वह अवस्था अभ्याससे जो छीजगयी हो, सगबगा गयी हो, चित्तवृत्ति, मनकी एक शुद्ध अवस्था, आदि.

भावशुद्धि– अंतःकरण शुद्धि.

भास– अस्पष्ट दीखना, अल्पसा दीखना, झलकना, थोडे समयके लिये दीखना, भ्रमात्मक संवेदना.

भास्कर– सूर्य.

भुवनोद्भवारंभस्तंभ–स्वर्ग मृत्यु आदि भुवनोंकी उत्पत्तिका आधार स्तंभ

भूतचतुष्टय– भूत=प्राणिमात्र भूत+चतुष्टय चार प्रकारके प्राणि, उद्भिज, स्वेदज, अंडज, जारज, इसे योनिचतुष्टय अथवा भूतचतुष्टय कहा जाता है, या पृथ्वी, आप, तेज, वायु. आकाश नही दीखता इसलिये अस्वीकार्य.

भूतभावना– भूत अथवा जगतकी कल्पनाका आश्रय. भूतोंका रक्षण करनेवाला.

भूताभास– जगतका आभास.

भेद– प्रकार, रहस्य, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ भेद, बुद्धिभेद, भंग, तोड गिराना, अंतर भिन्नता.

भेदाभेदतम– भेद अभदेका अंधःकार.

भोक्ता– भोगनेवाला, भोगनेका अधिकारी.

भोक्तृत्व– भोगना, अनुभवना.

भोग– सुखदुःखानुभव, कर्मफलभोग, ऐहिक पारलौकिक. विषयभोग, राज्योपभोग ऋद्धि सिद्धीके योग-भोग, आध्यात्मिक आनंद भोग.

भ्रूलता–भौंवे.

म

मकरंद–मधु, शहद.

मकारांतसोपान, – योगमार्गका आज्ञाचक्र

मख,–यज्ञ.

मंगलमणिनिधान-कल्याणरूपी रत्नोंकी खान

मज्जा–शरीरगत धातुविशेष.

मठ– मटका.

मणिज– अंडज, अंडोमेंसें उत्पन्न होतेपाले जीव

मद–गर्वातिरेक; उन्मत्तता, उन्माद, धुंध

मदत्रय– कुलमद, विद्यामद, धनमद.

मंत्र–युक्ति, विशेषशक्तिसंपन्न ऋषिमुनियोंका वाक्य. यज्ञका प्रेरक विचार वदेमंत्र

मदांध–मदके कारण अंध, मदमें चूर

मंदराचल–मंदार पर्वत

मध्यमा– सुषुम्नानाडी, चार वाणियोंमें कंठस्थ तीसरी वाणी.

मध्यमा मध्यविवर – सुषुम्नानाडीके बीचमेंसे.

मनपवनखिलौना – मन और प्राणनिरोधका खिलौना.

मन– संकल्प कल्प करनेवाली शक्ति, अंतःकरण सामान्य, इंद्रिय व बुद्धिके बीचका जोड, विकाराश्रय, मननकारी, मन+बुध्दि चित्त,चित्तका विकाराश्रित घटक.

मनशुद्धि– मनकी निर्मलता, चित्तशुद्धि.

मनसोक्त– यथेच्छ, स्वैर विहार.

मनौती–मन्नत, मानना, देवपूजा.

ममता– अपनापन, प्रेम, वात्सल्य, कर्मसंग, परिग्रहका अपनापन.

मरगज– एक प्रकारका रत्न, हरे रंगका.

मलत्रय– आणवमल, माथामल, कार्मिकमल इन मलोंके कारण अनेकत्वका आभास होता है.

महज– केवल.

महदहंबुद्धि–महत्+अहं+बुद्धि.

महदाकाश–महत्तत्वका विश्रांतिस्थान, जहां महत्तत्व लीन होता है वह.

महादिक– शरीरमें महत्तत्वसे स्थूल शरीरतक

माहार्णवसिंधु– मोहरूप समुद्र जो लहरें मारता रहता हैं.

महाकालकाल जो महाकालका भी काल है.

महातेजमहार्णव–महान तेजका महासागर.

महोदधि– महासागर.

मांझी– नांव खेनेवाला मल्लाह,.

माझा– मूल ज्ञानेश्वरीका मराठी शब्द, अर्थ मेरा, प्रासके लिये अनिवर्य होनेसे लिया गया है.

मात्रात्रय– ॐ अ, उ, म्.

माया– आभास निर्माण करनेवाली ईश्वरीशक्ती, अज्ञान, जिवोंका अंधार, अविद्या, अज्ञान.

मारुत– वायु. जब प्राणवायु निकलकर गगनमें विलीन हो जाता हैं उस स्थितिमें कुंडलिनी मारुत कहलाती है.

मिस– निमित्त, बहाना.

मीलनोन्मीलन–खुलना रुकना बारबार खोलना और बंद करना.

मुकुल – कमलकली.

मुदित–प्रसन्न.

मुद्दी– मूल मराठी शब्द, प्रासके लिये लिया गया· मुद्रिका अंगूठी.

मुमुक्षु– मोक्षकी इच्छा करनेवाला.

मूर्धन्य– मस्तक,

मूर्धन्याकाश– मस्तककी रिक्तताम.

मेखला– कटिसूत्र, कमरबंध.

मेघ– यज्ञ.

मेधा– बुद्धि, धारणाशक्ति, स्मरणशक्ति.

मोक्ष– संतिम पुरुषार्थ तिरालंब शास्वत आनंदकी स्थिति, जीवन–मोक्ष, मरणोत्तर मोक्ष, देहरहित परिशुद्धि, ब्रह्मनिर्वाण

मोघ– पाप.

मोह– भ्रम, कर्तव्यनिर्णयमें आसक्तिजन्य मोह,स्वर्ग नरक सुकृत-दुष्कृतादि द्वंद्वजन्य मोह, कर्तव्य-पराङ्मुखताका मोह, अनिश्चय या स्वधर्म त्यागका संस्कारजन्य मोह, पापकारी मोह, भूतवैषम्यजन्य मोह; मानवोंमे ईश्वरका ग्रहण न करने देनेवाला मोह, तमरूपी जडताजन्य मोह, भेदबुद्धिजन्य मोह, ऐसे अन्य अनेक प्रकारके मोह वासनाओं के कारण होते हैं.

य

यजन– यज्ञ, पूजन.

यज्ञोपकरण– यज्ञके उपकरण, यज्ञके साधन.

युक्तित्रय– योगका पारिभाषिक शब्द, तीन बंध, मूलबंध, जालंधरबंध, तथा उड्डियानबंध.

यूप– यज्ञका एक स्तंभ.

योग– कर्म-कुशलता. सिद्धांतोंको व्यवहारमें लानेकी कला. फल वासना त्याग द्वारा. कर्ममें ही एकाग्रताका अभ्यास व तज्जन्य कर्म-समाधि, समाधिकी परिपक्वताः स्थित प्रज्ञता, ईश्वर प्राप्तिके लिये एकाग्र साधना, आत्मदर्शनोपायसाधन, आत्मज्ञाननिष्ठ समर्पणजन्य निष्काम कर्मयोग.यज्ञादि कर्माचरणानुष्टान, चित्तवृत्तिनिरोध, समदृष्टि व साम्यभाव, एकाग्र चित्तसे ब्रह्मानुसंधान, समत्व भावसे ईश्वरसे जुडना, ईशत्व प्राप्तिकी सिद्धि, ईश्वर तुल्य होकर समत्व सिद्धि, योग समुच्चय कर्म भक्ति ज्ञान द्वारा आनंद प्राप्ति, ईश्वरी शक्तिका आविर्भाव, सदैव ब्रह्मानुसंधान. ब्रह्मलीन समरसता.

योग-क्षेम– सर्वस्व ईश्वरार्पणकी प्रेरणा, इससे जो साधकके पास नहीं है और उसके लिये जिसकी आवश्यकता है वह परमात्मकृपासे मिलेगा और जो उसके पास है और साधकके लिये आवश्यक है उसकी रक्षा परमात्मा करेगा यह भाव.

योगाब्जिनीसरोवर– योगरूपी कमल उगनेवाला सरोवर.

योगी– कर्मयोगी जो न करनेका सा करता रहता है, कर्मजन्य थकानसे मुक्त, कर्मयोगीका प्रत्येक श्वास और धडकन ईश्वरोपासना होती है. सदैव सर्वत्र ईश्वरानुभव जन्य साम्यता और एकाग्रता इसका परिपाक है. ध्यानयोगी ध्येयसे समरस हुवा साधक, जहां ध्येय और ध्याता ऐसा द्वैत नहीं रहा, ध्येयरत ध्येय-लीन, सगुण-निर्गुण उपासक ज्ञानयोगी. ज्ञेयसें समरस हुवा ज्ञानी. सदैव सर्वत्र ज्ञेयरत ज्ञेय लीन. भक्त-योगी; नित्य भगवद्रूपमें भक्तिरत भक्त.

र

रत–तन्मय, लीन, किसीमे डूबा हुवा.

रथ्योदक–रास्ते पर बहनेवाला नालोंका पानी.

रव– शब्द.

रविचंद्रराहुमेल– सूर्यचंद्रग्रहण.

रश्मिकर– सूर्य.

रश्मिजाल– किरणोंका जाला.

रस– आर्द्रता, पानी, औषध, रसायन, अन्नके रुचिके छ प्रकार-षड्रस, अंतःकरणमें उत्पन्न होनेवाले वृत्तिरूप भावरस नवरस, पतला पदार्थ, पारद पांच विषयोंमें एक जिव्हाका विषय.

रसाई– प्रवेश, पैठ.

रसायन– भस्मादि पौष्टिक औषधविशेष.

रसोईदार– रसोई बनानेवाला.

रातोत्पल– लालकमल.

रुतना– गढना, घुसना, रुझना.

रूख– वृक्ष,पेड.

रोमबीज– बालका मूल.

रोमांच– अष्ट सात्विक भावमे एक.

ल

लगन– प्रवृत्ति, रूचि. एकाग्रता, चाह.

ललितकंचन– तेजस्वी, सोना.

लालनशील– लालन पालन करनेकी क्रीडा करनेवाला.

लिंग– चिन्ह, लक्षण, आराध्यदैवत, शिवलिंग.

लिंगदेहकमल– वासात्मक तत्त्वोंसे बने लिंग देहका कमल. देह कमल. लिंग देहके वासना तत्त्व १७ होते हैं. पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय पंचप्राण मन और बुद्धि.

लिप्त– लिपा हुवा. पुताहुवा, आसक्त.

लीलना– निगलजाना.

लीला-विलास– क्रीडाका विलास करनेवाला, लीला सहज क्रीडायें

लुब्ध– लोलुप, मोहित, ललचाया हुवा.

लुब्धक– व्याध, बहेलिया, चिडियामार, शिकारी.

लेंडूक– लेंड, मलकी बत्ती.

लोक– जगत, स्वर्गलोक, मृत्युलोक, पाताललोक, त्रिलोक, अथवा त्रिभुवन. अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, तथा पाताल ये सात अधोलोक और भूलोक, भूवर्लोक, स्वर्लोक, महा-लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक ये सात ऊर्ध्वलोक मिलकर चौदा लोक अथवा चौदा भुवन माने गये हैं.

लोकाचल– ऊर्ध्वलोकोंका शिखर.

लोकोत्तर– अलौकिक.

व

वक्त्र– मुख,

वंग– कलंक, सोनेका मल.

वंचना– धूर्तता, ठगी, छल.

वज्रकवच– अभेद्य आवरण, वज्रकी अभेद्य पोषाक.

वज्राग्नि– वज्रासन करनेके कारण मूलबंधसे उत्पन्न होनेवाली उष्णता.

वज्रयोग– वज्रासन जन्ययोग.

वटांकुर– वटबीजका अंकुर.

वडवानल– समुद्रके नीचे जलनेवाला प्रचंड अग्नि.

वध्य– मारनेका विषय.

वन्ही– अग्नि.

वर्ण वपु– वर्णरूपी शरीर.

वर्णाश्रम– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास, ये चार आश्रम मिलकर वर्णाश्रम धर्म कहलाता है.

वसु– विभूति परिचयमें अष्टवसु देखें.

वाकपूजा– शब्दरूपी पूजा.

वाग्जाल– शब्दपांडित्य.

वाग्ब्रह्म– वेद.

वाग्विलासिनी– वाणीकी क्रीडा करनेवाली.

वाचस्पति– बृहस्पति.

वांछित– जो चाहा था वही.

वार्तिक– सूत्रोंपर किये गये व्याख्यान.

विकर्म– भावनात्मक कर्म, विशेष कर्म, यह गीताका विशेष पारिभाषिक शब्द हैं.

विकार– प्रकृतिजन्य इंद्रिय विकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यह षड्विकार जन्य मनोमल.

विकाराष्टक– अष्ट सात्विक भावको ही कई स्थान पर अष्ट विकार, अथवा विकाराष्टक कहा गया है.

विगत विषय वत्सल– विषय वासनाओंको नष्ट करनेवालोंसे प्रेम कर-नेवाला.

विचक्षण– चिकित्सक, आलोचक, विचार-वान.

वितरण– बांटणा.

वितृष्णा– निरिच्छा, निरपेक्षा,

विदलित मंगलकुल– अशुभकुलोंको समूल नष्ट किया हुवा.

विदुदोघानद्विरद्– ज्ञानोघरूपी वनका हाथी.

विद्या– जानना, वेद-विद्या, ज्ञान-दृष्टि, शास्त्राध्ययन, आत्मज्ञानका शास्त्र. अधिक पांचवा परिशिष्ट देखें.

विद्यारविंदप्रबोध– विद्यारूपी कमलका विकास करनेवाला

विद्युताग्नि– आकाशस्थ बिजलीका अग्नि.

विद्युत्वन– बिजलीका वन.

विधिनिषेध-विधि=जो करना है वह, निषेध जो त्याज्य है वह, कार्याकार्य.

विधिविवर्जित-शास्त्र मर्यादाका उल्लंघन. किया हुआ.

विनट– खेलका साथी.

विनोदवनवाटिका– मनोविनोदके लिये बनायी गयी जगह.

विपरीतज्ञान–अन्यथा ज्ञान. ज्ञानको अज्ञान और अज्ञानको ज्ञान समझना.

विभुधवनवसंत– विद्वानोंके वनमें आया हुवा वसंत, विद्वानोंकी विद्वत्ता खिलानेवाला. विद्वद्वृत्तिमें बहार लानेवाला.

विभूति– जहां ईश्वर भावका उठाव स्पष्ट दीखता है, ईश्वरी भाव. शुचि-साधनसंपन्न, प्रज्ञायोगादि-संपन्न=विभूति.

विमनस्क– अन्यमनस्क, उदास, तटस्थ, उन्मन, जिसका मनोलय हुवा है वह.

विरक्त– वैराग्यसंपन्न, वासनाओंसे परा-ङ्मुख, आत्माभिमुख, वैराग्य-संपन्न.

विलुप्त– अदृश्य.

विवेकवल्लीका उद्यान– विवेकरूपी लताका उपवन, अर्थात् जहां कार्याकार्य विवेक हो.

विवेचन– मीमांसा, आलोचना, औचित्य अनौचित्यका दर्शन.

विषयबोधविदग्ध– स्पष्ट बोध देनेमें कुशल.

विषयविद्यावधुवल्लभ–शुद्ध ब्रह्मविद्या रूपी वधूका वल्लभ, पति.

विशेष–तुलनामें श्रेष्ठ, विशिष्ट, सर्वोत्तम अधिक.

विश्व– जगत् सृष्टि.

विश्वतश्चक्षु– सारा विश्वही जिसकी आंखें हैं.

विश्वतोमुख– सारा विश्वही जिसका मुख है.

विश्वतः पाद्– विश्वही जिसके चरण हैं.

विश्वदभ्र– विश्वके बादल, विश्वरूपी मेघ.

विश्वबाहु– सारा विश्वही जिसके बाहू हैं.

विश्वमोहिनी– विश्वको मोहनेवाली.

विश्ववस्वप्न– यह विश्व एक स्वप्न है.

विश्वात्मकदेव– विश्वस्वरूपी देव, जगदंतर्यामी.

विश्वोद्भवभवन–विश्व निर्मितिका स्थान.

विश्वोदरतोंदल– विश्वरूपी उदरकी तोंद.

विषद्– स्पष्ट खोलकर, शुद्ध रुपसे.

विषय– इंद्रियौंके विषय.

विषयवाहिनी– विषयोंका प्रवाह.

विषयविध्वंसैकवीर–विषयोंको नष्ट करनेमें एकैकवीर.

विषयविषजाल– विविध विषयरुपी विषका आवरण.

विषयव्याल – विषयरूपी सर्प, विषयरूपी अजगर.

विसर्जन – पोछ डालनेकी क्रिया, पूजामें विसर्जन क्रिया अंतिम होती है. पूजामें सर्व प्रथम अपने हृदयस्थको मूर्तिविशेषमें प्रतिष्ठा करके अंतमें वह उसी हृदयस्थको मूर्ति-मेसे विसर्जित कर अपने हृदयमें वापिस बुलाया जाता हैं मूर्तिपूजा एक प्रकारसे हृदयस्थकी पूजा हैं.

विस्फुलिंग – चिनगारी,

विस्मरण विस्मृती–भूलना, भूलनेकी क्रिया.

विस्मित – आश्चर्य चकित, चमत्कृत.

विहंग, विहंगम– आकाशमें उडनेवाला पक्षी.

विहितकर्म– शास्त्रोंद्वारा कहे गये कर्म.

विज्ञ– जानकार, विद्वान.

विज्ञान– प्रापंचिक ज्ञान, बुद्धिकी जानकारी आचरणमें लानेकी कुशलता. अपरोक्षानुभूत ज्ञान. शास्त्रोक्त कर्मोंसे बुद्धि ईश्वरमे स्थिर करना.

वीतराग– विरक्त.

वृत्ति– मनोदशा, मनकी अवस्था, स्वभाव, भावना, आचार पद्धति, चित्त वृति. चरितार्थका साधन.

वेदप्रतिताद्य,– वेदोंद्वारा प्रतिपादित विषय.

वेदवादरत–वेदके अर्थवादमें शब्दार्थ वादमें. मग्न.

वेद्य– जानने योग्य.

वेध– चित्तका आकर्षण, धुन, रट, झक, चसका, लत.

वेधना– व्यापना.

वेष्टन– आवरण.

वैखरी– चारवाणियोंमें एक स्वपरवेद्य वाणी.

वैजयंतीमाला– श्रीविष्णुके गलेमें पडी एक-माला जिसमें पंचतत्वदर्शक पांचोंरत्न होते हैं हीरा आकाश, माणिक्य अग्नि, पुष्कराग वायु. मोति जल, नील पृथ्वी.

वैराग्य – अनिष्ट विषयोंको वर्ज्य माननेका भाव, अनासक्ति, किसी भी सत्ताके विषयमें उदासीनता,

व्याप – अपनेमें समालनेकी वृति.

व्यभिचार – कृतघ्नता, भ्रष्ट होनेकी वृत्ति, अलगता, अंतर. बीचमें परदा होना.

व्यसन– कुटेव, विषयानुरक्ति, आसक्ति लंपटता.

व्याख्यान– किसी विषयक, प्रमेयका विवेचन करके उसको समझाना.

व्याघ्र गव्हर– शेरकी मांद.

व्यापना– अपनेमें समालेना.

व्यापक– सर्वगत. जो सर्वत्र रहा हो.

व्याल विवर– सांपका बिल.

व्रत– नैष्ठिक नियम.

श

शतघ्नी– तोप, जिससे सौ सौ लोग मारे जाते हों.

शतधा– सैंकडो प्रकारसे.

शतमख– सौ यज्ञ.

शतमखउत्तीर्ण– सौ यज्ञ करके इंद्रपद पाया हुवा.

शब्दब्रह्म– वेद.

शम– अंतःकरणके संयमके कारण स्वस्थता, शांत होना. अंतर्दाहका शमन.

शमदममदनमदभेद– शमदमादि द्वारा-काम- मदका नाश करनेवाला.

शरीरासक्ति– शरीर पर आसक्ति.

शरीरभाव– शरीरके विकार. शरीरही मैं हूं ऐसा भाव

शांत, शांति– उपशम पाया हुवा, अक्षोभ चित्त, चित्तका समाधान, मोक्षका पूर्वसूचन.

शार्ङ्गधर– श्रीकृष्ण.

शार्दूल– सिंह.

शालिखेत– विशिष्ट प्रकारके धान-जो सुगंधित होता है, खेत.

शाश्वत– नित्य, सदैव रहनेवाला अविनेवाशी, सनातन, स्थिर, अविचल.

शास्ता– शासन करनेवाला, शासक.

शास्त्र– कर्म, उपासना, तप, यज्ञादि जीवन विषयक प्रश्नोंका पूर्वसिद्ध अनुभव.

शिष्टआगामविधान– शिष्टाचार, वेदोक्त शास्त्रीय आचरण, परंपरागत आचरण,

शीत– सर्द, ठंडा, शीतल.

शुक्ति– सीप.

शुचिता– पवित्रता, नीतिमत्ता, निर्विकारिता

शुभ– इष्ट, भला, निर्मल, सत्कार्य.

शून्य– निराकारब्रह्म, आकाश, कुछ भी नहीं, निःशेष, अभाव, रिक्तता.

शैलकक्षाके गव्हर– पर्वत श्रेणियोंकी गुफायें.

शोक– मोह आसक्तिजन्य व्याकुलता, उद्वेग, अनुत्साह, पश्चात्ताप जन्य अनुत्साह, विकारोंका परिणाम.

शोष– सूखना, शुष्क, सूखा.

शौच– पवित्रता, शुचिता, शुद्धता, स्वच्छता.

श्रीमहालया– नेवासेका मोहिनीराज मंदिर.

श्रुति– वेद.

श्रुतिगुणगणसमुद्र– वेदोक्त गुण समुच्चयका सागर.

श्वशुर– ससरा.

श्वानपिशित– कुत्तेका मांस.

–ष–

षट्कर्म– यज्ञ कराना, यज्ञ करना, वेदाध्ययन, वेद अध्यापन, दान और प्रतिग्रह (दान देना लेना) ये ब्राह्मणोंके षट्कर्म हैं.

षड्गुणचक्रवर्ति– यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य, और ऐश्वर्य ये भगवानके छ गुण हैं, इन गुणोंका चक्रवर्ति भगवान.

षड्गुणाधिकरण– उपरोक्त छः गुणोंका स्थान.

षड्रसान्न– छ रसोंका अन्न.

–स–

संकर– व्यभिचारजन्य मिश्रण, सामाजिक अव्यवस्था.

संकल्प–मानसिक कर्म प्रवृत्ति, मनका मूल स्वरूप, यज्ञादिक कार्योंका संकल्प, मनसे उत्पन्न करना.

संकल्प संध्या–मनकी संकल्प करनेकी प्रवृत्तिका अंत.

सकल काम पूर्णता– सभी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला.

सकलमतिप्रकाश– 'सबकी बुद्धिको प्रकाश देनेवाला.

सकलावयवदर्शन–अवयवोंका दर्शन. सभी संपूर्ण दर्शन.

सकलैश्वर्यसुख–सभी प्रकारके ऐश्वर्यका सुख

सकाम– इच्छायुक्त, फलेच्छासे कर्म करने वाला. विजयेच्छायुक्त.

सख्य– नवधाभक्तिमें आठवे प्रकारकी भक्ति.

संग– आसक्ति, संबध, अनुराग, कर्मसंग, गुणसंग, जनसंग, मुक्त-संग संगदोष, संग, आसक्तिसे दोष निर्माण होते हैं, कर्म फलासक्तिसे जैसे साधक कर्म बंधनमें आता है वैसे ही कर्मासक्तिसे भी,

संगमस्थान–ऐक्य स्थान.

सगबगाना–सराबोर हो जाना, भीग जाना, तर हो जाना, परिपूर्ण हो जाना.

संग्रह– संचय, एकत्र करना, फूटने न देना सही दिशामें रखना, दुरूपयोग न होने देना, परिग्रह.

संघात– समष्ठि, नियम, वृंद, समवाय.

सज्जनवनचंदन–सजन रूपी बनमें चंदन के समान.

सत्– भला, सत्कर्म ब्रह्मवाचक शब्द, ॐ तत् सत्में अंतिम तत्व, केवल शुभ.

सत् असत्का प्रश्रय–वह तत्व जो सत् असत् का द्वंद्व नहीं था तब भी इन दोनोंका आश्रय रूप था.

संत– सत्पुरुष, सदैव सर्वहित. कामना करनेवाले, सदैव टिकनेवाला ईश्वर भक्त, ज्ञानी, योगी, तत्वदर्शी, सदसद्विवेक रखनेवाला

यज्ञावशेषभोगी, सदैव सन्मार्गसे चलनेवाला. सर्वत्र ईश्वर दर्शन करनेवाला, सत्यनिष्ठ, धैर्यसे सत्य तथा सत्वमें स्थिर रहनेवाला.

संतर्पण– भोजन देना. अन्नसत्र.

सत्कारवाद्– कार्यकी अभिव्यक्तिके पहले अर्थात् कार्य प्रकट होनेसे पूर्व कारणमें उसका अस्तित्व माननेवाले निरीश्वरवादी सांख्योंका मत.

सत्ता– सत्व, सामान्य चैतन्य, अस्तिव, स्वामित्व.

सत्वशुद्धि– सत्वगुणका निर्मलत्व, चित्तशुद्धि, अंतःकरणका निर्मलत्व.

संन्यास– कर्मत्याग, अहंता ममताका त्याग, जीवन्मुक्तावस्थाकी अनुभूति, ब्रह्मार्पण भावसे जीवनयापन.

संन्यासी– ब्राह्मभावमें लीनजीवमुक्त पुरुष.

संन्निधान– सामीप्य.

संप्रदाय– परंपरागत जीवनपद्धति.

सबरी– खोदनेके काम आनेवाली लोहकी मोठी छड.

समता– एक जैसा, शांत, द्वंद्वातीत अवस्था, समबुद्धि, समान मानना, सहज,

समचित्त– चित्तकी समानतावाला.

समबुद्धि– बुद्धिसे समान माननेवाला.

समदृष्टि– सबको समान देखनेवाला. सबको समान समजने वाला.

समन्वय– मिलान, मेल.

समरस– एकरस.

समवाय– नित्यसंबन्ध, समष्टिरूप, समुदाय.

समाधान– निःसंशयवृत्ति, शांतवृत्ति, संतोष, अवरोध निराकरण.

समाधिबोध– ध्यानशून्य तन्मयताका बोध, निष्काम कर्मलीनताका बोध, भगवत् चिंतनमें डूब जाना.

समुद्धर्ता– सही तरीकेसे, पूर्ण रूपसे उद्धार करनेवाला.

समूहपरत्व– समूहमें, समुदायमें आगे होने का भाव.

सम्मोहनावस्था– मुग्धावस्था, मोहावस्था.

सर्वगत– सर्वव्यापी, सभीस्थानोंमें फैला हुवा.

सर्वज्ञ– सब कुछ जाननेवाला.

सर्वात्मकदेव, सर्वात्मकस्वामी– सबमें बसा हुवा देव, जगदंतर्यामी, सर्वांतर्यामी.

सर्वेश्वर– सबका स्वामी.

सर्वोपशांतिप्रमदा–सभी प्रकारकी शांतिरूपी तरुणी.

सलिल– पानी.

सलोनापन– सौंदर्य.

संवादफलनिदान– संवादरूपी फलका अंत.

सव्यसाची– अर्जुन, दोनों हाथसे समान रूपसे बाण चलानेवाला.

संसर्ग– लगाव, संग, संबंध.

संसारतमसूर्य– संसाररूपी अंधकारके लिये सूर्यके समान.

सहजसमाधि– सहज एकाग्रता, सदैव स्वाभाविक ध्येय तन्मयता.

सहजकृपामंदानिल– स्वाभाविक कृपारूपी मंदशीतल पवन.

सहजस्थपुरुष– अपने भावमें लीन पुरुष.

सहस्रकरकुमार– सूर्यपुत्र कर्ण.

संहाररुद्र– प्रलयकालका रुद्र.

सांख्य– ज्ञानीलोक, सांख्यशास्त्र, सांख्यदर्शन जीवनके सिद्धांत, जीवन सिद्धांतमें सगबगाया हुवा ज्ञानी, ज्ञान निष्ठा, क्षराक्षर विचार, आत्मानात्मविवेक, पिंडब्रह्मांड ज्ञान;

सांख्यबुद्धि– आत्माका अकर्तृत्व, अकर्मत्व, अप्रेरकत्व, अविनाशित्व नाशवान देहके जरिये स्वधर्माचरणकी अनिवार्यता.

सांतःकरण– अंतःकरणके सह.

साधक—मोक्षसाधक, मुमुक्षु, विषयत्यागका प्रयत्न करनेवाला. ईश्वरसे जुडनेका

अभ्यास करनेवाला. आत्मदर्शन-इच्छुक तथा प्रयत्नशील. कर्मफल त्यागका प्रयत्न करनेवाला. सदैव ब्रह्म चिंतनमें लीन होनेका अभ्यास करनेवाला.

साधु—सज्जन, सुविचारी, सदाचारी, साधु और पापीको समान माननेवाला, साम्यवृत्तिवाला.

साध्य—देवतागण विशेष, विशिष्ट साधनाके द्वारा सिद्धीतक पहुंचे हुए, जिसको पाना होता है और साधनाके द्वारा उसे पा सकते है वह.

साम्यबुद्धि—विश्वात्मैक्य जन्य समत्व बुद्धि. सभी प्राणिमात्रोंमें परमात्मभाव-को अनुभवना.

साम्ययोग—समतासे साधा जानेवाला योग. समता प्राप्तिके लिये कीजानेवाली साधना. साधनाके साथ समत्वका अनुभव.

साम्राज्य— निष्कंटक सार्वभौम राज्य.

सायास— कष्ट.

सायुज्यसिद्धिदिन— अंतिम मोक्षावस्था प्राप्त होनेवाला दिवस.

सार— सत्य, तत्व, तत्वांश, रहस्य, सारभाग, सारसर्वस्व, समग्रता.

सारस्वत— विद्या, साहित्य, सरस्वतीका पुत्र, सरस्वती जन्य.

सावध— जागृत, परमार्थके विषयमें, ज्ञानमें तत्पर, सर्वत्र ईश्वरानु-भवमें अभ्यस्त. प्रमादरहित.

साक्षात्कार— प्रत्यक्ष परमात्मदर्शन, सदैव सर्वत्र परमात्मानुभूति,

साक्षीभूत- केवल दर्शक, तटस्थ, घटना-ओंमें, न उलझा हुवा.

सिद्ध— पूर्णावस्थाप्राप्त, सर्वत्र ब्रह्म दर्शनके कारण सदैव निर्भय, जो पाना है उनका निश्चय किया हुवा, कृतिसे तैयार, निष्कर्ष, एक देवयोनि, प्रत्यक्ष.

सिद्धप्रज्ञा— पूर्व जन्मसे परिपक्व, तथा इस जन्ममे कमायी गयी बुद्धि.

सिद्धि— अष्टमहासिद्धि, पूर्णत्व प्राप्ति, जीवनकी सफलता=दैवी गुणोंका पूर्णविकास, ईश्वर भक्ति जन्य साम्य दर्शन, ईश्वरलीनता, कर्मकी थकानसे मुक्ति, न करनेकासा कर्म रत रहनेकी क्षमता, शून्यवत् रहना.

सुवृततरु- पुण्य कर्मोका वृक्ष.

सुखाभास— सुखका आभास.

सुधाब्धि— अमृतका समुद्र.

सुप्रभ— तेजस्वी.

सुभग— उत्तम दैवका.

सुभावभजनभाजन— शुद्धभावनासे भजन करने योग्य.

सुमनस— अच्छे मनका, शुभ संकल्पोंका.

सुरतरु— कल्पवृक्ष.

सुविमल— अतिशय निर्मल.

सुस्ताना— आराम करना, विश्रांति लेना.

सुहृद्जन— बदलेकी भावनाके बिना उपकार करनेवाले सज्जन मित्र.

सूत्रकार— धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्रके सूत्रोंके रचयिता.

सूत्रधार— कठपुतलीके नाचमें सूत हिलाने-वाला.

सूर्यकांत— सूर्यकांतमणि, जो सूर्यकिरणोंको एकत्र करके उष्णता निर्माण करता है.

सृष्टि— सृजन, उत्पत्ती, भूतसृष्टि,

सेवा— परिचर्या, उपासना, भक्तिकरना.

सैंतीस— छत्तीस तत्व, देखो. पांचवा परिशिष्ट.

सोंधणी— सुगंध.

सोऽहंबोध— वह आत्मा मैं हूं अथवा वह ब्रह्म मैं हूं इसकी अनुभूति.

सोऽहंभाव— सोऽहं बोधमें स्थिर रहना.

सौरभ— सुगंध.

स्तवन– स्तुति.

स्तव्य– स्तुतिका विषय.

स्तोत्र– स्तुति, ईश्वर-स्तवनार्थ बनायेगये विशिष्ट प्रकारके काव्य.

स्थावर– अचल हलचल न कर सकनेवाला

स्थित– स्थिर, अस्तित्व, अपने स्थान पर अधिष्ठित. स्वप्रमाणपर जमा हुवा.

स्थितप्रज्ञ– जिसकी बुद्धि समाधिमें स्थिर है वह. आदर्श-सिद्धांत तथा उसके व्यवहार-कुशलतामें जो प्रवीण है ऐसा, सभी इच्छाओंका अतिक्रमण करके अपनेमें अपनेसे निरालंब आनंदमे स्थिर है वह, गीताका आदर्श पुरुष.

स्नेहार्द्रचित्त–स्नेह वात्सल्यपूर्ण चित्त.

स्फुरदमंदानंदवत्सल–सदैव स्फुरनेवाले आनंदसे भरा हुवा.

स्वजनवनचंदन–अपने भक्तोंके समूहमें चंदनरूप.

स्वसंविद्रुमबीजप्रसभूमिरूप स्वसंवित् रूप स्वरूपज्ञानरूपी वृक्षका बीज पडने योग्य भूमिरूप.

स्वसंवेद्य अपने आप जानने योग्य.

ह

हडप — मूल शब्द कन्नड भाषाका, क्षौर सामग्री रखनेका नाईका थैला. किंतु महाराष्ट्रमें इसको पानदानके रूपमें स्वीकार किया गया है.

हरना— हरण करना, दूर करना, फंसाना, पीछे हठाना.

हरित—हरे रंगका.

हर्ष—आनंद.

हवि—हवनद्रव्य.

हस्तोदक–हाथपर पानी छोडकर दान देना, हतोदक देना.

हिमवंत–हिमाचल.

हिय–हृदय.

हृदयकमल आराम–हृदयरूपी कमलमें विश्रांति लेनेवाला.

हृदयस्थ–हृदयमें रहनेवाला.

हेतुमंत–युक्तिवाला.

क्ष

क्षमा–सहनशीलता अपराध, सहिष्णुता.

क्षय– मरण, नाश

क्षर– नाशवंत.

क्षितीश– राजा.

क्षीण– क्षय होनेवाला, समाप्त होनेवाला.

क्षीरसागर– दूध का सागर.

क्षीरार्णवकल्लोल–लहरानेवाले दूध–सागरका कल्लोल.

क्षुद्रघंटिका– घुंगरू.

क्षुब्ध– चंचल, अधीर, क्रुद्ध, भीत.

क्षेत्र– खेत, मैदान, पवित्रस्थान, गीतामें जीवात्माका क्षेत्र शरीर, भूतोंका उत्पत्तिस्थल.

क्षेत्रसंन्यास– स्थान निष्ठ संन्यास, यह अंतिमस्थान स्थान है इस भावसे एकही स्थान पर रहनेका निश्चय और प्रयत्न करना.

क्षेत्रसंन्यसी– क्षेत्रसंन्यास लिया हुवा.

क्षेत्रज्ञ– शरीररूप क्षेत्रका साक्षीरूप जीव.

क्षेम– मोक्ष विषयक उपलब्धीका रक्षण.

